श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ४३

न्यायदर्शनम्

(वात्स्यायनभाष्यसहितम्)



अतसीपुष्पसङ्काशो न्यायो ज्ञेयो विपश्चिता ।
सिंहास्यो दक्षिणे सूत्रं ध्वजं वामकरे दधन् ॥

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं० ११३९, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

४३

श्रीमन्महर्षिगोतमप्रणीतं

न्यायदर्शनम्

(वात्स्यायनभाष्यसहितम्)

न्यायाचार्य-श्रीपद्मप्रसादशास्त्रि-श्रीहरिरामशुक्लाभ्यां परिशोधितम्

तस्येदं

आचार्य-ढुण्ढिराजशास्त्रि-

विनिर्मित 'प्रकाशिका' हिन्दीव्याख्योपेतं

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयप्राध्यापक-

श्रीनारायणमिश्रसम्पादितं

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पोस्ट बाक्स नं० ११३६

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ, वि० सं० २०४७
मूल्य : रु० १००-००

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ५४७६६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

43

*****

NYĀYADARŚANA

THE SŪTRAS OF GOTAMA

AND

BHĀṢYA OF VĀTSYĀYANA

Edited by

NYĀYĀCĀRYA ŚRĪ PADMAPRASĀDA ŚĀSTRĪ

AND

NYĀYĀCĀRYA ŚRĪ HARIRĀMA ŚUKLA

with

The 'Prakāśikā' Hindi Commentary

By

ĀCĀRYA ḌHUṆḌHIRĀJA ŚĀSTRĪ

Edited by

ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA

Lecturer in Sanskrit. B. H. U., Varanasi.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Fourth Edition : 1990

Phone : 65889

Also can be had of :

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221 001

Phone : 54766

Printers :

SRIGOKUL MUDRANALAYA

Gopal Mandir Lane,

Varanasi-221 001

प्रस्तावना

जीवेशादिविभेदभङ्गकुशलाः सन्तोऽथ सन्तीह चेत् ?
का हानिः ? नहि दर्शकेऽपमृषिते जायेत सद्दर्शनम् ।
कर्तृत्वं प्रतिषिध्यतामपि मतं तुल्यम्, तदुद्बोधतो
यत्रात्मा परमात्मनि प्रणिहितस्तद्दर्शनं दर्शनम् ॥ १ ॥

इस क्लेश-बहुल संसार में उन्माद या यौवनोन्माद को छोड़कर सुखात्मकता की भावना का उद्भावक कोई भी तत्त्वान्तर नहीं दीखता। समस्त भूमण्डल के विवेचकों की दृष्टि में यह जगत् यदि दुःखमात्रपूर्ण नहीं तो कम से कम दुःखमय तो अवश्य ही है। भौतिक जगत् में ही अपने विचार की पराकाष्ठा प्राप्त करनेवाले आधिभौतिक दार्शनिक भी इसकी दुःखमयता का अपलाप नहीं करते। जिसे साधारण दृष्टि से सुख समझा जाता है उसमें या उसके परिणाम में भी दुःख ही दुःख है। महाकवि कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में सांसारिक सुख में दुःख के सम्पर्क का बहुत ही स्पष्ट एवम् मनोहर वर्णन है :—

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम् ।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥[1]

भारतीय दार्शनिक-परम्परा में इस जगत् की दुःखमयता तो और भी[2] स्पष्टतर है। भगवान् बुद्ध ने भी अपने चार आर्यसत्यों में "सर्वं दुःखं दुःखम्" को अन्यतम माना है। जन-साधारण की स्थिति पर दृष्टिपात करने से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर इस दुःख के दो ही कारण प्रतीत होते हैं अप्राप्ति तथा[3] अज्ञान। 'भोजन करने से तृप्ति होती है', 'स्त्रीसम्पर्क से कामवासना की शान्ति होती है' इत्यादि लौकिक ज्ञान के रहने पर भी यदि भोजन तथा स्त्री आदि की प्राप्ति नहीं होती तो लोगों को दुःख की कटु अनुभूति होती है। इसी प्रकार रोग की चिकित्सा-विधि एवम् उपयुक्त ओषधि के ज्ञान के अभाव में भी दुःखानुभूति स्वाभाविक है। यद्यपि आसक्ति को भी सांसारिक दुःख का अन्यतम कारण माना जाता है तथापि मेरी दृष्टि में इसे स्वतन्त्र दुःखमूल मानना उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहारिक तौर पर

---

१. अ० श० ५।६ ॥

२. द्र०—परिणामतापसंस्कारदुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥
यो० सू० २।१५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
क० उ० १।१।२६ ॥

३. सभी प्रकार के दुःखों को सूक्ष्म-दृष्टि से तो अज्ञानमूलक ही कहा जा सकता है। अतएव 'अविद्या हि सर्वानर्थबीजम्' कहा गया है। परन्तु यहाँ मध्यम दृष्टि से अप्राप्ति को अज्ञान से पृथक् रक्खा गया है।

आसक्ति मनुष्य को तभी दुःखी बना पाती यदि उसके साधन या विषय की प्राप्ति न होती हो। अतः आसक्तिजन्य दुःख को हम अप्राप्तिजन्य दुःख के अन्तर्गत ही मान सकते हैं।

दोनों ही प्रकार से होनेवाले दुःख के उत्कर्ष के तारतम्य का आधार है प्राप्य तथा ज्ञेय वस्तुओं का प्रिय, प्रियतर तथा प्रियतम होना। अध्ययन को ही अपना सर्वस्व समझने वाले सज्जनों को अध्ययन-प्रतिबन्ध से जितना अधिक दुःख होता है उतना दुःख उन्हें भोजन आदि के न मिलने से नहीं होता। किसी कामुक व्यक्ति को युवती की अप्राप्ति से जितना कष्ट होता है उतना अन्य किसी भी वस्तु की अप्राप्ति से नहीं। इसी तरह अन्य जिज्ञासु व्यक्ति की भी स्थिति है।

यहाँ यह विचारणीय है कि भोजन, पान, अध्ययन आदि के प्रति जीव का प्रेम देश-काल की मर्यादा से नियन्त्रित होता है। ये पदार्थ निरतिशय अथवा निरपेक्ष रूप में प्रिय नहीं हो सकते। पेट भर जाने के बाद उत्तम से उत्तम भक्ष्य पदार्थ की ओर दृष्टिपात करने की भी इच्छा नहीं होती। परन्तु जब जीव भूख से व्याकुल रहता है तब उसे सूखी रोटी भी यदि मिल जाय तो वह भी उसके लिए प्रियतम हो जाती है। देश-काल की मर्यादा से अतीत प्रेम तो केवल अपनी आत्मा में ही होता है न कि किसी अन्य तत्त्व में। जब जीव भयङ्कर कष्ट में पड़कर अपने मरण की कामना व्यक्त करता और कथञ्चित् प्राणान्त भी कर डालता तब भी अपनी आत्मा के क्लेश-मोक्ष की भावना ही उसके मन में जागरूक रहती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आत्मा के दुःखी रहने पर दुनिया की सारी चीजें दुःखमय और आत्मा के सुखी होने पर सुखमय हो जाती हैं। सांसारिक पदार्थों की प्रियता तथा अप्रियता का अन्वय-व्यतिरेक आत्मा की सुस्थिति तथा दुःस्थिति से है। महाकवि भारवि के निम्नलिखित श्लोक में इस मनोवैज्ञानिक दशा का बहुत ही सुस्पष्ट चित्रण उपलब्ध होता है :—

> आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनी-विरहिणा विहगेन।
> सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम्[1]॥

महाकवि कालिदास ने भी इस दशा का बहुत ही रोचक वर्णन अपने रूपक—विक्रमोर्वशीय[2] में किया है :—

> पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः।
> संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत्त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिहानुनीतम्॥

इसी मनोवैज्ञानिक दशा का चित्रण हमें आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी मिलता है। इस सन्दर्भ में बृहदारण्यक[3] उपनिषत् का उपनिबन्ध अधिक स्फुट तथा आकर्षक है।

अब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि आत्मा सर्वाधिक प्रिय पदार्थ है तो आत्मा की अप्राप्ति तथा इसके अज्ञान से जितना अधिक कष्ट सम्भावित है उतना अधिक अन्य

---

१. किरात० ९।३० ॥

२. विक्रमोर्वशीय—३।२० ॥

३. स होवाच—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति······आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥ बृ० आ० उ० ४।५।५ ॥

तुलना कीजिए :—

> वित्तात् पुत्रः प्रियः, पुत्रात् पिण्डः, पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
> इन्द्रियेभ्यः परः प्राणः, प्राणादात्मा परः प्रियः॥ (वार्त्तिकामृत)

किसी भी वस्तु की अप्राप्ति या अज्ञान से नहीं। अतः दुःखनिवृत्ति का सबसे प्रधान कारण है आत्मप्राप्ति एवम् आत्मज्ञान। यद्यपि आत्मा कोई प्राप्य पदार्थ नहीं है प्रत्युत पूर्वप्राप्त ही है तथापि अज्ञान-प्रयुक्त उसकी अप्राप्ति तथा ज्ञान-प्रयुक्त उसकी प्राप्ति ही विवक्षित है। अतएव हम कह सकते हैं कि दुःख के आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक उच्छेद के लिए आत्मज्ञान सर्वोच्च साधन है। उपनिषदों[2] तथा अन्यान्य आध्यात्मिक[3] ग्रन्थों में भी इसी भावना का स्पष्ट समर्थन किया गया है।

नित्य-विभु आत्मतत्त्व का उपर्युक्त विज्ञान ही [4]'दर्शन' है।

इस आत्मतत्त्व का अर्थ स्वात्मा के साथ-साथ परमात्मा भी है। पारमार्थिक अथवा व्यावहारिक रूप में भी जीव से पृथक् ईश्वर की स्थिति के पक्षपाती दार्शनिक परमात्मा के साक्षात्कार को भी दुःखविमोक्ष का प्रयोजक अवश्य मानते हैं। कम से कम ईश्वरा-

---

१. दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ मु० उ० ३।१।७ ॥

२. (क) यदात्मानं विजानीयादहमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ बृ० आ० उ० ४।४।१२ ॥

(ख) य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ बृ० आ० उ० ४।४।१४ ॥

(ग) तरति शोकमात्मवित् ॥ छा० उ० ७।१।३ ॥

(घ) अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ॥ छा० उ० ८।१२।१ ॥

(ङ) एतद्यो वेद निहितं गुहायाम् सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥
मु० उ० २।१।१० ॥

(च) तमेवं विद्वानमृत इह भवति ॥ नृ० पू० उ० १।६ ॥

(छ) तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
श्वे० उ० ३।८ ॥

(ज) विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ के० उ० १२।४ ॥

(झ) तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम् मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥
क० उ० १।२।१२ ॥

(ञ) ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति ॥ कै० उ० ९ ॥

(ट) य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ म० ना० उ० १।११ ॥

(ठ) पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥
मु० उ० ३।२।२ ॥

३. (क) इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ या० स्मृ० १।८ ॥

(ख) गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ गीता० २।११ ॥

(ग) सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ म० स्मृ० १२।८५ ॥

४. तुलना कीजिए:—
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ म० स्मृ० ६।७४ ॥

ग्रुग्रह' को तो मोक्ष-प्रयोजक तत्त्व सभी ईश्वरवादी दर्शनों में माना ही गया है। वैष्णव दर्शनों में तो मोक्षाधिगम में ईश्वर की कृपा को और भी अधिक महत्त्व दिया गया है। स्वात्मा तथा परमात्मा के साक्षात्कार की मोक्षसाधकता औपनिषद सिद्धान्त से भी समर्थित है—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये'। इस विषय की पुष्टि पृष्ठ—७ की उद्धरण सं० २ में उल्लिखित अनेकानेक श्रुतिवाक्यों की एकवाक्यता से भी होती है।

भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रवाहों में स्वात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप तथा इनके ज्ञान-परिज्ञान के प्रकार के विषय में परस्पर-वैमत्य अवश्य ही उपलब्ध होता है, परन्तु दुःख-निवृत्ति (मोक्ष) के प्रसङ्ग में इनकी उपयोगिता सर्वसम्मत है। हाँ, इतना तो अवश्य है कि किसी सम्प्रदाय में ईश्वरज्ञान को तो किसी में स्वात्मज्ञान को मुख्य माना गया है। कहीं-कहीं आत्मा से पृथक् परमात्मा की सत्ता के मान्य न होने के कारण स्वात्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान को पर्याय भी माना गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 'दर्शन' शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है आत्मस्वरूप-प्रतिपादन। किन्तु आत्मस्वरूप के प्रतिपादन में स्पष्टता और उपदिश्यमान व्यक्तियों की प्रतिपत्ति में दृढ़ता लाने के लिए आत्मज्ञानोपयोगी अथवा आत्मज्ञान द्वारा मोक्षोपयोगी तत्त्वों का भी यथोचित विवरण किया जाना अनिवार्य हो जाता है। यतः आत्मा तथा मोक्ष के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय का सिद्धान्त भी स्वतन्त्र है इस लिए भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय में आत्मज्ञानोपयोगी तत्त्वों अथवा आत्मज्ञान द्वारा मोक्षोपयोगी तत्त्वों के स्वरूप तथा प्रकार में भी भिन्नता स्वाभाविक है।

दर्शनों की संख्या

उपर्युक्त आत्मस्वरूपप्रतिपादन में प्रवृत्त 'दर्शन' शास्त्र की संख्या तथा स्वरूप का निश्चय करना असम्भव है। इस असम्भावना का सङ्केत महिम्नस्तोत्र के 'नानापथ'[2] शब्द से भी मिलता है। सम्मतितर्क के आधार पर भी यह बात प्रमाणित होती है कि

---

१. (क) तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव ॥ प० ध० सं०, पृ० १८ ॥

(ख) स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥ न्या० कु० १।२ ॥

'ईश्वरमननञ्च यद्यपि मिथ्याज्ञानोन्मूलनद्वारा नोपयोगि, तथापि स्वात्मसाक्षात्कार एवोपयुज्यते। यदाहुः—'स हि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्मसाक्षात्कारस्योपकरोति' इति। यद्वा—श्रुत्या तद्धेतुत्वे प्रमापिते तदनुपपत्त्या अदृष्टमेव तद्द्वारं कल्प्यते।' कु० प्र०, पृ० १२ ॥

(ग) ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ यो० सू० १।२३ ॥

'प्रणिधानात् भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरः तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण। तद-भिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति' ॥ व्यासभाष्य ॥

(घ) ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥ ख० ख० खा० १।२४ ॥

(ङ) सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥ प० द० १।३१ ॥

२. रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ॥ म० स्तो० ७ ॥

दर्शन की संख्या का निश्चय करना असम्भव है। इसका विवरण गुणरत्न[1] तथा मणिभद्र[2] आदि के कथन में भी मिलता है। महाभारत का 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' कथन तो आपामर प्रसिद्ध है हीं। इसका समर्थन शुक्रनीतिसार से भी होता है[3]।

किन्तु 'रेखा-गवय-न्याय' से सम्मतितर्क में भिन्न-भिन्न मतों की ३६३ संख्या का उल्लेख किया गया है। इनमें १८० क्रियावादी-दर्शन, अक्रियावादी-दर्शन ८४, आज्ञानिक-दर्शन ६७ एवम् वैनयिक-दर्शन ३२ प्रकार के माने गए हैं। क्रियावादी आदि दार्शनिकों का विस्तृत विवरण सम्मतितर्क की व्याख्या में किया गया है। संक्षेप में गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति में भी इनका विवरण प्रस्तुत किया गया है।

किन्तु इस अनवधारणात्मक स्थिति से हुई अव्यवस्था एवम् अश्रद्धा के प्रतिरोध के लिए पीछे चलकर आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अन्तर्भाव की प्रक्रिया अपनाकर विभिन्न प्रकार की संख्याओं का प्रतिपादन किया है। स्पष्टता के लिए हम उनमें से प्रसिद्ध संख्याओं का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(क) सर्वसिद्धान्तसंग्रह में शङ्कराचार्य[4] ने (१) अक्षपाद, (२) कणाद, (३) कपिल, (४) जैमिनि, (५) व्यास, (६) पतञ्जलि, (७) बृहस्पति,[5] (८) आर्हत तथा (९) बुद्ध का दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्यों के रूप में परिगणन किया है। इनमें भी जैमिनि-दर्शन के दो प्रभेदों—भाट्ट सम्प्रदाय तथा प्राभाकर सम्प्रदाय एवम् बौद्ध दर्शन के चार उपभेदों—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक का उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त शाखाओं से अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के 'अवधूत-मार्ग' का भी उल्लेख मिलता है।

(ख) अग्निपुराण में (१) तर्कशास्त्र, (२) क्षणभङ्गवाद (बौद्ध सम्प्रदाय), (३) भूतचैतन्यवाद (चार्वाकविशेष), (४) स्वप्रकाशज्ञानवाद (प्रभाकर सम्प्रदाय तथा अद्वैत वेदान्त ?), (५) अनेकान्तवाद (जैनदर्शन), (६) शैवसिद्धान्त, (७) वैष्णवमत, (८) शाक्तसिद्धान्त, (९) सौरसिद्धान्त (१०) ब्रह्मकारणवाद तथा (११) सांख्यमत[6] का उल्लेख है। इनमें सौरसिद्धान्त प्रायशः ज्योतिःशास्त्र का पर्याय है ?

---

१. नन्वत्र सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो वक्तुं प्रकान्तः, स च संख्याऽतिक्रान्तः·····जैनादन्य-दर्शनानाम् परसमयाऽपरनामधेयानाम् असंख्यातत्वात् ॥
गुणरत्न, ष० द० स० वृत्ति, पृ० ९।

२. यद्यपि भेद-प्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि···अपरेषामपि दर्शनानानाम् तत्त्वदेवताप्रमाणादिभिन्नतया बहुभेदाः प्रादुर्भवन्ति ॥ मणिभद्र, ष० द० स० वृत्ति, पृ० ३।

३. विद्याः ह्यनन्ताश्च संख्यातुं नैव शक्यते ॥ शुक्रनीति ४।३।२३ ॥

४. ये शङ्कराचार्य आदि शङ्कराचार्य से भिन्न ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के विवरण के प्रसङ्ग में इन्होंने आदि शङ्कराचार्य का 'भगवत्पाद' शब्द से उल्लेख किया है :—

भाष्यं चतुर्भिरध्यायैर्भगवत्पादनिर्मितम् ॥ स० सि० सं० १।२२ ॥

५. ये बृहस्पति चार्वाकदर्शन के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं।

६. तर्कज्ञानं मुनेः कस्य कस्यचित् क्षणभङ्गिका।
भूतचैतन्यता कस्य ज्ञानस्य सुप्रकाशता ॥

(ग) दशश्लोकी में शङ्कराचार्य ने[1] (१) सांख्य, (२) शैव, (३) पाञ्चरात्र आगम, (४) जैन एवम् (५) मीमांसक के नामोल्लेख के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है। व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती के[2] अनुसार 'आदि' पद से ग्राह्य दर्शन हैं—(१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) पातञ्जल, (४) त्रिदण्डिमत, (५) पाशुपतमत, (६) बौद्ध, (७) चार्वाक तथा (८) औपनिषद (अद्वैत वेदान्त)। इनमें औपनिषद के सङ्केत के विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं है, चार्वाक के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख भी दशश्लोकी[3] में मिलता है। ब्रह्मसूत्र तथा उस पर शाङ्करभाष्य के विशकलित सङ्केत से भी सरस्वती महाशय की व्याख्या प्रमाणित होती है।

(घ) महाकवि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में प्रमाणविद्या के अन्तर्गत मीमांसा (जैमिनीयदर्शन) तथा सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, लोकायत, आर्हत, शैवसिद्धान्त और पाञ्चरात्रागम का उल्लेख किया[4] है। इस प्रकरण में 'बौद्धीयः'[5] के अतिरिक्त राजशेखर ने 'बौद्धसिद्धान्तीयः'[6] का भी निर्देश किया है। उदाहरणों के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आदि पक्ष तार्किक[7] है और अन्त्यपक्ष व्यावहारिक[8]। इनसे अतिरिक्त राजशेखर ने कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी सामान्यरूप में उल्लेख किया है।

आगे चलकर 'विरचना' (कविमनीषानिमितं कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना) के

प्रज्ञातस्थूलताशब्दानेकान्तत्वं तथार्हतः।
शैववैष्णवशाक्तेयसौरसिद्धान्तिनां मतिः॥
जगतः कारणं ब्रह्म सांख्यानां सप्रधानकम्।
अस्मिन् सरस्वतीलोके सञ्चरन्तः परस्परम्॥

अ० पु०, अ० ३३७, श्लोक, ३४—३६॥

१. न सांख्यं न शैवं न वा पाञ्चरात्रम्
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा॥ द० श्लो० ४॥

२. सि० बि०, पृ० १०६—११३; ३०७—३१७॥

३. न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः॥
दशश्लोकी १॥

४. काव्यमीमांसा, अध्याय—८ (पृ० ९६—१०१)।
५. वही, अध्याय—८ (पृ० ९८)।
६. वही, अध्याय—८ (पृ० १०१)।
७. बौद्धीयः—विवक्षापूर्वा हि शब्दास्तामेव विवक्षां सूचयेयुः॥
वही, अध्याय—८ (पृ० ९८)।

८. बौद्धसिद्धान्तीयः—
कलिकृतकलुषाणि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यतां स लोकः।
मम हि सुचरितेन सर्वसत्त्वाः परमसुखेन सुखावतीं प्रयान्तु॥
वही, अध्याय, ८ (पृ० १०१)।

अन्तर्गत योगशास्त्र[1] का भी उल्लेख मिलता है। द्वितीयाध्याय[2] में राजशेखर ने बौद्ध, आर्हत तथा लौकायतिक को पूर्वपक्षीय तर्क तथा सांख्य, न्याय और वैशेषिक को उत्तरपक्षीय तर्क कहा है।

(ङ) सर्वसिद्धान्तप्रवेशक में[3] 'सर्व' शब्द के प्रयोग होने पर भी केवल (१) नैयायिक, (२) वैशेषिक, (३) जैन, (४) बौद्ध, (५) सांख्य, (६) मीमांसक तथा (७) चार्वाक दर्शनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(च) न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने 'षट्तर्की'[4] का उल्लेख किया है और इसके अन्तर्गत (१) सांख्य, (२) जैन, (३) बौद्ध, (४) चार्वाक, (५) वैशेषिक तथा (६) न्यायदर्शन का समावेश किया है। किन्तु यदा-कदाचित् इस ग्रन्थ में अन्यान्य दर्शन का भी सङ्केत मिलता है। इस 'षट्तर्की' को जयन्त भट्ट ने लोकप्रसिद्ध माना है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी दृष्टि में ये छः प्रकार ही उचित हैं। काव्यमीमांसा[5] में राजशेखर ने भी आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत उपर्युक्त 'षट्तर्की' का ही उल्लेख किया है।

(छ) हरिभद्र सूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में छः दर्शनों[6] को ही मौलिक दृष्टि से माना है। किन्तु इनके षड्दर्शन के दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकार में तो इन्होंने (१) बौद्ध, (२) नैयायिक, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) वैशेषिक तथा (६) जैमिनीयदर्शनों[7] का समावेश किया है। किन्तु आगे चलकर इनका कहना है कि यदि नैयायिक तथा वैशेषिक को पृथक्-पृथक् न[8] मानकर एक ही मान लिया जाय तो दर्शनों में षट्त्व संख्या की पूर्त्ति के लिए लोकायतपक्ष का समावेश करना चाहिए।

(ज) जिनदत्त सूरि के षड्दर्शनसमुच्चय में (१) जैन, (२) मीमांसा, (३)

---

१. वही, अध्याय—८ (पृ० १०७)।

२. द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम्। अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः, सांख्यं न्याय वैशेषिकौ च उत्तरः। त इमे षट् तर्काः। वही, अध्याय—२ (पृ० १०)।

३. व० दर्शन, परि० संख्या—५, पृ० १४१ (बड़ौदा)॥

४. अस्यां जनतासु प्रसिद्धायामपि षट्तर्क्याम्॥ न्या० म० (भा०—१), पृ० ४॥

५. द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम्—अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः, सांख्यं न्यायवैशेषिकौ च उत्तरः। त इमे षट् तर्काः॥ का० मी०, अ० २ (पृ० १०)।

६. दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः॥ ष० द० स० २॥

७. बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो॥ वही—३॥

८. नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः॥
षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपात्.................... ॥ ष० द० स० ७८-७९॥

तुलना कीजिए वैशेषिकाः पुनरस्मदनुयायिन एव॥ न्या० म० (भा० १), पृ० ४॥
तथा—योगे वैशेषिके तन्त्रे प्रायः साधारणी क्रिया—

—राजशेखर, ष० द० समु० १२३ श्लो०॥

बौद्ध, (४) सांख्य, (५) शैव तथा (६) नास्तिक-दर्शनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(झ) सर्वदर्शनकौमुदी में[1] माधव सरस्वती ने प्रथमतः वैदिक तथा अवैदिक शाखाओं में सभी दर्शनों का विभाजन किया है। तत्पश्चात् उपविभाजन के क्रम में वदिक दर्शनों के (१) वैशेषिक, (२) नैयायिक, (३) शब्दमीमांसा (व्याकरणशास्त्र), (४) पूर्वमीमांसा, (५) उत्तरमीमांसा, (६) सेश्वरसांख्य (योगदर्शन), (७) निरीश्वर सांख्य का और अवैदिक दर्शनों के अन्तर्गत (१) बौद्ध—(क) माध्यमिक, (ख) योगाचार, (ग) सौत्रान्तिक तथा (घ) वैभाषिक, (२) चार्वाक तथा (३) आर्हत दर्शनों का उल्लेख किया है। किन्तु उपसंहारक वाक्य में उन्होंने वैदिक-दर्शन के अन्तर्गत व्याकरण दर्शन का उल्लेख छोड़[2] दिया है।

(ञ) मल्लधारी राजशेखर सूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में (१) जैन, (२) सांख्य, (३) जैमिनीय, (४) यौग (न्याय), (५) वैशेषिक तथा (६) बौद्ध-दर्शनों का विवरण प्रस्तुत किया है। इनका कहना है कि नास्तिकों का तो कोई दर्शन ही[3] नहीं है।

(ट) माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में (१) चार्वाक, (२) बौद्ध, जैन, (४) रामानुज, (५) पूर्णप्रज्ञ (माध्व), (६) नकुलीश पाशुपत, (७) शैव, (८) प्रत्यभिज्ञा, (९) रसेश्वर, (१०) वैशेषिक, (११) न्याय, (१२) जैमिनीय, (१३) पाणिनीय, (१४) सांख्य, (१५) योग तथा (१६) शाङ्करवेदान्त का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त किसी भी अभ्युपगम को सर्वथा पूर्ण नहीं माना जा सकता है। सबों में कुछ-कुछ पक्षपात तथा यदृच्छा का सम्बन्ध स्पष्ट है।

(ठ) याज्ञवल्क्यस्मृति[4] आदि में उल्लिखित विद्यास्थानों में आज के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रों के केवल दो ही सम्प्रदायों का उल्लेख है—(१) न्याय तथा (२) मीमांसा। कहीं-कहीं न्याय शब्द के स्थान में तर्क[5] शब्द का प्रयोग मिलता है। इस आधार पर

---

१. स० द० कौ०, पृ० ४॥

२. अतो वैदिकदर्शनम् योगसांख्यपूर्वोत्तरमीमांसानैयायिकवैशेषिकभेदेन षोढा भिद्यते॥ वही, पृ० ४॥

३. जैनं सांख्यं जैमिनीयम् यौगं वैशेषिकं तथा।
सौगतं दर्शनान्येवं नास्तिकं तु न दर्शनम्॥ ष० द० समु० ४॥

४. (क) पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः॥ या० स्मृ० १।३॥
(ख) अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः॥

(यह श्लोक न्या० म० में 'अन्यत्राप्युक्तम्'—प्रतीक के अन्तर्गत भाग—१, पृ० ४ पर उद्धृत हुआ है। परन्तु नै० च० के 'प्रकाश' टीकाकार नारायण भट्ट ने १।४ की व्याख्या में मनु के नाम से इस श्लोक का उल्लेख किया है। वर्त्तमान मनुस्मृति में यह उपलब्ध नहीं होता है। विष्णुपुराण ३।६।२८ में भी न्याय तथा मीमांसा का उल्लेख किया गया है।)

५. उक्त या० स्मृ० के श्लोक में न्यायमञ्जरी, भाग—१, पृ० ४ पर 'न्याय' शब्द के स्थान में 'तर्कः' पाठान्तर है। मिताक्षरा में भी 'न्यायः = तर्कविद्या' लिखा गया है।

महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा जी का अनुमान है कि दर्शनशास्त्र के दो ही सम्प्रदाय प्राचीनतम हैं। यद्यपि 'न्याय' शब्द का प्रयोग मीमांसा के लिए भी प्रचलित है[1] तथापि उपर्युक्त स्मृतिवाक्यों में न्याय शब्द मीमांसा के पर्याय के रूप नहीं प्रयुक्त हुआ है—यह प्रकरण आदि से स्पष्ट है। यदि तर्कार्थक न्याय शब्द की परवर्त्ती व्याख्याओं के ऊपर दृष्टिपात करते हैं तो इसके अन्तर्गत न्याय[2] तथा वैशेषिक अथवा [3]चार्वाक, सांख्य, आर्हत, बौद्ध, न्याय तथा वैशेषिकदर्शनों का समावेश और मीमांसा शब्दार्थ के अन्तर्गत [4]व्याकरणदर्शन, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शनों का समावेश किया जा जकता है। परन्तु यह कल्पना मूल स्मृतिकारों के लिए इष्ट थी या नहीं—यह निश्चय करना कठिन है।

(ङ) शुक्रनीतिसार में[5] (१) मीमांसा, (२) तर्क, (३) सांख्य, (४) वेदान्त, (५) योग तथा (६) नास्तिक मत का लक्षणपूर्वक उल्लेख किया गया है। शुक्राचार्य ने यद्यपि नास्तिक मत के किसी प्रकारविशेष का उल्लेख नहीं किया है तथापि नास्तिकता की उनकी परिभाषा में—जो समष्टिरूप में[6] ईश्वरकर्तृत्वप्रतिषेध और वेदाप्रामाण्य पर आश्रित है—चार्वाक से अतिरिक्त का समावेश नहीं किया जा सकता है।

यद्यपि उपर्युक्त मत-मतान्तर से किसी एक पक्ष का निःसङ्कोच समर्थन प्राप्त करना कठिन-सा है तथापि कुछ व्यावहारिक मान्यताओं तथा उपर्युक्त मत-मतान्तर के अधिक सामञ्जस्य के आधार पर हम निम्नलिखित दार्शनिक सम्प्रदायों को मुख्य शाखाओं के रूप में मान सकते हैं :—

(१) चार्वाक, (२) जैन, (३) बौद्ध, (४) वैशेषिक, (५) न्याय, (६) पूर्वमीमांसा, (७) उत्तरमीमांसा, (८) सांख्य तथा (९) योग।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के कई प्रकार के वर्गीकरण भी प्रचलित हैं :—

कुछ लोगों ने आस्तिक तथा नास्तिक रूपों में उपर्युक्त सम्प्रदायों का विभाजन माना है। आस्तिक शब्द के भी विभिन्न अर्थ हैं :—

(१) परलोक में विश्वास रखनेवाला[8],

---

१. यत्र व्यवस्थिता चार्थकल्पना विधिभेदतः।
मीमांसा वेदवाक्यानां सैव न्यायश्च कीर्त्तितः॥ शु० नी० ४।३।४६-४७॥

२. तर्कोऽपि द्विविधः वैशेषिक-नैयायिकभेदेन॥ स० द० कौ०, पृ० ४॥

३. न्या० म० (भा० १), पृ० ४॥

४. तन्त्रं मीमांसा। सा च शब्दार्थभेदेन द्विविधा—व्याकरणमहाभाष्यादिरूपा शब्दमीमांसा, वेदवाक्यविचाररूपा त्वर्थमीमांसा। साऽपि द्विविधा—कर्मकाण्डविचाररूपा पूर्वमीमांसा ज्ञानकाण्डविचाररूपा उत्तरमीमांसा। स० द० कौ०, पृ० ४॥

५. मीमांसा-तर्क-सांख्यानि वेदान्तो योग एव च।
इतिहासः पुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम्॥ शु० नी० ४।३।२८॥

६. युक्तिर्बलीयसी यत्र सर्वं स्वाभाविकं मतम्।
कस्यापि नेश्वरः कर्त्ता न वेदो नास्तिकं मतम्॥ वही, ४।३।५४—५५॥

७. पा० सू० ४।४।६० पर कैयट का प्रदीप तथा काशिका आदि। म० स्मृ० ४।१६३ की व्याख्या में कुल्लूक भट्ट के, या० स्मृ० ३।२३६ की मिताक्षरा तथा वीरमित्रोदय आदि

(२) वेद की प्रामाणिकता माननेवाला,[1]
(३) ईश्वर में श्रद्धा रखनेवाला,[2]
(४) कर्मफल में विश्वास रखनेवाला,[3]
(५) आत्मा की देहादि से भिन्न सत्ता माननेवाला[4] और
(६) युक्तियुक्त कहनेवाला।[5]

उपर्युक्त अर्थों से अतिरिक्त एक समाहारात्मक अर्थ भी प्रसिद्ध है जिसका संकेत शुक्रनीतिसार[6] तथा गुणरत्न[7] ने किया है। रामायण में (२।१०९) उपलब्ध नास्तिक-मत-वर्णन से भी यही बात सिद्ध होती है।

उपर्युक्त अर्थों में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अर्थों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता है। परलोक में विश्वास रखने का अर्थ परलोकी पदार्थ में भी विश्वास

व्याख्याओं के तथा शि० व० १७।७ की व्याख्या में वल्लभदेव एवम् मल्लिनाथ के द्वारा किए गए नास्तिक शब्दार्थ से भी इस पक्ष का समर्थन होता है।

१. गीता, शां० भा० १८।४२; मन्वर्थमुक्तावली—२।११; वीरमित्रोदय—१।२६८॥ तत्त्वचिन्तामणि के मङ्गलवाद में 'प्रमत्तनास्तिक' के विपरीत शिष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है और उसका अर्थ किया गया है—स्वीकृतवेदप्रमाणभावः शिष्टः (पृ० ४८, दरभङ्गा)। आलोक में पक्षधर मिश्र ने भी प्रकाशकार की सम्मति शिष्ट शब्द के उक्तार्थ के समर्थन के लिए उद्धृत की है :—'वेदानुमापकहेतौ शिष्टपदं वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृपरमिति प्रकाशः'। त० चि० आ०, पृ० १४ (दरभङ्गा)॥

२. स० द० सं० में मीमांसकों के लिए नास्तिकशिरोमणेः (पृ० २५५) शब्द के प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है।

३. समासादस्तिताऽऽष्टिः फलं चास्तीति कर्मणाम् ॥ रत्नावली १।४४॥
अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनम्, नास्तीत्यपरम्—न्या० भा० ३।१।२३॥

४. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे नेतुमयं यत्नः कृतो मया॥ श्लो० वा० १० (उपोद्घात)॥
इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या। वही—५।१४८॥
हरिभद्र सूरि के कथन (ष० द० स० ७७) का भी इस पक्ष से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

५. अत्रैके परिचोदयन्ति—नास्तिकाऽविशिष्टा माध्यमिकाः इति······नैवम्······ यथास्वरूपवादिनो हि नैव नास्तिकाः।······यथा हि कृतचौर्यं पुरुषमेकः सम्यगपरिज्ञायैव तदमित्रप्रेरितः तं मिथ्या व्याचष्टे—चौर्यमनेन कृतमिति, अपरस्तु साक्षाद्दृष्ट्वा दूषयति, तत्र यद्यपि वस्तुतो नास्ति भेदः तथापि परिज्ञातृभेदादेकस्तत्र मृषावादीत्युच्यते अपरस्तु सत्यवादीति, एकश्च अयशसा च अपुण्येन च सम्यक् परीक्षमाणो युज्यते नाऽपरः। एवम् इहापि यथावद्विदितवस्तुस्वरूपाणाम् माध्यमिकानां ब्रुवतामवगच्छतां च वस्तुस्वरूपाभेदेऽपि यथावदविदितवस्तुस्वरूपैर्नास्तिकैः सह ज्ञानाभिधानयोर्नास्ति साम्यम्॥
प्र० प०, पृ० १५६-५७॥

६. शु० नी०—४।३।५४—५५॥

७. आस्तिकवादानाम् = जीवपरलोकपुण्यपापाद्यस्तित्ववादिनाम्।
गुणरत्न—ष० द० स० वृत्ति, पृ० २९९॥

रखना है। अन्यथा परलोक में विश्वास रखने का क्या अर्थ होगा? परलोकी पदार्थ आत्मा से अतिरिक्त[1] क्या होगा? अतः प्रथम तथा पञ्चम की तात्त्विक एकता तो स्पष्ट है। चतुर्थ की एकता भी सुस्पष्ट ही है, क्योंकि परलोक की प्राप्ति के लिए कर्मफल में विश्वास अनिवार्य है। षष्ठ के साथ सामान्यविशेषात्मक सम्बन्ध मानना तो कम से कम निर्विघ्न है ही।

वेद की प्रामाणिकता माननेवालों को आस्तिक कहने की परम्परा बहुत पुष्ट नहीं है। साधारणतः 'नास्तिको वेदनिन्दकः'[2] कथन के आधार पर ही लोग आस्तिक शब्द का अर्थ वेदप्रामाण्यवादी मानते आ रहे हैं। परन्तु नास्तिक शब्द के पर्याय के रूप में वहाँ वेदनिन्दक शब्द का प्रयोग मानना उचित नहीं। यद्यपि कुल्लूक भट्ट की व्याख्या से भी कुछ विभ्रम ही प्रस्तुत होता है तथापि साक्षात् मनुस्मृति[3] तथा अन्यान्य[4] ग्रन्थों में भी नास्तिक से भिन्न वेदनिन्दक के उल्लेख से ही यह स्पष्ट है कि वेदनिन्दक तथा नास्तिक शब्द पर्याय नहीं हैं। तीसरी व्याख्या तो और भी मूल-शिथिल है। अतः हम चार्वाक से अतिरिक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदायों को आस्तिक तथा चार्वाक को नास्तिक कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। अतएव उपर्युक्त उद्धरणों तथा भामती आदि ग्रन्थों में चार्वाक के लिए ही नास्तिक शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

आस्तिक तथा नास्तिक के रूप में उपर्युक्त विभाजन से अतिरिक्त शाश्वतवाद अथवा आत्मवाद एवम् उच्छेदवाद अथवा अनात्मवाद के रूप में भी उपर्युक्त सम्प्रदायों का वर्गीकरण प्रचलित है। चार्वाक तथा बौद्ध को छोड़कर सभी सम्प्रदाय प्रथम वर्ग के हैं। किन्तु आत्मवाद तथा अनात्मवाद के रूप में किए जानेवाले वर्गीकरण की अपेक्षा शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के रूप के सम्पादित वर्गीकरण अधिक उपयुक्त तथा उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त सम्प्रदायों में वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा वेद को प्रमाण मानते हैं और चार्वाक, बौद्ध तथा जैन वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं। वेद को प्रमाण मानने में युक्तियों का विवरण यथावसर किया जाएगा।

वेदप्रामाण्यवादी दार्शनिकों के भी दो रूप हैं—तर्कप्रधान एवम् शब्दप्रधान। जो सम्प्रदाय वेद की प्रामाणिकता का निर्धारण भी तर्क (अनुमान) के आधार पर करते उन्हें हम तर्कप्रधान (परतः प्रामाण्यवादी) और जो सम्प्रदाय वेद को स्वतःप्रमाण मानते उन्हें हम शब्दप्रधान कह सकते हैं। इस दृष्टि से वैशेषिक तथा न्याय को तर्क-प्रधान कहना स्पष्ट है।

---

१. परलोकी पदार्थ आत्मा इत्युच्यते ॥ न्या० भू०, पृ० ५५९ ॥

२. म० स्मृ० २।११ ॥

३. नास्तिक्यं वेदनिन्दां च—वही, ४।१६३ ॥

४. नास्तिक्यं व्रतलोपश्च...... ।
स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः... ॥ या० स्मृ० ३।२३६–२३९ ॥
गुरोश्चालीकनिर्बन्धो वेदनिन्दा अधीतस्य त्यागः...नास्तिकता कुशीलता... ॥ मिताक्षरा-(३।२२४–२३२ ॥) में उद्धृत बृहद्विष्णुवचन ॥

वेद की प्रामाणिकता में तर्क का महत्त्व

वेदवाक्य के तात्पर्य-निर्धारण में तर्क का उपयोग परमावश्यक है। अन्यथा वेद की समुचित व्याख्या करना भी असम्भवप्राय है। अत एव मनु का भी वचन है :—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥[1]

यद्यपि उपर्युक्त मनुवचन में प्रयुक्त तर्क शब्द का अर्थ साधारणतः वाक्य-शास्त्र—पूर्व-मीमांसा[2]—माना जाता है तथापि मीमांसा शब्द के अर्थ—पूजित[3] विचार—पर दृष्टि-पात करने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उक्त तर्कशब्दार्थ मीमांसा केवल पूर्वमीमांसा-दर्शन तक ही सीमित नहीं है। (किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तर्क शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा के लिए होता ही नहीं)।

इससे अतिरिक्त शब्दानित्यत्व के कारण अनुमान (तर्क) के आधार पर वेदवाक्यार्थ की प्रामाणिकता का निर्धारण तो तर्क-निर्भर है ही।

यद्यपि कई आचार्यों ने तर्क की उपयोगिता का खण्डन[4] किया है—ऐसा प्रतीत होता है तथापि पूर्वापर ग्रन्थसन्दर्भ तथा अन्यान्य[5] आचार्यों के वचन के सामञ्जस्य के आधार पर उनका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि आगमानपेक्ष तर्क निरुपयोग है। अथवा यह कहा जा सकता है कि आगममात्रवेद्य पदार्थ के विषय में केवल तर्क के आधार पर

---

१. म० स्मृ० १२।१०६ ॥

२. धर्मे प्रतीयमाणे तु वेदेन करणात्मना ।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ (भट्ट)॥
विषयो वेदवाक्यानाम् पदार्थैः प्रतिपाद्यते।
परीक्षकार्पितैश्शक्यास्तैर्विवेक्तुं न तु स्वतः ॥ त० वा० १।३।१ ॥
मीमांसाशास्त्रतेजोभिर्विशेषेणोज्ज्वलीकृते ।
वेदार्थज्ञानरत्ने मे तृष्णातीव विजृम्भते ॥ श्लो० वा० ९ (उपोद्घात)॥

विचारमन्तरेणाव्यवस्थितवेदवाक्यार्थानवधारणात् मीमांसा वेदवाक्यार्थविचारात्मिका वेदाकरस्येतिकर्त्तव्यतामनुबिभ्रतीति विद्यास्थानतां प्रतिपद्यते ॥

न्या० म० (भा-१), पृ० ३ ॥

३. पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः । परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलता विचारस्य सूक्ष्मता ॥—भामती (ब्र० सू० १।१।१)।

अतएव त० चि० आदि ग्रन्थों में भी मीमांसा शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में ही तात्पर्यप्रकरण आदि में किया गया है।

४. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ वाक्यपदीय १।३४ ॥
अवस्थादेशकालानाम् भेदाद्भिन्नासु व्यक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥ वाक्यपदीय १।३२ ॥

५. म० स्मृ० १२।१०६ ॥

अत आगमवशेन आगमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥ ब्र० सू० शां० भा० २।१।११ ॥

इस विषय में क० उ० १।२।८–९ पर शां० भा० भी द्रष्टव्य है।

मन-माने ढंग से निर्णय कर लेना[1] उचित नहीं है। किन्तु यदि कोई पदार्थ आगमवेद्य नहीं है तो उसकी सिद्धि के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह तर्क (अनुमान) का भी उपयोग निराबाध[2] है। अन्यथा आगम से अतिरिक्त प्रमाण मानने का अर्थ ही क्या होगा?

वस्तुतः यह समझना चाहिए कि तर्क कभी भी निरुपयोग नहीं होता। निरुपयोगिता कुतर्क की होती है[3]। यदि तर्क वस्तुतः तर्क हो तो उससे आगमप्रामाण्य का समर्थन होता है न कि विरोध, क्योंकि दो प्रमाणों में परस्पर विरोध की कोई सम्भावना नहीं होती[4]। यदि कहीं दो प्रमाणों में परस्पर विरोध दीखता हो तो यह समझना चाहिए कि किसी एक प्रमाण में वस्तुतः प्रमाणत्व नहीं है। तर्क के प्रमाण होने के कारण ही मनुस्मृति में भी[5] धर्मनिर्णायिका 'दशावरा परिषत्' में 'हेतुक' शब्द से तार्किक का 'त्रैविद्य' से पृथक् परिगणन किया गया है।

आत्मज्ञान में तर्क का स्थान

आत्मज्ञान में 'मनन' का महत्त्व तो श्रुति[6]-सिद्ध है। तर्क को ही औपनिषद शब्दावली में 'मनन' कहा[7] जाता है। मनन के बिना आत्मा के विषय में असम्भावना की निवृत्ति[8] नहीं हो पाती है। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया[9]' इत्यादि कथन का तात्पर्य कुतर्क से है न कि सतर्क से—यह विषय स्पष्ट कर दिया जा चुका है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के लिए तर्क एक परमावश्यक तत्त्व

---

१. केवलागमगम्येऽर्थे स्वतन्त्रतर्काऽविषये न सांख्यादिवत् साधर्म्यवैधर्म्यमात्रेण तर्कः प्रवर्त्तनीयः॥ भामती २।१।११॥

२. अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे।
मानान्तरावगम्ये तु तद्वशात्तद्व्यवस्थितिः॥ भामती (ब्र० सू० १।१।२३)॥

३. बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्ष्येत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्॥ प० द० ६।३०॥

४. न मानयोर्विरोधोऽस्ति······॥ न्या० कु० ३।१९॥

५. त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥ म० स्मृ० १२।१११॥

६. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
बृ० आ० उ० ४।५।५॥

७. युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्॥ प० द० १।५३॥
न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥ न्या० कु० १।३॥
आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शन-हेतवः॥

८. तर्कैः सम्भावनार्थस्य······॥ प० द० ७।१०२॥

९. क० उ० १।२।९॥

है। अतएव तर्क का विशद विवरण करनेवाला न्याय-वैशेषिक शास्त्र मूर्धन्य स्थान प्राप्त करने योग्य है। रामायण में की गई आन्वीक्षिकी की निन्दा[1] को भी आन्वीक्षिक्याभास से ही सम्बद्ध समझना चाहिए, क्योंकि यथार्थ अन्वीक्षिकी का धर्मशास्त्र से कोई विरोध नही हो सकता। यह तथ्य आन्वीक्षिकी शब्द के अर्थ[2] पर दृष्टिपात करने से भी प्रमाणित होता है।

तर्कशास्त्र की शाखाओं में प्रधान स्थान रखनेवाली दो शाखाएँ हैं—वैशेषिक तथा न्याय[3]। इन दोनों शाखाओं मे भी वैशेषिकशास्त्र प्रमेयप्रधान है और न्यायशास्त्र प्रमाणप्रधान। यद्यपि प्रमेय ही मुख्य है तथापि अभीष्ट प्रमेय (अपवर्ग[4]) की प्रतिपत्ति प्रामाणानपेक्ष नहीं हो सकती है। यही कारण है कि 'मनन' को तत्त्वसाक्षात्कार का एक अत्यावश्यक अङ्ग माना गया है।

यहाँ यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि प्रमेय में सर्वप्रथम आत्मा के तत्त्वज्ञान की अपेक्षा अपवर्ग को अधिकतर महत्त्व देना अनुचित है, क्योंकि अपवर्ग आत्मस्वरूपाधिगम से अतिरिक्त पदार्थ[5] नहीं है।

उपर्युक्त शास्त्रीय दृष्टि से भिन्न लौकिक दृष्टि से भी तर्क शास्त्र का महत्त्व अत्यधिक है, क्योंकि तर्क-शक्ति से रहित व्यक्ति दैनन्दिन व्यवहार का समुचित निर्वाह भी नहीं हो पाता। अतएव हम निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि न्यायशास्त्र मानव-समाज की की गतिविधि को व्यवस्थित करने में सर्वप्रथम स्थान रखता है। न्यायभाष्य का निम्नलिखित श्लोक अक्षरशः सत्य है :—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता ॥[6]

धर्मादिनिर्णय मे तर्कशास्त्र—न्यायशास्त्र—के महत्त्व को समझने के लिए न्यायमञ्जरी का प्रारम्भिक अंश भी द्रष्टव्य है।

न्यायसूत्र के निर्माता तथा उनका समय

यद्यपि वर्त्तमान न्यायसूत्र के पहले भी न्यायशास्त्र (तर्कशास्त्र) के प्रसार का अपलाप नहीं किया जा सकता तथापि सम्प्रति उपलभ्यमान न्यायशास्त्रीय साहित्य में न्यायसूत्र ही प्रथम मौलिक ग्रन्थ है।

---

१. धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीम्प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ बा० रा० २।१००।३९ ॥

२. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः इति ॥
न्या० भा० १।१।१ ॥

३. तुलनीय :—तर्कोऽपि द्विविधो वैशेषिकनैयायिकभेदेन ॥
सर्वदर्शनकौमुदी, पृ० ४ ॥

४. प्रमेयेषु अपवर्ग एव मूर्धाभिषिक्तः ॥ न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ३५ ॥

५. स्वरूपेण व्यवस्थानमात्मनो मोक्ष इति मोक्षविदः। तत्रात्मस्वरूपमेव कीदृक् इति चिन्त्यम्, न पृथक् मोक्षस्वरूपम् ॥ न्यायमञ्जरी, पृ० ८० (प्रमेयप्रकरण)।

६. न्या० भा० १।१।१ ॥

इस न्यायसूत्र के रचयिता का क्या नाम है—इस प्रश्न का समाधान चिरकाल से विप्रतिपन्न रहा है। पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, नैषधीयचरित, विश्वनाथवृत्ति आदि ग्रन्थों में गोतम को न्यायशास्त्र का प्रवक्ता बतलाया गया है; जब कि न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, तात्पर्यटीका तथा न्यायमञ्जरी आदि ग्रन्थों में अक्षपाद को। डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण तथा डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त आदि विद्वान् अक्षपाद को गोतम से भिन्न व्यक्ति मानते हैं। किन्तु इस भिन्नता में कोई प्रमाण नहीं है। अक्षपाद तथा गोतम एक ही व्यक्ति हैं।[1]

डॉ० विद्याभूषणजी न्यायसूत्रप्रणेता अक्षपाद का समय लगभग १५० ई० मानते हैं।

प्रो० जैकोबी के अनुसार न्यायसूत्र की रचना २००-५०० ई० के बीच मानी गई है।

श्री महादेव राजाराम बोदास के अनुसार गोतम का न्यायसूत्र ई० पू० पञ्चमश तक के अन्त अथवा ई० पू० चतुर्थ शतक के प्रारम्भ की रचना है।

म० म० प० हरप्रसाद शास्त्रीजी अक्षपाद को बुद्धपूर्वकालिक न्यायशास्त्र-प्रतिष्ठाता मानते हैं। किन्तु इनके अनुसार वर्त्तमान न्यायसूत्र—जो गोतम की कृति है—की रचना महायान बौद्धसम्प्रदाय के बाद प्रायशः २०० ई० में मानी जा सकती है।

प्रो० गार्वे महाशय का कथन है कि १००—३०० ई० के प्रसिद्ध सांख्याचार्य पञ्चशिख न्यायसूत्र से परिचित थे। अत एव न्यायसूत्र की रचना ईस्वीय वर्ष के प्रारम्भ से कुछ पहले अवश्य हुई होगी।

प्रो० सुआली ३००—३५० ई० के बीच न्यायसूत्र की रचना मानते हैं।

प्रो० सेरवास्की का मत है कि न्यायसूत्र में विज्ञानवाद का उल्लेख है। अतएव न्यायसूत्र की रचना ५०० ई० से पूर्व हुई होगी।

डॉ० गङ्गानाथ झाजी के न्यायभाष्य के आङ्ग्लानुवाद की प्रस्तावना में म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज जी ने अनेकानेक युक्तियों से यही निष्कर्ष निकाला है कि ई० पू० षष्ठ शतक में ही न्यायसूत्र की रचना हुई थी। यही मत, प्रारम्भ में, विद्याभूषणजी का भी था। किन्तु म० म० डॉ० उमेश मिश्र जी ई० पू० पञ्चम शतक में न्यायसूत्र की रचना मानते हैं। इन मत-मतान्तरों के विषय में History of Indian Philosophy, Vol. II. (पृ० २४—२७) द्रष्टव्य है।

यतः न्यायसूत्र का स्वरूप चिरकाल तक अव्यवस्थित रहा है अतएव इसमें किसी सम्प्रदाय के खण्डन या उल्लेख की मौलिकता के निश्चय के अभाव में सम्प्रदायान्तर के उल्लेखादि के आधार पर इसके निर्माणकाल का निर्णय बहुत उपपन्न नहीं है।

अक्षपादप्रणीत न्यायसूत्र की उपलब्ध व्याख्याओं में सर्वप्राचीन है वात्स्यायन[2]

---

१. History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 27.

२. भाष्यकार का नाम वात्स्यायन है—इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण है :—

(क) योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद्वदतां वरम् ।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्णयत् ॥ (न्या० भा० के अन्त में)।

(ख) यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ ॥
न्यायवार्त्तिक, पृ० ५६० (चौखम्बा)।

किन्तु भाष्यकार का यह नाम गोत्रप्रयुक्त है।

का 'भाष्य'। भाष्यकार का दूसरा नाम पक्षिलस्वामी[1] है। कुछ लोग वात्स्यायन को कौटिल्य से अभिन्न मानने के पक्ष में हैं। परन्तु 'आन्वीक्षिकी' शब्द की कौटिल्यसम्मत व्याख्या तथा न्याय-भाष्यकारसम्मत व्याख्या में वैमत्य के आधार पर यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है।

डॉ० विण्डिस तथा म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज जी के अनुसार वात्स्यायन के न्यायभाष्य से ही यह प्रमाणित है कि सूत्र तथा भाष्य के मध्य में न्यायसूत्र पर एक वार्त्तिक भी था[2]। परन्तु भाष्य के लक्षण में 'स्वपदानि[3] च वर्ण्यन्ते' के समावेश के आधार पर म० म० डॉ० उमेश[4] मिश्र जी का कथन है कि न्यायभाष्य में उपलब्ध वार्त्तिकाकार वाक्य भाष्यकार के ही संक्षिप्त वाक्य हैं, वार्त्तिक नहीं।

इस प्रसङ्ग में कुछ विषय विवेचनीय हैं। वर्धमानोपाध्याय के अनुसार 'भाष्य' शब्द सूत्रार्थप्रधान व्याख्या का पर्याय[5] प्रतीत होता है। प्राचीन परम्परा में सूत्रार्थप्रधान व्याख्या को[6] 'वृत्ति' कहा जाता था एवम् वार्त्तिक की व्याख्या को भाष्य। किन्तु यदि भाष्य में वार्त्तिकों की व्याख्या के साथ-साथ सूत्रों की भी व्याख्या उपलब्ध हो तो उसे 'महाभाष्य' कहा जा सकता है।[7]

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि यदि न्यायभाष्य में सूत्र तथा वार्त्तिकों की व्याख्या है तो इसे महाभाष्य भी कहने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी। किन्तु ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। अतः न्यायभाष्य में वार्त्तिकों का समावेश असम्भव सा लगता है। वर्धमानोपाध्यायोक्त लक्षण को दृष्टि में रखकर यदि न्यायभाष्य को भाष्य कहा जाय तब वार्त्तिकों के समावेश की सम्भावना भी बनी ही रहती है। यदि 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र···' आदि परिभाषा के आधार पर इसे भाष्य माना जाय तब तो इसमें वार्त्तिकों का समावेश नहीं मानना ही उचित है, जैसा डॉ० मिश्रजी का भी मत है। मुझे तो इसी परिभाषा के आधार पर न्यायभाष्य को भाष्य कहना उपयुक्ततर प्रतीत हो रहा है और इसलिए मेरी दृष्टि में न्यायभाष्य में वार्त्तिकों का सन्निवेश प्रामाणिक नहीं है।

जहाँ तक यह समस्या है कि भाष्य वार्त्तिकों के व्याख्यान को कहा जाता है, सूत्रों के व्याख्यान को नहीं इसके समाधान में इतना ही पर्याप्त है कि यह परम्परा निरपवाद

---

१. अथ भगवताऽक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना··· ॥ तात्पर्यटीका, पृ० १ (चौखम्बा)।

न्यायभाष्यकार के नामान्तर की विवेचना के लिए न्यायवार्त्तिक की म० म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी की भूमिका (पृ० ८०—८६) देखनी चाहिए।

२. डॉ० गङ्गानाथ झा जी द्वारा कृत न्यायभाष्य के आङ्ग्लानुवाद की प्रस्तावना।

३. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

४. History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 35.

५. सूत्रबुद्धिस्थीकृत्य तत्पाठनियमं विनापि तद्व्याख्यानं भाष्यम्॥
न्यायनिबन्धप्रकाश।

६. सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः॥ पदमञ्जरी, पृ० ४, भाग—१ (प्राच्यभारती)।

७. इस विषय के विशेष विवरण के लिए काशिका की प्रस्तावना (चौखम्बा—१९६९), पृ० ७४—७५ द्रष्टव्य है।

नहीं है। अत एव ब्रह्मसूत्र आदि पर लिखे गए व्याख्यानों को शाङ्करभाष्य, रामानुजभाष्य आदि कहा जाता है। न्यायभाष्य भी इसी पक्ष का अन्यतम उदाहरण है।

अत एव न्यायभाष्य से पहले न्यायसूत्र पर कोई व्याख्या लिखी गई थी या नहीं—यह विषय सन्दिग्ध है। पक्षान्तर का उपन्यास तो बहुधा मनःकल्पना के आधार पर भी शास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया मिलता है। अतः यह भी अकाट्य प्रमाण नहीं है।

डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[१] के अनुसार वात्स्यायन का समय ४०० ई० के आसपास है। परन्तु डॉ० उमेश मिश्र[२] जी का कथन है कि यह मत निराधार है। उमेश मिश्र जी वात्स्यायन को ई० पू० द्वितीय शतक में सञ्जात मानते हैं।

इस न्यायभाष्य के महत्त्व में यही प्रबल प्रमाण है कि उद्योतकर, वाचस्पति, उदयनाचार्य, वर्धमानोपाध्याय तथा शङ्कर मिश्र जैसे महान् तार्किकों द्वारा इस पर व्याख्या तथा उपव्याख्याएँ लिखी गईं। इसकी भाषा अत्यन्त प्राचीन है तथा शैली भी जटिल है। अतएव आज के युग में इस भाष्य की हिन्दी व्याख्या की अत्यावश्यकता आ पड़ी। पं० ढुण्ढिराज शास्त्रीजी ने हिन्दी व्याख्या में इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। इस व्याख्या में न्यायवार्त्तिक तथा तात्पर्यटीका आदि का पर्याप्त उपयोग किया गया है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। अतएव यह व्याख्या छात्रों के लिए अत्युपयोगिनी है।

इस नवीन एवम् समयोचित संस्करण के लिए चौखम्बा प्रकाशन के अध्यक्ष धन्यवादार्ह हैं।

आशा है कि आज के आलोचनशील विद्वान् इस संस्करण का स्वागत कर प्रकाशक के संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन में वर्त्तमान अनुराग को और भी समृद्ध करेंगे।

संस्कृत-पालि-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
श्रीजानकी विवाहपंचमी २०२६

विनीत
श्री नारायण मिश्र

१. History of Indian Logic, P. 115.
२. History of Indian Philosophy, Vol. II, PP. 35—36.

सभाष्यन्यायदर्शन-विषयसूची

प्रथमाध्याय का प्रथम आह्निक

द्वितीयाध्याय का द्वितीय आह्निक

तृतीयाध्याय का द्वितीय आह्निक

चतुर्थाध्याय का प्रथम आह्निक

चतुर्थाध्याय का द्वितीय आह्निक

पञ्चमाध्याय का प्रथम आह्निक

पञ्चमाध्याय का द्वितीय आह्निक

वस्त्वन्तरस्य भाष्येऽस्मिन् प्रतिपङ्क्ति-निरूपणात् ।
विषयाणामियं सूची स्थूलदृष्ट्यैव साधिता ॥

(सम्पादकः)

॥ श्रीः ॥

न्यायदर्शनम्

वात्स्यायनभाष्यसहितहिन्दीव्याख्योपेतम्।

अथ प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्।

श्री गणेश शारदा सह श्री गुरु चरण सरोज।
वन्दन करि न्यायभाष्य का रचूं भाषाव्याख्यान॥

पदार्थोद्देश प्रकरण

आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों में से द्वैत तथा अद्वैतवादि जिनके मत में क्रम से प्रमाण तथा प्रमेय का व्यवहार सत्य है अथवा मायिक तथा सांवृतिक है संपूर्ण दर्शनकारों को अपने-अपने मत से सिद्ध होने वाले प्रमेय (जानने योग्य) पदार्थों की सिद्धि करने में प्रमाणों की आवश्यकता होती है। संसार के लौकिक व्यवहार भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना नहीं हो सकते। इसी कारण महर्षि गौतम ने अपने मत के प्रमेय पदार्थों को सिद्धि में विशेषकर अनुमान प्रमाण-रूप न्याय के पूर्वाङ्ग तथा उत्तराङ्गों के सहित वादादि कथा द्वारा साधक प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रह, स्थान ऐसे षोडश (सोलह) पदार्थ माने हैं जिनमें प्रमाण ही प्रमेयों के साधक होते हैं। इस सर्वतंत्र सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण पदार्थ ही को मुख्यता देते हुए उक्त सोलह पदार्थों में प्रमाण को प्रथम (प्रधान) स्थान दिया है, यह स्पष्ट है। इसी बात की पुष्टि के लिये सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण विद्वान् ने 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' ऐसा कारिका के अन्त में कहा है। अतः 'प्रमाण, प्रमेय' इत्यादि गौतमप्रणीत प्रथम सूत्र की भूमिका रचते हुए महर्षि वात्स्यायन प्रमाण पदार्थ की प्रधानता प्रत्यक्ष, उपमान आदि और प्रमाणों से सिद्ध होने योग्य न होने के कारण अनुमान प्रमाण से प्रमाण पदार्थ में सप्रयोजनता की सिद्धी करते हुए उसमें प्रधानता सिद्ध करते हैं— 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्' इस प्रथम व्याख्या करने योग्य भाष्य में। इस अनुमान में प्रमाण सामान्य पक्ष है, अर्थवत्ता (अर्थ का अव्यभिचार) साध्य है, एवं 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात्' यह हेतू है, जिससे प्रत्यक्षादि प्रमाण; प्रयोजन (अर्थ का व्यभिचारी न होना रूप) सहित हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अर्थों (पदार्थों) का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति में सफलता होने से ऐसा अनुमान का आकार जानना चाहिये। इस अनुमान से प्रमाण पदार्थ प्रमेयादि पन्द्रह पदार्थों से श्रेष्ठ है, अतः महर्षि गौतम ने उसे प्रथम स्थान दिया है यह सिद्ध होता है। किन्तु यहां पर ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप कर सकता है कि प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है यह गौतम मुनि का प्रथम सूत्र में कहना प्रमाणित नहीं

प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा।

तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा-प्रवृत्तिरित्युच्यते।

सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाऽभिसम्बन्धः। समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा।

हो सकता, क्योंकि यथार्थ ज्ञान की करणतारूप प्रमाणता प्रामाण्य निश्चय से ही सिद्ध होगी, किन्तु यह प्रामाण्य का निश्चय अपने से, अपने किसी से अथवा पर (दूसरे) से होगा। यह प्रश्न यहां हो सकता है। जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संवेदन (ज्ञान) से अपने में प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकने के कारण प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। और अपने किसी से मानें तो ज्ञानका ग्रहण होने पर भी उसके प्रामाण्य का ग्रहण न हो सकेगा। यदि स्वप्रकाश मानें तो भी यह ज्ञान है ऐसा ग्रहण हो सकेगा न कि उसके प्रामाण्य का। अतः द्वितीय पक्ष भी असंभव है। यदि तृतीय पक्ष से पर को या उसके ज्ञान को ग्राहक माना जाय तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं जब उसमें प्रामाण्य का निश्चय नहीं है तो वह प्रवर्तक पूर्वज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय कैसे करा सकेगा। यदि इसमें स्वयं प्रामाण्य मानें तो प्रथम ने क्या अपराध किया है कि उसमें स्वयं प्रामाण्य न माना जाय। अतः प्रथम प्रामाण्य के ग्रहण का असंभव होने के कारण उसके अधीन प्रमाणता का निश्चय होना कठिन है और प्रमाणता के ग्रहण न होने से प्रमाणाधीन प्रमेय पदार्थों का निश्चय नहीं हो सकता, तस्मात् ज्वर को हरने वाले तक्षक सर्प के मस्तक के मणि के उपदेश के समान यह न्यायशास्त्र का उपदेश भी करने के लिये अशक्य होने के कारण व्यर्थ है। एवं मोक्ष के भागी आत्मादि प्रमेयों को प्रथम कहना ही युक्त है। यह भी पूर्वपक्षी आक्षेप यहां कर सकता है। इन दोनों का समाधान करने के लिये ही यह भूमिका-भाष्य वात्स्यायन महर्षि का है। जिससे प्रामाण्य ग्रहण के उपाय के कहने से शास्त्र का प्रयोजन होने के कारण शास्त्र व्यर्थ नहीं है यह सूचित होता है। अथवा प्रमाण एवं प्रवृत्ति इन दोनों में कौन (समर्थ) बलवान है!। शिष्यों की इस जिज्ञासा के होने पर लोक-व्यवहार के अनुसार दोनों ही समर्थ हैं यह उक्त भाष्य सूचित करता है। अथवा प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता तथा प्रमिति इन चारों में एवं हेय, हान, आदि चतुर्वर्ग में भी प्रमाण ही प्रधान है यह दिखाने के लिये उक्त भूमिका भाष्य है ऐसा टीकाकारों के मत से सिद्ध होता है। उक्त व्याख्येय भाष्य में प्रमाण को जो प्रवृत्तिजनकता दिखाई है वह साक्षात् नहीं है किन्तु अर्थ के ज्ञान के द्वारा यह सूचित करने के लिये 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ' ऐसा कहा है जिससे उक्त अनुमान प्रमाण ही प्रामाण्य का ग्राहक है यह सिद्ध होता है। इस न्यायशास्त्र में प्रमाण शब्द प्रायः ज्ञान के करण को कहता है जो प्रमीयते अनेन इस व्युत्पत्ति से बोध्य है जिसका प्रमिति फल है। किन्तु कहीं-कहीं प्रमिति (ज्ञान) का भी वाचक है, जिसमें पुरुष का प्रयत्न फल है। किन्तु इस भाष्य में अग्रिम व्याख्या के अनुसार करण वाचक है, यह सिद्ध होता है।

उक्त व्याख्यान योग्य संक्षिप्त भाष्य की भाष्यकार स्वयं व्याख्या करते हैं कि बिना प्रमाण के पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, और बिना अर्थ के ज्ञान की प्रवृत्ति में सामर्थ्य (सफलता) नहीं होती। क्योंकि प्रमाण से ही पदार्थ को ज्ञाता पुरुष प्राप्त कर उस पदार्थ को प्राप्त करना चाहता है अथवा त्याग करना चाहता है। उस प्राप्ति तथा त्याग की इच्छा से प्रेरित पुरुष की समीहा (प्रयत्न) को प्रवृत्ति ऐसा कहते हैं। उस प्रवृत्ति का फलके साथ सम्बन्ध होने को ही सामर्थ्य कहते हैं।

अर्थस्तु सुखं सुखहेतुश्च, दुःखं दुःखहेतुश्च। सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसङ्ख्येयः, प्राणभृद्भेदस्यापरिसङ्ख्येयत्वात्। अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति।

कस्मात्? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनाऽर्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणं, योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयं, यत् अर्थविज्ञानं सा प्रमितिः, चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते।

किं पुनस्तत्त्वम्। *सतश्च सद्भावोऽसतश्चाऽसद्भावः।* सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चाऽसदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।

कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति ?। सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः

क्योंकि प्रयत्न करने वाला प्राणी उस पदार्थ को प्राप्त करने अथवा त्याग करने की इच्छा करता हुआ उस पदार्थ को प्राप्त करता है अथवा त्याग करता है। वह अर्थ संसार में सुख, सुख का कारण, दुःख तथा दुःख का कारण इस प्रकार चार प्रकार का है। किन्तु यह प्रमाण से संबोधित होनेवाला उक्त चारों प्रकार का अर्थ अपरिसंख्येय गणना के अयोग्य अर्थात् (अनियत) है। क्योंकि प्राणियों के विशेष अपरिसंख्येय (गणना के योग्य नहीं है) और उक्त अनुमान से प्रमाण में सप्रयोजनता सिद्ध होने के कारण हीं, प्रमाता (ज्ञाता), प्रमेय (विषय) तथा प्रमिति (ज्ञान) ये तीनों भीअर्थवान् (सप्रयोजन) हैं, यह सिद्ध होता है।

ऐसा क्यों ? उत्तर—अन्यतम (अत्यन्त साधक प्रमाण) के न रहने पर अर्थ की सिद्धि के न होने से। उक्त प्रमातादि चतुष्टय में से पदार्थ के प्राप्त होने की तथा त्याग करने की इच्छा से जिसकी प्रवृत्ति होती है उसे प्रमाता कहते हैं। तथा वह प्रमाता पुरुष जिसके द्वारा जानने योग्य विषय (अर्थ) को जानता है उसे प्रमाण, एवं जो पदार्थ जाना जाता है उसे प्रमेय (जानने योग्य विषय) तथा जों पदार्थ का विशेषरूप से ज्ञान होता है वह प्रमिति कहाती है। इन प्रमातादि चतुष्टय में पदार्थ का तत्त्व (वास्तविक ज्ञान) समाप्त होता हैं (अर्थात् किसी पदार्थ को प्रमाण से जानने में इन चारों से अतिरिक्त किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इसीसे वह उस पदार्थ का हान अथवा उपादान करने का निश्चय कर लेता है।)

प्रश्न—वह पदार्थ का तत्त्व क्या है ? उत्तर—सत् (भावरूप पदार्थ) का सद्भाव (वर्तमान होना अर्थात् प्रमाण का विषय होना) तथा असत् (अभावरूप पदार्थ) का, असद्भाव (वर्तमान न होना अर्थात् निषेध प्रमाण का विषय होना) ही पदार्थों का तत्त्व होता है। क्योंकि यह सत् यह सत् है, भावरूप अमुक पदार्थ है इस प्रकार जाना जाता हुआ जैसा उसका स्वरूप है यदि विपरीत (अभावरूप) न हो तो वह उस भावरूप पदार्थ का तत्त्व कहलाता है। और यह असत् है यह असत् है (अर्थात् नहीं है) इस प्रकार अभावरूप से जाना हुआ जैसा उसका अभावरूप है यदि उसके विपरीत (भाव रूप) न हो तो वह उस अभाव पदार्थ का तत्त्व (वास्तविक स्वरूप) कहलाता है।

प्रश्न—(दूसरे) अभावरूप पदार्थ की प्रमाण से उपलब्धि (ज्ञान) कैसे होता है (अर्थात्) भाव पदार्थ का प्रमाण ग्राहक हो सकता है किन्तु असत् पदार्थ का वह ग्राहक कैसे होगा ?

उत्तर—सत् (भावरूप) पदार्थ की उपलब्धि (ग्रहण) होने के समय ही, उस असत्

प्रदीपवत्। यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति, यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्तीति, एवं प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति, यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्तीति, तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति।

सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते। तासां खल्वासां सद्विधानाम्—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

(अवर्तमान) पदार्थ का भी ग्रहण प्रदीप के समान होता है। जिस प्रकार दिखाने वाले दीप से दिखाने वाले घट का ग्रहण होने के ही समय उसके समान जो दूसरा पट आदि पदार्थ नहीं दिखाता, वह पट नहीं है, यदि होता तो घट के समान वह भी जाना जाता, घट का पट के समान ज्ञान न होने के कारण वह नहीं है यह भी दीप ही से जाना जाता है, इसी प्रकार प्रमाण से सत् (भाव) पदार्थ के ग्रहण के समय में ही जो पदार्थ भावपदार्थ के समान गृहीत नहीं होता, वह नहीं है, यदि होता तो इस भावपदार्थ के समान जाना जाता, ज्ञान न होने के कारण दूसरा भावपदार्थ नहीं है यह भी प्रमाण ही से सिद्ध होता है। इस कारण सत् (वर्तमान) भावपदार्थ को प्रकाशित करता हुआ प्रत्यक्षादि प्रमाण असत् (न रहने वाले) पदार्थ को प्रकाशित करता है। केवल विशेषता यही है कि सत् पदार्थ स्वतंत्ररूप से प्रमाण का विषय होता है और असत् पदार्थ निषेध के द्वारा प्रमाण का विषय होता है। प्रमाण से सत् पदार्थ की उपलब्धि के द्वारा प्रतिषेधपूर्वक असत् की उपलब्धि कैसे होती है इसी विषय को भाष्यकार ने प्रदीप दृष्टान्त द्वारा ऊपर स्पष्ट किया है। सत् पदार्थ के अधीन प्रकाश होने के कारण असत् की भाष्यकार ने उपेक्षा नहीं की है, किन्तु अनन्त सत् प्रमाणादि गंगा की बालू आदि पदार्थों में से प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, न कि गंगा की बालू आदिकों के तत्त्वज्ञान से इस कारण इस न्यायशास्त्र में प्रमाणादिकों का ही उद्देश्य, लक्षण तथा परीक्षा की है।

जो सत् पदार्थ्दिभेद से संक्षेप में उपदेश किया जायगा, उन षोडश सत् प्रकार के पदार्थों में से—

पदपदार्थ—प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां = १ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति तथा १६ निग्रहस्थान नामक षोडश सत् पदार्थों के, तत्वज्ञानात् = वास्तविक ज्ञान से, निःश्रेयसाधिगमः = मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

भावार्थ—गौतम महर्षि से चलाये हुए न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमाण आदि उपरोक्त षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से (यथार्थज्ञान से) स्वर्गापवर्गादिरूप निःश्रेयस (कल्याण की प्राप्ति) होती है ॥ १ ॥

निर्देशे यथावचनं विग्रहः। चार्थे द्वन्द्वसमासः। प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेयसस्याऽधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यौ। त एतावन्तो विद्यमानार्थाः, येषामविपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः। सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः। आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। तच्चैतदुत्तरसूत्रेणाऽनूद्यत इति।

भाष्यव्याख्या—निर्देश (लक्षणसूत्र) में आगे जैसे वचन लिये हैं उनके अनुसार इस उद्देश (नाम कीर्तन) सूत्र में भी विग्रह करना। (अर्थात् आगे कहे जाने वाले प्रमाणादिकों के लक्षण सूत्रों में जो एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनों के भेदों के ग्रहण का प्रयोजन है वही इस प्रथम उद्देश सूत्र में भी है, इस कारण इस प्रथम सूत्र में भी समास का विग्रह करने में भिन्न भिन्न लक्षणानुसार 'प्रमाणानि प्रमेयं च' इत्यादि वचन भेद लेना चाहिये। यह भाष्यकार का अभिप्राय है।) वह समास चकार के अर्थ में अर्थात् इतरेतरद्वन्द्व ऊपर कहे अनुसार करना। यहाँ वार्तिक तथा तात्पर्य टीका में 'सर्वपदार्थ प्रधानद्वन्द्व समास करना' ऐसा कहा है (यहाँ पर वार्तिककार भारद्वाज मुनि ने न्यायवार्तिक में 'चार्थेद्वन्द्वसमासः' इस भाष्य का निर्देश 'यथावचनं विग्रहः' इस भाष्य की पूर्व में योजना की है)। प्रमाण आदि षोडश पदार्थों का 'तत्त्वज्ञानात्' इस समास पद के एकदेश 'तत्त्वं' में सम्बन्ध होने के कारण 'प्रमाणादिकों' का तत्त्व इस प्रकार 'शैषिकी' षष्ठी विभक्ति है, (अर्थात् इसमें षड् प्रकार के कर्ता आदि कारकों के अर्थ की विवक्षा न होने के कारण यह 'शेष' (सम्बन्ध सामान्य) के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है)। 'तत्त्वज्ञानात्' इस समस्त पद में 'तत्त्वस्य' (तत्त्व का) ज्ञानं (ज्ञान) तथा 'निःश्रेयसाधिगमः' इस समस्त पद में "निःश्रेयसस्य अधिगमः' निःश्रेयस की प्राप्ति यह दोनों कर्म विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है (अर्थात् ज्ञान का विषय षोडश पदार्थों का पूर्व प्रदर्शित तत्त्व तथा अधिगम (प्राप्ति) का विषय मोक्ष है यह इस भाष्य से सूचित होता है। (बिना तत्त्वस्य ज्ञान इस उक्त कर्म में षष्ठी विभक्ति के तत्त्व तथा ज्ञान का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव है यह ज्ञान न होगा, और बिना 'निःश्रेयसस्याधिगमः' इस कर्मणि षष्ठी के निःश्रेयस प्राप्ति करने की इच्छा रखनेवाले मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा का विषय है यह ज्ञान नहीं होगा। यह भाष्यकार का गूढ आशय है)। (यहाँ पर 'षष्ठ्यौ' इसके आगे 'गमकतया समासः' ऐसा भी दूसरी पुस्तकों में विशेष पाठ भाष्य में है)। वे इतने षोडश विद्यमान (सद्रूप) पदार्थ हैं। जिनका विपरीत (मिथ्या) ज्ञान न होने के लिये ये गौतम महर्षि ने न्यायशास्त्र दर्शन के प्रथम सूत्र में उपदेश किया है। वह यह षोडश पदार्थों का वर्णन संम्पूर्ण न्यायशास्त्र का विषय है, अर्थात् इसी में संपूर्ण न्यायशास्त्र गतार्थ है यह जानना चाहिये। (अर्थात् उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा ऐसे तीन भाष्यकार ने आगे शास्त्र के अवयव कहे हैं, जिनमें एक उद्देशरूप अवयव से कहा हुआ शास्त्र का विषय, लक्षण तथा परीक्षारूप दो अवयवों से पूर्णरूप से जानना चाहिये ऐसा यहाँ पर भाष्यकार का आशय है)। यद्यपि संपूर्ण प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) होता है, तथापि जिन आत्मा, शरीर, इन्द्रियादि आगे वर्णन किये जाने वाले द्वादश प्रमेय पदार्थों के विपरीत ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) से संसार में बंधन का कारण है उन्हीं के तत्त्वज्ञान से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति होती है इस आशय से आगे भाष्यकार कहते हैं कि आत्मा, शरीर इत्यादि जानने योग्य (प्रमेय) पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ही निःश्रेयस (मोक्ष) की

हेयं तस्य निर्वर्तकं, हानमात्यन्तिकं, तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।

तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्—संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति? सत्यमेतत्। इमास्तु चतस्रो

प्राप्ति होती है (अतएव 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यों, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आत्मा को ही देखना, सुनना तथा अनुमान से मनन करना एवं निदिध्यासन (सदा ध्यान) करना चाहिये ऐसा श्रुति में वर्णन किया है।) (सूत्रकार ने स्वयं इस विषय को क्यों नहीं कहा ? ऐसी शंका यहाँ पर हो तो, उसके समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि)—वह यह विषय सूत्रकार स्वयं द्वितीय सूत्र में वर्णन करेंगे। अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाले प्राणी के लिये संसार में हेय (त्याग योग्य) क्या है तथा उसका संपाद्य क्या है १, तथा अत्यन्तिक (अत्यन्त होने वाली) हान (हानि) क्या है २, उस अत्यन्त हानि का उपाय क्या है ३, एवं अधिगन्तव्य प्राप्त करने योग्य क्या है ४, इन चार अर्थ पद (आर्थ शब्द) से कहे जाने वालों को अच्छी तरह जानकर प्राणी मोक्ष को प्राप्त होता है। यह संपूर्ण विषय द्वितीय सूत्र में विस्तार से सूत्रकार कहेंगे। (जिसमें हेय (त्याग योग्य) है दुःख, एवं उसकी उत्पादक है अविद्या, तृष्णा तथा धर्म एवं अधर्म, हेय-दुःखादिकों की हानि का करना ही ज्ञान है, जो आत्मादि प्रमेय विषयों का वास्तविक ज्ञान है। उसका 'उपाय' है शास्त्र। और 'अधिगन्तव्य' प्राप्त करने योग्य है मोक्ष।)

'प्रमाण तथा प्रमेय दो ही पदार्थों के वर्णन करने से शास्त्र की आवश्यकता पूर्ण हो सकती है क्योंकि प्रमाण से प्रमाता पुरुष आत्मा शरीर आदि द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर क्या हेय है, क्या उपादेय है यह जान कर हेय के हानि स्वरूप उपादेय (ग्रहण योग्य) का ग्रहण करेगा, तो फिर संशय से लेकर निग्रह स्थानपर्यन्त अवशिष्ट चौदह पदार्थों के पृथक् वर्णन की इस न्यायशास्त्र में क्या आवश्यकता है' इस आशय से आगे भाष्यकार पूर्वपक्ष दिखाते हैं कि—इस शास्त्र के उपरोक्त उद्देशरूप प्रथम सूत्र में संशय से लेकर निग्रह स्थानपर्यन्त पदार्थों का पृथक्-पृथक् पदों से प्रतिपादन करना निरर्थक (निष्प्रयोजन) है, क्योंकि लिंग रूप से किसी अर्थ के सार्थक होने के कारण प्रमाणों में तथा जानने योग्य होने से प्रमेयों में इस प्रकार (यथासंभव) अन्तर्भाव को प्राप्त हो सकने के कारण संशयादि चतुर्दश अवशिष्ट पदार्थ भिन्न नहीं हो सकते॥ इस पूर्वपक्ष का समाधान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि—(यह पूर्वपक्षी का कहना सत्य है, किन्तु आन्वीक्षिकी १, वेदत्रयी २, वार्ता ३, तथा दण्डनीति ४, ऐसी प्रसिद्ध जो चार विद्यायें हैं जिनको महर्षियों ने प्राणियों के अनुग्रह के लिए पृथक् पृथक् व्यापार वाली कहा है। जिसमें यह चतुर्थ (चौथी) न्यायविद्या नामक आन्वीक्षिकी विद्या है। (जिनमें मुख्य-रूप से ब्राह्मणों के लिये अग्निहोत्र, आहवनीय आदि प्रस्थान (व्यापार) प्रधान है। वह है प्रथम ऋग्, यजु तथा सामवेद रूप त्रयी विद्या। दूसरी मुख्यरूप से वैश्यों के लिये हल, शकट, क्षेत्र आदि प्रस्थान वाली वार्ता नामक विद्या है और तीसरी है मुख्यरूप से क्षत्रिय वर्ण के लिये, स्वामी, मंत्री, दुर्ग (किला), गज, तुरग, शत्रु, मित्र, उदासीन आदि पदार्थ प्रस्थान वाली दण्ड-नीति नाम की विद्या। अतः उपरोक्त तीन विद्याओं के समान न्यायविद्या (आन्वीक्षिकी) का भी संशयादि न्यायांग पदार्थों का वर्णन प्रस्थान भेद दिखाने के लिये आवश्यक है इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि—इस आन्वीक्षिकी विद्या के और विद्याओं के समान संशयादि

विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाऽध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथोपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते। तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे। यथोक्तं—*'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'* (अ० १ आ० १ सू० ४१) इति। *विमर्शः*—संशयः। *पक्षप्रतिपक्षौ*—न्यायप्रवृत्तिः। *अर्थावधारणं*—निर्णयस्तत्त्वज्ञानमिति। स चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं ज्ञानं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थं पृथगुच्यते।

चतुर्दश अवशिष्ट पदार्थों का वर्णन भिन्न प्रस्थान दिखाने के लिये किया गया है, यदि संशयादिकों का पृथक् वर्णन इसमें न हो तो उपनिषदों के समान यह आन्वीक्षिकी विद्या भी केवल अध्यात्म विद्या होने के कारण त्रयी में ही इसका अन्तर्भाव होने से उपरोक्त प्रसिद्ध चार विद्याओं का वर्णन असंगत हो जायगा। इस कारण संशयादि पदार्थों से इस विद्या के चतुर्थ विद्या की सिद्धि के लिये पृथक् (भिन्न) प्रस्थान का वर्णन किया गया है। यहां पर 'संशयादि भेद को आन्वीक्षिकी विद्या अनुसरण करती है, ऐसा वार्तिककार का मत है। यद्यपि संशयादिक का पूर्वपक्षी के कथनानुसार यथासंभव प्रमाण तथा प्रमेयों में अन्तर्भाव हो सकता है तथापि इस न्यायशास्त्र में अनेक विषयों का वर्णन है यह सूचित करने के लिये संशयादियों का पृथक् वर्णन किया गया है ऐसा खद्योतकार का आशय है)। उनमें से प्रथम संशय पदार्थ के पृथक् ग्रहण का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—उन संशयादियों में से सामान्य रूप से नहीं जाने हुए (अज्ञात) तथा निश्चित पदार्थ में न्याय (परार्थ अनुमान) की वाद कथा में प्रवृत्ति नहीं होती। प्रश्न—तो किसमें होती है ? उत्तर—सन्दिग्ध पदार्थ में, क्योंकि आगे 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' अर्थात् संशयपूर्वक न्याय प्रवृत्ति से अर्थ के अवधारण (निश्चय) को निर्णय कहते हैं ऐसा प्रथमाध्याय, प्रथमाह्निक के ४१ वें सूत्र में स्वयं सूत्रकार कहेंगे। इस सूत्र में विमर्श शब्द का अर्थ है संशय। पक्षप्रतिपक्ष शब्द का अर्थ है न्यायप्रवृत्ति तथा अर्थावधारण शब्द का अर्थ है निर्णय अर्थात् तत्त्वज्ञान (वास्तविक ज्ञान) और वह यह 'क्या है' इस प्रकार पदार्थ का विमर्शमात्र सामान्यरूपमात्र से ज्ञान होना निश्चयरूप न होने के कारण संशय नामक ज्ञान कहाता है, जिसका स्वरूप जानने योग्य होने के कारण प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भाव हो सकने पर भी इसलिये (तत्त्व निश्चय के लिये) पृथक् न्यायशास्त्र में कहा गया है। (अर्थात् पक्षता नियामक धर्म से निश्चित तथा साध्यधर्म से सन्दिग्ध धर्मी (पक्ष) में न्याय (अनुमान प्रयोग) की प्रवृत्ति होती है, अतः जल्प तथा वितण्डा कथा में संदेह की अपेक्षा न होने के कारण संशय की वादकथा रूप न्याय अनुमान में ही आवश्यकता है यह सिद्ध होता है इसी कारण उपरोक्त सूत्र में संशय को न्याय का प्रवर्तक सूत्रकार ने कहा है यह यहाँ पर भाष्यकार का अभिप्राय है)। इसी कारण 'तत्र नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीते प्रवर्तते। किन्तु संशयिते न्यायस्तदङ्गं तेन संशयः।' ऐसे अभियुक्त (प्राचीन नैयायिकों) के भी वचन इस विषय में प्रमाण जानना चाहिये।

अथ प्रयोजनम्—येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम्। यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते। तेनाऽनेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते। कः पुनरयं न्यायः?। प्रमाणैरर्थ-परीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्या-मीक्षितस्याऽन्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी—न्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्। यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति।

क्रम प्राप्त प्रयोजन पदार्थ के पृथक् वर्णन का प्रयोजन दिखाते हुऐ भाष्यकार प्रथम उसका स्वरूप दिखाते हैं कि—जिससे प्रेरणा पाकर प्राणी किसी कार्य में प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं। जिस किसी अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ अथवा द्वेष योग्य अनिष्ट पदार्थ के त्याग करने की इच्छा करता हुआ प्राणी क्रिया को आरंभ करता है उस इस प्रयोजन से संसार के संपूर्ण प्राणी, संपूर्ण संसार के कर्म, संपूर्ण विद्यायें व्याप्त हैं, (अर्थात् बिना प्रयोजन के किसी भी संसार के प्राणि के कर्म तथा विद्या नहीं हैं)। तथा प्रयोजन को उद्देश कर ही न्याय की प्रवृत्ति होती है इसी कारण प्रयोजन न्याय का भी मूल है। प्रश्न—यह न्याय क्या है? उत्तर—प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहा जाता है। (संपूर्ण प्रमाणों के व्यापार से अर्थ के अधिगति (ज्ञान) को न्याय कहते हैं) इस प्रकार वार्तिककार की उक्त भाष्य की व्याख्या है। तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणमूलक प्रतिज्ञादि पंचावयवरूप प्रमाणों से अर्थ (लिङ्ग + हेतु) की परीक्षा को न्याय कहते हैं ऐसी तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र की व्याख्या है।) निंदित (दुष्ट) तर्क से उत्पन्न परीक्षा को हटाने के लिये भाष्यकार (आगे कहते हैं कि)—प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण के अविरुद्ध अनुमिति ज्ञान का कारण ही अनुमान प्रमाण होता है, और उसी को अन्वीक्षा कहते हैं, (क्योंकि सर्वज्ञ श्रुति तथा स्मृतियों के कर्ता स्वयं देखे हुए विषय को श्रुतिस्मृतिरूप आगम प्रमाण से जिज्ञासुओं को दिखाते हैं, और उस श्रुति तथा स्मृतियों को पढ़ कर प्रमाता पुरुष वावदूक (विचार में समर्थ) हो कर जल्प तथा वितण्डा कथा द्वारा प्रतिपक्षियों का खण्डन कर उन्हे विषय का दर्शन कराते हैं) इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा आगम के द्वारा देखे हुए विषय के पश्चात् ईक्षण को अन्वीक्षा कहते हैं, और उससे प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र को आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या तथा न्यायशास्त्र ऐसा भी कहते हैं। और जो अनुमान प्रत्यक्ष अथवा आगम (शब्द) प्रमाण के विरुद्ध हो उसे न्यायाभास ऐसा कहते हैं (अर्थात् वह अनुमान सत् नहीं होता किन्तु दुष्ट होता है)। तात्पर्य टीकाकार ने प्रत्यक्ष शब्द उपमान का भी सूचक है ऐसा कहा है। (वार्तिककार ने यहाँ ऐसी समालोचना की है कि यदि अनुमान प्रमाण से जाने हुए विषय का प्रत्यक्ष तथा आगम से अनुसन्धान किया जाय तो वह विषय अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। और जिस विषय में परस्पर एकता न रखने वाले प्रत्यक्षादि भिन्न-भिन्न प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है वह केवल लाभ, सत्कार इत्यादि फल देने वाला होने के कारण प्रवादमात्र कहाता है। और जो अनुमान, प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण के विरुद्ध होता है उसे न्यायाभास कहते हैं जैसे वह्नि शीतल है, कार्य होने से घट के समान; इसमें जिस विषय (शीतता) का प्रयोग किया है वह विषय उष्णता के प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण इस अनुमान का प्रत्यक्ष से विरोध है। तथा नर (मनुष्य) का मस्तक वा कपाल शुद्ध है, प्राणी का अंग होने से, शंख शुक्ति आदि के समान यह अनुमान आगम विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं है क्योंकि शास्त्र में हड्डियों को अशुद्ध कहा है।

तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ। वितण्डा तु परीक्ष्यते। वितण्डया प्रवर्तमानो वैतण्डिकः। स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते? सोऽस्य पक्षः सोऽस्य सिद्धान्त इति वैतण्डिकत्वं जहाति। अथ न प्रतिपद्यते? नायं लौकिको न परीक्षक इत्यापद्यते। अथापि परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति? एतदपि तादृगेव—यो ज्ञापयति यो जानाति येन ज्ञाप्यते यच्च ज्ञाप्यते एतच्च प्रतिपद्यते यदि? तदा वैतण्डिकत्वं जहाति। अथ न प्रतिपद्यते? परक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनमित्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति। वाक्यसमूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा, तस्य

इत्यादि इस विषय में अधिक विशेष वार्तिक में ही पाठकों को देख लेना चाहिये। (पूर्व ग्रंथ में संपूर्ण कर्म तथा विद्या, एवं प्राणी प्रयोजन से व्याप्त हैं ऐसा कह आये हैं, उसमें प्रत्येक पदार्थ में प्रयोजन है यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि :—उनमें से तत्त्वज्ञान ही वादकथा का प्रयोजन है और जल्प का विजय प्रयोजन है यह हो सकता है किन्तु वितंण्डा में केवल परपक्ष का खण्डनमात्र होने के कारण तथा वितण्डा कथा से प्रवृत्ति भी होती है इस कारण उसमें प्रयोजन है अथवा नहीं यह संदेह होने से उसकी परीक्षा (विचार) करना आवश्यक है। इस कारण वितण्डा में प्रयोजन की परीक्षा की जाती है। जिसमें वितण्डा नामक कथा से प्रवृत होने वाले पुरुष को वैतण्डिक कहते हैं। उसे यदि उसकी वितण्डा कथा के प्रयोजन का प्रश्न किया जाय कि तुम्हारी कथा का कोई प्रयोजन है अथवा नहीं। यदि वह प्रयोजन मान लें तो वही प्रयोजन उसका पक्ष तथा वही सिद्धान्त होने के कारण वह वैतण्डिकत्व को छोड़ देगा। और यदि नहीं मानता तो, वह न लोक व्यवहार को जानने वाला (लौकिक), तथा परीक्षक (शास्त्र को जानने वाला) भी नहीं है यह आपत्ति आ जायगी। यदि वह प्रतिवादी के पक्ष के निषेध को ज्ञापन, जनाना ही अपनी वितण्डा का प्रयोजन कहे (माने), तो यह भी पूर्वोक्त के समान ही है। क्योंकि उस ज्ञापन में जो जनाता है, जो जानता है, जिससे जनाया जाता है और जो जाना भी जाता है, इन चारों आवश्यक विषयों को यदि मानता है, तो फिर भी वह वैतण्डिकत्व (वितण्डा कथा कर्तृत्व) को छोड़ देता है। और यदि नहीं मानता तो 'दूसरे के पक्ष के निषेध को जनाना वितण्डा कथा का प्रयोजन है' यह वैतण्डिक का वाक्य व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि स्थापनाहीन वाक्यसमूह को ही वितण्डा कथा कहते हैं। उस वाक्यसमूह के अर्थ को यदि वह मानता है, तो वही उसका स्थापना योग्य पक्ष हो जाता है। और यदि नहीं मानता तो व्यर्थ होने के कारण केवल प्रलाप (बड-बड करना) हो जाता है, जिससे वितण्डा कथा का स्वरूप नष्ट हो जाता है। (वितण्डा कथा में सर्वथा प्रयोजन है ऐसा मालूम पड़ता है) क्योंकि वैतण्डिकता की उपरोक्त प्रकार से हानि होने के भय से वैतण्डिक अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता। इससे उसका कोई पक्ष ही नहीं है ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि वार्तिककार भारद्वाज ने न्यायवार्तिक में ऐसा कहा है—कि केवल परपक्ष का खण्डन ही वितण्डा नहीं कहाता, किन्तु पक्ष को मान कर जो उसकी स्थापना नहीं करता वह वैतण्डिक होता है। 'प्रतिवादी के हेतु में दोष देने से वैतण्डिक का पक्ष सिद्ध हो अथवा नहीं, वह अपने पक्ष की सिद्धिरूप प्रयोजन से ही पर (प्रतिवादी) के साधन का खण्डन करता है' ऐसी यहां तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने समालोचना की है। (उपरोक्त 'यो ज्ञापयति' जो जनाता है, इस वाक्य से वैतण्डिक का ग्रहण तथा 'यो जानाति' जो जानता है इस वाक्य से उसका विरोधी प्रतिवादी पुरुष का ग्रहण एवं 'येन ज्ञाप्यते' जिससे

यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते ? सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति । अथ न प्रतिपद्यते ? प्रलापमात्रमनर्थकं भवति, वितण्डात्वं निवर्तत इति ।

अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः—यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते । स च प्रमेयम् । तस्य पृथग्वचनं च-*तदाश्रयावनुमानागमौ*—तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमावसति च न स्याताम् । तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः । दृष्टान्तविरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति । नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति ।

जनाया जाता है इस वाक्य से वैतण्डिक ने दिये हेतुओं का ग्रहण, तथा 'यच्च ज्ञाप्यते' जो जनाया जाता है इस वाक्य से प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) को खण्डन का ग्रहण करना चाहिये । यदि वैतण्डिक इन चारों को मानता है तो यह मानना ही उसका पक्ष हो जाती है जिससे वैतण्डिकत्व को हानि हो जाती है ऐसी यहाँ खद्योतकार ने समालोचना की है । यहाँ भाष्यकार की वितण्डा कथा की परीक्षा से कोई प्रयोजन उसका यद्यपि प्रतीत नहीं होता, तथापि (वितण्डया तु प्रवर्तते) वितण्डा कथा द्वारा वैतण्डिक की प्रवृत्ति होती है इस प्रतिज्ञा वाक्य से वितण्डा कथा से प्रवृत्ति होना ही उसका प्रयोजन है ऐसा मानने से कोई दोष नहीं प्रतीत होता । अतः वितण्डा कथा भी सप्रयोजन है ऐसा सिद्ध होता है ।

इस प्रकार प्रयोजन के पृथक् वचन का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् क्रम प्राप्त दृष्टान्त पदार्थ के पृथक् वचन के प्रयोजन को दिखाते हुए भाष्यकार प्रथम उसका स्वरूप दिखाते हैं कि—प्रत्यक्ष के विषय अर्थ को दृष्टान्त कहते हैं—अर्थात् जिस अर्थ के विषय में लोक व्यवहार तथा शास्त्र दोनों को जानने वालों की दृष्टि का व्याघात नहीं होता अर्थात् लौकिक तथा शास्त्रज्ञ दोनों जिस विषय को मानते हैं वह दृष्टान्त कहाता है । वह भी प्रमेय (जानने योग्य) है । दृष्टान्त के बल से ही अनुमान तथा आगम प्रमाण से किसी भी विषय की सिद्धि होती है, क्योंकि दृष्टान्त के रहने पर अनुमान तथा आगम प्रमाण होते हैं, और दृष्टान्त के न होने पर वे नहीं होते, (अर्थात् बिना दृष्टान्त के अनुमान तथा आगम (शब्द) प्रमाण अपने विषय को सिद्ध नहीं कर सकते । यहाँ पर 'जो दृष्टान्त होता है वह ऐसा होता हैं, न कि जो ऐसा होता है वह दृष्टान्त होता है' ऐसी तात्पर्य टीकाकार की व्याख्या है । 'वह यह दृष्टान्त उपलब्धि का विषय होने के कारण प्रमेय है' ऐसी वार्तिककार की व्याख्या है । दृष्टान्त के प्रमेय होने पर भी जिस कारण उसे लेकर ही अनुमान तथा आगम होते हैं इस कारण दृष्टान्त को पृथक् कहा गया है इस प्रकार भाष्य में योजना कर लेनी चाहिये । आगे दूसरे दृष्टान्त के पृथक् वचन का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—दृष्टान्त के आश्रय से ही न्याय (स्वार्थ तथा परार्थानुमान) की प्रवृत्ति होती है, तथा दृष्टान्त के विरोध से ही प्रतिपक्ष (विरुद्ध पक्ष) का निषेध कहा जाता है अर्थात् प्रत्यक्षता का खण्डन भी किया जाता है, एवं दृष्टान्त के अनुसार पक्ष में उपसंहार करने रूप दृष्टान्त की समाधि से ही अपने पक्ष की स्थापना भी होती है । तथा वेद को प्रमाण न मानने वाला, वेदनिंदक, क्षणभंगवादी बौद्ध नास्तिक यदि दृष्टान्त को माने तो उसको नास्तिकता छोड़ना पड़ेगा (अर्थात् दृष्टान्त के कथन करने में प्रथम देखे हुए व्यक्ति तथा उसके धर्मों का भी प्रदर्शन किया जाता है अतः वह यदि क्षणभंगवादी बौद्ध दृष्टान्त कहे तो उस स्थिर दृष्टान्त के ग्रहण से वह तो व्याघात दोष होगा अर्थात् स्थिर दृष्टान्त के बल से पदार्थों

अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेतेति । निरुक्तेन च दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुं–'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् (अ० १ आ० १ सू० ३६) । तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' (अ० १ आ० १ सू० ३७) इति ।

अस्त्ययमित्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः । स च प्रमेयम् । तस्य पृथग्वचनं–सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति ।

साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्याऽवयवा उच्यन्ते । तेषु प्रमाणसमवायः–आगमः प्रतिज्ञा । हेतुरनुमानम् । उदाहरणं प्रत्यक्षम् । उपनयनमुपमानम् । सर्वेषामेकार्थसमवाये

में क्षणिकता सिद्ध न हो सकेगी । और इस दोष के वारण के लिये यदि दृष्टान्त न माने तो किस साधन के बल पर वह स्थिर पदार्थवादी पर (प्रतिवादी) का खण्डन करेगा तथा उक्त प्रकार के दृष्टान्त को मानने ही के कारण 'साध्य के साधर्म्य से पक्ष के धर्म को रखने वाला दृष्टान्त साधर्म्य उदाहरण, एवं साध्य के वैधर्म्य से उसके विपरीत पक्ष के धर्म को न रखने वाला दृष्टान्त वैधर्म्य उदाहरण कहा जाता है, इस प्रकार प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के ३६ तथा ३७ के सूत्रों में वर्णन किये हुए दोनों दृष्टान्त विशेषरूप उदाहरणों का लक्षण करना सूत्रकार का संगत हो सकेगा (इन पूर्वोक्त कारणों से दृष्टान्त के प्रमेय होने पर भी उसे पृथक् पदार्थ माना गया है)।

इस प्रकार दृष्टान्त के पृथक् वचन के प्रयोजन का वर्णन कर क्रमप्राप्त सिद्धान्त के पृथक् वचन का प्रयोजन कहते हैं कि—यह प्रमाण वा विषय अर्थ है इस प्रकार प्रमाणजन्य ज्ञान के पश्चात् स्वीकार किये हुए अर्थ को सिद्धान्त नामक पदार्थ कहते हैं। वह भी प्रमेय (जानने योग्य है)। भिन्न-भिन्न चार्वाक, सौम, सौगत, जैन, आर्हत, दिगम्बर ऐसे नास्तिकों के षट् बाह्य तथा आस्तिकों के न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातंजल, जैमिनि, बादरायण नामक वैदिक षट् सिद्धान्त भेदों के रहने से ही, वाद, जल्प तथा वितण्डा नाम की तीन प्रकार की कथा हो सकती हैं, बिना सिद्धान्त भेदों के नहीं हो सकतीं । इस कारण सिद्धान्त नामक पदार्थ का षोडश पदार्थों में पृथक् वर्णन किया गया है ।

(क्रमप्राप्त अवयव नामक पदार्थ के पृथक् कहने का भाष्यकार इस प्रकार प्रयोजन वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि)—पंचावयव परार्थानुमान से सिद्ध करने योग्य साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी अथवा धर्मीविशिष्ट साध्य धर्मरूप अर्थ की जितने शब्दों के समुदाय में सिद्धि समाप्त होती है (पूर्ण होती है) उस शब्दों के समूहरूप अवयवी के पांच प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन नाम के शब्द समुदाय की अपेक्षा से अवयव कहे जाते हैं । (इस व्याख्यायोग्य (भाष्य) की स्वयं व्याख्या करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—उक्त पांच प्रतिज्ञादि अवयवों में आगे कहे हुए प्रकार से प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों का समवाय (एकत्र होना) है । क्योंकि पर्वत वह्नि वाला है इत्यादि प्रतिज्ञा शब्द प्रमाणरूप है, धूम आदि उस प्रतिज्ञा का साधक हेतु अनुमान प्रमाण है । जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य रहता है जैसे महानस (रसोई के घर) में इत्यादि उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाण है। तथा महानस के समान वह्नि की व्याप्ति से युक्त धूम वाला यह पर्वत भी है यह उपनयन (उपसंहार) वाक्य उपमान प्रमाण है । उक्त चार वाक्य रूप अवयवों में कहे हुए प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों का वह्निरूप एक अर्थ को सिद्ध करने में सामर्थ्य है यह 'इस कारण पर्वत वह्नि वाला है'

सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था। ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्तर्भूता एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति।

तर्को न प्रमाणसङ्गृहीतो, न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते। तस्योदाहरणम्—किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते, आहोस्विदकृतकेन? अथाकस्मिकमिति। एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्तते यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते? हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः। अथाऽकृतकेन हेतुना? ततो हेतूच्छेदस्याऽशक्यत्वादनुपपन्नो जन्मोच्छेदः। अथाऽकस्मिकम्? अतोऽकस्मान्निर्वर्त्यमानं न पुनर्निर्वर्त्स्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते, तेन जन्मानुच्छेद इति। एतस्मिंस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति

ऐसा निगमन वाक्यरूप अवयव दिखाता है। वह यह उक्त प्रकार का पांच अवयवरूप शब्दों का समुदाय परम (श्रेष्ठ) न्याय (परार्थानुमान) होता है। (इसमें विपरीत ज्ञानी (विप्रतिपन्न) पुरुष को प्रतिपादन करना ही परम शब्द का अर्थ है, अर्थात् एके प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विप्रतिपन्न पुरुष को पर्वतादिकों में वह्नि की सिद्धि में दृढ़ विश्वास नहीं हो सकता, किन्तु उक्त रीति से प्रतिज्ञादि समुदाय शब्दों में एकवाक्यता को प्राप्त होने से बाण (पंचावयव समूह रूप) यह अनुमान विप्रतिपन्न पुरुष को भी पर्वत में वह्नि की सिद्धि का विश्वास करा देते हैं)। तथा इसी शब्द समूहरूप अवयव वाले परम न्याय से वाद, जल्प तथा वितण्डा नाम की तीन प्रकार की कथा होती है इसके बिना नहीं हो सकती है। तथा विवाद विषयों में निश्चयस्वरूप व्यवस्था भी इस अवयव वाक्य समूहरूप नाम से ही होती है। ये वे पूर्वोक्त प्रतिज्ञादि पांच अवयव यद्यपि शब्दविशेषरूप होने से प्रमेय पदार्थ में अन्तर्गत हो सकते हैं, तथापि उपरोक्त दोनों कारणों से षोडश पदार्थों में पृथक् पदार्थ गौतम महर्षि ने माना है।

(क्रमप्राप्त तर्क नामक पदार्थ के पृथक् वचन के प्रयोजन का वर्णन करते हुए उसका स्वरूप भाष्यकार इस प्रकार कहते हैं कि—तर्क नामक न्यायशास्त्र में वर्णन किया पदार्थ प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों में संगृहीत नहीं है अर्थात् उनमें अन्तर्भाव नहीं है, तथा उनसे भिन्न पांचवां दूसरा प्रमाण भी नहीं है, किन्तु उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा सिद्ध होने वाले विषय की सिद्धि का अनुग्राहक अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय में दीप के समान सहायक होने से विषय के वास्तविक ज्ञान होने में समर्थ होता है। उस तर्क का उदाहरण इस प्रकार है कि यह जो प्राणिमात्र का जन्म (शरीरान्तर सम्बन्ध) होता है वह किसी कार्य (अनित्य) हेतु से होता है अथवा अकृत कर (नित्य) हेतू से होता है अथवा आकस्मिक (बिना कारण) स्वयं ही होता है! इस प्रकार संदिग्ध जन्म रूप अर्थ (विषय) में कारण की उपपत्ति से अर्थात् संभावित कारण तथा उनके कार्यों के विचार से इस प्रकार ऊह (विचार) प्रवृत्त होता है कि यदि कार्य हेतू से जन्म होता है, तो अनित्य कारण के उच्छेद (नाश) हो सकने के कारण इस जन्म का उच्छेद (नाश) हो सकता है और यदि नित्य कारण से जन्म होता हो तो उस नित्य कारण का उच्छेद न होने से जन्म का उच्छेद (नाश) न हो सकेगा। (अर्थात् जो कार्य नहीं होता वह नित्य होता है, और जन्म का कारण तो नित्य है इसी कारण हेतु का नाश होना अशक्य है)। यदि जन्म बिना कारण के अकस्मात् स्वयं होता हो तो बिना कारण के होने वाला पुनः न होगा, क्योंकि पूर्वजन्म के निवृत्त होने का कोई कारण नहीं है, जिससे जन्म का उच्छेद न होगा। इस प्रकार के ऊह (तर्क) के संदिग्ध

प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्केणाऽनुगृह्यन्ते, तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात् तत्त्वज्ञानाय कल्पते तर्क इति। सोऽयमित्थम्भूतस्तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनायोपालम्भाय चाऽर्थस्य भवतीत्येवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति।

निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलं, तदवसानो वादः। तस्य पालनार्थं जल्पवितण्डे। तावेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत इति। सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति।

वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः पृथगुद्दिष्ट *उपलक्षणार्थम्*। उपलक्षितेन व्यवहारस्तत्त्वज्ञानाय भवतीति। तद्विशेषौ जल्पवितण्डे *तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ*मित्युक्तम् (अ० ४ आ० २ सू० ५०)।

विषय में व्यापार करने वाले 'जन्म कर्मों से होता है' इत्यादि प्रमाण उपरोक्त तर्क से अनुगृहीत होते हैं अर्थात् तर्क उक्त प्रमाणों की तत्त्वज्ञान में सहायता करता है, तथा तत्त्वतान के विषय (जन्म) का विवेचन करने से जन्म विषय में वास्तविक कर्म निमित्त जन्म होता है। यह सिद्ध करने में भी तर्क समर्थ होता है। उस इस प्रकार के तर्क पदार्थ का वादकथा में प्रमाण सहित प्रयोग करने से विषय की सिद्धि तथा निषेध दोनों होते हैं इस कारण यद्यपि वह भी प्रमेयों में अन्तर्गत है तथापि पृथक् गौतम महर्षि ने उसका वर्णन किया है।

(क्रमप्राप्त निर्णय पदार्थ के पृथक् ग्रहण करने का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकर उसका स्वरूप ऐसा कहते हैं कि)—पदार्थ के वास्तविक ज्ञान को निर्णय कहते हैं, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का फल होता है तथा निर्णयपर्यन्त ही वादकथा होती है और निर्णय की रक्षा के लिये ही जल्प तथा वितण्डा यह दोनों कथा होती है। (यहां पर प्रमाणों के इस पद से प्रतिज्ञादि पंचावयव वाक्य सूचित होता है, क्योंकि उसमें तर्क सहित चार प्रमाणों का सम्बन्ध होता है। वस्तुतः तर्कपूर्वक तत्त्व निश्चय ही निर्णय कहाता है। तर्क की सहायता ही से प्रत्यक्षादि प्रमाण भी निर्णय का फल होता है ऐसी वाचस्पति मिश्र ने आलोचना की है)। आगे भाष्यकार कहते हैं कि—यह दोनों तर्क तथा निर्णय ही के बल से लोक व्यवहार का निर्वाह होता है। अतः इस निर्णय पदार्थ के प्रमेय के अन्तर्गत होने पर भी षोडश पदार्थों में महर्षि गौतम ने पृथक् उपदेश किया है।

(क्रमप्राप्त वादकथा नामक पदार्थ के पृथक् उपदेश के प्रयोजन को कहने के लिये भाष्यकार उसका स्वरूप ऐसा कहते हैं कि)—जिसमें अनेक वक्ता हों तथा उनके अपने-अपने विषय के साधक हेतु भी हों एवं दोनों में से किसी एक पक्ष में ही अन्त में निर्णय हो तो ऐसे वचन-समुदाय को वादकथा कहते हैं। जिसका ज्ञान होने के लिये पृथक् उपदेश महर्षि ने किया है। क्योंकि उपलक्षित (जाने हुए) वादकथा से होनेवाला लौकिकादि व्यवहार वास्तविक ज्ञान कर सकता है। और उसी वादकथा के जल्प तथा वितण्डा विशेष (भेद) हैं, क्योंकि आगे चतुर्थाध्याय के द्वितीयाह्निक के 'तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीज प्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टक-शाखावरणवत्' अर्थात् बीज के अङ्कुरों की रक्षा के लिये जिस प्रकार काँटों की शाखाओं का घेरा चारो तरफ से बाँध दिया जाता है, उसी प्रकार वास्तविक पदार्थ के ज्ञान की रक्षा के लिये जल्प तथा वितण्डा कथा की जाती है, इस आशय के पचासवें सूत्र में महर्षि गौतम ने

निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्तीति। जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति। छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनं छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्य्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति।

स्वयं कहा है। यहाँ पर अंगों की हानि तथा अधिकता (वादकथा का विशेष होता है) (छल, जाति, (असदुत्तर) तथा निग्रहस्थानों का प्रयोग होने के कारण जल्प कथा में विशेष है। एवं प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) की स्थापना से हीन (रहित) जल्प कथा को ही वितण्डा कथा कहते हैं। विषयों के भेद से भी इन दोनों में भेद है, क्योंकि वादकथा शिष्य, जिज्ञासु आदि के लिये होती है, और (शिष्यमाण) पराजित करने योग्य के लिये जल्प तथा वितण्डा कथा होती है ऐसा वार्तिककार ने विचार किया है।

(क्रमप्राप्त निग्रहस्थान के अन्तर्गत भी हेत्वाभासों को उनसे अलग (पृथक्) कर, उनके षोडश पदार्थों के पृथक् बचन का प्रयोजन कहते हुए भाष्यकार ऐसा कहते हैं कि)—वाद नामक कथा में हेत्वाभासों (हेतु दोषों) का उद्भावन (कहना) हो सकता है इस कारण निग्रहस्थानों से गौतम महर्षि ने हेत्वाभासों का पृथक् उद्देश किया है तथा जल्प और वितण्डा इन दोनों कथाओं में तो निग्रहस्थानों का (उद्भावन) होता है अर्थात् प्रकट किये जाते हैं। अतः जल्प और वितण्डा यह दोनों कथा पृथक् नहीं हैं। उन इन छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन तीनों का ज्ञान होने के लिये गौतम महर्षि ने षोडश पदार्थों में पृथक् उपदेश किया है, क्योंकि इनके स्वरूप का ज्ञान होने से वादी तथा प्रतिवादी अपने वाक्य में इनका त्याग, तथा पर (दूसरे) अपने प्रतिपक्षी के वाक्य में प्रश्न कर सकते हैं। एवं पर (प्रतिवादी) से प्रयोग की हुई जाति का सुलभता से समाधान हो सकता है और स्वयं भी वादी सुलभता से प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार संशयादि पदार्थों के पृथक् उद्देश का प्रयोजन समाप्त हुआ। (यहाँ भाष्य में 'चोदनीयाः' के स्थान पर 'देशनीयाः' ऐसा पाठ वार्तिककार को संमत है ऐसा मालूम होता है)। (तथा यहाँ पर भाष्यकार वात्स्यायन के संमत हेत्वाभासों के पृथक् उपदेश करने के कारण में वार्तिककार की अश्रद्धा भी सूचित होती है जो एकदेशि से बर्णन किये भाष्य के तात्पर्य से भाष्य ही में है—ऐसा वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य का कहना है। क्योंकि तात्पयटीकाकार वाचस्पति मिश्र को यहाँ पर ऐसा भाष्य का संमत अर्थ है कि हेत्वाभास दोषों के उद्भावन तथा वादकथा का तत्त्वनिर्णय ही मुख्य प्रयोजन है वादी का विजय करना नहीं है। क्योंकि एक वादकथा में संपूर्ण निग्रह स्थानों का उद्भावन नहीं ही हो सकता। हेत्वाभास ऐसे निग्रहस्थान हैं जो कि वादकथा से सर्वथा उद्भावन योग्य होते हैं। इसी कारण इनको महर्षि ने पृथक् उपदेश किया है। ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि वादकथा में सर्वथा उद्भावना की योग्यता होने से ही हेत्वाभासों को पृथक् उपदेश करने की योग्यता है, न कि पृथक् उपदेश करने की योग्यता होने की। वादकथा में उद्भावना करने की योग्यता के साथ परस्पर में व्याहत है—जैसा कि एकदेशी ने उद्भावन किया है—ऐसी उदयनाचार्य ने यहाँ पर तात्पर्य परिशुद्धि में आलोचना की है। ऊपर दिखाए हुए 'स्वयं भी जाति का ज्ञान होने से प्रयोग सुलभता से किया जा सकता है।' इस भाष्य का यह तात्पर्य है कि—पर (प्रतिवादी) ने जाति का प्रयोग करने पर (प्राश्निक) प्रश्न करने वालों को वादी यह कहे। कि इसने (प्रतिवादी) ने जाति का प्रयोग किया है।

सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता ॥

तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमश्च यथाविद्यं वेदितव्यम् । इह त्वध्या-

---

तब वे प्राश्निक उससे ऐसा प्रश्न करेंगे–कौन सी तथा कैसी जाति है ? जिस पर जाति के स्वरूप को जानने वाला ही इस प्रकार ऐसी जाति है ऐसा कह सकता है इस कारण जाति का प्रयोग करना सुलभ होगा—ऐसा यहाँ वार्तिककार ने विचार किया है । 'सुकर प्रयोग है' इस भाष्य का जातिरूप असदुत्तर का ज्ञान (जानना) तथा ज्ञापन (जनाना) ऐसा दोनों रूप, एवं अपने वाक्य में जाति का त्याग करना भी अर्थ यहाँ लेना चाहिये । अतः यह सारांश निकलता है कि संशय आदि चतुर्दश पदार्थों का यद्यपि प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भाव हो सकता है तथापि पूर्व प्रदर्शित प्रकार से विद्या—न्यायविद्या के प्रस्थान भेद के दिखाने के लिये महर्षि गौतम ने उन्हें पृथक् पदार्थ माना है ।

आगे भाष्यकार उक्त प्रकार से षोडश पदार्थों के वर्णन का पृथक् वर्णन करने का प्रयोजन दिखाकर षोडश पदार्थों का वर्णन करने वाले न्यायशास्त्र का और शास्त्रों से अधिक महत्त्व यह दिखाते हुए कहते हैं कि—वह यह प्रमाणादि षोडश पदार्थों का जिसमें विभाग किया है पूर्व-प्रदर्शित प्रकार से आन्वीक्षिकी नाम से प्रसिद्ध न्यायदर्शनशास्त्र आह्निक आदिकों में व्याख्या की जाने वाली और अन्य दूसरी विद्याओं के स्वरूप का प्रकाशक होने के कारण अन्धकार में पदार्थों को दिखाने वाले दीप के समान कार्य करने से दीपक है तथा संपूर्ण कर्मों के जो इतर (दूसरे) शास्त्रों में विषयरूप से गृहीत हैं उनका उपाय रूप है, अर्थात् इसी न्यायशास्त्र में प्रकाशित किये हुए अर्थों को दूसरी विद्या के विषयरूप से ग्रहण करती हैं । वह यह न्यायविद्या संपूर्ण धर्मों की आश्रय है अर्थात् संपूर्ण दूसरे शास्त्र द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों को आश्रय कर ही विधि तथा निषेधों का वर्णन करते हैं, जो द्रव्यादि पदार्थ समान तंत्र वैशेषिक में प्रसिद्ध न्याय विद्या से ही वास्तविक रूप से जाने जा सकते हैं । 'संपूर्ण विद्याओं में पुरुष को प्रवृत्त करने वाले जो 'धर्म' हैं उनका यह न्यायशास्त्र आश्रय है', अतः धर्म के द्वारा विद्याओं का ही यह शास्त्र आधार है ऐसी वाचस्पति मिश्र ने 'आश्रयः सर्वधर्माणां' इस पद्यांश की यहाँ व्यख्या की है । (आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—वह यह षोडश पदार्थों का न्यायशास्त्र में कहा हुआ तत्त्वज्ञान, संपूर्ण अष्टादश प्रकार की विद्याओं से उत्पन्न होने पर भी उस-उस शास्त्र में अभिमत निःश्रेयस का साधक हो सका है, जिसे संपूर्ण विद्याओं से पृथक् जान लेना चाहिये, (जैसे वेदत्रयी में अग्निहोत्रादिकों का तत्त्वज्ञान होने से स्वर्गरूप निःश्रेयस की प्राप्ति, तथा वार्ता विद्या में पृथ्वी आदि का कण्टकादि रहित होना तत्त्वज्ञान तथा धान्यादि प्राप्ति निःश्रेयस (सुख) लिया जाता है, एवं दण्डनीति में साम, दान, भेद, दण्ड आदि का वास्तविक ज्ञान तत्त्वज्ञान, तथा उससे राजा का पृथिवी विजयरूप निःश्रेयस लिया जाता है ।) इसी प्रकार, इस प्रस्तुत अध्यात्म विद्या में आत्मादिरूप प्रमेय पदार्थों का ज्ञान तत्त्वज्ञान और उससे निःश्रेयस (आत्यन्तिक ऐकान्तिक दुःख निवृत्ति रूप) अपवर्ग (मोक्ष) फल की प्राप्ति ही निःश्रेयसाधिगम होती है । यहाँ पर न्यायशास्त्र से तथा भिन्न शास्त्रों से भी तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस के प्राप्ति होने के कारण साङ्कर्यदोष आने से उसके वारण के लिये 'तदिदं' इत्यादि वात्स्यायन भाष्य है ऐसा तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने

त्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानम् । निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति ॥ १ ॥

कहा है । 'सर्व का (संपूर्ण विषयों का) संपूर्ण विद्याओं में कथन नहीं होता । यह आन्वीक्षिकी नाम की विद्या संपूर्ण क्रियाओं की आश्रयं है और स्वयं भी कुछ विषयों का आधार लेती है' ऐसी तात्पर्य परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने यहाँ समालोचना की है, अर्थात् पुरुषों को प्रवृत्त करने रूप क्रिया में और दूसरी विद्याओं का यह न्यायविद्या उपकार करती है ऐसा उदयनाचार्य का आशय है । (यहां पर 'यथाविद्यं' इस भाष्य के पद से जिस शास्त्र में जो विषय प्रधानरूप से कहा गया है वह उसी शास्त्र से जानना चाहिये ऐसा सूचित होता है, जिससे भाष्यकार का पक्षपातरहित होना भी प्रगट होता है । इन गौतम महर्षि ने प्रथम सूत्र में वर्णन किये षोडश पदार्थों में संपूर्ण प्रमेय आदि पंचदश पदार्थों के वास्तविक स्वरूप, ज्ञान तथा सांसारिक संपूर्ण व्यवहारों के साधक होने के कारण सबसे प्रथम उद्देश किया है । प्रमाण की अपेक्षा करने के कारण प्रमाण के अनन्तर संशयादिकों के प्रथम अपवर्ग के साधक होने से (अत्यन्त) प्रकाशमान होने से दूसरा प्रमेय पदार्थ महर्षि ने उपदेश किया है । प्रमाणादिकों के भी निर्णय करने में संशय तथा प्रयोजन नामक दो पदार्थों के क्रम से पूर्व तथा उत्तर अंग होने के कारण अपेक्षा होने से प्रमेय के पश्चात् प्रथम संशय पदार्थ का उद्देश्य कर पश्चात् प्रयोजन पदार्थ का उद्देश किया है । प्रमाणों से भी निर्णय होने में दृष्टान्त मूल होता है अतः प्रयोजन के पश्चात् दृष्टान्त नामक पदार्थ का महर्षि ने उद्देश किया है । दृष्टान्त के धर्म का प्रस्तुत पक्ष में उपसंहार होने से एक सिद्धान्त स्थिर होता है । अतः दृष्टान्त के पश्चात् सिद्धान्त नामक पदार्थ का षोडश पदार्थों में उद्देश किया गया है । परार्थानुमान नामक परमन्याय के प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव सिद्धान्त के दृष्टान्तों की सिद्धि के साधक होते हैं इस कारण सिद्धान्त के पश्चात् अवयवों का उद्देश किया है । प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव तर्क की अपेक्षा रखते हैं, अतः अवयवों के पश्चात् तर्क उद्देश षोडश पदार्थों में रक्खा गया है । उस पंचावयवरूप न्याय से निर्णय का ज्ञान होता है, अतः तर्क के पश्चात् निर्णय का उद्देश किया है । निर्णय के उद्देश से ही वाद नामक कथा में प्रवृत्ति होती है । अतः निर्णय के पश्चात् वाद पदार्थ का तथा प्रतिवादी को मात्सर्य से पराजित करने के लिये किये जाने वाले जल्प का बिना मात्सर्य (डाह) से किये जाने वाले वाद के पश्चात् जल्पकथा का उद्देश किया है । जल्पकथा से वितण्डाकथा में पक्ष के स्थापनारूप अर्धभाग के न रहने के कारण जल्पकथा के पश्चात् वितण्डाकथा का उद्देश किया गया है । वितण्डाकथा में दिये हुए संपूर्ण पक्ष के साधक हेतुओं को दूषित किया जाता है । अतः वितण्डा के पश्चात् हेत्वाभासों का उद्देश किया गया है । वितण्डाकथा करने वाला जल्पकथा करने वाले का छल से भी खण्डन करता है अतः वितण्डा के पश्चात् छल पदार्थ उद्देश किया गया है । छल तथा जाति में पुरुष के असामर्थ्य का साधक होना समान होने पर भी तथा असत् (खराब) उत्तर होना समान होने पर भी निगृहीत न होने वाले को निगृहीत (पराजित) करना समान होने पर भी जाति नामक असत् उत्तर अपने ही पक्ष का घातक होने के कारण छल के पश्चात् जाति पदार्थ का उद्देश महर्षि ने किया है । वादकथा की समाप्ति का कारण होने के कारण निग्रहस्थान नामक पदार्थ का महर्षि गौतम ने षोडश पदार्थों के सबसे अन्त में उद्देश किया है । ऐसी षोडश प्रमाणादि न्यायशास्त्र के पदार्थों के क्रम से उद्देश करने की सङ्गति जाननी चाहिये ॥ १ ॥

तत् खलु निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति ? नेत्युच्यते, किं तर्हि ? तत्त्वज्ञानात्—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्त्तते। आत्मनि तावत्-नास्तीति, अनात्मनि-आत्मेति, दुःखे—सुखमिति, अनित्ये-नित्यमिति,

---

इस प्रकार प्रथम सूत्र में न्यायशास्त्र के उद्देश्य अपवर्ग के निरूपण के पश्चात् द्वितीय सूत्र में अपवर्ग के साथ शास्त्र में वर्णन किये विषयों का सम्बन्ध दिखाते हुए भाष्यकार प्रश्नपूर्वक समाधान करते हुए कहते हैं कि—वह प्रथम सूत्र में कहा हुआ निःश्रेयस क्या पदार्थों के तत्त्वज्ञान के पश्चात् ही होता है ? नहीं ऐसा कहे, तो कैसे होता है ? अर्थात्—(यहाँ पर पूर्वोक्त चार प्रकार के तत्त्वज्ञानों में से जो चतुर्थ अल्प तत्त्वज्ञान है उसके ठीक उत्तर काल ही में निःश्रेयस होता है अथवा विलम्ब से ? इस संशय के समाधानार्थ भाष्यकार सूत्र के साथ अवतरण भाष्य का सम्बन्ध लेकर इस आशय से उत्तर करते हैं कि मिथ्याज्ञान (जिसका आगे वर्णन किया जायगा) अनेक प्रकार के होने से, प्रमेय पदार्थ जो आत्मा आदि द्वादश प्रकार के हैं उनके अज्ञान के क्रम से नष्ट होने पर जीवन्मुक्ति तथा परममुक्ति ऐसा दो प्रकार का निःश्रेयस क्रम से होता है, यह अवतरण भाष्य का आशय है ॥ १ ॥

पद पदार्थ—दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानां = दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में से, उत्तरोत्तरापाये = उत्तर २ (आगे-आगे के) पदार्थों का अपाय (निवृत्ति) होने पर, तदनन्तरापायात् = उनके पूर्व २ पदार्थों का अपाय (निवृत्ति) होने से, अपवर्गः = अपवर्ग (मोक्ष) होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञान तथा मिथ्याज्ञान का परस्पर विरोध होने के कारण तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञानरूप मूल कारण के निवृत्त होने पर उससे राग-द्वेषादि दोषों के निवृत्त हो जाने से पुण्य-पापरूप दस प्रकार की वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक प्रवृत्तियों के निवृत्त होने पर उसके कार्यरूप जन्म (संसारान्तर सम्बन्ध, के न होने से दुःख का आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्तिरूप अपवर्ग (मोक्ष) होता है ॥ २ ॥

(इस प्रकार अवतरण भाष्य के साथ-साथ, सूत्र की संगति से अपवर्ग का क्रम दिखाकर उन तत्त्वज्ञान से नष्ट होने वाले द्वादश प्रकार के आत्मा आदि प्रमेय विषय के मिथ्याज्ञान का वर्णन करते हुए भाष्यकार २ सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उन द्वादश प्रकार के प्रमेय विषयक मिथ्याज्ञानों में आत्मा से लेकर अपवर्ग नामक प्रमेय तक प्रमेय पदार्थों में अनेक प्रकार का मिथ्याज्ञान होता है। (जिसमें शून्यवादी बौद्ध के मत में आत्मा नहीं है, यह आत्मारूप प्रमेय में मिथ्याज्ञान है, तथा शरीर एवं इन्द्रियादिकों को ही लोक व्यवहारानुसार चार्वाकों ने आत्मा माना है, अतः उनके मत से शरीरादिकों से भिन्न व्यापक नित्य केवल कोई आत्मा नहीं है यह भी मिथ्याज्ञान है) इस प्रकार आत्मारूप प्रमेय में मिथ्याज्ञान के समान आत्मा से भिन्न शरीरादिरूप अनात्माओं में (चार्वाक मत से), शरीरादिक ही आत्मा है यह भी आत्मारूप प्रमेय विषय में ही मिथ्याज्ञान होता है, तथा दुःख देने वाले पदार्थ को सुख देने वाला है ऐसा मानना, एवं

अत्राणे-त्राणमिति सभये-निर्भयमिति, जुगुप्सिते-अभिमतमिति, हातव्ये-अप्रतिहातव्यमिति, प्रवृत्तौ-नाऽस्ति कर्म, नाऽस्ति कर्मफलमिति, दोषेषु-नायं दोषनिमित्तः संसार इति, प्रेत्यभावे-नास्ति जन्तुर्जीवो वा-सत्त्व आत्मा वा, यः प्रेयात्, प्रेत्य च भवेदिति, अनिमित्तं जन्म, अनिमित्तो जन्मोपरम इत्यादिमान् प्रेत्यभावः, अनन्तश्चेति, नैमित्तिकः सन्नकर्मनिमित्तः प्रेत्यभाव इति, देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभाव इति, अपवर्गे-भीष्मः खल्वयं सर्वकार्य्योपरमः-सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान्सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुमपवर्गं रोचयेदिति ।

अनित्य (विनाशी) धनादिकों को नित्य (अविनाशी) है ऐसा समझना, स्त्री, पुत्र, गृह इत्यादि जो वस्तुतः रक्षा नहीं कर सकते उन्हें अपना रक्षक जानना, विनाशादि होने के कारण भययुक्त धन-संपत्ति आदिकों को भयरहित मानना तथा अस्थि (हड्डी) मांस, मूत्र, पुरीष (विष्ठा) इत्यादिकों से व्याप्त होने के कारण जुगुप्सित (घृणित) अपने तथा दूसरे के शरीर को अभिमत (अच्छा) जानना, एवं अनेक प्रकार के दुःखों का कारण होने से हातव्य (त्याग योग्य) संसार को अप्रतिहातव्य (क्षणिक सुख के कारण ग्रहण योग्य) समझना, (इस प्रकार आत्मा से लेकर मन नामक प्रमेय पदार्थों में मिथ्याज्ञान होता है) पुण्य तथा पाप कर्मों की प्रवृत्ति में पुण्य-पापरूप कर्म ही नहीं हैं, तथा उक्त कर्मफलों (सुख-दुःखों) को नहीं देना, (अर्थात् स्वर्ग-नरक आदि फलों को उत्पन्न करने वाला कोई कर्म नामक पदार्थ नहीं है)। इस प्रकार प्रवृत्ति में मिथ्याज्ञान दिखाकर दोष नामक प्रमेय में मिथ्याज्ञान दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—राग, द्वेष तथा मोह नामक दोष प्रमेय पदार्थ में यह संपूर्ण संसार दोष निमित्त से नहीं होता, यह मिथ्याज्ञान है। प्रेत्यभाव नामक प्रमेय पदार्थ में (अर्थात् मरणोत्तर जन्म होने में) जन्म लेने वाला कोई जीव, सत्त्व (शरीरादि बलवान्) ज्ञान का आश्रय आत्मा नामक प्रमेय पदार्थ नहीं है, जो मरण को प्राप्त होकर पुनः जन्म का ग्रहण करे, (अर्थात् अपूर्व शरीर तथा इन्द्रियादिकों को प्राप्त करे) तथा उपरोक्त जन्म बिना निमित्त (कारण) ही होता है एवं उक्त जन्म के उच्छेद में तत्त्वज्ञान कारण नहीं है एवं उपरोक्त जन्म-मरणरूप प्रेत्यभाव (आदिमान्) अनादि नहीं है, और उसका मोक्ष अवधि न हो सकने से वह अनन्त (अवधिरहित) है, तथा स्वभाव आदि रूप निमित्त से प्रेत्यभाव होता है न कि पुण्य-पापरूप कर्मों से होता है, एवं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना (हर्ष, शोक, विषाद) आदिकों के समुदाय के उच्छेद नाशमात्र से मरण एवं अपूर्व शरीरादिकों के सम्बन्ध से होता हुआ भी प्रेत्यभाव-वस्तु स्वरूप आत्मा से रहित है, ऐसा भी प्रेत्यभाव में मिथ्याज्ञान होता है। ऐसे ही अपवर्गरूप प्रमेय पदार्थ में भी यह संपूर्ण संसार के कार्यों से उपरम (निवृत्त होना) स्वरूप अपवर्ग (मोक्ष) महाभयंकर है, क्योंकि संपूर्ण पदार्थों का विप्रयोग (विरह) होने से संपूर्ण प्राणियों के कल्याणकारक विषयों का लोप (नाश) हो जायगा। अतः ऐसा कौन बुद्धिमान् प्राणी है जो संपूर्ण सुखों के नष्ट करने वाले इस जडरूप अपवर्ग (मोक्ष) को चाहेगा। ऐसा मिथ्याज्ञान है। (इस उपरोक्त आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त प्रमेय पदार्थों के मिथ्याज्ञानों से संसार व धन आत्मा को कैसे प्राप्त होता है यह दिखाते हुए

एतस्मान्मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः प्रतिकूलेषु द्वेषः ।

रागद्वेषाधिकाराच्चाऽसत्येर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति । दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति । सेयं *पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय* ।

अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति । *सेयं धर्माय* ।

अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ । यथाऽन्नसाधनाः प्राणाः 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणा' इति ।

सेयं प्रवृत्तिः कुत्सितस्याऽभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम् । जन्म पुनः—शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः । तस्मिन् सति दुःखम् । तत्पुनः

भाष्यकार कहते हैं कि—इस मिथ्याज्ञानरूप कारण से अनुकूल (इष्टसाधक विषयों) में राग (प्राप्ति की इच्छा), तथा प्रतिकूल अनिष्ट साधक विषयों में द्वेष (त्याग की इच्छा) उत्पन्न होती है। राग तथा द्वेष के विषय होने से गुणों में दोष के आरोपरूप असूया (डाह), तथा शत्रु के प्रिय सम्बन्ध को छोड़ाने की इच्छारूप ईर्ष्या, दंभ तथा अन्याय से दूसरे के धन की प्राप्ति की इच्छारूप लोभ एवं आदिपद से मात्सर्य इत्यादि दोषों के विशेष भी उत्पन्न होते हैं। उक्त दोषों से प्रेरणा किया हुआ प्राणी शरीर से दूसरे की हिंसा, स्तेय (चोरी) प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) परस्त्री से मैथुन (भोग) ऐसे तीन प्रकार के दुष्कर्म करता है, तथा वाणी से अनृत (मिथ्या बोलना), परुष सूचन (कठोर वचन बोलना), तथा असम्बद्ध (असंगत बोलना) ऐसे तीन, एवं मन से दूसरे का द्रोह, अन्याय से दूसरे के धन के प्राप्ति की इच्छा एवं नास्तिकता (परलोक तथा धर्मादिकों के न मानने की बुद्धि) ऐसे तीन दुष्कर्म करता है। वह यह पाप कर्मरूप तीन प्रकार की प्रवृत्ति अधर्म (बुरे अदृष्ट) को उत्पन्न करती है, तथा शरीर से दान करना, रक्षा करना और सेवा शुश्रूषा करना ऐसी तीन प्रकार की एवं वाणी से सत्य बोलना, हित (उपकार) कारक वचन, प्रियवचन तथा सांगवेदाध्ययन करना ऐसी चार प्रकार की, इसी प्रकार मन से दया करना, अस्पृहा (लोभ न करना) तथा शास्त्र एवं गुरुवचन में श्रद्धा रखना, ऐसे तीन प्रकार जो प्रवृत्ति होती है, उससे धर्म (उत्तम अदृष्ट) उत्पन्न होता है। (आगे सूत्र में जिसके लिये उपरोक्त दस प्रकार की प्रवृत्ति का वर्णन किया है, उस प्रवृत्तिपद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—इस 'दुःखजन्म' इत्यादि द्वितीय सूत्र में प्रवृत्ति शब्द से विहित एवं निषिद्ध क्रिया जिनमें साधन (कारण) हैं ऐसे धर्म तथा अधर्मरूप दोनों अदृष्ट कहे गये हैं, जिस प्रकार अन्न से जीने वाले प्राणों को 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं इस वाक्य से अन्न से जीनेवाले प्राणी को अन्न ऐसा कहा गया है। वह यह व्यापार तथा व्यापार वाली प्रवृत्ति निन्दित तथा प्रशंसनीय दूसरे जन्म की कारण होती हैं। अर्थात् कर्म करने के अनन्तर ही नष्ट होने वाली पूर्वप्रदर्शित कायिक वाचिकादि क्रिया कालान्तर में होने वाले दूसरे जन्म की कारण नहीं हो सकती, इसलिये व्यापार (द्वाररूप धर्माधर्म नामक अदृष्ट बीच में माना जाता है)। अतः उससे पुनः दूसरे शरीर इन्द्रिय तथा बुद्धियों के समान जाति के समुदाय सहित प्रादुर्भाव (प्राप्ति) रूप जन्म होता है तथा उसके होने से

प्रतिकूलवेदनीयं-बाधना-पीडा-ताप इति । *त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः संसार इति ।*

यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति, तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्माऽपैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये च आत्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति ।

तत्त्वज्ञानं तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम् । आत्मनि-तावदस्तीति, अनात्मनि-अनात्मेति, एवं दुःखे, अनित्ये, अत्राणे, सभये, जुगुप्सिते, हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम् , प्रवृत्तौ-अस्ति कर्म, अस्ति कर्मफलमिति, दोषेषु-

---

दुःख प्राप्त होता है, जो दुःख प्राणिमात्र को प्रतिकूल (बुरा) लगता है तथा उसके होने से दुःख प्राप्त होता है। जो दुःख प्राणिमात्र को प्रतिकूल (बुरा) लगता है। उसे बाधना, पीडा तथा ताप ऐसा भी कहते हैं। वे यह मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक के आत्मा के निरन्तर होने वाले धर्म ही संसार कहाते हैं। (यहाँ पर सूत्र में कहा हुआ मिथ्याज्ञानादिकों का क्रम भाष्यकार ने छोड़ दिया है, अर्थात् भाष्यकार ने कहा हुआ क्रम बदल दिया है। जिससे क्रम का निश्चय न होना भी यहाँ पर इष्ट ही है, क्योंकि कहे हुए मिथ्याज्ञानादिकों में कार्य (दुष्ट) कारणभाव तो है ही, क्योंकि संसार में मिथ्याज्ञान से दुःख होता है तथा दुःख से भी मिथ्याज्ञान होता है ऐसा प्रायः प्रत्येक आत्मा को अनुभव होता है)। (इस प्रकार मिथ्याज्ञान से प्राणियों को संसार बंधन के प्राप्ति का प्रकार कहने के पश्चात् अपवर्ग का प्रकार वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—जिस समय न्यायादि दर्शनशास्त्रों से उत्पन्न हुये तत्त्वज्ञान से विरोध होने के कारण पूर्वोक्त मिथ्याज्ञान का अपाय (स्वरूप की हानि) होती है, उस समय मिथ्याज्ञान-रूप मूल कारण के अपाय (निवृत्ति) से राग, द्वेष, मोहादिरूप कार्य निवृत्त होते हैं और उन दोषरूप कारणों के निवृत्त होने के कारण, उनको पूर्वोक्त पुण्य-पापरूप दस प्रकार की शुभ तथा अशुभरूप प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है और उस प्रवृत्तिरूप कारण के निवृत्त होने से उसका कार्य पुनर्जन्म प्राणी को नहीं होता, उस जन्मरूप कारण के निवृत्त होने से दुःखरूप कार्य की निवृत्ति होती है, दुःखरूप कारण के अत्यन्त निवृत्त होने से आत्यन्तिक संसार निवृत्तिरूप अपवर्ग होता है जिसे प्रथम सूत्र में निःश्रेयस ऐसा कहा गया है। (अर्थात् पूर्व २ दुःखों के आश्रय आत्मा में आत्यन्तिक दुःख की हानिस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है)। वह उपरोक्त मिथ्याज्ञान का विरोधी तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान के विपरीत ज्ञानरूप से इस प्रकार कहा गया है—जैसे आत्मारूप प्रमेय पदार्थ में शरीरादिकों से भिन्न आत्मा की सत्ता है, तथा अनात्मा (आत्मा से भिन्न) शरीर इन्द्रिय आदिकों में वे अनात्मा (आत्मा नहीं) हैं यह ज्ञान तत्त्वज्ञान है। इसी प्रकार दुःख को दुःख, अनित्य घटादि पदार्थों को अनित्य तथा वास्तविक रक्षा न कर सकने वाले स्त्री-पुत्र आदिकों को ये अरक्षक (रक्षा न कर सकने वाले) नहीं हैं ऐसा जानना एवं भययुक्त धन-संपत्ति आदि को भयसहित मानना, अस्थिमांसादियुक्त होने से निन्दित शरीरादिकों को निन्दित समझना, तथा त्याग करने योग्य जन्मादिरूप संसार को त्याग योग्य समझना। इस प्रकार पूर्वोक्त संपूर्ण विषयों में तत्त्वज्ञान स्वयं जान लेना चाहिये। इसी प्रवृत्तिरूप प्रमेय पदार्थ में पुण्य-पापरूप कर्म की सत्ता है तथा वह सुख-दुःख आदि फल को देता है ऐसा तत्त्वज्ञान जान लेना चाहिये। एवं राग, द्वेषादि दोष पदार्थ में भी यह संसार-बंधन उक्त दोषों के कारण होता

दोषनिमित्तोऽयं संसार इति, प्रेत्यभावे खलु-अस्ति जन्तुर्जीवः सत्त्वः आत्मा वा, यः प्रेत्य भवेदिति, निमित्तवज्जन्म, निमित्तवान् जमोपरम इत्यनादिः प्रेत्यभावोऽपवर्गान्त इति, नैमित्तिकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति, सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्त्तते इति, अपवर्गे-शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः, बहु च कृच्छ्रं घोरं पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति, तद्यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां विषयप्रयोजनसम्बन्धप्रकरणम् ।

त्रिविधा चाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः,—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र

है, ऐसा तत्त्वज्ञान है। इसी प्रकार प्रेत्यभाव नामक प्रमेय पदार्थ में जन्तु (जीवन धारण करने वाला)शरीर बलवान् होने से सत्त्व नामक, नित्य होता हुआ, बलवान् शरीरादिकों से भिन्न आत्मा है, जो पूर्व शरीरादि सम्बन्ध के त्यागरूप मरण के पश्चात् , उत्तर शरीरादिकों के ग्रहणरूप जन्म को प्राप्त होगा, एवं पूर्वोक्त जन्म कर्मरूप निमित्त से होता है, तथा जन्म का उच्छेद भी उक्त कर्मों से होता है, ऐसा तथा पूर्वोक्त प्रेत्यभाव (जन्म-मरण) अनादि काल से आत्मा को चला आया है एवं उसका अपवर्ग होने से अन्त हो जायगा।

इसी प्रकार उक्त कर्मों के कारण होने वाला प्रेत्य का भाव पूर्वोक्त दस प्रकार की शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति से होता है तथा नित्य शरीरादि भिन्न आत्मा के सहित शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदना इनके समुदायों के उच्छेद (मरण) एवं इनके पुनः सन्बन्ध से होता है। ऐसा भी प्रेत्यभाव से तत्त्वज्ञान कहाता है। इसी प्रकार अपवर्ग नाम के प्रमेय पदार्थ में यह सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों का अत्यन्त विरहरूप सर्वोपरम (सबसे दूर होना) रूप अपवर्ग निश्चय से शान्त है; इससे बहुत सा पूर्वकृत भयंकर (नरक) प्राप्ति का साधक) पाप नष्ट हो जाता है। इस कारण बुद्धिमान् प्राणी इस आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक आदि सम्पूर्ण दुःखों के अपवर्गावस्था में नष्ट होने के कारण जिस अवस्था में सम्पूर्ण उक्त दुःखों का अनुभव नहीं होता ऐसे अपवर्ग (मोक्ष) की इच्छा न करेगा। क्योंकि जिस प्रकार मधु (शहद) एवं विष दोनों से मिला हुआ अन्न मरणदायक होने से नहीं खाया जाता, उसी प्रकार दुःखों से मिला हुआ सांसारिक सुख भी भोगा नहीं जा सकता। इस प्रकार द्वितीय सूत्र की व्याख्या समाप्त हुई (यहाँ पर 'दुःखानुषक्तं' इस पद से उक्त दृष्टान्त से सुख भी मोक्षावस्था में नहीं रहता ऐसा नैयायिकों का मत है यह सूचित होता है और अनुषक्तं इस पद में अनुषंगपद का अर्थ है अविनाभाव (एक के बिना दूसरे का न होना अर्थात् जहाँ सुख है वहाँ दुःख का होना अथवा दोनों का एक कारण होना। क्योंकि शरीरादि विषय सुख के साधन हैं वही दुःख के भी साधन। अथवा जिसमें सुख होता है उसी में दुःख इस कारण दोनों का एक ही आधार होना, या जिससे सुख मिलता है उसी से दुःखका अतः 'समानोपलभ्यता' समान प्राप्ति ही अनुषङ्ग शब्द का अर्थ है ऐसी यहाँ पर वार्तिककार ने स्पष्ट समालोचना की है।) ॥ २ ॥

यहाँ पर पूर्वोक्त संसाररूप हेय (त्याग योग्य) तथा अपवर्गरूप उपादेय (ग्रहण योग्य) दोनों प्रमेय पदार्थों की कितने प्रमाणों से सिद्धि हो सकती है। ऐसी शिष्यों की जिज्ञासा के निवृत्ति

नामधेयेन पदार्थमात्रस्याऽभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते, तथा–प्रमाणानां प्रमेयस्य च। उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनं, यथा–छलस्य '*वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या-*

के आशय से भाष्यकार तृतीय सूत्र का अवतरण देते हुए कहते हैं कि—उद्देश (नाम कथन) पदार्थों के लक्षण, तथा उनका यह लक्षण हो सकता है या नहीं है ऐसी परीक्षा इस प्रकार यह शास्त्र तीन विषयों के कथनार्थ तीन प्रकार से प्रवृत्त हुआ है। (यहाँ पर तात्पर्यटीकाकार ने इस प्रकार पूर्व दो सूत्रों में प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान के साथ निःश्रेयस का सम्बन्ध वर्णन किया है। पर इस प८ यह आक्षेप हो सकता है कि—प्रमाणादि पदों से कहे गये शोडष पदार्थों का तत्व ज्ञान होने से पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या ज्ञानादिकों की निवृत्ति होकर क्रम से मुक्ति होने का ज्ञान जब इतने ही पूर्वोक्त दो सूत्र तथा उनके भाष्य ग्रन्थ से हो जाता है तो अग्रिम ग्रन्थ की क्या आवश्यकता है—इसी आक्षेप के समाधानार्थ भाष्यकार ने तीन प्रकार से शास्त्र की प्रवृत्ति कही है। जिससे केवल पदार्थों के नाममात्र के कथन से प्रमाणादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु उनका लक्षण तथा उन लक्षणों की परीक्षा करने का भी तत्त्वज्ञान होने में अत्यन्त उपयोग होता है (आवश्यकता) है। इस कारण तृतीय सूत्र से ग्रंथ के समाप्ति तक के उत्तर आगे के निबंध (ग्रन्थ) की आवश्यकता है। यह भाष्यकार का आशय है—ऐसी समालोचना की है)।

आगे भाष्यकार कहते हैं कि—उन तीनों में से नाम से केवल पदार्थ के कथन को उद्देश कहते हैं। तृतीय सूत्र में जो प्रमाणों का विभाग किया है ऐसा कहा है, वह बिना प्रमाणों का लक्षण किये बिना असंगत है। क्योंकि बिना लक्षण किये विभाग करने का अवसर ही नहीं हो सकता ऐसी शंका के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि—उद्देश किये (नाम से कहे हुए) पदार्थ के तत्त्व का स्वरूपों को भेद की सिद्धि करने वाले धर्म को लक्षण कहते हैं। (इस भाष्यकार के कथन से उपरोक्त शंका के समाधान का यह आशय है कि—शास्त्र में, संपूर्ण स्थलों में विभाग के कहने के पूर्व ही लक्षण कहे जाते हैं, यह नियम नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं इस शास्त्र में उद्देश एवं विभाग के पश्चात् लक्षण कहा गया है जैसे प्रमाण और प्रमेय इन दोनों पदार्थों का लक्षण अन्त में कहा है, और कहीं लक्षण कहने के पश्चात् ही विभाग कहा है, जैसे छल पदार्थ का तीसरे 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणनि' इस सूत्र में 'प्रमाणनि' इस पद से स्वरूप भी प्रमाणों का कहा ही है, वही तो लक्षण होता है इस कारण यहाँ पर लक्षण न कहकर विभाग करने का आक्षेप निर्मूल ही है अर्थात् हो ही नहीं सकता। (लक्षण स्वरूप के कथन के पश्चात् परीक्षा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि)—लक्षित (लक्षण किये पदार्थ) का जैसा लक्षण किया है वैसा हो सकता है कि नहीं इस प्रकार प्रमाणों से निश्चय करने को परीक्षा कहते हैं। क्योंकि इस परीक्षा शब्द का **'परितः'** अर्थात् की हुई शंकाओं को हटाकर, **'ईक्षणं'** निश्चय करना ऐसा व्युत्पत्ति के बल से अर्थ होता है। (पूर्वप्रदर्शित लक्षण तथा विभाग के कथन में पूर्वापर का नियम नहीं है इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि—उनमें से उद्देश के अनुसार विभाग किये हुए पदार्थ का लक्षण प्रमाण एवं प्रमेय ऐसे दोनों पदार्थों का इस शास्त्र में है। तथा उद्देशानुसार लक्षण किये पदार्थ का विभाग भी कहा गया है, जैसे छल पदार्थ का। क्योंकि **'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्'**, अर्थ के विकल्प से वादि के वचन का

च्छलम्, तत्त्रिविधम्—(अ० १ आ० २ सू० ५१-५२) इति। अथोद्दिष्टस्य विभागवचनम्—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु-सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं, तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।

खण्डन करना छल कहा जाता है—'**तत्त्रिविधम्**' वह तीन प्रकार है, (अ. १. आ. २, ११) वें सूत्र में।

(पूर्व में नाम से कहे गये प्रमाण पदार्थ का विभाग आगे सूत्र द्वारा दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अब पूर्व में नाम से उद्देश किये प्रमाण पदार्थ का विभाग सूत्रकार ने ऐसा कहा है—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नामक, प्रमाणानि =(न्यायशास्त्र में) चार प्रमाण हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—न्यायशास्त्र में अन्य दर्शनकारो ने माने हुए अर्थापत्ति, संभव आदि माने हुए प्रमाणों का प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नामक चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव होता है इस कारण चार ही प्रमाण हैं ॥ ३ ॥

तृतीय सूत्र के प्रत्यक्ष शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—अक्ष-अक्ष के (चक्षुरादि षड् इन्द्रियों) का प्रतिविषय में (अपने-अपने रूपादि विषयों में) सन्निकर्ष सम्बन्ध रूप वृत्ति (व्यापार) को अथवा ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। (यहाँ पर '**प्रतिगतमक्षम्प्रत्यक्षम्**' ऐसा प्रादि समास प्रत्यक्षपद में करना चाहिये। भाष्य तो केवल फलित अर्थ को कहता है। ऐसी वार्तिककार की इस विषय में व्याख्या है। किन्तु तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र यहाँ पर ऐसा कहते हैं कि '**अक्षस्याक्षस्य**' इत्याकारक भाष्य तो केवल प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्ति का निमित्त है, यदि प्रत्यक्ष शब्द के प्रवृत्ति का निमित्त माना जाय तो इन्द्रियों में रहने वाले गुणजाति आदिकों में व्यभिचार दोष आ जायगा। इस कारण 'अक्षस्याक्षस्य' यह पद प्रत्यक्ष शब्दके प्रवृत्ति का निमित्त है—पदार्थ के प्रत्यक्षरूप ज्ञान को उत्पन्न करना। भाष्य के वृत्तिशब्द का अर्थ है व्यापार। जो कारकों से फल की उत्पत्ति करने में अन्तिम फल की उत्पत्ति होने में अनुकूल धर्म विशेष अपेक्षित होता है उसे व्यापार कहते हैं। जिस प्रकार पट को उत्पन्न करने में अन्त में होनेवाले तन्तुओं के संयोग, अथवा स्वर्गरूप फल को उत्पन्न करने में यज्ञ भाग से उत्पन्नमया बीच में अपूर्व (धर्माधर्मरूप अदृष्ट) जो आत्मा का धर्म होता है, इसी प्रकार प्रस्तुत में भी प्रत्यक्ष ज्ञानादिरूप फलों को उत्पन्न करने में प्रवृत्त होले वाले इन्द्रिय का ही ज्ञान आदि प्रमाणों से उक्त फल की उत्पत्ति होने के अनुकूल इन्द्रिय तथा पदार्थ का सन्निकर्ष, अथवा ज्ञानरूप अन्त में होनेवाला विशेष धर्म भी अपेक्षित (आवश्यक) होता है इस कारण वह व्यापार होता है)।

आगे वृत्ति शब्द की स्वयं व्याख्या करते हुए भाष्यकार उपरोक्त संनिकर्ष तथा ज्ञान दोनों में व्यापारता का निवेश दिखाते हैं कि—इन्द्रिय तथा अर्थों के संनिकर्ष अथवा उससे उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान वृत्ति शब्द का यहाँ पर अर्थ है। इन दोनों पक्षों में से जब वृत्ति शब्द का अर्थ संनिकर्ष करते हैं उस पक्ष में पदार्थ का ज्ञान होना उसका फल होता है। जब वृत्ति शब्द से

अनुमानं—मितेन लिङ्गेनाऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् ।

उपमानं—सारूप्यज्ञानं—यथा गौरेवं गवयं इति ।

सारूप्यं तु सामान्ययोगः ।

शब्दः—शब्द्यतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते ज्ञाप्यते ।

उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम् । प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम् ।

किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते ? अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति ?

पदार्थ का ज्ञानरूप व्यापार कहा जाता है इस पक्ष में पदार्थ के त्याग अथवा ग्रहण करना अथवा उपेक्षा करना ही फल होता है । अर्थात् त्याग आदिकों की कारण बुद्धि ही फल होता है ।

इस प्रकार चार प्रमाणों में से प्रथम प्रत्यक्ष का लक्षण वर्णन कर क्रमप्राप्त द्वितीय अनुमान प्रमाण का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—व्याप्ति से निश्चित (ज्ञापन) किये सिद्ध लिङ्ग (साधकहेतु) से सिद्ध करने योग्य (ज्ञाप्य) पदार्थ का प्रत्यक्ष के पश्चात् मानना (जानना) अनुमान प्रमाण होता है । (जैसे महानस में धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय होने के कारण पर्वत में प्रत्यक्ष धूम देखकर न दीखने वाले वह्नि की धूम से सिद्धि होती है) ।

इस प्रकार अनुमान का लक्षण कहकर क्रमप्राप्त तृतीय उपमान प्रमाण का लक्षण दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि—सामीप्य (सादृश्य) ज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं । (क्योंकि **समाप्यते-सममीक्ष्यते'** समान देखा जाता है । इस प्रकार सामीप्य शब्द की व्याख्या से सादृश्य ऐसा अर्थ आता है ।) जिसका उदाहरण है जैसी गौ होती है वैसा गवय (नीलगाय) । इस वाक्यमें सामीप्य शब्द का अर्थ है सामान्ययोग अर्थात् समान धर्मों का सम्बन्ध ।

(इसके पश्चात् क्रम प्राप्त चतुर्थ शब्द प्रमाण का लक्षण भाष्यकार ऐसा कहते हैं कि)—जिससे पदार्थ कहा जाता है, अथवा जनाया जाता है, वह शब्द नामक चतुर्थ प्रमाण होता है ।

(आगे समाख्या शब्द (प्रमाण इस संज्ञा शब्द) से सूचित लक्षण को प्रकट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सम्पूर्ण प्रमाण उपलब्धि (ज्ञान) के साधन होते हैं ऐसा 'प्रमाणानि' इस संज्ञा के निर्वचन (व्युत्पत्ति) के सामर्थ्य से जानना चाहिए । (आगे दूसरे शब्द से कहे हुए का अनुवाद करते हुए भाष्यकार यही कहते हैं कि—यह सूत्र में प्रमाण शब्द 'प्रमीयतेऽनेन' जिससे जाना जाता है, ऐसे करण इस अर्थ के बोधक ल्युट् प्रत्यय से सिद्ध हुआ है । इस कारण उन प्रमाण प्रत्यक्षादि विशेष समाख्या (संज्ञा) की भी उपरोक्त रीति से व्याख्या की गई है । अर्थात् जिस प्रकार प्रमाण सामान्य से उपलब्धि (ज्ञान) का साधन होना कहा जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नामक विशेष प्रमाणों के कहने से भी यह वहां पर दिखाया गया है ।)

(आगे उक्त प्रमाण विशेषों के विषयों की सिद्धि करने में व्यवस्था तथा संप्लव (सांकर्य) भी होता है यह दिखाते हुए भाष्यकार उक्त विषय में प्रथम पूर्वपक्षी के मत से प्रश्न दिखाते हुए कहते हैं कि)—क्या यह प्रत्यक्षादि विशेष प्रमाण अपने विषय की सिद्धि करने में संकर (अभिसंप्लव) रखते हैं अर्थात् एक विषय को अनेक प्रमाण सिद्ध करते हैं, अथवा प्रत्येक प्रमेय विषय में उनकी व्यवस्था है (एक विषय को एक ही विशेष प्रमाण सिद्ध करता है । ऐसा प्रश्न है ।

उभयथा दर्शनम्—'अस्त्यात्मा' इत्याप्तोपदेशात्प्रतीयते, तत्राऽनुमानम्–इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् (अ० १ आ० १ सू० १०)' इति, प्रत्यक्षं–युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्मात्मनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। अग्निराप्तोपदेशात्प्रतीयते 'अत्राऽग्निः' इति, प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते। व्यवस्था पुनः–'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनं, न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्। तत्र न प्रत्यक्षं, नागमः। पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानं, नागम इति। सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा।

(आगे इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—संकर तथा व्यवस्था दोनों ही देखे जाते हैं अर्थात् प्रमाणों का सांकर्य एवं व्यवस्था दोनों ही देखने में आते हैं। क्योंकि आप्तपुरुष के उपदेश से 'आत्मा' है इस प्रकार शब्द प्रमाण से जाने हुए आत्मा का **'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्'** इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान ये विशेष गुण आत्मा के सामान्य तो दृष्ट अनुमान से साधक होते हैं अर्थात् (अ० १ आ० १) के दशम सूत्र से अनुमान किया जाता है। तथा युञ्जान नामक योगी को योग समाधि के बल से आत्मा तथा मन के विशेष संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है तथा आप्तपुरुष के उपदेशरूप शब्द प्रमाण से यहाँ पर्वत पर अग्नि है ऐसा ज्ञान होने पर, पर्वत के समीप गये प्राणी को पर्वत पर धूम को देखकर व्याप्तिस्मरणपूर्वक इस पर्वत पर अग्नि है धूम होने से ऐसा अनुमान प्रमाण से ज्ञान होने के पश्चात् पर्वत के अत्यन्त समीप पहुँचने पर प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अग्नि का दर्शन होता है। (अतः उक्त प्रकार से प्रमाणों का एक प्रमेय विषय में सांकर्य है यह भी सिद्ध होता है।)

आगे उक्त प्रमाणों की प्रमेय विषय की सिद्धि करने में व्यवस्था दिखाते हुये कहते हैं कि—**'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'** स्वर्ग लोक की इच्छा करने वाले प्राणी को अग्निहोत्र नामक हवन करना चाहिये—यह उक्त शब्द प्रमाण से ही सिद्ध होता है, क्योंकि साधारण लोगों को स्वर्ग की सिद्धि करने में न कोई साधक हेतु मिलता है, न स्वर्ग लोक का प्रत्यक्ष हो सकता है। इसी प्रकार मेघ की गर्जना सुनकर उससे आकाश में मेघ की अनुमान प्रमाण से ही सिद्धि होती है, न उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि होती है, न शब्द प्रमाण से। प्रत्यक्ष प्रमाण से दिखाने वाले अपने हस्त विषय में, न अनुमान प्रमाण की आवश्यकता होती है, न आगम (शब्द) प्रमाण की। इस प्रकार प्रत्यक्षादि विशेष प्रमाणों की अपने-अपने प्रमेय विषय की सिद्धि में व्यवस्था भी देखी जाती है, (अतः प्रमाणों की प्रमेय विषय की सिद्धि में सांकर्य तथा व्यवस्था दोनों होते हैं यह भाष्यकार का आशय है। अर्थात् आत्मा एवंअग्नि यह दोनों प्रमाण सांकर्य का तथा **'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'** इत्यादि प्रमाणों के व्यवस्था के उदाहरण होने से सांकर्य एवं व्यवस्था दोनों हैं यह सिद्ध होता है)।

आगे उक्त विशेष चारों प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण की ही प्रधानता देते हुए भाष्यकार कहते हैं। कि)—वह यह प्रमाणों से होने वाली प्रमिति (यथार्थ ज्ञान) में प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रधानता है, क्योंकि जिज्ञासित (जानने की इच्छा के विषय) पदार्थ को आप्तपुरुष के वचनरूप शब्द प्रमाण से जानने वाले को साधक लिङ्ग (हेतु) के दर्शन से जानने की इच्छा होती है और लिङ्ग के दर्शन से अनुमान प्रमाण द्वारा जाने हुये भी विषय की प्रत्यक्ष से भी सिद्धि देखने की इच्छा होती

जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात्प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्त्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणम्—'अग्निः' इति। प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः, असम्भवो व्यवस्थेति॥ ३॥

इति त्रिसूत्रीभाष्यम्।

अथ विभक्तानां लक्षणमिति—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ ४॥

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं, तत् प्रत्यक्षम्।

है। प्रत्यक्ष से विषय का ज्ञान होने पर प्राप्ति की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इसमें उपरोक्त यह 'अग्नि' है यही उदाहरण है)।

आगे **अभिसंप्लव** तथा **व्यवस्था** इन दोनों शब्दों का स्वयं अर्थ करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि—प्रमाता (ज्ञाता) पुरुष के विषय के ज्ञान के साधक प्रत्यक्षादि विशेष प्रमाणों के संकर को अभिसंप्लव कहते हैं तथा संकर न होने को व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार तृतीय सूत्र का भाष्य है। अर्थात् इस प्रकार त्रिसूत्री भाष्य (तीन सूत्रों का भाष्य) यहाँ पर समाप्त हुआ॥ ३॥

इस प्रकार प्रमाण पद से प्रमाणों के उपलब्धिसाधनता रूप (सामान्य) लक्षणपूर्वक तृतीय सूत्र में विभक्त प्रत्यक्षादि विशेष प्रमाण चतुष्टय में से क्रमप्राप्त प्रथम प्रत्यक्ष नामक प्रमाण का लक्षण दिखाते हुये भाष्यकार कहते हैं कि—विभाग किये प्रमाणों का लक्षण करना (उचित है) इस कारण (प्रथम क्रमप्राप्त प्रत्यक्ष का लक्षण सूत्रकार ऐसा करते हैं कि)—

पद पदार्थ—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं = चक्षुरादि इन्द्रिय तथा रूप आदि अर्थ (विषय) के संयोगादि सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न भया हुआ, ज्ञानं = ज्ञान, अव्यपदेश्यं = शब्द से व्यवहार करने के अयोग्य (निर्विकल्पक), अव्यभिचारि = व्यभिचाररहित अर्थात् (भ्रम से भिन्न), व्यवसायात्मकं = निश्चयरूप (सविकल्पक), प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष नामक प्रमाण कहाता है॥ १॥

भावार्थ—जो ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रिय तथा रूपादि विषयों के संयोग आदि सन्निकर्ष (संबंध से उत्पन्न होता है और जिस शब्द से व्यवहार करने के अयोग्य होने के कारण निर्विकल्पक नामक होता है तथा ज्ञान के विषय का व्यभिचार न होने से जो भ्रम से भिन्न होता है तथा जो निश्चयात्मक होने के कारण सविकल्पक नामक भी होता है उसे प्रत्यक्ष नामक फलरूप ज्ञान कहते हैं वह जिससे होता है वह इन्द्रियादि प्रत्यक्ष नामक प्रमाण कहा जाता है॥ ४॥

सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—इन्द्रिय अर्थ (विषय) के साथ संयोग आदि सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। (यहाँ पर प्रयक्ष नामक प्रमाण क्या होता है ऐसी ही प्रमाण का प्रकरण होने से शिष्यों को जिज्ञासा हो सकती है, न कि प्रत्यक्षज्ञानरूप फल की। सूत्रकार ने ज्ञानरूप फल का लक्षण क्यों किया? इस शंका के समाधान में **'यतः'** जिससे ऐसा **अध्याहार** कर वह प्रत्यक्ष प्रमाणक होता है, जिससे पूर्वोक्त प्रत्यक्ष रूपज्ञान हो ऐसा उत्तर है)।

न तर्हीदानीमिदं भवति, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रिय-मर्थेनेति ? नेदं *कारणावधारणम्*—एतावत्प्रत्यक्षे कारणमिति, किं तु विशिष्ट-कारणवचनमिति, यत्प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं, तदुच्यते, यत्तु समानमनु-मानादिज्ञानस्य, न तन्निवर्त्तत इति ।

मनसस्तर्हीन्द्रियेण संयोगो वक्तव्यः ? भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति ।

उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में भाष्यकार पूवपक्षी के मत से आक्षेप दिखाते हुए कहते हैं कि–इन्द्रिय तथा पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान के कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करने से, प्रथम आत्मा का मन से संयोग होता है पश्चात् मन का इन्द्रिय से और उसके पश्चात् इन्द्रिय का पदार्थ से यह क्रम प्रत्यक्ष में नहीं हो सकेगा। (अर्थात् प्रत्यक्ष लक्षण को कहने वाले चतुर्थ उपरोक्त सूत्र के अक्षरों से इन्द्रिय तथा पदार्थ का सन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान में आवश्यक है, यह सूचित होता है। किन्तु नैयायिकों के सिद्धान्त से उपरोक्त प्रकार से आत्मा तथा मन एवं मन तथा इन्द्रियों का सन्निकर्ष भी प्रत्यक्षज्ञान में अवश्य कारण मानना होगा तो सूत्रकार ने इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के समान आत्ममनःसंयोग तथा मन और इन्द्रिय के सन्निकर्ष का प्रत्यक्ष के लक्षण में ग्रहण क्यों नहीं किया।

इस पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—यह सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण के कारण का अवधारण (निश्चय) नहीं है—कि इतना (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष) ही प्रत्यक्ष प्रमाण में कारण है, किन्तु विशिष्ट (विशेष) प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण सूत्र में सूत्रकार ने कहा है। अर्थात् जो प्रत्यक्षज्ञान का विशिष्ट (इन्द्रियार्थ संन्निकर्षरूप विशेष) कारण है वह कहा गया है, और जो (आत्ममनःसन्निकर्ष तथा मन और इन्द्रियों का सन्निकर्ष) अनुमान, उपमानादि दूसरे प्रमाणों में भी समान कारण है वह निवृत्त (हटाया) नहीं गया है इसलिये उक्त दोष नहीं हो सकता (तात्पर्य यह है कि संपूर्ण प्रत्यक्ष होने के कारणों की सूत्रकार ने सूत्र में गणना नहीं की है, किन्तु एक किसी प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमानादि दूसरे प्रमाणों से व्यावृत्ति (भेद) करना सूत्र में सूत्रकार ने दिखाया है)।

(इस पर पुनः पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार आक्षेप दिखाते हैं कि)—'तथापि मन के इन्द्रियों के साथ संयोग सम्बन्ध को प्रत्यक्ष में विशेष कारण होने से कहना चाहिये'। (अर्थात् प्रत्यक्ष की सूत्र में विशेष कारण की उक्ति मानने पर भी इन्द्रिय तथा मन का संयोग भी केवल प्रत्यक्षप्रमाण में अपेक्षित होने के कारण अनुमानादि दूसरे प्रमाणों से प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद का साधक होने के कारण सूत्रकार को प्रत्यक्ष के उपरोक्त सूत्र में अवश्य कहना चाहिये था)।

(इस पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि)—घ्राणज, रासज आदि भेद से षट् प्रकार के भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा मन का संयोग सामान्यरूप से भिन्न नहीं होता। अतः समान होने से उसे भी सूत्रकार ने लक्षण सूत्र में वर्णन नहीं किया है। (किन्तु यहाँ पर वार्तिककार ने इस भाष्य के वाक्य की दो प्रकार से व्याख्या की है। जिनमें प्रथम व्याख्या ऐसी है कि जिस प्रकार इन्द्रिय तथा अर्थ का संयोग अनुमानादिकों से प्रत्यक्ष का भेद सिद्ध करता है उसी प्रकार इन्द्रिय तथा मन का संयोग भी। ऐसा जानकर ही सूत्रकार ने दोनों में से एक भेद

यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः, अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः। तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं 'रूपम्' इति वा, 'रसः' इत्येवं वा भवति, रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम् तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं–रूपमिति जानीते, रस इति जानीते नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते, अत आह—

साधक को दिखाया है, क्योंकि एक भेद साधक के कहने से ही लक्षण पूर्ण हो जाने से निर्वाह होने के कारण दूसरा भेद साधक होने से भी सूत्रकार ने नहीं कहा है। ऐसा **'समान होने से'** इस भाष्य के पद से सूचित होता है। दूसरी व्याख्या ऐसी है कि इन्द्रिय तथा पदार्थ का संयोग ही एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष व्यक्ति का भेद सिद्ध करता है। इन्द्रिय तथा मन का संयोग, घ्राण, रसनादि इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले षट् प्रकार के प्रत्यक्षों में साधारण है। इसी कारण समान होने से इसे सूत्रकार ने नहीं कहा है। **'समान होने से'** इस भाष्योक्त हेतु के आत्मा तथा मन का संयोग अतीन्द्रिय पदार्थों में रहता है तथा मन और इन्द्रियों का संयोग भी अथवा आत्ममनःसंयोग एवं इन्द्रियमनःसंयोग दोनों ही विषयों में नहीं रहते अथवा ये दोनों संयोग मन में रहते हैं। इस कारण दो में से एक के ही कहने से निर्वाह होने के कारण सूत्रकार ने दोनों को नहीं कहा है। अथवा इन्द्रियमनःसंयोग की अत्यमनःसंयोग के साथ समानता होने के कारण आत्ममनःसंयोग को सूत्र में नहीं कहा है। इत्यादि वार्तिक में स्पष्ट कहा हैं। जिसमें वार्तिककार की दूसरी ही उपरोक्त व्याख्या का वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में ग्रहण किया है।)

(शब्द तथा अर्थ का भेद न होने से अर्थ से उत्पन्न हुये के समान शब्दजन्य भी हो सकता है इस प्रकार के वैयाकरणमत का खण्डन करने के लिये सूत्रकार ने सूत्र में प्रयोग किये हुए **'अव्यपदेश्य'** इस विशेषण की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उक्त मत का अनुवाद कर खण्डन करते हुए आगे कहते हैं कि)—'जितने अर्थ हैं उन संपूर्णों में अभेद से संज्ञाशब्द वर्तमान होते हैं, जिससे अर्थ का निश्चयात्मकज्ञान होता है और अर्थ के सम्यक् ज्ञान के अनुसार ही लौकिक व्यवहार होता है। (अर्थात् सर्वकाल में सर्वथा (सब तरह से) अर्थ संज्ञा शब्द से सम्बद्ध होते हैं, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो संज्ञाशब्द से (अर्थ के वाचक नाम शब्द से) रहित हो। इसी कारण **'गौ अर्थ है, अश्व अर्थ है'** इत्यादि प्रतीति में एक अधिकरण में वर्तमान संज्ञा शब्दों के साथ गौ आदि पदार्थों की प्रतीति होती है। ऐसा होने से अर्थों के संज्ञाशब्द रूप होने के कारण उसको विषय करने वाला ज्ञान भी संज्ञा को विषय करता है, इस कारण अर्थ के समान संज्ञाशब्द से कहा हुआ वह शब्द से उत्पन्न है यह आपत्ति आती है। ऐसा होने से कोई भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्द से रहित नहीं है। यह वैयाकरण पूर्वपक्ष के शंका का तात्पर्य है। इसी शंका के निवारणार्थ सूत्र में 'अव्यपदेश्यं' यह विशेषण सूत्रकार ने दिया है।) इस व्याख्या में **'शाब्द'** इस पद का अर्थ तात्पर्यटीकाकार ने दूसरे इस प्रकार से व्याख्या किया है कि—**'शब्द प्रमाण वाला होने से शाब्द नहीं कहलाता किन्तु'** शब्द से उत्पन्न होने से शाब्द कहा जाता है और शब्द इसका विषय होने के कारण उत्पादक होता है', इत्यादि तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने समालोचना यहाँ पर की है और उनकी ऐसी व्याख्या से नाम तथा जाति आदिकों की योजना से होने वाले सविकल्पक का भी प्रत्यक्ष के लक्षण में अन्तर्भाव हो जाता हैं। यह सूचित होता है। नाम, जात्यादि योजना सहित होनेवाला ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता। अतः उसका प्रत्यक्ष लक्षण से बहिष्कार

अव्यपदेश्यमिति । यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं, न तत् नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते, गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति । यदा तु सोऽर्थो गृह्यते, तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानात् न विशिष्यते, तत् अर्थविज्ञानं तादृगेव भवति । तस्य त्वर्थज्ञानस्याऽन्यः समाख्याशब्दो नास्ति, येन प्रतीयमानं व्यवहाराय कल्पते । न चाऽप्रतीयमानेन व्यवहारः । तस्माज्ज्ञेय-स्यार्थस्य संज्ञाशब्देनेतिकरणयुक्तेन निर्दिश्यते–रूपमिति ज्ञानं, रस इति ज्ञान-मिति । तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते व्यवहारकाले तु व्याप्रियते तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति ।

करने के लिये ही **'अव्यदेश्यपद'** सूत्र में दिया गया है यही अर्थ साक्षात् भाष्यकार के अक्षरों से बोधित होता है, किन्तु यह नैयायिकों के सिद्धान्त से संगत नहीं होता । इसी कारण तात्पर्यटीकाकार ने उपरोक्त दूसरी प्रकार से व्याख्या की है, ऐसा सिद्ध होता है) ।

ऊपर दिखाए हुए पूर्वपक्षिमत की स्वयं व्याख्या करते हुए भाष्यकार उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि—उपरोक्त लौकिक व्यवहार में इन्द्रिय तथा अर्थों के संयोगादि सम्बन्ध से उत्पन्न हुये ज्ञान का **'रूपम्'** यह रूप है इस प्रकार अथवा **'रसः'** यह रस है, इस प्रकार होता है और यह रूप एवं रस शब्द रूप, रसरूप विषयों का नाम है । उससे **'रूप है** ऐसा जानता है—**रस है** ऐसा जानता है' । इस प्रकार से लोक में ज्ञान का व्यवहार होता है । अतः नाम (संज्ञा) शब्द से व्यवहार होने के कारण रूप तथा रसादिकों का प्रत्यक्षरूप ज्ञान इन्द्रियार्थ **सन्निकर्ष** से होने पर भी शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने के कारण शाब्द है ऐसी आपत्ति आती है ।

इस प्रकार पूर्वपक्षी की शंका के निवारण के लिये भाष्यकार कहते हैं कि सूत्रकार न सूत्र में **'अव्यपदेश्यं'** ऐसा विशेषणपद दिया है । जिससे उक्त शंका का इस प्रकार निवारण होता है कि जो यह शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग न करते हुये केवल चक्षु आदि इन्द्रियों के सम्बन्ध-मात्र से पदार्थ का ज्ञान होता है, उसका संज्ञाशब्द से व्यवहार नहीं होता । पूर्वकाल में शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण होने पर भी केवल इन्द्रियों से देखने आदि के समय में इस अर्थ का यह संज्ञाशब्द वाचक है, ऐसा ज्ञान नहीं रहता जिस समय उस पदार्थ का ग्रहण होता है । वह प्रथम हुए अर्थज्ञान से कोई विशेषता नहीं रखता । वह पदार्थ ज्ञान भी वैसा ही होता है । (अर्थात् जहाँ पर नाम का ज्ञान है वहाँ पदार्थ का ज्ञान वैसा ही है, अर्थात् संज्ञा का ज्ञान न रहते जैसा वस्तु का ज्ञान होता है वैसा ही संज्ञा का ज्ञान रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान वैसा ही होता है) । (आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—उस पदार्थ के ज्ञान का दूसरा कोई समाख्या (संज्ञा) शब्द नहीं है, जिससे अर्थ की प्रतीती होकर व्यवहार हो सके और बिना पदार्थ के ज्ञान के व्यवहार नहीं होता । उस संज्ञाशब्द से जो जानने योग्य पदार्थ के इतिकरण से युक्त **'ऐसा है'** ऐसा कहने योग्य संज्ञाशब्द से **'यह रूप है'** ऐसा, अथवा **'यह रस है'** ऐसा ज्ञान का व्यवहार होता है । ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि केवल इन्द्रियों से विषय (अर्थ) के ग्रहण होने के समय समाख्या (संज्ञा) शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु व्यवहार करने के समय ही प्रवृत्ति होती है । इस कारण केवल इन्द्रियों से विषयों में देखना आदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ही होता है । अतः वह शब्दजन्य नहीं है ऐसा सूत्रकार का आशय है ।

ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते, तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह *अव्यभिचारीति*। यदतस्मिंस्तदिति तद्व्यभिचारि, यत्तु तस्मिंस्तदिति तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति।

दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा। तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्य इत्यत आह—*व्यवसायात्मकमिति*। न चैतन्मन्तव्यम्—आत्ममनःसन्निकर्षजमेवाऽनवधारणज्ञामिति। चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति, यथा चेन्द्रियेणोपलब्धमर्थं मन-

---

सूत्र के 'अव्यभिचारि' इस विशेषण की सार्थकता दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी सूर्य किरण से उत्पन्न की उष्णता से मिले हुए सूर्य के किरण हिलते हुए दूर रहने वाले मनुष्यों को चक्षुरिन्द्रिय तथा सूर्यादि करणरूप अर्थ के सम्बन्ध से जल की लहरों के समान दिखाई देते हैं, जिनमें चक्षुरिन्द्रिय तथा जल की लहररूप अर्थ के सन्निकर्ष से **'यह जल है'** ऐसा भ्रमरूप ज्ञान उत्पन्न होता हैं। वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण होने से इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य होने की आपत्ति आवेगी। इस कारण सूत्रकार ने प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण में **'अव्यभिचारि'** ऐसा सूत्र में विशेषण दिया है। जो उस पदार्थ से भिन्न (जल से भिन्न) सूर्यकिरणरूप पदार्थ में वह जल है ऐसा ज्ञान व्यभिचारि कहता है और जो उस (जलादि) पदार्थ में वह (जल) है ऐसा ज्ञान होता है वह व्यभिचार रहित प्रत्यक्षप्रमाण कहाता है। अतः सूर्यकिरणों को जल की लहर समझना यह ज्ञान व्यभिचारी (भ्रमरूप) होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण नहीं हो सकता (किन्तु यह **अव्यभिचारी** ऐसा विशेषण प्रत्यक्षप्रमाण ही के लक्षण में देना आवश्यक है, क्योंकि दूसरे भ्रमरूप अनुमानादि प्रमाणों में तो व्यभिचार होना साक्षात् अथवा परम्परा से उन अनुमानादि दूसरे प्रमाणों के मूल कारण प्रत्यक्ष ही में होता है यह जानना चाहिए।

(आगे सूत्र में दिये हुए **'व्यवसायात्मक'** इस विशेषण का सार्थक्य दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—दूर से चक्षु, इन्द्रिय द्वारा पदार्थ को देखने वाला प्राणी यह धूम है अथवा रेणु (धूल) ऐसा निश्चय नहीं कर सकता। वह यह चक्षु, इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग नामक सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न भया हुआ अनवधारण (अनिश्चय-संशय) रूपज्ञान भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हो जायगा। इस कारण सूत्रकार ने प्रत्यक्षज्ञान में **'व्यवसायात्मक'** ऐसा विशेषण सूत्र में दिया है। (यहाँ पर वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान ही सूत्रकार तथा भाष्यकार को प्रत्यक्षरूपप्रमाण अभिमत है ऐसा प्रतीत होता है। तर्थात् **'कल्पनापोढमभ्रान्तम्'** नामजात्यादि योजना रहित एवं भ्रमभिन्न ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, ऐसा बौद्धों ने माना हुआ प्रत्यक्ष का लक्षण ही सूत्र तथा भाष्यकार को समत है। ऐसा सूत्र तथा भाष्य की अक्षरों का तात्पर्य है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने सविकल्पक ज्ञान को भी सूत्र के प्रत्यक्ष लक्षण में अन्तर्भाव करने का यत्न किया है—कि **'अव्यभिचारि'** इस पद से ही जब संशयरूप ज्ञान का निरास हो सकता है अतः सूत्र में **'व्यवसायात्मक'** नाम जात्यादि योजना सहित इस अर्थ वाला यह पद सूत्रकार ने सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्षप्रमाण होता है। अतः **'व्यवसायात्मक'** यह पद साक्षात् सविकल्पक ज्ञान का वाचक है यह सिद्ध होता है। किन्तु भाष्य तथा वार्तिककार ने यहाँ सविकल्पक ज्ञान की कोई चर्चा ही नहीं की है। ऐसा अत्यन्त स्पष्ट शिष्यों के बोध होने से, भाष्य

सोपलभते, एवमिन्द्रियेणाऽनवधारयन्मनसा नावधारयति ! यच्चैतदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसाऽनवधारणं तद्विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयः न पूर्वमिति। सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चान्मनसाऽनुव्यवसायः, उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति ।

आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम्, अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति ? इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्, भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति, मनस्त्व

तथा वार्तिक में व्याख्या नहीं की है। इस कारण अपनी स्वयं की हुई व्याख्या जिसमें सविकल्पक ज्ञान का अन्तर्भाव उपरोक्त प्रकार से कहा गया है वाचस्पति मिश्र गुरू, त्रिलोचन नैयायिक के मार्ग के अनुसार है, ऐसी वाचस्पति मिश्र ने यहाँ समालोचना की है)।

पूर्वोक्त चाक्षुष संशयज्ञान में दोष वारणार्थ जो **'व्यवसायात्मक'** पद दिया है उसमें आपत्ति दिखाते हुए पूर्वपक्षी मत का आक्षेप दिखाकर निवारण करते हुए भाष्यकार आगे ऐसा कहते हैं कि—आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से ही संशयरूप ज्ञान होता है कि बहिरिन्द्रियों से। तब पूर्वोक्त यह धूम है या धूलि ऐसे संशयज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की आपत्ति क्यों होगी। ऐसा पूर्वपक्षी नहीं मान सकता, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से पदार्थ को देखने वाला प्राणी भी पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, जिस प्रकार प्राणी बाह्य इन्द्रियों से जाने हुए पदार्थ को अन्तःकरण से जानता है उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों से निश्चय न करता हुआ मन से भी निश्चय नहीं कर सकता। (इस **'चक्षुषा'** इत्यादि भाष्य से यह उत्तर का आशय सूचित होता है सभी संशयज्ञान बाह्यइन्द्रियों के व्यापारों की अपेक्षा नहीं करते, ऐसा नहीं हैं। (यद्यपि कुछ संशय बाह्येन्द्रियों के व्यापार की अपेक्षा नहीं करते अर्थात् केवल मानसिक व्यापार से उत्पन्न होते हैं तब भी।

आगे भाष्यकार कहते हैं कि—यह जो बाह्येन्द्रियों से पदार्थ के अनिश्चयपूर्वक मन से निश्चय नहीं होता वह विशेष ज्ञान की अपेक्षा करने वाला विरुद्धकोटी वाला ज्ञान संशयरूप होता है वही केवल यहाँ संशय लिया गया है, न कि पूर्व (प्रथम) का केवल मन से होनेवाला संशय। (अर्थात् केवल मन से तथा बाह्येन्द्रिय संनिकर्ष से उत्पन्न होनेवाले दोनों संशय ज्ञानों में से जो बाह्येन्द्रिय से संशय पूर्वक मानस संशय होता है और जो इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप विशेष की अपेक्षा करनेवाला संशय होता है वह केवल विमर्श है, अर्थात् वही केवल संशय है। उसी को पूर्वप्रदर्शित आपत्ति के वारणार्थ यहाँ लेना चाहिये, न कि केवल मन से उत्पन्न संशयज्ञान को। ऐसा होने से अनेक संशयज्ञानों के इन्द्रियजन्य होने के कारण उनके निरास के लिये **'व्यवसायात्मक'** इस विशेषण की यहाँ अपेक्षा थी। अतः पूर्वपक्षी का संशयज्ञान आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से ही होता है यह कहना असंगत है)।

आगे केवल मानसिक संशय के समान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न संशयपूर्वक भी संशय होता है। इस विषय को दृढ करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—संपूर्ण प्रत्यक्षप्रमाण के विषय में ज्ञाता प्राणीको प्रथम बाह्येन्द्रिय से निश्चयरूप ज्ञान होता है इसके पश्चात् अन्तःकरण से निश्चयात्मक उसका अनुव्यवसाय (पश्चात् ज्ञान) होता है। क्योंकि जिनके बाह्येन्द्रिय नष्ट हो गये हैं, उन्हे उनसे हुए ज्ञान का अनुव्यवसाय नहीं होता। (अर्थात् अन्धे तथा बधिर आदिकों को अनुव्यवसायरूप ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इस कारण उसके पूर्व व्यवसाय (ज्ञान) उत्पन्न

भौतिकं सर्वविषयं च, नाऽस्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्यामः (अ० १ आ० १ सू० १६) इति। मनसश्चेन्द्रियभावात्तन्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत्प्रत्येतव्यमिति। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः ॥ ४ ॥

होने में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, ऐसा होने से संशयरूप ज्ञान के उत्पत्ति में भी इन्द्रिय तथा पदार्थ का सन्निकर्ष आवश्यक है)।

(आगे इस सूत्र से इन्द्रियार्थ संन्निकर्षजन्य स्वरूप प्रत्यक्षलक्षण की आत्मा तथा सुख आदिकों के मानस प्रत्यक्ष में अव्याप्ती दोष के परिहारार्थ प्रथम पूर्वपक्षी के मत से आपत्ती देखते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—'आत्मादिकों के ज्ञानों में तथा सुख-दुःखादिकों के ज्ञानों में भी उक्त लक्षण से भिन्न दूसरा प्रत्यक्ष का लक्षण सूत्रकार को कहना चाहिये, क्योंकि वह इन्द्रियार्थ संनिकर्ष से उत्पन्न नहीं होता' (यद्यपि स्वयं सुख इन्द्रियार्थजन्य है तथापि उसमें प्रत्यक्षता नहीं है, क्योंकि सुख के ज्ञान ही से प्रत्यक्षता हो सकती है ऐसा यहाँ पूर्वपक्षी का आशय है)।

(उक्त आपत्ति का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—मन के इन्द्रिय होने पर भी धर्म के भेद के कारण मन को इन्द्रियों से पृथक् कहा गया है (अर्थात् वस्तुतः मनके इन्द्रिय होने पर भी इन्द्रियों से मन को पृथक् कहने में भिन्न धर्मता ही कारण है) क्योंकि चक्षुरादि बाह्यइन्द्रिय (भौतिक) पृथिव्यादि भूतपदार्थों से उत्पन्न होते हैं, तथा उनके रूप, रस, गन्ध आदि पाँच विषय अपने-अपने नियत हैं, एवं गन्धादि गुण युक्त होने से ही उन्हें इन्द्रियत्व है और मन तो अभौतिक (भूतपदार्थों से न उत्पन्न होता) है, तथा रूपरस आदि सपूर्ण विषय मन के होते हैं। तथा मन में गुणयुक्त होने के कारण इन्द्रियता भी नहीं है। (अर्थात् घ्राण आदि बाह्यइन्द्रिय जिस प्रकार अपने-अपने गंधादिगुणों से बाह्य गन्धादि विषयों को बोधित करते हैं वैसा मन नहीं करता यहाँ पर वार्तिककार ने तो मन की सर्वविषयता तथा बाह्येन्द्रियों की नियमितविषयता इसी रूप विरुद्धधर्म दोनों का ग्रहण किया है।

(आगे दूसरा भी मन तथा बाह्येन्द्रियों का वैधर्म्य देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बाह्येन्द्रियों का पदार्थों के संयोगादि संबंध रहने पर भी मन का समीप में रहना तथा न रहना भी युगपत् (एककाल में) अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने का कारण होता है, यह भी मन का बाह्येन्द्रियों से विरुद्ध कार्य है ऐसा (अ० १, अ० १,) के १६वें सूत्र में हम वर्णन करेंगे। पूर्वोक्त पूर्वपक्षी के आपत्ती के निवारण का उपसंहार (फलीभूत अर्थ) कहते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस कारण मन के भी इन्द्रिय होने के कारण मनरूप इन्द्रिय तथा आत्मा, सुख आदि अर्थों के संयोगादि संनिकर्ष से आत्मा एवं सुखादिकों के प्रत्यक्ष में भी लक्षण की संगती हो सकती है, अतः उनके लिये दूसरे लक्षण के कहने की आवश्यकता नहीं है। तथा दूसरे तंत्र (वैशेषिक शास्त्र) में मन को इन्द्रिय कहा है इस कारण भी मन में इन्द्रियत्व जानना चाहिये, क्योंकि जो दूसरे का मत अपने शास्त्र में निषिद्ध नहीं होता वह अपने को अभिमत होता है ऐसी तंत्र (शास्त्र) में युक्ति (न्याय) माना गया है।

(दिङ्नागनामक बौद्ध नैयायिक ने **'प्रमाणसमुच्चय'** नामक ग्रन्थ में इस भाष्यवाक्य पर ऐसा आक्षेप किया है कि यदि निषेध करना ही दूसरे के मत को मानने का सूचक हो तो चक्षुरादि इन्द्रियों में (निषेध न करने) से इन्द्रियता सूचित हो सकती है, तो उनको पृथक् न्यायसूत्रों

व्याख्यातं प्रत्यक्षम्—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥५॥

तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाऽभिसम्बध्यते। लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।

में वर्णन करना अनर्थक (वृथा) हो जायगा)। किन्तु वार्तिककार ने यहाँ ऐसी समालोचना की है कि—यदि वैशेषिक शास्त्ररूप दूसरे तंत्र (शास्त्र) में उक्त होने के कारण इस न्यायशास्त्र में उस मन के इन्द्रिय होने का निषेध न होने से मन की इन्द्रियता कही है (न्यायशास्त्र में भी मानी गई है) ऐसा कहा जाय तो बाकी में बाह्येन्द्रिय चक्षुरादिकों का भी वैशेषिक शास्त्र में पाठ होने से उनको भी न्याय में इन्द्रिय है ऐसा न कहना चाहिये, यदि निषेध न होने से ग्रहण होता हो, ऐसे आक्षेप को दिखाकर वार्तिककार ने इसका स्वयं समाधान ऐसा किया है कि आप शास्त्र की गति को नहीं जानते, क्योंकि जो दूसरे का मत निषिद्ध नहीं होता वह अपने को संगत होता है ऐसी तंत्र (शास्त्र) की युक्ति (न्याय) कहाती है जिस मतके अपने मत स्वीकार नहीं है, अथवा स्वमत तथा परमत का भेद नहीं है उसके लिये ही ऐसा आक्षेप हो सकता है। आप तो दूसरे के मत के अनुरोध (स्वीकृती) के कारण अपने सभी मत का निवारण करते हैं, जिससे अपना तथा पराये का मत है यही नहीं माना जा सकता, इस कारण मन इन्द्रिय है, इनसे सुखादि ज्ञान भी इन्द्रियार्थ संनिकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण व्यापक होने से अव्याप्ति दोष नहीं हो सकता, जिसके लिये दूसरे लक्षण की आवश्यकता हो।) तथा यह लक्षण संपूर्ण सूत्र के कहे पदों से तथा एक-एक पद से भी हो सकता है यह भी वार्तिककार ने यहाँ पर सिद्ध किया है अतः इस विषय में अधिक विशेष वार्तिक में स्वयं पाठकों को देख लेना चाहिये। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की व्याख्या यहाँ समाप्त हुई ॥ ४ ॥

(४) अनुमानलक्षण प्रकरण

क्रम प्राप्त द्वितीय अनुमान प्रमाण का लक्षण तथा विभाग करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

पद पदार्थ—अथ = प्रत्यक्ष प्रमाण के वर्णन के पश्चात् (अनुमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है) तत्पूर्वकं = प्रत्यक्षपूर्वक, त्रिविधं = तीन प्रकार का, अनुमानं = अनुमान नाम का प्रमाण होता है, पूर्ववत् = कारण पूर्वक, शेषवत् = कार्यपूर्वक, तथा समान्यतोदृष्टं च = और उक्त दोनों से भिन्न सामान्य व्याप्ति से देखा गया भी ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो प्रत्यक्ष अर्थात् व्याप्ति का स्मरण तथा व्याप्ति विशिष्ट हेतु के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं। जो पूर्ववत् (कारण से कार्य का अनुमान) १, शेषवत् कार्य से कारण को अनुमान २, तथा इन दोनों से भिन्न सामान्यतोदृष्ट सामान्य रूप हेतु के देखने से होने वाला ३, इस प्रकार तीन प्रकार का अनुमान प्रमाण होता है ॥ ५ ॥

(पंचम सूत्र की व्याख्या करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—सूत्र के **'तत्पूर्वकं'** दस अनुमान के लक्षण के बोधक पद से लिङ्ग (हेतु) तथा लिङ्गी (साध्य) इन दोनों के सम्बन्ध के व्याप्ति रूप सम्बन्ध का दर्शन, तथा लिङ्ग का दर्शन (प्रत्यक्ष) दोनों सम्बद्ध (बोधित) होते हैं। व्याप्ति रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध लिङ्ग तथा लिङ्गी इन दोनों के दर्शन से व्याप्ति विशिष्ट लिङ्ग का स्मरण सम्बद्ध होता है अर्थात् लिया जाता है। इस प्रकार हेतु तथा साध्य के व्याप्ति रूप

पूर्ववदिति—यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति। शेषवत्तत्-यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति। सामान्यतोदृष्टं-व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति, तथा चाऽऽदित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य व्रज्येति।

—अथवा पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनाऽन्यतरस्याऽ-

सम्बन्ध के स्मरण एवं लिङ्ग (साधक हेतु) के प्रत्यक्ष दर्शन से भी अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष न देखाने वाले) साध्यरूप पदार्थ की अनुमान प्रमाण से सिद्धि होती है। (अर्थात् अग्नि तथा धूम को साथ ही महानस (रसोई के घर में भी देखता है यह अग्नि से सम्बद्ध धूम का एक प्रत्यक्ष है। इसके पश्चात् पुनः पर्वत पर धूम को देखता है यह दूसरा प्रत्यक्ष होता है। महानस में प्रथम देखे हुए व्याप्ति रूप सम्बन्ध की सहायता से प्रत्यक्ष धूम से अप्रत्यक्ष अग्नि की **'पर्वत वह्निमान् है, धूम युक्त होने से'** इस प्रकार अनुमान नामक प्रमाण से सिद्धि होती है)॥

(इस प्रकार लक्षण पदकी व्याख्या करने के पश्चात् सूत्र में दिखाए हुए **'पूर्ववत्'** आदि तीन प्रकार के अनुमानों में से प्रथम पूर्ववत् नामक अनुमान की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिस अनुमान में पूर्व (कारण) से कार्य का अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् नामक अनुमान कहते हैं, जैसे आकाश में उठे हुए मेघों को देखकर मेघोन्नति रूप कारण से वृष्टि रूप कार्य होना (अर्थात् कार्य से पूर्व कारण होता है, वह जिस अनुमिति के कारण रूप परामर्शज्ञान (अनुमान का विषय हो उसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहते हैं)।

(क्रम प्राप्त दूसरे शेषवत् नाम के अनुमान प्रमाण की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस अनुमान में कार्य से कारण की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि होती है, उसे 'शेषवत्' अनुमान कहते हैं। जिस प्रकार पूर्व में देखे हुए नदी के स्वाभाविक जल से विपरीत बड़े प्रवाहों के साथ बहते हुए नदी के जल को, जो चारों तरफ से भरा हुआ तथा शीघ्रता से बहता है, देखकर उन प्रवाहों से अनुमान किया जाता है कि इसके पूर्व वृष्टि अवश्य हुई थी।

(आगे क्रम प्राप्त तृतीय सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान का स्वरूप भाष्यकार दिखाते हैं कि—गतिपूर्वक दूसरे स्थल में देखे हुए का दूसरे स्थल में दीखना यह सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान कहाता है, जिस प्रकार (सूर्य की) प्रत्यक्ष न दीखने वाली भी सूर्य की गति है यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सिद्ध होता है। (यहाँ पर सूर्य भगवान्, देशान्तर (दूसरे देश) में प्राप्त होते हैं, नाश तथा वृद्धि के विषय न होने वाले द्रव्य होते हुए, पूर्वदिशा में उपलब्ध होते हुए द्वारदिशा के सम्मुख सम्बन्ध से देखने वाले मनुष्य के पाद (पैर) में चलन न होते हुए भी उलट कर देखने से यह सूर्य भगवान् हैं, ऐसा ज्ञान होने के कारण, मणि आदि के समान ऐसा अनुमान का प्रयोग वार्तिककार ने दिखाया है)।

(इस प्रकार एक व्याख्या तीनों अनुमानों की दिखाने के पश्चात् दूसरे प्रकार से भाष्यकार उनकी व्याख्या ऐसी करते हैं कि)—अथवा जिस अनुमान में प्रथम महानस से जिस प्रकार वह्नि तथा धूम का प्रत्यक्ष हुआ था उन दोनों में से एक धूम के दर्शन से दूसरे एक न दीखने वाले वह्नि की अनुमान से सिद्धि करना अर्थात् धूम होने से पर्वत पर वह्नि है ऐसा अनुमान करना **'पूर्ववत्'** नामक प्रथम अनुमान होता है। दूसरा **'शेषवत्'** पृ० १५ अनुमान वह है जिसमें शेषवत् शब्द का अर्थ है परिशेष (बचना)। और वह परिशेष वह कहाता है। प्रसक्तप्रति-

प्रत्यक्षस्याऽनुमानं, यथा धूमेनाऽग्निरिति। शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राऽप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यकर्मगुणसंशये, न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्, न कर्म, शब्दान्तरहेतुत्वात्,

षेधे (संभावित विषयों में से कुछ विषयों का निषेध होने पर) अन्यत्र (उक्तसंभावित विषयों में से किसी में अप्रसङ्गात् (संभावना न होने के कारण) शिष्यमाणे (उक्त संभावित विषयों में कहे हुए निषेध के पश्चात् जो परिशिष्ट हो (बचजाय) उसमें संप्रत्यय (निश्चय रूप ज्ञान होना)। जैसे **'सदानित्यं'** इत्यादि वैशेषिक सूत्र में द्रव्य, गुण, तथा कर्म पदार्थों में विशेषता न रखते हुए, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक नित्य तीन पदार्थों से विभक्त पृथक् किये हुए शब्द में वह शब्द द्रव्य, गुण अथवा कर्म पदार्थ हैं, ऐसा संदेह होने पर, एक आकाश रूप द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण शब्द द्रव्य नहीं हो सकता, दूसरे शब्द की उत्पत्ति का कारण होने से, कर्म पदार्थ भी, नहीं हो सकता—इस प्रकार द्रव्य तथा कर्मपदार्थ में भी अन्तर्भाव के कारण न होने पर जो शिष्यते (अवशिष्ट) बन जाता है, वह यह शब्द है इस प्रकार शेषवत् नामक अनुमान से शब्द गुण पदार्थ है ऐसा सिद्ध होता है। (अर्थात् उपरोक्त वैशेषिक सूत्र के बल से सामान्यादि तीन नित्य पदार्थों में अन्तर्गत नहीं होने वाला शब्द सत्पदार्थ होता हुआ अनित्य है ऐसा निश्चय होने के कारण शब्द द्रव्य, गुण अथवा कर्म पदार्थों में से कोई एक रूप हो सकता है, अतः यहाँ द्रव्य, गुण तथा कर्म ऐसे तीनों पदार्थ प्रसक्त (संभावित) हैं, उनमें उपरोक्त भाष्य में कहे हुए **'एक द्रव्यत्वात्, शब्दान्तरहेतुत्वात्'** इन दोनों हेतुओं से द्रव्य तथा कर्म रूपता का निषेध हो जाता है इस कारण गुणपदार्थ ही 'शिष्यमाण' बच जाता है, इससे शब्द गुण ही है ऐसा निश्चय होना ही परिशेषानुमान कहलाता है)। (अर्थात् शब्द केवल एक आकाश द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है, परमाणु रूप द्रव्य तो किसी में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते अतः वे अद्रव्य ही हैं, और परमाणुओं से भिन्न द्रव्य अनेक परमाणुओं में समवेत होते हैं, इसकारण एक द्रव्य में समवेत होने से शब्द द्रव्य नहीं हो सकता तथा एक शब्द अपने समान जाति के दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, अर्थात् शब्द दूसरे शब्द का उत्पादक होता है, और कर्म तो अपने से विलक्षण विभागरूप कार्य को उत्पन्न करता है, अतः शब्द कर्म पदार्थ भी नहीं हो सकता अतः परिशेष से वह गुणपदार्थ में ही अन्तर्गत है यह भाष्यकार का यहाँ आशय है। किन्तु इस उदाहरण को वाचस्पति मिश्र नहीं मानते क्योंकि उनका कहना यह है कि व्यतिरेकि हेतु को ही परिशेष कहते हैं, यह तो अन्वयव्यतिरेकी हेतु हैं, क्योंकि द्रव्य तथा कर्म से भिन्न होते हुए।सत्ता अनित्यता इत्यादिकों को सपक्षरूपादिकों में अभेद रहता है, तथा विपक्षसामान्यादिकों में नहीं रहता, ऐसी समालोचना तात्पर्य टीका में उन्होंने की है)॥ क्योंकि इच्छा, ज्ञान आदि गुण होने से द्रव्य में समवेत हैं, इस अनुमान में इच्छादि गुणों के आधार होने के कारण द्रव्यों का प्रसङ्ग है, उनमें से पृथिव्यादि द्रव्यों के निषेध से आत्मा ही 'शिष्यमाण' अवशिष्ट (बचता) है, उसमें जो 'सम्प्रत्यय' अर्थात् इच्छादि गुणों के आधार रूप से ज्ञान होना यह 'परिशेष' अनुमान ही होता है।

क्रमप्राप्त दूसरी व्याख्या में सामान्यतोदृष्ट नामक तीसरा अनुमान वह है, जिस अनुमान में प्रत्यक्ष न होने वाले साध्य तथा हेतु के व्याप्ति रूप सम्बन्ध के रहने के कारण किसी एक अर्थ के साथ लिङ्ग (हेतु) के सामान्य (सादृश्य) से अप्रत्यक्ष साध्य रूप अर्थ का अनुमान से

यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः। *सामान्यतो दृष्टं नाम*— यत्राऽप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति।

विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे *त्रिविध*वचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्याऽन्यस्मिन् वाक्यलाघवेऽनादरः, तथाचाऽयमस्येत्थम्भूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते छले शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्र इति।

बोध होता है। जिस प्रकार इच्छादि गुणों से आत्मा की अनुमान से सिद्धि। क्योंकि इच्छा ज्ञान आदि गुण हैं, और गुण द्रव्यों में स्थित हुआ करते हैं, इस कारण जो इन इच्छादि गुणों का स्थान (आश्रय) है वह आत्मा है। (इस दृष्टान्त में 'द्रव्य संस्थानता-द्रव्य के आधार ही के प्रत्यक्ष न होने वाले इच्छादि गुण तथा प्रत्यक्ष होने वाले रूपादि गुणों का सादृश्य है यह जान लेना चाहिये। वार्तिक में इन **पूर्ववत्** आदि तीनों अनुमानों का स्वरूप दूसरे प्रकार से भी ऐसा दिखाया है कि—**'पूर्ववत्'** इस पद में पूर्वनाम साध्य, वह जिसमें हो अर्थात् साध्य में रहने वाला। एवं **'शेषवत्'** इस पद में शेष शब्द का अर्थ है साध्य (पक्ष) तथा उसमें समान जाति का होना। ऐसा होने से **शेषवत्** पद का अर्थ हुआ, जिसमें साध्य तथा उसके समान जातीय का नित्य संबंध हो। **पूर्ववत्** अनुमान में साध्यमात्र में सत्ता तथा **शेषवत्** अनुमान में साध्य तथा उसके समान जातीय में हेतु की सत्ता होना ही दोनों का भेद है और जो अनुमान जिस किसी सामान्य स्थल में (पक्ष से भिन्न—**'अदृष्ट'** न देखा जाय वह **सामान्यतोऽदृष्ट** नामक तीसरा अनुमान होता है) किन्तु **तात्पर्यटीका** में **'पूर्ववत्'** नामक प्रथम अनुमान **'अबाधित'** बाधारहित, **'असत्प्रातिपक्षित'** विरोधी अनुमान से रहित, एवं साध्य (पक्ष) के समानाधिकरण भी होता है। यह तीनों 'रूप' सम्पूर्ण अनुमानों में साधारण हैं और वह अनुमान—**शेषवत् १, सामान्यतोदृष्ट २, शेषवत्सामान्यतो दृष्ट भेद से** तीन प्रकार का होता है। उनमें से प्रथम **शेषवत्** अनुमान में हेतू साध्यपक्षा तथा उसके समान जाति वाले भी वर्तमान होते हैं। २. दूसरा पक्ष से भिन्न में न दीखने वाला **सामान्यतोदृष्ट** होता है। और तीसरा जिसमें उक्त दोनों लक्षण हों वह **शेषवत्सामान्यतोदृष्ट** अनुमान कहाता है' ऐसी वाचस्पति मिश्र ने यहाँ समालोचना की है)॥

इस प्रकार के अनुमानों का वर्णन करने के पश्चात् सूत्र में दिये **'त्रिविधं'** इस विशेषण की सार्थकता दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि—सूत्र में **पूर्ववत्** इत्यादि तीन प्रकार के अनुमानों के विभाग के कहने से ही यद्यपि अनुमान त्रिविध (तीन प्रकार) का है यह सिद्ध हो जाता है, तथापि महान् (बड़े) तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान महाविषयों से परिपूर्ण इस न्यायशास्त्र के अनुमानादि सम्पूर्ण विषयों का अत्यन्त लघु (छोटे) सूत्र से उपदेश करने से उत्पन्न सूत्रों में लाघव हो जाता है, ऐसा मानने वाले सूत्रकार **त्रिविधं** इस पद के भी सूत्र में न देने से होने वाले दूसरे वचन को लघुता (संक्षेप) में श्रद्धा नहीं रखते हैं यह निश्चित होता है। क्योंकि इस प्रकार के वाक्यों के विकल्पों (वचनों) से इस न्यायशास्त्र के सूत्रों में सिद्धान्त, छल तथा शब्द आदिकों के वर्णन में भी सिद्धान्त 'चतुर्विध' है इत्यादि अनेक स्थलों में देखने में आता है। (**'त्रिविधं'** इस विभाग के वचन से ही **पूर्ववत्** आदिकों के सिद्ध होने के कारण **पूर्ववत्** आदि

सद्विषयं च प्रत्यक्षं सदसद्विषयं चानुमानम्। कस्मात्? त्रैकाल्यग्रहणात्-त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते भविष्यतीत्यनुमीयते भवतीति चाभूदिति च, असच्च खल्वतीतमनागतं चेति ॥ ५ ॥

अथोपमानम्—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। यथा गौरेवं गवय इति। *किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते?* यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा

पद क्यों सूत्र में दिया ऐसा यहाँ आक्षेप का तात्पर्य है ऐसी यहाँ पर वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है, किन्तु पूर्ववत् आदिकों की गणना करने से ही जब स्पष्ट रूप से त्रिविध होना दिखाया गया तो 'त्रिविधं' इस पद की क्या आवश्यकता है ऐसा ही आक्षेप का अर्थ लेना उचित मालूम पड़ता है)॥

लक्षण के भेद के कारण प्रत्यक्ष से अनुमान का भेद वर्णन करने के पश्चात् विषय भेद के कारण होने वाले भेद को दिखाते हुए भाष्यकार आगे ऐसा कहते हैं कि—पूर्वोक्त प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सत् (वर्तमान) विषय में ही प्रवृत्त होता है, और अनुमान प्रमाण तो अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) विषयों में भी प्रवृत्त होता है इस कारण भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों भिन्न प्रमाण हैं। अनुमान प्रमाण भूत, भविष्य विषयों को क्यों ग्रहण करता है। ऐसे जिज्ञासु शिष्यों के प्रश्न का यह उत्तर है कि—त्रिकाल विषयों का उससे ग्रहण होता है, क्योंकि तीनों कालों में वर्तमान विषयों की अनुमान से सिद्धि होती है, कारण यह कि यहाँ भविष्य में न धूम होने से अग्नि होगा, तथा वर्तमान धूम होने से अग्नि वर्तमान है, एवं पूर्व में धूम न था इस कारण वह्नि भी नहीं थी ऐसा भी अनुमान प्रमाण से त्रिकाल विषय के पदार्थों का ग्रहण होता है जो असत् विषय होता है वह भूत तथा भविष्य होता है इस प्रकार अनुमान प्रमाण का वर्णन करने वाले पञ्चम सूत्र का भाष्य समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

(५) उपमान प्रकरण

इस प्रकार अनुमान प्रमाण के वर्णन के पश्चात् क्रम प्राप्त उपमान प्रमाण का निरूपण करते हुए भाष्यकार षष्ठ सूत्र का अवतरण देते हैं कि—अनुमान निरूपण के पश्चात् उपमान प्रमाण कहा जाता है—

पदपदार्थ = प्रसिद्ध साधर्म्यात् ज्ञात (जाने हुए) के साधर्म्य (सादृश्य) से साध्यसाधनं = साध्य (जानने योग्य) के साधन (जनाने) को, उपमानं (उपमान नामक प्रमाण कहते हैं) ॥६॥

भावार्थ = जिस प्रमाण से प्रसिद्ध गौ आदि पदार्थ के सादृश्य से किसी अज्ञात गवयादि पदार्थ के गवयपद तथा गवयरूप पदार्थ के वाच्य वाचक भाव रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण कहते हैं ॥ ६ ॥

उपमान सूत्र की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि—जाने हुए गौ आदि पदार्थ के समान धर्म के होने से जनाने योग्य गवयादि पदार्थ को जनाना उपमान प्रमाण कहाता है। जैसे उदाहरणार्थ वन में रहने वाले लोग कहते हैं कि **'जिस प्रकार की गौ होती है उसी प्रकार का गवय होता है।** (प्रत्यक्षादिकों के समान यहाँ भी ज्ञान तथा उसके करण में प्रमाण शब्द का प्रयोग स्पष्ट है।

प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यत इति ? *समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ* इत्याह। यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति। यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी, यथा माषस्तथा माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते उपमा-

---

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कह चुके हैं और यहाँ पर साध्य (ज्ञान) को करण (साध्यज्ञान) को उपमान प्रमाण दिखाया गया है, किन्तु दिङ्नाग नामक बौद्धाचार्य ने उपमान का प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है ऐसा प्रमाण समुच्चय नामक ग्रन्थ में वर्णन किया है तथा वार्तिककार ने **'प्रसिद्धसाधर्म्यात्'** इस पद में **'प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य तस्मात्'** ऐसा विग्रह दिखाकर बहुव्रीहि समास कहा है, किन्तु भाष्य में उक्त तत्पुरुष समास भी उन्हें अनभिमत नहीं है। और साधर्म्य में प्रसिद्धत्व आवश्यक होने के कारण परिशुद्धिकार उदयनाचार्य के कर्मधारय समास भी अभिप्रेत है यह भी यहाँ जान लेना चाहिये॥

आगे सिद्धान्त के तात्पर्य को न जानकर पूर्वपक्षी के आशय से शंका दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—यहाँ पर "उपमान प्रमाण से क्या किया जाता है अर्थात् उपमान प्रमाण का क्या फल है" क्योंकि—जिस समय गौ के समान धर्म वाले पदार्थ (गवय) को यह जानता है उस समय उस पदार्थ (गवय) को चक्षु इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण (प्रत्यक्ष) प्रमाण से ही ग्रहण होता है (अतः उपमान प्रमाण मानना निरर्थक है)॥

(इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार उत्तर देते हैं कि)—समाख्या (संज्ञा) शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान होना ही उपमान नामक प्रमाण का प्रयोजन है क्योंकि गवय के न जानने वाले नगरनिवासी ने उसे जानने वाले (अरण्यवासी को गवय कैसा होता है, ऐसा प्रश्न करने पर **'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है'** ऐसा शब्द का प्रयोग करने पर (उत्तर देने पर) गौ के समान धर्म वाले पदार्थ (गवय) को चक्षु इन्द्रिय तथा गवय रूप के संयोग सम्बन्ध से प्राप्त करने वाला (देखने वाला) नगरनिवासी इस (पदार्थ) गवय का **'गवय शब्द'** संज्ञा (नाम) है इस प्रकार संज्ञा (शब्द) तथा संज्ञी (पदार्थ) इन दोनों के वाच्य वाचक रूप संकेत सम्बन्ध को जानता है यह उपमान नामक प्रत्यक्षादिकों से भिन्न तीसरे प्रमाण का फल है। इसी प्रकार **'मुद्गपर्णी'** तथा **मासपर्णी'** नामक औषधि से यह रोग अच्छा होगा ऐसा वैद्य के कहने पर रोगी ने यह दोनों औषधि कैसी होती है। ऐसे प्रश्न का **'जैसा मूँग होता है वैसी 'मुद्गपर्णी'**, एवं जैसा **माष (उड़द)** होता है वैसा **माषपर्णी** नामक औषधि होती है इस प्रकार उपमान (सादृश्य) का प्रयोग वैद्य के करने पर उपमान प्रमाण से ही **मुद्गपर्णी** तथा **माषपर्णी** इन दोनों संज्ञा (शब्द) तथा **मुद्गपर्णी** एवं **माषपर्णी** इन दोनों औषधि रूप पदार्थों के वाच्य वाचक रूप सम्बन्ध को जान कर ही इन दोनों औषधियों को भैषज्य (रोग निवृत्ति) के लिए बाजार अथवा अरण्य से ले आता है यह भी लोक में प्रसिद्ध उपमान प्रमाण का उदाहरण यहाँ पर जान लेना चाहिये। इसी प्रकार और भी लोक में प्रसिद्ध उपमान प्रमाण के उदाहरण स्वयं जान लेना चहिये॥

यहाँ पर **वार्तिक** तथा **तात्पर्यटीका** से भाष्यकार के मत में भेद ज्ञात होता है। उपमिति के ज्ञान के विषय में, अथवा ज्ञान के स्वरूप में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों का अनुसंधान करने पर संज्ञा सम्बन्ध ही उपमिति का विषय है। और यह गवय पदार्थ गवय इस पद का अर्थ है यह उस ज्ञान का स्वरूप है। केवल उपमिति के कारण (उपमान) के स्वरूप में विलक्षणता प्रतीत होती है। गौ तथा गवय इन दोनों का सादृश्य ही उपमिति का कारण है इस विषय में भी तीनों

नात्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाऽऽहरति। एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति ॥ ६ ॥

अथ शब्दः—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

का एक मत है, किन्तु गवय के देखने के समय **'गोसदृश गवय होता है'** इस आरण्यक के कहे वाक्य में जो सादृश्य कहा गया है, वही उपमिति का करण है ऐसा भाष्य का मत प्रतीत होता है, क्योंकि वह वाक्य ही उपमान नाम से भाष्यकार ने (कहा है) किन्तु **वार्तिक** एवं **तात्पर्यटीका** पर विचार करने से तो **"गवय के देखने के पश्चात् जो उसमें गौ का सादृश्य दिखाई पड़ता है** वहीं अतिदेशवाक्य के स्मरण से सहायता पाकर उपमिति का कारण है" ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि 'शब्द से उत्पन्न स्मरण की अपेक्षा रखने वाला सादृश्यज्ञान उपमान कहाता है' ऐसा वार्तिक में कहा है और वाचस्पतिमिश्र ने नागरिक मनुष्य अतिदेश वाक्य के स्मरण की सहायता से गवय में वर्तमान प्रत्यक्ष होनेवाले गौ के सादृश्य से गवय पिण्ड (शरीर) का भी गवय शब्द कहता है ऐसा जानता हुआ उस सादृश्य से जानता है ऐसा **तात्पर्यटीका में** कहा है। और **परिशुद्धि में** ज्ञाता (जानने वाला) गौ तथा गवय का सादृश्य ही करण है' ऐसा उदयनाचार्य का मत है। यद्यपि 'जैसा सादृश्य गवय में प्रत्यक्ष से गृहीत होता है वह अतिदेशवाक्य से पूर्व में ज्ञात ही है ऐसा **'यथा गौः'** इत्यादि भाष्य के अक्षरों का अर्थ तात्पर्यटीका में कहा है; तथापि इस वाक्य ही को भाष्य में उपमान प्रमाण कहने के कारण संगति नहीं हो सकती ऐसा प्रतीत होता है। और उपमान में स्मरण किये अतिदेशवाक्य मात्र को यदि मूल माने तो स्मरण के समान ही उपमान में भी प्रमाणता माननी होगी यह भी यहाँ पर विचार करने की आवश्यकता है।) **तात्पर्यकार** ने एकवाक्यता करने का भी इस प्रकार प्रयास किया है कि— **'प्रसिद्धिसाधर्म्यात्'** इत्यादिसूत्र में **श्रुतिमयी** तथा **प्रत्यक्षमयी** ऐसी दो प्रकार की प्रसिद्धि होती है, जिनमें से **"जैसी गौ होती है वैसा गवय यह" श्रुतिमयि,** तथा प्रत्यक्ष रूप प्रसिद्धि वह होती है जैसे गो सादृश्यवाले पिण्ड में यह ऐसा पिण्ड (गवय है। किन्तु आगे पुनः कहा है कि इन दो प्रसिद्धियों में से प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धि अतिदेशवाक्य रूप आगम से उत्पन्न स्मरण की अपेक्षा से समाख्या (संज्ञा) शब्द के ज्ञान का कारण होती है, इससे प्रत्यक्ष से देखा हुआ ही सादृश्य उपमिति का करण होता है यह यहाँ पर ज्ञात होता है।) ॥ ६ ॥

(६) शब्दप्रमाणनिरूपणप्रकरण

(इस प्रकार तीसरे उपमान प्रमाण का निरूपण कर चतुर्थ शब्दनामक प्रमाण के वर्णन करने वाले षष्ठ सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसके पश्चात् शब्द प्रमाण का निरूपण किया जाता है—

पदपदार्थ—आप्तोपदेशः = यथार्थ कहने वाले आप्तपुरुष का उपदेश, शब्दः = प्रमाणशब्द, कहाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—लोक के हित के लिये सत्यवक्ता आप्त (द्वित्व) पुरुष के उपदेश (कहे हुए वचन) को, प्रमाण रूप शब्द कहते हैं। (यहाँ पर **'उपदिश्यते अनेन'** जिससे कहा जाता है ऐसी व्युत्पत्ति के बल से उपदेश शब्द वा वाक्य से उत्पन्न ज्ञान, अथवा उसके अर्थ का ज्ञान कहा जाता है। इसमें प्रथम का फल है वाक्य के अर्थ का ज्ञान, तथा पदार्थ का स्मरण इत्यादि अवान्तर व्यापार है। तथा द्वितीय पक्ष में वाक्यार्थज्ञान का उपादान (ग्रहण करना, दान (त्याग करना)

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्याऽर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्त इति। एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते, नाऽतोऽन्यथेति ॥ ७ ॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

तथा उपेक्षा करने का ज्ञान फल है। दूसरे के प्रयोजन को कहने वाले वचन को सूत्र में उपदेशपद कहता है' इत्यादि **तात्पर्यटीका में वाचस्पतिमिश्र** ने स्पष्ट रूप से समालोचना की है) ॥ ७ ॥

(आगे षष्ठ और सप्तम सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आप्त का लक्षण ऐसा करते हैं कि)-**'साक्षात्कृतधर्मेति'** (साक्षात् किया है अर्थात् सुदृढ प्रमाण से निश्चित किया है विषय को जिन पुरुषों ने, तथा जिस प्रकार से अर्थ विषय को देखा है उसी प्रकार से उसकी प्रसिद्धि करने की इच्छा से प्रेरित होकर दूसरे को यथार्थ उपदेश करने वाले (इसमें **'यथादृष्टस्य'** जिस प्रकार विषय को देखा है, इसे उक्ति से मात्सर्य (डाह) वश विपरीत उपदेश की निवृत्ति, एवं **'चिख्यापयिषया'** प्रसिद्धि करने की इच्छा, इस पद से **दयाहीनता,** तथा **आलस्य** आप्त पुरुष में नहीं होते यह सूचित होता है) ॥

(आगे आप्त पुरुष में आप्ति क्या होती है यह दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अर्थ (विषय) को प्रत्यक्ष करने को, अर्थात् दृढ प्रमाण से निश्चित करने को आप्ति कहते हैं उससे जो व्यवहार करे उसे आप्त कहते हैं। तथा यह शब्द प्रमाण का लक्षण ऋषि (मुनि), आर्य (सनातनी), तथा म्लेच्छों के लिये समान है, क्योंकि प्रमाण शब्द से ऋषि आदि संपूर्ण संसार के प्राणियों के व्यवहार चलते हैं। (जिनमें से जिन्होंने भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे त्रिकाल में वर्तमान संपूर्ण विषयों का दृढ प्रमाण से निश्चय किया हो वे **'ऋषि'** एवं पातकों से दूर रहने वाले **'आर्य',** तथा यवनादि नास्तिक **'म्लेच्छ'** कहे जाते हैं। ये पूर्वोक्त आप्त **सर्वज्ञ** एवं **असर्वज्ञ** ऐसे दो प्रकार के होते हैं, जिनमें से सर्वज्ञों में अप्रामाणिकता के कारण द्वेष आदि दोषों का संभव न होने से उनकी अस्तित्व के बोधक प्रमाणों से ही प्रमाणता सिद्ध होती है। और **असर्वज्ञ** आप्तों के प्रमाण होने में उपदेश के विषय का सत्यज्ञान प्रसिद्ध करने की इच्छा, तथा वचन में ताल्वादि स्थान करण आदि इनका सामर्थ्य ऐसे तीन कारण हैं, बारंबार देखने से मनुष्य में ऐसे प्रमाण होने का निश्चय होता है)।

(पूर्वप्रदर्शित प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली प्राणो की प्रवृत्ति सफल होती है इस आशय से भाष्यकार उपसंहार करते हुए आगे कहते हैं कि)—इस प्रकार इन प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान तथा शब्द नामक चार प्रमाणों से देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च (पशु-पक्षि आदि क्षुद्र प्राणियों) के संपूर्ण सांसारिक व्यवहार के कार्य हुआ करते हैं इनसे विपरीत व्यवहार के कार्य नहीं होते ॥ ७ ॥

(अनेक प्रकार के होने पर भी नियम के लिये दो प्रकार के शब्द का विभाग कहते हुए सूत्रकार कहते हैं)।

पदपदार्थ—सः = वह प्रमाण रूप शब्द, द्विविधः = दो प्रकार का होता है, दृष्टादृष्टार्थत्वात् = इस लोक में प्रत्यक्ष होनेवाले विषय वाला, तथा परलोक में ज्ञात होनेवाले विषयवाला होने के कारण ॥ ८ ॥

यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः। यस्याऽमुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः। एवमृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति। किमर्थं पुनरिदमुच्यते? स न मन्येत दृष्टार्थ एवाऽऽप्तोपदेशः प्रमाणम्, अर्थस्यावधारणादिति, अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणमर्थस्याऽनुमानादिति ॥ ८ ॥

इति प्रमाणभाष्यम् ॥

इति षड्भिः सूत्रैः प्रमाणलक्षणप्रकरणम्।

किं पुनरनेन प्रमाणेनाऽर्थजातं प्रमातव्यमिति? तदुच्यते—

भावार्थ—जिस शब्द से कहे विषय का इस लोक में प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है, वह दृष्टार्थक शब्द होता है तथा जिस शब्द के विषय की अनुमानादि प्रमाणों से सिद्धि होती है वह अदृष्टार्थक ऐसे दो शब्द के भेद हैं, जिसमें ऋषियों तथा सामान्य लोकों के संपूर्ण व्यवहारों के वाक्यों का विभाग आ जाता है ॥ ८ ॥

अष्टम सूत्र की व्याख्या करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—जिस प्रमाण शब्द का अर्थ (विषय) इस लोक में चक्षु इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है वह **दृष्टार्थक** शब्द होता है। तथा जिसके विषय की परलोक में सिद्धि होती है वह **अदृष्टार्थक** शब्द कहाता है। ऐसा दो प्रकार का शब्द होने से ऋषि मुनियों का वेद वाक्यादि एवं लौकिक अर्थ तथा भाव के वाक्यों का विभाग सिद्ध होता है।

यहाँ पर उक्त वाक्य विभाग के प्रयोजन के कहने के लिए भाष्यकार जिज्ञासु के प्रश्न दिखाते हैं कि—यह प्रमाण शब्द का (विभाग) किस लिये सूत्र में कहा गया है।

प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि—लौकिक रागद्वेषादियुक्त प्राणी ऐसा न जाने कि प्रत्यक्ष देखे हुए विषय को प्रतिपादन करने वाला ही आप्त का उपदेश वाक्य विषय निश्चय होने के कारण प्रमाण होता है क्यों कि दृष्ट अनुमानादि प्रमाण से निश्चित किये पारलौकिक स्वर्गादि विषय को प्रतिपादन करने वाले **स्वर्गकामो यजेत** स्वर्ग चाहने वाला प्राणी याग का अनुष्ठान करे इत्यादि आप्तोपदेश भी अनुमान तथा आगम से सिद्ध करने के कारण **अदृष्टार्थक** शब्द भी प्रमाण होता है। अर्थात् आप्त पुरुष से निर्मित्त होने रूप हेतु से जिसमें प्रमाणता गृहीत हुई है ऐसे शब्द प्रमाण के विषय-स्वर्गादिकों के सम्बन्धादिक अनुमान प्रमाण के विषय होते हैं यदि दृष्टार्थक शब्द ही को प्रमाण माना जाय तो वेदशास्त्र आदिकों में वाक्य प्रमाण न होंगे। जिनके आप्त पुरुषों से निर्मित होने रूप हेतु से होने वाली अनुमिति से ही प्रामाण्य गृहीत होता है ऐसे शब्द का ही व्यापार यहाँ अभिमत है इस कारण सामान्य रूप से इतिहास प्रमाण नहीं हो सकते, तथा जिनका प्रामाण्य गृहीत न हो ऐसे (वेदमत से भिन्न) आगम भी प्रमाण नहीं हो सकते। अदृष्टार्थको विषय करने वाले द्वितीय शब्द से स्वर्गादिक अदृष्ट ही होते हैं यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऋषियों को तपोबल से उनका प्रत्यक्ष भी होता है। इस कारण इस **'अदृष्टार्थ'** पद का अनुमान से जिसमें प्रामाण्य सिद्ध हो ऐसे शब्द का विषय ऐसा अर्थ है यह यहाँ पर भाष्यकार का तात्पर्य है किन्तु **वार्तिककार** ने दृष्टार्थक तथा अदृष्टार्थक पद के वक्ता में भी विशेषण रखकर व्याख्या की है इस प्रकार प्रमाण भाष्य यहाँ पर समाप्त है ॥

(७) प्रमेयगणनाप्रकरण

अर्थ में प्रमाण वर्णन के पश्चात् क्रमप्राप्त द्वितीय प्रमेय पदार्थों का निरूपण करने के लिये

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

तत्राऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी। तस्य भोगायतनं *शरीरम्*। भोगसाधनानी*न्द्रियाणि*। भोक्तव्या *इन्द्रियार्थाः*। भोगो *बुद्धिः*। सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं *मनः*। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं *प्रवृत्तिः*, *दोषाश्च*। नाऽस्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गोऽन्त इति *प्रेत्यभावः*। ससाधनसुखदुःखोपभोगः *फलम्*। *दुःखमिति* नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य

अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि इस पूर्वोक्त प्रमाण पदार्थ से किन प्रमेय (जानने योग्य) पदार्थों को जानना है, ऐसे प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार उन प्रमेय पदार्थों को कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव फलदुःखापवर्गास्तु=किन्तु आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग, नामक पदार्थ, प्रमेयम् = प्रमेय (जानने योग्य हैं) ॥ ९ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म आदि अपने अपने भेद सहित अनेक पदार्थ प्रमेय (जानने योग्य) संसार में हैं किन्तु जिन पदार्थों के मिथ्या ज्ञान के कारण आत्मा को संसार बन्धन प्राप्त होता है ऐसे आत्मा, शरीर आदि उपरोक्त सूत्र में कहे हुए द्वादश प्रकार के ही पदार्थों का तत्व ज्ञान होना अपवर्ग के लिये आवश्यक है अतः षोडश पदार्थवादिन्यायमत में उपरोक्त द्वादश पदार्थ ही प्रमेय हैं यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

नवम सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार द्वादश प्रकार के सूत्र में उपरोक्त प्रमेय पदार्थों में अत्यन्त श्रेष्ठ होने के कारण उसका स्वरूप वर्णन करते हैं कि इन द्वादश प्रमेय पदार्थों में (१) आत्मा नामक प्रमेय पदार्थ वह है जो न्याय तथा वैशेषिक मत में सम्पूर्ण सुख तथा दुःख के साधन का द्रष्टा (देखने वाला) तथा सम्पूर्ण सुख तथा दुःख भोगने वाला एवं सम्पूर्ण सुख तथा दुःख के साधन तथा सम्पूर्ण सुख तथा दुःख को जानता है इस कारण सर्वज्ञ है और सम्पूर्ण विषयों का अनुभव (प्राप्ति) करने वाला है, (क्योंकि विना प्राप्ति के सर्वज्ञता नहीं हो सकती) (तथा सुख दुःखादिकों की प्राप्ति करने वाला होने से ही वह परित्याग योग्य) है, किन्तु स्वरूप से वह उपादेय (ग्रहण योग्य ही) है, यही और दूसरे ग्यारह प्रकार के प्रमेय पदार्थों से आत्मा में विशेषता है जिनमें शरीरादि दस सर्वथा हेय ही हैं, किन्तु अन्तिम अपवर्ग रूप प्रमेय पदार्थ सर्वथा उपादेय (ग्रहण योग्य ही है यह यहाँ पर जान लेना चाहिये)।

आगे क्रम प्राप्त शरीर आदि प्रमेय पदार्थों का स्वरूप वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—(२) उस उपरोक्त सर्वश्रेष्ठ आत्मा के भोग के स्थान को शरीर कहते हैं। (३) और उस आत्मा के भोग के साधनों को इन्द्रिय कहते हैं। (४) तथा इन्द्रियों से भोग करने योग्य विषयों को अर्थ कहते हैं। (५) एवं भोग (सुख दुःख के अनुभव को बुद्धि (ज्ञान) कहते हैं। (६) सम्पूर्ण प्रकार के उपरोक्त अर्थ (विषयों) की उपलब्धि (प्राप्ति) में बाह्य चक्षु आदि इन्द्रिय समर्थ नहीं होते इस कारण सर्व विषयों को ग्रहण करने वाला आन्तरिक (भीतरी) करण (साधन) मन नामक षष्ठ प्रमेय पदार्थ है। (७) शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि तथा वेदना (हर्ष, शोक, भय आदि को सम्पादन करने वाली प्रवृत्ति सातवां प्रमेय पदार्थ है, एवं (८) राग, द्वेष, तथा

प्रतीतेः प्रत्याख्यानम् । किं तर्हि ? जन्मन एवेदं ससुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गात् दुःखेनाऽविप्रयोगाद्विविधबाधनायोगाद् दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते । समाहितो भावयति, भावयन्निर्विद्यते, निर्विण्णस्य वैराग्यं, विरक्तस्याऽपवर्ग इति । जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति । अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चाऽपरिसङ्ख्येयम् । अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात्संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति ॥ ६ ॥

तत्राऽऽत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते । स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यत इति ? नेत्युच्यते । अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति । कथम् ?

मोह नामक दोष पदार्थ भी ऐसा ही है । (९) तथा इस आत्मा का शरीर अपूर्व (जिसका पूर्व शरीर न हो । ऐसा, तथा अनुत्तर (जिसका उत्तर शरीर न हो । ऐसा भी नहीं है, अर्थात् पूर्व पूर्व शरीरों का आदि नहीं है और उत्तर शरीरों का अपवर्ग अन्त हैं, यह प्रेत्यभावनामक नवम प्रमेय पदार्थ है (अर्थात् अपूर्वता तथा अनुत्तरता दोनों का यहाँ निरास किया जाता है कि विद्यमान शरीर से पूर्व तथा पश्चात् काल में भी आत्मा को दूसरे शरीर अपवर्ग (मोक्ष) होने तक अवश्य होते हैं ऐसा यहां भाष्यकार का आशय है) ॥ (१०) दशम फल नामक प्रमेय पदार्थ वह है जो साधनों सहित सुख तथा दुःख का उपभोग (अनुभव) होता है । (११) यहाँ पर दुःख नामक प्रमेय पदार्थ प्राणिमात्र को अनुकूल लगने वाले सुख की प्रतीति का निषेध मात्र नहीं है । प्रश्न—तो क्या है : उत्तर—जन्म से लेकर ही सुख के साधनों के सहित इस सांसारिक सुख में दुःख का सम्बन्ध होने के कारण, अर्थात् दुःख से विप्रयोग (छुटकारा । न होने के कारण, नाना प्रकार की यातनाओं के सम्बन्ध होने से यह सुख जन्म से लेकर प्रारंभ से ही स्वभावतः दुःख ही है ऐसी समाधि (एकाग्रता) में मुमुक्षु को भावना करने के लिये यह द्वादश प्रमेयों में ग्यारहवां प्रमेय पदार्थ दुःख पृथक् सूत्रकार ने कहा है । क्योंकि समाहित (एकाग्रचित्त पुरुष) संपूर्ण सांसारिक सुख दुःख से सम्बद्ध है ऐसी भावना करते हुए विषयों से खिन्न होता है, और खिन्न होने से उस मुमुक्षु के हृदय में वैराग्य होता है, और विरक्त होने के कारण उसे अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त होता है । (१२) जिसमें बारंबार जन्म लेना मरना ऐसे जन्म-मरण-प्रवाह के उच्छेद ही को अपवर्ग नामक बारहवां प्रमेय पदार्थ कहते हैं । वैशेषिकनामक समान तंत्र (शास्त्र) में पृथिव्यादि द्रव्य, रूपादिगुण, उत्क्षेपणादि कर्म, सामान्य (जाति), विशेष, तथा समवाय नाम के और भी प्रमेय पदार्थ वर्णन किये हैं । जिनकी अपने-अपने भेदों के साथ गणना नहीं हो सकती किन्तु न्यायमत में आत्मादि उपरोक्त द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों के तत्त्वज्ञान (वास्तविकज्ञान) से अपवर्ग (मोक्ष) तथा इन्हीं के मिथ्याज्ञान (विपरीतज्ञान) से संसार बंधन आत्मा को प्राप्त होता है इस कारण इन द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों का विशेष रूप से गौतममहर्षि ने न्यायसूत्र में उपदेश किया है ॥ ९ ॥

(८) आत्मनिरूपण प्रकरण

इस प्रकार प्रमेय पदार्थों के उद्देश रूप नाम ग्रहण के पश्चात् प्रथम प्रमेय पदार्थ आत्मा का स्वरूप वर्णन करने के लिये भाष्यकार दशमसूत्र का अवतरण देते हुए जिज्ञासु शिष्यों के प्रश्न को दिखाते हैं कि—उन द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों में से आत्मा का प्रत्यक्षसंग्रहण नहीं होता, तो क्या केवल गौतममहर्षि रूप आप्त के उपदेश (कथन) मात्र ही से शरीरादिकों से भिन्न

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ १० ॥

यज्जातीयस्याऽर्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान्, तज्जातीयमेवाऽर्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति, सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्भवन्ती लिङ्गमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति, देहान्तरवदिति। एवमेकस्याऽनेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ

आत्मा है ऐसा जाना जाता है। (इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि)—केवल गौतम के उपदेश से ही आत्मा है यह नहीं कहते, किन्तु अग्रिमसूत्र में वर्णन किये आत्मा के साधक हेतुओं से आत्मा की अनुमान प्रमाण से भी सिद्धि होती है।

पदपदार्थ = इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानादि = इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान ये षट्विशेषगुण आत्मनः = आत्मा के, लिङ्गं = साधक हेतु हैं, इति = इस कारण ॥ १० ॥

भावार्थ = यदि जब आत्मा का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता तो क्या गौतममहर्षि के कहने से ही उसे मान लिया जाय! ऐसी जिज्ञासु शिष्यों की आकांक्षा के निवृत्यर्थ सूत्रकार ने दशमसूत्र में आत्मा के साधक सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि षट्विशेष गुणों से अनुमान प्रमाण द्वारा भी शरीरादिकों से भिन्न नित्य आत्मा है यह सिद्ध किया है ॥ १० ॥

यहाँ पर आत्मा का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता इस भाष्य का 'अहं' में ऐसा लोकप्रसिद्ध ज्ञान, गौर, श्याम आदि वर्ण वाले शरीर को विषय करने के कारण घटादिकों के समान इच्छादिगुण वाले शरीर से भिन्न आत्मा को नहीं कह सकता ऐसी **तात्पर्यकार ने** व्याख्या की है। और **परिशुद्धये** यद्यपि यह अहं मैं ऐसा ज्ञान पदार्थ को विषय करता है, तथापि शरीरज्ञान के समानाधिकरण होने के कारण शरीर रूप पदार्थ को ही यह विषय करेगा, अतः शरीर से भिन्न आत्मारूप पदार्थ में यह तब तक प्रमाण नहीं हो सकता जब तक दूसरे किसी प्रमाण से शरीरादिकों से भिन्न आत्मा की सिद्धि न हो इस प्रकार **उदयनाचार्य ने** समालोचना की है। तथा **'यह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है'** इत्यादि व्याख्या आत्मा को प्रत्यक्ष न मानने वालों के मत से है। आत्मा को प्रत्यक्ष मानने वालों के मत में तो भाष्य में निषेध करने वाला वाक्य दूसरे के शरीर के आत्मा के आशय से है ऐसी भी **तात्पर्यटीका में वाचस्पतिमिश्र ने** आलोचना की है)॥ (यहाँ पर भाष्य के **'अनुमानात् च'** इस चकार से यह सूचित होता है कि आप्त के उपदेश से शरीर के मध्य में वर्तमान आत्मा का ज्ञान होने पर उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से दृढ किया जाता है। यह दृढ करना सामान्य रूप से जाने हुए आत्मा के हरेक शरीर में आत्मा की अस्मिता (सत्ता) को दिखाना है ऐसी **परिशुद्धिकार ने** व्याख्या की है) ॥

(दशमसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिस जाति के पदार्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से सुख को आत्मा ने प्राप्त किया था उसी जाति के पदार्थ को देखता हुआ प्राणी उस पदार्थ को लेने की इच्छा करता है, वह यह उस पदार्थ को लेने की इच्छा, एक तथा अनेक पदार्थों के देखने वाले के दर्शन (देखना) तथा प्रतिसंधान (अनुसंधान) से होती हुई आत्मा का लिङ्ग (साधन हेतु) होती है। अर्थात् किसी पदार्थ को बारंबार यह सुख का जनक है ऐसा अनुभव कर, वैसा पदार्थ सुख को उत्पन्न करता है 'जहाँ जिस समय यह रहता है वहाँ उस समय सुख रहता है' ऐसे व्याप्ति का मनुष्य को निश्चय होता है, कुछ समय के पश्चात् पुनः उस पदार्थ को देखकर 'यह पदार्थ प्रथम अनुभव किये हुए सुख का कारण है' ऐसा प्राणी

द्वेषः। यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुं प्रयतते सोऽयं प्रयत्नः एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति, देहान्तरवदिति। एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः। सुखदुःखस्मृत्या चाऽयं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते। पूर्वोक्त एव हेतुः। बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति किं स्विदिति, विमृशँश्च जानीते इदमिति, तदिदं ज्ञानं बुभुत्सा-विमर्शाभ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गम्। पूर्वोक्त एव हेतुरिति। तत्र *देहान्तरवदिति* विभज्यते। यथाऽनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन्, अवि-

को स्मरण होने के पश्चात् यह पदार्थ सुख देगा ऐसा निश्चय कर उस पदार्थ को वह लेना चाहता है। इस इच्छा से पूर्व में हुये दोनों ज्ञानों का अथवा उनसे उत्पन्न निश्चय का प्रतिसंधान करने वाला कोई शरीरादिकों से भिन्न एक नित्य पदार्थ है यह सूचित होता है, यह एक नित्य आत्मा है। इसी कारण 'जो यह एक अनुभव तथा स्मरण करने वाला अनुमान करने वाला एवं इच्छा करने वाला है वही आत्मा है' ऐसा **तात्पर्यटीका में** भी कहा है)।

(यदि क्षणिक विज्ञान रूप आत्मा मानने वाला बौद्ध कहे कि 'नित्य तथा ज्ञान का अधिकरण एक आत्मा न मानने पर भी बुद्धियों का भेद (क्षणिक) मानकर उनके सन्तानों (प्रवाहों) का भेद न होने से ही पूर्व प्रदर्शित अनुसंधान, स्मरण आदि की व्यवस्था हो सकेगी' तो इस मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अपने-अपने विषयों में नियत बुद्धियों का भेद मात्र मानने से स्मरण अनुसंधान आदि की व्यवस्था दूसरे शरीर के समान नहीं बन सकती ऐसा बौद्ध को हमारा उत्तर है। (यहाँ पर भाष्य के **मात्र** पद से सन्तान (समुदाय) सन्तानी (समुदाय वाले) से भिन्न नहीं होगा यह सूचित होता है। यदि सन्तान से भिन्न सन्तान वाला है यह स्वीकार किया जाय, तो वही बुद्धि संतान वाला सन्तानी हम नैयायिकों का अतिरिक्त आत्मा होने से हमारा ही मत सिद्ध हो जायगा इत्यादि **तात्पर्यटीकाकार ने** यहाँ स्पष्ट अर्थ किया है)। (**'देहान्तरवत्'** इस पद की तो भाष्यकार ने ही आगे व्याख्या की है)।

(इस प्रकार इच्छा नामक गुण से आत्मा की सिद्धि करने के पश्चात् द्वेष गुण से भी आत्मा की सिद्धि करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इच्छा के समान एक तथा अनेक विषयों के देखने वाले के दर्शन (देखने) के प्रति संधान (स्मरण) से सिद्ध होने वाला दुःख के कारण (शत्रु कण्टकादि) पदार्थों में जो द्वेष होता है, वह भी नित्य तथा दर्शन एवं प्रतिसंधान करने वाले भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है। इसी प्रकार जिस माला चन्दन आदि जो पदार्थ संसार में सुख के कारण प्रसिद्ध हैं, उसी जाति के दूसरे माला आदि पदार्थों को देखता हुआ प्राणी उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिये प्रयत्न करता है, वह यह प्रयत्न नामक विशेषगुण भी एक तथा अनेक अर्थों को देखने वाले, एवं देखे हुए का दर्शन स्मरण करने वाले के विना नहीं हो सकेगा। यह भी प्रयत्न केवल बौद्धमत के अनुसार बुद्धियों (क्षणिक विज्ञानों) के सन्तानों में पूर्वप्रदर्शित रीति से दूसरे शरीर के समान नहीं हो सकता इस सुखदायक पदार्थ के ग्रहण में प्रयत्न से कथन से दुःख के कारण कण्टकादि पदार्थों के त्याग करने का प्रयत्न भी व्याख्यात किया गया है। प्रयत्न के समान यह प्राणी पूर्व में भय, सुख तथा दुःख के स्मरण से सुख तथा दुःख के साधन को

शेषात्। सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयं दृष्टस्य स्मरणं, नाऽन्यदृष्टस्य, नाऽदृष्टस्येति। एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति। तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमित्येवमुपपन्नमस्त्यात्मेति ॥

ग्रहण करता हुआ, सुख तथा दुःख को प्राप्त करता है, अर्थात् सुख तथा दुःख का अनुभव करता है, जिसे पूर्व में कहा हुआ है हेतु है (अर्थात् माला आदि सुख के कारणों को प्राप्त कर प्राणी सुखी होता है, तथा दुःख के कारण कण्टकादिकों को प्राप्त कर दुःखी होता है, दुःख उन-उन सुखादि साधनों से प्राप्त सुख तथा दुःख का अनुभव करने वाले, तथा उक्त साधनों को प्राप्त करने वाले का भी अभेद मानने से ही हो सकता है, अतः अतिरिक्त नित्य आत्मा है यह सिद्ध होता है)। इसी प्रकार जानने की इच्छा करने वाला यह प्राणी प्रथम यह क्या है ऐसा संदेह करता हुआ 'यह माला है' इत्यादि जानता है। वह यह ज्ञान उपरोक्त इच्छा तथा संशय रूप दो गुणों के एक कर्ता वाला गृहीत होता हुआ आत्मा को लिङ्ग (साधक हेतु) होता है, इसमें भी पूर्व में कथित दोनों का एक ही कर्ता है यह हेतु जानना चाहिये) (आगे बौद्धमत के खण्डन में कहे हुए **'देहान्तरवत्'** दूसरे शरीर के समान इस दृष्टान्त की स्वयं भाष्यकार व्याख्या करते हुए आगे कहते हैं कि)—उसमें **'देहान्तरवत्'** इस पद का विवेचन ऐसा किया जाता है कि जिस प्रकार अतिरिक्त आत्मा को न मानने वाले बौद्धों के मत में दूसरे शरीरों में नियमित विषय वाले भिन्न-भिन्न ज्ञानों का स्मरण प्रतिसंधान आदि नहीं हो सकते उसी प्रकार एक शरीर में भी वर्तमान क्षणिक ज्ञानों का स्मरणादि प्रतिसंधान आदि नहीं हो सकेंगे, क्योंकि दोनों (एक शरीर तथा भिन्न शरीर) के क्षणिक ज्ञानों में कोई विशेषता नहीं है। किन्तु एक ही सम्पूर्ण शरीरों में आत्मा माननेवाले वेदान्त दर्शन मत मानने वालों का यह समाचार (व्यवहार सिद्धान्त) है कि स्वयं देखे हुए पदार्थ का ही स्मरण होता है, न दूसरे में देखे हुए का, न न देखे हुए का स्मरण होता है। इसी प्रकार अनेक आत्मा मानने वाले सांख्य, न्याय, तथा वैशेषिकों का भी यही सिद्धान्त व्यवहार है कि दूसरे प्राणी के देखे हुए का दूसरे के स्मरण नहीं होता वह यह दोनों प्रकार का सिद्धान्त व्यवहार की क्षणिक विज्ञान से भिन्न नित्य आत्मा न मानने वाले बौद्धों के मत में व्यवस्था नहीं बन सकती इससे यह सिद्ध होता है कि क्षणिक विज्ञानों से भिन्न ज्ञानाश्रय एक नित्य आत्मा है इस प्रकार दशमसूत्र का भाष्य समाप्त हुआ।

(इस दशमसूत्र का अन्वय व्याप्ति से अर्थ दिखाते हुए **वार्तिककारने**—'रूपरसादिज्ञान एक तथा अनेक निमित्त वाले हैं, स्मरण के साथ मैंने ऐसा जाना था इस प्रतिसंधान होने के कारण, परस्पर में संकेत करने वाले प्राणियों के एक नर्त्तकी (नचनी स्त्री) के भ्रूलता (भौं) रूपलता) के चलने में एक काल में अनेक ज्ञानों के समान, ऐसे अनुमान से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि किया है, अर्थात् जिस प्रकार नाना कर्त्ता वाले आपस में संकेत रखने वाले प्राणियों के नाना प्रकार के ज्ञान भ्रूक्षेप रूप एक निमित्त से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी नाना विषय वाले ज्ञानों का एक किसी निमित्त से प्रतिसंधान हो सकेगा, वही निमित्त है आत्मा अथवा इच्छादि गुण हैं, जो द्रव्य के अधीन हैं यह अनुमान है। यावद्द्रव्यभावी न होने से यह इच्छा आदि गुण शरीर के गुण नहीं हो सकते, ऐसा निषेध होने के कारण वे इच्छादि आत्मा के गुण हैं, इस प्रकार परिशेषानुमान से अतिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है ऐसी भी इस सूत्र की **वार्तिककार** ने व्याख्या की है)॥ १०॥

तस्य भोगाधिष्ठानम्—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

कथं *चेष्टाश्रयः ?* ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्त्तते तच्छरीरम्। कथ*मिन्द्रियाश्रयः ?* यस्याऽनुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्तन्ते स एषामाश्रयः तच्छरीरम्। *कथमर्थाश्रयः ?* यस्मिन्नायतने

---

(९) शरीरनिरूपण प्रकरण

एकादशवें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार शरीर के लक्षण की भूमिका बाँधते हैं कि— उस पूर्व प्रदर्शित शरीरादिकों से भिन्न नित्य आत्मा के भोग (सुख एवं दुःख के अनुभव) को अधिष्ठान (आधार) को शरीर कहते हैं। (इससे सम्पूर्ण सांसारिक दुःख समुदाय का मुख्य कारण शरीर ही होने से इन्द्रियादिकों के पूर्व उसी का लक्षण किया गया है यह सूचित होता है) उक्त शरीर का लक्षण सूत्रकार ने इस प्रकार किया है कि—

पदपदार्थ = चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः = हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार रूप चेष्टा, इन्द्रिय एवं अर्थ (विषयों) के आधार को शरीर कहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—आत्मा को संसार में होने वाले सम्पूर्ण सुख तथा दुःख के अनुभव होने का आश्रय शरीर ही है, जिसका हित की प्राप्ति तथा अहित निवृत्ति रूप चेष्टा, एवं इन्द्रियों का तथा अर्थ विषयों का आधार होना लक्षण है (अर्थात् चेष्टा का, इन्द्रियों का, तथा विषयों का आश्रय होना ये तीनों प्रत्येक लक्षण आत्मा इन्द्रिय आदि समान जाति के प्रमेय पदार्थ, एवं प्रमाण संशय आदि विजातीय पदार्थों में न रहने से शरीर रूप प्रमेय पदार्थ का सबसे भेद सिद्ध करता है। यह सूक्त उक्त तीन लक्षणों को कहता है ऐसा भाष्य तथा वार्तिक के देखने से स्पष्ट बोध होता है, तथा वार्तिककार ने एक ही लक्षण है ऐसा मानने वाले कुछ नैयायिकों के मत का खण्डन भी किया है। (प्रश्न पूर्वक उन तीनों लक्षणों की शरीर रूप लक्ष्य में संगति दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि) ॥ ११ ॥

प्रश्न—शरीर चेष्टा का आश्रय कैसे है ? उत्तर—प्राप्त करने की इच्छा अथवा त्याग करने की इच्छा के विषय पदार्थ को उद्देश कर प्राप्ति की अथवा त्याग की इच्छा से प्रेरणा, किये हुए प्राणी की प्राप्ति तथा त्याग के उपायों के आचरण रूप समीहा को चेष्टा कहते हैं, वह जिसमें होती है वह शरीर कहाता है ('हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए होने वाली क्रिया को चेष्टा कहते हैं' ऐसी यहाँ **वार्तिककार** की व्याख्या है। किन्तु प्रयत्न से प्रेरित आत्मा के व्यापार को चेष्टा कहते हैं ऐसा **परिशुद्धिकार** का मत है)।

इस प्रकार प्रथम लक्षण की संगति दिखाकर प्रश्नपूर्वक द्वितीय लक्षण की संगति भाष्यकार ऐसी देखाते हैं कि—प्रश्न—इन्द्रियों का शरीर आश्रय कैसे है ? उत्तर—जिसके अनुग्रह (उत्तमता) से अनुग्रह को प्राप्त, तथा जिसके उपघात (विनाश) से उपहत (विनष्ट हुये) इन्द्रिय अपने अपने अच्छे तथा बुरे विषयों में प्रवृत्त होता है, जो इन इन्द्रियों का आश्रय है वही शरीर है।

(द्वितीय लक्षण के समान तृतीय लक्षण की भी संगति दिखाते हुए प्रश्नपूर्वक भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रश्न—अर्थों का आश्रय कैसे है? उत्तर—जिस स्थान में इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न भय और सुख, तथा दुःख का प्रतिसंवेदन (अनुभव) हुआ करता है,

इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते स एषामाश्रयः तच्छरीरमिति ॥ ११ ॥

भोगसाधनानि पुनः—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

जिघ्रत्यनेन घ्राणं गन्धं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति। चष्टेऽनेनेति चक्षू रूपं पश्यतीति। त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक्। तदुपचारः

इनका आश्रय है, वही शरीर है। ऐसे तीनों लक्षण संगत होते हैं॥ (यहाँ पर 'सुखदुःखयोः' इस पद के पश्चात् ही संवेदन पद का अन्वय करना चाहिये क्योंकि **'आश्रयः'** इसके पश्चात् सम्बन्ध नहीं हो सकता)॥ ११॥

(१०) इन्द्रियनिरूपण प्रकरण

इस प्रकार द्वितीय शरीर रूप प्रमेय पदार्थ का वर्णन कर तृतीय इन्द्रिय रूप प्रमेय पदार्थ का निरूपण करने के लिए भाष्यकार द्वादश सूत्र का अवतरण ऐसा दिखाते हैं कि—उस आत्मा के भोग (सुख तथा दुःख के अनुभव) के जो साधन हैं वे पुनः—

पदपदार्थ—घ्राण रसने चक्षु स्त्वक् श्रोत्राणि = घ्राण, रसन (जिह्वा), चक्षु (आँख) त्वक् (त्वचा), तथा श्रोत्र (कर्ण) नाम के पाँच, इन्द्रियाणि = ज्ञानेन्द्रिय कहाते हैं, भूतेभ्यः = जो पृथिवी आदि पाँच महाभूतों से उत्पन्न हैं॥ १२॥

भावार्थ—उसी पूर्वोक्त जीवात्मा के सांसारिक सुख तथा दुःख के अनुभव करने के साधन घ्राण, रसन (जिह्वा), चक्षु, त्वक् (चमड़ा). श्रोत्र नाम के पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहाते हैं जो, क्रम से पृथिवी, जल, तेज वायु तथा आकाश नामक पाँच महाभूत द्रव्यों से उत्पन्न हैं॥ (यहाँ पर साक्षात् शरीर के आश्रय से नियत (अपने-अपने) विषयों की प्राप्ति के द्वारा दुःख के कारण होने के कारण आगे कहे जाने वाले इन्द्रियों के रूप आदि अर्थ रूप प्रमेयों की अपेक्षा से विशेष होने के कारण इन्द्रियों का अर्थ आदि प्रमेयों के प्रथम वर्णन सूत्रकार ने रक्खा है यह जान लेना चाहिये। विना सामान्य लक्षण के विशेष लक्षण नहीं हो सकता इसलिए भाष्यकार ने वैराग्य में उपयोगी **'योगसाधनानि'** योग के साधन ऐसा सामान्य लक्षण सूत्र की भूमिका में ही दिखाया है। इससे जो शरीर में संयुक्त होता हुआ संस्कार तथा दोषों से भिन्न साक्षात् वैषयिक ज्ञान के साधन होते हैं उन्हें इन्द्रिय कहते हैं ऐसा इन्द्रियों का सामान्य लक्षण है. यह सूचित होता है। इसमें **'योग-साधन'** यह कहना ही वैराग्य में उपयोगी है, नहीं तो साक्षात् ज्ञान के साधन इतना ही लक्षण इन्द्रियों का हो सकता था। घ्राण आदि इन्द्रिय परम्परा से भोग के साधन होते हैं, और मन साक्षात् क्योंकि सुख, तथा दुःख का प्रत्यक्ष होना ही भोग कहाता है यह जान लेना चाहिये॥१२॥

आगे भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हुए घ्राणादि इन्द्रियों का व्युत्पत्तिपूर्वक लक्षण दिखाते हैं कि)—जिससे सूंघा जाता है वह **घ्राण** कहाता है, क्योंकि इस इन्द्रिय से आत्मा गन्ध गुण को ग्रहण करता है। जिससे चखता है वह जिह्वा स्थान में वर्तमान **रसन इन्द्रिय** कहाता है, क्योंकि रसं से मधुर आदि ६ प्रकार के रस का आत्मा को अनुभव होता है। (२) जिससे देखता है उसे **चक्षु इन्द्रिय** कहते हैं क्योंकि इससे आँख की पुतलियों में वर्तमान चक्षु नामक इन्द्रिय रक्त, श्वेत आदि सात प्रकार के रूपों को देखता है। (३) जिससे स्पर्श करता है उसे **त्वचा** (शरीर में व्याप्त चमड़ा) स्थान में व्याप्त होने के कारण स्पर्शन नामक इन्द्रिय **'त्वक्'** इन्द्रिय कहाता है।

स्थानादिति। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति। एव समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति। भूतेभ्य इति। नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमः, नैकप्रकृतीनाम्। सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति ॥ १२ ॥

कानि पुनरिन्द्रियकारणानि ?

---

(४) यह स्थान को लेकर गौण त्वक् नामक इन्द्रिय का लोक में व्यवहार होता है (अर्थात् घ्राण आदि इन्द्रियों के नाम उनसे होने वाले विषयों की प्रतीति होने के कारण विषयों के अनुसार हैं और त्वक् इन्द्रिय का ऐसा नहीं हैं क्योंकि उससे स्पर्श की उपलब्धि होती है, इस कारण इसका लक्षण से ही नाम वा व्यवहार होता है, जिसस स्पर्शनइन्द्रिय का त्वचा यही स्थान होना यह लक्षण का बीज है यह जान लेना चाहिये) ॥

(आगे पंचम श्रोत्रनामक इन्द्रिय का लक्षण दिखाते हुए भाष्याकार कहते हैं कि)—जिससे सुना जाता है उसे श्रोत्रइन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा आत्मा शब्द का ग्रहण करता है (५) इस प्रकार इन समाख्याओं (घ्राण आदि संज्ञाओं) के निर्वचन (व्युत्पत्ति) के सामर्थ्य से अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना सामान्य इन्द्रियों का लक्षण है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ सूत्र में 'भूतेभ्यः') पाँच पृथिव्यादि महाभूत पदार्थों से, इस पद से यहाँ सिद्ध होता है कि पृथिवी आदि नाना (भिन्न-भिन्न) प्रकृति (कारण) वाले होने से ही इनमें अपने-अपने गंध आदि विषयों के ग्रहण करने का नियम हो सकता है, एक कारण वाले होने से न होगा और अपने-अपने विषयों का नियम होने से, ही अपने-अपने विषय को ग्रहण करना ऐसा उक्त संपूर्ण इन्द्रियों का सामान्य लक्षण है यह सिद्ध होता है, ऐसी द्वादशसूत्र की व्याख्या है। अर्थात् पृथिवी आदिकों के जो गन्ध आदि भिन्न-भिन्न विशेषगुण हैं वह उन-उन घ्राणादिइन्द्रियों से ही गृहीत होते हैं, यह नियम पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न कारण मानने से ही हो सकेगा, एक प्रकृति (कारण) वाले मानने से न हो सकेगा, जिससे गन्ध का ज्ञान, करण से होता है, क्रिया होने से छेदन क्रिया के समान (१), और वह उससे भिन्न क्रिया के कारण से भिन्न कारण से होती है, क्योंकि उसका अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसरण न रखकर कार्य है इस लिये, जो क्रिया जिस कारण के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसरण न रखते हुए कार्य होती है वह सम्पूर्ण उस क्रिया करण से भिन्न करण से होती है, जैसे पटादिकों की क्रिया घटादि क्रियाकरण से भिन्न दण्डादिकों से भिन्न करण से होती है, यह भी वैसी है, अतः वैसी है। (३) और वह करण है चक्षु आदि से भिन्न घ्राण रूप द्रव्य, क्योंकि संयोग का आधार है। (४) और वह घ्राण द्रव्य पार्थिव है, द्रव्य होकर रूपादि गुणों में से गन्ध गुण का ही प्रकाशक होने से, दूसरे पार्थिव द्रव्यों के समान, इत्यादि अनुमान प्रयोग यहाँ जान लेने चाहिये ऐसा 'उद्योतकार ने उद्योत में स्पष्ट वर्णन किया है) ॥ १२ ॥

(आगे प्रसङ्ग से इन्द्रियों के कारण पाँच महाभूत पृथिव्यादि द्रव्यों का वर्णन करने वाले त्रयोदशसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार प्रश्नपूर्वक सूत्र में पृथिव्यादिकों का वर्णन करते हैं कि)—

इन्द्रियों के कारणभूत पदार्थ कौन से हैं ?

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

सञ्ज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो विभक्तानां भूतानां सुवचंकार्यं भविष्यतीति ॥१३॥
इमे तु खलु—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति ॥

पदपदार्थ—पृथिवी (पृथिवी), आपः=जल, तेजः=तेज, वायुः=वायु, आकाशं=तथा आकाश, इति=ऐसे पाँच, भूतानि=भूतनामक द्रव्य कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ=पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश नामक न्याय तथा वैशेषिक मत में पाँच महाभूत नाम का द्रव्य पदार्थ हैं जो क्रम से पूर्वोक्त घ्राण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कारण हैं। (कुछ विद्वान् लोगों का मत है कि यह तेरहवाँ सूत्र है, किन्तु वाचस्पतिमिश्रकृत न्याय-सूची निबन्ध में यह सूत्र कहा है, तथा भाष्य में भी इसका उपदेश रूप से कथन है अतः यह भी सूत्र ही है)॥ १३ ॥

त्रयोदशवें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार (पृथिवी आदि पाँचभूतद्रव्यों के पृथक्-पृथक् कहने की आवश्यकता दिखाते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि ,—पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच भूतद्रव्यों का भूतशब्दों से उपदेश सूत्रकार ने सूत्र में इस लिये किया है कि पृथक्-पृथक् विभाग किये पाँचों भूतद्रव्यों का कार्य सुवच (अच्छी तरह कहने योग्य होना) अर्थात् पाँच पृथिव्यादि भूतद्रव्यों के पृथक् पृथक् कार्यों को दिखाने के लिये उनका सूत्रकार ने सूत्र में विभाग दिखाया है ॥

(११) अर्थ निरूपण प्रकरण

क्रम प्राप्त चतुर्थ अर्थ नामक प्रमेय पदार्थ का निरूपण करने के लिए चतुर्दशसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते है कि—वे ये ही निश्चय से अर्थात् अनन्त विषयों में आगे के सूत्र में कहे हुए भी गन्धादि विषयरूप अर्थ ऐसे हैं जिनके इन्द्रियों के विषय होने से वास्तविक चिन्तन करने से मोक्ष के सहायक वैराग्य की उत्पत्ति होती है, तथा अवास्तविक रूप से जानने से बंधन के कारण होते हैं। अर्थनामक प्रमेय पदार्थ सूत्रकार ने ऐसा सूत्र में कहा है—

पदपदार्थ=गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः=गन्ध, रस, स्पर्श तथा शब्द नाम के, पृथिव्यादिगुणाः=क्रम से पृथिवी जल आदि पाँच भूतद्रव्यों के गुण, तदर्थाः=इन्द्रियों के अर्थ (विषय) कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ=यद्यपि संसार में विषय अनन्त हैं किन्तु जिनके इन्द्रियों से ग्रहण करने पर वास्तविक विचार करने से मोक्ष में सहायता देनेवाला वैराग्य तथा वास्तविक विचार न करने से संसार बंधन होता है ऐसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द नाम के पाँच पृथिवी आदि पाँच भूतद्रव्यों के गुण, अथवा पृथिवी आदि पाँच द्रव्य एवं उनके उपरोक्त पाँच गन्धादि गुण चतुर्थ अर्थ नामक प्रमेय पदार्थ हैं ॥ १४ ॥

(सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)=पृथिवी जल आदि पाँच द्रव्यों के यथा विनियोग (क्रमानुसार) गन्ध, रस आदि सूत्रोक्त पाँच गुण घ्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रम से अर्थ अर्थात् विषय हैं ॥ (इस चतुर्दश सूत्र की भाष्य व्याख्या में वार्तिक तथा तात्पर्य-टीकाकार की श्रद्धा नहीं है, क्योंकि इस भाष्य व्याख्या के अनुसार सूत्र में कहे हुए गन्ध आदि

अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः, चेतनस्याकर्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह--

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

पाँच गुणों में ही इन्द्रियों की विषयता सिद्ध होती है, किन्तु पृथिवी आदि पाँच द्रव्यों के भी इन्द्रिय के विषय होने से उक्त भाष्य युक्त नहीं है यह वार्तिक तथा तात्पर्यटीकाकार के भाष्यमत में अश्रद्धा का बीज है । इसी कारण 'तदर्थाः' इस पद की इन्द्रियों के व्यापारों से जानने योग्य ऐसी उन्होंने व्याख्या की है । इससे 'तदर्थाः' यही सूत्र का पद अर्थ नामक चतुर्थ प्रमेय का लक्षण है बाकी का सूत्र लक्षण नहीं है, किन्तु उसके कुछ विशेष दिखाने के लिये है । सूत्रों के अक्षरों के अनुसार व्याख्या करने से इन्द्रियों के विषय रूप अर्थों की गणना करने के आशय से सूत्र लगाना पड़ेगा यह युक्त नहीं है इसी कारण सूत्र के अंश को अर्थ रूप प्रमेय पदार्थ का लक्षण समझ कर वार्तिककार ने पूर्वोक्त व्याख्या की है । उनके मत में पृथिवी, जल आदि द्रव्य तथा गन्धादि गुण इन्द्रियों के अर्थ होते हैं ऐसा शिष्यों को समझने के लिये अर्थ किया है । किन्तु यह व्याख्या बहुत अच्छी नहीं मालूम पड़ती क्योंकि यद्यपि पाँचो पृथिवी आदि द्रव्यों में इन्द्रियों की विषयता समान है तथापि यहाँ तीन द्रव्यों का ही ग्रहण किया है, केवल गन्धादि में से भिन्न संख्या पृथक् वा आदिकों में भाष्य की व्याख्या से अप्रत्यक्षता समझी जायगी इसी कारण दूसरी व्याख्या की गई है किन्तु अनेक विषयों में भी इन्द्रियों के विषय भी विषयों (अर्थों) में जितने वैराग्य के जनक हैं उतनों का ही यहाँ कथन किया है यह ध्यान में रखने योग्य है यह तात्पर्यटीका में पहिले ही स्पष्ट कर चुके हैं । 'पृथिव्यादि का' यह पद षष्ठी समास में नहीं है किन्तु संपूर्ण अर्थों का वाचक है ऐसा यहाँ तात्पर्य टीका का ग्रन्थ वार्तिककार की अनुव्याख्या के ही दृष्टि से है वह भी यहाँ पर ध्यान देने का विषय है । भाष्य के 'यथाविनियोग' इस पद का क्रम से पृथिवी से लेकर वायुपर्यन्त गन्ध से लेकर स्पर्शपर्यन्त चार, तीन, दो एक ऐसे नियमित गुण लेना, और शब्द केवल आकाश ही में है, ऐसा तात्पर्य है, टीका में वर्णन किया है, किन्तु पाँच पृथिव्यादि भूतद्रव्यों के क्रम से गन्धादि गुणों के उपयोग के अनुसार उन-उन इन्द्रियों के उन-उन गुणों के व्यापार के अनुसार ही यह कहा गया है ऐसा सम्यक् ज्ञान होता है ऐसी यहाँ खद्योतकार ने समालोचना की है) ॥ १४ ॥

(१२) बुद्धिनिरूपण प्रकरण

(आगे पञ्चम प्रमेय पदार्थ बुद्धि का निरूपण करते हुए भाष्यकार पन्द्रहवें सूत्र का सांख्यमत का निराकरण करते हुए अवतरण देते हैं कि) अचेतन (जड़) बुद्धिरूपकरण का व्यापार ही ज्ञान है जो चेतन तथा कर्तृत्वरहित पुरुष (जीवात्मा) की उपलब्धि (प्राप्ति) कही जाती है । इस प्रकार की सांख्यदर्शन की युक्तियों से विरुद्ध विषयों का खण्डन करते हुए-से सूत्रकार ऐसा बुद्धिरूप पञ्चमप्रमेय पदार्थ का लक्षण करते हैं कि)—

पदपदार्थ—बुद्धिः = बुद्धि, उपलब्धिः = प्राप्ति, ज्ञानं = ज्ञान, इति = यह सम्पूर्ण, अनर्थान्तर पर दूसरे पदार्थ नहीं हैं ॥ १५ ॥

(**भवार्थ**—सांख्यमत में सत्व, रज तथा तम ऐसे तीन गुण जड़ हैं। उनमें विकार (कार्य) होने के कारण बुद्धि भी अचेतन (जड़) है, किन्तु जड़ होने पर भी वह आत्मा में रहनेवाला चैतन्य (चेतनता) की छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ने के कारण चेतन-सी प्रतीत होती हुई, उस

नाचेतनस्य करणस्त बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति, तद्धि चेतनं स्यात्, एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसङ्घातव्यतिरिक्त इति । प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यान्यार्थ-प्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्यादिति ॥ १५ ॥

चेतनता के प्रकाश से विषयों को प्रकाशित कर उन्हें जना देती है, ऐसे सांख्यमत को खण्डन करते हुए पन्द्रहवें सूत्र में बुद्धि, उपलब्धि-ज्ञान ये तीनों शब्द एक ही प्रमेय पदाथ वाचक हैं ऐसा बुद्धिरूप प्रमेय का लक्षण सूत्रकार ने किया है। जिससे जड़बुद्धि का ज्ञान व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने से वह चेतन होगा तथा देहादि संघात से भिन्न एक चेतन आत्मा ही ज्ञानादि गुणाधार है, अतः सांख्यमत इस पर्यायरूप बुद्धि के लक्षण से खण्डित हो जाता है। (इस सूत्र के अवतरण भाष्य में **'प्रत्याचक्षाणक इव'** खण्डन करते हुए क्या, इस उक्ति से यह सूत्र वस्तुतः सांख्यमत के खण्डनार्थ नहीं है, किन्तु बुद्धिरूप प्रमेय पदार्थ के लक्षणबोधक सूत्र से सांख्यमत का खण्डन प्रतीत होने के कारण वह अपेक्षित है और उपेक्षा करने योग्य (छोड़ने योग्य भी नहीं है) यह सूचित होता है (इस सूत्र से बुद्धि आदि पर्याय शब्दों के द्वारा जो कहा जाता है उसे बुद्धि कहते हैं ऐसा सामान्य बुद्धि पदार्थ का लक्षण हैं यह सिद्ध होता है। 'आत्मा, शरीर आदि' बुद्धि के कारण पदार्थों के पूर्व में निरूपण किया है इस कारण उनके कार्य बुद्धि का भी सूत्रकार ने वर्णन किया है यह जानना चाहिये ॥ १५ ॥

(आगे भाष्यकार पन्द्रहवें सूत्र की व्याख्या में पदर्शित सांख्यमत का निरास करते हुए कहते हैं कि—अचेतन (जड़) बुद्धि पदार्थ जो सांख्यों ने भीतरीकरण माना है उसका ज्ञान नामक व्यापार है यह नहीं हो सकता, क्योंकि वह चेतन होगा और एक ही यह चेतन आत्मा है जो शरीर तथा इन्द्रियों के संघात (समूह) से भिन्न है। यहाँ **'तद्धी'** इत्यादि ग्रन्थ सांख्यमत का खण्डन इस प्रकार करता है कि आत्मा में वर्तमान चेतनता की बुद्धि में छाया (प्रतिविम्ब) नहीं पड़ सकती है क्योंकि चेतन आत्मा के चेतनता के परिणामरहित होने के कारण बुद्धि में उसकी छाया पड़ना असम्भव है, अतः बुद्धि में ही चेतनता माननी होगी, जिससे प्रत्येक ज्ञान के लिये आत्मा तथा बुद्धिरूप दो चेतनों को व्यापार की आवश्यकता होगी, अतः सांख्यमत अयुक्त है।)

आगे बुद्धिलक्षण वाले इस सूत्र से सांख्यमत का उक्त प्रकार से खण्डन क्यों जाना जाता है। ऐसी शिष्यों की जिज्ञासा के शान्त्यथ भाष्यकार कहते हैं कि—इस पाँचवें बुद्धिरूप प्रमेय पदार्थ के लक्षण का वर्णन करने वाले सूत्र के वाक्य से इस साख्यमत खण्डनरूप भिन्न विषय का भी युक्ति के सामथ्य से प्रकाश होता है। अर्थात् युक्ति के बल से बुद्धि पदार्थ का लक्षण करता हुआ यह सूत्र सांख्यमत का खण्डन भी सूत्रकार को इस सूत्र से अभिमत है ऐसा सिद्ध होता है।

यहाँ पर भाष्य के **'उपपत्ति'** शब्द का अर्थ पर्याय शब्द से व्याख्या किया गया है, जिससे पर्याय कथनद्वय उपपत्ति के सामर्थ्य से अनेक अर्थ को लक्षणा से कहना ही है इस प्रकार **'परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने'** समालोचना की है अर्थात् बुद्धि तथा ज्ञान इन दोनों का जो सूत्र में पर्याय कहना है उसी के सामर्थ्य से बुद्धि का ज्ञान व्यापार है, ऐसा पूर्वोक्त सांख्यमत भी इसी बुद्धिरूप प्रमेय के लक्षणरूप सूत्र से खण्डित हो जाता है यह उनका आशय है। यहाँ पर कुछ विद्वानों का ऐसा आक्षेप है कि केवल पर्याय शब्द के कथन से लक्षण कहना युक्त नहीं हो सकता। जिसका उत्तर ऐसा है कि दो प्रकार के पदों के अर्थों की गति होती है—प्रत्येक पदार्थ में कुछ पद अर्थ

स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। तेषु सत्स्वयमपि—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ १६ ॥

अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति।

में संकेत रखते हैं जैसे पिता ने किये पुत्रों के नामकरण आदि में। दूसरे ऐसे पद होते हैं जो सामान्यरूप से सम्पूर्ण वाच्य अर्थ में जैसे गौ, अश्व आदि पद। इस दूसरे प्रकार के पदों में अर्थ के विषय में पर्याय शब्दों से भी लक्षण हो सकता है, क्योंकि उससे भी पदार्थ का बोध होता ही है, यही पदार्थ ज्ञान लक्षण करने का प्रयोजन होता है। प्रकृत में उपलब्धि तथा ज्ञान इन दोनों पदों के अर्थ लोक में प्रसिद्ध हैं अतः बुद्धि तथा ज्ञान यह दोनों 'अनर्थान्तर' एक ही हैं ऐसा पर्याय शब्द से वर्णन करने से भी बुद्धि क्या है ? यह प्रश्न बुद्धि के स्वरूप के ज्ञात हो जाने से शान्त हो जाता है, अतः बुद्धि का लक्षण पर्याय शब्द से भी हो सकता है यह सिद्ध होता है। गन्धादि विषय में तथा सुख-दुःख आदि विषयों में भी इसी बुद्धि का चिन्तन करने से वह वैराग्य द्वारा मोक्ष में भी उपयुक्त होती हैं अतः दस में पाँचवें प्रमेय पदार्थ से सूत्रकार ने वर्णन किया है यह भी ध्यान करने की बात है ॥ १५ ॥

(१३) मनोनिरूपण प्रकरण

(इस प्रकार पञ्चम प्रमेय बुद्धि के निरूपण के पश्चात् षष्ठ मनरूप प्रमेय पदार्थ के निरूपण को करने वाले सूत्र का अवतरण देते हुए सूत्र में कहे हुए मन के साधक लिङ्ग से अतिरिक्त और भी साधक हेतु देते हुए कहते हैं कि—स्मरण, अनुमान, शब्द, संशय, प्रतिभा-तत्काल स्फुरण होनेवाला ज्ञान स्वप्नज्ञान तथा ऊह (तर्क ज्ञान) एवं सुख-दुःखादिकों का मानसप्रत्यक्ष और इच्छा आदि गुण भी मन के साधक लिङ्ग हैं। इनके रहते सूत्रकार ने १६वें सूत्र में आगे कहे हुए यह भी)—

पदपदार्थ—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः = एक काल में अनेकज्ञानों का उत्पन्न न होना, मनसः = मन का, लिङ्गम्=साधक है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मन के अनेक साधक लिङ्ग हैं जैसे स्मृतिरूप ज्ञान, अनुमान, आगम, संशयरूप ज्ञान, प्रतिभा-तात्कालिक बुद्धि की स्फूर्ति-स्वप्नज्ञान, बुद्धि (सामान्यज्ञान), ऊह (तर्क) तथा सुख आदिको का मानसप्रत्यक्ष एवं इच्छा आदि आत्मा के विशेष गुण इन सम्पूर्ण के मन के साधक होने के समान, एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना भी मनरूप षष्ठ प्रमेय पदार्थ की सिद्धि करता है ॥ १६ ॥

सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार मन के सिद्धि में अनुमान प्रमाण देते हुए कहते हैं कि-उपरोक्त स्मरणादि ज्ञान जो बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों के निमित्त से नहीं होते। उनका दूसरा कोई कारण (निमित्त) अवश्य हो सकता है। तथा घ्राण आदि बाह्येन्द्रिय तथा उनके गन्ध आदि विषयों के संयुक्त संयोगादिरूप सन्निकर्षों के वर्तमान रहते एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इससे अनुमान किया जाता है कि उन-उन इन्द्रियों में संयुक्त एवं सहायक दूसरा निमित्त अवश्य है जो व्यापक नहीं है, तथा जिसके समीप न रहने के कारण ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तथा जिसके समीप रहने से ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि संयोग की अपेक्षा न कर बाह्य इन्द्रियों के सन्निकर्ष को ज्ञान का कारण माना जावे तो अनेक ज्ञान एक काल में उत्पन्न होने लगेंगे।

युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते तेनानुमीयते अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि, यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं सन्निधेश्चोत्पद्यत इति। मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्ता तु—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥ १७ ॥

मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतं, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः। सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः। तदेतत्कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति ॥ १७ ॥

(यहाँ भाष्य में इन्द्रियों के रूपादिकों के निरासार्थ **'इन्द्रियसंयोगी'** ऐसा विशेषण दिया है तथा **'सहकारि'** इस विशेषण से आकाश एवं **'निमित्तान्तर'** इस विशेषण से आलोक प्रकाश की व्यावृत्ति दिखाई है और **'अव्यापि'** इस विशेषण से व्यापक आत्मा को हटाया है। (१) परिशुद्धि में 'मन विभु है तथा स्पर्श रहित द्रव्य होने से (२) विशेष गुणशून्य द्रव्य होने से, (३) नित्य होकर उत्पादक द्रव्य न होने से, (४) तथा ज्ञान के असमवायि कारण संयोग के आधार होने से, (५) ऐसे पाँच अनुमान मन के व्यापकता साधक दिखाकर स्वरूपासिद्धि दोष होने से मन के विभुत्व का खण्डन किया है) ॥ १६ ॥

(१४) प्रवृत्ति निरूपण प्रकरण

इस प्रकार मन के निरूपण के पश्चात् सातवें प्रवृत्तिरूप प्रमेय पदार्थ का निरूपण करते हुए भाष्यकार सत्रहवें सूत्र का अवतरण देते हुए कहते हैं—प्रमेय पदार्थों में क्रम से प्राप्त तो है—

पदपदार्थ—प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति है, वाग्बुद्धिशरीरारम्भः=वाणी, मन तथा शरीर का व्यापार, इति=इस प्रकार ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनरूप षष्ठ प्रमेय के वर्णन के पश्चात् सातवाँ प्रमेय पदार्थ है प्रवृत्ति–अर्थात् कार्यों के करने में प्रवृत्त होना, जो वाणी तथा **'बुध्यते अनया'** जिनसे जाना जाय ऐसा मन तथा शरीर से कार्यों को करना (यहाँ पर प्रवृत्ति के लक्षण अवतरण दिखाने के लिये मन की भी प्रवृत्ति अवश्य दिखानी है, बिना मन के वर्णन के वह नहीं दिखाई जा सकती इस कारण मन के पश्चात् बुद्धि का ग्रहण है। यह विशेष जान लेना चाहिये ॥ १७ ॥

सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—इस सूत्र में बुद्धि शब्द जिससे जाना जाय इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धिशब्द से सूत्रकार को मन अभिप्रेत है और वह यह आरम्भ (व्यापार) शरीर से, वाणी से तथा मन से पुण्य तथा पापरूप भी दस प्रकार का होता है। जिसका द्वितीय सूत्र में भाष्य कर चुके हैं। यहाँ पर "क्रिया तथा ज्ञान की कारण प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। और वाकी यह शब्द ज्ञापक (जनाने वाले) हेतुओं का सूचक है। जो चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों से साधु (अच्छे) तथा असाधु (बुरे) दर्शनादिकों को सूचित करता है, तथा मन से अभीष्ट देवतादिकों के ध्यानादिकों को भी सूचित करता है। और 'क्रियाशरीर' तथा मन निमित्त से होनेवाली दो प्रकार की होती है। जिसमें शरीर विषयरूप से निमित्त हो वह प्रथम है क्योंकि दान, चोरी आदि के लिये जो प्रयत्न प्राणी करता है वह काय (शरीर) विषय के प्रयत्न से होता है। इसी प्रकार दया, द्रोह (द्वेष) आदि मन को विषय करने वाली

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवर्तना–प्रवृत्तिहेतुत्वं, ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा। यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः कस्मा-

---

क्रिया होती है यह विभाग आवश्यक है, क्योंकि ऐसा कोई प्राणी का व्यापार नहीं है जिसमें शरीर तथा मन निमित्त न हो" ऐसी तात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि में समालोचना की है।) ॥१७॥

(१५) दोषनिरूपण प्रकरण

(इस प्रकार सातवें प्रमेय प्रवृत्ति का स्वरूप वर्णन कर सूत्रकार आठवें प्रमेय दोषों का स्वरूप ऐसा कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—प्रवर्तनालक्षणाः = प्रवृत्ति के कारण स्वरूप हैं, दोषाः = दोष नामक प्रमेय पदार्थ ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रयोज्य के व्यापार पूर्वक प्रयोजक के व्यापार का निरूपण होता है इस कारण प्रवृत्ति के पश्चात् दोषों का सूत्रकार ने लक्षण किया है (भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि)—सूत्र में प्रवर्तना शब्द का अर्थ है प्रवृत्ति होने का कारण। क्योंकि राग, द्वेष तथा मोह नामक दोष ज्ञाता (जानने वाले प्राणी) को पुण्य अथवा पाप कर्मों से प्रवृत्ति कराते हैं। कारण यह कि जहाँ संसार बन्धन का मूल कारण मिथ्याज्ञान होता है वहाँ राग तथा द्वेष दोनों होते हैं। ("राग तथा द्वेष मोह मिथ्याज्ञान) से उत्पन्न होकर पुण्य-पाप रूप कर्मों के करने में प्रवृत्त होने वाले प्राणियों को प्रवृत्त करते हैं। उन दोनों का धर्म है प्रवर्तना जो मोह के आधार आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहती है। अर्थात् यह प्राणी तब तक रागादिकों के अधीन होता हुआ चेष्टा करता है, जब तक इसे मोह होता है, ऐसी व्याख्या तात्पर्यटीका में यहाँ पर की है, और परिशुद्धि में इसको विषय करने वाले मोह तथा राग अथवा मोह और द्वेष, उनके साधन के विषयों में मोह तथा राग अथवा मोह तथा द्वेष को प्रयत्न करते हुए प्राणी को पुण्य-पाप रूप कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि फल को विषय करने वाले राग, द्वेष तथा मोह प्रवर्तक (प्रवृत्ति करने वाले) और साधन को विषय करने वाले उसी के आधार में वर्तमान 'प्रवर्तना' कहाती है" ऐसी समालोचना उदयनाचार्य ने की है) ॥

(आगे इन लोकप्रसिद्ध दोषों के लक्षण करने की सूत्रकार को क्या आवश्यकता थी ? ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रश्न—प्रत्येक जीवात्मा को अनुभव करने योग्य इन दोषों के लक्षण को सूत्रकार ने सूत्र में कथन क्यों किया है ? उत्तर—कर्म स्वरूप हैं निश्चय से रक्त (अनुरागी), द्विष्ट (द्वेषी) तथा मूढ (मोह करने वाला), क्योंकि अनुरागी प्राणी वह कर्म करता है जिस कर्म से वह सुख अथवा दुःख को प्राप्त करता है। वैसे ही द्वेष एवं मोह करने वाला भी, इस कारण (दोषों का लक्षण करना आवश्यक है) केवल **'रागद्वेषमोहाः'** राग, द्वेष तथा मोह दोष हैं इतना ही लक्षण करने से बहुत न कहा जाता अर्थात् रागादिकों के भेदों का संग्रह न होता, इस कारण सूत्रकार ने **'प्रवर्तनालक्षणाः'** ऐसा दोषों का लक्षण किया है, जिससे संपूर्ण राग, द्वेष तथा मोह के अन्तर्गणिक भेदों का संग्रह हो जाता है। (अर्थात् **'कर्मलक्षण हैं'** इससे दोषों का स्वरूप स्पष्ट होने पर भी दोष वैराग्यजनक हैं यह स्पष्ट नहीं होता और वही करना मुख्य सूत्रकार का प्रयोजन है। प्रवृत्तिजनक होने के रूप से ही तो दोष वैराग्य के उत्पन्न करने वाले होते हैं, और वह प्रवृत्तिरूप कार्य से सूचित होता है, अतः

लक्षणतो निर्दिश्यन्त इति ? कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढा रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते, तथा द्विष्टस्तथा मूढ इति। रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहु नोक्तं भवतीति ॥ १८ ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य—सम्बन्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः, पुनरुत्पत्तिः—पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधान यत्र क्वचित्प्राणभृन्निकाये वर्त्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादीन् जहाति तत्प्रैति। यत् तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद्भवति। प्रेत्य भावः—मृत्वा पुनर्जन्म, सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्याभावो वेदितव्य इति ॥ १९ ॥

'कर्मलक्षणाः' ऐसा सूत्रकार ने लक्षण किया है। अर्थात् प्रवृत्तिरूप कर्म से प्रवृत्ति करानेवाले रागादि दोषों वाले प्राणी जाने जाते हैं, जिससे रागादिकों में प्रवर्तना की आधारता है यह सूचित होता है। यहाँ पर भाष्य के **'बहु'** इस पद से रागादिकों को केवल स्वरूप कहा जाता है न कि उनमें प्रवर्तना की आधारता भी, यह सूचित होता है ॥ १८ ॥

(१६) प्रेयभावनिरूपणप्रकरण।

(इस प्रकार आठवें दोष नामक प्रमेय पदार्थ के वर्णन के पश्चात् सूत्रकार नवम **'प्रेत्यभाव'** नामक पदार्थ का क्रमप्राप्त होने से लक्षण करते हैं)—

पदपदार्थ—पुनः = फिर, उत्पत्ति = उत्पन्न होना, प्रेत्यभावः = प्रेत्यभाव नामक नवम प्रमेय पदार्थ ॥ १९ ॥

भावार्थ—पुण्य तथा पाप कर्म के अनुसार किसी योनों में उत्पन्न होने के पश्चात् उस शरीर का सम्बन्ध छोड़कर अर्थात् मर कर पुनः किसी योनों में उत्पन्न होने को प्रेत्यभाव नामक नवम प्रमेय पदार्थ कहा जाता है ॥ १९ ॥

(उन्नीसवें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—किसी प्राणि समूह में (प्राणिसंयुक्त शरीर में) उत्पन्न होकर मरण के पश्चात् जो पुनः उत्पत्ति (जन्म) होता है वह प्रेत्यभाव कहाता है। जिसमें उत्पन्न इस शब्द का अर्थ है सम्बद्ध (संबन्धयुक्त)। वह सम्बन्ध जीवात्मा के शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा हर्ष, शोक, भय आदि रूपवेदनाओं से कर्मानुसार होता है। तथा **'पुनरुत्पत्ति'** शब्द का अर्थ है पुनः शरीर इन्द्रियादिकों के साथ सम्बन्ध होना। **'पुनः'** यह शब्द अभ्यास (आवृत्ति) को कहता है। जिसे किसी प्राणधारी जीवों के शरीरों के समूहों में से किसी एक शरीर में वर्तमान यह जीवात्मा पूर्व में गृहीत शरीरादिकों को छोड़ता है, वह मरण को प्राप्त होता है और जो पुनः उसी प्राणि शरीर के योनि में या दूसरे योनि में दूसरे शरीरादिकों को ग्रहण करता है वह जन्म लेता है। **प्रेत्यभाव** इस शब्द का अर्थ है—मरकर पुनः जन्म लेना। वह यह जन्म तथा मरणों के समुदाय का अभ्यास (आवृत्ति) (अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा का बार-बार होना जो अनादि काल से चला आता है तथा जिसका अपवर्ग (मोक्ष) होने से अन्त (समाप्ति) होती है, इसीको **प्रेत्यभाव** नामक नवम प्रमेय पदार्थ कहते हैं। ('शरीर से लेकर दोष पर्यन्त प्रमेयों के त्याग पूर्वक पुनः उनकी प्राप्ति होना रूप धर्म है प्रेत्यभाव, इस कारण दोषों के वर्णन के पश्चात् प्रेत्यभाव के वर्णन का अवसर है

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

सुखदुःखसंवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकं च। तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्। तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत्सर्वं भवति। तदेतत्फलमुपात्तमुपात्तं हेयं, त्यक्तं त्यक्त-

---

ऐसी परिशुद्धिकार ने यहाँ व्याख्या की है। तथा दोष ही धर्म तथा अधर्म के कारण पूर्वोक्त प्रवृत्ति के द्वारा पुनः जन्म होता है इस कारण भी दोनों के पश्चात् प्रेत्यभाव को वर्णन करने का अवसर है ऐसी भी व्याख्या की हैं) भाष्यकार ने आत्मा के नित्य होने के कारण उत्पत्ति का असंभव होने से **'उत्पन्नस्य'** इस शब्द का **'सम्बद्धस्य'** ऐसा अर्थ यहाँ पर किया है, यह जान लेना चाहिये तथा अभ्यास के अभिधान (कथन) से 'जहाँ जन्म है वहाँ मरण हैं' ऐसी व्याप्ति होने से पूर्व शरीर का त्याग कहा हैं। भाष्य में **'यत्र क्वचित्'** से लेकर **'तत्प्रेति'** यहाँ तक **'प्रेत्य'** इस शब्द का एवं **'यत्'** यहाँ से **'तद्भवति'** यहाँ तक **'भाव'** शब्द का अर्थ कहा गया है॥

(१७) फलनिरूपण प्रकरण

(इस प्रकार नवम प्रेत्यभाव प्रमेय पदार्थ के वर्णन के पश्चात् सूत्रकार दशम फलरूप प्रमेय पदार्थ का लक्षण कहते हैं)—

पदपदार्थ—प्रवृत्तिदोषजनितः = प्रवृत्ति तथा दोषों से उत्पन्न होने वाला, अर्थः = प्रमेय पदार्थ है, फलम् = फल नामक दशम प्रमेय पदार्थ॥ २०॥

भावार्थ—शरीर आदि गौण फलों के साथ तथा दुःख के अनुभवरूप मुख्य फल को भी फल नामक प्रमेय पदार्थ कहते हैं, जो सर्वोक्त दस प्रकार की प्रवृत्ति तथा राग, द्वेष एवं मोहरूप दोषों से उत्पन्न होता है। (इस प्रवृत्ति तथा दोष से उत्पन्न होने वाले फल के लक्षण में **'प्रवृत्ति'** से उत्पन्न इतना ही लक्षण फल का न कर दोनों का भी जो सूत्रकार ने ग्रहण किया है उससे केवल पूर्वोक्त प्रवृत्ति में ही दोष कारण नहीं हैं किन्तु प्रवृत्ति के कार्य सुख तथा दुःख भी यह दिखाने के लिये। दोषरूपी जल से सींची हुई आत्मारूप भूमि में धर्म तथा अधर्मरूप बीज सुख तथा दुःख को उत्पन्न करते हैं' ऐसी **वाचस्पतिमिश्र** ने व्याख्या की है। 'स्वरूप से प्रवृत्ति में दोष सहायक होते हैं ऐसा सूत्रकार स्वयं चतुर्थ अध्याय में कहेंगे' ऐसी **परिशुद्धि** में यहाँ पर **उदयनाचार्य** ने समालोचना की है) (तथा सूत्र में अर्थपद गौण तथा मुख्य दोनों दलों को लेने के लिये है; ।जनमें गौण फल है शरीर एवं इन्द्रियादि तथा मुख्य फल है सुख एवं दुःख। भाष्य के **'सह देहादिभिः'** इस पद से यह सूचित होता है कि शरीरादिकों के साथ सुख तथा दुःख का अनुभव करना ही फल है अर्थात् सुख तथा दुःख का अनुभव एवं शरीरादिकों का सम्बन्ध भी फल कहाता है)॥ २०॥

(सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सुख तथा दुःख के संवेदन (अनुभव) को फल कहते हैं। क्योंकि पुण्य तथा पापरूप कर्म क्रम से सुख विपाक (सुखरूप फल देने वाले) तथा दुःख विपाक (दुःख रूप फल देने वाले) ऐसे दो प्रकार के होते हैं और वह सुख तथा दुःख का अनुभव शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा बुद्धि के रहते होता है इस कारण शरीर, इन्द्रिय आदिकों के साथ सुख तथा दुःख भोगरूप फल सूत्रकार को अभिमत है। वह इस प्रकार है कि पूर्वोक्त पुण्य पापात्मक कर्मों में प्रवृत्ति तथा राग-द्वेषादि दोषों से उत्पन्न, अर्थ (यह उपरोक्त सम्पूर्ण सुख-दुःख तथा शरीर इन्द्रियादिक फल होता है। वह यह फल बार-बार ग्रहण किया हुआ हेय (छोड़ा जाता) है, और बार-बार त्याग किया हुआ उपादेय (ग्रहण किया जाता) है।

मुपादेयमिति नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वास्ति, स खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसोह्यते लोक इति ॥ २० ॥

अथैतदेव —

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

बाधना पीडा ताप इति । तयाऽनुबिद्धमनुषक्तमविनिर्भागेन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति । सोऽयं सर्वं दुःखेनानुबिद्धमिति पश्यन् दुःखं जिहासु-

---

इस कारण इस सम्पूर्ण उपरोक्त फलों के त्याग तथा ग्रहण करने की निष्ठा-. **पर्यवसान** (समाप्ति नहीं होती) उसी इस पूर्वोक्त गौण एवं मुख्य फल के त्याग तथा उपादान (ग्रहण) रूपी प्रवाह में सासांरिक सम्पूर्ण प्राणी बहते हैं अर्थात् सम्पूर्ण संसार चला करता है इस प्रकार फल वर्णन समाप्त है। (यहां पर भाष्य में '**निष्ठा**' यह पद सामान्यरूप से अन्तिम अवस्था का ग्रहण सूचित करता है और वह सुखादिकों में भी है इस कारण उसका भाष्यकार ने '**पर्यवसान**' ऐसा अर्थ स्वयं किया है, जिससे '**परि**' अर्थात् अत्यन्त '**अवसान**' अर्थात् समाप्ति का बोध होता है, इससे सम्पूर्ण उपरोक्त फलों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती ऐसा सूचित होना होता है ॥ २० ॥

(इस प्रकार दशम प्रमेय फल पदार्थ का वर्णन करने के पश्चात् क्रम प्राप्त ग्यारहवें प्रमेय दुःख पदार्थ का निरूपण करने के लिये एक्कीसवें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) और यही उपरोक्त शरीरादि रूप गौण तथा सुख-दुःखानुभवरूप मुख्य फल ही—

पदपदार्थ—बाधनालक्षणं=पीडा स्वरूप होना है, दुःखम्=दुःख नामक ग्यारहवां प्रमेय पदार्थ ॥ २१ ॥

भावार्थ—संसार में प्राणीमात्र को प्रतिकूल (बुरा) लगने वाले प्रमेय का नाम है दुःख, क्योंकि दुःख की कोई भी प्राणी इच्छा नहीं करता। (बिना शरीरादिकों के वर्णन के उनके सुख तथा दुःखरूप होने का लक्षण नहीं हो सकता इस कारण शरीरादिकों के वर्णन के पश्चात् अन्त में दुःख का यह लक्षण सूत्रकार ने किया है। इस सूत्र में **बाधना** शब्द से पीडाविषयक बुद्धि की सूचना होती है, जिससे बाधना (पीडा) तथा उसके अनुषङ्गी (सम्बन्धी) शरीरादिक गौण तथा मुख्यरूप से सूचित होते हैं। वही बाधना बुद्धि दुःख में मुख्य तथा शरीरादिकों में गौण है क्योंकि दुःख के अनुभव में दोनों की अपेक्षा होने से ऐसा व्यवहार होता है)॥ २१ ॥

(सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के **बाधना** शब्द का अर्थ दिखाते हैं कि)— बाधना शब्द का अर्थ है (पीडा एवं ताप ऐसा)। उस पीडा से अनुविद्ध (व्याप्त) अर्थात् अनुषक्त (नित्य सम्बन्ध रखने वाला), अविभागेन (विभक्त न होकर) रहने वाला दुःख के सम्बन्ध से दुःख स्वरूप है। (अर्थात् सम्पूर्ण सुख, दुःख और शरीर आदि दुःख से अनुस्यूत (भरा हुआ) है अतः सब दुःख ही है)।

(आगे इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के शरीरादि पदार्थों के दुःख स्वरूप वर्णन करने का भाष्यकार प्रयोजन दिखाते हुए कहते हैं कि)—वह यह संसार के प्राणिमात्र सम्पूर्ण संसार के पदार्थों के दुःख से व्याप्त हैं ऐसा दिखाते हुए, दुःख के त्याग की इच्छा करते हुए, जन्म लेने में दुःख ही है ऐसा देखते हुए, सम्पूर्ण सांसारिक विषयों से निर्विण्ण (खिन्न) होते हैं और खेद होने से उन सांसारिक विषयों में मुक्त, वैराग्य होने से वह संसार से मुक्त हो जाते हैं ॥ २१ ॥

जन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते निर्विण्णो विरज्यते विरक्तो विमुच्यते ॥ २१ ॥

यत्र तु निष्ठा यत्र पर्यवसान सोऽयम्—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

तेन दुःखेन जन्मना अत्यन्तंविमुक्तिरपवर्ग.। कथम् ? उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चाऽनुपादानम् । एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः । "तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति" ।

---

(१८) अपवर्ग निरूपण प्रकरण

(इस प्रकार ग्यारहवें प्रमेय दुःख के वर्णन के पश्चात् बारहवें क्रमप्राप्त अपवर्ग नामक प्रमेय के वर्णन के लिये २२ वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस (अपवर्ग) में निष्ठा, अर्थात् जिसमें पर्यवसान (समाप्ति) पूर्वोक्त गौण तथा मुख्य दुःख की, होती है, वह यह—

पदपदार्थ—तदत्यन्तविमोक्षः = उस (दुःख) से अत्यन्त विमोक्ष (छुटकारा) अपवर्ग नामक बारहवाँ प्रमेय पदार्थ है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जिसके मुख्य उद्देश से ग्यारह आत्मादिकों से लेकर दुःखपर्यन्त प्रमेय पदार्थों का पूर्व में सूत्रकार ने वर्णन किया है, वह अपवर्ग (मोक्ष) द्वादश का प्रमेय पदार्थ है, पूर्वोक्त गौण तथा मुख्य दुखों से छूटना अर्थात् इसी मोक्ष में संपूण सांसारिक दुःखों का अच्छेद (अत्यन्त निवृत्ति) होता है ॥ २२ ॥

(बाइसवें सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र के 'तदत्यन्तविमोक्षः' इस समस्तपद का तृतीया तत्पुरुष में विग्रह दिखाते हुए इस पद का अर्थ भाष्यकार दिखाते हैं कि)—उस दुःख से अर्थात् दुःख स्वरूप जन्म से अत्यन्त तथा ऐकान्तिका (अवश्य होने वाली निवृत्ति) को ही अपवर्ग कहते हैं । (प्रश्न)—कैसे दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होती है ? (उत्तर)—ग्रहण किये जन्म की हानि होकर पुनः दूसरे जन्म का ग्रहण नहीं किया जाता इस कारण । इसे संपूर्ण ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति स्वरूप ही अवस्था को जो नाश न होने के कारण अपर्यन्त (अवधिरहित) कहाती है, मोक्ष को जानने वाले विद्वान् उसे अपवर्ग (मोक्ष) ऐसा कहते हैं । (और अपवर्ग की अवस्था की सत्ता में "वह, अभय (भयरहित,) अजर-(व्याधिरहित), अमृत्युपदं (मरणरहित स्थान) ब्रह्म (व्यापक), क्षेमप्राप्तिः (वास्तविक कल्याणरूप मोक्ष की प्राप्ति है" ऐसा उपनिषद् का प्रमाण भी देते हैं । (इसमें अभय पद से पुनः संसार दुःख का भय नहीं रहता यह सूचित होता है । जिसे वेदान्ती **'ब्रह्म ही नाम, रूप आदि प्रपंच (संसार) स्वरूप से परिणाम को प्राप्त होता है'** ऐसा मानते हैं । उनके मत का खण्डन करने के लिये इसमें 'अजरं' यह विशेषण दिया है । जिसे क्या यहाँ पर परिणाम शब्द का अर्थ 'पूर्व में वर्तमान धर्म के निवृत्त होने पर दूसरे धर्मों की उत्पत्ति होना ऐसा (वैनाशिक) पदार्थमात्र को विनाश-स्वभाव मानने वाले बौद्धों के मत से है, अथवा सांख्यमत के अनुसार पूर्व में वर्तमान धर्म के निवृत्त होने पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति । उक्त दोनों प्रकार से ब्रह्म पदार्थ का परिणाम नहीं मान सकते, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्म का परिणाम माना जाय तो उसके अन्य रूप हो जाने से ब्रह्म विनाश वाला हो जायगा । यदि एकदेश से परिणाम माने तो अवयव का आश्रय होने से घट आदिकों के समान ब्रह्म पदार्थ अनित्य हो जायगा) और ऊपर उक्त प्रमाणवाक्य में **चित्त का दीप के समान निर्वाण (शान्त) हो जाना' ही मोक्ष माना है उसका खण्डन**

नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते, तेनाऽभिव्यक्तेनाऽत्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यते। तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते–नित्य सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यत–इति।

नित्यस्याभिव्यक्तिः—संवेदनम्, तस्य हेतुवचनम्। नित्यस्याऽभिव्यक्तिः–संवेदनम्–ज्ञानमिति, तस्य हेतुर्वाच्यो यतस्तदुत्पद्यत इति।

सुखवन्नित्यमिति चेत्? संसारस्थस्य मुक्तेनाऽविशेषः। यथा मुक्तः सुखेन

सूचित करने के लिये 'अमृत्युपदं' ऐसा विशेषण दिया है, जिससे भाव पदार्थरूप अवस्था विशेष को मोक्ष कहते हैं; (अतः बौद्धमत भी अयुक्त है। इसी का स्पष्टीकरण करने के लिये अथवा यहाँ आकाश में जिस प्रकार गृहादि आकाशों का गृहादिकों के नष्ट होने पर लय हो जाता है इसी प्रकार शरीरादिकों के नष्ट होने पर जीवात्मा भी व्यापक रूप में मिल जाता है इसलिये यह ब्रह्म पद दिया है। इसी अवस्था को 'क्षेमप्राप्तिः' वास्तविक कल्याणरूप मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं, जिससे मोक्ष अभाव स्वरूप प्रमेय पदार्थ नहीं है यह भी सिद्ध होता है) तथा भाष्यकार ने यहाँ पर दुःख का जन्म ऐसा जो अर्थ किया है उससे यह सूचित होता है कि पूर्वोक्त गौण तथा मुख्य सभी दुःख यहाँ लेने चाहिये न कि केवल दुःख पदार्थ, जिससे उत्पन्न होने वाले सभी कार्यरूप ये शरीर, इन्द्रिय आदिकों को दुःख कहते हैं। तथा अत्यन्त पद से पुनः संसार में ——— नहीं होता यह भी भाष्यकार ने सूत्र का आशय दिखाया है)।

(इस प्रकार अपने (नैयायिकों के) मत से अत्यन्त दुःख निवृत्तिरूप अवस्था ही मोक्ष कहाता है यह सिद्धकर, परमत खण्डनपूर्वक यह नैयायिकमत संमत है इस प्रकार अपवर्ग की परीक्षा करने के लिये मीमांसकादि परमत से शंका करते हुए उसका खण्डन व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) है। तथा व्याख्यान (उसकी व्याख्या ऐसे दो प्रकार के भाष्य द्वारा करते हैं कि)— 'मोक्ष' अवस्था में आत्मा के महत्व (व्यापकता) के समान नित्य सुख प्रगट होता है, उस प्रगटभये सुख से, दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति होकर जीवात्मा सुखी होता है ऐसा कुछ दार्शनिक विद्वान् मानते हैं। किन्तु उनके इस मत मानने में कोई प्रमाण नहीं होने के कारण यह मत अयुक्त है। (अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम (शब्द) कोई भी इस विषय में प्रमाण नहीं है कि 'मोक्ष अवस्था में आत्मा के परममहत्परिमाण (व्यापकता) के समान नित्यसुख प्रगट होता है)।

(यहाँ पर 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस ज्ञान तथा आनन्द की समानाधिकरणता (एक आधार में ज्ञानादिकों की वर्तमानता को कहने वाली श्रुति सुखस्वरूप ब्रह्म है', अतः ब्रह्म के नित्य होने के कारण सुख भी नित्य है)।

(आगे भाष्यकार उक्त मत से दूसरी शंकापूर्वक उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि)— नित्यसुख की अभिव्यक्ति (प्रगटता) है, संवेदन (उसका अनुभव कहाता है ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे, तो उस संवेदन होने का पूर्वपक्षी द्वारा कारण कहना चाहिये। अर्थात् "नित्यसुख की अभिव्यक्ति को ही संवेदन तथा ज्ञान कहते हैं" ऐसा पूर्वपक्षी का कथन हो तो, उस संवेदन (ज्ञान) के मोक्षावस्था में कारण को कहना चाहिये, जिस कारण से वह संवेदन (ज्ञान) उत्पन्न होता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि "सुख के समान वह संवेदन (ज्ञान) भी नित्य है, अतः उसमें सिद्धान्ती का कारण के विषय में प्रश्न ही नहीं हो सकता" तो संसार में वर्तमान

तत्संवेदनेन च सन्नित्येनोपपन्नस्तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यत इति, उभयस्य नित्यत्वात् ।

अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत । यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यं संवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्येत, न सुखाभावो नानभिव्यक्तिररित, उभयस्य नित्यत्वात् ।

अनित्यत्वे हेतुवचनम् । अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यं ? यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः ।

आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम् । आत्ममनःसंयोगो हेतुरिति चेत् ? एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तरं वचनीयमिति ।

प्राणी तथा मुक्तप्राणी में विशेषता (भेद) सिद्ध न होगा । क्योंकि जिस प्रकार मुक्तप्राणी नित्यसुख तथा उसके नित्यसंवेदन (ज्ञान) से युक्त है उसी प्रकार संसारी प्राणी भी उन दोनों नित्यों से युक्त होने लगेगा, क्योंकि सुख तथा उसका संवेदन (ज्ञान) दोनों ही नित्य है । (यहाँ पर जिस प्रकार सुख नित्य है उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति (संवेदन) भी नित्य है ऐसा यह प्रथम पक्ष है, जिससे मुक्त और संसारी दोनों प्रकार के प्राणियों में विशेषता (भेद) न होगा । सुख के नित्य होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति अनित्य है ऐसा द्वितीय पक्ष है, जिसमें उस अभिव्यक्ति के कारण का वर्णन नहीं हो सकता, ऐसा भाष्य में आगे **'अनित्यं हेतुवचनं'** अनित्य पक्ष में कारण कहना चाहिये, इत्यादि दिखलाया है) ।

(आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—सुख तथा उसकी अभिव्यक्ति दोनों को यदि नित्य माना जाय, तो धर्म तथा अधर्म से उत्पन्न होने वाले सुख तथा दुःख के अनुभव के समय नित्यसुख तथा उसके ज्ञान की भी सत्ता होने से दोनों का एक साथ ग्रहण होने लगेगा । अर्थात् इस आत्मारूप उत्पत्ति के स्थानों (समवायि कारणों) में धर्म तथा अधर्म के फलरूप सुख अथवा दुःख का क्रम से अनुभव होता है, उसका एवं नित्यसुख के नित्य अनुभव का साथ में ही ग्रहण होने लगेगा, क्योंकि नित्य होने से सुख तथा उनका ज्ञान नहीं है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों ही नित्य हैं । (अर्थात् नित्यसुख तथा उसकी नित्य अभिव्यक्ति से रहित कोई समय न होने से धर्माधर्म का फल सुख तथा दुःख एवं नित्यसुख तथा उसके नित्यज्ञान का एक समय प्राणी को अनुभव होने लगेगा) (यदि इस दोष के निरास के लिये पूर्वपक्षी नित्यसुख के ज्ञान को अनित्य माने तो भाष्यकार कहते हैं कि)—उक्त नित्यसुख के अनुभव को अनित्य माना जाय तो, उसमें कारण क्या है यह कहना चाहिये, अर्थात् यदि 'मोक्षावस्था में नित्यसुख का संवेदन (ज्ञान) अनित्य है' ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो, जिससे वह नित्यसुख का ज्ञान होता है और (दूसरे निमित्त कारण की सहायता से) आत्मा एवं मन के संयोगरूप (असमवायि कारण) रूप को तो वह कारण पूर्वपक्षी को कहना पड़ेगा ही । अर्थात् 'आत्ममनःसंयोग नित्यसुख की उत्पत्ति होने के कारण है ऐसा कहे, तो उस आत्ममनःसंयोग का सहायक दूसरा कोई निमित्तकारण पूर्वपक्षी को कहना पड़ेगा, अर्थात् पूर्वोक्त दोष के वारणार्थ आत्ममनः संयोग के कारण न हो सकने से उसका सहायक दूसरा कारण मानना आवश्यक होगा) ।

धर्मस्य कारणवचनम्। यदि धर्मो निमित्तान्तरं ? तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति।

योगसमाधिजन्यकार्यावसायविरोधात्प्रक्षये संवेदनाननुवृत्तिः। यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुः ? तस्य कार्यावसायविरोधात्प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्तत।

असंवेदने चाऽविद्यमानेनाऽविशेषः। यदि धर्मक्षयात्सवेदनोपरमो नित्यं सुखं न संवेद्यत इति ? किं विद्यमानं न संवेद्यते, अथाविद्यमानमिति नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति।

अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानमुत्पत्तिधर्मकत्वात्। योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयत इति नास्त्यनुमानम्। उत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति विपर्ययस्य त्वनुमानम्। यस्य तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम्।

(यदि 'धर्म ही उसमें अपेक्षित दूसरा निमित्तकारण है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे, तो भाष्यकार इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि)—उस धर्म का कारण कहो। अर्थात् यदि धर्म को ही दूसरा सहायक कारण माना जाय, तो उस धर्म का कारण कहना पड़ेगा, जिससे वह धर्म उत्पन्न होता है। (यदि "योगसमाधि ही उस धर्म का कारण है" ऐसा पूर्वपक्षी का कहना हो तो, उक्त योगसमाधि से उत्पन्न धर्म के सुखानुभव रूप कार्य से नाश हो जाने के कारण नित्यसुख का अनुभव न होगा, अर्थात् योगाभ्यास के बल से उत्पन्न धर्म ही नित्यसुख संवेदन का कारण है, ऐसा कहे तो उसको तथा कार्य का विरोध होने के कारण सुखादि अनुभवरूप कार्य के उत्पन्न होने से नाश हो जाने के कारण नित्यसुख का अनुभव अत्यन्त निवृत्त हो जायगा।। अर्थात् कारण के न रहने से नित्यसुखानुभवरूप कार्य नहीं होगा और यदि नित्यसुख का अनुभव न माना जाय तो अविद्यमान (न रहने वाले) सुख तथा उसके अनुभव का न होना, इन दोनों पक्षों में कोई विशेषता न होगी। यदि 'योगसमाधि से उत्पन्न होने के कारण उससे उत्पन्न धर्म का नाश होने के कारण नित्यसुख का अनुभव शान्त हो जाता है, अर्थात् नित्यसुख का अनुभव नहीं होता ऐसा पूर्वपक्षी का कहना हो, तो क्या विद्यमान नित्यसुख का अनुभव नहीं होता, अथवा नित्यसुख भी मोक्षावस्था में समाप्त ही है ऐसा विकल्प होने पर एक पक्ष का साधक कोई अनुप्रमाण न होने के कारण सिद्धान्ती कह सकता है कि मोक्षावस्था में नित्यसुख है या नहीं, अतः पूर्वपक्षी का उस अवस्था में नित्यसुख का मानना असंगत है। यदि इस दोष को हटाने के लिये पूर्वपक्षी कहे कि योगबल से उत्पन्न धर्म का नाश नहीं होता' तो ऐसा कहने में कोई सत् हेतु वाला अनुमानप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह धर्म उत्पत्ति धर्म वाला है। अर्थात् योगसमाधि बल से उत्पन्न धर्म का नाश नहीं होता, ऐसा कहने में पूर्वपक्षी का कोई अनुमानप्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु उत्पत्ति धर्मवाला पदार्थ अनित्य होता है इस प्रकार विपरीत (विरुद्ध अनुमान ही योग बल से उत्पन्न धर्म का नाश होने में अनुमानप्रमाण हो सकता है। इस कारण जिस पूर्वपक्षी के मत में नित्यसुख का अनुभव शान्त नहीं होता, उसके संवेदन (नित्यसुख के अनुभव) का कारण नित्य है ऐसा ही अनुमान करना होगा। अतः इस दोष के वारणार्थ यदि नित्य मान लिया

नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम् । यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च, संवेदनस्य तूपरमो नास्ति, कारणस्य नित्यत्वात्, तथा संसारस्थस्यापीति । एवं च सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति ।

शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरितिचेत् ? न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात् विपर्ययस्य चाननुमानात् । स्यान्मतम्—संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः, तेनाविशेषो नास्तीति । एतच्चायुक्तम्, शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्, न चास्त्यनुमानमशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति ।

इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत् ? न, अनिष्टोपरमार्थत्वात् । इदमनुमानम्—इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणां, नोभयमनर्थकमिति । एतच्चा-

---

जाय तो मुक्त तथा संसारी दोनों प्राणियों में भेद न हो सकेगा यह दोष हम पूर्व में ही कह चुके हैं । क्योंकि जिस प्रकार मुक्त प्राणी को नित्यसुख एवं उसके अनुभव का कारण भी है, नित्यसुख का ज्ञान शान्त नहीं होता, क्योंकि उसका कारण नित्य है, उसी प्रकार संसारी प्राणी को भी दोनों मुक्त के समान ही हैं और ऐसा होने से धर्म तथा अधर्म के फलरूप सुख तथा दुःख के अनुभव के समय नित्यसुख का भी अनुभव साथ ही होने की आपत्ति आ जायगी) ।

यदि इस आपत्ति के निरास के लिये पूर्वपक्षी कहे कि "शरीर इन्द्रियादिकों का सम्बन्ध नित्यसुख का अनुभव होने में प्रतिबन्धक है, अर्थात् जिस कारण शरीरादिकों का सम्बन्ध मोक्षावस्था के नित्यसुख का अनुभव होने में प्रतिबन्धक हैं, अतः संसारी प्राणी को धर्माधर्म फल के साथ नित्यसुख का अनुभव नहीं होता" तो इसका समाधान ऐसा है कि शरीर तथा इन्द्रिय आदि सुख तथा दुःख के अनुभवरूप भोग के लिये ही है, और इसके विरुद्ध पक्ष का साधक अनुमान नहीं हो सकता । अर्थात् पूर्वपक्षी का ऐसा मत हो कि "संसार की अवस्था में वर्तमान प्राणी को जो शरीर इन्द्रिय आदिकों का सम्बन्ध है वह मुक्तावस्था के नित्यसुख के अनुभव का प्रतिबन्धक है, अतः संसारी तथा मुक्त प्राणी में अविशेष (अभेद) नहीं हो सकता किन्तु यह भी पूर्वपक्षी का कहना असंगत है, क्योंकि जब शरीर आदि सुख तथा दुःख के अनुभवरूप उपभोग के लिये बने हैं तो वे उस भोग में प्रतिबन्धक कैसे होंगे अतः यह भी अयुक्त है । न तो बिना शरीरादिकों के जीवात्मा को कोई प्रकार का भोग होता है इस विषय का साधक अनुमान-प्रमाण तो हो सकता है ।

यदि इस पर पूर्वपक्षी कहें कि हम ऐसा अनुमानप्रमाण देंगे कि "प्राणिमात्र की प्रवृत्ति इष्ट (सुख) की प्राप्ति के लिये होती है, अतः उस सुख के लिये प्रवृत्ति होना ही मोक्षावस्था में नित्यसुख रहने में प्रमाण है । अर्थात् सिद्धान्ती के मोक्षावस्था में नित्यसुख होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा पूर्वग्रन्थ में कह आये हैं, उस पर वेदान्ती ऐसा उत्तर कर सकता है कि "जो-जो प्रवृत्ति प्राणिमात्र की होती है वह इष्ट की प्राप्ति के लिये ही होती है ऐसा अनुमान मोक्षावस्था में नित्यसुख मानने में प्रमाण है" तो इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि प्राणिमात्र की प्रवृत्ति अनिष्ट (दुःख) के परम (निवृत्ति) के लिये होती है ऐसा मानने से ही काम चल

युक्तम्, अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः, प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणामिति। नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीति इष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते, अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति, विवेकहानस्याशक्यत्वादिति।

दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः। यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं

जायगा जिससे मोक्षावस्था में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को छोड़कर नित्यसुख सिद्ध न हो सकेगा॥

(यहाँ पर इस अनुमानप्रमाण का आशय तात्पर्यटीका में ऐसा कहा है कि—"शास्त्र संसारी प्राणियों को मुक्ति के साधन का अनुष्ठान करने में प्रवृत्त करता है (और सुख चाहने वाला ही उन साधनों के अनुष्ठान करने में प्रवृत्त होता है और सुख ही इष्ट कहलाता है इस कारण सुखरूप मोक्ष है) ऐसा पूर्वपक्षी के अनुमान का आकार है किन्तु संपूण प्रवृत्ति सुख की प्राप्ति के लिये ही होती है ऐसा नियम नहीं है, किन्तु अनिष्ट (दुःख) की निवृत्ति के लिये भी होती है") (उक्त भाष्य की स्वयं व्याख्या करते हुए पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखाते हैं कि)— इष्ट (सुख) की प्राप्ति लिये शास्त्र में मोक्ष का उपदेश किया है. तथा मोक्ष की इच्छा करने वाले मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति भी होती है, यह दोनों व्यर्थ नहीं है" ऐसा वेदान्ती का यहाँ मोक्षावस्था में, नित्यसुख की सत्ता में अनुमानप्रमाण है" (तो सिद्धान्तिमत से भाष्यकार उत्तर देते हैं कि)— यह भी वेदान्तियों का कहना असंगत है, क्योंकि शास्त्र में अनिष्ट (दुःख) की निवृत्ति के लिये मोक्ष का उपदेश तथा मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति ये दोनों हो सकते हैं इस कारण वेदान्तिमत असंगत है। क्योंकि संसार में कोई भी इष्ट सुख सर्वथा दुःख से मिला न हो ऐसा है ही नहीं, इस कारण इष्ट (सुख) भी अनिष्ट (दुःख) ही हो जाता है (अर्थात् वास्तविक सुख संसार में न होने के कारण मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के लिये ही होती है यह नैयायिकमत में इष्टप्रमाण है यह सिद्ध होता है) क्योंकि दुःख की हानि के लिये लिये चेष्टा करने वाला सुख को भी त्याग देता है, जिस प्रकार मधु तथा विष से मिले हुए अन्न में से विष निकालकर मधुयुक्त ही अन्न को ग्रहण करना असंभव है उसी प्रकार दुःख को निकालकर केवल सुख का ग्रहण करना भी असंभव है (अर्थात् सुख एवं दुःख के सब स्थलों में अत्यन्त सम्बद्ध होने के कारण जो प्राणी दुःख की हानि होने के लिये प्रवृत्त होता है वह उस दुःख के साथ रहने वाले सुख को भी छोड़ ही देता है अतः वेदान्तिमत सर्वथा असंगत है)।

(आगे पुनः पूर्वपक्षी के आक्षेप को देखाते हुए भाष्यकार उसका खण्डन ऐसा करते हैं कि)— दृष्ट (प्रत्यक्ष देखानेवाले) विषय का अतिक्रमण (त्याग) करना तो शरीर इन्द्रियादिकों में भी समान ही है। अर्थात् "जिस प्रकार प्रत्यक्ष संसार में देखाने वाले अनित्य सुख को छोड़कर मोक्षावस्था के नित्यसुख को मुमुक्षु प्राणी प्राप्ति की कामना करता है" ऐसा पूर्वपक्षी का मत हो, तो अनित्य शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि को अतिक्रमण (त्याग) कर नित्यशरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि को भी पूर्वपक्षी को मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर वेदान्ती का "एक शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा ही वास्तविक है दूसरा नहीं" ऐसा कहना अद्वैत मत से सिद्ध नहीं हो सकता। (अर्थात् "संसारीय क्षणिक सुख को छोड़कर बुद्धिपूवक काय करने वाला प्राणी स्थिर सुख को ग्रहण करना चाहते हैं और वह अत्यन्तस्थिर सुख ही है मोक्ष", ऐसा वेदान्ती का कहना होगा वह भी "जिस प्रकार क्षणिक (नश्वर) शरीरादिकों को छोड़ने के लिये अत्यन्त स्थिर शरीरादिकों के प्राप्त

कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः, साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति।

उपपत्तिविरुद्धमिति चेत्? समानम्। देहादीनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति? समानम्। सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति।

आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः। यद्यपि कश्चिदागमः स्यात् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति? सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते, दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोक इति।

नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमाज्ञानात्।

करने की इच्छा करते हैं, इस कारण अत्यन्त स्थिर शरीर तथा इन्द्रियादिकों का मुक्ति अवस्था में रहना ही मोक्ष होता है" ऐसे उत्तर से निरस्त हो जाता है) इस भाष्य में **'साधीयः'** इस पद से सोल्लुण्ठ (हास्ययुक्त) उक्ति का भाष्यकार का आशय सूचित होता है, क्योंकि आत्मा को मोक्षावस्था में शरीरादिकों का होना पक्षकर अद्वैतवादी वेदान्तियों के मत में सिद्ध केवल शुद्ध चैतन्यरूप एक ब्रह्मरूप मत का सिद्धान्त मानना क्या ही वेदान्ती को शोभा देता है)।

(पुनः आगे युक्त पूर्वपक्षी की शंका का अनुवाद करते हुए उसका खण्डन भाष्यकार ऐसा कहते हैं कि)—यदि पूर्वपक्षी कहे कि यह युक्ति के विरुद्ध है, तो युक्ति-विरुद्ध होना दोनों पक्षों में समान ही है। अर्थात् 'शरीर' इन्द्रिय आदिकों को नित्य मानना प्रमाणों के विरुद्ध है, अतः नहीं माने जा सकते' ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो, तो वह भी प्रमाणों के विरुद्ध होने के कारण नहीं माना जा सकता, कि सुख मोक्षावस्था में नित्य होता है।)

(यदि पूर्वपक्षी **'नित्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म'** इत्यादि पूर्वप्रदर्शित श्रुतिवाक्य के बल से मोक्षावस्था में नित्यसुख की सत्ता की सिद्धि करै, तो उक्त सुखवाचक **आनन्द** शब्द का **'दुःखात्यन्ताभाव'** ऐसा अर्थ करने से उक्त आगम (शब्द)-प्रमाण में भी कोई विरोध न आवेगा। यद्यपि उपरोक्त कोई आगम (शब्द) प्रमाण इस विषय में प्रमाण हो सकता है कि मोक्षावस्था में मुक्तप्राणी को अत्यन्त (अविनाशी) सुख होता है, तो इस उपरोक्त आगम में सुखरूप वाचक आनन्द शब्द का अत्यन्त आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों का अभाव ही अर्थ है इस प्रकार नैयायिकमत में उपरोक्त आगम भी संगत हो सकता है। क्योंकि मस्तक पर के बोझे को ढोने में कष्ट के, बोझा मस्तक से उतारने पर जो वह कष्ट (दुःख) दूर होता है, जिसे वह सुख मानता है उसी प्रकार सांसारिक संपूर्ण दुःखों के अत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्षावस्था में मुक्त प्राणी मैं नित्य सुखी हूँ ऐसा संपूर्ण सांसारिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ती को ही मोक्ष सुख है ऐसा मान सकता है)।

(मोक्षावस्था में नित्यसुख मानने से और भी मुक्ती की प्राप्ती न हो सकेगी ऐसा दोष दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पूर्वपक्षी यह बतावे कि इस मोक्षावस्था में होने वाले नित्यसुख में मुमुक्षु प्राणी को अनुराग है या नहीं? यदि नित्यसुख का अनुराग (प्रेम) उस मुमुक्षु का नष्ट नहीं हुआ है, अर्थात् वर्तमान है, तो उसे मोक्ष की प्राप्ती न होगी, क्योंकि अनुराग का ही

यद्ययं मोक्षो नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति ? नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेत् , नाधिगन्तुमर्हतीति । बन्धनसमाज्ञातो हि रागः । न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यत इति ।

प्रहाणे नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् । अथास्य *नित्यसुखरागः* प्रहीयते, तस्मिन्प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति ? यद्येवं-मुक्तस्य नित्यं

नाम तो संसार-बन्धन कहाता है। अर्थात् यदि यह मुमुक्षु प्राणी मोक्षावस्था में नित्यसुख की अभिव्यक्ति होना ही मोक्षपदार्थ है ऐसा नित्यसुख के अनुराग से समझ कर मुक्ती के लिये प्रयास करता हुआ मोक्ष को न प्राप्त होगा, (मुक्ती उसे न मिलेगी) क्योंकि किसी विषय में होने वाले अनुराग को ही बन्धन कहते हैं, बन्धन के रहते कोई भी मुक्त है ऐसा नहीं हो सकता। (अर्थात् यदि मुमुक्षु प्राणियों की मोक्षावस्था के नित्यसुख में अनुराग होने से ही प्रवृत्ती होती है, ऐसा माना जाय तो उसे अनुराग की निवृत्ति न होने के कारण उससे होने वाला मोक्ष भी न हो सकेगा इसी आशय से भाष्यकार ने ऊपर कहा है कि नित्यसुख के अनुराग से मोक्ष के लिये प्रयास करने वाला मोक्ष को प्राप्त न कर सकेगा) ।

(इस प्रकार मोक्षावस्था के नित्यसुख में अनुराग मानने के पक्ष में मोक्ष की अनुपपत्तिरूप दोष दिखा कर, नित्यसुख में अनुराग नष्ट हो गया है अर्थात् नहीं है, इस पक्ष में दोष दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यदि उस मुमुक्षु प्राणी का नित्यसुख में अनुराग नष्ट हो गया है अर्थात् नहीं है, तो वह हमारे मत के प्रतिकूल नहीं है। (अर्थात् जिस मुमुक्षु प्राणी का मोक्षावस्था के नित्यसुख में अनुराग नष्ट हो जाता है, और उसके नष्ट होने के कारण वह उसका नित्यसुख में अनुराग प्रतिकूल (मोक्ष का रोकने वाला) नहीं है, यदि ऐसा है, तो मुक्तप्राणी को मोक्षावस्था में नित्यसुख होता है या नहीं होता है, इस दोनों पक्षों में मोक्ष की प्राप्ति होने में कोई विकल्प (संदेह) नहीं हो सकता (अर्थात् 'मोक्ष के दुःखनिवृत्तिरूप होने के कारण उसमें प्रवृत्ति होने का दुःख में द्वेष ही कारण हो सकता है, द्वेष भी बन्धन होता है' ऐसा यदि नैयायिक पक्ष पर पूर्वपक्षी दोष दे, तो भाष्यकार का उसके उत्तर में यह आशय है कि जिस मुमुक्षु प्राणी का मोक्षावस्था के नितमसुख का अनुराग नष्ट हो गया है, उसकी किसी विषय में प्रतिकूल बुद्धि अथवा द्वेष नहीं हो सकता, क्योंकि सुख के विरोधियों में ही द्वेष हुआ करता है। जिसका अनुराग नष्ट हो गया है वह मुमुक्षु प्राणी जिस समय मोक्ष की प्राप्ति में प्रवृत्त होकर उस मोक्ष में नित्यसुख प्राप्त होता है या नहीं ऐसे संदेह से विचार करता है, उस समय उसके पूर्वोक्त विचारों से उसके मोक्ष के प्रतिबन्ध करने वाले सम्पूर्ण राग, द्वेष तथा मोहादिकों के निवृत्त हो जाने से मोक्ष अवश्य प्राप्त होता ही है। इसी कारण 'इस प्रकार वैराग्य से मुमुक्षु प्राणी की मुक्ती होने में प्रवृत्ति होने पर मुक्ति अवस्था में उसे नित्यसुख होता है, तो, अथवा न हो, ऐसे दोनों पक्षों में यदि राग की निवृत्ति होने के कारण उसे वीतराग मुमुक्षु की मुक्ती में प्रवृत्ती होने से मोक्ष की प्राप्ति में कोई विकल्प (सन्देह) नहीं हो सकता' ऐसी वाचस्पतिमिश्र ने यहाँ समालोचना की है।) अर्थात् नित्यसुख में अनुराग न होना मुमुक्षु को आवश्यक होने के कारण मोक्षावस्था में नित्यसुख मानकर मोक्ष मानने में तथा न मानकर भी मोक्ष की प्राप्ती मानने में कोई विशेषता नहीं है, अतः

सुखं भवति; अथाऽपि न भवति; नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमो विकल्प इति ॥ २२ ॥

इति चतुर्दशभिः सूत्रैः प्रमेयलक्षणप्रकरणम् ।

स्थानवत एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥ २३ ॥

नित्यसुख न मानकर मोक्ष मानने में ही लाघव है ऐसा नैयायिकों का गूढ़ आशय इस विषय में है यह सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

(१९) संशयनिरूपणप्रकरण

(गौतम महर्षि के प्रथम सूत्र में कहे हुए षोडश पदार्थों की सिद्धि प्रमाणों के अधीन होने के कारण, तथा प्रमेय पदार्थों की कितने हैं तथा कौन से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने के कारण भी दोनों का निरूपण कर उनसे संशय का अपकर्ष (दूरता) है । अतः इनके पश्चात् संशय का वर्णन है किन्तु अंग तथा उपाङ्गों के सहित न्याय का इस शास्त्र में मुख्यरूप से वर्णन करना है, अतः और आगे के पदार्थों की अपेक्षा से अंगों में मुख्य होने के कारण संशय में उत्कर्ष भी है । सन्दिग्ध विषय में ही प्रयोजन का विचार होता है, अतः प्रयोजन के भी प्रथम संशय का वर्णन किया जाना उचित है, इसी अभिप्राय से प्रथम उद्देशसूत्र में द्वितीय प्रमेय पदार्थ के पश्चात् तृतीय संशय पदार्थ का ही उद्देश होने के कारण उसीका वर्णन करने की क्रम से प्राप्ति है, इस आशय से भाष्यकार संशय का स्वरूप दिखाने वाले २३ वें सूत्र का अवतरण देते हुए कहते हैं कि)—तब तो प्रमाण, एवं प्रमेय पदार्थों के पश्चात् स्थान (क्रम) प्राप्त तृतीय संशय पदार्थ का ही लक्षण करना चाहिये, इस कारण उस संशय का लक्षण सूत्र में कहा जाता है—

पदपदार्थ—समानानेकधर्मोपपत्तेः = साधारण तथा विशेष धर्म के ज्ञान से, विप्रतिपत्तेः = विरुद्ध दो कोटि (पक्षों) के ज्ञान से, उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः च = और उपलब्धि (प्राप्ति), तथा अनुपलब्धि (अप्राप्ति) इन दोनों की अव्यवस्था (एक पक्ष में स्थिर न होना) इससे भी विशेषापेक्षः = विशेषधर्म के ज्ञान की आवश्यकता रखने वाला, विमर्शः = विरुद्ध दो पक्षों को विषय करने वाला ज्ञान, संशयः = संदेह नामक तृतीय पदार्थ है ॥ २३ ॥

भावार्थ—एक धर्म में अनेक विरुद्ध धर्मों को विषय करने वाला **'यह क्या है'** ऐसा ज्ञान संशय कहाता है, ऐसा संशय पदार्थ का सामान्य लक्षण है । जो साधारण धर्म के ज्ञान से, तथा अनेक (विशेष) धर्म के ज्ञान से, एवं विरुद्ध दो कोटि (पक्षों) को विषय करने वाले वाक्यों से उत्पन्न हुये ज्ञान से भी, इस प्रकार तीन कारणों से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार का होता है और भाष्यकार के मत से उपलब्धि (प्राप्ति), तथा अनुपलब्धि (अप्राप्ति) की व्यवस्था (एक पक्ष में स्थिति) न होने से ऐसे दो कारणों से संशय उत्पन्न होता है, इस कारण संशय पाँच प्रकार का है । इस प्रकार का संपूर्ण ही संशय विशेष धर्मज्ञान की अपेक्षा करते हैं ।

(उपरोक्त संशय का सामान्यलक्षण इस कारण युक्त है कि वह अपने विजाति के प्रमाणादि पदार्थ तथा मिथ्याज्ञानादिरूप समान जाति के पदार्थों से भी भेद सिद्ध करता है, अथवा **'यह क्या है ?'** ऐसे ज्ञान में संशय रूपज्ञान का व्यवहार कराता है, इसी कारण प्राचीन दार्शनिकों ने कहा है कि—**'व्यावृत्ति'** (भेद करना) **'व्यवहारो वा'** = अथवा व्यवहार कराना ही, **'लक्षणस्य'**

समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति। स्थाणुपुरुषयो समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टं च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किंस्विदित्यन्यतरं नावधारयति, तदनवधारणं ज्ञानं संशयः। समानमनयोर्धर्ममुपलभे विशेषमन्यतरस्य नोपलभ इत्येषा बुद्धिः *अपेक्षा*—संशयस्य प्रवर्त्तिका वर्त्तते, तेन *विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।*

(लक्षण का) **'प्रयोजनम्'** प्रयोजन है। (इसमें **'समानधर्मोपपत्तेः'** इत्यादि तीनों पदों के साथ **'विशेषापेक्षः विमर्शः संशयः'** इस सामान्य संशय के लक्षण के पदों की आवृत्ति करना चाहिये। यहाँ उपपत्ति शब्द का सामान्यरूप से संज्ञा का अर्थ होता है, तथापि उसकी उपलब्धि (प्राप्ति) सूत्रकार को अभिमत है यह सूचित होता है। 'विषय तथा विषयी के अभेद के कहने की इच्छा से **'उपपत्ति ही उपलब्धि है'** ऐसा तात्पर्य टीका में भी कहा है। (यही व्याख्या **वार्तिकमत से की है**) भाष्यकार के मत से तो इस सूत्र में पाँच प्रकार के संशय कहे हैं तीन ही नहीं। क्योंकि उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था इन दोनों को भी स्वतन्त्र दो संशयों के लक्षण हैं, ऐसा उन्होंने माना है, किन्तु यह दोनों पद पूर्वप्रदर्शित तीन प्रकार के संशयों का ही विशेषण है ऐसा **वार्तिक** तथा **तात्पर्यटीका** का मत है, कारण यह कि उक्त भाष्यकार के मत पर वार्तिककार की श्रद्धा नहीं है ऐसा **तात्पर्यटीका में** स्पष्ट वर्णन किया है—कि 'समान तथा अनेक (विशेष) धर्म की उपलब्धि के रहते, तथा विशेष धर्म का स्मरण रहते साधक तथा बाधक प्रमाण के न रहने पर संशय नहीं होता है, इस कारण **'उपलब्धि** तथा **अनुपलब्धि की अव्यवस्था'** को अलग संशय का कारण मानने की आवश्यकता नहीं है')॥ २३॥

(आगे सूत्र की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कारण के द्वारा संशयों का क्रम से उदाहरण देते हुए लक्षण दिखाते हैं कि)—समान धर्म की उपपत्ति (ज्ञान) से, विशेष धर्म के ज्ञान की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान को प्रथम संशय कहते हैं। जिस प्रकार स्थाणु (वृक्ष) तथा पुरुष (मनुष्य) के समान आरोह परिणाह (ऊंचाई विस्तार के इन दोनों धर्मों को चक्षु से प्रत्यक्ष देखने वाला प्राणी, पूर्वकाल में देखे हुए उन दोनों के शाखा, हस्त आदि धर्मरूपविशेष को जानने की इच्छा करता हुआ **'यह क्या है'** इस प्रकार संदेह को प्राप्त होता है, नकि उसे यह वृक्ष है या मनुष्य है ऐसा निश्चय होता है। इस निर्णय रहित ज्ञान को संशय कहते हैं (यहाँ सूत्र के **'विशेषापेक्षः'** इस पद का **'बुभुत्समानः'**, एवं **'विमर्शः'** इस पद का **'किं स्वित्'** ऐसा भाष्य में अर्थ किया गया है यह जानना चाहिये) (आगे भाष्यकार सूत्र के **'विशेषापेक्षः'** इस पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि)—इन दोनों (वृक्ष तथा मनुष्य) के ऊंचाई तथा विस्ताररूप समान धर्म को मैं प्राप्त कर रहा हूँ इन दोनों में से किसी एक के शाखा, हस्त आदि विशेष धर्म को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ इस बुद्धि का नाम है **'अपेक्षा'** जो संदेह को उत्पन्न करती है, इस कारण उक्त संशय विशेषापेक्ष होता है। (यद्यपि अपेक्षाशब्द सामान्यरूप से इच्छा का बोधक होता है तथापि वाक्य के सामर्थ्य से यहाँ पर ग्रहण करने की इच्छा का बोधक है और वह संशय की कारण नहीं है। क्योंकि संदेह होने पर ग्रहण की इच्छा होती है, इस कारण ग्रहण करने के इच्छास्वरूप विशेषापेक्षा से यहाँ पर आगे रहते वाक्यों के विशेष धर्मों का सादृश्य से स्मरण होने पर ग्रहण न होना यह सूचित होता है और ऐसा होने से एक पक्ष के साधक तथा बाधक प्रमाण के न रहने पर विनाश अवस्था में रहती हुई, विशेष धर्मों के स्मरण के

अनेकधर्मोपपत्तेरिति। समानजातीयमसमानजातीयं चाऽनेकम्। तस्यानेकस्य *धर्मोपपत्तेः। विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्।* समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चाऽर्था विशिष्यन्ते, गन्धवत्त्वात्पृथिव्यवादिभ्यो विशिष्यते गुणकर्मभ्यश्च। अस्ति च शब्दे विभागजन्यत्वं विशेषः। तस्मिन्द्रव्यं गुणः कर्म वेति सन्देहः *विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्।* किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्मभ्यो विशेषः, आहोस्विद्गुणस्य सतो द्रव्यकर्मभ्यः, अथ कर्मणः सतो द्रव्यगुणेभ्य इति *विशेषापेक्षा।* अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभ इति बुद्धिरिति।

अविनाश अवस्था में रहती हुई एक क्षण में होती हुई उपरोक्त संशयरूप ज्ञान की कारण होती है यह सिद्ध होता है)।

(इस प्रकार उदाहरणपूर्वक प्रथम संशय का वर्णन करने के पश्चात् भाष्यकार द्वितीय संशय का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि)—सूत्र के **'अनेकधर्मोपपत्तेः'** इस पद में अनेक पद का अर्थ है समान जाति का, तथा असमान (विरुद्ध जाति का) उस अनेक के धर्म की उपपत्ति अर्थात् विशेष से उभयथा (दोनों प्रकार से) दृष्ट (प्रत्यक्ष) होने के कारण क्योंकि कोई पदार्थ अपने समान जाति के पदार्थों से एवं विरुद्ध जाति के पदार्थों से विशेषित (भिन्न) होते हैं। जिस प्रकार गन्ध की आधारतारूप धर्म से पृथिवी नामक द्रव्य द्रव्यरूप से समान जाति के जल, तेज, वायु आदि द्रव्यों से, तथा असमान विरुद्ध जाति के गुण, कर्म, सामान्य आदि पदार्थों से भी भिन्न होते हैं और उस शब्द में विभाग से उत्पन्न होना यह विशेष धर्म भी है। उस शब्द में यह द्रव्य, गुण, अथवा कर्म पदार्थ है ऐसा संशय होता है, क्योंकि विशेष (भेद) दोनों से (समान एवं विरुद्ध जाति वाले पदार्थों से) देखा जाता है, कि क्या द्रव्यपदार्थ होते हुए यह विभाग से उत्पन्नहोना, गुण तथा कर्म पदार्थ से विशेष (भेदसाधक) है अथवा गुणपदार्थ होते हुए, अथवा कर्म पदार्थ होते हुए। यहाँ पर भी सूत्र में कही हुई **'विशेषापेक्षा'** इस कारण है कि दो में से एक पक्ष की व्याख्या करने वाला कोई विशेष धर्म प्राप्त नहीं होगा ऐसी बुद्धि होती है)।

(यदि साथ दोनों में रहने वाला धर्म ही संशय का कारण होता है, विशेष धर्म नहीं होता, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो इसका उत्तर देने के लिये ही भाष्यकार ने भाष्य में **'विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात्'** विशेष के दोनों प्रकार से दिखाने से, ऐसा कहा है, जिससे जो सत्ता, अनित्यता आदि धर्मों से युक्त होता हुआ विशेष का आश्रय होता है वह समान तथा विरुद्ध जाति के पदार्थों से व्यावृत्त (पृथक्) होता है, जिस प्रकार पृथिवीरूप द्रव्य, द्रव्यरूप से समान जाति के जलादि एवं विरुद्ध ज़ाति के गुणकर्म आदि पदार्थों से भी गन्ध का आधार होने से भिन्न है। उसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भी सत्ता अनित्यता आदि धर्म से युक्त शब्द भी विभाग से उत्पन्न होना रूप विशेष धर्म होने के कारण समान तथा विरुद्ध जाति के पदार्थों से विशेषित होने से उसमें यह शब्द द्रव्य है, या गुण, या कर्मपदार्थ ऐसा द्वितीय संशय का उदाहरण हो सकता है) (किन्तु यह भाष्यकार की व्याख्या है, क्योंकि वार्तिककार ने यहाँ दूसरी ऐसी व्याख्या की है कि—यद्यपि विभाग से उत्पन्न होना दूसरे द्रव्यादिकों में कहीं भी देखा नहीं जाता, तथापि उसका अभाव प्रत्येक द्रव्यादि पदार्थों में देखने में आता है इस कारण विभागजन्यता से पूर्वोक्त सत्तादि धर्मों की विशेषता न देखने वाला शब्द (१) द्रव्य तथा कर्म इन दोनों से भिन्न होता हुआ क्या गुण है,

विप्रतिपत्तेरिति। व्याहतमेकार्थदर्शनं *विप्रतिपत्तिः,* व्याघातः–विरोधोऽसहभाव इति। अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनम् नास्त्यात्मेत्यपरम्, न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र सम्भवतः, न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते, तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति।

उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि। सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु मरीचिषु चाऽविद्यमानमुदकमिति, अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यतेऽथासदिति संशयो भवति।

अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः। सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्चानुत्पन्नं

---

(२) अथवा गुण और कर्म पदार्थों से भिन्न होता हुआ क्या द्रव्य है, (३) गुण और द्रव्य इन दोनों से भिन्न होता हुआ क्या कर्मपदार्थ है, इस प्रकार व्यतिरेक के द्वारा द्रव्यादि तीनों का स्मरण कराकर सामान्य ही धर्म से संशय का कारण होता है' ऐसा वार्तिक में स्पष्ट किया है)।

(इस प्रकार दो प्रकार के संशयों का उदाहरणपूर्वक स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् क्रमप्राप्त तृतीय संशय का उदाहरण द्वारा लक्षण करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—सूत्र में **'विप्रतिपत्तेः'** इस पद का एक विषय में परस्पर विरुद्ध धर्म का दर्शन (दिखाना) ऐसा अर्थ है। जिसमें **'व्याहत'** इस शब्द में परस्पर विरोध अथवा साथ में न रहना ही व्याघात शब्द का अर्थ है। उदाहरण जिस प्रकार आत्मा है ऐसा एक दर्शन (मत), तथा आत्मा नहीं है ऐसा दूसरा मत है, किन्तु एक पदार्थ में सद्भाव (सत्ता) तथा असद्भाव (असत्ता) ये दोनों साथ में नहीं रह सकते। और दो पक्षों में से एक पक्ष का साधक कोई हेतू उपलब्ध (प्राप्त) नहीं, होता है। इस कारण इसमें तत्त्व (वास्तविकता) का निश्चय न होना यह तृतीय विप्रतिपत्तिजन्य संशय होता है। (यद्यपि विरुद्ध ज्ञान को ही **'विप्रतिपत्ति'** ऐसा कहते हैं, तथापि वह वादि (पक्षी), तथा प्रतिवादी (प्रतिपक्षी) इन दोनों में रहने वाले उस विरुद्धज्ञान को अत्यन्त परोक्ष (अप्रत्यक्ष) होने के कारण दूसरों को संशय की कारण न होने से विप्रतिपत्ति का कार्य **'प्रवाद'** विप्रतिपत्तिशब्द से यहाँ सूचित होता है, क्योंकि विप्रतिपत्ति का बहुत लोकों में प्रसिद्ध होना आवश्यक है)।

(आगे संशय के भाष्यकार को सूत्र में अभिमत चतुर्थ संशय का स्वरूप भाष्यकार दिखाते हैं कि)—उपलब्धि (प्राप्ति) की अव्यवस्था (व्यवस्था न होने) से भी संशय होता है। जिस प्रकार तडाग (तलाव), कूप (कूंआ) आदिकों में वर्तमान भी जल प्राप्त होता है तथा ग्रीष्म ऋतु के हिलने वाले सूर्यकिरणरूप मरीचियों में न रहने वाला भी जल उपलब्ध होता है। इस कारण कहीं दूसरे स्थल में जल के प्राप्त होने पर यह वर्तमान जल है अथवा अवर्तमान इन दोनों पक्षों में एक वास्तविक पक्ष की व्यवस्था करने वाले प्रमाण के न होने से यह जल तडाग जल के समान वर्तमान उपलब्ध (प्राप्त) होता है, अथवा सूर्यकिरणों के समान अवर्तमान प्राप्त हो रहा है ऐसा संशय होता है।)

(इसी प्रकार पाँचवें संशय का स्वरूप दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अनुपलब्धि (अप्राप्ति) की व्यवस्था न होने से भी संशय होता है। जैसे मूल में (नीचे) ऊपर से वस्त्रादिकों के आवरण से छिपा हुआ जल रहने पर भी प्राप्त नहीं होता तथा न उत्पन्न हुआ अथवा नष्ट हो गया हुआ भी जल प्राप्त न होता इसके पश्चात् दूसरे किसी स्थल में जल के न मिलने से संशय होता है कि क्या यह आवरण से छिपे हुए जल के समान वर्तमान होता हुआ प्राप्त नहीं हो रहा

निरुद्धं वा, ततः क्वचिदनुपलभ्यमाने संशयः, किं सन्नोपलभ्यते उताऽसदिति संशयो भवति । *विशेषापेक्षा* पूर्ववत् ।

पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे, एतावता विशेषेण पुनर्वचनम् । समानधर्माधिगमात्समानधर्मोपपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो *विमर्श* इति ॥ २३ ॥

स्थानवतां लक्षणमिति समानम्,

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वा व्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति, *प्रयोजनं*

है, अथवा उत्पन्न न हुये या नष्ट हुये जल के समान न रहकर प्राप्त नहीं हो रहा है ? इन संशयों में भी विशेष की आवश्यकता पूर्व संशयों के समान जान लेनी चाहिये)।

(आगे उपरोक्त उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की व्यवस्था का न होना इन दोनों के समान धर्मादि तीन पूर्वोक्त संशयों के कारणों से पृथक् संशय का कारण मानकर **'समान धर्म के ज्ञान से'** इसमें इन दोनों का अन्तर्भाव नहीं है, इस आशय से भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रथम कहा हुआ समान तथा अनेक (विशेष) धर्म, ज्ञेय (जानने योग्य) वृक्षादि विषयों में रहता है, और उपलब्धि (प्राप्ति), तथा अनुपलब्धि (अप्राप्ति) ये दोनों धर्मज्ञाता (जानने वाले) आत्मा के धर्म हैं । इस विशेषता को लेकर ही इनका पुनः सूत्र में वचन (उक्ति) है । (किन्तु तीन ही प्रकार का संशय होता है इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—समान धर्म के अधिगम अर्थात् समान धर्म के ज्ञान से विशेष धर्म के स्मरण की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान संशय कहाता है (अतः संशय तीन प्रकार का ही है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूत्र में दिखाये हुए पाँचों संशय के कारण ज्ञाता में ही हो सकते हैं) (यहाँ पर वार्तिक में उक्त तीन संशयों के लक्षणों के विषय में क्या यह संपूर्ण मिले हुए संशय के लक्षण हैं, अथवा भिन्न-भिन्न ऐसा संशय दिखाकर संपूर्ण मिले ही लक्षण हैं ऐसा निर्णय किया है, जिसे पाठकों को स्वयं वार्तिक में देख लेना चाहिये) ॥ २३

(२०) प्रयोजन चतुर्थ पदार्थ निरूपण प्रकरण ।

(इस प्रकार षोडष पदार्थों में से प्रमाण, प्रमेय तथा संशय नामक तीन पदार्थों का निरूपण करने के पश्चात् क्रमप्राप्त प्रयोजन नामक चतुर्थ पदार्थ का वर्णन करने में भाष्यकार सङ्गति दिखाते हुए २४वें सूत्रकार अवतरण देते हुए कहते हैं कि)—स्थान (क्रम) वान् (क्रमवाले) पदार्थों का लक्षण कहना चाहिये यह पूर्व के अनुसार यहाँ तथा आगे भी जानना चाहिये—

पदपदार्थ—य = जिस, अर्थं = अर्थ (विषय) को, अधिकृत्य = उद्देशकर, प्रवर्तते = प्राणियों की प्रवृत्ति होती है, तत् = वह, प्रयोजनं = प्रयोजन नामक चतुर्थ पदार्थ है ॥ २४ ॥

भावार्थ—संसार के प्राणिमात्र की जिस विषय में साधारणरूप से प्रवृत्ति होती है उसे प्रयोजन कहते हैं । (इस सूत्र में अर्थ शब्द से गौण तथा मुख्य प्रयोजन का बोध होता है जिसमें सुख की प्राप्ति एवं दुःख का परिहार मुख्य प्रयोजन है, और उसका साधन (उपाय) गौण प्रयोजन कहाते हैं) ॥ २४ ॥

(सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिसे प्राप्त करने योग्य अथवा त्याग करने योग्य पदार्थ की व्यवसाय (निश्चय) कर, उसकी प्राप्ति तथा हान के उपाय को

तद्वेदितव्यम्, प्रवृत्तिहेतुत्वात्। इममर्थमाप्स्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः, एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति ॥ २४ ॥

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

लोकसाम्यमनतीताः लौकिकाः, नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः। तद्विपरीताः *परीक्षकाः,* तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति।

प्राणिमात्र करते हैं, उसे प्रयोजन जानना चाहिये। सूत्र में **'अधिकृत्य'** इस पद में अधिकार शब्द का मैं इस अर्थ को प्राप्त करूंगा, अथवा त्याग करूंगा ऐसा निश्चय करना अर्थ है। क्योंकि उक्त प्रकार से निश्चित किया अर्थ ही **'अधिकृत'** (अधिकार प्राप्त) कहा जाता है। (यहाँ **'व्यवसाय'** ऐसा पाठ भाष्य में **तात्पर्य टीकाकार को** संमत है। सूत्र के **'अधिकृत्य'** इस पद की **'व्यवसाय'** निश्चित कर ऐसी व्याख्या है। इस सूत्र में साधनसहित सुख की प्राप्ति तथा दुःख का परिहार **'अर्थ'** शब्द का अर्थ है। स्वरूप से सुख की प्राप्ति तथा दुःख का परिहार ये दोनों प्राणी के प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय नहीं होते, इस कारण उन दोनों के उपाय में प्रवृत्ति होने से वे चेतन आत्मा के प्रवृत्ति के विषय होते हैं, ऐसा अर्थ शब्द सूचित करता है। यहाँ पर सूत्र में **'अधिकृत्य'** ऐसा पद दिया है और भाष्य में **'व्यवसाय'** इस कारण संगति नहीं हो सकती इस शंका के निवारण के लिए ही आगे भाष्यकार ने व्यवसाय ही सूत्र में अधिकार शब्द का अर्थ है ऐसा कहा है ॥ २४ ॥

(२१) दृष्टान्त पंचम पदार्थ निरूपण प्रकरण।

(न्याय के पूर्वसंशय तथा उत्तर अंग प्रयोजन का वर्णन करने के पश्चात् किस अर्थ (पक्ष) में साध्य के साथ व्याप्तिरूप सम्बन्ध रखने वाले साधन हेतु को मैं प्राप्त करूं (जानूं), जिसके बल से इससाध्य की सिद्धि कर सकूँ इस प्रकार जिज्ञासा के क्रम के अनुसार दृष्टान्त नाम के न्याय के अंगरूप पंचम पदार्थ के वर्णन का अवसर होने के कारण सूत्रकार उसका ऐसा लक्षण करते हैं कि)—

पदपदार्थ—लौकिक परीक्षकाणां = लोक व्यवहार को जानने वाले लौकिक पुरुष तथा शास्त्र को जानने वाले परीक्षक, ऐसे दोनों प्रकार के प्राणियों को, यस्मिन् = जिस, अर्थे = पदार्थ से, बुद्धिसाम्यं = बुद्धि की समानता होती है, सः = वह पदार्थ, दृष्टान्तः = दृष्टान्त कहा जाता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रकार के अनुमानरूप न्याय से किसी सन्दिग्ध विषय की सिद्धि दृष्टान्त के बिना नहीं होती, अतः वह न्याय का अंग है अतः जिसे लोक-व्यवहार में निपुण तथा शास्त्र को जानने वाले दोनों प्रकार के प्राणी समानरूप से जानते हैं वह दृष्टान्त-नामक षोडश पदार्थों में नैयायिकों ने पंचम पदार्थ कहा है। इस सूत्र में लौकिक तथा परीक्षकों का पृथक् ग्रहण इसलिये किया है जिससे आकाशादिक भी दृष्टान्त हो सके ॥ २५ ॥

(भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र के **'लौकिकपरीक्षकाणां'** इसमें लौकिक शब्द का अर्थ करते हैं कि)—सामान्यरूप से लोकव्यवहार को जो नहीं छोड़ते वे प्राणी तथा परीक्षक लौकिक क्रम से कहाते हैं, अर्थात् 'जिन्हें नैसर्गिक (स्वभावसिद्ध), तथा वैनयिक शास्त्र की आलोचना से प्राप्त, अधिक ज्ञान नहीं होता वे लौकिक कहाते हैं। और इसके जो विपरीत (स्वाभाविक तथा शास्त्रज्ञान से उत्पन्न) ज्ञानी होते हैं, उन्हें परीक्षक कहते हैं, क्योंकि वे तर्क तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बल से अर्थ (विषय) की परीक्षा कर सकते हैं। (अर्थात् नैसर्गिक

यथा यमर्थं लौकिक बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः। दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति ॥ २५ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्न्यायपूर्वाङ्गलक्षणप्रकरणम् ।

अथ सिद्धान्तः। इदमित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धं सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था—धर्मनियमः।

स खल्वयम्—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

एवं वैनयिक ऐसी दोनों बुद्धि से रहित प्राणी (लौकिक) प्रतिवादन योग्य होते हैं, और दोनों उक्त बुद्धि वाले प्राणी परीक्षक प्रतिपादन करने वाले होते हैं, जिससे वादि एवं प्रतिवादी ऐसा अर्थ यहाँ लौकिक तथा परीक्षक पद से सूचित होता है)।

(आगे पूरे सूत्र का अर्थ करते हुए भाष्यकार करते हैं कि)—लौकिक प्राणी जिस अर्थ को जिस प्रकार जानते (मानते) हैं, उसी प्रकार शास्त्र जानने वाले परीक्षक प्राणी भी उस अर्थ को जानते (मानते) हैं, उस अर्थ को दृष्टान्त कहा जाता है तथा दृष्टान्त नामक पदार्थ न्याय का अंग मानना इसलिये भी आवश्यक है कि प्रतिपक्षी (विरोधी) के मत का उसके दिये दृष्टान्त में विरोध दिखाने से ही उसका खण्डन हो सकता है तथा दृष्टान्त के समाधान (सत दृष्टान्त के दिखाने) से अपने पक्ष की स्थापना (सिद्धी) भी हो सकती है। तथा यही दृष्टान्त नामक न्यायाङ्ग पंचम पदार्थ आगे कहे जाने वाले न्याय के प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव पदार्थों में उदाहरण नामक तीसरा अवयव हो सकता है ॥ २५ ॥

(२२) न्यायाश्रय षष्ठ सिद्धान्त लक्षण प्रकरण।

इस प्रकार न्याय के पूर्व तथा उत्तर अंग संशय तथा प्रयोजन दो पदार्थों के वर्णन के पश्चात् न्याय के आधारसिद्धान्त नामक पंचम पदार्थ का वर्णन करते हुए २६वें सूत्र का अवतरण देते हुए सूत्र को न पढ़कर ही (सिद्धान्त के सामान्य लक्षण के) उसके विषय में भाष्यकार भूमिका-रूप से प्रथम ऐसा कहते हैं कि)—सांप्रत पंचम पदार्थसिद्धान्त कहा जाता है। यह ऐसा ही है इस प्रकार से स्वीकार किये जाने वाले अर्थ (विषय) के समुदाय को **'सिद्ध'** ऐसा कहते हैं, उस सिद्ध विषय के **'संस्थिति'** अच्छी व्यवस्था का नाम है सिद्धान्त जिसमें संस्थिति शब्द का अर्थ है इसी प्रकार इस विषय के मानने की व्यवस्था अर्थात् धर्मों का नियमा वह यह निश्चय से—

पदपदार्थ—तन्त्राधिकरणाभ्युपगमासंस्थितिः = शास्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम (स्वीकार) इन तीनों के माने हुए विषयों की सम्यक् (अच्छी तरह) व्यवस्था मानना, सिद्धान्तः = सिद्धान्त नामक पञ्चम पदार्थ है ॥ २६ ॥

भावार्थ—अनुमानरूप न्याय का आश्रय होता है सिद्धान्त नामक षोडष पदार्थों में पञ्चम पदार्थ यह (१) सर्वतन्त्र तथा (२) प्रतितन्त्र नामक शास्त्र, (३) अधिकरण तथा (४) अभ्यु-पगम इस भेद से चार प्रकार का होता है यह आगे सूत्रकार स्वयं कहेंगे। इसका सामान्य लक्षण ऊपर भाष्य में दिखाया जा चुका है। यहाँ पर "भाष्यकार ने सिद्धान्त के सामान्य लक्षण के सूत्र को न पढ़ कर ही 'अथसिद्धान्तः' इस भाष्य में तात्पर्य कहा है" इस प्रकार के तात्पर्यटीका के कथन के अनुसार 'कोई सिद्धान्त में सामान्य लक्षण का सूत्र अवश्य था जो सांप्रत में कहीं

तन्त्रार्थसंस्थितिः तन्त्रसंस्थितिः, तंत्रमितरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम्। अधिकरणानुषक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः, अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः, तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः।

तन्त्रभेदात्तु खलु—

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

भी नहीं मिलता' ऐसा कुछ विद्वानों का मत है किन्तु २६ वाँ सूत्र ही सिद्धान्त का सामान्य लक्षण होने के कारण उपरोक्त मत ठीक नहीं है। वस्तुतः इस सूत्र के पाठ के पूर्व ही भाष्यकार ने सूत्र का तात्पर्य वर्णन कर दिया है' यही तात्पर्यटीका का गूढ़ आशय प्रतीत होता है। (उक्त भाष्य में **'इदं'** इस पद से सामान्यरूप से ज्ञान होता है तथा **'इत्थं भूतं च'** इस पद से विशेषरूप से ज्ञान होना ऐसा अर्थ जानना चाहिये)। और **'संस्थिति'** इस शब्द का भाष्य में सामान्यरूप से प्रारम्भ के विषय का प्रमाण से विशेषरूप से समाप्त करना ऐसा अर्थ है। सूत्र के अक्षरों से ऐसा अर्थ होता है कि तन्त्र ही है अधिकरण (आश्रय) जिन अर्थों का, उनके **'अभ्युपगमसंस्थिति'** अर्थात् धर्मनियमरूप **'इत्थंभावव्यवस्था'** (यह ऐसा ही है ऐसी व्यवस्था) सिद्धान्त कहाती है। इसमें **'तन्व्यन्ते'** विशेषरूप से कहे जाते हैं प्रमेयपदार्थ जिससे ऐसी व्युत्पत्ति के लिये तन्त्र का अर्थ होता है प्रमाण, वह जिन प्रमेयपदार्थों का ज्ञापक (जनाने वाला) है। ऐसे प्रमेयपदार्थों के उपरोक्त **'इत्थं भावव्यवस्था'** को सिद्धान्त कहते हैं यह सूचित होता है) (यदि यहाँ पर छब्बीसवें सूत्र में वर्तमान भाष्य की पङ्क्तियाँ सूत्र की व्याख्या मानी जायँगी तो तन्त्र की, अधिकरण की तथा अभ्युपगम की संस्थिति ऐसा द्वंद्व समास मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा मानने से यह २६ वाँ सूत्र सिद्धान्त के विभाग का बोधक होने के कारण विभाग कहने वाले २७ वें सूत्र से पुनरुक्ति दोष हो जायगा, अर्थात् दोनों सूत्र सिद्धान्त में विभाग ही को कहने वाले हो जायँगे) इसी सम्पूर्ण विचार से तात्पर्यटीकाकार ने **'तन्त्रार्थसंस्थितिः'** इत्यादि २६ वें तथा २७ वें सूत्र के मध्यमें भाष्यकार ने पढ़ी हुई पंक्तियों को २७ वें सूत्र की व्याख्या माना है। इसी कारण उन्होंने व्याख्या पूर्व में कर विभाग सूत्र को भाष्यकार पढ़ते हैं **'तन्त्रार्थसंस्थितिः'** इत्यादि भाष्य में ऐसा अवतरण दिया है और तन्त्र शब्द से सर्वतन्त्र तथा प्रतितन्त्र दोनों का ग्रहण करना, क्योंकि वहाँ भी तन्त्र है ऐसा भी तात्पर्यटीका में कहा है) ॥ २६ ॥

(भाष्यकार २६वें सूत्र की व्याख्या में इस प्रकार करते हैं कि)—इस सूत्र में **तन्त्रार्थसंस्थिति** इस शब्द का अर्थ है तन्त्रसंस्थिति अर्थात् शास्त्र को विषय के मानने की सम्यक् व्यवस्था जिसमें परस्पर में सम्बन्ध रखने वाले अर्थ (विषयों) के समूह के उपदेश को करने वाले शास्त्र का नाम है तन्त्र, तथा अधिकरण में सम्बद्ध विषयों से होनेवाली **इत्थं भावव्यवस्था** जो अधिकरण संस्थिती कहती है एवं (शास्त्र में साक्षात् कहे हुए) विषय की स्वीकार (इत्थंभावव्यवस्था) को अर्थात् इसकी धर्मस्वरूप से परीक्षा करने के लिये अभ्युपगम नामक सिद्धान्त होता है जैसे मन का इन्द्रिय होना ॥ २६ ॥

(इस प्रकार २६वें सूत्र की व्याख्या के पश्चात् २७वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—वह पूर्वोक्त सिद्धान्त तन्त्र के भेद से चार प्रकार ऐसा है)—

पदपदार्थ—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् = सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र,

तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः ॥ २७ ॥

तासाम्—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ॥ २८ ॥

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ २९ ॥

अधिकरण तथा अभ्युपगम नामक संस्थिति (सिद्धान्त) इस भेद से (सिद्धान्त चार प्रकार का है ॥ २७ ॥

भावार्थ—२६वें सिद्धान्त के सामान्य लक्षण के सूत्र में पढ़े हुए तन्त्र शब्द का सर्वतन्त्र तथा प्रतितन्त्र ऐसे दो तन्त्रों के ग्रहण करने से दो एवं अधिकरण और अभ्युपगम ऐसे दो, इस प्रकार के अर्थ (विषयों) की इत्थंभूतव्यवस्थारूप सिद्धान्त चार प्रकार का होता है ॥ २७ ॥

(भाष्यकार २७वें सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यह वह सूत्र में कहे हुए विषयों की इत्थंभावव्यवस्थारूप संस्थिती (सिद्धान्त) भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् (१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त, (२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त, (३) अधिकरण सिद्धान्त, एवं (४) अभ्युपगम सिद्धान्त चार सिद्धान्त न्यायशास्त्र में माने हैं ॥ २७ ॥

उन चारों में से—

पदपदार्थ—सर्वतन्त्राविरुद्धः = सम्पूर्ण शास्त्रों में जिसका विरोध न हो, तन्त्र = अपने शास्त्र में, अधिकृतः = उद्दिष्ट हो, अर्थः—ऐसा अर्थ (विषय) सर्वतन्त्रसिद्धान्तः = सर्वतन्त्र सिद्धान्त नामक प्रथम सिद्धान्त होता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जिस अर्थ का (विषय) का किसी भी शास्त्र में विरोध न हो अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रों का अभिमत हो एवं अपने शास्त्र में जिसका प्रतिपादन किया हो ऐसे अर्थ (विषय) की इत्थंभावव्यवस्था को सर्वतन्त्र सिद्धान्त नामक प्रथम सिद्धान्त कहते हैं ॥ २८ ॥

(२८वें सूत्र की व्याख्या करते हुए उदाहरण प्रदर्शन द्वारा सर्वतन्त्र सिद्धान्त का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस प्रकार घ्राण, रसन, चक्षु आदिक इन्द्रिय हैं तथा गन्ध, रस, रूप आदि इन्द्रियों के विषय हैं, पृथिवी, जल इत्यादि भूत द्रव्य हैं तथा प्रमाणों से प्रमेय-पदार्थ का ग्रहण होता है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। क्योंकि न्यायशास्त्र में कहे हुए इन विषयों में किसी भी दूसरे शास्त्रों का विरोध नहीं है। (यद्यपि घ्राणादि इन्द्रियों में भौतिक तथा अभौतिक ऐसा विवाद है तथापि इनमें इन्द्रिय मानने में किसी का विवाद नहीं है) ॥ २८ ॥

क्रमप्राप्त द्वितीय **'प्रतितन्त्र'** सिद्धान्त का लक्षण सूत्र में सूत्रकार ने ऐसा कहा है कि—

पदपदार्थ—समानतन्त्रसिद्धः = समानशास्त्र में सिद्ध किया हो, परतन्त्रासिद्धः = दूसरे शास्त्रों में सिद्ध न हो, ऐसे द्वितीय सिद्धान्त का नाम है प्रतितंत्रसिद्धान्त ॥ २९ ॥

भावार्थ—सांख्य तथा पांतजल (योग) दर्शन ये दोनों परस्पर समान शास्त्र हैं तथा न्याय एवं वैशेषिकदर्शन ये दोनों समान शास्त्र हैं, अतः न्याय के समान वैशेषिकदर्शनशास्त्र में जिसकी सिद्धी है, और सांख्ययोगरूप परशास्त्र में जिसकी सिद्धी नहीं है, ऐसे सिद्धान्त का नाम है प्रतितंत्रसिद्धान्त। जिस प्रकार असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती, सत् पदार्थ का नाश नहीं होता, सम्पूर्ण जीवात्मा अतिशय रहित अपरिणाभी स्वयं चेतन है, शरीर, इन्द्रिय तथा मन, विषय

यथा नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानं, निरतिशयाश्चेतनाः देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेष इति साङ्ख्यानाम्।

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः, प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम् ॥ २९ ॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

एवं उनके कारणों में विशेष होता है ऐसा सांख्य तथा योगरूप परशास्त्र में जो माना गया है वह नैयायिक तथा वैशेषिकों के मत से परतन्त्रसिद्धान्त है, क्योंकि नैयायिकों ने असत् जगतरूप कार्य की उत्पत्ति एवं सत् जगत कार्य का विनाश तथा अपने-अपने कर्म के अनुसार गुण के आधार जीवात्मा अतिशययुक्त हैं, तथा भौतिक सृष्टि कर्म से होती है ऐसा माना है, अतः यह प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहाता है ॥ २९ ॥

(२९वें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार इस प्रकार करते हैं कि)—जिस प्रकार असत् (अविद्यमान) पदार्थ का आत्मलाभ (उत्पत्ति) नहीं होती, एवं सत् (विद्यमान) पदार्थ की आत्महानि (विनाश) नहीं होता, सम्पूर्ण जीवात्मा अतिशयरहित तथा (परिणामरहित) हैं, एवं शरीर, इन्द्रिय तथा मन में, तथा रूपादि विषयों में और उन उनके कारण यह तत्त्व आठ बार तन्मात्रा रूप सूक्ष्ममूल पदार्थों में भी विशेष (अतिशय) होता है, ऐसा सांख्य तथा उसके समान योगशास्त्र में भी माना गया है। किन्तु भूत, पृथिवी आदि पदार्थों की रचना आत्मा के पुण्य-पापात्मक कर्मों से होती है और उस कर्म, रागद्वेषादि दोष तथा पूर्वोक्त पुण्य तथा पापरूप दस प्रकार की प्रवृत्ती भी कारण है, एवं सम्पूर्ण जीवात्मा अपने-अपने ज्ञानादि गुणविशेषों से युक्त होते हुए चेतन होते हैं तथा असत् पदार्थों की उत्पत्ति एवं सत् पदार्थ का नाश भी होता है ऐसा नैयायिक तथा उसका योग (सम्बन्ध) रखने वाले वैशेषिकों का भी मत है। यह प्रतितन्त्रसिद्धान्त का उदाहरण है। यहाँ भाष्य में योग शब्द से योगदर्शन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, अतः अपना योग (सम्बन्ध) रखने वाले वैशेषिकों को ही लेना उचित है) ॥ २९ ॥

(क्रमप्राप्त तृतीय अधिकरणसिद्धान्त का सूत्रकार ऐसा लक्षण करते हैं कि)—

पदपदार्थ—यत्सिद्धौ = जिस विषय की सिद्धि होने पर, अन्य प्रकरण सिद्धिः = दूसरे उससे सम्बद्ध अर्थ (विषय) के प्रकरण की सिद्धि होती है, सः = वह, अधिकरणसिद्धान्तः = तृतीय अधिकरणसिद्धान्त कहलाता है ॥ ३० ॥

भावार्थ—जिस अर्थ (साध्य अथवा हेतू) की सिद्धि होने पर अर्थात् ज्ञान होने पर, उससे सम्बन्ध रखने वाले उसके अन्तर्गत जाने जाते हैं, वह साक्षात् अधिकृत तथा उसके सम्बन्धियों का आश्रय होता है—उससे सिद्ध वह पक्ष हो अथवा हेतू—इस प्रकार यह अधिकरणसिद्धान्त होता है। पक्ष का उदाहरण यह है कि—विवादग्रस्त जगतरूप कार्य, उपलब्धि के आधार कारण वाला है, उत्पत्ति वाला होने से पर के समान, इस अनुमान में पृथिव्यादि जगत्रूप कार्य की उत्पत्ति होने के कारण उसकी उपलब्धि करने वाला कोई है यह सिद्ध करने में उसके अन्तर्गत संपूर्ण जगत् कार्य के समवायि कारणों का ज्ञान, करने की इच्छा, प्रयत्न आदि से प्राप्त सर्वज्ञतारूप के होने से ही **'उपलब्धिमत्कारणता'** रूप साध्य की सिद्धी होती है अन्यथा नहीं हो सकती है यह साध्य के अनुसंधान से होने वाले अधिकरण सिद्धान्त का उदाहरण है) भाष्यकार ने जो

यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते न तैर्विना सोऽर्थः सिद्ध्यति तेऽर्था यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति। अत्रानुषङ्गिणोऽर्था इन्द्रियनानात्वं नियतविषयाणीन्द्रियाणि, स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि, गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं, गुणाधिकरणमनियतविषयाश्चेतना इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिद्ध्यन्ति। न तैर्विना सोऽर्थः सम्भवतीति ॥ ३० ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

उदाहरण दिया है वह हेतु का अनुसंधान सिद्ध होता हुआ उसके सम्बन्धी दूसरे अर्थों से सिद्ध होता है अतः अधिकरणसिद्धान्त है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३० ॥

(३०वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस अर्थ (विषय की) सिद्धि होने में दूसरे अर्थ (विषय) सम्बद्ध होते हैं, अर्थात् उस सम्बद्ध अर्थों के बिना वह (प्रस्तुत) अर्थ सिद्ध नहीं होता, वे सम्बद्ध अर्थ जिस प्रस्तुत अर्थ को आश्रय करते हैं, वह अधिकरण-सिद्धान्त कहाता है। जिस प्रकार शरीर इन्द्रियादिकों से भिन्न, जानने वाला एक नित्य तथा व्यापक जीवात्मा है, दर्शन तथा स्पर्शन दोनों इन्द्रियों से सत्र अर्थ के ग्रहण होने से, अर्थात् जिसे मैंने पूर्वकाल में देखा था वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ इस प्रकार देखना तथा स्पर्श करना इन दोनों का एक कोई कर्ता है। (इस अनुमान से आत्मा की सिद्धिरूप प्रस्तुत विषय में सम्बन्ध रखने वाले अर्थ—इन्द्रियों का अनेक होना तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का अपने-अपने नियत विषयों को ग्रहण करना, जिनका अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना ही लिङ्ग (साधक हेतु) है, और जो इन्द्रिय ज्ञाता (जानने वाले) के रूपादि ज्ञान के साधन हैं तथा गन्ध आदि गुणों से भिन्न उनके आश्रय पृथिवी आदि द्रव्य उन गुणों से भिन्न हैं, तथा जानने वाले चे तनआत्मा नियमित विषय वाले नहीं हैं, यह सम्पूर्ण हैं। पूर्व अर्थ अर्थात् जो साक्षात् सिद्ध करने योग्य शरीरादिकों से भिन्न आत्मारूप अर्थ है उसके सिद्ध होने में ये सम्पूर्ण इन्द्रियनानात्वादि रूप से वद्ध अर्थ भी सिद्ध होते हैं क्योंकि इसके बिना मुख्य प्रस्तुत शरीरादि भिन्न आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता।

(किन्तु यहाँ पर परिशुद्धिकार ने ऐसा विचार किया है कि भूषणादि विद्वान् ऐसी !यहाँ दो प्रकार से व्याख्या करते हैं—(१) जिस अर्थ की अर्थात् सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट बुद्धिमत्कर्तृकत्व की सिद्धि होने पर प्रस्तुत सक्षित्यादि कार्यों में सकर्तृकता की सिद्धि होती है, वह सर्वज्ञता आदि विशेष अधिकरण सिद्धान्त होता है। अथवा (२) जिस सकर्तृकता की सिद्धी में अन्तर्भूत दूसरे अभिप्रेत सर्वज्ञता आदि विशेष सिद्ध होते हैं, वह अधिकरणसिद्धान्त होता है। किन्तु वास्तविक विचार से इन दोनों पक्षों में कोई विशेष नहीं है। इन दोनों में से प्रथम दोनों सिद्धान्त शब्द से कहे हैं और अन्तिम दोनों अभिप्राय को लेकर हैं यह भेद है) ॥ ३० ॥

(क्रमप्राप्त चतुर्थ अभ्युपगमसिद्धान्त का सूत्रकार ऐसा लक्षण करते हैं कि)—

पदपदार्थं—अपरीक्षिताभ्युपगमात् = सूत्र में न कहे हुए शास्त्र में सामान्यरूप से माने हुए पदार्थ के स्वीकार से, तद्विशेषपरीक्षणम् = उसके विशेष की परीक्षा करना, अभ्युपगमसिद्धान्तः = अभ्युपगमसिद्धान्त नामक चतुर्थ सिद्धान्त कहा जाता है ॥ ३१ ॥

यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते अस्ति द्रव्यं शब्दः स तु नित्योऽथानित्य इति ?' द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाच्च प्रवर्तत इति ॥ ३१ ॥

इति षड्भिः सूत्रैर्न्यायाश्रयसिद्धान्तलक्षणप्रकरणम् ।

भावार्थ—सूत्र में उक्त पदार्थ की प्रायः परीक्षा होने के कारण, जो अर्थ सूत्र में उक्त नहीं हो तथा शास्त्र में सामान्यरूप से स्वीकृत हो उसके विशेष धर्म की 'यह युक्त है अथवा नहीं' ऐसी परीक्षा को अभ्युपगम नामक सिद्धान्त कहते हैं। (जो अर्थ सूत्रों में कथित न हो और शास्त्र में स्वीकृत हो उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं' ऐसा वार्तिक में कहा है। जिसकी तात्पर्यटीका में सूत्र में न कहे हुए अर्थ को मानने के कारण उस अर्थ के विशेष धर्म की परीक्षा की जाती है, उस विशेष परीक्षा से सूत्र में न कहा हुआ भी वह अर्थ सूत्रकार को अभिमत है' ऐसी व्याख्या स्पष्ट की है) किन्तु विना परीक्षा (विचार) के ही जो स्पष्ट पक्ष स्वीकार किया जाता है, वही सूत्र में **'अपरीक्षित'** शब्द से विवक्षित है ऐसा अर्थ करना प्रशस्त प्रतीत होता है। क्योंकि जिस शास्त्र में सूत्र नहीं हैं उसमें **'असूत्रितत्व'** सूत्र में न होना अप्रसिद्ध है, तथा उनमें अभ्युपगम सिद्धान्त तो माना गया है) ॥ ३१ ॥

(सूत्र ३१वें की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिसमें कोई भी अर्थ समूह विना परीक्षा किया हुआ माना जाता है—जिस प्रकार शब्दरूप द्रव्य तो अवश्य है किन्तु वह नित्य है अथवा अनित्य, इस प्रकार शब्द को द्रव्य मानकर उसके नित्यता अथवा अनित्यता की परीक्षा की जाती है। वह यह अभ्युपगम नामक सिद्धान्त कहाता है, जो परीक्षा करने वाले के बुद्धी के अतिशय (उत्कर्ष) के प्रसिद्ध करने की इच्छा तथा शब्द को द्रव्य मानने वाले वादी की बुद्धी के अपमान करने से भी प्रवृत्त होता है। (किन्तु यह वार्तिककार को **'परबुद्धी का अपमान संगत नहीं मालुम** पड़ता, क्योंकि उन्होंने पर (दूसरे) का अपमान करना अयुक्त होने के कारण भाष्यकार का **'परबुध्यवज्ञानाच्च प्रवर्तते'** ऐसा कहना अयुक्त है, ऐसा वार्तिक में स्पष्ट कहा है। (कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि अर्थपत्ति तथा अधिकरणसिद्धान्त का परस्पर में कोई भेद नहीं है' किन्तु यह अयुक्त है क्योंकि वाक्यार्थ प्रतिपत्ति में उसके विपरीत वाक्यार्थ का ज्ञान होता है वह अर्थापत्ति होती है, जैसे 'शरीर से मोटा देवदत्त नामक पुरुष दिन को भोजन नहीं करता' इस वाक्य का दिन को भोजन न करना यह अर्थ है, उससे विपरीत (उलटा) रात्रि में भोजन करने की विधिरूप जो **'अर्थापत्ति'** है, वह वाक्य में सम्बद्ध (न कि उसके विरुद्ध) अर्थ है वह अधिकरणसिद्धान्त है इस प्रकार है अर्थापत्ति तथा अधिकरणसिद्धान्त का परस्पर भेद स्पष्ट ही है। (और ये पूर्वोक्त चारों प्रकार के सिद्धान्त साक्षात् अपने से अथवा अर्थापत्ति के द्वारा कहे जाते हैं, इस कारण इन संपूर्ण सिद्धान्तों के भेदों के विचार का कोई प्रयोजन नहीं है' ऐसा दिङ्नाग नामक बौद्धाचार्य का भी आक्षेप सिद्धान्तों के विषय में यहाँ पर होता है जिसका खण्डन वार्तिक में विस्तारपूर्वक किया है जिसे पाठकों को उसी में देखना चाहिये) ॥ ३१ ॥

अथावयवाः—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

(२३) न्यायस्वरूप सप्तम पदार्थ का निरूपण प्रकरण ।

(३२वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सिद्धान्त नामक षष्ठ पदार्थ के वर्णन के पश्चात् सप्तम न्यायस्वरूप अवयव पदार्थ सूत्र में इस प्रकार है कि—

पदपदार्थ—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि = प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन नाम के, अवयवाः = अनुमानप्रयोगरूप न्याय के पाँच अवयव हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जिस स्वार्थ अथवा परार्थानुमानरूप न्याय से किसी (साध्य) विषय की सिद्धि की जाती है उसके प्रतिज्ञा १ हेतु २ उदाहरण ३ उपनय, ४ तथा निगमन, ५ नाम के पाँच अवयव कहाते है । (इस सूत्र में विना अवयवों के सामान्य लक्षण किये उनके विभागरूप उद्देश तथा उनके विशेष लक्षणों का अवसर ही नहीं है' ऐसा कुछ विद्वान् आक्षेप करते हैं, जिसका तात्पर्यटीका में ऐसा परिहार किया है कि—विभाग बोधक भी यह सूत्र आवयवों के सामान्य लक्षण को भी सूचित करता ही है, क्योंकि **'अवयव'** इस पद से ही सामान्यलक्षण जाना जाता हैं । क्योंकि अवयवत्वधर्म से एक वाक्यता दिखाई है, जो पदों के अत्यन्त असानिध्य दूर करने से अपेक्षित होती हुई मम्बन्ध योग्य अर्थ के बोध से सिद्ध होती **है,** इस कारण परस्पर सम्बन्ध योग्य अर्थ को बोध करना ही प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवों का सामान्य लक्षण **'अवयव'** इस पद से ही सूत्र में सूचित हो जाता है । मीमांसक तीन ही अवयव प्रथम के या अन्त के मानते हैं । तथा एकदेशी कुछ नैयायिक एवं भद्रबाहु नामक जैन मत के आचार्य ने भी दस अवयव माने हैं । जो (१) प्रतिज्ञा, जैसे **अहिंसा परमोधर्मः** । (२) **प्रतिज्ञा विभक्ति** (जैसे जैनशास्त्र के अनुसार अहिंसा नामक धर्म) । (३) **हेतु** (अहिंसकों के देवताओं को प्रिय होने से) । (४) **हेतु-विभादि** (अहिंसकों को छोड़कर दूसरे लोक धर्मिकलोक में वास नहीं कर सकते) । (५) **विपक्ष,** जैसे यज्ञ में की हुई हिंसा करने वाले भी स्वर्गलोक में वास करते हैं ऐसा कहना । (६) **विपक्ष-निषेध,** जैसे अहिंसक कभी भी देवताओं को प्रिय नहीं होते । (७) **दृष्टान्त,** जैसे जैन हिंसा के भय से अन्न नहीं पकाते । (८) **आशंका,** जैसे दूसरे मनुष्य जो अन्न पकाते हैं उसे जैनी भी खाते हैं, इस कारण वे भी हिंसा दोष के भागी होते ही हैं । (९) **आशंका प्रतिषेध,** जैसे जैनियों के लिये ही जो अन्न, पकाया नहीं जाता है उसके दोषों से जैनियों को दोष नहीं होता । (१०) **निगमन** (उपसंहार) जैसे, इस कारण अहिंसा परम श्रेष्ठ धर्म है । भाष्यकार ने कहे हुए इन दस अवयवों में से संशय तथा संशयव्युदास के स्थान में भद्रचन्द्र के मत से ऊपर देखाये हुए आशंका तथा प्रतिषेध हैं यह यहाँ पर सादृश्य संख्या का है यह जान लेना चाहिये ।

(इन सम्पूर्ण अनेक मतों का खण्डन करने के लिये ही यह गौतम महर्षि का सूत्र है । इसमें दूसरे को बोध कराने वाले जो शब्द परस्पर में मिलकर परस्पर से कहे हुए अर्थ से सार्थक होते हुए प्रधान अर्थ के सिद्धि करने में वाक्यसमूह के अंग होते हैं उन्हें अवयव कहते हैं, क्योंकि ये प्रतिज्ञादि पाँच मिलकर वाक्य के विषय को सिद्ध करते हैं इस कारण इन प्रतिज्ञादिकों को अवयव कहा जाता है । भाष्य में दस प्रकार के अवयवों में जो पाँच जिज्ञासा आदि अधिक अवयव कहे हैं वे दूसरे को बोध नहीं कराते, इस कारण वे अनुमान वाक्यरूप न्याय के अवयव नहीं हो सकते । तथा जिसका निश्चय हो वही साधक होता है, जिज्ञासा तथा संशय ये दोनों निश्चित नहीं

दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति, ते कस्मान्नोच्यन्त इति ?। तत्राप्रतीमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा। अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते ? तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्य उपेक्षिष्ये वेति। ता एता हानोपानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते। सा खल्वियमसाधनमर्थस्येतिः। जिज्ञासाधिष्ठानं संशयश्च व्याहतधर्मोपसङ्घातात् तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्नः व्याहतयोर्हि धर्मयोरन्यतरत्तत्त्वं भवितुमर्हतीति। स पृथगुपदिष्टोऽप्यसाधनमर्थस्येति। प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि, सा शक्यप्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति। प्रयोजनं तत्त्वावधारणमर्थसाधकस्य वाक्यस्य

होते। प्रयोजन तथा शक्यप्राप्ति की सिद्धि करने से ही बोधित होता (जाना जाता) है। इस कारण प्रयोजन तथा शक्यप्राप्ति ये दोनों भी अनुमान वाक्यसमूह के अवयव नहीं हैं) ऐसी खद्योतकार ने यहाँ समालोचना की है।

(३२वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार जैन मत के पूर्वोक्त दस अवयवों का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि)—प्रश्न—'कुछ जैन नैयायिक अनुमान वाक्य में ऐसे दस अवयव कहते हैं कि—जिज्ञासा १, संशय २, शक्यप्राप्ति ३, प्रयोजन ४, संशयव्युदास ऐसे प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों से भिन्न पाँच अवयव और हैं, उनको सूत्रकार ने क्यों नहीं कहा है'। उत्तर—उपरोक्त जैनियों के पाँच अवयवों में से सामान्यरूप से जाने हुए, विशेषरूप से न जाने हुए, अर्थ-पर्वतपक्षरूप (धर्मी) में विशेष रूप से (वह्निमत्ता आदि रूप से) जो पक्ष सन्दिग्ध है, उसमें 'वह्निमान् है' ऐसा 'प्रत्यय' है निश्चय, करना, जिसका, ग्रहण, त्याग अथवा अपेक्षाज्ञानरूप जो प्रयोजन है उस प्रयोज को प्रवृत्त करने वाली जिज्ञासा होती है)।

प्रश्न—न निश्चित किये विषय को प्राणी क्यों जानने की इच्छा करता है ?

उत्तर—उस सन्दिग्ध विषय को वास्तविकरूप से जानकर उसका मैं त्याग या ग्रहण, करूंगा, या उसकी उपेक्षा करूंगा इसलिये। वह यह त्याग, ग्रहण तथा उपेक्षा करने का ज्ञान, वास्तविक निश्चयरूप ज्ञान का प्रयोजन है, इस कारण यह, प्राणी विषयक निश्चय करने के लिये जिज्ञासा करता है। किन्तु यह जिज्ञासा अर्थ (विषय) की साधक नहीं है (इस कारण गौतम महर्षि ने इसका अवयव नही माना है)। (संशय में विरुद्ध दो धर्मों की प्राप्ति होने के कारण उन दोनों धर्मों में से एक ही धर्म वास्तविक होगा इस प्रकार तत्त्वज्ञान के समीप में वर्तमान होता है। उपरोक्त जिज्ञासा का आधार संशय भी है क्योंकि संशय ये प्रतीत होने वाले दो विरुद्ध धर्मों में से एक ही वास्तविक हो सकता है। ऐसा संशय न्याय का पूर्वाङ्ग होने के कारण षोडष पदार्थों में महर्षि गौतम ने यद्यपि सूत्र में कहा है, किन्तु वह अर्थ का साधक नहीं होता (अतः संशय भी अवयव नहीं हो सकता)। तथा प्रमाण (जानने वाले ज्ञाता पुरुष के प्रमेय विषय पदार्थों के जानने के साधक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण होते हैं यह शक्य प्राप्ती कहाती है, वह भी साधक वाक्य रूप पाँच अवयवों की प्रतिज्ञा हेतू आदिकों के समान भाग (अंश) नहीं हो सकती इस कारण अवयव नहीं है)। एवं प्रयोजन जो तत्व (वास्तविकता) को अवधारण (निश्चय) रूप है वह भी अर्थसाधक अवयवों का युक्त है न कि उसका एक देश (एक भाग) है, इस कारण वह

फलं नैकदेश इति। *संशयव्युदासः* प्रतिपक्षोपवर्णनं तत्प्रतिषेधेन तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थम्, न त्वयं साधकवाक्यैकदेश इति। प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था अवधारणीयार्थोपकारात्। तत्त्वार्थसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागा एकदेशा अवयवा इति॥ ३२॥

तेषां तु यथाविभक्तानाम्—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा॥ ३३॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा, *प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः*। अनित्यः शब्द इति॥ ३३॥

भी अवयव नहीं हो सकता तथा पाँचवां **'संशयव्युदास'** जो विरुद्ध पक्ष में उपवर्णन (कथन) रूप है जिससे विरुद्ध पक्ष का निषेध होकर तत्त्व (वास्तविक विषय) की अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) का ज्ञान होता है (जिस प्रकार 'शब्द, अनित्य है, कार्य होने से' इस अनुमान में यदि शब्द नित्य हो तो कार्य न होगा इस **'विरुद्धपक्ष'** अनित्यता के विरुद्ध नित्यता का कथन—यही संशयव्युदास है। और तर्करूप यहाँ दूसरे प्रमाण को उठाता है, न कि प्रमाणरूप अनुमान वाक्य का अंगरूप अवयव है) [भाष्यकार कहते हैं कि] ऐसा यह संशयव्युदास साधक अवयवसमूह का एकदेश न होने से अलग अवयव नहीं हो सकता किन्तु प्रकरण (कथा की प्रवृत्ति होने) में उक्त पाँच जिज्ञासादि जैनियों के माने हुए अवयव समर्थ होते हैं, क्योंकि अवधारण (निश्चय) करने योग्य अर्थ (विषय) में उपकारी होते हैं। और प्रतिज्ञा आदि गौतम-मतानुसार नैयायिकों के माने हुए पाँच अवयव, साधक न्यायरूप अनुमानवाक्य के भाग अर्थात् एकदेश हैं, क्योंकि वे वास्तविक अर्थ (विषय) के साधक होते हैं (अर्थात् जिज्ञासा आदि पाँच अवयव कथा को उठाते हैं अतः कथा के अंग हैं वे स्वरूप से प्रकरण को उठाते हैं, न कि उनके ज्ञान की अपेक्षा कथा में होती है जिससे ये अपने शब्द से कहे हुऐ प्रकरण में भी अंग होते हैं जिस प्रकार प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव अपने ज्ञान से अपने अर्थों को प्रतिपादन करते हुए अंग होते हैं, इस कारण जिज्ञासा आदि के कहने वाले पदों का प्रयोग करना साधक वाक्यों में सर्वथा व्यर्थ है। जिज्ञासा आदि उत्पन्न होते ही कथा प्रवृत्ति में अंग होते हैं, न कि अपने ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, और प्रतिज्ञादि के जो ज्ञान होते हैं वे न्याय का उपकार करते हुए फलसिद्धि में उपयोगी होते हैं, इस कारण इनके जनाने वालों का विचार किया जाता है यह गूढ़ आशय यहाँ पर जानना चाहिए)॥ ३२॥

३३ वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि—जिस प्रकार उनप्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का विभाग कहा गया है उनमें से सूत्र **(साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा)॥ ३३॥**

पदपदार्थ—साध्यनिर्देशः = सिद्ध करने योग्य अर्थ को निर्देश विचारके वचन में **प्रतिज्ञा** नाम के प्रथम अवयव कहते हैं॥ ३३॥

भावार्थ—जिस प्रथम अवयव में सिद्ध करने योग्य अर्थ का कथन होता है उसे प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव कहते हैं। जैसे शब्द अनित्य है यह प्रतिज्ञा का उदाहरण है॥ ३३॥

(३३ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) जानने योग्य (सिद्ध करने योग्य) अनित्यता इत्यादि धर्म से विशिष्ट (युक्त) धर्म (पक्ष) शब्द आदि के परिग्रह (स्वीकार) रूप वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं (अर्थात् साध्यरूप से स्वीकार किये हुए अर्थ का वचन प्रतिज्ञा

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

उदाहरणेन सामान्यात्साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः, साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः। उत्पत्तिधर्मकत्वादिति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति ॥ ३४ ॥

किमेतावद्धेतुलक्षणमिति ? नेत्युच्यते। किं तर्हि ?

कहाती है, यह सूत्र का अर्थ है) जिस प्रकार शब्द अनित्य है इस प्रकार सिद्ध करने योग्य अनित्यता युक्त शब्द है यह साध्य-निर्देश प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव है ॥ ३३ ॥

क्रमप्राप्त द्वितीय अवयव हेतु का लक्षण सूत्रकार इस प्रकार करते हैं कि—

पदपदार्थ—उदाहरणसाधर्म्यात् = दृष्टान्त विशेषरूप उदाहरण के (सादृश्य) समान धर्म होने से, साध्यसाधन = सिद्ध करने योग्य अर्थ को सिद्ध करने वाला, हेतुः = हेतु नामक द्वितीय अवयव कहाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जिस अवयव नाम से शब्द में अनित्यता के सिद्ध करने में दृष्टान्तविशेषरूप उदाहरण नामक तृतीय अवयव की समानता से (अनित्यता रूप साध्य) सिद्ध होता है उसे हेतु नामक द्वितीय अवयव कहते हैं। (इस सूत्र में यह लक्ष्यपद है, और **'साध्यसाधनं'** यह हेतु का साधारण लक्षण है और उदाहरण साधर्म्य से यह जिससे सिद्ध किया जाय जिससे इस व्युत्पत्ति से **'कृतकत्वात्'** यह अनित्यता का साधन (साधर्म्यहेतुक विशेष लक्षण है) वचन सूचित होता है। आगे कहे जाने वाले हेत्वाभास (दुष्ट हेतु) साधन नहीं होते इस कारण उनकी इस पद से व्यावृत्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

(३४ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—) उदाहरण के साथ समानता होने के कारण सिद्ध करने योग्य अनित्यता आदि धर्म के साधन करने वाले अर्थात् जनाने वाले अवयव का नाम है हेतु अवयव। अर्थात् साधन करने योग्य पक्ष में साध्य धर्म को जानकर तथा उदाहरण में भी उसी धर्म को जानकर भी उसकी सिद्धि करने वाले वचन का नाम है हेतुनामक द्वितीय अवयव। जैसे शब्द अनित्य है इस पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का साधक वचन है उत्पत्ति वाला होने से यह वचन, क्योंकि उत्पत्ति धर्म वाले संसार के घट आदि पदार्थ अनित्य देखे जाते हैं (इस भाष्य में सूत्र के **'साधर्म्यात्'** इस पद की **'सामान्यात्'** ऐसी व्याख्या की गई है, क्योंकि जो धर्म साध्य (साधन योग्य पक्ष) में होता है वह वैसा ही उदाहरण में भी होता है। तथा **'साध्यस्य'** इत्यादि साध्य-साधन पद की व्याख्या है केवलधर्मी पक्ष में ही ज्ञान हो इस कारण **'धर्मस्य'** यह पद दिया है। जिससे धर्म सहित धर्मी लिया जाता है। इसी उक्त बात का **'प्रतिसंधाय'** इस पद से स्पष्टीकरण किया है। सूत्र में **'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यस्य'** इस उक्ति से अन्वय तथा पक्षधर्मता (पक्ष में रहना), एवं अन्वय, व्यतिरेक तथा पक्षधर्मता इन तीनों की भी हेतु में सूचना होती है, एवं **'साध्यसाधनं'** इस पद में साध्यपद के ग्रहण से अबाधित-विषयता (विषय का बाध) न होना। तथा असत्प्रतिपक्षता (विरोधी हेतु का न होना ये दोनों भी सूचित होते हैं।) ॥ ३४ ॥

(३५ वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार प्रश्नपूर्वक समाधान करते हुए द्वितीय **'वैधर्म्य'** हेतु के लक्षण को दिखाते हैं कि)—प्रश्न—क्या इतना ही हेतु अवयव-लक्षण है ? (उत्तर—नहीं)।

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

उदाहरणवैधर्म्याच्च *साध्यसाधनं हेतुः।* कथम् ? अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथा आत्मादि द्रव्यमिति ॥ ३५ ॥

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता। *साध्यसाधर्म्यात्कारणात्तद्धर्मभावी* दृष्टान्त

प्रश्न—तो दूसरा क्या लक्षण है इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने द्वितीय हेतु नामक अवयव का लक्षण ऐसा कहा है।

पदपदार्थ=तथा = उसी प्रकार, वैधर्म्यात् = साध्य के विरुद्ध धर्म होने से भी हेतु नामक द्वितीय अवयव होता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ=जिस प्रकार उदाहरण के समान धर्म होने से हेतु नामक अवयव पक्ष में साध्य का साधक होता है, उसी प्रकार उदाहरण के साथ वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) होने से भी हेतु साध्य का साधक होता है। इस सूत्र में पूर्व सूत्र के **'साध्यसाधनं'** इस पद के साथ सम्बन्ध का उदाहरण के विरुद्ध धर्म के होने से भी हेतु नामक अवयव साध्य की सिद्धि करता है यही दूसरा वैधर्म्य नामक हेतु अवयव है ॥ ३५ ॥

सूत्र की व्याख्या कहते हुए भाष्यकार कहते हैं कि —उदाहरण के विरुद्ध धर्म होने से भी प्रस्तुत साध्य के साधक वचन को भी हेतु नाम के अवयव कहते हैं। प्रश्न—कैसे ? उत्तर—शब्द अनित्य है, उत्पत्तिरूप धर्म से रहित होने के कारण—क्योंकि उत्पत्ति धर्म से रहित पदार्थ नित्य होते हैं, जैसे आत्मा, आकाश इत्यादि द्रव्य। (इस प्रकार, साध्य की सिद्धि करने वाला अवयव हेतु होता है, यह दोनों विशेष लक्षणों में रहने वाला हेतु का सामान्य लक्षण, तथा उदाहरण के समान धर्म होने से साध्य का साधक एवं उदाहरण के विरुद्ध धर्म होने से साध्य-साधक ऐसे साधर्म्य हेतु एवं वैधर्म्य हेतु ऐसे दो विशेष लक्षण हेतु अवयव के सिद्ध होते हैं ॥ ३५ ॥

क्रमप्राप्त तीसरे उदाहरण नामक अवयव का सूत्रकार लक्षण करते है कि—

पदपदार्थ=साध्यसाधर्म्यात् = साध्य के समान धर्म होने के कारण, तद्धर्मभावी = साध्य के धर्म को रखने वाला, दृष्टान्त, उदाहरणम् = साधर्म्य नाम का उदाहरण अवयव कहाता है ॥३६॥

भावार्थ=हेतु के समान साध्य (साधनयोग्य) शब्दादिकों के साथ समानधर्म कार्यता **(अनित्यता)** आदि थाली होने से उसे शब्द में थाली रूप दृष्टान्त शब्द में अनित्यता को सिद्ध करता है, अतः शब्द के अनित्य होने में थाली में रहने वाला कार्यता साधर्म्य दृष्टान्त रूप उदाहरण होता है। इस सूत्र में भी हेतु के समान पक्ष के समानधर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, ऐसा सामान्य लक्षण एवं साध्य (पक्ष) के समान धर्म वाला होने से उसके धर्म रखने वाला दृष्टान्त साधर्म्य उदाहरण एवं **'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्'** इस अग्रिम सूत्र में कहा हुआ पक्ष के विरुद्ध धर्म वाला होने से उसके धर्म को न रखने वाला दृष्टान्त वैधर्म्य नामक उदाहरण होता है ऐसे दो विशेष उदाहरण नामक अवयवों के लक्षण जान लेना चाहिये।

(३६ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—साध्य (धर्म) शब्द के साथ जो थाली रूप दृष्टान्त का कार्यता धर्म है वह अनित्यता को लेकर साध्य (पक्ष) शब्द एवं थाली रूप दृष्टान्त में समान है, इस कारण दृष्टान्त में समानधर्मता है, इस साध्य साधर्म्य से उसी साध्य (पक्ष शब्द का जो धर्म अर्थात् दूसरा धर्म (जिससे युक्त शब्द साधन करने के इच्छाका विषय हो

इति। तस्य धर्मस्तद्धर्मः। तस्य—साध्यस्य। साध्यं च द्विविधं धर्मिविशिष्टो वा धर्मः शब्दस्यानित्यत्वं, धर्मविशिष्टो वा धर्मी अनित्यः शब्द इति। इहोत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यत इति। कस्मात्? पृथग्धर्मवचनात्। तस्य धर्मस्तद्धर्मस्तस्य भावस्तद्धर्मभावः स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यादुत्पत्तिधर्मकत्वात्तद्धर्मभावी भवति, स चोदाहरणमिष्यते। तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम्। तच्च भूत्वा न भवति आत्मानं जहाति निरुध्यत इत्यनित्यम्। एवमुत्पत्तिधर्मकत्वं साधनमनित्यत्वं साध्यम्। सोऽयमेकस्मिन्द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद्व्यवस्थित उपलभ्यते, तं दृष्टान्त उप-

---

रहा है) अनित्यता वह है जिसमें उसे (थाली) को साधर्म्य उदाहरण जानना। इस सूत्र के **तद्धर्मभावी'** इस पद में **'तस्य'** उसका, धर्मः धर्म ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करना। जिसमें **'तस्य'** उसका अर्थात् साध्य का और वह साध्य धर्मी से युक्त धर्म, जैसे शब्द की अनित्यता, अथवा धर्म से युक्त धर्मी जैसे शब्द अनित्य हैं। इस दो पक्षों में से सूत्र के **'तद्धर्मभाव'** इस पद के **'तत्'** इस पद से द्वितीय धर्मविशिष्ट धर्मी यह लिया जाता है। प्रश्न—क्यों? उत्तर—धर्म की पृथक् उक्ति होने से। उस धर्म उक्त धर्मी (शब्द) का जो (अनित्यता) वह हुआ **तद्धर्म** उसका जो भाव (रहना) वह हुआ तद्धर्मभाव, वह जिस दृष्टान्त (थाली) में रहता है। वह दृष्टान्त (थाली) साध्य (पक्ष) के समान (अनित्यता) धर्म वाली होने के कारण तद्धर्मभावी (उस पक्ष शब्द के समान अनित्यता धर्म वाल. होता है, और वह शब्द में अनित्यता सिद्ध करने में साधर्म्य उदाहरण माना जाता है। उसमें जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्ति रूप धर्म वाला होता है और वह पूर्व में न रहता हुआ उत्पन्न होकर पुनः नहीं रहता, अर्थात् अपने को छोड़ देता है—(नष्ट हो जाता है) इस कारण अनित्य होता है। इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाला होना यह साधन (हेतु) तथा अनित्यता (अनित्य होना) यहाँ शब्द, अनित्य है, उत्पत्ति वाला होने से इस अनुमान में साध्य अनित्यता का (साधन करने के योग्य) है। वह यह एक (शब्द) में अनित्यता तथा उत्पत्ति धर्मवान् इन दोनों धर्मों का साध्य साधन भाव (साध्य तथा साधन होना पूर्वोक्त साधर्म्य से व्यवस्थित (व्यवस्था युक्त) उपलब्ध होता है (मिलता है) उसको थाली रूप दृष्टान्त में जानने वाला प्राणी शब्द रूप पक्ष में भी अनुमान से सिद्ध करता है कि—शब्द भी उत्पत्ति धर्म वाला होने के कारण थाली के समान अनित्य ऐसा। इसमें जिससे उदाहरण दिया जाता है दो धर्मों का परस्पर में साध्य तथा साधन का भाव (धर्म) उसे उदाहरण कहते हैं ऐसा सूत्र के उदाहरण शब्द का अर्थ है। (यहाँ पर उदाहरण इस पद में उपरोक्त उदाहरण शब्द करण कारक में होने से वाक्य रूप वचन उदाहरण है और दृष्टान्त अर्थ है, "अर्थ तथा वचन इन दोनों के समान आधारता नहीं हो सकती क्योंकि सींग वाली है ऐसा कहना गौ के आश्रय में नहीं होता" ऐसा आक्षेप वार्तिक में देखा कर उसका ऐसा समाधान भी किया है कि—दृष्टान्त के वचन के विशेषण होने से स्वतन्त्र दृष्टान्त उदाहरण नहीं होता, किन्तु साध्य के साधर्म्य से तद्धर्मभावी (उसके धर्म को रखता हुआ) जो कहा जाता है वह दृष्टान्त होता है। वचन रूप उदाहरण का दृष्टान्त के अनुरूप स्वरूप से लक्षण नहीं हो सकता, अतः अपने कहने वाले वचन (वाक्य) का सूचक होने से लक्षण समानाधिकरण हो सकता है ऐसा यह उत्तर (समाधान) अभिप्राय है। यह व्याख्या भाष्य, **वार्तिक तथा तात्पर्य टीका** के अनुसार है। दूसरी ऐसी भी व्याख्या हो सकती

लभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति—शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदिति, उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम् ॥ ३६ ॥

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतम्। साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहर-

कि—'अनित्यता रूप साधर्म्य के साथ समानाधिकरणता (एकाश्रयता) होने से साध्य के आश्रय में वर्तमान उत्पत्ति धर्माश्रयता रूप दूसरे धर्म को लेकर साध्य धर्म का आश्रय दृष्टान्त साधर्म्य उदाहरण होता है' किन्तु धर्म रूप दृष्टान्त का धर्म रूप साध्य के साथ साधर्म्य न हो सकने के कारण इस व्याख्या को आचार्यों ने छोड़ दिया है ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु भाष्य में ही यहाँ पर आगे ऐसा मिलता है कि साधर्म्य पद से एक में दो धर्मों की व्यवस्था करने वाले का ग्रहण किया है न कि सादृश्य का इस प्रकार के कार्यता तथा अनित्यता पर थाली रूप दृष्टान्त में समानाधिकरण होना आवश्यक है यह सिद्ध होता है ऐसी खद्योतकार ने यहाँ आलोचना की है)॥

(तथा यहाँ पर आचार्यों के एकदेशी मतों के अनुसार इस उदाहरण के सूत्र में अनेक प्रकार के पाठों की कल्पना कर ऋषि गौतम-कथित ही लक्षण की स्थापना वार्तिक में की गई है जो वार्तिक में स्वयं पाठकों को देख लेनी चाहिये)॥ ३६ ॥

(पूर्व-प्रदर्शित दो प्रकार के उदाहरणों में से प्रथम साधर्म्य उदाहरण का स्वरूप वर्णन कर द्वितीय वैधर्म्य नामक उदाहरण का स्वरूप सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ = तद्विपर्ययात् वा = अथवा उस (साध्य) के विपरीत धर्म से, विपरीतम् = साध्यधर्म को न रखने वाला, (वैधर्म्य उदाहरण होता है)॥ ३७ ॥

भावार्थ = जिस प्रकार साध्य (पक्ष शब्दादिक) के समान उत्पत्ति रूप धर्म वाले अनित्य थाली आदि के उदाहरण से शब्द में अनित्यता सिद्ध होती है, उसी प्रकार उत्पत्तिरहित नित्य आत्मा आदि रूप उदाहरण के बल से भी शब्द में अनित्यता सिद्ध होती है। (इस सूत्र में वा का अर्थ है समुच्चय (समुदाय)। इसी कारण भाष्यकार ने सूत्र की व्याख्या में **'अनित्यः शब्दः'** यह पूर्व सूत्र में दिखाया हुआ अन्वय तथा व्यतिरेक रखने वाला उदाहरण इस सूत्र में भी दिखाया है, तथा साधन (हेतु) के धर्म के न रहने के कारण साध्य वा धर्म नहीं रहता यह भी कहा है, किन्तु यह अयुक्त है क्योंकि अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति वाले हेतु में वैधर्म्य रहने पर भी साधर्म्य का उदाहरण देना ही उचित होता है क्योंकि उस हेतु में साधर्म्य होने से ही विरुद्ध धर्म की प्रतीति भी हो जाती है तथा सरल मार्ग से सिद्ध होने वाले विषय को वक्र (टेढ़े) मार्ग से सिद्ध करना ठीक नहीं इत्यादि रूप से भाष्यों के उदाहरण में अश्रद्धा प्रकट कर तात्पर्य टीकाकार ने (जीवयुक्त शरीर आत्मा से रहित नहीं होते हैं, प्राणादि रहित हो जाने की आपत्ति से घट के समान ऐसा दूसरा उदाहरण भी दिया है)॥ ३७ ॥

(३७ वें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—इस सूत्र में पूर्व सूत्र के समान दृष्टान्त उदाहरण यह दोनों पद प्रस्तुत है (अर्थात् साध्य धर्म से विपरीत धर्म होने वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, ऐसा पूर्व सूत्र से सम्बन्ध करना चाहिये) साध्य पक्ष शब्दादिकों के) विरुद्ध धर्म होने के कारण उसके अनित्यतादि धर्मों को न रखने वाला दृष्टान्त वैधर्म्य नामक उदाहरण होता है। जैसे शब्द, अनित्य है उत्पत्ति धर्म वाला होने से। आत्मा आकाशादि द्रव्य उत्पन्न न होने वाले नित्य होते हैं। वह यह आत्मा आदि 'दृष्टान्त है, जो साध्य (पक्ष शब्द) के उत्पत्ति धर्म से

णमिति । अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि, सोऽयमात्मादिर्दृष्टान्तः साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी–योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं स तस्मिन् न भवतीति । अत्रात्मादौ दृष्टान्त उत्पत्तिधर्मकत्वस्याऽभावादनित्यत्वं न भवतीति उपलभमानः शब्दे विपर्ययमनुमिनोति उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इति । साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति । उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते तयोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति । तदेतद्धेत्वाभासेषु न सम्भवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः । तदिदं हेतूदाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितरूपवेदनीयमिति ॥ ३७ ॥

विपरीत उत्पत्ति धर्म वाला न होने के कारण पक्ष शब्द के अनित्यता धर्म को नहीं रखता अर्थात् जो साध्य (पक्ष शब्द) का अनित्यता रूप धर्म है वह उस आत्मादि दृष्टान्त में नहीं है । इस कारण इस आत्मा आदि दृष्टान्त में उत्पत्ति धर्म न रहने के कारण अनित्यता भी नहीं है, ऐसा जानने वाला शब्द रूप पक्ष में उसके विपर्यय (विपरीत धर्म) की ऐसी अनुमान द्वारा सिद्धि करता है कि—उत्पत्ति रूप धर्म शब्द रूप (साध्य-पक्ष) में होने से शब्द अनित्य है । (पूर्व में प्रदर्शित दो प्रकार के उदाहरणों का पृथक् पृथक् लक्षण दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—साधर्म्य उदाहरण से दिये हुए हेतु के साध्य धर्म की समान-धर्मता के कारण साध्य (पक्ष) के धर्म को रखने वाला दृष्टान्त उदाहरण प्रथम साधर्म्य नामक उदाहरण होता है । इसी प्रकार वैधर्म्य उदाहरण से दिये हुए हेतु के साध्य के वैधर्म्य के कारण साध्य (पक्ष) के धर्म को न रखने वाला दृष्टान्त दूसरा उदाहरण वैधर्म्य उदाहरण कहाता है । अर्थात् साधर्म्य दृष्टान्त में जिन उत्पत्तिधर्मता तथा अनित्यता इन दोनों धर्मों में से उत्पत्ति धर्म होना साधन है तथा अनित्य होना साध्य है ऐसा जो देखता है, पक्ष रूप साध्य (शब्दादि को) में भी उन दोनों धर्मों का साध्य-साधन भाव है, अर्थात् थाली के समान शब्द उत्पत्ति धर्मवाला होने के कारण अनित्य है ऐसा अनुमान साधर्म्य उदाहरण के बल से होता है और उत्तर (दूसरे) आत्मा रूप दृष्टान्त में उन दोनों (अनित्यता तथा उत्पत्तिधर्मता) में से एक (उत्पत्ति रूप) धर्म के न होने के कारण दूसरे अनित्यता रूप धर्म का अभाव ऐसा दिखाता है, उन दोनों (अनुत्पत्तिधर्मता एवं नित्यता) में से अनुत्पत्ति धर्म शब्द में न होने के कारण उसमें दूसरा नित्यता रूप धर्म भी नहीं है, ऐसा विरुद्ध धर्मवाले आत्मा आदि के दृष्टान्त के बल से अनुमान होता है किन्तु वह यह साधर्म्य एवं वैधर्म्य उदाहरण का स्वरूप दुष्ट हेतुओं में नहीं हो सकता अतः वे सद्धेतु नहीं हो सकते इसलिये हेत्वाभास (दुष्ट हेतु) होते हैं । पूर्व प्रदर्शित यह दोनों प्रकार के हेतु तथा उदाहरणों का साधर्म्य, तथा वैधर्म्य अत्यन्त सूक्ष्म (गूढ) होने के कारण कष्ट से (बड़े परिश्रम से) जानने योग्य हैं, अतः इसे प्रशस्त (पूर्ण व्युत्पत्ति रखने वाले) पण्डित जान सकते हैं न कि सामान्य पण्डित ॥ ३७ ॥

(उदाहरणों के नाम के तृतीय अवयव के पश्चात् चतुर्थ अवयव उपनय का सूत्रकार ऐसा लक्षण कहते हैं कि)—

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः॥३८॥

उदाहरणापेक्षः उदाहरणतन्त्रः उदाहरणवशः । वशः—सामर्थ्यम् । साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे स्थाल्यादि द्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टं तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते । साध्य-वैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादि द्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं न तथा शब्द इति, अनुत्पत्तिधर्मकत्वस्योपसंहारप्रतिषेधेनोत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते । तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैताद्भवति । उपसंह्रियतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति ॥ ३८ ॥

पदपदार्थ=उदाहरणापेक्षः=पूर्वोक्त दो प्रकार के उदाहरण के अपेक्षा रखने वाला, तथा= वैसा है, इति=इस प्रकार, उपसंहारः=उपसंहार करना (ले आना), न तथा=वैसा नहीं है। इति=इसप्रकार, वा=अथवा, साध्यस्य=साध्यकर्म का, उपनय,=उपनय नाम का चतुर्थ अवयव होता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ=पूर्वप्रदर्शित शब्दादि रूप धर्मों में थाली, अथवा आत्मादय उदाहरण के बल क्रम से साधर्म्य एवं वैधर्म्य साधक कार्यत्व हेतु से साध्य (अनित्यता को देखाने के पश्चात् उन उदाहरणों के अधीन शब्द रूप धर्म में थाली के समान यह शब्द कार्य (उत्पत्ति धर्म) वाला होने के कारण अनित्य वैसा ही है इस प्रकार साधर्म्य नामक उपसंहार करना, अथवा आत्मा के समान यह शब्द उत्पत्ति धर्महीन न होने के कारण वैसा नित्य नहीं है इस प्रकार वैधर्म्य नाम का उपसंहार करना (शब्द में ले आना) उपनय नामक चतुर्थ अवयव कहाता है। (इसमें भी उदाहरण की अपेक्षा रखने वाला साध्य का उपसंहार उपनय कहाता है यह उपनय का सामान्य लक्षण, तथा उदाहरण के साधर्म्य से, एवं वैधर्म्य से साध्य का उपसंहार-क्रम से साधर्म्य नामक एवं वैधर्म्य-नामक उपसंहार का विशेष लक्षण जान लेना चाहिये) ॥ ३८ ॥

(३८वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के **'उदाहरणापेक्षः'** इस पद का उदाहरण के तन्त्र उदाहरण के वश (अधीन होने वाला) यह अर्थ है। जिसमें **'वश'** शब्द का अर्थ है सामर्थ्य। जैसे साधर्म्ययुक्त उदाहरणमें थाली आदि पार्थिव द्रव्य उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य देखने में आता है उसी प्रकार शब्द भी उत्पत्ति धर्म वाला है इस प्रकार साधन करने योग्य शब्द रूप धर्म में उत्पत्ति धर्म का उपसंहार किया जाता है। और साध्य (शब्द) के विरुद्ध धर्म वाले उदाहरण में आत्मा, आकाश इत्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्म से रहित नित्य देखने में आते हैं, वैसा (अनुत्पत्ति धर्मयुक्त नित्य) शब्द रूप धर्म नहीं है, इस प्रकार अनुत्पत्ति धर्म के उपसंहार के निषेध द्वारा शब्द में उत्पत्ति धर्म का उपसंहार किया जाता है। वह यह साधर्म्य तथा वैधर्म्य रूप दो प्रकार के पूर्वोक्त उदाहरणों के होने से उपसंहार भी साधर्म्य तथा वैधर्म्य दो प्रकार से होता है। इस सूत्र में जिससे उपसंहार किया जाता है उसे उपसंहार कहते हैं ऐसा उपसंहार शब्द का अर्थ जानना चाहिये। (जिसे चतुर्थ उपनयनामक अवयव कहते हैं) क्योंकि वचन रूप उपनयन में लक्षण का समन्वय करना है ॥ ३८ ॥

द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैते च समानम्—

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३९ ॥

साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम्। निगम्यन्ते अनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणो-

---

(३९वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पूर्वोक्त साधर्म्य तथा वैधर्म्य नामक हेतु तथा साधर्म्य एवं वैधर्म्य नामक दो प्रकार के उदाहरण तथा उक्त प्रकार के दोनों उपनय (उपसंहार) के दो प्रकार के होने पर भी समान है—

पदपदार्थ=हेत्वपदेशात् = हेतु के कथन से, प्रतिज्ञायाः = साध्यनिर्देश रूप प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव का, पुनः = पुनः, वचनं = वचन को, निगमनम् = निगमन नाम का पंचम अवयव कहते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ=जिस शब्द आदि धर्म में अनित्यतादि साध्य की पूर्वोक्त सिद्धि करने में दिये हुए कार्यत्वादि रूप हेतु तथा थाली आत्मा आदि साधर्म्य एवं वैधर्म्य से उदाहरण तथा उपनय नामक चारों अवयवों का हेतु के कथनपूर्वक साध्य निर्देश अतः (शब्द अनित्य है कार्य होने से) ऐसा पुनः प्रतिज्ञा का कहना स्वरूप पंचम अन्तिम वाध ज्ञान विरोधी अनुमान से रहित निगमन (सिद्धान्त) नामक अवयव कहाता है, यह निगमन का उक्त और हेतु आदि अवयवों का समान लक्षण है। (यद्यपि सिद्ध के कथन ही से निगमन होता है और साध्य का कथन प्रतिज्ञा होती है, तथापि जो प्रतिज्ञा में (अनित्यतादि) साध्य था वही निगमन अवयव में सिद्ध होता है, इस कारण एक ही को लेकर समान विषय होने के कारण प्रतिज्ञा ऐसा व्यवहार किया जाता है, इस कारण पुनः ऐसा सूत्र में कहना संगत है)॥ (यहाँ कुछ विद्वानों का ऐसा आक्षेप है कि—प्रतिज्ञा से गतार्थ होने के कारण निगमन नामक अवयव किसी साध्य के सिद्धि का अंग नहीं हो सकता इसका उत्तर यह है कि प्रतिज्ञा से लेकर उपनय पर्यन्त चार अवयवों में से १–हेतु का पक्ष में रहना, २–सपक्ष में रहना तथा ३–विपक्ष में न रहना ऐसे तीन अथवा केवलान्वयी हेतु में केवल पक्षसत्व तथा सपक्ष में रहना इस प्रकार केवल व्यतिरेकी हेतु में पक्षसत्व तथा विपक्ष में न रहना ये दो रूप साधक होते हैं, यह सिद्ध हो सकता है किन्तु विषय का वाध न होना रूप हेतु की **'अबाधितता'** तथा विरोधी अनुमान का न होना रूप **'असत्प्रतिपक्षितत्व'** ये दो रूप सिद्ध नहीं होते। पक्षसत्व से लेकर असत्प्रतिपक्षतापर्यन्त पांच या चार हेतु के रूपों में से ही हेतु तथा साध्य की व्याप्ति सिद्ध होती है इस कारण हेतु का अवाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षितत्व इन दोनों रूपों को सूचित करने के लिये निगमन नामक पंचम अवयव की भी आवश्यकता है, नही तो विषय का बाध अथवा विरोधी अनुमान होने से साध्य के न होने की विपरीत आपत्ति हो जायगी। यह आपत्ति प्रतिज्ञा के विपर्यय अर्थके प्रत्यक्षादि प्रमाण समूह रूप मूल कारण वाले प्रतिज्ञादि अवयवों की सिद्धि होने के कारण प्रतिज्ञा के विषय (शब्दादिकों की अनित्यता) के सिद्ध होने से प्रतिज्ञा के पुनः कथन रूप निगमन से खण्डित हो जाती है। केवल प्रतिज्ञा से यह आपत्ति नहीं हट सकती, क्योंकि वह साध्य मात्र (शब्द अनित्य नहीं है) की सिद्धि करती है, अतः निगमन आवश्यक है यह सिद्ध होता है)॥ ३९ ॥

(३९वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—साधर्म्य उदाहरण के अनुसार अथवा वैधर्म्य उदाहरण के अनुसार हेतु के कहने पर उदाहरण के अनुरूप उपसंहार (उपनय) अथवा

पनया एकत्रेति निगमनम् । निगम्यन्ते—समर्थ्यन्ते—सम्बध्यन्ते । तत्र सामर्ध्योक्ते तावद्धेतौ वाक्यमनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञा । उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः । उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि द्रव्यमनित्यमित्युदाहरणम् । तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः । तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति निगमनम् । वैधर्म्योक्तेऽपि, अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादि द्रव्यं नित्यं दृष्टं, न च तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः शब्दः तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति ।

अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात्प्रमाणान्यर्थान् साधयन्तीति । सम्भवस्तावत्—शब्दविषया प्रतिज्ञा, आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धानादनृषेश्च स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः । अनुमानं हेतुः, उदाहरणे साद-

---

-के प्रयोग के पश्चात् सिद्धान्त किया जाता है कि इस कारण उत्पत्ति धर्म का आधार होने से शब्द अनित्य है, ऐसा निगमन नामक अवयव का प्रयोग किया जाता है। इसे जिससे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, तथा उपनय इन चारों अवयवों का एक (शब्द अनित्य है) इत्यादि विषय में निगमन किया जाता है इस व्युत्पत्ति से इसे निगमन कहते हैं। यहाँ निगमन का अर्थ है समर्थन अर्थात् सम्बन्ध। उसमें साधर्म्य उदाहरण के बल से दिये हुए साध्य-साधक हेतु में ऐसे पाँच अवयवों के वाक्य होते हैं—'शब्द अनित्य है' यह प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य रूप अवयव होता है। उत्पत्ति धर्म का आधार होने से ऐसा दूसरा हेतुनामक अवयव तथा उत्पत्ति धर्म वाले थाली आदि द्रव्य अनित्य होते हैं, ऐसा उदाहरण नामक अवयव में द्वितीय तथा तृतीय अवयव हैं। थाली के समान शब्द भी उत्पत्ति धर्म का आधार है ऐसा चतुर्थ उपनय नामक अवयव एवं इस कारण उत्पत्ति धर्म का आश्रय होने से शब्द रूप धर्मी अनित्य है इस प्रकार पंचम निगमन नामक अवयव है। इसी प्रकार वैधर्म्य उदाहरण के बल से दिये हुए साध्य-साधक हेतु में शब्द अनित्य है ऐसी प्रतिज्ञा १. उत्पत्ति धर्म का आधार होने से, २. ऐसा हेतु उत्पत्ति धर्मरहित आत्मादि द्रव्य नित्य देखे जाते हैं, ऐसा वैधर्म्य उदाहरण ३. तथा आत्मादि के समान शब्द उत्पत्तिरहित नहीं है ऐसा ४. उपनय, एवं अन्त में इस कारण उत्पत्ति धर्म का आश्रय होने से शब्द अनित्य है ऐसा ५. निगमन अवयव का प्रयोग होता है।

तथा प्रतिज्ञा आदि पूर्व प्रदर्शित पांच अवयवों के अनुमान वाक्य में अनेक प्रत्यक्षादि प्रमाण मिल कर परस्पर सम्बन्ध से शब्दादि रूप धर्मी में अनित्यतादि साध्य की पूर्वोक्त रीति से सिद्धि करते हैं (और परस्पर में सम्बद्ध भी होते हैं) (इन दोनों (सम्भव तथा परस्पर सम्बन्ध) में से सम्भव शब्द का अर्थ भाष्यकार दिखाते हैं कि)—वह सम्भव (सम्मिश्रण—मिलना) है, जैसे शब्द के अनित्य होने की प्रतिज्ञा (शब्द को विषय करने वाली)। (अर्थात् प्रतिज्ञा वाक्य शब्द प्रमाण स्वभाव है' किन्तु 'यदि प्रतिज्ञा शब्द प्रमाण रूप हो तो अनुमान वाक्य से शब्द में अनित्यता की सिद्धि करने की क्या आवश्यकता है' ऐसी शङ्का के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ऋषियों से भिन्न आप्त पुरुषों का उपदेश स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता इस कारण प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा ही वह प्रमाण होगा। अर्थात् जो आप्त का उपदेश साक्षात् ऋषियों के मुख से सुना नहीं जाता वह स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं होता इस कारण

श्यप्रतिपत्तेः। तच्चोदाहरणभाष्ये व्याख्यातम्। प्रत्यक्षविषयमुदाहरणं, दृष्टेनादृष्टसिद्धेः। उपमानमुपनयः, तथेत्युपसंहारात् न च तथेति वोपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपहारसिद्धेः। सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।

इतरेतराभिसम्बन्धोऽपि—असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्त्तेरन्। असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत, उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात्, कस्य चापदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति। असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्तेत। उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो

ऐसे उपदेश रूप शब्द के साधक होने से प्रत्यक्ष तथा अनुमान की अपेक्षा आवश्यक है) तथा उदाहरण में सादृश्य ज्ञान होने के कारण हेतु अनुमान प्रमाण है (अर्थात् साध्य एवं साधन की व्याप्ति के उदाहरण में देखने से ही हेतुत्व का निश्चय होता है) जिसकी उदाहरण के ३६वें सूत्र के भाष्य में व्याख्या हो चुकी है जो यह एक में दो धर्मों का साधर्म्य के बल से साध्य-साधनभाव की व्यवस्था सहित उपलब्धि होती है उसे दृष्टान्त में जान कर पक्ष में अनुमान करता है। और उदाहरण नामक अवयव थाली आदि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, क्योंकि प्रत्यक्ष थाली रूप उदाहरण से अदृष्ट न देखी हुई शब्द की अनित्यता की सिद्धि होती है। और उपनय नामक चतुर्थ अवयव वह है उपमान नामक प्रमाण, क्योंकि उसी साधर्म्य उदाहरण (थाली) के ऐसा उत्पत्ति धर्म का आश्रय शब्द भी है ऐसा अन्वयी अनुमान में उपसंहार किया जाता है, तथा आत्मादि वैधर्म्य उदाहरण के अनुत्पत्ति धर्म का आश्रय शब्द नहीं है इस प्रकार आत्मादिकों के धर्म का निषेध करने पर शब्द में नित्यता धर्म के विपरीत अनित्यता रूप धर्म का उपसंहार व्यतिरेकी अनुमान से सिद्ध होता है। इसके पश्चात् प्रतिज्ञा आदि चार अवयवों में उपरोक्त प्रकार से दिखाये हुए प्रत्यक्षादि संपूर्ण प्रमाणों का एक **'शब्द अनित्य है'** इस अर्थ (विषय) की सिद्धि होने में निगमन नामक पांचवां अवयव सामर्थ्य रखता है (अर्थात् इस कारण उत्पत्ति धर्म का आधार होने से 'शब्द अनित्य है' यह वाक्य संपूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों के सम्प्लव (संकर) से सिद्ध किये शब्द की अनित्यता रूप विषय को कहता है) [इस प्रकार प्रमाणों का संभव देखाकर परस्पर सम्बन्ध कैसे है ? यह दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि]—बिना 'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञा के उत्पत्ति धर्म का आधार होने से यह हेतु तथा थाली आत्मादि रूप उदाहरण एवं उपनय नामक अवयव भी किसको लेकर प्रवृत्त होंगे। एवं बिना उत्पत्ति धर्म का आश्रय रूप हेतु के शब्द के अनित्य होने में किसमें साधनभाव (साधकता) दिखाई जायगी। तथा थाली आत्मादि साधर्म्य एवं वैधर्म्य के उदाहरण तथा शब्द रूप धर्म में किसका उपरोक्त उपसंहार रूप उपनय अवयव होगा। तथा किसके पुनः कथन से प्रतिज्ञा का कहना निगमन नामक पाँचवाँ अवयव होगा। तथा बिना साधर्म्य तथा वैधर्म्य रूप उदाहरण के किसे लेकर साधर्म्य अथवा वैधर्म्य साध्यसाधक (अनित्यतारूप साध्य की शब्द में सिद्धि करने वाला) लिया जायगा, अथवा किसके साधर्म्य को लेकर पक्ष में उपसंहार (उपनय) प्रवृत्त होगा। और बिना उपरोक्त उपनय अवयव के पक्ष में उपसंहार न किये हुए साधक (उत्पत्तिधर्मता) से शब्द में अनित्यता की सिद्धि न

नार्थं साधयेत्। निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति।

अथावयवार्थः। साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा संबन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः। उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः। धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थः। साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः। उदाहरणस्थयोर्द्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम्। न चैतस्यां हेतुदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्था-

---

हो सकेगी। और निगमन नामक अन्तिम अवयव के विना परस्पर जिनका सम्बन्ध बोधित नहीं है, ऐसे प्रतिज्ञादि चारों अवयव एक ही शब्द की अनित्यता सिद्ध करने में प्रवृत्त है, यह किस अवयव से कहा जायगा। यहाँ पर पंचावयवरूप अनुमान वाक्य का अवान्तर फल है साध्य तथा साधन के व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान होना, और साध्य की सिद्धि होना मुख्य प्रयोजन है, यह भी जान लेना चाहिये) [इस प्रकार प्रतिज्ञादि पांचों अवयवों का मिलकर कार्य करना तथा परस्पर सम्बन्ध इन दोनों का वर्णन करने के पश्चात् शिष्यों के स्पष्ट ज्ञान होने के लिये प्रतिज्ञादि पाँचो अवयवों का पुनः प्रयोजन कहते हैं कि]—सिद्ध करने योग्य अनित्यत्वादि धर्म का धर्मी (पक्ष) के सम्बन्ध का कहना ही प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव का प्रयोजन है। तथा थाली आदि उदाहरण के समान अथवा आत्मादि उदाहरण के विपरीत सिद्ध करने योग्य अनित्यता रूप धर्म के साधक के स्वरूप को कहना हेतु नामक अवयव का प्रयोजन है। (एवं थाली आत्मा आदि दृष्टान्तों में उत्पत्तिधर्मता और अनित्यता का उत्पत्तिधर्मता साधन है, एवं अनित्यता साध्य है, यह साध्य-साधक स्वभाव एक में देखाना यह उदाहरण का प्रयोजन है। तथा साधनरूप उत्पत्तिधर्माधारता धर्म का साधने योग्य अनित्यता धर्म के साथ सामानाधिकरण्य (एक आधार में रहना) को सिद्ध करना उपनय का प्रयोजन है। एवं थाली रूप साधर्म्य के उदाहरण में वर्तमान उत्पत्तिधर्मता तथा अनित्यता इन दोनों धर्मों के परस्पर उत्पत्तिधर्मता साधक है और अनित्यता उसका साध्य है इस प्रकार साध्य-साधन स्वभावसिद्ध होने के कारण उस अनित्यता के विपरीत नित्यता की आपत्ति का निवारण करना प्रयोजन है। (अर्थात् उत्पत्तिधर्मतारूप साधन में अनित्यता के विपरीत नित्यता की आपत्ती के वारण के लिये 'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञा के विषय अनित्यता के पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्धि होने के कारण अनित्यतारूप प्रमेय विषय के सिद्ध होने के पश्चात् पुनः प्रतिज्ञाकथन रूप निगमव अवयन से उपरोक्त आपत्ति नहीं हो सकती। केवल **'शब्द अनित्य है'** ऐसी प्रतिज्ञा करने से उक्त आपत्ति नहीं हट सकती, क्योंकि शब्द अनित्य है ऐसी हेतु आदि दूसरे अवयवों की अपेक्षा रखने के कारण संदेहयुक्त ही शब्द में अनित्यता को कहती है, और अन्तिम निगमनरूप पांचवा अवयव तो संपूर्ण अवयवों से सिद्धभये शब्द की अनित्यता को संदेहरहित निश्चित सिद्ध कर देती है, यह प्रतिज्ञा और निगमन में महान् भेद है)। [आगे अनुमान में उक्त प्रतिज्ञादि अवयवों का मुख्य प्रयोजन दिखाते हुए कहते हैं कि]—इस प्रकार से पांच अवयवों के सामर्थ्य से अनुमान में साध्य के साधक हेतु एवं उदाहरण की परिशुद्धि (यथार्थता) सिद्ध होने पर केवल साधर्म्य तथा वैधर्म्य से प्रतिषेध रूप

नस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते। अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानं न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति॥ ३९॥

इत्यष्टभिः सूत्रैर्न्यायस्वरूपप्रकरणम्।

इत ऊर्ध्वं तर्को लक्षणीय इति—अथेदमुच्यते—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः॥ ४०॥

आगे पंचमाध्याय में वर्णन किये हुए जातिरूप असदुत्तरों के कारण तथा अज्ञान एवं विपरीत ज्ञान रूप निग्रहस्थानों के विकल्प (भेदों) के कारण भी जाति तथा निग्रहस्थानों का भी सत् हेतु, एवं उदाहरण पर आक्रमण नहीं हो सकता, क्योंकि जाति रूप असत् उत्तर देने वाला वादी साधक तथा साध्यधर्मों के साध्य-साधनरूप की व्यवस्था न कर केवल साधर्म्य आदि से सत् हेतु एवं उदाहरण का खण्डन करने जाता है। जबकि सत् हेतु में साध्य एवं साधक धर्म की व्याप्ति के बल से व्यवस्था सिद्ध हो गई, जिसका दृष्टान्त में ग्रहण भी हो गया है ऐसे साधक रूप (उत्पत्ति-धर्मता) आदिधर्म को हेतु माना जाता है, न कि केवल समान धर्म होना, अथवा केवल विरुद्ध धर्म होना ही साध्यसाधक होता है॥ ३९॥

(२३) (न्याय के उत्तर अङ्ग अष्टम पदार्थ तर्क प्रकरण)

(इस प्रकार अवयवों के वर्णन के पश्चात् न्याय (अनुमान) के उत्तर अङ्ग के प्रकरण में क्रम प्राप्त ८ वें तर्क पदार्थ के वर्णन के लिए ४० वें सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इससे आगे (अवयव वर्णन के पश्चात्) क्रमप्राप्त तर्क नामक अष्टम पदार्थ का लक्षण करना योग्य है। इसके लिए सूत्र में यह लक्षण कहा जाता है—

पदपदार्थ= अविज्ञाततत्त्वे = जिसका वास्तविक रूप ज्ञात नहीं है, अर्थे = ऐसे अर्थ में, कारणोपपत्तितः = प्रमाण की संगति से, तत्त्वज्ञानार्थम् = वास्तविक ज्ञान होने के लिए, ऊहः = विचार को, तर्कः=तर्क कहते हैं॥ ४०॥

भावार्थ—जिस विषय के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न हो ऐसे विषय को मैं **'जानूं'** ऐसी जानने की इच्छा होती है, पश्चात् उस जानने की इच्छा के विषय के विरुद्ध दो धर्मों को देखकर यह जिज्ञासु पुरुष सन्देह में पड़ता है कि—'यह ऐसा है अथवा नहीं पश्चात् उन दोनों विरुद्ध धर्मों में से एक धर्म को प्रमाण द्वारा स्वीकार करता है—कि इस एक धर्म के होने में प्रमाण (साधक हेतु) के द्वारा यह ऐसा ही है दूसरे प्रकार का नहीं ऐसा विचार (ऊह) करता है यही तर्क नामक अष्टम पदार्थ है जो न्यायरूप अनुमान का उत्तर अङ्ग है। (इस सूत्र में **'जिस प्रतिज्ञा में प्रमाण की प्रवृत्ति'** तब तक नहीं होती जब तक उस प्रतिज्ञा के विपरीत विषय की शंका होती हो, अतः उस विपरीत शंका के हटा देने से प्रमाण अपने विषय में समर्थ हो सकता है यह उत्पत्ति शब्द का अर्थ है। तथा यदि तत्त्व ज्ञान के लिए ऊह को तर्क कहते हैं इतना ही तर्क का लक्षण किया जाय तो ज्ञान विषय में भी पूर्व ज्ञान रूप ऊह भी तर्क हो जायगा इस अतिव्याप्ति दोष के निरास के लिए **'अविज्ञाततत्त्वे'** ऐसा विशेषण अर्थ में सूत्रकार ने दिया है। एवं इस लक्षण से समान जाति के संशयादि तथा असमान जाति के इच्छादिकों की व्यावृत्ति होने के कारण यह तर्क

अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेममर्थमिति । अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किं स्विदित्थमाहोस्विन्नेत्थमिति । विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकं *कारणोपपत्त्याऽनुजानाति* सम्भवत्यस्मिन् *कारणं* प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतन्नेतरदिति ।

तत्र निदर्शनं—योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं तत्त्वतो (भो) जानीयेति जिज्ञासते । स किमुत्पत्तिधर्मकोऽनुत्पत्तिधर्मक इति विमर्शः । विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति ।

का लक्षण दोषरहित है यह सिद्ध होता है । यद्यपि संशय तथा जिज्ञासा भी न जाने हुए वास्तविक स्वरूप के विषय में ही होते हैं, किन्तु उनमें कारणोपपत्ति प्रमाण (हेतु) की सहायता नहीं होती अतः उक्त लक्षण से उन दोनों का भी निरास हो जाता है । यहाँ अविज्ञातत्व का अर्थ है जो विशेष रूप से न जाना गया है किन्तु केवल जिसका सामान्य रूप से ज्ञान हुआ हो । अतएव वार्तिक में जिस कारण सूत्र तथा भाष्यकार ने कहा है कि **'अविज्ञाततत्त्व है'** इसी से सूचित होता है कि सामान्य रूप से जिस विषय का ज्ञान हो । यदि सामान्य रूप से भी अर्थ का ज्ञान न हो तो **'अज्ञाततत्त्वे'** ऐसा न कहते किन्तु केवल **'अविज्ञाते'** ऐसा ही कहते ।) ॥ ४० ॥

(४० वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस विषय का वास्तविक स्वरूप विशेष रूप से ज्ञात नहीं हैं ऐसे विषय की मनुष्य को **'मैं इस अर्थ को जानूँ'** ऐसी प्रथम जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होती है । इसके पश्चात् उस जिज्ञासा के विषय अर्थ के विरुद्ध दो धर्मों के विवेचन से उसे क्या यह ऐसा है अथवा ऐसा नहीं है इस प्रकार संन्देह के विषय दोनों विरुद्ध धर्मों में से किसी एक धर्म को वह मनुष्य कारण की उपपत्ति से पश्चात् स्वीकार कर लेता है कि—इस एक धर्म को माननें में कारण प्रमाण साधक हेतु हो सकता है इस कारण (प्रमाण) की सत्ता से यह ऐसा (इस एक धर्मवाले) हो सकता है इससे भिन्न धर्मवाला नहीं हो सकता । (यहाँ भाष्य में **'विमृशति'** इस पद से जिज्ञासा के अनन्तर होने वाला संशय विवक्षित है । क्योंकि तर्क द्वारा दो धर्मों (पक्षों) में से किसी एक के निषेध से दूसरा पक्ष प्रमाण का विषय होने के कारण स्वीकार योग्य है यह कहा जायगा, इस कारण विषय के संदिग्ध होने से तर्क की प्रवृत्ति में संशय साक्षात् अङ्ग है यह सूचित होता है । तथा **'कारणोपपत्त्या'** इस पद से प्रमाणरूप कारण की उपपत्ति से अर्थात् इति कर्तव्यता से शुद्ध किये विषय में प्रमाण की विना बाध के प्रवृत्ति होती है और यह उपपत्ति स्वतन्त्ररूप से आश्रयासिद्धि होने के कारण निश्चय रूप नहीं हो सकती है यह सूचित होता है ।

(आगे भाष्यकार तर्क का उदाहरण देते हैं कि)—उस तर्क में यह निदर्शन (उदाहरण) है—जो यह ज्ञाता (जानने वाला) आत्मा जानने योग्य अर्थ (विषय) को जानना है, उस अर्थ को मैं वास्तविक रूप से जान जाऊं इस प्रकार प्रथम जिज्ञासा करता है इसके पश्चात् वह यह ज्ञाता आत्मा उत्पत्ति धर्माधार है, अथवा उत्पत्ति धर्म से रहित है ऐसा विमर्श (विरुद्ध उक्त दो धर्म ज्ञान वाला सन्दिग्ध ज्ञान) होता है । इस प्रकार सन्दिग्ध होने के कारण उस आत्मा रूप अर्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने पर उक्त दोनों विरुद्ध धर्मों में से जिस एक धर्म के स्वीकार करने में कारण (प्रमाण) हो सकता है उसे इस प्रकार स्वीकार करता है कि—यदि यह ज्ञाता आत्मा उत्पत्तिरहित हो तभी अपने किये पाप-पुण्य रूप कर्म का सुख-दुःख फल का भोग कर

यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकः ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता, दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति स्यातां संसारापवर्गौ। *उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि* पुनर्न स्याताम्। उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बध्यत इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलमुत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति, तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानाति। सोऽयमेवंलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते।

कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति? *अनवधारणात्*। कथं अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेदमिति। *तत्त्वज्ञानार्थ* इति? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्ष-

---

सकता है। तथा **'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वंपूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः'** इस (१ अ०, १ आ० २ सूत्र में) **'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति'** दोष तथा मिथ्या ज्ञानों में से आगे-आगे के मिथ्या ज्ञानादि 'पूर्व-पूर्व दोषादिकों के कारण हैं, अतः आगे के मिथ्या ज्ञानादिकों का नाश होने पर पूर्व पूर्व दोषादिकों के न रहने से मोक्ष होता है' इस वाक्य में कहे हुए संसार तथा अपवर्ग दोनों आत्मा को हो सकेंगे। यदि ज्ञाता आत्मा उत्पत्ति धर्म का आधार (अनित्य) हो तो ये दोनों संसार और मोक्ष आत्मा को न हो सकेंगे क्योंकि उत्पन्न हुआ यह ज्ञाता आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि तथा हर्ष-शोकादि रूप वेदना से सम्बन्ध करता है (जनमता) है। यह इसके अपने पूर्व में किए हुए कर्म का फल नहीं है और उत्पन्न होकर (जन्म लेकर) यह संसार में नहीं रहता, इस कारण संसार में न रहने वाले अथवा नष्ट हुए (मरे हुए) उस आत्मा को अपने किए हुए कर्म के सुख तथा दुःख के अनुभव रूप फल का उपभोग भी नहीं हो सकता और ऐसा होने के कारण एक ही आत्मा को अनेक शरीरों का सम्बन्ध (जन्म तथा उनका अत्यन्त वियोग (बिछुड़) रूप मोक्ष भी न हो सकेगा, अतः इन दोनों उत्पत्ति धर्म का आधार तथा अनाधार होना इन दोनों धर्मों में से जिस पक्ष में कारण (प्रमाण) को संगत नहीं देखता जिज्ञासु पुरुष उस पक्ष को स्वीकार नहीं करता। वह यह इस प्रकार के सूत्रोक्त लक्षण वाला (ऊह) विचार ही तर्क नामक आठवां पदार्थ न्याय का उत्तर अङ्ग है। (उक्त तर्क के लक्षण में प्रमाण होने की शंका दिखाकर निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—(शंका) यह पूर्व-प्रदर्शित स्वरूप तत्त्व ज्ञान रूप प्रमाण ही न क्यों माना जाय, तत्त्व ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक क्यों माना जाय (अर्थात् यदि तर्क का यह ऐसा अन्य रूप नहीं है ऐसा स्वरूप हो तो यह प्रमाण रूप तत्त्वज्ञान ही हुआ न कि तत्वज्ञान की उत्पत्ति का सहायक। (उत्तर)—तर्क से निश्चय न होने के कारण (वह तत्वज्ञान नहीं हो सकता) अर्थात् यह तर्क प्रमाण के होने से दो विरुद्ध धर्मों में से किसी एक धर्म के सहायक होने के रूप से कहता है न कि अवधारण-व्यवसाय-निश्चय को करता है कि यह ऐसा ही है। (यहाँ पर **'निश्चिनोति'** इस पर्याय पद से भाष्यकार ने यह सूचित किया है कि तत्त्वज्ञान निश्चित ही होता है, तथा अवधारण, व्यवसाय, निश्चय इन पर्याय पदों से तर्क का निश्चय से अत्यन्त भेद है यह कहा है)। (प्रश्न)—तो यह तर्क तत्वज्ञान का सहायक कैसे होता

णानुग्रहभावितात्प्रसन्नादनन्तरप्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति ।

सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसन्दधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्ट इति अविज्ञाततत्त्वमनुजानाति । यथा सोऽर्थो भवति तस्य यथाभावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम् ॥ ४० ॥

एतस्मिंश्च तर्कविषये—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

स्थापना साधनं, प्रतिषेध उपालम्भः । सौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रति-

---

है (क्योंकि **'कारण की उत्पत्ति से'** यह पञ्चमी विभक्ति प्रयोजक अर्थ में है, अर्थात् कारण का (प्रमाण का) होना प्रयोजक है न कि कारण, यदि प्रमाण (कारण) हो तो तर्क प्रमाण रूप ही हो जायगा) (उत्तर)—वास्तविक ज्ञान के विषय के स्वीकार करने का संज्ञा स्वरूप ऊह (तर्क) से चिन्तन किये बाध रहित होने के कारण प्रसन्न ऐसे प्रमाण के सामर्थ्य से पश्चात् तत्वज्ञान उत्पन्न होता है, इस कारण पूर्वोक्त रूप तर्क पदार्थ में तत्वज्ञान के लिए अर्थात् वास्तविक अर्थ के ज्ञान सहायक होता है । (यहाँ **'प्रमाणसामर्थ्यात्'** इस पद से तर्क में स्वतन्त्र ज्ञान ही है यह सूचित होता है) । 'यदि तत्त्वज्ञान का साधक प्रमाण ही होते हैं तर्क नहीं होता तो **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** प्रमाण तथा तर्क से जिस कथा में अपने पक्ष की स्थापना एवं दूसरे के पक्ष का खण्डन होता है उसे वाद कथा कहते हैं, इस सूत्र में वाद कथा में तर्क का संग्रह क्यों किया है' ऐसी शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि)—वह यह पूर्वोक्त पदार्थ प्रमाणों का अनुसंधान करता हुआ प्रमाण विषयक अभ्यनुज्ञा (स्वीकृत) कराने से प्रमाण के साथ वाद कथा में सूत्रकार ने ग्रहण किया है । (अर्थात् प्रमाण-विषयक विरुद्ध शंका से दूषित भये प्रमाणों को यह तर्क पुनः अग्रसर करता है इसी कारण वादकथा में तर्क का प्रमाणों के साथ संग्रह किया है) यह तर्क न जाने हुए वास्तविक रूप के इस प्रकार अनुज्ञा करता है कि—वह अर्थ (विषय) जैसा होता है, उसका वैसा होना उसका तत्त्व है, विपरीतता नहीं है—अर्थात् याथातथ्य (यथार्थता है) ॥ ४० ॥

(इस प्रकार तर्क के वर्णन के पश्चात् क्रम प्राप्त न्याय के उत्तराङ्ग नवम निर्णय नामक पदार्थ का स्वरूप वर्णन करने वाले ४१ वें सूत्र का अवतरण भाष्यकार कहते हैं कि)—इसी उक्त तर्क के विषय में—

पदपदार्थ = विमृश्य = संदेहकर, पक्षप्रतिपक्षाभ्यां = (पक्ष का स्थापन) साधन तथा उसके खण्डन रूप प्रतिपक्ष इन दोनों से, अर्थावधारणं = अर्थ के निश्चय करने को, निर्णयः = निर्णय पदार्थ कहते हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थ = एक पक्ष की स्थापना (साधन), तथा उसका खण्डन रूप प्रतिपक्ष मिलकर जिस विषय का विचार करने पर उन दोनों में से किसी एक पक्ष की निवृत्ति हो जाती है और कोई एक दूसरा पक्ष रह जाता है यह आवश्यक होने के कारण, जो एक पक्ष विचार से स्थिर हो जाता है उसके निश्चय को निर्णय कहते हैं । (इसमें 'निर्णय में स्थापना साक्षात्, और खण्डन-परम्परा से कारण होता है' ऐसी वार्तिककार ने समालोचना की है) ॥ ४१ ॥

(४१वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के पक्ष तथा प्रतिपक्ष शब्द का अर्थ

पक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिः एकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।

नेदं *पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं सम्भवतीति* एको हि प्रतिज्ञातमर्थं हेतुतः स्थापयति प्रतिषिद्धं चोद्धरति द्वितीयस्य। द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिद्ध्यते तस्यैव प्रतिषेधहेतुश्चोद्ध्रियते स निवर्त्तते तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णयः।

उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। कया युक्त्या? एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः। तावेतौ सम्भवासम्भवौ विमर्शं सह निवर्त्तयत उभयसम्भवे। उभयासम्भवे त्वनिवृत्तो विमर्श इति। *विमृश्येति* विमर्शं कृत्वा। सोऽयं

करते हैं कि)—किसी पक्ष के स्थापन करने को साधन तथा निषेध करने को उपालंभ (खण्डन) कहते हैं, ये दोनों साधन तथा उपालंभ जिस बादकथा में उपरोक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष के आश्रय से व्यतिषक्त (सम्बद्ध) (अर्थात् साथ-साथ चलते हुए) पक्ष-प्रतिपक्ष ऐसे कहे जाते हैं। उन दोनों में से किसी एक की अन्त में निवृत्ति हो जाती है (अर्थात् एक पक्ष हट जाता है) और कोई एक पक्ष स्थिर रहता है (रह जाता है) यह अवश्य होता है। जिसका अवस्थान (स्थिर होना) होता है उसके अवधारण (निश्चय) को निर्णय नाम का न्याय का उत्तराङ्ग पदार्थ कहते हैं। (यहाँ पर 'पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों पदों का कथन होने के कारण वादकथा में संदेह होता है निर्णय नहीं होता' ऐसी भ्रम से पूर्वपक्षी की शंका को देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—(शंका)—उपरोक्त 'पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों से मिलकर अर्थ का अवधारण (निश्चय) नहीं हो सकता क्योंकि एक (वादी) प्रतिज्ञा किये साध्य अर्थ की हेतु से स्थापना करता है, तथा दूसरे प्रतिवादी के निषेध (दोषों) का उद्धार करता है। और दूसरा प्रतिवादी वादी के पक्ष की स्थापना के हेतु का निषेध करता है, और वादी के निषेध के हेतु का उद्धार (निराकरण) भी करता है। जिससे वह पूर्ववादी अथवा उत्तर प्रतिवादी इन दोनों में से एक निवृत्त हो जाता है, उसके निवृत्त होने पर जो उन दोनों में से स्थिर होता है, उससे अर्थ का निश्चयरूप ज्ञान निर्णय कहाता है'। (शंका का स्वीकारपूर्वक समाधान करके भाष्यकार वर्णन ऐसा करते हैं कि)—दोनों पक्षों से ही अर्थ का निश्चय होता है। (प्रश्न)—किस युक्ति से! (उत्तर)—एक पक्ष के होने का संभव (हो सकना) तथा द्वितीय पक्ष का असंभव (न हो सकना), रहते वे ये संभव तथा असंभव साथ मिले हुए (दोनों पक्षों का संभव हो सकना) दोनों ही संशय को दूर करते हैं। दोनों पक्षों का यदि असंभव हो तब तो संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती। (अर्थात् वादी के पक्ष के साधक हेतु का संभव (हो सकना) तथा प्रतिवादि-पक्ष के खण्डन का असंभव (न हो सकना) ये दोनों मिलकर ही संशय की निवृत्त करते हैं, न कि एक-एक पक्ष के संशय को निवृत्त कर सकते हैं। (सूत्र के **'विमृश्य'** इस पद का अर्थ करते हुए उसका भाष्यकार प्रयोजन वर्णन करते हैं कि)—सूत्र के **'विमृश्य'** इस पद का अर्थ है विमर्श (संशय) को कर। वह यह विमर्श (संशय) उपरोक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष इन दोनों को न्याय (अनुमान) विषय रूप से प्रकाशित करते हुए न्याय (अनुमान) को उत्पन्न करते हैं, इस कारण निर्णय का उपादान कारण होने के कारण

विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयत इति। एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम्। यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः, हेतुतोऽर्थस्य तथा भावोपपत्तेः। यथा क्रियावद् द्रव्यमिति लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावत्, यस्य न सम्भवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः, यथा तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत्, अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति।

न चायं निर्णये नियमः विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति, किं त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति, परीक्षा-

---

निर्णय के पूर्व में लिया जाता है। (यहाँ भाष्य में **'अवद्योत्य'** इस पद का अर्थ है नियम से विषय करना) किन्तु यह (संशयपूर्वक निर्णय होना एक धर्मी में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों में होता है ऐसा जानना। किन्तु जिस स्थल में सामान्य रूप से धर्मों में दो परस्पर विरुद्ध धर्म कारण के बल से हो सकते हैं वह समुच्चय होता है, क्योंकि वास्तविक में वह पदार्थ वैसा (दो विरुद्ध धर्म का आश्रय हो सकता है। जैसे क्रिया के आश्रय को द्रव्य कहते हैं, इस प्रकार द्रव्य के लक्षण के कहनेपर जिस घटादि द्रव्यों में क्रिया की आश्रयता कारण (प्रमाण) के बल से हो सकती है, वह क्रिया का आश्रय होता है, और जो आकाशादि द्रव्य कारण (प्रमाण) के बल के न होने से क्रिया का आधार नहीं हो सकता वह क्रियारहित होता है (इस प्रकार उक्त दोनों क्रिया की आधारता तथा अनाधारता रूप विरुद्ध धर्म द्रव्यों में रहने से इन दोनों धर्मों का समुच्चय (मिलकर रहना) हो सकता है) और एक ही धर्मी में एक काल में न होने वाले दो विरुद्ध धर्मों के रहने में काल के भेद से व्यवस्था होने के कारण काल का विकल्प होता है। जैसे वही घटादिक द्रव्य क्रिया से सम्बन्ध रहने पर क्रिया का आधार तथा उत्पत्ति के पूर्व एवं क्रिया के शान्त होने पर भी अथवा भविष्य में नष्ट कर्म वाला द्रव्य क्रियारहित होता है (अर्थात् काल के भेद से क्रिया की आधारता एवं अनाधारता दोनों विरुद्ध धर्म एक धर्मो में रहते हैं)। किन्तु यह सूत्र में कहा हुआ निर्णय का लक्षण संपूर्ण निर्णयों का नहीं है, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों से मिलकर संशयपूर्वक ही निर्णय (निश्चय) होता है ऐसा नियम नहीं है। किन्तु इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग आदि सम्बन्ध रूप में संनिकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष में केवल (संशय रहित) अर्थ के निश्चय को निर्णय कहते हैं। और जो परीक्षा करने के विषय पदार्थ हैं उनका संशय पूर्व अनुसार कहे पक्ष तथा प्रतिपक्ष से मिलकर अर्थ का निश्चय रूप निर्णय होता है। शास्त्र और वाद नामक कथा में बिना संशय के ही निर्णय होता है। (अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय पदार्थ में अर्थ का निश्चय रूप ही निर्णय होता है। तथा पूर्वमीमांसादिशास्त्र से ज्योतिष्टोमादियज्ञों का स्वर्गादि रूप फल के साथ सम्बन्ध का निर्णय करने में भी संशयपूर्वक निर्णय नहीं होता। तथा अपने-अपने पक्ष का निश्चय रखने वाले ही वादी एवं प्रतिवादी की वाद, जल्प तथा वितण्डा कथा में प्रवृत्ति होने के कारण उक्त कथाओं से होने वाले निर्णय में भी संशयपूर्वक निर्णय होने की

पक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिः एकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।

नेदं *पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं सम्भवतीति* एको हि प्रतिज्ञातमर्थं हेतुतः स्थापयति प्रतिषिद्धं चोद्धरति द्वितीयस्य। द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिद्ध्यते तस्यैव प्रतिषेधहेतुश्चोद्ध्रियते स निवर्त्तते तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णयः।

उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। कया युक्त्या? एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः। तावेतौ सम्भवासम्भवौ विमर्शं सह निवर्त्तयत उभयसम्भवे। उभयासम्भवे त्वनिवृत्तो विमर्श इति। *विमृश्येति* विमर्शं कृत्वा। सोऽयं

करते हैं कि)—किसी पक्ष के स्थापन करने को साधन तथा निषेध करने को उपालंभ (खण्डन) कहते हैं, ये दोनों साधन तथा उपालंभ जिस बादकथा में उपरोक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष के आश्रय से व्यतिषक्त (सम्बद्ध) (अर्थात् साथ-साथ चलते हुए) पक्ष-प्रतिपक्ष ऐसे कहे जाते हैं। उन दोनों में से किसी एक की अन्त में निवृत्ति हो जाती है (अर्थात् एक पक्ष हट जाता है) और कोई एक पक्ष स्थिर रहता है (रह जाता है) यह अवश्य होता है। जिसका अवस्थान (स्थिर होना) होता है उसके अवधारण (निश्चय) को निर्णय नाम का न्याय का उत्तराङ्ग पदार्थ कहते हैं। (यहाँ पर 'पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों पदों का कथन होने के कारण वादकथा में संदेह होता है निर्णय नहीं होता' ऐसी भ्रम से पूर्वपक्षी की शंका को देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—(शंका)—उपरोक्त 'पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों से मिलकर अर्थ का अवधारण (निश्चय) नहीं हो सकता क्योंकि एक (वादी) प्रतिज्ञा किये साध्य अर्थ की हेतु से स्थापना करता है, तथा दूसरे प्रतिवादी के निषेध (दोषों) का उद्धार करता है। और दूसरा प्रतिवादी वादी के पक्ष की स्थापना के हेतु का निषेध करता है, और वादी के निषेध के हेतु का उद्धार (निराकरण) भी करता है। जिससे वह पूर्ववादी अथवा उत्तर प्रतिवादी इन दोनों में से एक निवृत्त हो जाता है, उसके निवृत्त होने पर जो उन दोनों में से स्थिर होता है, उससे अर्थ का निश्चयरूप ज्ञान निर्णय कहाता है'। (शंका का स्वीकारपूर्वक समाधान करके भाष्यकार वर्णन ऐसा करते हैं कि)—दोनों पक्षों से ही अर्थ का निश्चय होता है। (प्रश्न)—किस युक्ति से! (उत्तर)—एक पक्ष के होने का संभव (हो सकना) तथा द्वितीय पक्ष का असंभव (न हो सकना), रहते वे ये संभव तथा असंभव साथ मिले हुए (दोनों पक्षों का संभव हो सकना) दोनों ही संशय को दूर करते हैं। दोनों पक्षों का यदि असंभव हो तब तो संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती। (अर्थात् वादी के पक्ष के साधक हेतु का संभव (हो सकना) तथा प्रतिवादि-पक्ष के खण्डन का असंभव (न हो सकना) ये दोनों मिलकर ही संशय की निवृत्त करते हैं, न कि एक-एक पक्ष के संशय को निवृत्त कर सकते हैं। (सूत्र के **'विमृश्य'** इस पद का अर्थ करते हुए उसका भाष्यकार प्रयोजन वर्णन करते हैं कि)—सूत्र के **'विमृश्य'** इस पद का अर्थ है विमर्श (संशय) को कर। वह यह विमर्श (संशय) उपरोक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष इन दोनों को न्याय (अनुमान) विषय रूप से प्रकाशित करते हुए न्याय (अनुमान) को उत्पन्न करते हैं, इस कारण निर्णय का उपादान कारण होने के कारण

विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयत इति। एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम्। यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः, हेतुतोऽर्थस्य तथा भावोपपत्तेः। यथा क्रियावद् द्रव्यमिति लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावत्, यस्य न सम्भवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः, यथा तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत्, अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति।

न चायं निर्णये नियमः विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति, किं त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति, परीक्षा-

---

निर्णय के पूर्व में लिया जाता है। (यहाँ भाष्य में **'अवद्योत्य'** इस पद का अर्थ है नियम से विषय करना) किन्तु यह (संशयपूर्वक निर्णय होना एक धर्मी में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों में होता है ऐसा जानना। किन्तु जिस स्थल में सामान्य रूप से धर्मी में दो परस्पर विरुद्ध धर्म कारण के बल से हो सकते हैं वह समुच्चय होता है, क्योंकि वास्तविक में वह पदार्थ वैसा (दो विरुद्ध धर्म का आश्रय हो सकता है। जैसे क्रिया के आश्रय को द्रव्य कहते हैं, इस प्रकार द्रव्य के लक्षण के कहनेपर जिस घटादि द्रव्यों में क्रिया की आश्रयता कारण (प्रमाण) के बल से हो सकती है, वह क्रिया का आश्रय होता है, और जो आकाशादि द्रव्य कारण (प्रमाण) के बल के न होने से क्रिया का आधार नहीं हो सकता वह क्रियारहित होता है (इस प्रकार उक्त दोनों क्रिया की आधारता तथा अनाधारता रूप विरुद्ध धर्म द्रव्यों में रहने से इन दोनों धर्मों का समुच्चय (मिलकर रहना) हो सकता है) और एक ही धर्मी में एक काल में न होने वाले दो विरुद्ध धर्मों के रहने में काल के भेद से व्यवस्था होने के कारण काल का विकल्प होता है। जैसे वही घटादिक द्रव्य क्रिया से सम्बन्ध रहने पर क्रिया का आधार तथा उत्पत्ति के पूर्व एवं क्रिया के शान्त होने पर भी अथवा भविष्य में नष्ट कर्म वाला द्रव्य क्रियारहित होता है (अर्थात् काल के भेद से क्रिया की आधारता एवं अनाधारता दोनों विरुद्ध धर्म एक धर्मी में रहते हैं)। किन्तु यह सूत्र में कहा हुआ निर्णय का लक्षण संपूर्ण निर्णयों का नहीं है, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों से मिलकर संशयपूर्वक ही निर्णय (निश्चय) होता है ऐसा नियम नहीं है। किन्तु इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग आदि सम्बन्ध रूप में संनिकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष में केवल (संशय रहित) अर्थ के निश्चय को निर्णय कहते हैं। और जो परीक्षा करने के विषय पदार्थ हैं उनका संशय पूर्व अनुसार कहे पक्ष तथा प्रतिपक्ष से मिलकर अर्थ का निश्चय रूप निर्णय होता है। शास्त्र और वाद नामक कथा में बिना संशय के ही निर्णय होता है। (अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय पदार्थ में अर्थ का निश्चय रूप ही निर्णय होता है। तथा पूर्वमीमांसादिशास्त्र से ज्योतिष्टोमादियज्ञों का स्वर्गादि रूप फल के साथ सम्बन्ध का निर्णय करने में भी संशयपूर्वक निर्णय नहीं होता। तथा अपने-अपने पक्ष का निश्चय रखने वाले ही वादी एवं प्रतिवादी की वाद, जल्प तथा वितण्डा कथा में प्रवृत्ति होने के कारण उक्त कथाओं से होने वाले निर्णय में भी संशयपूर्वक निर्णय होने की

विषये तु विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः। शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जम् ॥ ४१ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां न्यायोत्तराङ्गप्रकरणम्।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

आवश्यकता नहीं होती। और इसीसे **'अपने अनुभव से सिद्ध होने वाले विषय में भी संशयपूर्वक निर्णय नहीं होता'** यह भी यहाँ पर सूचित होता है) ॥ ४१ ॥

इस प्रकार वात्स्यायनमुनि से रचित न्यायभाष्य में प्रथमाध्याय
का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ॥

अथ द्वितीयाह्निकम्

तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति । तासाम्—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥

(इस प्रकार प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक में षोडश पदार्थों में से प्रमाण से लेकर निर्णय-पर्यन्त पदार्थों का निरूपण कर द्वितीयाह्निक में अवशिष्ट ७ पदार्थों का वर्णन करने में क्रम-प्राप्त तीन प्रकार की कथा में से प्रथम वाद रूप कथा का वर्णन करने के लिए भाष्यकार प्रथम सूत्र के अवतरण में कहते हैं कि)—वाद-जल्प, तथा वितण्डा नामकी तीन कथा होती है, उनमें से यह सूत्र वाद का है (**प्रमाण तर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो**) वादः ॥ १ ॥

पदपदार्थ= प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः = प्रमाण तथा तर्क से है पक्ष का साधन तथा पर पक्ष का खण्डन जिसमें । सिद्धान्ताविरुद्धः = स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध न करने वाला, पञ्चावयवोपपन्नः = प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः = एक विषय में विरुद्ध दो धर्मों को ग्रहण करने वाले पक्ष एवं प्रतिपक्ष का स्वीकार, वादः = वाद नामक प्रथम कथा होती है ॥

भावार्थ= प्रथमाह्निक में प्रमाण से लेकर निर्णयपर्यन्त नव पदार्थों के वर्णन के पश्चात् द्वितीयाह्निक में तीन प्रकार की वादादि कथाओं में से प्रथम वाद कथा का वर्णन करना उचित होने से उसका लक्षण सूत्रकार ने ऐसा किया है कि जिस कथा में प्रमाण एवं तर्क से स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष के साधक हेतु का खण्डन किया जाता है, एवं स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध न होने से जिसमें विरोध नामक हेत्वाभासवादी के खण्डनार्थ दिया जाता है, तथा जिसमें प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव भी होते हैं जिससे अवयवों में अधिकता तथा न्यूनता रूप निग्रह स्थान भी वादी के खण्डन के लिये दिए जा सकते हैं, ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष अर्थात् (एक विषय में विरुद्ध दो धर्मों) का स्वीकार होता है, उसे वाद नामक प्रथम कथा कहते हैं । यद्यपि निर्णय के अनुकूल होने के कारण प्रथम आह्निक में ही वादकथा का लक्षण करना युक्त था तथापि तीनप्रकार की कथाओं के अन्तर्गत होने से द्वितीयाह्निक में ही उसका भी वर्णन सूत्रकार कर रहे हैं । जिसमें अनेक वक्ताओं से युक्त विचार के पदार्थ को विषय करने वाले वाक्यों के सन्दर्भ को कथा कहते हैं, वह तीन ही प्रकार की होती है (ऐसा **'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः'** इस सूत्र के पद से सूचित होता है ।) जिसमें गुरु आदि के साथ वाद कथा, एवं जय की इच्छा करने वाले के साथ जल्प, एवं वितण्डानामक दो कथा होती है यह विशेषता है) इस सूत्र में **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** इस पद में **'प्रमाणतर्कसाधनः'** तथा **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** ऐसा मध्यम पद लोपी समास जानना चाहिये । (यद्यपि वितण्डाकथा में पक्ष तथा प्रतिपक्ष का परिग्रह होता है, तथापि प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) की स्थापना नहीं होती, क्योंकि उसमें साधन नहीं होता, और जल्प कथा में यद्यपि पक्षप्रतिपक्ष दोनों में साधन होता है, किन्तु प्रमाणमूल वाले प्रतिज्ञादि पाँच अवयव और तर्क से भी स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का खण्डन होता है इस कारण **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** इस विशेषण से जल्प तथा वितण्डा कथा से वाद कथा में भेद सिद्ध हो जाता है) ।

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ *पक्षप्रतिपक्षौ* प्रत्यनीकभावाद् , अस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति। नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ, यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति। *परिग्रहो*ऽभ्युपगमव्यवस्था। सोऽयं *पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः*। तस्य विशेषणं *प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः*—प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति। *साधनं* स्थापना। *उपालम्भः* प्रतिषेधः। तौ साधनोपालम्भौ उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्तावनुबद्धौ च यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति निवृत्तस्योपालम्भो व्यवस्थितस्य साधनमिति।

जल्पे निग्रहस्थानविनियोगाद्वादे तत्प्रतिषेधः। प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थं *सिद्धान्ताविरुद्ध* इति वचनम्। *'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध'*

(प्रथमसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—एक आश्रय में रहनेवाले विरुद्ध धर्मों को परस्पर विरोध होने के कारण पक्ष तथा प्रतिपक्ष कहते हैं, जैसे आत्मा है तथा नहीं है (ये पक्ष प्रतिपक्ष हैं) अनेक आश्रय में रहने वाले विरुद्धधर्म पक्ष तथा प्रतिपक्ष नहीं होते, जैसे आत्मा नित्य है और बुद्धि अनित्य है (यह पक्ष प्रतिपक्ष नहीं हैं) सूत्र में परिग्रह शब्द का स्वीकार की व्यवस्था यह अर्थ है। वह यह इस प्रकार का पक्ष तथा प्रतिपक्ष का मानना ही वाद नामक प्रथम कथा का लक्षण हैं। उसका **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** यह विशेषण है। जिसका प्रमाण तथा तर्क से जिसमें पक्ष की स्थापना होती है एवं प्रमाण तथा तर्क से दूसरे के पक्ष का खण्डन होता है ऐसा अर्थ है क्योंकि इस वाद कथा में प्रत्यक्षादि प्रमाण और तर्क से भी स्वपक्ष का साधन, एवं दूसरे विरोधी पक्ष का खण्डन भी किया जाता है, इस कारण सूत्र के **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** इस पद में साधनशब्द का अर्थ अपने पक्ष की स्थापना करना और उपालंभ शब्द का अर्थ है—विरोधि पक्ष का निषेध (खण्डन)। ये दोनों स्वपक्ष की स्थापना तथा विरोधि पक्ष का खण्डन, दोनों पक्षों में (व्यतिषक्तो जुड़े हुए अनुबद्ध परस्पर में सम्बद्ध तब तक होते हैं, जिस समय तक एक की निवृत्ति और दूसरे की स्थिति नहीं ठीक होती। जिस पक्ष की निवृत्ति होता है उसका उपालंभ (खण्डन) तथा जो पक्ष स्थिर हो जाता है उस पक्ष का साधन (स्थापना) होती है (आगे **'सिद्धान्ताविरुद्धः'** इस विशेषण की सार्थकता दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जल्पकथा में आगे निग्रह स्थानों का उपयोग करना (आगे कहेंगे) जिससे वाद कथा में निग्रह स्थानों के उपयोग का निषेध प्राप्त होता है। किन्तु उक्त निषेधहोने पर भी किसी विशेष निग्रह स्थान की स्वीकृति के देखाने के लिये **'सिद्धान्ताविरुद्धः'** ऐसा सूत्रकार ने विशेषण कहा है। जिससे **'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः'** (१–२–४७) किसी एक सिद्धान्त को मानकर उसके विरोधी हेतु को विरुद्ध दुष्ट हेतु कहते हैं, इस सूत्र में कहे हुए दुष्ट हेतु रूप निग्रह स्थान की वाद कथा में स्वीकृति सूचित होती है। (**'तत्प्रतिषेधः'** इस पद से वादी या प्रतिबादी की वाद कथा में निग्रह स्थानों को न कहना चाहिये यह सूचित होता है। अर्थात् जिस प्रकार **'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि'** (किसी की हिंसा न करे) यह सामान्यविधि तथा **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** (यज्ञ के पशु की हिंसा करे) यह कर्मकाण्ड में कहा हैं, उसी प्रकार वाद कथा में सामान्य रूप से सम्पूर्ण निग्रह स्थानों का निषेध है तथापि **'सिद्धान्ताविरुद्धः'** इस पद से विरोध हेत्वाभास रूप निग्रह स्थान का प्रयोग करना यह विधि है, यह भाष्यकार का आशय स्पष्ट प्रतीत होता है। (किन्तु वार्तिककार ने अनुराग से सम्पूर्ण पाँच तत्त्व वाले प्राणियों के भक्षण के प्राप्ति के समान

(अ० १ आ० २ सू० ४७) इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे। पञ्चावयवोपपन्न इति—हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्' हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' (अ० ५ आ० २ सू० १२।१३) इति चैतयोरन्यनुज्ञानार्थमिति। अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम्। अन्यथोभावपि पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात्। अन्तरेणापि

उपालम्भ के ग्रहण से सम्पूर्ण निग्रह स्थानों की प्राप्ति होने पर पाँच ही पाँच तत्त्व वाले प्राणियों में भक्षण के नियम के समान परिसंख्या के लिये सिद्धान्ता विरुद्धः तथा पंचावयवोपपन्नः यह उत्तर पद दिये गये है, ऐसा कहा है। जिससे वाद कथा में चार प्रकार से निग्रह स्थानों का सम्बन्ध प्रतीत होता है। (१) प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, निरर्थक, अर्थान्तर, अविज्ञातार्थ तथा अपार्थक इन ६ निग्रहस्थानों का वाद कथा में सम्भव ही नहीं होता। (२) कुछ ऐसे हैं जिनका सम्भव होने पर भी वाद कथा में वे उद्भावित (कथा के विषय) नहीं होते, जैसे प्रतिज्ञान्तर हेत्वन्तर अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, निरनुयोज्योपेक्षण, ये सात निग्रह स्थान होने पर भी वाद कथा में दिये नहीं जाते। (३) वे हैं जो इनसे भिन्न अवशिष्ट निग्रह स्थान वाद कथा में प्रतिवादी को पराजित करने के लिये दिये जाते हैं। (४) वे हैं जिनमें वाद कथा समाप्त हो जाती जैसे सव्यभिचार आदि पाँच हेत्वाभास, तथा निरनुयोज्यानुयोग ये दोनों प्रकार के निग्रह स्थान। हैं (आगे दूसरे **'पंचावयवोपपन्नः'** इस सूत्र के विशेषण पद का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सूत्र के **'पंचावयवोपपन्नः'** प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों से युक्त वाद होता है, इस पद से **'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्'** प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों में से कोई एक अवयव न्यून (कम) हो तो, न्यून नामक, तथा **'हेतूदाहरणाधिकमधिकम्'** हेतु, उदाहरणादि कोई अवयव अधिक हो तो अधिक नामक निग्रह स्थान होता है (५-२. १२-१३) इन दो निग्रह स्थानों का प्रयोग वाद कथा में वादी को पराजित करने के लिये किया जा सकता है यह सूचित होता है। (इस प्रकार सूत्र के दोनों विशेषणों का प्रयोजन दिखाकर दूसरा और भी **'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः'** इस विशेषण का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों में प्रमाण तथा तर्क का अन्तर्भाव होने पर भी प्रमाण तथा तर्क का पृथक् ग्रहण सूत्रकार ने इसलिये किया है कि साधना (स्वपक्षस्थापन) तथा उपालंभ (परपक्ष के खण्डन) में प्रमाण तथा तर्क का सम्बन्ध होता है, नहीं तो अपने अपने पक्ष की स्थापना करने में प्रवृत्त हुए दोनों स्वतन्त्र पक्ष भी वाद कथा कहे जांय। अर्थात् यद्यपि प्रमाण तथा उसके सहायक तर्क के विना पाँच अवयवों से युक्त होना हीन हो सकता है, अतः **'पंचावयवोपपन्नः'** ऐसा कहने से ही प्रमाण तथा तर्क आक्षेप से प्राप्त हो जाता है, तथापि इन प्रमाण तर्क के अपने पदों से कहने से यह सूचित होता है कि वादी तथा प्रतिवादी से कहे हुए स्थापना तथा खण्डन इन दोनों को परस्पर मिले हुए होना चाहिए नहीं तो जिस स्थल में वादी अपने स्थान में स्थित होता हुआ ही प्रतिवादी के उक्ति की अपेक्षा न करता हुआ शब्द की अनित्यता को सिद्ध करता है, और प्रतिवादी, वादी के उक्ति की अपेक्षा न करता हुआ भी शब्द के नित्यता-साधक प्रतिज्ञादि अवयव वाक्यों का प्रयोग करता है वह भी वाद कथा कही जायगी)। (आगे और भी दूसरे प्रकार से उक्त विशेषणों का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—विना प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के सम्बन्ध के भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अर्थ की सिद्धि होती है ऐसा देखने में आता है, इस प्रकार से भी वाद

च्चाग्रयवसम्बन्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टं, तेनापि कल्पेन साधनोपालम्भौ वादे भवत इति ज्ञापयति। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालभो जल्प इति वचनाद्विनिग्रहो जल्प इति मा विज्ञायि, च्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एवेति मा विज्ञायीत्येवमर्थं पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणमिति ॥ १ ॥

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥२॥

यथोक्तोपपन्न इति—प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति एवंविशेषणो जल्पः।

कथा में परस्पर वादी तथा प्रतिवादी के स्वपक्ष का साधन तथा परपक्ष का खण्डन हुआ करता है यह सिद्ध होता है। (इस प्रकार दो प्रयोजन दिखाने के पश्चात् तीसरा **'प्रमाणतर्कसाधनोपपन्नः'** (इस विशेषण का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—**'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपलंभो जल्पः'** जिसमें छल, जाति तथा निग्रह स्थानों से स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का खण्डन होता है उसे जल्प कहते हैं, इस सूत्रकार के जल्प के लक्षण के कथन से, वाद कथा से जल्पकथा पूर्वोक्त निग्रह स्थानों से रहित होती है ऐसा न जानाजाय—अर्थात् छल, जाति, तथा निग्रह स्थानों से जिसमें स्वपक्ष की स्थापना एवं परपक्ष का खण्डन ही होता है, वह जल्प नामक कथा होती है, और प्रमाण तथा तर्क से जिसमें स्वपक्ष की स्थापना, एवं परपक्ष का खण्डन होता है ऐसी वाद नामक कथा ही होती है, ऐसा न समझा जाय—यह विषय दिखाने के लिये पृथक् प्रमाण एवं तर्क का सूत्रकार ने ग्रहण किया है। अर्थात् वाद कथा में होने वाले पूर्वोक्त निग्रहस्थान का जल्प कथा में नहीं होते, और जल्प कथा में उद्भावन करने योग्य निग्रह स्थान वाद कथा में नहीं उद्भावना किये जाते, ऐसा न समझा जाय, क्योंकि वाद कथा में होने वाले विरोध, अधिक तथा न्यून नामक निग्रह स्थान जल्प कथा में भी प्रतिवादी को पराजित करने के लिये उद्भावन किये जाते हैं, ऐसा पृथक् प्रमाण तथा तर्क के ग्रहण से सिद्ध होता है ॥ १ ॥

क्रमप्राप्त द्वितीय जल्प कथा का सूत्रकार लक्षण दिखाते हैं—

पदपदार्थ—यथोक्तोपपन्नः = वादकथा के लक्षण में से युक्त, छलजातिनिग्रह स्थानसाधनोपालंभः = (जिससे आगे जिनका वर्णन होगा ऐसे) छल, जाति तथा निग्रह स्थानों से स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का खण्डन होता है, जल्पः = ऐसी कथा को जल्प कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—वादकथा में कथित **'प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः'** इत्यादि विशेषण जिसमें हो तथा छठे, एवं पंचमाध्याय में कही जाने वाले छल, तथा निग्रह स्थानों से भी जिस कथा में स्वपक्ष की स्थापना एवं परपक्ष का खण्डन होता है उस कथा को जल्प कहते हैं।

(इस सूत्र में **'यथोक्तोपपन्नः'** इस विशेषण से संपूर्ण वादकथा का लक्षण लेना चाहिये, ऐसा यहाँ भाष्यकार का मत है किन्तु **'प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः'** यही विशेषण जल्प कथा में लेना चाहिए ऐसा वार्तिककार का मत है। जिससे **'सिद्धान्ताविरुद्धः'** तथा **'पंचावयवोपपन्नः'** ये दो पद वादकथा में नियम देखाने के लिये ही हैं, जल्पकथा में तो किसी का नियम करना नहीं है ऐसी उपरोक्त भाष्यकार के मत पर वार्तिककार की अश्रद्धा है यह सूचित होता है) ॥ २ ॥

न खलु वै छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्भवति, प्रतिषेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणे च विशेषलक्षणे च श्रूयते '*वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्*' इति, साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां *प्रत्यवस्थानं जातिः*' '*विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्*' (अ० १ आ० २ सू० ५१।५९।६०) इति । विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति । न चैतद्विजानीयात्प्रतिषेधार्थतयैवार्थं साधयन्तीति, छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्प इत्येवमप्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति ।

प्रमाणैः साधनोपालम्भयोश्छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्षरक्षार्थत्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः। यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् । तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन

(द्वितीय सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के **'यथोक्तोपपन्नः'** वादकथा में कहे विशेषणों के अर्थ से युक्त, इस पद से प्रमाण और तर्क से जिसमें स्वपक्ष का स्थापन, तथा परपक्ष का खण्डन होता है, एवं माने हुए सिद्धान्त का विरोध न करने वाला, तथा प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों से युक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष का स्वीकार करना (यह संपूर्ण वादकथा का लक्षण जल्प में भी होता है) तथा सूत्र के **'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभः'** इस पद का अर्थ यह है कि जिस कथा में आगे कहे जाने वाले छल, तथा पंचम अध्याय में जिनका वर्णन होगा, ऐसे जाति (असत् उत्तर) एवं प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रह स्थानों से जिसमें स्वपक्ष का साधन तथा परपक्ष का खण्डन भी किया जाता है ऐसे कथा को जल्प नामक द्वितीय कथा कहते हैं। (उपरोक्त जल्पकथा के लक्षण में दोष दिखाते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षिमत से शंका दिखाते हैं कि)—छल, जाति तथा निग्रह स्थानों से किसी पक्ष का साधन (स्थापना), नहीं हो सकती, क्योंकि छलादिक परपक्ष के खण्डन करते हैं, यह उनके सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षणों से सिद्ध होता है। इसी कारण **'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्'** वादी के वाक्य का अर्थ के विकल्प (दूसरा अर्थ करने) से विघात (दूषण देना) इसे छल कहते हैं, तथा **'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'** समानधर्म तथा विरुद्धधर्म से खण्डन करना जाति कहाता है, एवं **'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'** विरुद्धज्ञान तथा अज्ञान (न समझना) निग्रहस्थान (पराजय के स्थान) होते हैं (१-२-५, १-५९-६०) इन छल, जाति तथा निग्रह स्थानों के सामान्य लक्षणों में छल, जाति, निग्रहस्थान से परपक्ष का खण्डन ही किया जाता है ऐसा प्रतीत होता है) इसी प्रकार छलादिकों के विशेष लक्षणों में यथोचित ये परपक्ष का खण्डन ही करते हैं यह जानना चाहिये । इससे यह यहाँ न जानना चाहिये कि छलादिक परपक्ष का खण्डन करने से ही अपने पक्ष की स्थापना भी करते हैं क्योंकि कथा में छल, जाति तथा निग्रह स्थानों से परपक्ष का खण्डन करने वाली वाद कथा होती है, ऐसा कहने से ही यह जाना जा सकता है। (इस आशंका के समाधान में भाष्यकार कहते हैं कि)—स्वपक्ष का स्थापन तथा परपक्ष का खण्डन तो प्रमाणों से ही होता है जिसमें अपने पक्ष (मत) की रक्षा करने के कारण छलादिक अंग (सहायक) होते हैं। ये छलादिक स्वतन्त्र रूप से स्वपक्ष की स्थापना नहीं करते। अर्थात् जो प्रमाणों से अपने पक्ष की स्थापना की जाती है, उसमें छल, जाति तथा निग्रह स्थान स्थापनापक्ष की रक्षा करने के कारण अंग (सहायक) होते हैं। क्योंकि छल, जाति तथा निग्रह स्थानों का प्रयोग करने से परपक्ष के खण्डन द्वारा छलादि के अपने पक्ष (स्थापनापक्ष) की रक्षा

स्वपक्षं रक्षन्ति। यथा चोक्तं *'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह-संरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'* (अ० ४ आ० २ सू० ५) इति। यश्चासौ-प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघाता-त्सहकारीणि भवन्ति। तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानं जल्पे, न स्वतन्त्राणां साधनभावः। उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति ॥ २ ॥

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥

स जल्पो *वितण्डा* भवति। किं विशेषणः ? *प्रतिपक्षस्थापनया हीनः*। यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तं तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्त्तत इति।

अस्तु तर्हि 'स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा ?'

करते हैं। इसी कारण **'तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'** (४. २. ५) वास्तविक पक्ष की रक्षा के लिये जल्प तथा वितण्डा दोनों कथायें होती हैं, जिस प्रकार बीज के अंकुरों की रक्षा के लिये क्षेत्र (खेत) के चारो तरफ कांटों के वृक्षों की शाखाओं से घेरा कर दिया जाता है, ऐसा आगे सूत्रकार कहेंगे। यह जो प्रमाणों से विरुद्ध पक्ष का खण्डन किया जाता है उसमें छलादिकों का प्रयोग होंने से ये विरुद्ध पक्ष के खण्डन करने से छलादि के सहायक होते हैं। इस प्रकार जल्पकथा में अंग (गौण) रूप से छलादिकों का ग्रहण होता है, स्वतन्त्र रूप से ये स्वपक्ष के साधक नहीं होते। किन्तु परपक्ष का खण्डन करने में छलादिक स्वतन्त्र भी होते हैं ॥ २ ॥

क्रमप्राप्त वितण्डा कथा का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थं= सः = वह (जल्प), प्रतिपक्षस्थापनाहीनः = विरुद्ध पक्ष की स्थापना से रहित हो तो वितण्डा = वह वितण्डा कथा होती है ॥ ३ ॥

भावार्थं= पूर्वोक्त लक्षण वाले जल्पकथा में विरुद्ध पक्ष की अनुमान प्रयोग द्वारा स्थापना जिसमें नहीं होती, केवल वादी का खण्डन किया जाता है, उसे वितण्डा कथा कहते हैं। (अर्थात् पूर्ववादी के पक्ष की अपेक्षा प्रतिवादी का अन्य पक्ष ही **'प्रतिपक्ष'** कहाता है उसकी स्थापना से रहित कथा वितण्डा नामक कथा होती है ॥ ३ ॥

(इस सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—वह (पूर्वसूत्र में कही हुई) जल्पनामक कथा वितण्डा कथा होती है। (प्रश्न) :—कैसे विशेषण वाली (अर्थात् कैसी जल्प कथा वितण्डा कथा कहाती है ! (उत्तर)—जिसमें विरुद्ध पक्ष की स्थापना न हो उस जल्प कथा को ही वितण्डा कथा कहते हैं। अर्थात् जो पूर्व में एक आधार में विरुद्ध दो धर्म पक्ष तथा प्रतिपक्ष कहाते हैं ऐसा कहा गया है उन दोनों में से वितण्डा कथा करने वाला (वैतण्डिक) एक अपने विरुद्ध पक्ष की स्थापना नहीं करता किन्तु पूर्ववादी के पक्ष का खण्डन करते हुए ही वितण्डा कथा में प्रवृत्त होता है। (शंका)—यदि ऐसा है कि वितण्डा कथा में विरुद्ध पक्ष की स्थापना नहीं है तो **'प्रतिपक्ष-विरुद्धपक्ष से रहित जल्पकथा'** वितण्डाकथा कहाती है इतना ही लक्षण करना सूत्रकार को उचित था। (अर्थात्) वितण्डा कथा में जब विरुद्ध पक्ष की स्थापना नहीं है तो उससे संस्थापन किया जाने वाला पक्ष भी नहीं है, क्योंकि विना स्थापना के पक्ष हो नहीं सकता, जिससे 'प्रतिपक्ष

यद्वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतण्डिकस्य पक्षः न त्वसौ साध्यं कं चिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति। तस्माद्यथान्यासमेवास्त्विति ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः कथालक्षणप्रकरणम्।

हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः। त इमे—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ॥

तेषाम्—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ५ ॥

की स्थापना से हीन इस उक्ति से प्रतिपक्ष रहित वितण्डाकथा होती है' यह शंका का तात्पर्य है) (उत्तर)—जो वह प्रतिवादी का पूर्ववादी के पक्ष के खण्डन करने वाला वाक्य है, वही वितण्डा कथा करने वाले का पक्ष है, किन्तु वह वितण्डा करने वाला किसी साधने योग्य अर्थ की प्रतिज्ञा कर उसकी साधन द्वारा स्थापना नहीं करता, अतः सूत्रकार ने जैसा लक्षण का उपन्यास (कथन) किया है वही युक्त होने से सही (अर्थात् वैतण्डिक) वितण्डा करने वाला भी वादी यह समझ कर कि अन्त में प्रतिपक्ष से ही अर्थ की सिद्धि होगी अपने पक्ष की स्थापन न करता हुआ केवल पूर्ववादी के पक्ष का खण्डन करता है, इस कारण वैतण्डिक का यह खण्डन वाक्य ही इसका पक्ष है ऐसा गौण पक्ष शब्द का व्यवहार होता है। (अर्थात् यह पक्ष होना केवल योग्यता है न कि स्थापना होने से यह तात्पर्य है ॥ ३ ॥

हेत्वाभासप्रकरण

षोडश पदार्थों में क्रमप्राप्त चतुर्दश हेत्वाभास नामक पदार्थ का निरूपण करते हुए चतुर्थ सूत्र का भाष्यकार लक्षण देखाते हुए अवतरण देते हैं कि—सत् हेतुओं का लक्षण नहीं रहने से जो हेतु न होने पर भी हेतुओं के समान कुछ धर्मों के रहने के कारण हेतुओं के समान प्रतीत होने वाले हेत्वाभास कहाते हैं वे ये हैं—अर्थात् हेत्वाभास इस शब्द के व्युत्पत्ति के बल से हेत्वाभासों का सामान्य लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ=सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः=(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरण सम, सत्प्रतिपक्ष (४) साध्यसम (असिद्ध), तथा (५) कालातीत (बाधित) नामक, हेत्वाभासः = पांच प्रकार के दुष्ट हेतु होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ = पूर्वग्रन्थ में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु को सद्धेतु कहते हैं ऐसा प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों के निरूपण में सिद्ध हो चुका है, अतः असत् हेतु कौन से होते हैं, इस शिष्यों की जिज्ञासा के निरास के लिये सूत्रकार असत् हेतु (हेत्वाभासो) का निरूपण करते हैं कि हेतु के कुछ पूर्वोक्त पक्षसत्ता आदि पाँच रूपों में से जिनमें कुछ धर्म रहने के कारण जो हेतु के समान प्रतीत होते हैं, ऐसे दुष्टहेतु सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरण (सत्प्रतिपक्ष) साध्यसम (असिद्ध) तथा कालीतीत (बाधित), नाम के पाँच हेत्वाभास (दुष्टहेतु) होते हैं ॥ ४ ॥

(चतुर्थ सूत्र का अर्थ स्पष्ट होने के कारण उक्त हेत्वाभासविशेषों का क्रम से वर्णन करते हुए प्रथम सव्यभिचार नामक हेत्वाभास लक्षण के ५ वें सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हुए सूत्र की संगति देखाते हैं कि)—उन पाँच हेत्वाभासों में से—

पदपदार्थ = जो हेतु एक पक्ष में स्थिर न होने से एकान्तिक (एक पक्ष में वर्तमान) नहीं होता वह व्यभिचार दोषयुक्त होने के कारण सव्यभिचार नामक दुष्टहेतु होता है। (साध्य अथवा

व्यभिचार एकत्राव्यवस्थितिः । सह *व्यभिचारेण* वर्त्तते इति *सव्यभिचारः*। निदर्शनं-नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टो, न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति । दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं च धर्मौ न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति । आत्मादौ च दृष्टान्ते '*उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं* हेतुः' (अ० १ आ १ सू० ३४) इति अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचरति अस्पर्शा बुद्धिरनित्या चेति । एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात्साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावाद-हेतुरिति ।

नित्यत्वमप्येकोऽन्तः, अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः, एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिकः उभयान्तव्यापकत्वादिति ॥ ५ ॥

साध्याभाव इनके **'अन्त'** अर्थात् आश्रय में वर्तमान हो उसे **'एकान्त'** और उससे भिन्न को अनैकान्तिक ऐसा कहते हैं ऐसी अनैकान्तिक शब्द की विवरण कारने व्याख्या की है । इस सूत्र में अनैकान्तिक तथा सव्यभिचार ये दोनों पर्यायशब्द पुरुषों के भेद की अपेक्षा से दोनों पद लक्ष्य (लक्षण करने योग्य) तथा लक्षण रूप से स्थित है क्योंकि जिसके लिये **'सव्यभिचार'** ऐसा विशेष हेत्वाभास का नाम है उसके लिये सव्यभिचार पद से लक्ष्य तथा अनैकान्तिक पद से लक्षणसूत्र में कहा गया है । और जिस पुरुष के लिये **'अनैकान्तिक'** ऐसा हेत्वाभास का नाम है उसके लिये **'अनैकान्तिक'** पद से लक्ष्य तथा सव्यभिचार इस पद से लक्षण सूचित होता है ऐसा सूत्रकार का आशय देखाता है ॥ ५ ॥

(**'सव्यभिचार'** को लक्षण मानकर भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में व्यभिचार शब्द का अर्थ है एक पक्ष में व्यवस्था न होना, जो इस व्यभिचार दोष के साथ रहता है उसे सव्यभिचार नामक दुष्ट हेतु कहते हैं । (अर्थात् जो साध्य (पक्ष) तथा उसके समान जाति के सपक्ष तथा विपक्ष में भी रहता है वह व्यभिचार होता है) जिस हेतु का सव्यभिचार **'शब्द'** नित्य है, स्पर्श रहित होने से, क्योंकि स्पर्श गुण का आधार कलश अनित्य देखा जाता है, वैसा शब्द स्पर्श का आधार नहीं है इस कारण स्पर्शरहित होने से शब्द नित्य है' यह निदर्शन (उदाहरण) है । किन्तु स्पर्श की आधारता और अनित्यता ये दोनों धर्म साध्य तथा साधन रूप नहीं देखाते, क्योंकि परमाणु स्पर्श गुण का आधार होने पर भी नित्य होता है इस कारण स्पर्श का न होना नित्यता का साधक नहीं हो सकता । (अर्थात् स्पर्शाधार और अनित्यता इन दोनों में साध्य साधन रूप सम्बन्ध नहीं है—क्योंकि स्पर्शाश्रयता अनित्यता की, तथा अनित्यता स्पर्शाश्रयता की सिद्धि नहीं करता)। तथा आत्मा बुद्धि आदि दृष्टान्त में भी **'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनहेतुः'** उदाहरण के समान धर्म के होने से साध्य की सिद्धि करने वाला साधर्म्य से हेतु होता है (१. १. ४) इस सूत्र के अनुसार शब्द में अनित्यता का साधक ('अत्यर्शता रूप) हेतु नित्यता साध्य का व्यभिचारी भी है, क्योंकि बुद्धि स्पर्शगुण का आधार न होने पर भी अनित्य है । इस प्रकार दोनों प्रकार के वैधर्म्य तथा साधर्म्य के दृष्टान्तों (उदाहरणों) में उपरोक्त प्रकार से व्यभिचार दोष आने के कारण स्पर्शत्व साधन, तथा नित्यता साध्य इन दोनों का साध्य साधनभाव न होने से सत् हेतु का लक्षण अस्पर्शत्व हेतु में नहीं है, अतः यह सत् हेतु नहीं किन्तु दुष्टहेतु सभिचार (हेत्वाभास है । (पूर्वप्रदर्शित **'अनैकान्तिकः'** इस पद को सूत्र में

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

तं विरुणद्धीति तद्विरोधी अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति। यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते। अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषेधात्। सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। कथम्? व्यक्तिरात्मलाभः। अपायः प्रच्युतिः। यद्यात्मलाभात्प्रच्युतो विकारोऽस्ति? नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते। यद्व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत् खलु

लक्षण मानकर भाष्यकार कहते हैं कि)—यहाँ पर नित्यता भी एक अन्त (पक्ष) है, तथा अनित्यता भी एक अन्त (पक्ष) है, एक अन्त (पक्ष) में रहै वह **'ऐकान्तिक'** हेतु होता है, उसके विपर्यय (उलटे) दोनों अन्तों (पक्षों) में रहै वह दोनों पक्षों में व्याप्ती से (अवश्य) रहने के कारण अनैकान्तिक होता है, इस प्रकार सव्यभिचार दुष्टहेतु का वर्णन समाप्त है। (अर्थात् नित्यतासाध्य अथवा अनित्यतासाध्य वालों में से जो हेतु एक ही पक्ष में रहता है वह ऐकान्तिक, और उसके विपरीत यदि दोनों साध्यवाले पदार्थों में रहै वह **'अनैकान्तिक'** एक पक्ष में अस्थिर होता है, इस प्रकार अन्वय अथवा व्यतिरेक जो दोनों पक्षों में होता है, वह साध्य तथा साध्याभाव के आश्रय में वर्तमान होता है ऐसा सव्यभिचार दुष्टहेतू होता है, जोकि वह आगे के विरुद्ध आदि चार दुष्टहेतुओं से भिन्न है अतः **'अनकान्तिक'** यह सव्यभिचार नामक प्रथम दुष्टहेतु लक्षण निर्दुष्ट है यह सिद्ध होता है) ॥ ५ ॥

प्रथम हेत्वाभा के पश्चात् विरुद्ध नामक द्वितीत हेत्वाभास का सूत्रकार लक्षणकरते हैं—

पदपदार्थ=सिद्धान्तं=पूर्वोक्त किसी एक सिद्धान्त को अभ्युपेत्य=मानकर तद्विरोधी=उसका विरोध करनेवाला हेतु विरुद्ध नामक द्वितीय हेत्वाभास होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ=जो हेतु किसी एक सिद्धान्त को मानकर उस सिद्धान्त का विरोध करे तो वह विरुद्ध नामक द्वितीय हेत्वाभास कहाता है, जैसे सांख्य सिद्धान्त से साविर्भाव से रहित होने पर भी विकाररूप कार्य कारणरूप से रहता है, यह मानने में विकार (कार्य), नित्य नहीं हो सकते, यह हेतु अपने (सांख्य के) ही सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास होता है ॥

(षष्ठ सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के **'तद्विरोधी'** इस शब्द का अर्थ है—उसका जो विरोध करता है—अर्थात् स्वीकार किये हुए सिद्धान्त का जो विरोध करता है, अर्थात्‌(होने नहीं देता) जिस प्रकार—'वह यह विकार संपूर्ण (कार्य) व्यक्ति (आविर्भाव) से रहित होता है, क्योंकि नित्य नहीं है। कार्यरूप से आविर्भाव से रहित होने पर भी कारण रूप से कार्य की सत्ता है, क्योंकि उसका नाश नहीं होता, यहाँ पर विकार (कार्य) नित्य नहीं होता यह हेतु 'आविर्भाव से रहित होने पर भी विकार (कार्य) कारण रूप से वर्तमान रहता है' इस अपने (सांख्य के), मत से विरुद्ध होता है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—व्यक्ति (आविर्भाव) शब्द का अपनी उत्पत्ति होता यह अर्थ है। तथा अपाय (नाश) शब्द का अर्थ है—(अपने स्वरूप से रहित होना)। इस कारण यदि विकार (कार्य) अपने आविर्भाववश भ्रष्ट होने पर भी (रहित होने पर भी) वर्तमान है तो नित्य नहीं है ऐसा निषेध नहीं हो सकता क्योंकि आविर्भाव से रहित भी विकार (कार्य) की जो संसार में वर्तमान है वही कार्य की

नित्यत्वमिति। नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात्प्रच्युतेरुपपत्तिः। यदात्मलात्प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टं, यदस्ति न तदात्मलाभात्प्रच्यवते। अस्तित्वं चात्मलाभात्प्रच्युतिरिति च :विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तमेव व्याहन्तीति ॥ ६ ॥

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥

निश्चय से नित्यता है। और कार्य का आविर्भाव से रहित होना ही तो नित्यता का निषेध (अनित्यता) है। और जो संसार में अपने लाभ (आविर्भाव) से च्युत (नष्ट) होता है वह अनित्य देखने में आता है। और जो संसार में वर्तमान होता है वह अपने आविर्भाव (प्रकटता) से अदृष्ट नहीं हो सकता। अर्थात् वर्तमानता तथा, अपने आविर्भाव से नष्ट होना ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म एक पदार्थ में साथ में नहीं हो सकते। इस कारण जिस सांख्य सिद्धान्त को मानकर **'कार्य नित्य नहीं हो सकते'** यह हेतु नाश होने पर भी कार्य की सत्ता को सिद्ध कर रहा है, उस सांख्यसिद्धान्त का ही उपरोक्त प्रकार से विरोध करता है, अतः विरुद्ध नामक द्वितीय हेत्वाभास है॥ (अर्थात् यहाँ पर **'अनित्यः'** इत्यादि भाष्य से **'नित्यत्वप्रतिषेधात्'** इस हेतु से सूचित है तथा **'नित्यता' 'अपेतोप्यस्ति'** इस भाष्य से सूचित होती है) किन्तु इस विरुद्ध हेत्वाभास के स्वरूप के विषय में प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों का परस्पर मतभेद प्रतीत होता है क्योंकि जो हेतु किसी माने हुए मत का विरोध करता है, वह विरुद्ध होता है यह भाष्यकार का मत तो स्पष्ट है, अत एव नित्यता निषेध रूप हेतु नित्यता सिद्धान्त का विरोध करने के कारण **'विरुद्ध'** है यह दृष्टान्त से भाष्यकार ने सूचित किया है। और 'जो साध्य की सिद्धि करने के लिये दिया हुआ हेतु उसके विरुद्ध साध्य के अभाव को सिद्ध करता है वह विरुद्ध हेतु कहाता है', ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है, इसी कारण **'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः'** साध्य के अभाव के साथ व्याप्ति रखने वाला हेतु विरुद्ध कहाता है जैसे शब्द अनित्य है, कार्य होने से, ऐसा विरुद्ध का तर्कसंग्रह में अन्नंभट्ट ने उदाहरण दिया है। वार्तिककार ने भी भाष्योक्त उदाहरण देकर व्याख्या करने के पश्चात् **'प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो विरुद्ध हेत्वाभासः'** प्रतिज्ञा या हेतु इन दोनों का विरोध होना ही विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है' ऐसी दूसरी भी व्याख्या की है, यही उपरोक्त नैयायिकों के मत का मूल है ऐसा प्रतीत होता है। और परिशुद्धि में आचार्य उदयन ने इस विरुद्ध हेत्वाभास का अपने सिद्धान्त से ऐसा भेद देखाया है कि—अपने मत में दूसरे प्रमाण से सिद्ध अर्थ का दूसरे प्रकार से कहना अक्रम सिद्धान्त नामक निग्रह स्थान होता है, और दो वाक्यों के अंशों (भागों) में यदि एक ही पदार्थ की सत्ता तथा असत्ता विषय हो तो विरोध होता है) ॥ ६ ॥

क्रम प्राप्त, तीसरे **प्रकरणसम** (सत्प्रतिपक्ष का सूत्रकार लक्षण कहते हैं)—

पदपदार्थ = यस्मात् = जिस हेतु से, प्रकरणचिन्ता = संशय के आधार पक्ष प्रतिपक्षरूप प्रकरण की चिन्ता होती है, सः = वह, निर्णयार्थ = निश्चय करने के लिये, अपदिष्टः = कहा हुआ, प्रकरणसमः = प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) नामक तीसरा दुष्ट हेतु होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ = साध्य के निश्चय होने के लिये दिये इस जिस हेतु से संशय से लेकर निश्चय होने पर्यन्त निश्चित पक्ष तथा प्रतिपक्ष रूप प्रकरण की जिज्ञासारूप चिन्ता होती है उस हेतु को तृतीय प्रकरणसम नामक हेत्वाभास दुष्टहेतु ऐसा कहते हैं, जैसे शब्द, अनित्य के धर्म उपलब्ध

विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षा (वुभा) वनवसितौ प्रकरणम्। तस्य चिन्ता विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणम्। जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते।

प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुपलभ्यमानानित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमाकाशादि।

यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार एव। या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलब्धिश्च सा

होने से जिसमें नित्य के धर्म उपलब्ध नहीं होते वह थाली आदि अनित्य होते हैं यह प्रकरणसम नामक हेत्वाभास का उदाहरण है ॥ ७ ॥

(सूत्र के पदों का अर्थ देखाते हुए सप्तम सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—संशय के आश्रय तथा जिनका निश्चय नहीं हुआ है ऐसे पक्ष तथा प्रतिपक्ष इन दोनों को **'प्रकरणसमः'** इस पद में प्रकरण कहते हैं। संशय से लेकर निर्णय के होने के पूर्व समय तक जो उसका विचार किया जाता है उसे **'चिन्ता'** कहते हैं। जिज्ञासा रूप वह चिन्ता जिस हेतु से की जाती है वह साध्य के निर्णय के लिये दिया हुआ हेतु दोनों पक्षों में समान होने के कारण उपरोक्त प्रकरण को न छोड़ता हुआ **'प्रकरणसम'** होता है। अर्थात् साध्य के निर्णय के लिये समर्थ नहीं होता। (अर्थात् वादी तथा प्रतिवादी दोनों से जो साध्य किया जाता है उसे **'प्रकरण'** कहते हैं, उसके संशय से लेकर निश्चय के पूर्वकाल तक के विचार को जिज्ञासा कहते हैं, वह वास्तविक साध्य के ज्ञान न होने से होती है, क्योंकि वह नित्यता के साथ रहने वाले नित्य के धर्म तथा अनित्यता के साथ रहने वाले अनित्य के धर्मों को हटा कर उसमें संदेह को प्राप्त होता है, तब उसे जिज्ञासा होती है, वही वादी के निश्चय होने के लिये कही हुई नित्यधर्मों की अनुपलब्धि अथवा अनित्यधर्मों की अनुपलब्धि (दोनों पक्षों में समान होने से जिज्ञासा प्रकरणसमनामक हेत्वाभास होता है। जिस प्रकार नित्यतापक्ष में अनित्यधर्मों की अनुपलब्धि है, उसी प्रकार अनित्यता पक्ष में नित्यधर्मों की अनुपलब्धि है, वह यह यथार्थ ज्ञान का न होना वैसे ही निर्णय का जनक नहीं है, जैसे प्रकरण। (यह केवल **'प्रकरणसम'** इस पद की केवल व्युत्पत्ति है, प्रवृत्ति का निमित्त तो **'सत्प्रतिपक्षता'** है नहीं तो **'अनैकान्तिक'** भी प्रकरणसम हो जायगा, क्योंकि निर्णय न कराना यह दोनों में समान है) ॥ (उपरोक्त प्रकरणसम का उदाहरण दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकरणसम हेत्वाभास का प्रज्ञापन (उदाहरण) यह है जैसे शब्द, अनित्य है, नित्यपदार्थ के धर्म शब्द में उपलब्ध न होने के कारण, क्योंकि जिसमें नित्यपदार्थ के धर्म उपलब्ध नहीं होते (नहीं मिलते), वह थाली घट इत्यादि पदार्थ अनित्य देखाई देते हैं। ('यह प्रकरणसम नामक सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास अनैकान्तिक (सव्यभिचार) ही क्यों न माना जाय' इस शंका का निवारण करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिस हेतु में समान धर्म संशय का कारण होता है वह निश्चायक न होने के कारण **संशय नामक व्यभिचार ही होता है**। और जो संशय को विशेष धर्मज्ञान की अपेक्षा करता है, तथा दोनों पक्षों में विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं हो तो वह पूर्वोक्त प्रकरण को प्रवृत्त करती है, जिस प्रकार शब्द में नित्यों का धर्म उपलब्ध नहीं

प्रकरणं प्रवर्तयति। यथा शब्दे नित्यधर्मो नोपलभ्यते एवमनित्यधर्मोऽपि। सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचितां प्रवर्तयति। कथम्? *विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः।* यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्येत? न स्यात्प्रकरणम्। यदि वा अनित्यधर्मो गृह्येत? एवमपि निवर्त्तेत प्रकरणम्। सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते ॥ ७ ॥

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ॥ ८ ॥

होता, उसी प्रकार अनित्यों का भी धर्म उपलब्ध नहीं होता। वह यह नित्य तथा अनित्य दोनों पक्षों में से किसी एक के साधक विशेष धर्म की उपलब्धि न होना, उपरोक्त **'प्रकरणचिन्ता'** (जिज्ञासा) को प्रवृत्त करती है। (प्रश्न)—कैसे? (उत्तर)—यदि एक पक्ष में कोई विशेष धर्म उपलब्ध हो जाय तो पूर्वोक्त प्रकरण की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् यदि शब्द में नित्यपदार्थों के धर्म का ग्रहण हो जाय तो उपरोक्त प्रकरण नहीं होगा। अथवा यदि शब्द में अनित्यपदार्थों के धर्म पर्यन्त ग्रहण हो जाय तो भी प्रकरण (जिज्ञासा) निवृत्त हो जायगी। वह यह प्रकरणसम के हेतु नित्य तथा अनित्य दोनों पक्षों को प्रवृत्त करने के कारण शब्द में नित्यता तथा अनित्यता रूप साध्य का निर्णय नहीं करा सकता। (अर्थात् नित्य धर्मों की उपलब्धि नहीं होना दोनों पक्ष से सिद्ध नित्यपदार्थ में नहीं होती, जिससे वह सव्यभिचार होगा। तथा दोनों पक्षों से सिद्ध अनित्य पदार्थ में अनित्य धर्म की अनुपलब्धि भी नहीं होती, जिससे वह सव्यभिचार दुष्टहेतु हो किन्तु परस्पर इन नित्यधर्म की अनुपलब्धि तथा अनित्यधर्म की अनुपलब्धि इन दोनों धर्मों की सत्प्रतिपक्षरूप ही हेत्वाभासता (दुष्टहेतुता) होती है यह सिद्ध होता है) ॥ ७ ॥

क्रमप्राप्त चतुर्थ साध्यसम (असिद्ध) नामक हेत्वाभास का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ=साध्याविशिष्टः=साधन योग्यता से विशेष जिसमें न हो, साध्यत्वात्=साधन योग्य होने के कारण, साध्यसम (असिद्ध) नामक चतुर्थ हेत्वाभास होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ=यदि कोई गति होने के कारण छाया (परछांई) द्रव्य है, ऐसा अनुमान से सिद्ध करै तो प्रथम छाया में गति सिद्ध न होने के कारण गति का छाया के आधार होना ही सिद्ध करना होगा, अतः गति का आधार होना यह छाया में द्रव्यता का साधक हेतु साधन करने के योग्य होने से साध्यसम (ससिद्ध) नामक चतुर्थ हेत्वाभास (दुष्टहेतु) है। (अर्थात् साधनयोग्य में वैसा ही पक्ष में अनिश्चित हेतु साध्यसम (असिद्ध) होता है। और इस (असिद्ध) से स्वरूपासिद्ध, एकदेशासिद्ध, आश्रयासिद्ध, तथा अन्यथासिद्ध इन चार प्रकार के असिद्ध दुष्ट हेतुओं का संग्रह होता है, क्योंकि ये सम्पूर्ण असिद्ध होने के कारण साध्य के समान हैं। इस सूत्र में **'असिद्धः साध्यसमः'** असिद्ध साध्यसम होता है, ऐसा न कहकर **'साध्याविशिष्टः'** ऐसा कहने से **'अन्यतरासिद्ध'** एक पक्ष में असिद्ध दुष्टहेतु भी सिद्धि के पूर्व में सत् हेतु नहीं हो सकता यह सूचित होता है, ऐसा न माने तो **'अत्यन्त असिद्ध ही'** साध्यसम होगा, अन्यतरासिद्ध साध्यसम नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसकी कभी सिद्धी होती है ऐसा भास होगा। किन्तु साध्य के अवशिष्ट (समान) होने से उसका भी संग्रह होता है। ऐसा होने से **'अन्यतरासिद्ध'** ही का ग्रहण होगा, दूसरे असिद्धों का न होगा, क्योंकि वे अत्यन्त असिद्ध होने के कारण साध्य के समान नहीं है, इसी कारण सूत्रकार ने सूत्र में **'साध्यत्वात्'** ऐसा कहा है। यदि साधन योग्य असिद्ध न हो तो वह साध्य ही न होगा, क्योंकि सिद्ध का साधन नहीं होगा। इस कारण साध्य होने से

द्रव्यं छायेति साध्यं, गतिमत्त्वादिति हेतुः—साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वात्साध्यवत्प्रज्ञापयितव्यः। साध्यं तावदेतत्—किं पुरुषवच्छायाऽपि गच्छति आहो स्विदावरकद्रव्ये संसर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति ?। सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेवाविच्छिन्नो गृह्यत इति। आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

ही हेतु असिद्ध होता है। वह साध्यता किसी हेतु में सर्व काल में रहती है, और किसी में किसी-किसी समय होती है, अतः सम्पूर्ण समान (साध्य के अविशिष्ट) होते हैं, इस कारण अन्यतरा सिद्ध में अव्याप्ति दोष नहीं आ सकता। तथा साध्यता के अलक्ष्य में जाने रूप अति० ाप्ति दोष भी न होगा, क्योंकि पूर्वोक्त सामान्य हेत्वाभास के लक्षण की विशेष लक्षण में आवश्यकता होती है यह सूत्र का आशय है) ॥

(सूत्र का उदाहरण देखाते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस अनुमान में छाया द्रव्य है, ऐसा साध्य होता है, और गतियुक्त होने से, यह हेतु है किन्तु यह गति का छाया में रहना ही साध्य के समान है, (अर्थात् पहिले छाया में गतिरूप क्रिया ही सिद्ध करने योग्य होने से यह **'गतिमत्ता'** रूप हेतु साध्यसम (असिद्ध) है (अर्थात् छाया में द्रव्यता के समान गति की आधारता भी असिद्ध होने के कारण जन्मा ने योग्य (सिद्ध करने योग्य) है) क्योकि मनुष्य के समान छाया भी क्या चलती है, अथवा दीपादि प्रकाश के आवरण करने वाले (प्रकाश के पीछे चलने वाले) द्रव्य के चलने से उस आवरण करने वाले मनुष्यादि शरीर के गति के समूह से प्रदीपादि प्रकाश रूप तेज द्रव्य को समीप न होने का समूह देखने में आता है' ऐसा छाया में द्रव्यता सिद्धि के (पूर्व में) सिद्ध करना है। चलने वाले मनुष्यादि शरीर के पीछे रहने के कारण जो-जो आगे हाथ में लिये दीप का प्रकाश रूप तेज का भाग आवृत होता है उस-उस प्रदीप रूप तेज प्रकाश का समीप न होना ही अविच्छन्न (निरन्तर) गृहीत होता है। प्रदीप प्रकाश का मनुष्य के शरीर के पीछे न पड़ना आवरण शब्द का यहाँ अर्थ है)। (यहाँ पर भाष्यकार ने **'द्रव्यं छाया गतिमत्वात्'** छाया द्रव्य है गतिमान् होने से यह उदाहरण स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध तथा अन्यथासिद्ध इन तीनों असिद्धों का सामान्य उदाहरण दिया है। जिसका वार्तिककार ने ऐसा प्रकार विवेचन किया है कि—(१) जिस प्रकार छाया में द्रव्यता सिद्ध करने योग्य है, उसी प्रकार गति का आधार होना भी साध्य है यह स्वरूपासिद्धि है। (२) और दूसरे देश में छाया के देखाने के कारण यदि कोई छाया में गति की सिद्धि करे तो यह देशान्तर में देखाना आश्रयासिद्ध होगा, क्योंकि यदि छाया द्रव्य हो तो वह दूसरे देश में देखाई देगी, किन्तु उसमें द्रव्यता ही असिद्ध है। (३) दूसरे देशका देखाना मानने पर भी वह अन्यथासिद्ध है, क्योंकि छाया का दूसरे देश में देखाना, गति के आश्रय होने के विना भी हो सकता है, अतः छाया के दूसरे देश में देखाना गति की आधारता का अवश्य साधक नहीं हो सकता। आवरण करने वाले मनुष्य के शरीर रूप द्रव्य के चलने के कारण दीपरूप तेजद्रव्य के समीप न रहने वाला जो द्रव्य देखने में आता है वही छाया कही जाती है' इत्यादि इस विषय में वार्तिक में स्पष्ट विवेचन किया है। और उदयनाचार्य ने 'पक्ष का निश्चय न होने से आश्रयासिद्धि, और हेतु का भी निश्चय न होने से स्वरूपासिद्धि, तथा व्याप्ति का निश्चय न होने के कारण

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥

कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स *कालात्ययापदिष्टः कालातीत* इत्युच्यते। निदर्शनं-नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत्।

व्याप्यत्वासिद्धि भी यहाँ पर है, इनका संशय अथवा अभाव का निश्चय होने के कारण निश्चय नहीं है' ऐसी परिशुद्धी में समाकोचना की है)॥ ८॥

(क्रमप्राप्त वाधित नामक वाले पंचम हेत्वाभास का सूत्रकार लक्षण दिखाते हैं)—

पदपदार्थ=कालात्ययापदिष्टः = समय के अतिक्रमण (उल्लंघन) से कहा हुआ, वालातीतः = वालातीत (वाधित) नामक पंचम हेत्वाभास होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ=जो हेतु साध्य के उल्लंघन कर अथवा साध्य विषय का वाधकर साध्य की सिद्धि करने के लिये दिया जाता है उसे कालातीत अथवा वाधित कहते हैं। (इस हेत्वाभास के विषय में भी प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों का मतभेद प्रतीत होता है। क्योंकि काल के अतिक्रमण से युक्त जिस हेतु के अनुकूल एकदेश हेतु का विशेषण होता है वह कालात्ययापदिष्ट होता है। जैसे शब्द नित्य है, मेरी दण्ड आदि के संयोग से व्यंग्य (प्रकट) होने से, इस अनुमान में शब्द के ग्रहण के समय मेरी दण्ड आदि का संयोग नहीं रहता, अर्थात् उपरोक्त हेतु में विशेषण रूप संयोग शब्द के ग्रहण के समय को छोड़ देता है, क्योंकि जिस समय में शब्द का ग्रहण होता है उस समय मेरी दण्डादि संयोग नहीं रहता, इस कारण यह **'संयोग से प्रकट होना'** हेतु कालात्ययापदिष्ट होने के कारण कालातीत कहाता है, ऐसा भाष्य तथा वार्तिक में स्पष्ट कहा है। किन्तु नवीन नैयायिकों के मत से तो जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण का विरोध हो जैसे अग्नि, उष्ण नहीं है, द्रव्य होने से तथा शब्द, श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता गुण होने से, तथा मनुष्य के मस्तक कपाल (खोपड़ी) पवित्र है, प्राणी का अंग होने से, ये सब अनुमान क्रम से प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण विपरीत निश्चय से संदेह युक्त काल को छोड़ देते हैं, अतः यह काल के अतिक्रमण से कहे हुए हेतु कालातीत होते हैं ऐसा तात्पर्यटीका में स्पष्ट कहा हैं। इन प्राचीन तथा नवीन दोनों मतो में संगति नहीं होती इस कारण तात्पर्यटीका कारने इस सूत्र के भाष्य की पंक्तियों की दूसरी प्रकार से ऐसी व्याख्या की है कि—भाष्यकार ने अपने तथा अन्य के मत से मिली हुई सूत्र की व्याख्या की हैं—(१) संदेह के काल को छोड़ना कालात्यय से युक्त जिस हेतु के अर्थ का एक देश हो, अर्थात् धर्म विशिष्ट धर्मी कहे जाने वाले हेतु का अर्थ होता है, वही हेतु से चाहा जाता है उसका एक देश होता है, साध्य धर्म उस वह धर्मी में बलवान् प्रमाण के द्वारा उस धर्म के विपरीत धर्म का निर्णय करने वाले के संदेह के समय को छोड़ा देता है, ऐसे हेतु को कालात्ययापदिष्ट (कालातीत) कहते हैं, यह अपने मत से अर्थ है। जिसका पहले ही उदाहरण ऊपर दिया गया है। (२) और अन्य मत में तो जिस हेतु का अनुरूप एकदेशरूप हेतु का विशेषण हो उसे कालात्ययापदिष्ट ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार से भाष्यकार ने सूत्र की व्याख्या में उदाहरण भी दिया है ॥ ९ ॥

(नवम सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ऐसी करते हैं कि)—जिस कहे जाने वाले साध्य के वाधक हेतु को अर्थ धर्मी का एक देश समय का उल्लंघन करता हो वह काल के अत्यय (अतिक्रमण) से कहा हुआ हेतु कालातीत नामक पंचम हेत्वाभास होता है। जिसमें शब्द, नित्य, है संयोग से प्रकट होने के कारण, रूप के समान, इस अनुमान में दृष्टान्त स्वरूप रूपनामक गुण पूर्वकाल में

प्रागूर्ध्वं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते। तथा च शब्दोऽव्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात्संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः कालात्ययापदेशात्। व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति। सति प्रदीपसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति, न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते। निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते विभागकाले, सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिमित्ता भवति। कस्मात्? कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति। एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति।

अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः। कस्मात्?।
यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतोह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥

इत्येतद्वचनाद्विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात्तथा वैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति।

'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्' (अ० ५ आ० २ सू० ११) इति निग्रहस्थानमुक्तं तदेवेदं पुनरुच्यत इति, अतस्तन्न सूत्रार्थः॥ ६॥

इति षड्भिः सूत्रैर्हेत्वाभासलक्षणप्रकरणम्।

तथा उत्तरकाल में वहां रहने वाला घटादिकों का रूपगुण प्रदीप तथा घट के संयोग से व्यक्त होता है (देखाई देता है)। उसी प्रकार शब्द भी रूप के समान स्थिर होता हुआ भेरी (नगाड़ा) तथा दण्ड के संयोग से व्यक्त होता है अर्थात् सुनाई देता है, अथवा दारु (लकड़ी) तथा फरसे के संयोग से वहाँ रहने वाला ही नित्यशब्द सुनाई देता है। इस कारण रूप के समान शब्द भी संयोग से प्रगट होने के कारण स्थिर (नित्य) है, इस प्रकार से शब्द में नित्यता सिद्ध करने वाला यह संयोगव्यङ्ग्यता रूप हेतु दुष्टहेतु है, क्योंकि इसमें काल का छोड़ना कहा गया है। क्योंकि दृष्टान्त रूप में व्यंजक (प्रगट करने वाले) संयोग के समय को व्यंग्य (प्रगट होने वाला) रूप नहीं छोड़ता, कारण यह कि दीप और घटका संयोग जबतक अन्धकार में रहता है, तभी तक घट के रूप का ग्रहण होता है, और प्रदीप तथा घट का संयोग हटने पर घट के रूप का ग्रहण नहीं होता। प्रस्तुत शब्द के संयोग से व्यंग्य होने से नित्यता सिद्ध करने में तो लकड़ी तथा फरसे का संयोग हट जाने पर भी उन दोनों के विभाग होने के समय दूर रहने वाले प्राणी को शब्द सुनाई देता आता है, इस कारण यह शब्द की व्यक्ति (प्रगट होना) उपरोक्त संयोग को छोड़ देती है अतः संयोग से उत्पन्न नहीं हुई है। (प्रश्न)—क्यों! (उत्तर)—क्योंकि कारणके न रहने पर कार्य नहीं होता इस कारण इस प्रकार घट के रूप के संयोग के समय ग्रहण होगा इस उदाहरण का शब्द में साधर्म्य न होने के कारण यह संयोग से व्यंग्य (प्रगट होना) रूप हेतु शब्द में नित्यता (स्थिरता) का साधक नहीं हो सकता। (यहाँ पर बौद्ध नैयायिक के मत से शंका दिखाकर भाष्यकार समाधान करते हुए कहते हैं कि)—प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का विपरीत (विरुद्ध) कहना **'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'** इस सूत्र का अर्थ नहीं हो सकता (प्रश्न)—क्यों! (उत्तर)—'जिस (अवयव) का जिस (अवयव) के साथ अर्थ का सम्बन्ध होता है, दूर होने

अथ छलम्—

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥ १० ॥

न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि ॥ १० ॥

पर भी उसका वह सम्बन्ध होता है, अर्थ से जो सम्बन्ध के बोध करने में असमर्थ (अवयव) होते हैं उनका इस अवयव के अनन्तर यह अवयव होना चाहिये ऐसा आनन्तर्य (बाद में होना) कारण नहीं है' इस अभियुक्तों के वचन से विपरीत (आगे-पीछे कहीं भी कहा हुआ साध्य का साधक हेतु उदाहरण के साधर्म्य तथा वैधर्म्य के बल से साध्य की सिद्धि करने से पूर्वोक्त सत् हेतु के लक्षण के) नहीं छोड़ सकता, और लक्षण के रहने के कारण वह हेत्वाभास (दुष्टहेतु) नहीं हो सकता तथा आगे **'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्'** प्रतिज्ञादि पांच अवयवों का विपरीत (आगे-पीछे) कहना यह अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान होता है, (५-२-११) ये अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान होता है ऐसा कहेंगे वही यह पुनः कहा जाता है, इस कारण बौद्ध का कहा हुआ यह **'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'** इस सूत्र का अर्थ नहीं है। (अर्थात् बौद्ध नैयायिक ने प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु अवयव का काल होता है उस काल को छोड़कर उदाहरण अथवा उपनय के पश्चात् हेतु का कहना कालातीत हो जाता है। जैसे शब्द, अनित्य है, घट के समान ऐसा कहने के पश्चात्, क्यों ! ऐसा प्रश्न करने पर स्थापनावादी **'कार्यहोने से'** ऐसा हेतु देता है इस कारण यह कालातीत हेत्वाभास हुआ।) इस प्रकार सूत्र के अर्थ का वर्णन कर उस पर ऐसा आक्षेप किया है कि—क्यों ! यह उपरोक्त प्रश्न वह क्या जिज्ञासा न रखने वाले वादीको हो सकता है या जिज्ञासा रूप आकांक्षा रखने वाले को। यदि आकांक्षा रहित को हो तो न्यूननामक निग्रह स्थान होगा न कि हेत्वाभास, क्योंकि हेतु का सर्वथा प्रयोग ही नहीं है। हेतु का प्रयोग हो तो ही हेत्वाभास दोष होता है नकि हेतु का प्रयोग न करने पर। यदि जिज्ञासा रूप आकांक्षा वाले वादी को प्रतिवादी का प्रश्न हो तो उदाहरण के पश्चात् प्रयोग करने पर भी वह हेतु ही होता है, क्योंकि उस समय में वह हेतु साध्य की व्याप्ति नहीं रखता अथवा पक्ष में नहीं रहता यह नहीं हो सकता। इस कारण कालातीत नामक पांचवां हेत्वाभास नहीं है। इस प्रकार के कालातीत हेत्वाभास के खण्डन का परिहार भाष्यकार ने ऊपर कहे हुए प्रकार से किया है कि उदाहरण के पश्चात् रहने वाला या सद्धेतु साधर्म्य तथा वैधर्म्य उदाहरण के बल से साध्य की सिद्धि कर सकता है, तथा अवयवों का आगे-पीछे कहना यह निग्रह स्थान में अन्तर्गत हो जाता है, इस कारण भी बौद्ध नैयायिक का उपरोक्त मत असंगत है ॥ ९ ॥

(३) छलप्रकरण

(स्थापनावादी अथवा प्रतिवादी प्रमाण से सत् (ठीक) उत्तर की स्फूर्ति (सूझना) न होने पर विजय की इच्छा से असत् (दुष्ट) हेतु का भी प्रयोग करता है, इस कारण हेत्वाभासों का निरूपण करने के पश्चात् जय की इच्छा से असत् उत्तर रूप जाति का वर्णन भी करना उचित है, किन्तु वह अपने ही पक्ष का विरोध करने के कारण निकृष्ट है अतः छल में तात्पर्य के दूषित होने पर भी वचन में दोष न होने के कारण उसी का प्रथम प्रयोग करना जय की इच्छा करने वाले वादी तथा प्रतिवादी को उचित होने से षोडश पदार्थों में से क्रमप्राप्त चतुर्दश छलपदार्थ का निरूपण करने के लिये भाष्यकार १० वें सूत्र का अवतरण देते हैं)—कि—

(सांप्रत क्रमप्राप्त छल पदार्थ का सूत्रकार लक्षण करते हैं)—

पदपदार्थ—वचनविघातः = वादी के वाक्य का विरोध करना, अर्थविकल्पोपपत्त्या = वादी

विभागश्च—

तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति ॥ ११ ॥

तेषाम्—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥

नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे तु विशेषो, न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थं नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवतेति कल्पयति, कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति। तदिदं *सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति*।

के अभिमत अर्थ को विकल्प (विपरीत अर्थ) की कल्पना से, छलम् = छलनामक चौदहवाँ पदार्थ होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—प्रथम वक्ता के अभिमत अर्थ के विरुद्ध अर्थ की (विकल्प) कल्पना करना ही छल नामक षोडश पदार्थों में चौदहवें पदार्थ का यह सामान्य लक्षण है, जिसका विशेष छलों के भेदों के ही उदाहरण जानने चाहिये ॥ १० ॥

(१०वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि)—सूत्र में कहे हुए वादी के अभिमत अर्थ के विपरीत अर्थ की कल्पना करना रूप छल के सामान्य लक्षण में पृथक् उदाहरण नहीं हो सकता, अतः आगे कहे जानेवाले विभाग (भेद) में छल के उदाहरण कहे जायेंगे ॥ १० ॥

(वह विभाग इस प्रकार है कि)—

पदपदार्थ—तत् = वह (उपरोक्त छल) (१) वाक्छल, (२) सामान्यछल, तथा (३) उपचारछल नाम से तीन प्रकार का है ॥ ११ ॥

भावार्थ—दशवें सूत्र में जिसका सामान्य लक्षण कहा गया है वह छल वाक्छल, सामान्यछल तथा उपचारछल ऐसा तीन प्रकार का है ॥ ११ ॥

(बारहवें सूत्र का अवतरण भाष्यकार कहते हैं कि)—ग्यारहवें सूत्र में विभाग किये उक्त तीनों छलों में से—

पदपदार्थ—अविशेषाभिहिते = किसी विशेष को न लेकर सामान्य रूप से कहे हुए, अर्थे = शब्द के अर्थ में, वक्तुः = पूर्ववाक्य के कहने वाले के, अभिप्रायात् = आशय से, अर्थान्तरकल्पनं = दूसरे (विरुद्ध) अर्थ की कल्पना करना, वाक्छलम् = प्रथम वाक्छल कहाता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—(नव) नये कम्बल वाला यह ब्रह्मचारी है इस अभिप्राय से पूर्ववक्तावादी के कहेहुए **'नवकम्बलोऽयं माणवकः'** इस वाक्य के **'नव'** शब्द का नौ संख्या अर्थ समझ कर उसका इस गरीब ब्रह्मचारी के पास नव कम्बल कैसे हो सकते हैं, इसके पास तो एक ही कम्बल है ऐसा वादी के **'नवकम्बल'** इस वाक्य के विरोध करने के कारण यह वाक्छल नामक प्रथम छल होता है ॥

(१२वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार समास आदिवृत्ति के विषय में होनेवाले प्रथम वाक्छल का उदाहरण देते हुए स्पष्टीकरण करते हैं कि)—किसी वादी ने **'यह ब्रह्मचारी नवकम्बल वाला है'** ऐसा शब्द (वाक्य) का प्रयोग किया हो तो **'नवकम्बलः'** इस समस्त पद में नव (नये) कम्बलवाला यह ब्रह्मचारी है ऐसा प्रयोग करने वाले वादी का आशय है, जिसमें **'नवः कम्बलो यस्य सः'** ऐसे विग्रह वाक्य में विशेष है, क्योंकि इस समस्त पद का **'नव**

अस्य प्रत्यवस्थानम्—*सामान्यशब्यस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनम्।* नवकम्बल इत्यनेकार्थाभिधानं नवः कम्बलोऽस्येत्येतद्भवताऽभिहितं तच्च न सम्भवतीति। एतस्यामन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषो वक्तव्यः। यस्माद्विशेषोऽर्थविशेषेषु विज्ञायतेऽयमर्थोऽनेनाभिहित इति। स च विशेषो नास्ति। तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति।

प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः। अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेय इति समानः सामान्यशब्दस्य, विशेषो विशिष्टशब्दस्य।

कम्बला यस्य सः' नौ कम्बल जिसके पास हैं ऐसा भी विग्रह हो सकता है किन्तु **'नवकम्बलः'** इस समास में कोई विशेष नहीं है, क्योंकि दोनों पक्षों में यह **'नवकम्बलः'** ऐसा समस्तपद समान ही होता है। इस वादी के प्रयोग पर छल से बोलने वाला प्रतिवादी उपरोक्त **'नवकम्बलः'** ऐसा कहने वाले वादी के **'नये कम्बलवाला'** इस अभिप्राय से वादी को जो विवक्षित (कहने के लिये इष्ट) अर्थ नहीं है ऐसे दूसरे **'नौ कम्बलवाला'** ऐसे विरुद्ध (असंभाव्य) अर्थ की कल्पना कर **'नौ कम्बल जिसके पास हैं'** इस आशय से तुमने **'नवकम्बलः'** इस समस्त पद से कहा है ऐसी कल्पना कर, असंभव के द्वारा उस वादी के आशय का खण्डन करता है कि—इस ब्रह्मचारी के पास एक ही कम्बल है इसके पास नौ कम्बल कैसे हो सकते हैं। वह यह छल से वादी के वाक्य का खण्डन करना **'नव'** इस (नये एवं नौ) सामान्य शब्द रूप वाणी में छल होने के कारण **'वाक्छल'** कहाता है।

(इस प्रकार के वाक्छल का प्रयोग करने वाले विजयेच्छु के छल का स्वतन्त्र रूप से खण्डन का प्रकार देखाते हैं कि)—इस वाक्छल का खण्डन ऐसा है—कि किसी सामान्य अर्थ को कहने वाले शब्द के अनेक अर्थ होने पर अनेक अर्थों में से किसी एक विशेष अर्थ की कल्पना करने में विशेष वचन होना चाहिये। प्रस्तुत में **'नवकम्बलः'** यह समस्त पद अनेक (एक भिन्न दो) अर्थों को कहता है—कि **'नवः'** नया है कम्बल जिसका, तथा **'नव'** नौ हैं कम्बल जिसके, इस प्रकार (दो अर्थों को कहता है)। अतः इसे **'नवकम्बलः'** ऐसे समस्तपद वादी ने प्रयोग करने पर प्रतिवादी की जो **'आपने वादी ने इस ब्रह्मचारी के पास नौ कम्बल हैं'** ऐसा कहा है जो ब्रह्मचारी के निर्धन होने के कारण नहीं हो सकता ऐसा (कहा है)। इस प्रकार नया तथा नौ इन दोनों अर्थों में से एक किसी अर्थ की कल्पना करने में कोई विशेष हेतु कहना चाहिये, जिस (वचन) से दोनों अर्थों में से यही एक अर्थ लेना चाहिये ऐसा विशेष जाना जाय कि वादी ने **'नौ कम्बल वाला'** इस आशय से **'नवकम्बलः'** इस पद का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसा कोई विशेष नहीं है जो **'नवकम्बलः'** इस पद से 'नौ कम्बलवाला' ऐसा ही अर्थ लिया जाय, नये कम्बलवाला यह अर्थ न लिया जाय। इस कारण यह पूर्वोक्त वाक्छल करना मिथ्या (असत्य) केवल अभियोग (आक्रमण) है ऐसा वाक्छल का खण्डन है।

तथा लोकव्यवहार में यही इस (अभिधान) वाचक शब्द का अर्थ है, और इसी अभिधेय (अर्थ) का यह वाचक (कहने वाला) शब्द है, इस प्रकार शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध प्रसिद्ध हैं। जिसमें सामान्य अर्थ के वाचक शब्द का, इस शब्द से यह सामान्यरूप अर्थ कहा जाता है इस प्रकार समान अर्थ होता है और विशेष (एक) अर्थ के वाचक शब्द से विशेष (एक) ही अर्थ कहा जाता है। तथा जिन शब्दों का पूर्वकाल से बराबर जिस अर्थ में प्रयोग (व्यवहार) होता आया है, उन्हीं शब्दों का उस अर्थ में प्रयोग होता है, जिन शब्दों का जिन

प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दा अर्थे प्रयुज्यन्ते नाप्रयुक्तपूर्वाः । प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः । अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति । तत्रैवमर्थगत्यर्थे शब्दप्रयोगे सामर्थ्यात्सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः । अजां ग्रामं नय, सर्पिराहर, ब्राह्मणं भोजयेति सामान्यशब्दाः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते, सामर्थ्याद्यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवर्तन्ते नार्थसामान्ये, क्रियादेशनाऽसम्भवात् । एवमयं सामान्यशब्दो नवकम्बल इति योऽर्थः सम्भवति नवः कम्बलोऽस्येति, तत्र प्रवर्तते । यस्तु न सम्भवति नव कम्बला अस्येति, तत्र न प्रवर्तते । सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भस्ते न कल्पत इति ॥ १२ ॥

अर्थों में कभी प्रयोग नहीं हुआ हो ऐसे अर्थ के बोध के लिये शब्दों का प्रयोग नहीं होता । शब्द के प्रयोग से अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है, और शब्द के अर्थ का सम्यक् ज्ञान होने से संसार के सब व्यवहार चलते हैं । इस प्रकार अर्थ के ज्ञान के लिये शब्दों का प्रयोग होने के कारण उपरोक्त शब्द तथा अर्थ के वाच्य वाचक भावरूप सम्बन्ध के सामर्थ्य से सामान्य शब्दों के प्रयोग करने का नियम है । जैसे **'अजां ग्रामं नय' 'सर्पिराहर' 'ब्राह्मणं भोजय'** इन वाक्यों में 'अजां, सर्पिः, ब्राह्मणं' ये शब्द सांख्योक्त प्रकृति से बनाए घृत, सरकने वाले जीव तथा ब्राह्मण एवं सृष्टि का भी ऐसे क्रम से सामान्य रूप अर्थ के बोधक होने से सामान्य शब्द होते हुए उपरोक्त सम्बन्ध के सामर्थ्य से अर्थ में हो सकते हैं, उन्हीं अर्थों के बोधक हो सकते हैं । अर्थात् **'अजां'** इस शब्द से बकरी रूप अर्थ के लेने से ही उसकी अर्थक्रिया (गाँव में ले आना) रूप क्रिया हो सकती है, नकि सांख्योक्त प्रकृति रूप अर्थ के लेने से उसका गाँव में (ले आना) रूप क्रिया के सम्बन्ध का **'अजां नय'** इस वाक्य से बोध हो सकता है, न कि सम्पूर्ण बकरी, तथा प्रकृति इन सब अर्थों का, क्योंकि सब अर्थों में उपरोक्त गाँव में न जाना इस क्रिया कि आज्ञा उक्त वाक्य से कही जा सकती है । इसी प्रकार यह प्रस्तुत वाक्छल में **'नवकम्बलः'** इस सामान्य शब्द का जो वादी ने प्रयोग किया है उसका जो (नया कम्बलवाला) ऐसा अर्थ हो सकता है उसी अर्थ को कहने में संगत हो सकता है न कि **'नौ कम्बलवाला'** ऐसा अर्थ ब्रह्मचारी की निर्धनता के कारण नहीं हो सकता है, अतः **'नौ कम्बलवाला'** ऐसा अर्थ होने के लिये यह **'नवकम्बलः'** ऐसा समस्त पद प्रवृत्त नहीं हो सकता, (अर्थात् इस ब्रह्मचारी के पास नौ कम्बल हैं यह अर्थ **'नवकम्बलः'** इस समस्त पद का नहीं हो सकता ।) इस कारण छलवादी का असंगत नौ कम्बलवाला ब्रह्मचारी है ऐसे अर्थ की कल्पना से वादी के वाक्य का खण्डन करना आप (प्रतिवादी) को संमत नहीं हो सकता ऐसा भाष्यकार का वाक्छल का स्वतन्त्र उत्तर है । (अर्थात् शब्द का अर्थ में संकेत करने की दशा में अथवा वृद्धों के व्यवहार में यही अर्थ इस शब्द का है ऐसा विशेष रूप से शब्द अर्थ का बोध नहीं कराता, किन्तु सामान्य के द्वारा अर्थ के प्रकरणादिकों की सहायता से किसी एक विशेष अर्थ का ही बोध कराता है, इस कारण शब्द को कहने वाले का यह अपराध नहीं है जो वह सामान्य शब्दों से दूसरे किसी विशेष को प्रतिपादन करता है, किन्तु उस सामान्य शब्द को सामान्य अर्थ में संकेत का ही यह अपराध है जो वह सामान्य शब्द विशेष अर्थ को छोड़ कर सामान्य (अनेक) अर्थ का बोधक होता है, इस कारण संकेत के अनुसार सामान्य शब्द से अनेक अर्थों को कहने वाला वादी सामान्य शब्द का प्रयोग करने के कारण अपराधी नहीं हो सकता" यह भाष्यकार का गूढ आशय है ।) ॥ १२ ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥ १३ ॥

अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह सम्भवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पदिति । अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया—क्रियते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति व्रात्येऽपि सम्भवेत्, व्रात्योऽपि ब्राह्मणः, सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्नः यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च *तदतिसामान्यम्* । यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं क्वचिदाप्नोति क्वचिदत्येति । सामान्यनिमित्तं छलं *सामान्यच्छलमिति* ।

अस्य च प्रत्यवस्थानम्—*अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वाद्*

(क्रमप्राप्त द्वितीय सामान्य छल का सूत्रकार लक्षण करते हैं)—

पदपदार्थ—संभवतः = हो सकने योग्य, अर्थस्य = अर्थ की, अतिसामान्ययोगात् = विवक्षित अर्थ में रहनेवाले तथा उसको छोड़नेवाले समान धर्म के सम्बन्ध से. असम्भूतार्थ कल्पना न हो सकने योग्य अर्थ की कल्पना करना, सामान्यछलम् = दूसरा सामान्य छल होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—'यह ब्राह्मण विद्वान् है' इस प्रकार ब्राह्मण की केवल प्रशंसा करने के लिये वादी के कहे वाक्य का, यदि ब्राह्मण में विद्या हो तो व्रात्य (संस्कार रहित) ब्राह्मण में भी होगी, क्योंकि वह भी ब्राह्मण है, अतः वह भी विद्याचार युक्त हो, इस प्रकार वादी के वाक्य का ब्राह्मण होना विद्वत्ता का कारण है इस प्रकार अर्थ लेकर व्रात्य ब्राह्मण भी ब्राह्मण होने से विद्याचार से युक्त होने के कारण पूजनीय होगा ऐसी आपत्ति देना ही ब्राह्मणता रूप सामान्य धर्म को लेकर (जो विद्वान् तथा मूर्ख दोनों में है) छल करना सामान्य छल नामक द्वितीय छल होता है ॥ १३ ॥

(तेरहवें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण विद्याचार से युक्त है' ऐसा कहने पर कोई दूसरा इस वाक्य को सुनकर कहता है कि हाँ ब्राह्मण में विद्या हो सकती है । अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण प्रशंसनीय होता है इस वाक्य को सुनकर प्रतिवादी अर्थ के विकल्प से असम्भव अर्थ की कल्पना कर उक्तवादी के वाक्य का ब्राह्मणत्व जाति के विद्वान् होने का हेतु मानकर विरोध करता है कि 'यदि ब्राह्मण में विद्वत्ता हो तो संस्कारहीन व्रात्य में भी वह होने लगेगी' (जिससे वह भी शुद्ध ब्राह्मण के समान पूजा जायगा) क्योंकि वह भी जाति से ब्राह्मण ही है इस कारण वह भी विद्याचार से युक्त होगा । यहाँ जो विवक्षित अर्थ में प्राप्त होता है (रहता है), तथा नहीं भी रहता उसे **'अतिसामान्य'** कहते हैं । जैसे ब्राह्मणत्व किसी-किसी विद्वान् में रहता, और कहीं-कहीं मूर्ख में भी रहने से विद्वत्ता को छोड़ भी देता है । यह ब्राह्मणता रूप समान धर्म जो विद्वान् तथा मूर्ख दोनों में रहता है, इस सामान्य (समान धर्म) के कारण यह छलवादी आपत्ति करता है, इस कारण यह सामान्य छल होता है । (अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण प्रशंसा (पूजा) योग्य होता है इस आशय से कहे वादी के वाक्य का ब्राह्मण होना विद्वत्ता का कारण है इस प्रकार विद्वान् तथा मूर्ख ब्राह्मण में रहने वाले ब्राह्मणता रूप समान धर्म को लेकर प्रतिवादी व्रात्य ब्राह्मण में भी ब्राह्मणता होने से वह भी संस्कार युक्त शुद्ध ब्राह्मण के समान प्रशंसा (पूजा) योग्य तथा विद्वान् हो जायगा क्योंकि उसमें भी ब्राह्मणता वर्तमान ही है, यह ब्राह्मणता रूप सामान्य धर्म को लेकर छल होने से इसे सामान्य छल कहते हैं) ।

(इस द्वितीय छल का भी भाष्यकार स्वतन्त्र उत्तर ऐसा देते हैं कि)—इस सामान्य छल का

वाक्यस्य। तदत्रासंभूतार्थकल्पनानुपपत्तिः। यथा सम्भवन्त्यस्मिन्क्षेत्रे शालय इति। अनिराकृतमविवक्षितं च बीजजन्म। प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रं प्रशस्यते। सोऽयं क्षेत्रानुवादो, नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति। बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं न सम्पद्धेतुः। *न चात्र हेतुर्विवक्षितः। विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य,* सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थ इति। विषयं च प्रशंसता वाक्येन यथाहेतुतः फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते। तदेवं सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यत इति ॥ १३ ॥

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥ १४ ॥

खण्डन ऐसा है—कि ब्राह्मणता को विद्वत्ता का कारण जिस वाक्य में कहना इष्ट नहीं है ऐसे **'ब्राह्मण'** विद्वान् हैं ऐसा केवल ब्राह्मण की प्रशंसा के लिये यह वाक्य होने से इसमें विद्वान् ब्राह्मण रूप विषय का अनुवाद (कथन) मात्र है, (न कि ब्राह्मणत्वजाति विद्या का कारण होती है ऐसा इस वाक्य में कहा गया है) इस कारण 'ब्राह्मणत्व जाति विद्वत्ता का कारण होती है' ऐसे असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। जिस प्रकार 'इस क्षेत्र (खेत) में धान हो सकता है' इस वाक्य से बीज से धान्य की उत्पत्ति नहीं होती यह नहीं कहा जाता तथा बीज से धान्य होता है यह भी नहीं कहा जाता किन्तु यह खेत धान्य के उत्पन्न हो सकने से खरीदने योग्य है इस आशय से उक्त वाक्य केवल खेत की प्रशंसा सूचित करती है। इस कारण यह क्षेत्र (खेत) रूप विषय का अनुवाद मात्र है कि यह ऐसा उत्तम क्षेत्र है कि इसमें बीज के बोये बिना भी धान उत्पन्न होता है। बीज से धान्य उत्पन्न होने पर भी उसके कथन की उक्त वाक्य के वक्ता को कहने की इच्छा नहीं है। ऐसे ही 'ब्राह्मण में विद्वत्ता हो सकती है' इस वाक्य में ब्राह्मणता विद्वत्ता की कारण है यह नहीं कहा गया है किन्तु विद्वान् ब्राह्मण प्रशंसा योग्य विद्वत्ता का विषय है, यह दिखाया गया है। और इस वाक्य में ब्राह्मणता विद्वत्ता का कारण होता है यह कहने की वक्ता को इच्छा भी नहीं है, उक्त वाक्य विद्वान् ब्राह्मण की प्रशंसा के लिये होने से केवल विद्वान् ब्राह्मण प्रशंसा योग्य होता है, इस विषय का अनुवाद करता है। कि—ब्राह्मणता रहते विद्वत्ता की सम्पत्ति होना यह उस ब्राह्मण की प्रशंसा में समर्थ है। इस प्रकार विद्वान् ब्राह्मण की प्रशंसा करने वाले उक्त वाक्य से अपने कारण अध्ययन, गुरुसेवादि से होनेवाली विद्वत्ता का निषेध नहीं किया जाता है, तथा उसके होने के कहने की वक्ता को इच्छा भी नहीं है। ऐसा होने के कारण पूर्वोक्त रीति से ब्राह्मणता को विद्वत्ता का कारण मानकर असम्भव अर्थ की कल्पना से वादी के वाक्य का विरोधरूप **'सामान्यछल'** करना असंगत है' ऐसा भाष्यकार ने सामान्य छल का भी ठीक उत्तर करने का प्रकार भाष्य में दिखाया है ॥ १३ ॥

(क्रमप्राप्त तीसरे उपचारछल का सूत्रकार लक्षण करते हैं कि)—

पदपदार्थ—धर्मविकल्पनिर्देशे = मुख्य तथा गौण (लाक्षणिक) अर्थों में से किसी एक अर्थ रूप धर्म के आशय से शब्द-प्रयोग करने पर, अर्थसद्भावप्रतिषेधः = उसके विरुद्ध अर्थ मानकर उस अर्थ की सत्ता का (रहने का) निषेध करना, उपचारछलम् = उपचार छल कहाता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस छल में वादी ने लक्षण को मानकर लक्ष्य अर्थ में शब्द का प्रयोग किया हो और प्रतिवादी उस पद का शक्ति से वाच्य अर्थ को लेकर अर्थ की सत्ता का निषेध करता है वह

अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः । धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः । तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति ।

का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः ? अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथाऽर्थकल्पनम्, भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनमुपचारविषयं छलमुपचारच्छलम् । उपचारो नीतार्थः सहचरणादिनिमित्तेन, अतद्भावे तद्वदभिधानमुपचार इति ।

उपचार छल कहाता है । (यह भाष्यानुसार सूत्र का अर्थ है । किन्तु **'न तदर्थान्तरभावात्'** दूसरे अर्थ की कल्पना से अर्थ के सद्भाव का भेद होने के कारण **'वाक्छल ही उपचार छल है'** ऐसा नहीं कहा जा सकता' इस आगे के छल की परीक्षा में आनेवाले सोलहवें सूत्र के वार्तिक में वाक्छल तथा उपचारछल में भेद कहने वाले सूत्र में वाक्छल में धर्म का निषेध तथा उपचारछल में धर्मी का निषेध होता है ऐसा कहेंगे । इससे इस सूत्र के अनुसार दूसरा ही अर्थ प्रतीत होता है कि—'धर्म विकल्प का निर्देश होने पर' यदि वादी धर्मबोधक वाक्य का प्रयोग करता है— **'अर्थसद्भावप्रतिषेधः'** प्रतिवादी धर्मीरूप अर्थ ही की न कि धर्म की सत्ता का निषेध करता है, तब **'उपचारछल'** होता है ॥ १४ ॥

(१४वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सूत्र में धर्मशब्द का अर्थ है—अभिधान (शब्द) का धर्म अर्थात् यथार्थ (ठीक-ठीक) प्रयोग करना । उसका जो विकल्प अर्थात् मुख्य (शक्ति से बोध्य) तथा लाक्षणिक (लक्षणा से कहा जाने वाला) गौण ऐसे दोनों भेद हैं । उनमें से यहाँ पर लाक्षणिक लक्षणा सम्बन्ध से **'मंच चिल्लाते हैं'** इस वाक्य में मंच पर बैठे हुए मनुष्य चिल्लाते हैं, इस आशय से प्रयोग किये उक्त वाक्य में पुरुष में देखे गये चिल्लाना इस क्रिया का उससे भिन्न **'मंच'** (कुर्सी) में प्रयोग करना यह लाक्षणिक प्रयोग है । ऐसे इस धर्म के विकल्प शब्द का प्रयोग करने पर सूत्र का **'धर्मविकल्पनिर्देश'** इस पद का अर्थ है ।

(यहाँ पर उस धर्मविकल्प के निर्देश में ऐसा **'धर्मविकल्पनिर्देश'** इस सूत्र के पद में समास का विग्रह लेना उचित है, किन्तु वाक्य में अर्थ का निर्देश नहीं होता इस कारण इस विग्रह में तात्पर्यकार की श्रद्धा नहीं है उनके मत से **'धर्मविकल्पेननिर्देशे'** ऐसा ही विग्रह है, जिसमें निर्देशपद का जिससे निर्देश हो इस व्युत्पत्ति से वाक्य ऐसा अर्थ होता है) [आगे उपचारछल का उदाहरण ऐसा देते हैं कि]—जिस प्रकार **'मंचाः क्रोशन्ति'** कुर्सियाँ चिल्लाती हैं—इस वाक्य में मंच पर बैठे मनुष्य चिल्लाते हैं इस लाक्षणिक प्रयोग का उपचार छल करने वाला प्रतिवादी वादी के शक्ति सम्बन्ध से वाध्य **'मंच चिल्लाते हैं'** ऐसे अर्थ को समझकर अर्थ के सत्ता को लेकर निषेध करता है कि मंच पर बैठे हुए मनुष्य चिल्लारहे हैं न कि मंच चिल्ला रहे हैं ।

(इस उदाहरण में छल का सामान्य लक्षण रहना भी आवश्यक है, अतः पूर्वपक्षी के पक्ष से भाष्यकार प्रश्न दिखाते हैं कि)—इस उपरोक्त उपचार छल के उदाहरण में **'अर्थविकल्प-की'** (जो छल के सामान्य लक्षण में कह चुके हैं) उपपत्ति कौन सी है । (भाष्यकार इस प्रश्न का उत्तर ऐसा देते हैं कि) अन्यथा [दूसरा प्रकार] लक्षणा से प्रयोग किये 'मंच चिल्ला रहे हैं' इस वादी के वाक्य का, अन्यथा (दूसरे प्रकार से—शक्तिरूप सम्बन्ध से) अर्थ (मंच) रूप अर्थ की कल्पना करना ही उपचारछल में भी **'अर्थविकल्पोपपत्ति'** रूप सामान्यछल का लक्षण आ जाता है । अर्थात् भक्ति (लक्षणा) सम्बन्ध से वादी के प्रयोग किये (कहे) मंच पर बैठे पुरुष रूप अर्थ की, प्रधान शक्तिरूप सम्बन्ध से कहे जानेवाले मंचरूप मुख्य अर्थ की कल्पना होने के कारण

अत्र समाधिः—*प्रसिद्धाप्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं* शब्दार्थयोरभ्यनुज्ञा *प्रतिषेधो वा न च्छन्दतः।* प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः। सिद्धे प्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायस्तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा न च्छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते? यथाभूतस्याभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा न च्छन्दतः। *अथ गुणभूतं? तदा गुणभूतस्य।* यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपालम्भ इति। इति ॥ १४ ॥

यह उपचार (गौणलक्षणारूप सम्बन्ध) को विषय करने के कारण उपचारछल कहाता हैं। यदि दूसरे (लाक्षणिक) अर्थ को कहने वाले शब्द का मुख्य शक्ति सम्बन्ध से कहे जाने वाले अर्थ में प्रयोग करना ऐसा दूसरे में देखे हुए का, उससे भिन्न में प्रयोग करना उपचार छल में कारण हो तो सम्पूर्ण शब्दों का सम्पूर्ण अर्थों में प्रयोग होने लगेगा' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि सहचरण, स्थान इत्यादि आगे वर्णन किये हुए कारणों से (प्राप्त किया हुआ) अर्थ **'उपचार'** कहाता है क्योंकि वैसा न रहते वैसा कहना उपचार होता है। अर्थात् दूसरे (लाक्षणिक) अर्थ में देखे हुए शब्द का दूसरे (वाच्य) अर्थ में प्रयोग करना सम्बन्ध से होता है, विना सम्बन्ध के नहीं होता, अतः सम्पूर्ण शब्दों का सम्पूर्ण अर्थों में प्रयोग होने लगेगा यह उपरोक्त अतिप्रसंग (आपत्ति) दोष नहीं हो सकता।

(इस प्रकार के उपचारछल का समाधान स्वतन्त्ररूप से भाष्यकार देते हैं कि)—इस उपचारछल में ऐसा समाधान है—शब्दों के प्रसिद्ध प्रयोगों में प्रयोग करने वाले वक्ता पुरुष के अभिप्राय के अनुसार ही शब्द तथा अर्थ को माना जा सकता है, अथवा उसका निषेध किया जा सकता है, न कि अपनी इच्छा से। क्योंकि शक्तिसम्बन्ध से मुख्य अर्थ को कहने वाले प्रधान (मुख्य) रूप शब्द तथा लक्षणा सम्बन्ध से लाक्षणिक (गौण) अर्थ को कहने वाले गौण शब्द का भी प्रयोग होता है यह लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रसिद्ध प्रयोग में से लाक्षणिक अथवा मुख्य किसी एक अर्थ में से जहाँ वक्ता वादी ने मुख्य अर्थ व गौण शब्द का प्रयोग किया है वक्ता के आशय से जो लाक्षणिक शब्द तथा लक्ष्य अर्थ हैं, एवं मुख्य शब्द तथा मुख्य (वाच्य) अर्थ है उन्हीं को प्रतिवादी मान सकता है, अथवा उन्हीं का खण्डन कर सकता है, नकि अपनी इच्छा के अनुसार मण्डन या खण्डन कर सकता है। (अर्थात् वक्ता वादी यदि मुख्य अर्थ के कहने वाले प्रधान (मुख्य वाचक) शब्द का प्रयोग करता है, तो उसीको प्रतिवादी को मानना होगा, अथवा उसका निषेध करना होगा। और यदि वादी वक्ता लक्षणा से अर्थ को कहने वाले लाक्षणिक होने के कारण गौण शब्द का प्रयोग करता है, तो उसीको मानकर प्रतिवादी खण्डन, (तथा) मण्डन कर सकता है) अतिकोलाहल के कारण अतः उपरोक्त **'मंच चिल्ला रहे हैं'** ऐसे आशय से लाक्षणिक पुरुषरूप अर्थ को मानकर प्रयोग किये हुए उपरोक्त वाक्य का प्रतिवादी मुख्य (वाच्य) अर्थ समझकर, जो वादी का खण्डन करता है कि "मंच कहाँ चिल्लाते हैं ? किन्तु उन पर बैठे हुए मनुष्य चिल्ला रहे हैं", यह उस प्रतिवादी का अपनी बुद्धि से मनमाना खण्डन है, अतः यह खण्डन वादी के मत का निरास नहीं कर सकता। (यहाँ भाष्य के छन्द शब्द का अर्थ है अपनी इच्छा, किन्तु तात्पर्यकार ने **'छद्मना'** कपट से ऐसा अर्थ किया है)॥ १४ ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ १५ ॥

न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते तस्याप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि स्थान्यर्थो गुणशब्दः, प्रधानशब्दः, स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यत इति ॥ १५ ॥

न तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥

न वाक्छलमेवोपचारच्छलं *तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तरभावात्*। कुतः !

(दूसरे स्थान में छल के विभाग की परीक्षा करने में गौरव दोष होगा, अतः यहां पर लाघव से छल के विभाग की परीक्षा करते हुए सूत्रकार पूर्वपक्षी के मत से १५वां सूत्र करते हैं)—

पदपदार्थ—वाक्छलं एव = १२वें सूत्र में वर्णन किया हुआ वाक्छल ही, उपचारच्छलं = १४वें सूत्र में वर्णन किया हुआ उपचार छल भी है, तदविशेषात् = क्योंकि दोनों में दूसरे अर्थ की कल्पना करना समान है ॥ १५ ॥

भावार्थ=जबकि **'नवकम्बलः'** इस उदाहरण में नये इस आशय से कहे **'नव'** शब्द का **'नौ'** ऐसा दूसरा अर्थ माना गया है तथा **'मंच चिल्लाते हैं'** इस उदाहरण में भी लक्षणा से मंच पर बैठें हुए मनुष्यों में प्रयोग किये **'मंच'** इस शब्द का भी प्रतिवादी शक्ति सम्बन्ध से उस लक्ष्यार्थ को हटाकर **'मंच'** रूप दूसरा अर्थ मानता है तो वाक्छल तथा उपचारछल में भेद नहीं हो सकता ऐसा उपरोक्त पूर्वपक्षी के आक्षेप सूत्र का आशय है ॥ १५ ॥

(१५वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी का आशय इस प्रकार कहते हैं कि)—उपरोक्त वाक्छल से उपचारछल भिन्न नहीं है, क्योंकि इसमें भी दूसरे अर्थ की कल्पना करना समान ही है, कारण यह कि इस उपचारछल में भी स्थानी अर्थ को कहने वाला (मंच स्थान पर बैठे हुए पुरुष को कहने वाला गुण शब्द (गौण शब्द) है, तथा प्रधान (मुख्य) शब्द (वाच्यार्थ को कहने वाला मंच शब्द) है मंचरूप मुख्य अर्थ को कहने वाला ऐसी कल्पना कर **'मंच कहाँ चिल्ला रहे हैं'** ऐसा छलवादी निषेध करता है इस लिये वाक्छल तथा उपचार छल में भेद नहीं हो सकता, यह पूर्वपक्ष सूत्र के आक्षेप का आशय है। अर्थात् जिस प्रकार वाक्छल में नये अर्थ वाला नव शब्द संख्याविशेष रूप अर्थ में कल्पना किया गया है, उसी प्रकार उपचारछल में भी मंच पर बैठे पुरुषों को लक्षणा से कहने वाला मंच शब्द मंचरूप अर्थ में ही कल्पना किया गया है, अतः वाक्छल तथा उपचारछल भिन्न नहीं हो सकते, यह पूर्वपक्ष का गूढ आशय है ॥ १५ ॥

(उक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—न, नहीं, तदर्थान्तरभावात् = उन दोनों का भेद होने से ॥ १६ ॥

भावार्थ—वाक्छल के 'नया कम्बल वाला' इससे भिन्न 'नौ कम्बलवाला' ऐसे दूसरे अर्थ की कल्पना से उपचारछल में लाक्षणिक मंच पर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे हैं, इस अर्थ का मुख्य मंचरूप अर्थ समझकर **'मंच कहाँ चिल्ला रहे हैं'** इस प्रकार अर्थ की सत्ता का निषेध करना भिन्न है, अतः वाक्छल तथा उपचारछल एक नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

(१६वें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ऐसी करते हैं कि)—पूर्वोक्त वाक्छल ही उपचारछल नहीं है, क्योंकि उस उपचारछल के मंचरूप मुख्य अर्थ को लेकर 'मंच कहाँ चिल्लाते है' इस प्रकार मुख्य मंचरूप अर्थ की सत्ता का निषेध भिन्न है। (प्रश्न)—किससे (उत्तर)—'नये कम्बल' इससे भिन्न 'नौ कम्बल' ऐसे दूसरे अर्थ की कल्पना से। क्योंकि एक अर्थ से भिन्न दूसरे अर्थ की

अर्थान्तरकल्पनातः । अन्या ह्यर्थान्तरकल्पना अन्योऽर्थसद्भावप्रतिषेध इति ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते किञ्चित्साधर्म्यात् । यथा चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधति । विद्यते हि

कल्पना करना भिन्न है, तथा एक अर्थ की सत्ता का निषेध करना भिन्न होता है, इस कारण (दोनों वाक्छल तथा उपचारछल) परस्पर पृथक् छल हैं। (यहाँ पर उपचारछल में मुख्यार्थ की सत्ता का निषेध होता है और वाक्छल में कम्बल पदार्थ को मानकर कम्बल का सम्बन्ध भी मानकर उसकी **'नौ'** संख्यारूप अनेकता धर्म का निषेध होता है, अर्थात् एक में धर्म का तथा दूसरे में धर्मी का निषेध होता है, इस कारण दोनों छलो में अत्यन्त भेद है ऐसा वार्तिककार का मत है। और भाष्यकार के मत में तो उपचारछल में गौण (मंचस्थपुरुषरूप) अर्थ को छोड़कर मुख्य (मंचरूप) अर्थ की कल्पना होती है, तथा वाक्छल में तो नौ संख्यारूप अर्थ का सर्वथा निषेध ही होता है यह हा (दोनों छलों का) भेद है। किन्तु **'मंच चिल्ला रहे हैं'** इस वाक्य में चिल्लाने की विधि है, मंच का केवल अनुवाद है; इसी कारण 'गुण में कल्पना करना उचित नहीं होता' इस युक्ति से **'मंच'** प्रधान न होने से उसके उद्देश्य होने से गौण कहा है, नकि **('मंच नहीं ही चिल्लाते हैं')** इस छल वाक्य से चिल्लाने ही रूप वस्तु का निषेध होता है **और 'नव कम्बलवाला ब्रह्मचारी है'** इस वाक्य में तो ब्रह्मचारी का अनुवादकर 'नवत्वयुक्त कम्बल' की विधि है। उसमें विधि के योग्य कम्बल का वस्तुतः निषेध नहीं है, किन्तु उसके एकदेश **'नौ संख्यारूप'** अनेकता का निषेध हो रहा है, इस प्रकार दोनों छलों में बहुत भेद है' ऐसा तात्पर्यकार का आशय है ॥ १६ ॥

(यदि इतना भेदसाधक रहने पर भी वाक्छल तथा उपचारछल का भेद न मानो तो सूत्रकार सिद्धान्तमत से आपत्ति देते हैं कि)—

पदपदार्थ—अविशेषे वा = उपरोक्त भेदसाधक रहने पर भी, यदि वाक्छल तथा उपचारछल में विशेष (भेद) न हो तो, किंचित्साधर्म्यात् = अर्थ के विकल्प से वचनविघातरूप साधर्म्य को लेकर, एकछलप्रसङ्गः = एक ही छल मानने की आपत्ति आ जायगी ॥ १७ ॥

भावार्थ—अर्थान्तर की कल्पना, तथा अर्थसद्भाव का निषेध, ऐसे वाक्छल तथा उपचारछल के परस्पर भेद के साधक के रहते भी यदि दोनों में भेद न माना जाय तो छल के सामान्य लक्षण में कहा हुआ अर्थ के विकल्प के द्वारा वादी के वाक्य का विरोध करना यह समान धर्म लेकर एक ही छल मानने की आपत्ति आ जायगी ॥ १७ ॥

(१७वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—(१) सामान्यछल तथा (२) वाक्छल और उपचारछल एक ऐसे दो छल के भेदों को मानकर तीन पृथक्-पृथक् छल मानने का पूर्वपक्षी अन्यार्थ की कल्पना तथा अर्थसत्ता के निषेधरूप दोनों समान धर्मों को एक मानकर यदि निषेध करता है, तो यही किंचित् (कुछ) समान धर्म का होना इसी हेतु से तीन छल के भेद होने के निषेध के समान दो छल के भेद होने का भी निषेध कर सकता है, क्योंकि दो छलों का भी **'अर्थ विकल्प की कल्पना से'** वादी के वचन का विरोध करना ऐसा दो छलों का भी कुछ

किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति । अथ द्वित्वं किञ्चित्साधर्म्यान्न निवर्तते ? त्रित्वमपि न निवर्त्स्यति ॥ १७ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैश्छललक्षणप्रकरणम् ।

अत ऊर्द्ध्वम्—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १८ ॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते स जातिः । स च प्रसङ्गः साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति । 'उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं

साधर्म्य हो सकता है, और यदि कुछ समान धर्म होने के कारण छल के दो भेदों का निषेध न हो तो तीन छल मानने का भी निषेध नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

(४) कथा करने वाले पुरुषों के असामर्थ्य के सूचक दोषों का प्रकरण

(क्रमप्राप्त १५वें जातिनामक असदुत्तर पदार्थ के लक्षण सूत्र का भाष्यकार अवतरण ऐसा देते हैं कि)—इस (छल के) पश्चात् क्रमप्राप्त—

पदपदार्थ—साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां = केवल समान तथा विरुद्ध धर्मों से, प्रत्यवस्थानं—खण्डन को, जातिः = जातिरूप केवल असदुत्तर कहाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ = व्याप्ति की अपेक्षा न कर कुछ पदार्थों के समान तथा विरुद्ध धर्मों को लेकर प्रत्यवस्थान (अनिष्ट देखाकर दोष कहना) जाति पदार्थ कहाता है यद्यपि सम्पूर्ण जातियों में साधर्म्य अथवा वैधर्म्य इन दोनों को नहीं देखाया जाता तथापि व्याप्ति की आवश्यकता रखकर दोष कहने में सूत्रकार का तात्पर्य है। ऐसी विवरणकार ने व्याख्या यहाँ की है, इसी कारण नवीन नैयायिकों के मत से **'असत्'** (अयथार्थ) उत्तर जाति कहाती है, ऐसा जाति पदार्थ का सामान्य लक्षण है । छल में साधर्म्य तथा वैधर्म्य नहीं होते, और केवल समान तथा विरुद्ध धर्म से सम्यक् (ठीक-ठीक) दूषण भी नहीं होता, किन्तु प्रयोग (शब्दव्यवहार) से, (इस कारण हेतु अथवा दुष्टहेतु का प्रयोग करने पर जो आपत्ति दी जाती है उसे जाति कहते हैं) और जाति द्वारा उत्तर करना सम्पूर्ण स्थलों में अनुचित भी नहीं होता, क्योंकि जल्पकथा में नास्तिक दुष्टहेतु से वेद को प्रमाण मानने वाले विद्वान् का जब खण्डन करता है, और जब ठीक-ठीक उत्तर भी उसे नहीं प्रतीत होता ऐसे समय विद्वानों को भी वेद में अप्रमाण होने की शंका के निरासार्थ जाति द्वारा भी नास्तिक का खण्डन करना उचित ही है। किन्तु कहीं-कहीं हेतु या हेत्वाभास का न जानकर भी प्रयोग हो सकता है ॥ १८ ॥

(१८वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—हेतु का वादी के अनुमान धर्म प्रयोग करने पर प्रतिवादी जो आपत्ति देता है उसे जाति कहते हैं (यह जाति पदार्थ अनुगत बुद्धिसाधक 'जाति' पदार्थ से भिन्न षोडश पदार्थवादी नैयायिकों का पारिभाषिक शब्द असत् उत्तर करने में भी प्रसिद्ध है) केवल साधर्म्य तथा वैधर्म्य को लेकर हेतु के ऊपर आपत्ति करना प्रत्यवस्थान (खण्डन), उपालंभ (निराकरण), अथवा प्रतिषेध (निषेध) कहाता है ।

अर्थात् **'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः'** इस पूर्वोक्त सूत्र से कहे गये साधर्म्य हेतु का उदाहरण के विरुद्ध धर्म को लेकर खण्डन करना तथा **'उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः'**

हेतु' रित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। 'उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतु' रित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति ॥ १८ ॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ १९ ॥

विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति। निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः। अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽप्यप्रारम्भः। परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति प्रतिषेधं वा नोद्धरति। असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति ॥ १९ ॥

किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोरभेदोऽथ सिद्धान्तवद्भेद इत्यत आह—

सूत्र में कहे गये इस पूर्वप्रदर्शित वैधर्म्य हेतु का उदाहरण के समान धर्म को लेकर खण्डन करना ही जाति पदार्थ है। अर्थात् विरोधरूप से होनेवाले अर्थ को जाति कहते हैं। यहाँ पर **'जायमानः'** इस भाष्यकार के पद से **'जायते'** विरोधरूप से जो होता है ऐसी व्युत्पत्तिके बल से अर्थ सूचित होता है ॥ १८ ॥

(क्रमप्राप्त १६वें निग्रहस्थान पदार्थ का लक्षण सूत्रकार करते हैं कि)—

पदपदार्थ—विप्रतिपत्तिः = विरुद्धज्ञान, अप्रतिपत्तिः च = और अज्ञान भी, निग्रहस्थानम् = वादी को पराजित करने के कारण निग्रहस्थान पदार्थ होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिन विरुद्धज्ञान तथा अज्ञानादिरूप निग्रहस्थानों से वादी का पराजय होता है उन्हें निग्रहस्थान कहते हैं। (निग्रहस्थान से ही सम्पूर्णकथा समाप्त हो जाती हैं इस कारण अन्त में उनको सूत्रकार ने कहा है।) वादादि कथा के आरम्भ होने पर वादी तथा प्रतिवादी दोनों को यथार्थ ज्ञान नहीं है यह सूचित करने वाले व्यापार को निग्रहस्थान कहते हैं यह सूत्र का अर्थ है ॥

(१९वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हुए **'विप्रतिपत्तिशब्द का'** अर्थ कहते हैं कि सूक्ष्म-विषयों में होनेवाला ज्ञान विपरीतज्ञान कहाता है, अथवा स्थूलविषयों में होनेवाला विपरीतज्ञान कुत्सितज्ञान कहाता है। जिसे उक्त विपरीतज्ञान रहता है। वह कथा में पराजय को प्राप्त करता है। क्योंकि निग्रहस्थान ही का नाम है पराजय की प्राप्ति और सूत्र के **'अप्रतिपत्ति'** इस शब्द का आरम्भ करने योग्य विषय में अज्ञान से आरम्भ करना ऐसा अर्थ है। क्योंकि अज्ञानी (प्रतिवादी) वादी के स्थापित किये पक्ष (विषय) का न निषेध कर सकता है, न अपने पर किये निषेध का उद्धार कर सकता है। इस सूत्र में **'विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योः'** ऐसा समास क्यों नहीं रक्खा। (इस शंका का समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि) सूत्र में समास न करने से यह सूचित होता है कि यही दो निग्रहस्थान नहीं हैं किन्तु और भी हेतु की अधिकता आदि जल्पकथा में होने वाले निग्रहस्थान हैं जो पंचमाध्याय में विस्तार से कहे जायंगे। यहाँ ग्रन्थविस्तार के भय से छोड़ दिये हैं ॥ १९ ॥

(उक्त प्रकार के जाति तथा निग्रहस्थान के विषय में क्या जाति और निग्रहस्थान नामक दोनों पदार्थ प्रत्येक एक-एक ही प्रकार के हैं, अथवा (दृष्टान्त के समान) सिद्धान्त के समान अनेक हैं। इस आशय से २०वें सूत्र का अवतरण देते हुए प्रश्न दिखाते हैं कि)—क्या जाति और निग्रहस्थान इन दोनों का पूर्वोक्त दृष्टान्त पदार्थ के समान अभेद है, अथवा पूर्वोक्त सर्वतन्त्रादि भेद से चार प्रकार के सिद्धान्त पदार्थ के समान भेद हैं। इस प्रश्न का सूत्रकार उत्तर देते हैं कि—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ २० ॥

तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य *विकल्पाज्जातिबहुत्वं*, तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पा*न्निग्रहस्थानबहुत्वम्*। नानाकल्पो विकल्पः। विविधो वा कल्पो विकल्पः। तत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम्। शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।

पदपदार्थ—तद्विकल्पात् = साधर्म्य तथा वैधर्म्य से निषेधरूप जाति का, एवं विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति दोनों निग्रहस्थान के विकल्प (अनेक प्रकार) होने से, जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् = जाति तथा निग्रहस्थान दोनों अनेक प्रकार के हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—साधर्म्य तथा वैधर्म्य मात्र से खण्डनरूप जाति की विकल्प (अनेक कल्पना) होने के कारण जाति नामक असदुत्तर अनेक प्रकार हैं। तथा विप्रतिपत्ति (विपरीतज्ञान), एवं अप्रतिपत्ति (अज्ञान) रूप इन दोनों पूर्वोक्त मुख्य निग्रहस्थानों की भी अनेक प्रकार की कल्पना होने के कारण निग्रहस्थान भी अनेक प्रकार के हैं (इस सूत्र के अवतरण के प्रश्न में जो एक पक्ष का दृष्टान्त उदाहरण दिया है वह दृष्टान्त यद्यपि साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का है तथा लक्षण के एक होने से वह एक पक्ष का दृष्टान्त हो सकता है) ॥ २० ॥

(२०वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—**'तद्विकल्पात्'** इस सूत्र के समस्त पद में जातिपक्ष में **'तस्य विकल्पात्'** ऐसा विग्रह होता है, जिसमें **'तस्य'** इस पद का अर्थ है साधर्म्य तथा वैधर्म्य से खण्डन के विकल्प (अनेक प्रकार) होने के कारण जातिरूप असदुत्तर पदार्थ अनेक प्रकार का होता है। और निग्रहस्थान के पक्ष में **'तयोः विकल्पात्'** ऐसा विग्रह है, जिसमें **'तयोः'** इसका अर्थ है उन दोनों पूर्वोक्त विरुद्धज्ञान तथा अज्ञानरूप मुख्य दो निग्रहस्थानों के भी अनेक प्रकार होने के कारण निग्रहस्थान भी अनेक हैं। सूत्र के विकल्प शब्द का स्वरूप से नानाकल्प (प्रकार होना), अथवा प्रकार से विविध (अनेक) कल्प (प्रकार) होना अर्थ है। जिसमें अननुभाषण (न बोलना), अज्ञान (न समझना) अप्रतिभा (उत्तर की सूझ न होना), विक्षेप (चित्तविक्षेप करना), मत को मान लेना रूप मतानुज्ञा; पर्यनुयोज्योपेक्षण (पराजित करने योग्य की उपेक्षा करना), यह सब आगे पंचमाध्याय में विस्तार से वर्णित निग्रहस्थान द्वितीय अप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान है, और इनसे भिन्न प्रतिज्ञा हानि आदि बाकी के निग्रहस्थान विप्रतिपत्ति नामक प्रथम निग्रहस्थान हैं।

(प्रथमाध्याय के दोनों आह्निकों के विषयों का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए प्रथमाध्याय के सम्पूर्ण विषय क्या हैं यह भाष्यकार दिखाते हैं कि)—इस प्रकार गौतम महर्षि से कथित प्रमाणादि षोडशपदार्थों का उद्देश (नामकीर्तन) तथा लक्षण कहा गया। आगे उक्त लक्षणों के अनुसार वे ठीक हैं या नहीं इस प्रकार आगे के चार अध्यायों में परीक्षा की जायगी, क्योंकि इस न्यायशास्त्र के उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा इस प्रकार तीन प्रकार के विषय हैं, यह जानना चाहिये। इस प्रकार प्रथमाध्याय का द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ। इसमें शास्त्र की प्रतिज्ञा संसार तथा तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति होना (इस प्रकार) उद्देश तथा उनका लक्षण इस अध्याय में कहा गया ऐसा रघुनाथ भाष्यचन्द्रकार ने यहाँ कहा है। वात्स्यायनीय वात्स्यायन नामक मुनि से रचे हुए, न्याय-

इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिता यथालक्षणं परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधा (चा)ऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वेदितव्येति ॥ २० ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः पुरुषाशक्तिलिङ्गदोषसामान्यलक्षणप्रकरणम् ।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चाऽयं प्रथमोऽध्यायः ।

भाष्य (न्यायसूत्रों के भाष्य) में प्रथमाध्यायस्य = प्रथमअध्याय का, द्वितीय (दूसरा) आह्निकं (आह्निक है) ॥

समाप्तः च (और समाप्त हुआ) यह अयं प्रथमोध्यायः (प्रथम अध्याय) ॥ ८-१-६० ॥

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

अत ऊर्ध्वं प्रमाणादिपरीक्षा। सा च *'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'* (अ० १ आ १ सू० ४१) इत्यग्रे विमर्श एव परीक्ष्यते—

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥१॥

समानस्य धर्मस्याध्यवसायात्संशयो न धर्ममात्रात्।

अथ वा समानमनयोर्धर्ममुपलभ इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति।

अथ वा समानधर्माध्यवसायादर्थान्तरभूते धर्मिणि संशयोऽनुपपन्नः, न जातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्शे संशय इति।

---

(१) संशयपरीक्षाप्रकरण

(द्वितीयाध्याय के प्रथमाह्निक में परीक्षा के मुख्य अंग होने के कारण प्रथम संशय के लक्षण की परीक्षा करना उचित होने से प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक के २३वें सूत्र में साधारण धर्म आदि के ज्ञानों से संशय होता है, इस संशय के लक्षण में पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखाने वाले सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—इसके (षोडश पदार्थों के उद्देश तथा लक्षणों के पश्चात क्रम से प्रमाणादि पदार्थों की परीक्षा प्रारम्भ की जाती है। और वह परीक्षा **'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'** पक्ष तथा प्रतिपक्ष से संशयपूर्वक अर्थ के निश्चय को निर्णय कहते हैं (१।१।४१) इस सूत्र के अनुसार संशयपूर्वक ही होती है इस कारण प्रथम संशय ही की परीक्षा करते हुए सूत्रकार पूर्वपक्षी के मत से प्रथम सूत्र में संशय के लक्षण पर आपत्ति देते हुए कहते हैं)—

पदपदार्थ—समानाधर्माध्यवसायात् = साधारण, तथा अनेक (विशेष) धर्म के निश्चय से, अन्यतरधर्माध्यवसायात् वा = अथवा दो में से एक किसी धर्म के निश्चय से संशय होता है, अतः (केवल समान अथवा विशेष धर्म से) न संशयः = संशय नहीं हो सकता ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक के २३वें सूत्र में कथित समान धर्म, अथवा विशेष धर्म के रहने से संशय नहीं हो सकता, क्योंकि समान तथा विशेष धर्म के अध्यवसाय (निश्चित-ज्ञान) से संशय होता है। (इस सूत्र में प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक के २३वें सूत्र में कहे हुए सम्पूर्ण संशयों के कारणों को लेना चाहिये। यहाँ इस सूत्र से पाँचवें सूत्र तक पूर्वपक्ष है और दो सूत्रों में उत्तर पक्ष है) ॥ १ ॥

(१ प्रथम पूर्वपक्ष सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक के २३वें सूत्र में कहे हुए साधारण धर्म तथा विशेष धर्म की उपपत्ति (होने से) ही संशय नहीं होता, किन्तु उन दोनों धर्मों के (अध्यवसाय) ज्ञान से संशय होता है, अतः संशय का लक्षण अयुक्त है।

(इस सूत्र में 'समानधर्म के अध्यवसाय से संशय नहीं होता' ऐसा सूत्र के अक्षरों का अर्थ स्पष्ट होने के कारण **'समानस्य धर्मस्याध्यवसायात् संशयः'** समान ऐसे धर्म के अध्यवसाय से संशय होता है, ऐसी भाष्यकार की व्याख्या सूत्र के विरुद्ध (असंगत) सी प्रतीत होती है। जिसका कुछ विद्वान् ऐसा परिहार करते हैं कि)—"न जाना हुआ धर्म केवल संशय में कारण न होने से उसका निश्चय होने पर, निश्चय का संशय के विरोधी स्वभाव होने के कारण अज्ञान धर्म

अथवा नाध्यवसायादर्थावधाणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते कार्यकारणयोः सारूप्याभावादि। एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति व्याख्यातम्।

संशय का कारण नहीं हो सकता" किन्तु यही आशय आगे अथवा 'नाध्यवसायादर्थावधारणादनवधारणं ज्ञानं संशय उपपद्यते' अर्थ के निश्चित ज्ञानरूप अध्यवसाय से अनिश्चित ज्ञानरूप संशय नहीं हो सकता, ऐसे इस चतुर्थ कल्प में भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है। अतः वही प्रथम इस कल्प के अर्थ का आशय नहीं हो सकता। इस असंगति को वार्तिक तथा तात्पर्यटीकाकार ने सूचित किया है, इसी कारण इस पूर्वपक्षी की उक्ति के यथाश्रुत अर्थ से पूर्वपक्षी के प्रथम सूत्र की भूमिका कही है, और तात्पर्यटीकाकार ने **'समानधर्मोपपत्त्यादि'** विशेषण को न देखकर पूर्वपक्षी का यह सूत्र है ऐसा कहा है। इस सूत्र में तीन वाक्य हैं—(१) **'समानधर्माध्यवसायात् न संशयः'** समानधर्म के ज्ञान से संशय नहीं होता, यह वाक्य प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक के २३वें सूत्र में कहे गये **'समानधर्मोपपत्तेः'** समानधर्म के होने से संशय होता है इस वाक्य का निषेधरूप है। इस वाक्य का भाष्यकार ने आगे **'अथवा'** ऐसी चार उक्ति से तात्पर्य वर्णन किया है। संशयलक्षण के सूत्र के उपपत्ति पद का समानधर्म का अस्तित्व (होना), यह अर्थ समझकर ही पूर्वपक्षी की केवल समानधर्म के रहने से संशय नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान होने से ऐसा प्रथम कहता है। और संशय लक्षण के उपपत्ति पद का सामान्य ज्ञानरूप अर्थ समझकर **'अथवा समानमनयो'** यह द्वितीय पूर्वपक्षि वाक्य है। पुनः **'अथवा समानधर्मा'** इत्यादि तीसरा वाक्य है, उपपत्ति पद का निश्चय रूप ज्ञान अर्थ समझकर। और उपरोक्त इस तीसरी ही उक्ति का दूसरे प्रकार से वर्णन पूर्वपक्षी का **'अथवा नाध्यवसायात्'** यह चतुर्थ वाक्य है। इस पूर्वपक्षी के सूत्र में। (२) दूसरा सूत्र का वाक्य है **'अनेकधर्माध्यवसायाच्च संशयः'** विशेष धर्म के अध्यवसाय से संशय नहीं हो सकता, यह वाक्य संशयलक्षण के सूत्र में उपपत्तिपद के प्रयोग के कारण है। इसमें भी समानधर्म के पक्ष के समान चार पक्ष की उक्ति हो सकती है। (३) तीसरा सूत्र का वाक्य है **'अन्यतरधर्माध्यवसायान्न संशयः'** दो में से किसी एक धर्म के ज्ञान से संशय नहीं हो सकता)। (आगे पूर्वपक्षी के मत से दूसरा अर्थ करते हुए भाष्यकार आक्षेप दिखाते हैं कि)—अथवा मैं इन दोनों के समानधर्म को जान रहा हूँ इस प्रकार जबकि ऊंचाई आदि धर्म तथा वृक्ष और पुरुषरूप धर्मों का ज्ञान होता है तो संशय कैसे होगा। (तथा तीसरे अभिप्राय से पूर्वपक्षी ऐसा कह सकता है कि)—अथवा समानधर्म के ज्ञान से भिन्न धर्मीरूप (अर्थ) में संशय नहीं हो सकता। क्योंकि रूप के ज्ञान के विषयरूप से भिन्न स्पर्श का रूप के ज्ञान से 'संशय' नहीं होता। (चतुर्थ पूर्वपक्षी का यह आशय हो सकता है कि)—अथवा समानधर्म के अध्यवसायरूप अर्थ के निश्चयरूप कारण से अनिश्चय (रूप) संशयज्ञान कार्य कैसे हो सकता है, क्योंकि कार्य (संशय) तथा कारण (निश्चय) इन दोनों में समानरूपता नहीं है (अर्थात् संशय कार्य के अनिश्चितरूप होने से उसका कारण निश्चयरूप ज्ञान नहीं हो सकता,—निश्चय अनिश्चय का कारण नहीं हो सकता)। (आगे समानधर्मज्ञान में कहे हुए पूर्वपक्षी के चार प्रकार के संशय के पूर्वोक्त लक्षण में आक्षेप दिखाकर उसीके समान, तथा अनेक (विशेष) धर्मज्ञान से उत्पन्न संशय के लक्षण में भी चार प्रकार के असंभव की समानता देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—इस (समानधर्म) से उत्पन्न संशय के लक्षण की अनुपपत्ति (न होने) से अनेक (विशेष) धर्म के ज्ञान से संशय होता है न कि केवल अनेक धर्म के रहने से यह भी व्याख्या की गई है। तथा दो

अन्यतरधर्माध्यवसायाच्च संशयो न भवति· ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति ॥ १ ॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

न विप्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वा संशयः। किं तर्हि? विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशयः। एवमव्यवस्थायामपीति। *अथवाऽस्त्यात्मेत्येके* नास्त्यात्मेत्यपरे मन्यन्त इत्युपलब्धेः कथं संशयः स्यादिति। तथोपलब्धिरव्यवस्थिता अनुपलब्धिश्चाव्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयो नोपपद्यत इति ॥ २ ॥

धर्मों में से किसी एक धर्म के निश्चित ज्ञान के ज्ञान से संशय नहीं होता, क्योंकि उस निश्चय ज्ञानरूप अध्यवसाय से दोनों में से एक धर्म का निश्चित ज्ञान ही होता है" ॥ १ ॥

(तथा तीसरे विप्रतिपत्तिरूप एवं अव्यवस्थाध्यवसायरूप भी चतुर्थ तथा पंचम संशय के पूर्वोक्त कारणों से भी संशय नहीं हो सकता इस आशय से सूत्रकार द्वितीय सूत्र में पूर्वपक्षी का आशय दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायात् च = और विप्रतिपत्ति (विरुद्धकोटि ज्ञान) एवं सत् तथा असत् पदार्थ की उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था के ज्ञान से भी संशय होता है न कि उनके रहने मात्र से ॥ २ ॥

भावार्थ—विप्रतिपत्ति एवं उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था को जो संशय का कारण माना गया है वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि केवल विप्रतिपत्ति तथा उपरोक्त दोनों अव्यवस्थाओं के रहने से ही संशय नहीं होता किन्तु उनके ज्ञान से यह पूर्वपक्षी का आशय है (यह भी पूर्वपक्षिमत का सूत्र है इसमें भी प्रथमाध्याय में वर्णित संशय लक्षण के सूत्र में वर्तमान **'उपपत्तिपद'** को लेकर पूर्वपक्ष है। उसमें भी प्रथम भाष्यकार का आगे भाष्य में दिखाया जानेवाला **'तत्'** यह पद केवल विप्रतिपत्ति की सत्ता मानकर, एवं **'अथवा'** इत्यादि द्वितीय कल्प में **'तार'** यह पदज्ञान का बोधक है, यह समझकर भाष्यकार ने दो प्रकार से विप्रतिपक्ष में पूर्वपक्षिमत से तृतीय संशय लक्षण का असंभव दिखाया है)॥ २ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार प्रथम मत से व्याख्या करते हैं कि)—केवल विप्रतिपत्ति (विरुद्ध दो कोटि (पक्ष) होने से ही, केवल सत् भी पदार्थ उपलब्ध होता है असत् भी, कहीं देखे पदार्थ में यह सत् है, अथवा असत्, इसी प्रकार सत् और असत् पदार्थ के न उपलब्ध होने पर अनुपलब्धि की भी केवल संशय सूत्र में प्रथमाध्याय में विस्तार से वर्णन की गई है) अव्यवस्था से भी संशय नहीं हो सकता (प्रश्न)—तो किससे संशय होता है ? (उत्तर)—किन्तु दोनों विरुद्ध कोटियों (पक्षों) के ज्ञान से संशय होता है। इसी प्रकार (उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की पूर्वोक्त केवल अव्यवस्था रहने से ही संशय नहीं होता, किन्तु उनके ज्ञान से) अव्यवस्था में भी जानना (दूसरे प्रकार से पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप इस सूत्र में दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अथवा कुछ विद्वान् 'आत्मा की सत्ता है' ऐसा कहते हैं, और दूसरे विद्वान् 'आत्मा की सत्ता नहीं है' ऐसा मानते हैं, ऐसा ज्ञान होने पर संशय कैसे होगा' इस प्रकार इस सूत्र में पूर्वपक्षी का आशय है। तथा उपलब्धि की व्यवस्था नहीं है, एवं अनुपलब्धि की भी व्यवस्था नहीं है ऐसा विभाग (पृथक्-पृथक्) निश्चय होने पर संशय नहीं हो सकता इसलिये संशय लक्षण सूत्र अयुक्त है (अर्थात् उपलब्धि तथा अनुपलब्धि का निश्चय नहीं है इतना ही जानने वाले मनुष्य को संदेह नहीं हो सकता, बल्कि ऐसी अवस्था में उसके विषय का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता) ॥२॥

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

यां च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते सा सम्प्रतिपत्तिः सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधर्मविषया। तत्र यदि विप्रतिपत्तेः संशयः ? सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति ॥ ३ ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

न संशयः। यदि तावदियमव्यवस्था आत्मनि (एव) व्यवस्थिता ? व्यवस्थानादव्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशयः। अथ अव्यवस्थाऽऽत्मनि

(विप्रतिपत्ति से होने वाले तृतीय संशय के लक्षण में दूसरे प्रकार से और आपत्ति देते हुए पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—विप्रतिपत्तौ च = और विरुद्ध दो कोटियों के ज्ञान में भी, सम्प्रतिपत्तेः = यथार्थ ज्ञान होने के कारण (उसके संप्रतिपत्ति होने से संशय) नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥

भावार्थ—आत्मा है ऐसा एक पक्ष का निश्चित ज्ञान, तथा दूसरे पक्ष का आत्मा नहीं है ऐसा निश्चित ज्ञान ये दोनों विरुद्धकोटि के ज्ञान जब निश्चयरूप हैं तो ऐसा होने से यदि संशय होता है तो वह निश्चय ही संशय उत्पन्न होता है, अतः विप्रतिपत्ति संशय की कारण नहीं हो सकती यह इस सूत्र में पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ३ ॥

(तृतीय सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती संशय के तृतीय लक्षण में जिस विरुद्धकोटि के ज्ञानरूप विप्रतिपत्ति के संशय का कारण मानता है वह संप्रतिपत्ति (उसके विरुद्ध निश्चित ज्ञान) है। क्योंकि वह 'आत्मा है तथा नहीं है' इस वाक्य में अस्तिता तथा नास्तिता इन दोनों विरुद्ध धर्मों को विषय करती है। ऐसा होने से यदि विप्रतिपत्ति से संशय होता है तो वह उपरोक्त उन दोनों विरुद्ध धर्मों के **'संप्रतिपत्ति'** (निश्चितज्ञान ही) से होता है (न कि विप्रतिपत्ति से) ॥ ३ ॥

(उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था रूप चतुर्थ एवं पंचम संशय के लक्षण में आपत्ति दिखाते हुए पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—.

पदपदार्थ—अव्यवस्थात्मनि = उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था के स्वरूप के, व्यवस्थितत्वात् च = व्यवस्थायुक्त होने से भी, अव्यवस्थायाः = उपरोक्त दोनों अव्यवस्था के ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि पूर्वसिद्धान्ती से कही हुई उपलब्धि तथा अनुपलब्धि दोनों की संशय में कारणता नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त दोनों प्रकार की अव्यवस्था का अपना स्वरूप निश्चित हो तो निश्चितरूप होने के कारण उसमें अव्यवस्था का स्वरूप ही नहीं रह सकेगा। और यदि अव्यवस्था का स्वरूप अपने में निश्चित न हो तो उसके स्वरूप की (अव्यवस्थापक्ष की) हानि होने से ही अव्यवस्था का स्वरूप न रह सकेगा, अतः उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था से चतुर्थ तथा पंचम संशय नहीं हो सकते यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ४ ॥

(चतुर्थ सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में **'न संशयः'** इस प्रथम सूत्र के पद का इस सूत्र के अन्त में योजना कर सूत्र का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि—यदि सिद्धान्ती से कही हुई संशय के कारण यह उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की व्यवस्था न होना रूप

न व्यवस्थिता ? एवमतादात्म्यादव्यवस्था न भवतीति संशयाभाव इति ॥ ४ ॥

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥

येन कल्पेन भवान् *समानधर्मोपपत्तेः* संशय इति मन्यते, तेन खल्वत्यन्तसंशयः प्रसज्यते, समानधर्मोपपत्तेरनुच्छेदात् संशयानुच्छेदः, न ह्ययमतद्धर्मा धर्मी विमृष्यमाणो गृह्यते, सततं तु तद्धर्मा भवतीति ॥ ५ ॥

अस्य प्रतिषेधप्रपञ्चस्य सङ्क्षेपेणोद्धारः—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥

अव्यवस्था अपने अव्यवस्था स्वरूप में व्यवस्थित नहीं है, तो व्यवस्था होने के कारण वह अव्यवस्था नहीं हो सकती इस कारण अव्यवस्था से संशय नहीं होगा। और यदि उपरोक्त दोनों प्रकार की अव्यवस्था अपने अव्यवस्था के स्वरूप में व्यवस्थायुक्त नहीं है तो स्वरूप तथा अव्यवस्था का भेद होने के कारण वह अव्यवस्था ही न सिद्ध होने से (संशय नहीं हो सका) होता है इस कारण भी अतः अव्यवस्था से संशय होता है यह सिद्धान्ती का कहना असंगत है ॥ ४ ॥

(उक्त सिद्धान्ती के कारण भेद से पाँच प्रकार के सम्पूर्ण संशयों पर पंचम सूत्र में पूर्वपक्षिमत से एक ही प्रकार की आपत्ति देते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—तथा = इसी प्रकार, अत्यन्तसंशयः = सदा संशय होने लगेगा, तद्धर्मसातत्योपपत्तेः = क्योंकि संशय के कारण समान धर्म आदि निरन्तर हो सकते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो सिद्धान्ती ने पांचो प्रकार के संशय के कारण माने हैं उन समानधर्म, विशेषधर्म आदिकों के निरन्तर वर्तमान होने के कारण सदा संशय होने की आपत्ति आजायगी, इस कारण भी सिद्धान्ती के कहे पाँचो प्रकार के संशय नहीं हो सकते ॥ ५ ॥

(पंचम सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस प्रकार से आप (सिद्धान्ती) समानधर्म के होने से संशय होता है ऐसा मानते हैं, उस प्रकार से तो अत्यन्त (सदा) संशय होने की आपत्ति आ सकती है, क्योंकि उस समानधर्म के होने का उच्छेद (नाश) न होने से संशय का भी उच्छेद (नाश) न हो सकेगा, क्योंकि ऊंचा पदार्थरूप धर्मी बिना ऊंचाई रूप समानधर्म के संशय नहीं कराता, किन्तु निरन्तर (सदा) ऊंचाई रूप समानधर्मवाला होता ही है।' (अर्थात् यह वृक्ष है अथवा मनुष्य ऐसे संदेह के पश्चात् यह वृक्ष ही है ऐसा निश्चित ज्ञान होने पर भी ऊंचाई रूप समानधर्म का ज्ञान वर्तमान ही है। उक्त निश्चित ज्ञान से वे ऊंचाई आदि धर्म तथा उनका ज्ञान तो जाता नहीं, अतः यदि समान (ऊंचाई) आदि धर्मों का ज्ञान ही संशय का कारण हो तो उक्त 'यह वृक्ष ही है' ऐसे निश्चितज्ञान के पश्चात् भी संशय होने लगेगा, ऐसा सूत्र में पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ५ ॥

(इस प्रकार पाँच सूत्रों में पूर्वपक्षी के मत से पाँचो प्रकार के संशय के लक्षणों पर आपत्ति दिखाकर सिद्धान्ती के मत से पूर्वपक्षी के सम्पूर्ण आक्षेपों का समाधान करने के लिये उत्तरपक्षी के प्रथम सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस पूर्वपक्षी के सम्पूर्ण उपरोक्त खण्डन के विस्तार का संक्षेप से उद्धार (निराकरण) सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—यथोक्ताध्यवसायादेव = द्वितीयाध्याय के प्रथमाह्निक के २३वें सूत्र में कहे हुए समानधर्म आदि के अध्यवसाय (ज्ञान) से ही, तद्विशेषापेक्षात् =जो समानधर्मादि वाले वृक्ष

संशयानुत्पत्तिः संशयानुच्छेदश्च न प्रसज्यते। कथं ? यत्तावत् समानधर्माध्यवसायः संशयहेतुः न समानधर्ममात्रमिति ?, एवमेतत्। कस्मादेवं नोच्यते इति ? *विशेषापेक्ष इति* वचनात् तत्सिद्धेः। विशेषस्यापेक्षाऽऽकाङ्क्षा, सा चानुपलभ्यमाने विशेषे समर्था। न चोक्तं समानधर्मापेक्ष इति। समाने च धर्मे कथमाकाङ्क्षा न भवेद् यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात्। एतेन सामर्थ्येन विज्ञायते समानधर्माध्यवसायादिति।

तथा पुरुष पदार्थों के विशेष (भेदक) धर्म के ज्ञान की अपेक्षा करता है उससे, संशये = संशय की उत्पत्ति मानने के कारण, न = नहीं होगा, असंशयः = संशय का न होना, न = नहीं होगा, अत्यन्त संशय (सदा सन्देह) वा = अथवा ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी के दिये हुये संशय का न हो सकना, तथा सदासंशय का उत्पन्न होना ये दोनों दोष नहीं हो सकते, क्योंकि संशयलक्षण के सूत्र में समानधर्म आदि के ज्ञान ही से जो उनके भेद करने वाले विशेष धर्म के ज्ञान की अपेक्षा करता है, उसी से संशय की उत्पत्ति मानने के कारण, विशेष धर्म का ज्ञान न रहते संशय होने से संशय नहीं होगा यह नहीं हो सकता तथा हस्तपाद, शाखा इत्यादि विशेष धर्म के दर्शन से यह वृक्ष है अथवा पुरुष ऐसा संशय नहीं रह सकता, अतः सर्वदा संशय होता रहेगा यह भी पूर्वपक्षी का दिखाया हुआ दोष नहीं आ सकता (अर्थात् बिना विशेषण के समानधर्म की उपपत्ति आदि को संशय का कारण कहा जाय तो उसकी उपपत्ति के पश्चात् न करने से प्रथम भी न करेगी इस कारण संशय न होने की आपत्ति अथवा प्रथम भी करने से पश्चात् भी करेगी जिससे सर्वदा संशय होने की आपत्ति आयगी। किन्तु दूरता आदि विशेष दोषों के न दिखाने रूप विशेषणयुक्त ही समानधर्म की उपपत्ति आदि को संशय का कारण मानना सिद्धान्ती को अभिमत है इस कारण पूर्वपक्षी के दिखाये उपरोक्त दोनों दोष न हो सकेंगे ॥ ६ ॥

(छठें सिद्धान्ती के सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पूर्वपक्षी का कहा हुआ संशय का न हो सकना, तथा संशय का (उच्छेद) नाश न होना, अर्थात् सदासंशय का होना ये दोनों दोष नहीं हो सकते। (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—जो पूर्वपक्षी ने आक्षेप में यह कहा था कि समानधर्म आदि का ज्ञान संशय का कारण होता है, न कि केवल धर्मों में समानधर्म का वर्तमान होना यह ऐसा ही है। ऐसा (प्रश्न)—"समानधर्म का ज्ञान संशय का कारण होता है ऐसा सिद्धान्ती ने संशय का लक्षण क्यों नहीं कहा" ? (उत्तर)—विशेषधर्म के ज्ञान की आवश्यकता होने से इस आशय के **'विशेषापेक्षात्'** ऐसा कहने से ही समानधर्मादिकों के ज्ञान से संशय होता है न केवल समानधर्मादिकों के रहने से यह सिद्ध होता है। क्योंकि विशेषधर्म की अपेक्षा का अर्थ है उसके ज्ञान के होने की आकांक्षा (इच्छा) वह जब तक विशेषधर्म की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं होती तभी तक संशय को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। सूत्रकार ने **'समानधर्म की अपेक्षा करने वाला'** ऐसा सूत्र में नहीं कहा है। समानधर्म के जानने की इच्छारूप समानधर्म में आकांक्षा क्यों न होगी, यदि वह प्रत्यक्ष होगी। इस सामर्थ्य से जाना जाता है कि सिद्धान्ती ने समानधर्म के ज्ञान से संशय होता है न कि केवल उसके रहने से ऐसा माना है। (अर्थात् संशय के लक्षण के सूत्र में 'विशेषधर्म ज्ञान की अपेक्षा रखने वाला संशय होता है' ऐसा सिद्धान्ती ने कहा है न कि समानधर्म की अपेक्षा करने वाला संशय होता है ऐसा कहा है। वह समानधर्म के ज्ञान की अपेक्षा करने का अभाव समानधर्म का ज्ञान रहते ही

उपपत्तिवचनाद्वा। समानधर्मोपपत्तेरित्युच्यते न चान्या सद्भावसंवेदनादृते समानधर्मोपपत्तिरस्ति। अनुपलभ्यमानसद्भावो हि समानो धर्मोऽविद्यमानवद्भवतीति।

विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानम्। यथा लोके धूमेनाग्निरनुमीयत इत्युक्ते धूमदर्शनेनाग्निरनुमीयत इति ज्ञायते। कथम्? दृष्ट्वा हि धूममथाग्निमनुमिनोति, नादृष्टे। न च वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयेत, अनुजानाति च वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वम्। तेन मन्यामहे विषयशब्देन विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानं बोद्धाऽनुजानाति, एवमिहापि समानधर्मशब्देन समानधर्माध्यवसायमाहेति।

यथोहित्वा समानमनयोर्धर्ममुपलभ इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति? पूर्वदृष्टविषयमेतत्। यावहमर्थौ पूर्वमद्राक्षं तयोः समानं धर्ममुपलभे

हो सकता है। अतः समानधर्म की अपेक्षा के सिद्धान्ती के न कहने के कारण समानधर्म का ज्ञान है यह सूचित होता है। (यह पूर्वपक्ष का उत्तर लक्षण सूत्र में **'उपपत्ति'** इस शब्द का केवल समानधर्म की सत्ता को मानकर भाष्यकार ने किया है)।

(**अथवा** दूसरा उत्तर पूर्वपक्षी का देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अथवा लक्षण सूत्र में **'समानधर्मोपपत्तेः'** इस समस्तपद में **'उपपत्ति'** पद देने से (पूर्वपक्षी के दिये दोष नहीं हो सकते)। सिद्धान्ती ने संशय के लक्षण सूत्र में 'समानधर्म की उपपत्ति' होने से ऐसा कहा है, जिसका समानधर्म की सत्ता के ज्ञान को छोड़कर दूसरा अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि जिस समानधर्म की सत्ता का ज्ञान नहीं वह समानधर्म अविद्यमान के समान (न रहने के समान) ही होता है, इस दूसरे कारण से भी पूर्वपक्षी के दिये दोनों दोष नहीं हो सकते।

(इसी प्रकार तीसरा उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अथवा (समानधर्म) रूप विषय को कहने वाले शब्द से विषयी (समानधर्म का ज्ञान) भी कहा जाता है। जिस प्रकार 'पर्वत पर धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है' ऐसा कहने पर धूम के दर्शनरूप ज्ञान से अग्नि का अनुमान किया जाता है ऐसा जाना जाता है। (प्रश्न)—कैसे (उत्तर)—धूम को देखकर पश्चात् पर्वत पर अग्नि का अनुमान करता है विना देखे नहीं ऐसा कहा जाता है। 'धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है' इस वाक्य में दर्शन (देखकर) यह शब्द सुनने में नहीं आता, और इस वाक्य से अर्थ का ज्ञान होता है यह तो माना जाता है। इस कारण हम जानते हैं कि विषय (धूम) इस शब्द से विषयी, धूम के प्रत्यक्ष ज्ञान का उक्त वाक्य में ग्रहण होता है, ऐसा उक्त वाक्य के अर्थ को जानने वाला समझता है। इसी प्रकार यहाँ भी समानधर्मरूप विषयबोधक शब्द से विषयी समानधर्म का ज्ञान लिया जाता है ऐसा लक्षण सूत्र का आशय होने से पूर्वपक्षी के पूर्वोक्त दोनों दोष नहीं हो सकते।

और जो पूर्वपक्षी ने द्वितीय आशय से ऊहित्वा (तर्क से यह भी कहा था कि)—'इन दोनों (वृक्ष एवं पुरुष) का मैं समान (ऊंचाई) रूप धर्म को जानता हूँ—प्राप्त करता हूँ। इस प्रकार ऊंचाई रूप धर्म तथा वृक्ष और पुरुष रूप दो धर्मियों का ग्रहण (ज्ञान) होने पर संशय नहीं हो सकता' यह तो पूर्वकाल में देखे हुए के विषय में है। अर्थात् जिन दोनों (वृक्ष तथा पुरुष रूप) पदार्थों को मैंने पूर्वकाल में देखा था उन दोनों के ऊंचाईरूप समानधर्म को

विशेषं नोपलभ इति, कथं नु विशेषं पश्येयं येनान्यतरमवधारयेयमिति। न चैतत् समानधर्मोपलब्धौ धर्मधर्मिग्रहणमात्रेण निवर्तत इति।

यच्चोक्तं नार्थान्तराध्यवसायादन्यत्र संशय इति ? यो ह्यर्थान्तराध्यवसायमात्रं संशयहेतुमुपाददीत स एवं वाच्य इति।

यत्पुनरेतत्कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति ? कारणस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ कार्यकारणयोः सारूप्यम्: यस्योत्पादाद्यदुत्पद्यते यस्य चानुत्पादाद्यन्नोत्पद्यते तत्कारणं कार्यमितरदित्येतत्सारूप्यम्, अस्ति च

प्राप्त कर रहा हूँ (जान रहा हूँ) किन्तु उनके हस्तपद, शाखा आदि विशेष धर्मों को दूरता के कारण नहीं पा रहा हूँ, इस प्रकार कैसे इन दोनों के विशेषधर्म को देखूं जिससे दोनों (वृक्ष तथा पुरुष) में से एक का निश्चय करूं। यह संशय ऊंचाईरूप समानधर्म के ज्ञान होने पर पूर्वपक्षी के कहे हुए धर्म तथा धर्मी के केवल ज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता (आगे पूर्वपक्षी के प्रथम सूत्र के भाष्य में कहे हुए पूर्वपक्षी के संशय कारण करने वाले तृतीय हेतु का अनुवाद कर खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि —) और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि)—"रूप से भिन्न होने के कारण स्पर्श के ज्ञान से जिस प्रकार रूप में संशय नहीं होता, उसी प्रकार समानधर्म के ज्ञान से समानधर्म से भिन्न धर्मों में संशय नहीं हो सकता" वह भी कहना अनुचित है क्योंकि जो दूसरे पदार्थ के केवल अध्यवसाय (ज्ञान) को उससे भिन्न पदार्थ में संशय होने का कारण मानता हो उसे पूर्वपक्षी ऐसी आपत्ति दे सकता है। (हम तो ऐसा नहीं ही मानते) ऐसा पूर्वपक्षी के तृतीय हेतु का खण्डन है। और जो पूर्वपक्षी के मत से चतुर्थ संशय के खण्डन का निमित्त दिखाया था कि निश्चयरूप (कारण) ज्ञान से अनिश्चय ज्ञानरूप संशय कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि कारण तथा कार्य में समानरूपता नहीं है" उसमें कारण के होने से कार्य का होना, तथा न होने से न होना यही कार्य तथा कारण की समानरूपता होती है। अर्थात् जिस (कारण) के उत्पन्न होने से जो (कार्य) उत्पन्न होता है और जिस (कारण) के उत्पन्न न होने से जिस (कार्य) की उत्पत्ति नहीं होती वह कारण होता है, उससे भिन्न कार्य होता है, यही कार्य एवं कारण की समानरूपता होती है। संशय के विशेषधर्मज्ञान की अपेक्षा करने वाले समानधर्मज्ञान आदि कारण तथा संशय ज्ञानरूप कार्य में ऐसी समानता वर्तमान ही है (अतः पूर्वपक्षी का चतुर्थ हेतु जिससे संशय का खण्डन हो जाता है असंगत है)॥ (यहां पर कुछ विद्वानों के मत से भाष्यकार ने उपरोक्त दो प्रकार से कार्य तथा कारण की समानरूपता दिखाई है—(१) कारण की सत्ता तथा असत्ता से कार्य की सत्ता तथा असत्ता यह प्रथम समानरूपता है। (२) और कारण की उत्पत्ति से कार्य की उत्पत्ति, एवं कारण की अनुत्पत्ति से कार्य की उत्पत्ति न होना ऐसी दूसरी कार्य एवं कारण की समानता कही है। किन्तु वस्तुतः प्रथमपक्ष ही की भाष्यकार ने स्वयं व्याख्या की है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है)॥ (किन्तु वार्तिककार के मत में तो विशेषधर्म का निश्चय न होना ही संशयरूप कार्य और उसके समान धर्मज्ञानादि कारणों की समानरूपता है। क्योंकि यदि भाष्यकार के मत से उत्पत्ति होना ही कार्य तथा कारण की समानता मानी जाय, तो आकाशादि नित्यद्रव्यों में वह समानरूपता नहीं बन सकने से उनमें कारणता न हो सकेगी, यही भाष्यकार के मत पर वार्तिककार की अश्रद्धा (श्रद्धा न होने का) बीज है॥ (आगे पूर्वपक्षी ने 'विशेषधर्म' के भी ज्ञान से संशय

संशयकारणे संशये चैतदिति। एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति प्रतिषेधः परिहृत इति।

यत्पुनरेतदुक्तं 'विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च न संशय' इति ? *पृथक्प्रवादयोर्व्याहतमर्थमुपलभे विशेषं च न जानामि नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयम्, तत्कोऽत्र विशेषः स्याद्येनैकतरमवधारयेयमिति संशयो विप्रतिपत्तिजनितोऽयं न शक्यो विप्रतिपत्तिसम्प्रतिपत्तिमात्रेण निवर्त्तयितुमिति।* एवमुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थाकृते संशये वेदितव्यमिति।

यत्पुनरेतद्विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेरिति ? *विप्रतिपत्तिशब्दस्य योऽर्थः—तदध्यवसायो विशेषापेक्षः संयहेतुस्तस्य च समाख्यान्तरेण न निवृत्तिः।* समानेऽ-

---

होता है केवल उसकी सत्ता से नहीं 'ऐसा समानधर्म के समान विशेषधर्म से भी संशय नहीं हो सकता' ऐसी जो समानता सूत्र में दिखाई थी, उसकी भी समानरूप ही से खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसी समानधर्म से संशय होने की युक्ति से पूर्वपक्षी का विशेषधर्म को लेकर खण्डन करने का पक्ष खण्डित हो जाता है, क्योंकि समानधर्मज्ञान के समान उपरोक्त युक्तियों से विशेषधर्म के ज्ञान से भी सिद्धान्ती का संशय का लक्षण हो सकता है ॥ (इस प्रकार दो प्रकार के संशय के लक्षण की सिद्धि दिखाकर तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम लक्षणों से भी संशय की सिद्धि होती है यह दिखाते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के उनके विषय के आक्षेप का अनुवाद कर उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि)—जो यह पुनः पूर्वपक्षी ने कहा था कि—"पूर्व में विप्रतिपत्ति के संप्रतिपत्ति होने के कारण तथा उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था कि—ज्ञान से संशय होने के कारण केवल उनके रहने से संशय नहीं होता ऐसा" उसके क्रम से उत्तर यह है कि विरुद्ध दो प्रकार के 'आत्मा है तथा नहीं है' इन दो प्रवाद (मतों) में अस्तित्व (होना) तथा नास्तिता (न होना) रूप आत्मा में विरुद्धधर्म को जान रहा हूँ, किन्तु उन दोनों में से एक 'आत्मा है तथा नहीं है' ऐसे एक मत का साधक मुझे कोई विशेष धर्म का ज्ञान नहीं है (अर्थात् नहीं प्राप्त कर रहा हूँ जिससे दो में से एक पक्ष का निश्चय करूं कि आत्मा है अथवा नहीं। तो इन दोनों पक्षों में से एक पक्ष को सिद्ध करने वाला ऐसा कौन सा विशेष धर्म होगा, ऐसा 'आत्मा है तथा नहीं है' इस प्रकार की दो विप्रतिपत्ति (विरुद्धपक्षों) से उत्पन्न भया हुआ संशयरूप अर्थ केवल 'विप्रतिपत्ति के ज्ञान से समीप रहने वाले तीसरे पुरुष को उसे संप्रतिपत्ति (यथार्थज्ञान) मानकर पूर्वपक्षी ने दिये हुए संशय के न हो सकने का दोष नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्थाओं से उत्पन्न होने वाले संशय के विषय में भी पूर्वपक्षी के मत का खण्डन जान लेना चाहिये। (आगे **विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः'** विप्रतिपत्ति के भी संप्रतिपत्ति होने से इस तृतीय सूत्र में पूर्वपक्षी ने दिखाये हुए पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार अनुवाद करते हैं कि)—जो यह "विप्रतिपत्ति के भी यथार्थ ज्ञान के कारण वह संप्रतिपत्ति होने से यदि सिद्धान्ती विप्रतिपत्ति से संशय मानता है तो संप्रतिपत्ति से ही संशय होता है ऐसा उसका मत होगा" यह कहा था, उसका उत्तर यह है कि **'विप्रतिपत्ति'** इस शब्द का जो विरुद्धपक्षरूप अर्थ है उसका ज्ञानविशेष धर्म के ज्ञान की अपेक्षा रखता हुआ संशय का कारण होता है। उसकी **'संप्रतिपत्ति'** ऐसी दूसरी संज्ञा (नाम) करने से संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि एक आधार आत्मा में विरुद्ध 'है तथा नहीं है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो पक्षों को

धिकरणे व्याहतार्थौ प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः, तदध्यवसायश्च विशेषापेक्षः संशयहेतुः। न चास्य सम्प्रतिशब्दे समाख्यान्तरे योज्यमाने संशयहेतुत्वं निवर्तते। तदिदमकृतबुद्धिसम्मोहनमिति।

यत्पुनः 'अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थाया' इति? *संशयहेतोरर्थस्याप्रतिषेधादव्यवस्थाभ्यनुज्ञानाच्च निमित्तान्तरेण शब्दान्तरकल्पना व्यर्था।* शब्दान्तरकल्पना अव्यवस्था खलु अव्यवस्था न भवत्यव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वादिति। नानयोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः सदसद्विषयत्वं विशेषापेक्षं संशय-

---

विप्रतिपत्ति कहते हैं। उनका विशेषधर्म ज्ञान की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान संशय का कारण होता है। इस प्रकार इस विप्रतिपत्ति शब्द की **'संप्रतिपत्ति'** ऐसी दूसरी संज्ञा करने से (दूसरा नाम रखने से) वह (विप्रतिपत्ति) संशय की कारण नहीं है यह नहीं हो सकता। अतः ऐसा पूर्वपक्षी का दूसरे नाम की योजना कर संशय का खण्डन करना न जानने वाले मूर्खों को केवल मोहित करना है, अतः तीसरे सूत्र का पूर्वपक्ष भी अनुचित है। (अर्थात् "विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है मतभेद, उसके ज्ञान से जो विशेषधर्मज्ञान की अपेक्षा रखता है, संशय उत्पन्न होता है यह विना विवाद के सिद्ध होने के कारण **'विप्रतिपत्ति'** इस शब्द का **'संप्रतिपत्ति'** ऐसा दूसरा नाम रखकर जो पूर्वपक्षी ने संशय का खण्डन किया था वह नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त विरुद्ध दोनों मतों में से अपना-अपना मत वादी तथा प्रतिवादी को **'संप्रतिपत्ति'** यथार्थज्ञान रूप होने पर भी तीसरे समीप बैठे हुए सुनने वाले पुरुष के लिये (आत्मा है तथा नहीं है) ऐसे दोनों मत विप्रतिपत्ति (विरुद्धज्ञान) रूप नहीं हैं" यह भाष्यकार का गूढ आशय है॥ (आगे **'अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थाया'** अव्यवस्था के अपने स्वरूप में व्यवस्थित होने के कारण संशय नहीं हो सकता, इस प्रकार पूर्वपक्षी के चतुर्थ सूत्र के आक्षेप के विषय में भाष्यकार उसका अनुवाद कर खण्डन करते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ने "उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था (व्यवस्था न होना) अपने अव्यवस्था के स्वरूप में व्यवस्थित (व्यवस्थायुक्त) होने के कारण व्यवस्था होने से भी अव्यवस्था से भी सिद्धान्ती के कहे चतुर्थ एवं पञ्चम संशय के लक्षण नहीं हो सकते" ऐसा कहा था, उसका उत्तर ऐसा है कि संशय के कारण अव्यवस्था रूप अर्थ का निषेध न करने, तथा अव्यवस्था के स्वीकार करने के भी कारण दूसरे निमित्त से दूसरे शब्द की कल्पना (पूर्वपक्षी करता है) किन्तु अव्यवस्था इस शब्द में **'व्यवस्था'** इस दूसरे शब्द की कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि जो अव्यवस्था इस नाम से (व्यवस्था न होना) प्रसिद्ध है उसके अव्यवस्थारूप अपने स्वरूप में निश्चित होने के कारण वह व्यवस्था नहीं हो सकती। इस कारण उस (अव्यवस्था) का **'व्यवस्था'** यह जो दूसरा नाम पूर्वपक्षी ने किया है वह सर्वथा व्यर्थ ही है। क्योंकि उक्त उपलब्धि तथा अनुपलब्धि दोनों का सत् (यथार्थ) तथा असत् (मिथ्या) विषयों में होना, विशेषधर्म के दर्शन की अपेक्षा रखता हुआ संशय का कारण नहीं होता ऐसा प्रतिवादी (पूर्वपक्षी) निषेध करता है, किन्तु जिस कारण अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थायुक्त है ऐसा कहने से वह अपने (अव्यवस्था) के स्वरूप को नहीं छोड़ सकती, इस कारण पूर्वपक्षी ने अव्यवस्था को मान लिया है। अतः पूर्वपक्षी द्वारा की हुई यह अव्यवस्था एवं में व्यवस्थारूप दूसरे शब्द की कल्पना से यह कोई दूसरे विषय को सिद्ध नहीं कर सकती, अर्थात् अव्यवस्था शब्द का व्यवस्था नाम रखने से वह संशय की कारण नहीं है यह सिद्ध नहीं कर सकती॥ (आगे अन्तिम

हेतुर्न भवतीति प्रतिषिध्यते यावता चाऽव्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थिता न तावताऽऽत्मानं जहाति, तावता ह्यनुज्ञाताऽव्यवस्था। एवमियं क्रियमाणापि शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साधयतीति।

यत्पुनरेतत् 'तथाऽत्यन्तसंशयः तद्धर्मसातत्योपपत्तेः' इति, नायं समानधर्मादिभ्य एव संशयः। किं तर्हि? तद्विषयाध्यवसायाद् विशेषस्मृतिसंहितादित्यतो नात्यन्तसंशय इति। अन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशय इति? तन्न युक्तं *विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति वचनात्*। विशेषश्चान्यतरधर्मो न तस्मिन्नध्यवसीयमाने विशेषापेक्षा सम्भवतीति ॥ ६ ॥

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

पांचवें सूत्र से पूर्वपक्षी के दिये संशय सदा होने लगेगा इस दोष का खण्डन पूर्वपक्षी के मत का अनुवाद कर भाष्यकार ऐसा करते हैं कि)—पूर्वपक्षी ने जो—"उन समानधर्म आदि संशय के कारणों के सर्वदा वर्तमान होने के कारण अत्यन्त (सदा) संशय होने लगेगा" ऐसा कहा था, उसका उत्तर यह है कि यह केवल समानधर्म आदिकों के रहने से ही संशय नहीं होता। (प्रश्न)—तो किससे होता है—(उत्तर) (विशेष धर्मों के स्मरण से सहित)—उन समानधर्म आदि संशय कारणों के ज्ञान से संशय होता है, इस कारण सदा संशय न होगा, क्योंकि विशेष धर्म का ज्ञान होने पर संशय न रहेगा। (तथा पूर्वपक्षी ने प्रथम सूत्र में यह जो कहा था कि "दो में से किसी एक धर्म के वर्तमान होने से ही संशय नहीं होता, किन्तु उसके ज्ञान से होता है" ऐसा पूर्वपक्षी का कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि विशेषधर्म के ज्ञान की अपेक्षा करने वाले विमर्श (विरुद्धकोटि के ज्ञान को) संशय कहते हैं ऐसा संशय के लक्षण सूत्र में सिद्धान्ती के मत से कहा गया है। जिसमें दो में से (एक के धर्म को विशेषधर्म ऐसा कहते हैं, उसका निश्चय होने पर विशेषधर्म के दर्शन की अपेक्षा न होने के कारण संशय नहीं रह सकता अतः इस पूर्वपक्षी का कहना असंगत है ॥ ६ ॥

अतः उपरोक्त प्रकार से संशय पदार्थ का खण्डन करना अनुचित है, इस आशय से सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ=यत्र = जिसमें (जिस प्रमाणादि पदार्थों की परीक्षा में) संशयः = संदेह हो, तत्र तत्र = उस उस का परीक्षा में, प्रतिवादी द्वारा संशय का निषेध करने पर, उत्तरोत्तरप्रसङ्गः = समाधान करना है ॥ ७ ॥

भावार्थ=संशय के समान जिस-जिस शास्त्र अथवा कथा में सन्देहपूर्वक परीक्षा की जाय उसमें प्रतिवादी के संशय का निषेध करने पर समाधान करना चाहिये, इसी कारण सबसे प्रथम संशय की ही सूत्रकार ने परीक्षा की है। (इस सूत्र का आगे दिखाए अनुसार भाष्यकार ने यथाश्रुत अर्थ का स्पष्टीकरण किया है किन्तु परिशुद्धिकार उदयनाचार्य ने 'जिस पदार्थ के विषय में सन्देह हो उसी की परीक्षा करनी उपयुक्त है, प्रयोजनादि पदार्थों की उनसे किसी का संशय न होने के कारण परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। अथवा **'यत्र यत्र संशय'** इस समान उक्ति से प्रयोजनादिकों की भी परीक्षा हो सकती है, क्योंकि जहां कहीं संशय हो वहां उत्तर उत्तर प्रसङ्ग करना, अर्थात् आगे-आगे प्रयोजनादि पदार्थों में भी इसी प्रकार प्रसङ्ग करना चाहिये' ऐसा इस सूत्र का भाव प्रगट किया है) ॥ ७ ॥

यत्रयत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, तत्रतत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्य इति अतः सर्वपरीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति ॥ ७ ॥

इति सप्तभिः सूत्रैः संशयपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथ प्रमाणपरीक्षा—

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥

(सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस-जिस स्थल में शास्त्र अथवा वादादि कथाओं में संशयपूर्वक परीक्षा हो, उस-उस स्थल में संशय का प्रतिवादी के निषेध करने पर समाधान कहना चाहिये। इसी कारण संपूर्ण परीक्षाओं में व्यापक होने के कारण ही संशय की प्रथम परीक्षा की है ॥ ७ ॥

(२) प्रमाण सामान्यपरीक्षा प्रकरण

(इस प्रकार सम्पूर्ण परीक्षाओं में आवश्यक होने के कारण (संशय की परीक्षा करने के पश्चात् षोडश पदार्थों में प्रथम प्रमाण परीक्षा करने वाले सूत्रकार के आक्षेप सूत्र की अवतरणिका देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अब (संशय की परीक्षा के पश्चात्) प्रमाण पदार्थ की परीक्षा की जाती है—(यद्यपि यहां पर आर्थिक क्रम से संशय की परीक्षा करने में उद्देश के क्रम में बाध आ जाता है। किन्तु प्रमाणादिकों में तो बाध का कारण न होने से उद्देश के क्रम के अनुसार प्रमेयादि पदार्थों के पूर्व में प्रमाणों की ही परीक्षा करना उचित है। उसमें भी प्रथम प्रमाणों के सामान्य लक्षण की परीक्षा की जाती है, क्योंकि सामान्य लक्षण पूर्वक ही उनके विशेष लक्षणों की परीक्षा करना उचित है जिसमें **'उपलब्धि साधनं प्रमाणम्'** ज्ञान के साधन प्रमाण होते हैं यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सामान्य लक्षण है, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों में रहता है) (उसमें पूर्वपक्षी के मत से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रमाण होने पर आपत्ति दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षादीनां = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द में, अप्रमाण्यं = प्रमाणता नहीं हो सकती, त्रैकाल्यासिद्धेः = उनके प्रमेय पदार्थों के पूर्व, उत्तर तथा समान काल ऐसी त्रिकाल में सिद्धि न होने से ॥ ८ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती के माने हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ये चारों प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि इससे सिद्ध होने वाले प्रमेय पदार्थों के पूर्व, उत्तर तथा समान काल में ये सिद्ध न हो सकने के कारण त्रिकाल में सिद्धि नहीं हो सकती ॥ (यहां माध्यमिक बौद्ध पूर्वपक्षी का यह आशय है—कि यद्यपि काल्पनिक होने से सम्पूर्ण संसार विचार के योग्य नहीं है, अतः हमारे मत में कोई प्रमाण भी विचार योग्य नहीं है, तथापि लोक में प्रसिद्ध जो प्रमाण हैं, उन्हीं से विचार करने पर वे विचार योग्य नहीं ठहरते वह यह प्रमाणों का ही अपराध है जो अपने विरोध से नहीं रह सकते, इसमें हमारा कोई अपराध नहीं है, क्योंकि—प्रत्यक्षादिकों का प्रमाणरूप से व्यवहार नहीं हो सकता, कारण यह कि वे तीनों कालों में पदार्थों का प्रतिपादन नहीं कर सकते, जो ऐसा होता है उसका प्रमाणरूप से व्यवहार नहीं होता जैसा शश (ससे) का सींग वैसा ही यह प्रमाण पदार्थ है, अतः वैसा (प्रमाण) व्यवहार के योग्य नहीं है' ऐसा हम अनुमान द्वारा प्रमाण पदार्थों का संसार से व्यवहार नहीं हो सकता (यह सिद्ध कर सकते हैं) ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं नास्ति, त्रैकाल्यासिद्धेः पूर्वापरसहभावानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अस्य सामान्यवचनस्यार्थविभागः ?—

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

गन्धादिविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तद्यदि पूर्वं, पश्चाद्गन्धादीनां सिद्धिः ? नेदं गन्धादिसन्निकर्षादुत्पद्यत इति ॥ ९ ॥

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥

(अष्टम सूत्र की पूर्वपक्षी के अभिप्राय से शंका दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रत्यक्ष, अनुमानादि सिद्धान्ती के प्रथमाध्याय में कहे हुए प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी प्रमेय (सिद्ध करने योग्य) पदार्थ की त्रिकाल में सिद्धि नहीं हो सकती, (अर्थात् प्रमेय के सिद्धि के पूर्व, पश्चात् तथा साथ में रहना सिद्ध नहीं हो सकता यह पूर्वपक्षि मत के सूत्र का अर्थ है) ॥ ८ ॥

(आगे नवम सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस अष्टम सूत्र में पूर्वपक्षी मत के सामान्य रूप से उक्ति के अर्थ का यह विभाग (व्याख्या) है—

पदपदार्थ—पूर्वं = प्रमेय के पूर्वकाल में, हि = क्योंकि, प्रमाणसिद्धौ = प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि मानने पर, न = नहीं होगी, इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् = इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष से, प्रत्यक्षोत्पत्तिः = प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है ॥ ९ ॥

भावार्थ—"ज्ञान होता है 'प्रमाण' । उसके सम्बन्ध से 'प्रमेय' 'अर्थ' है यह कहा जाता है । अतः यदि प्रत्यक्ष नामक प्रमाण प्रमेय (अर्थ) से पूर्वकाल में उत्पन्न होता है तो प्रमाण से पूर्वकाल में वह पदार्थ न होने के कारण 'इन्द्रिय तथा पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं' ऐसा प्रथम अध्याय में वर्णन किया हुआ सिद्धान्ती का प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता ॥

(नवम पूर्वपक्षी के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—"गन्ध, रूप आदिकों को विषय करने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, वह यदि प्रमेयपदार्थ के पूर्वकाल में हो, और उसके पश्चात् गन्धादि विषयों की सिद्धि होती हो तो वह प्रमाण के पूर्वकाल में गन्धादि विषयों के न होने के कारण इन्द्रिय तथा गन्धरूप विषय के संयुक्तसंयोगरूप सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं हो सकता, इस कारण प्रमेय के पूर्वकाल में प्रमाण को नहीं मान सकते ॥ ९ ॥

(इस प्रकार प्रमेय के पूर्वकाल में प्रमाण के रहने की असम्भावना दिखाने के पश्चात् उत्तरकाल में भी—प्रमाण नहीं रह सकते यह सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ = पश्चात् = प्रमेयपदार्थ के उत्तरकाल में, सिद्धौ = प्रमाण की सत्ता मानने पर, न = न होगी, प्रमाणेभ्यः = प्रत्यक्षादि प्रमाणों से, प्रमेयसिद्धिः = प्रमेय पदार्थ की सिद्धि (न होगी) ॥ १० ॥

भावार्थ = और यदि पूर्वकाल में प्रमेय तथा उत्तरकाल में प्रमाण माना जाय, तो प्रमाण के न होने के कारण किससे जाना हुआ पदार्थ प्रमेय (जानने योग्य) है ऐसा सिद्ध होगा क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जाना गया ही पदार्थ प्रमेय (जानने योग्य) है यह सिद्ध होता है, अतः प्रमाण प्रमेय पदार्थ के उत्तरकाल में भी नहीं माना जा सकता । (अर्थात् यद्यपि प्रमेयपदार्थ का स्वरूप प्रमाण के अधीन नहीं है तथापि उस पदार्थ में प्रमेयता (जानने की विषयता) प्रमाण के

असति प्रमाणे केन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयः स्यात् प्रमाणेन खलु प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमित्येतत्सिध्यति ॥ १० ॥

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥११॥

यदि प्रमाणं प्रमेयं च युगपद्भवतः ? एवमपि गन्धादिष्विन्द्रियार्थेषु ज्ञानानि प्रत्यर्थनियतानि युगपत्सम्भवन्तीति ज्ञानानां प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावः । या इमा बुद्धयः क्रमेणार्थेषु वर्त्तन्ते तासां क्रमवृत्तित्वं न संभवतीति । व्याघातश्च *'युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'* (अ० १ आ० १ सू० १६)

अधीन होने के कारण वह प्रमेय यदि प्रमाण के पूर्वकाल में हो तो उसमें प्रमाण के सम्बन्ध के कारण प्रमेयता न हो सकेगी यह पूर्वपक्षी के सूत्र का अर्थ है, अतः प्रमेय के उत्तरकाल में भी प्रमाण रहते हैं यह सिद्ध न हो सकेगा" ॥ १० ॥

(१० सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से व्याख्या करते हैं कि)—प्रमेय के पूर्वकाल में प्रत्यक्षादि प्रमाण के न रहने पर किससे जाना गया पदार्थ **'प्रमेय'** (जानने योग्य) है यह सिद्ध होगा । क्योंकि प्रमाण से जाना गया हुआ ही पदार्थ **'प्रमेय'** (जानने योग्य) है यह सिद्ध हो सकता है ॥ १० ॥

(इस प्रकार प्रमेय के पूर्व तथा उत्तरकाल में प्रमाण के मानने से दोष दिखाने के पश्चात् एक ही समय में प्रमाण तथा प्रमेय मानने में दोष दिखाते हुए पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—युगपत्सिद्धौ = प्रमाण तथा प्रमेयपदार्थ की एक ही काल में सत्ता मानने पर, प्रत्यर्थनियतत्वात् = प्रत्येक विषय में नियमित न होने के कारण, क्रमवृत्तित्वाभावः = क्रम से होने का अभाव हो जायगा ॥ ११ ॥

भावार्थ—यदि पूर्वकाल तथा पश्चात् काल में प्रमेय से प्रमाण की सत्ता मानने पर (उपरोक्त) दोष आने के कारण प्रमेय तथा प्रमाण दोनों की एक काल में सत्ता मानी जाय तो बुद्धियों (ज्ञानों) के प्रत्येक विषय में नियत होने के कारण, ज्ञान क्रम से होते हैं यह न बन सकेगा" (अर्थात् अनेक विषय के ज्ञान एक काल में होने लगेंगे (अर्थात् एक काल में प्रमेय तथा प्रमाण विषयक ज्ञान होने से प्रत्यक्ष का विरोध होगा क्योंकि एक समय में एक ही विषय का ज्ञान होता है । तथा 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' एक काल में अनेक ज्ञान होना मन का साधक है, इस आशय का सिद्धान्ती में भी विरोध होगा (१।१।१६) ।

(एकादश सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से प्रमाण तथा प्रमेय दोनों एक काल में भी नहीं माने जा सकते, इस आशय से व्याख्या करते हैं कि)—"यदि प्रमाण तथा प्रमेय भी युगपत् (एक काल में) होते हैं तो घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय गन्ध आदिकों के प्रत्येक विषय के ज्ञान भी एक काल में हो सकेंगे इस कारण ज्ञानों के प्रत्येक अपने विषय में नियत होने के कारण ज्ञानों का क्रम से होना न हो सकेगा । अर्थात् जो यह बुद्धियाँ घ्राण आदि (ज्ञान) क्रम से अपने-अपने विषयों में होते हैं वह उन बुद्धियों (ज्ञानों) में क्रम से होना न हो सकेगा, इस कारण (एक काल में प्रमाण तथा प्रमेय की सत्ता नहीं मानी जा सकती । तथा **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'** (१।१।१६) एक काल में अनेक ज्ञान न होना ही भीतरी मनरूप इन्द्रिय का साधक है, इस सिद्धान्ती का मन का लक्षण का विरोध होगा । प्रमाण का पूर्व, उत्तर तथा एक

इति। एतावांश्च प्रमाणप्रमेययोः सद्भावविषयः स चानुपपन्न इति। तस्मात्प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं न सम्भवतीति

अस्य समाधिः—*उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद्यथादर्शनं विभागवचनम्।* क्वचिदुपलब्धिहेतुः पूर्वं, पश्चादुपलब्धिविषयः यथाऽऽदित्यस्य प्रकाश उत्पद्यमानानाम्। क्वचित्पूर्वमुपलब्धिविषयः पश्चादुपलब्धिहेतुः यथाऽवस्थितानां प्रदीपः। क्वचिदुपलब्धिहेतुरुपलब्धिविषयश्च सह भवतः यथा धूमेनाग्नेर्ग्रहणमिति। उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणं, प्रमेयं तूपलब्धिविषयः। एवं प्रमाणप्रमेययोः पूर्वापरसहभावेऽनियतो यथाऽर्थो दृश्यते तथा विभज्य वचनीय इति। तत्रैकान्तेन प्रतिषेधानुपपत्तिः। सामान्येन खलु विभज्य प्रतिषेध उक्त इति।

काल में होना इतना ही प्रमाण तथा प्रमेय के सद्भाव (रहने) का विषय हो सकता है, जो पूर्व दर्शित पूर्वपक्षी के तीनों सूत्रों के अनुसार हो नहीं सकता। इस कारण प्रत्यक्ष आदिकों में प्रमाणता (प्रमाण होने का) सम्भव नहीं हो सकता, अतः सिद्धान्ती का प्रथमाध्याय में वर्णन किया हुआ प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों का प्रमाण होना असम्भव है इस प्रकार पूर्वपक्षी के आक्षेप का आशय है॥"

(सूत्र द्वारा पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान दिखाने के लिये भाष्यकार उक्त उन आक्षेपों का स्वतन्त्ररूप से क्रम से उत्तर देते हैं कि)—इन तीन सूत्रों में कहे हुए पूर्वपक्ष का ऐसा समाधान है—कि उपलब्धि (ज्ञान) के कारण प्रमाण तथा ज्ञान के विषय प्रमेयरूप पदार्थ का भी पूर्वकाल, उत्तरकाल एवं साथ में होने का नियम न होने से जैसा (पूर्वकाल उत्तरकाल, तथा साथ में होना) देखने में आता है वैसा विभाग (पृथक्-पृथक्) कहा जाता है (इस वाक्य को कुछ विद्वान् सूत्र मानते हैं पर इसमें कोई प्रमाण न होने से सूत्र मानना असङ्गत है) क्योंकि किसी स्थल में ज्ञान का कारण प्रमाण प्रमेयपदार्थ के पूर्वकाल में होता है। पश्चात् ज्ञान का विषय प्रमेयपदार्थ होता है, जिस प्रकार उत्पन्न होने वाले पदार्थों के पूर्व में उनको प्रकाशित करने वाला सूर्य का प्रकाश उनके पूर्व में रहता है और किसी स्थल में ज्ञान का विषय प्रमेयपदार्थ पूर्वकाल में रहता है और उत्तरकाल में ज्ञान का साधन प्रमाण रहता है। जैसे अन्धकार में पहिले से रहने वाले घट आदि प्रमेय पदार्थ पूर्वकाल में रहते हैं और पश्चात् वहाँ लाया हुआ ज्ञान का कारण दीपक उत्तर काल में आता है, जिससे घटादि पदार्थ जाने जाते हैं और किसी-किसी स्थल में ज्ञानसाधन प्रमाण तथा ज्ञान का विषय प्रमेय पदार्थ भी, साथ ही में रहते हैं। जिस प्रकार वर्तमान धूमरूप ज्ञान के कारण से वर्तमान ही अग्निरूप प्रमेयपदार्थ का ज्ञान एककाल में होते हैं, जिसमें ज्ञान का साधन प्रमाण तथा ज्ञान का विषय प्रमेयपदार्थ कहा जाता है। इस उपरोक्त तीनों प्रकारों के दिखाई देने के कारण प्रमाण तथा प्रमेय का पूर्व, उत्तर, तथा एककाल में रहने का नियम न होने से जैसा जिस स्थल में उक्त तीनों प्रकारों में से जो प्रकार दिखाई देता है वैसा पृथक्-पृथक् कहना चाहिये, इस कारण पूर्वपक्षी ने उक्त तीनों पक्षों में से एक-एक का नियम मानकर जो दोष दिये हैं वह नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्वपक्षी ने विवेचन न कर सामान्य रूप से निषेध किया है। यहाँ पर भाष्य में **'खलु अविभज्य'** विवेचन न कर, यही पाठ संगत है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने प्रमाणसामान्य तथा प्रमेयसामान्य को लेकर पदार्थों के अवस्थाविशेषों का विचार न कर ही सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध कहा है, अतः भाष्यकार ने यहाँ **'खलु विभज्य'** ऐसा जो पाठ माना है वह असङ्गत समझना

समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात्तथाभूता समाख्या यत्पुनरिदं पश्चात्सिद्धावसति प्रमाणे प्रमेयं न सिध्यति प्रमाणेन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमिति विज्ञायत इति ? प्रमाप्रमाणमित्येतस्याः समाख्याया उपलब्धिहेतुत्वं निमित्तं, तस्य त्रैकाल्ययोगः। उपलब्धिमकार्षीदुपलब्धिं करोति उपलब्धिं करिष्यतीति समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात् समाख्या तथाभूता प्रमितोऽनेनार्थः प्रमीयते प्रमास्यत इति प्रमाणम्। प्रमितं, प्रमीयते, प्रमास्यते इति च प्रमेयम्। एवं सति भविष्यत्यस्मिन् हेतुत उपलब्धिः। प्रमास्यतेऽयमर्थः प्रमेयमिदमित्येतत्सर्वं भवतीति।

त्रैकाल्यानभ्यनुज्ञाने च व्यवहारानुपपत्तिः। यश्चैवं नाभ्यनुजानीयात् तस्य पाचकमानय पक्ष्यति, लावकमानय लविष्यतीति व्यवहारो नोपपद्यत इति।

चाहिये)॥ (आगे बिना व्यापार के प्रमाणादिकों से प्रमेय पदार्थ सिद्ध होता है ऐसा सम्भव न होने के कारण प्रमाणादि शब्दों में त्रिकाल का सम्बन्ध होने से त्रिकालता सिद्ध होती है इस आशय से आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—संज्ञा शब्द के प्रवृत्ति के कारणरूप जाति, गुण तथा द्रव्य में त्रिकाल का सम्बन्ध होने के कारण संज्ञा शब्द भी भिन्नता का सम्बन्ध रखता है (अर्थात् संज्ञा शब्द के प्रवृत्त होने के कारण जाति, गुण तथा द्रव्य उनमें भूत, भविष्य और वर्तमान ऐसे तीनों कालों का सम्बन्ध होने के कारण संज्ञा शब्द भी त्रिकाल का सम्बन्ध रखते हैं, और कारक आदि संज्ञा का तो क्रिया विशेषण होने पर भी केवल क्रिया से प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु क्रिया की कमी से वह शक्ति स्वरूप तथा सहायक सम्बन्ध इन दोनों को छोड़कर दूसरी नहीं होती ऐसा नैयायिकों का मत है)॥ इस प्रकार संज्ञा शब्दों में त्रिकाल के सम्बन्ध को सिद्ध कर क्रम से पूर्वपक्षी के दिए हुए आक्षेपोंका अनुवादपूर्वक खण्डन करते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि "यदि प्रमाण प्रमेय के पश्चात् माने जायँ तो बिना प्रमाणके प्रमेय की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि प्रमाण से जाने वाले पदार्थ को ही प्रमेय कहते हैं, ऐसा जाना जाता है"। इसका उत्तर यह है कि—**'प्रमाणं'** इस संज्ञा का निमित्त है ज्ञान का कारण होना उसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे तीनों कालों का सम्बन्ध है। क्योंकि ज्ञान क्रिया (जाना था), जानता है, जानेगा. इस प्रकार प्रमाण इस समाख्या (संज्ञा) के कारण तीनों कालों का सम्बन्ध होने के कारण **'प्रमाण'** यह संज्ञा भी त्रिकाल के सम्बन्ध को रखती है यह सिद्ध होता है। क्योंकि जिससे पदार्थ जाना गया, जाना जाता है, जाना जायगा इस कारण प्रमाण कहाता है। तथा जाना गया, जाना जाता है, तथा जाना जायगा वह प्रमेय कहाता है। ऐसा होने से इन पदार्थों के कारण (प्रमाण) से उपलब्धि (ज्ञान) होगा, यह पदार्थ जाना जायगा, यह प्रमेय है यह सब व्यवहार हो जाता है, इस कारण पूर्वपक्षी का आक्षेप असङ्गत है)। और उक्त प्रकार से संज्ञा के निमित्त ये त्रिकाल सम्बन्ध के कारण यदि संज्ञा में त्रिकाल का सम्बन्ध न माना जाय तो कोई संसार का व्यवहार न बन सकेगा। जो ऐसा नहीं मानेगा उसके मत में "पाचक (रसोई करने वाले) को बुलाओ, वह रसोई पकावेगा, घास काटने वाले को ले आओ वह घास काटेगा" इत्यादि व्यवहार न बन सकेंगे, इस कारण भी पूर्वपक्षी का आक्षेप अयुक्त है। (आगे के सूत्र के द्वारा त्रिकाल के सम्बन्ध की अनुपपत्ति रूप दिये हुए पूर्वपक्षी का समान उत्तर देने के लिये भाष्यकार भूमिका बांधते हुए कहते हैं कि)—

'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धे' (अ० २ आ० १ सू० ८) रित्येवमादिवाक्यं प्रमाणप्रतिषेधः। तत्रायं प्रष्टव्यः ? अथानेन प्रतिषेधेन भवता किं क्रियत इति ? किं सम्भवो निवर्त्यते अथासम्भवो ज्ञाप्यत इति। तद्यदि सम्भवो निवर्त्यते सति सम्भवे प्रत्यक्षादीनां प्रतिषेधानुपपत्तिः, अथाऽसम्भवो ज्ञाप्यते ? प्रमाणलक्षणप्राप्तस्तर्हि प्रतिषेधः प्रमाणासम्भवस्योपलब्धिहेतुत्वादिति ॥ ११ ॥

किं चातः ?

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

अस्य तु विभागः। पूर्वं हि प्रतिषेधसिद्धावसति प्रतिषेध्ये किं तेन प्रतिषिध्यते। पश्चात् सिद्धौ प्रतिषेध्यासिद्धिः प्रतिषेधाभावादिति। युगपत्सिद्धौ प्रतिषेध्यसिद्ध्यभ्यनुज्ञानादनर्थकः प्रतिषेध इति। प्रतिषेधलक्षणे च वाक्येऽनुपपद्यमाने सिद्धं प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वमिति ॥ १२ ॥

"पूर्वपक्षी का "त्रिकाल सम्बन्ध की असिद्धि के कारण प्रत्यक्षादिक प्रमाण नहीं हैं" इत्यादि वाक्य प्रमाणों का निषेधरूप है। उसमें पूर्वपक्षी को हमारा यह प्रश्न है—कि इस निषेध के द्वारा आप क्या करना चाहते हैं, क्या प्रत्यक्षादि प्रमाणों के हो सकने का निषेध करना चाहते हैं। अथवा असम्भव (न हो सकना) जानते हैं। यदि प्रथम पक्ष से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के हो सकने का निषेध करना चाहते हैं तो उनका सम्भव रहते प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सर्वथा निषेध नहीं हो सकता। और यदि द्वितीय पक्ष से प्रत्यक्षादिकों का असम्भव है यह जनाना चाहते हैं तो आपका निषेध भी प्रमाणों के लक्षण (स्वरूप) में आ जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षादिकों में प्रमाण का असम्भव उपलब्धि (प्रत्यक्षादि प्रमाण के ज्ञान) का कारण है ॥ ११ ॥

(प्रश्न)—इससे (इस सिद्धान्ती के कथन से) क्या हुआ ?" (तो इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि)—

पदपदार्थ—त्रैकाल्यासिद्धेः = त्रिकाल सम्बन्ध के न होने के कारण, प्रतिषेधानुपपत्तिः = पूर्वपक्षी का निषेध नहीं बन सकता ॥ १२ ॥

भावार्थ—क्योंकि पूर्वपक्षी प्रतिषेधरूप प्रमाण पूर्व में हो तो विना निषेध के किसका निषेध किया जायगा। यदि प्रतिषेध पश्चात् माना जाय तो प्रतिषेध के न होने के कारण प्रतिषेध योग्य (प्रत्यक्षादिकों का अप्रमाण होना) न बन सकेगा। और यदि प्रतिषेधरूप प्रमाण तथा प्रतिषेध योग्य (प्रत्यक्षादिकों का प्रमाण न होना) दोनों एक काल में माने जांय तो प्रतिषेध योग्य (प्रत्यक्षादि प्रमाणों के मानने के कारण पूर्वपक्षी का निषेध करना व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी के 'प्रत्यक्षादि' प्रमाण नहीं हो सकने में 'काल की सिद्धि न होने के कारण' इस वाक्य की सिद्धि न होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं यह सिद्ध हो जाता है ॥ १२ ॥

(१२ वें सिद्धान्ती के पक्ष के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस सिद्धान्ती के सूत्र की ऐसी व्याख्या है कि यदि पूर्वपक्षी का प्रतिषेधरूप प्रमाण पूर्वकाल में हो तो निषेध के योग्य न होने के कारण किस का निषेध किया जायगा। यदि निषेध, निषेध योग्य के पश्चात् उत्तरकाल में हो तो निषेधरूप प्रमाण के न होने से, प्रतिषेध योग्य (प्रत्यक्षादिकों की अप्रमाणता) की सिद्धि न हो सकेगी और यदि निषेध तथा निषेध योग्य एककाल में ही माने जांय तो निषेध योग्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों को मानने के कारण पूर्वपक्षी का निषेध व्यर्थ हो जायगा।

कथम् ?

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥

त्रैकाल्यासिद्धिरित्यस्य हेतोर्यद्युदाहरणमुपादीयते हेत्वर्थस्य साधकत्वं दृष्टान्ते दर्शयितव्यमिति, न च तर्हि प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम्। अथ प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम्? उपादीयमानमप्युदाहरणं नार्थं साधयिष्यतीति सोऽयं सर्वप्रमाणव्याहतो हेतुरहेतुः *सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः* (अ० १ आ० २ सू० ६) इति। वाक्यार्थो ह्यस्य सिद्धान्तः। स च वाक्यार्थः प्रत्यक्षादीनि नार्थं साधयन्तीति इदं चावयवानामुपादानमर्थस्य साधनायेति। अथ नोपा-

---

इस प्रकार 'प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हो सकते' इस वाक्य के न बनने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षादि चार प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

इसी प्रकार दूसरा दोष दिखाते हुए पूर्वपक्षी को सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सर्वप्रमाणप्रतिषेधात् च = और सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध करने से, प्रतिषेधानुपपत्तिः = पूर्ववक्षी का निषेध नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी के कहे हुए **'त्रैकाल्यासिद्धि'** रूप इस हेतु की सिद्धि के लिये उदाहरण यदि पूर्वपक्षी दे तो प्रत्यक्षादि अप्रमाण नहीं हो सकेंगे। और यदि प्रत्यक्षादि अप्रमाण हो तो लिया हुआ भी प्रत्यक्षरूप उदाहरण निषेधरूप अर्थ को सिद्ध न कर सकेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी का अपने पक्ष की सिद्धि के लिये दिया हुआ त्रैकाल्यासिद्धिरूप हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण विरुद्ध नामक हेत्वाभास (दुष्ट हेतु) हो जायगा यह सिद्धान्त सूत्र का आशय है ॥ १३ ॥

(१३वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—(सम्पूर्ण प्रमाणों के निषेध से पूर्वपक्षी के मत में निषेध) (प्रश्न)—कैसे नहीं बनेगा ? (उत्तर)—जिस कारण पूर्वपक्षी ने अपने पक्ष को सिद्धि के लिये जो **'त्रैकाल्यासिद्धि'** ऐसा हेतु दिया है उसका उदाहरण देता है तो उक्त हेतु के अर्थ का सिद्ध होना उसे दृष्टान्त में दिखाना होगा (जो दृष्टान्त प्रत्यक्षप्रमाणरूप होता है)। और ऐसा होने से प्रत्यक्षादिक अप्रमाण न होंगे। और यदि वह प्रत्यक्षादिकों को प्रमाण नहीं मानता तो अपना पक्षसिद्ध होने के लिये दिया हुआ भी उदाहरण (प्रत्यक्षप्रमाणरूप होने से 'प्रत्यक्षादिकों की अप्रमाणता' रूप अर्थ की सिद्धि न कर सकेगा। वह यह सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों के व्याहत (विरोधयुक्त) होने के कारण **'त्रैकाल्यासिद्धि'** रूप पूर्वपक्षी का हेतु अहेतु (दुष्टहेतु) हो जायगा अर्थात् जो **'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (१।२।६)** इस सूत्र में हेत्वाभास के प्रकरण में कहा हुआ विरुद्ध नामक हेत्वाभास होने की आपत्ति आ जायगी। क्योंकि वाक्य का अर्थ ही सिद्धान्त है, और वह वाक्य का प्रकृत में अर्थ है **'प्रत्यक्षादिक प्रमाण अर्थ की सिद्धि नहीं करते'** (अर्थात् प्रमाण अर्थ की सिद्धि नहीं करते यह वाक्य पूर्वपक्षी का सिद्धान्तवाक्य है। इसी की सिद्धि के लिये पूर्वपक्षी ने प्रतिज्ञादि पांच वाक्यों का प्रयोग दिखाया है। जिनमें प्रत्येक वाक्य अपने-अपने अर्थ के बोधक होने के कारण प्रमाण होते हैं। इस प्रकार भी अवयव वाक्यों का अपना सिद्धान्त सिद्ध करने के लिये कथन करने पर भी उपरोक्त रीति से विरुद्ध नामक हेत्वाभास हो जाता है) (इसी आशय की भाष्यकार पुष्टि करते हुए आगे कहते हैं कि)—यह पूर्वपक्षी का प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों का ग्रहण करना पूर्वपक्षी के सिद्धान्त की

दीयते ? अप्रदर्शितहेत्वर्थस्य दृष्टान्ते न साधकत्वमिति निषेधो नोपपद्यते हेतुत्वासिद्धेरिति ।। १३ ।।

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ।। १४ ।।

प्रतिषेधलक्षणे स्ववाक्ये तेषामवयवाश्रितानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्येऽभ्यनुज्ञायमाने परवाक्येऽप्यवयवाश्रितानां प्रामाण्यं प्रसज्यते अविशेषादिति । एवं च न सर्वाणि प्रमाणानि प्रतिषिध्यन्त इति । विप्रतिषेध इति वीत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे न व्याघाते, अर्थाभावादिति ।। १४ ।।

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ।। १५ ।।

पुष्टि करने के लिए है । और यदि वह प्रतिज्ञादि अवयवों का ग्रहण नहीं करता तो दृष्टान्त में जिस **'त्रैकल्यासिद्धि'** रूप हेतु का अर्थ नहीं दिखाया ऐसे इस हेतु से उसका 'प्रत्यक्षादिक प्रमाण नहीं होते' यह अर्थ सिद्ध नहीं होने के कारण प्रमाणसामान्य का निषेध भी नहीं बन सकता, क्योंकि **'त्रैकाल्यासिद्धि'** में हेतु का लक्षण ही नहीं आता । अर्थात् पूर्वपक्षी के **'त्रैकाल्यासिद्धि'** रूप हेतु में उदाहरण के बल से सामर्थ्य न होने के कारण वह पूर्वपक्षी सम्पूर्ण प्रमाणों का खण्डन नहीं कर सकता ।। १३ ।।

(यदि पूर्वपक्षी अपने उपरोक्त वाक्य को प्रमाण माने, जिससे प्रत्यक्षादिप्रमाण सिद्ध न हो तो सूत्रकार उत्तर देते हैं कि)—

पदपदार्थ—तत्प्रामाण्ये वा = अथवा अपने प्रतिज्ञादि अवयवसमूहरूप वाक्य को पूर्वपक्षी प्रमाण माने, न = नहीं होगा, सर्वप्रमाणप्रतिषेधः = सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध सिद्ध न होगा ।।१४।।

भावार्थ—प्रत्यक्षादिक प्रमाण नहीं हैं इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने वाला पूर्वपक्षी यदि प्रतिज्ञादि पांच अवयवों में वर्तमान प्रत्यक्षादिकों को प्रमाण माने तो सिद्धान्ती के वाक्य के भी प्रतिज्ञादि पांच अवयवों में वर्तमान प्रत्यक्षादि समानता होने के कारण प्रमाण मानना पड़ेगा । ऐसा होने से सम्पूर्ण प्रमाणमात्र का निषेध सिद्ध न होगा । अतः पूर्वपक्षी का प्रमाण सामान्य का खण्डन करना अयुक्त है ।। १४ ।।

(१४ चतुर्दशसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है इस निषेधरूप अपने वाक्य समूह में उनके अवयवों को आश्रित करने वाले (उनमें रहने वाले) प्रत्यक्षादिकों को यदि पूर्वपक्षी माने तो पर (दूसरे सिद्धान्ती) के भी प्रतिज्ञा पांच अवयवों में वर्तमान भी प्रत्यक्षादिकों को प्रमाण मानना होगा, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है । और ऐसा होने से सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध न हो सकेगा । यहां सूत्र में **'विप्रतिषेधः'** इस पद में **'वि'** यह उपसर्ग सम्पूर्ण प्रमाणों के निषेध का यथार्थ ज्ञान होना इस अर्थ का बोधक है न कि व्याघात (विरोध) रूप अर्थ का बोधक है, क्योंकि उससे कोई प्रयोजन नहीं निकलता (अर्थात्) विशेष रूप से सम्पूर्ण प्रमाणों का **'निषेध'** यह कहना ही विप्रतिषेध शब्द का अर्थ है । कुछ प्रमाणों को पूर्वपक्षी मानता है, और कुछ प्रमाणों का निषेध करता है यह उचित नहीं है (अर्थात्) प्रमाण का निषेध करने वाले माध्यमिक पूर्वपक्षी को यह उचित नहीं है ।। १४ ।।

(आगे त्रैकाल्यासिद्धिरूप पूर्वपक्षी के हेतु का सूत्रकार स्वयं खण्डन करते हैं कि—)

पदपदार्थ=त्रैकाल्याप्रतिषेधः च = और भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे तीन कालों का

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? पूर्वोक्तनिबन्धनार्थम् । यत्तावत्पूर्वोक्तमुपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभागवचनमिति, तदितः समुत्थानं यथा विज्ञायेत । अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेधं प्रयाचष्टे ।

त्रैकाल्यस्य चायुक्तः प्रतिषेध इति । तत्रैकां विधामुदाहरति *शब्दादातोद्यसिद्धिवदिति* । यथा पश्चात्सिद्धेन शब्देन पूर्वसिद्धमातोद्यमनुमीयते । साध्यं

प्रमाणों में निषेध भी नहीं हो सकता, शब्दात् = ध्वनिरूप शब्द से, आतोद्यसिद्धिवत् = बाजे से सत्ता की सिद्धि के समान कार्य प्रमेय पदार्थ से प्रमाणरूप कारण की सिद्धि होने से ॥ १५ ॥

भावार्थ=पूर्वकाल में प्रमाण की सत्ता मानने से उससे प्रमेय कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती, यह पूर्वपक्षी का कहना अयुक्त है, क्योंकि बाजे के पहिले रहते भी उसकी उससे उत्पन्न हुए ध्वनिरूप शब्द से जैसे सिद्धि होती है उसी प्रकार पूर्वकाल में वर्तमान प्रमाण से भी प्रमेय की सिद्धि हो सकती है ॥ १५ ॥

(१५ वें सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हुए पूर्व ११ वें सूत्र के भाष्य में कहे हुए इस विषय को पुनः इस सूत्र द्वारा कहने की क्या आवश्यकता है, इस आशय से प्रश्नकर उत्तर करते हुए कहते हैं । (प्रश्न)—यह यहाँ पर पुनः क्यों कहा जाता है । (अर्थात् ११ वें सूत्र के भाष्य में **'अस्य समाधिः'** इस का समाधान है, इस भाष्य के पश्चात् जो कहा, **'उपलब्धिहेतोः'** उपलब्धि के कारण के, इत्यादिक उसीके उद्देश से यह प्रश्न है कि जो वहाँ कहा था वही यहाँ पुनः क्यों कहा जाता है । (इसी प्रश्न के बल से ही पूर्व में कथित **'उपलब्धिहेतोः'** यहाँ से लेकर **'विभागवचनम्'** यहाँ तक कुछ विद्वान् जो सूत्र मानते है । क्योंकि ऐसा मानने से ही **'त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च'** इस सूत्र वाक्य में पुनरुक्ति का दोष हो सकता है, ऐसा उनका आशय है) किन्तु यह मानना भाष्य की ही आगे की **'पूर्वोक्तनिबंधनार्थं'** पूर्व कथित को कहने के लिये, इस पंक्ति से (कहने से) खण्डित हो जाता है । ११ वें सूत्र के भाष्य में जो हमने कहा था उसका बीज रूप यही सूत्र है ऐसे कहने वाले भाष्यकार ने **'उपलब्धिहेतोः'** इत्यादि पूर्ववाक्य सूत्र नहीं है, तथा और यहाँ का सूत्र है यह स्पष्ट कर दिया है)॥ (ऊपर उक्त प्रश्न के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि) एकादशसूत्र में जो हमने कहा था वह सूत्र को छोड़कर नहीं कहा किन्तु सूत्र में कहा ही कहा था यह दिखाने के लिये पुनः कहा जाता है । (अर्थात् जो हमने पूर्व में कहा था कि **"उपलब्धि के कारण प्रमाण तथा उपलब्धि के विषय प्रमेय पदार्थ इन दोनों में पूर्वकाल, उत्तरकाल तथा एक साथ में होने का नियम न होने के कारण जैसा जहाँ देखने में आता है वैसा पृथक् कर कहा जाता है अर्थात् माना जाता है"** यह भाष्य में हमने कहा हुआ विषय इसी सूत्र के आधार को लेकर ही कहा है यह जाना जाय इसलिये पुनः यहाँ कहा जाता है । अर्थात् प्रमाण और प्रमेय का पूर्व उत्तर, तथा एक साथ होने के नियम को न देखने वाले (न मानने वाले) महर्षि गौतम ने उनका (त्रिकाल का) नियम मानने का निषेध किया है, क्योंकि त्रिकाल का नियम से सम्बन्ध होने पर निषेध न हो सकेगा इसलिये जिन तीनों कालों में से प्रमेय से प्रमाण की सिद्धिरूप एक का उदाहरण सूत्रकार सूत्र में दे रहे हैं कि—शब्द से आतोद्य (बाजे) की सिद्धि के समान (पश्चात्) होनेवाले प्रमेय से पूर्वसिद्ध प्रमाण की सिद्धि होती है) अर्थात् जिस प्रकार बाजे के रहते उससे उत्तरकाल में उत्पन्न हुए ध्वनिरूप शब्द से पूर्वकाल में ही वर्तमान आतोद्य (वाद्य) का अनुमान किया जाता है । इसमें

चातोद्यं, साधनं च शब्दः, अन्तर्हिते ह्यातोद्ये स्वनतोऽनुमानं भवतीति। वीणा वाद्यते वेणुः पूर्यते इति स्वनविशेषेण आतोद्यविशेषं प्रतिपद्यते। तथा पूर्वसिद्धमुपलब्धिविषयं पश्चात्सिद्धेनोपलब्धिहेतुना प्रतिपद्यते इति। निदर्शनार्थत्वाच्चास्य शेषयोर्विधयोर्यथोक्तमुदाहरणं वेदितव्यमिति।

कस्मात्पुनरिह तन्नोच्यते? पूर्वोक्तमुपपाद्यत इति। सर्वथा तावदयमर्थः प्रकाशयितव्यः स इह वा प्रकाश्येत तत्र वा न कश्चिद्विशेष इति।

प्रमाणं प्रमेयमिति च समाख्या समावेशेन वर्त्तते समाख्यानिमित्तवशात्। समाख्यानिमित्तं तूपलब्धिसाधनं प्रमाणम् उपलधिविषयश्च प्रमेयमिति। यदा च उपलब्धिविषयः कचिदुपलब्धिसाधनं भवति तदा प्रमाणं प्रमेयमिति चैकोऽर्थोऽभिधीयते॥ १५॥

अस्यार्थस्यावद्योतनार्थमिदमुच्यते—

प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत्॥ १६॥

साध्य (सिद्ध करने योग्य) है आतोद्य, और उसका साधक हेतु है उससे उत्पन्न उसका ध्वनिरूप शब्द वाद्य के छिपे होने पर भी उसकी ध्वनि से वाद्य का अनुमान किया जाता है कि—वीणा बजायी जाती है, वेणु (बांसुली) बजाई जाती है, इस प्रकार बाजों की विशेष ध्वनियों से विशेष वाद्यों का अनुमान से ज्ञान होता है इसी प्रकार पूर्वकाल में ही वर्तमान उपलब्धि (ज्ञान) का विषय प्रमेय पदार्थ उत्तरकाल में होने वाली उपलब्धि के कारण प्रमाण भी जाना जाता है। यह सूत्र में दिया हुआ शब्द से वाद्य (प्रमाण) की सिद्धि रूप प्रमेय से प्रमाण की सिद्धि होना केवल निदर्शन (तीनों) उदाहरणों को देखाने के लिये है अतः पूर्वकाल के प्रमाण से पश्चात् काल के प्रमेय की सिद्धि तथा एक समय में वर्तमान धूम से अग्नि की सिद्धि इन एकादश सूत्र भाष्य में कहे हुए अवशिष्ट दो प्रकारों का उदाहरण भी यहाँ जान लेना चाहिये। (प्रश्न)—इस सूत्र में वह दोनों क्यों नहीं कहे; (उत्तर)—जो एकादश सूत्र में कहा हुआ है वही यहाँ कहा जाता है (इस कारण) पुनः यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है। (अर्थात्) सूत्रकार के इस सूत्र में दिये हुए उदाहरण के केवल तीनों उदाहरणों की सूचना रूप होने के कारण भाष्य में एकादश सूत्र में कहे हुए तीनों उदाहरण रूप विषय का सर्वथा प्रकाश करना उचित है वह चाहे इससूत्र में प्रकाशित किया जाय अथवा एकादशसूत्र के भाष्य में इसमें कोई विशेषता नहीं है॥ १५॥

(१६ वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसी विषय को प्रकाशित करने के लिये सूत्रकार यह कहते हैं कि—

पदपदार्थ = प्रमेया च = और प्रमेय (जानने योग्य) है, तुला = तौल, प्रामाण्यवत् = प्रमाण होने के समान॥ १६॥

भावार्थ = जिस प्रकार कितना सोने का वजन है यह जानने के साधन रूप तौल का वटखरा उस सोने का वजन जानने में साधन (प्रमाण) होता है और भारी सोना प्रमेय है। किन्तु जब उसी तौले हुए सोने से दूसरी वस्तु तौली जाती है तो वही सोना प्रमाण (तौल) जानने का प्रमाण रूप हो जाता है, इसी प्रकार प्रमाण भी प्रमेय एवं प्रमेय भी प्रमाण हो जाता है। यह सूत्र का अर्थ है॥ (यहाँ पर '**प्रमेया च**' यही पाठ तात्पर्य टीकाकार को संमत है। उसका

गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणं, ज्ञानविषयो गुरुद्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयम्। यदा सुवर्णादिना तुलान्तरं व्यवस्थाप्यते तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणं तुलान्तरं प्रमेयमिति। एवमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः। आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात् प्रमेये परिपठितः उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् प्रमाता, बुद्धिरुपोपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम्। उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम्। उभयाभावात् तु प्रमितिः। एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः।

ऐसा अन्वय सूत्र में है कि—तुला प्रामाण्य के समान प्रमेय भी है। अर्थात् तुला (बटखरा) जिस प्रकार माप का साधन होने के कारण प्रमाण है उसी प्रकार प्रमेय भी है। तुला (तौल बटखरा) सुवर्णादिकों के गुरुत्व (भारीपन) जानने में **'प्रमाण'** होती है, किन्तु जब इसके ठीक होने का संदेह होता है, तब जिसका भाव निश्चित है ऐसे दूसरे बटखरे रूप तुला से परीक्षा किये (तौले हुए) सुवर्णादिकों से उस तुला (बटखरे) का प्रमाण होने का निश्चय होता है उसमें यह तुला **'प्रमेय'** हो जाती है। इसी प्रकार प्रस्तुत में प्रत्यक्षादि प्रमाण भी अपने विषय (प्रमेय) को सिद्ध करने में प्रमाण एवं अपने विषय का ज्ञान होने में प्रमेय भी हो जाते हैं, यह गूढ वाचस्पतिमिश्र का आशय है) और नये सूत्र की व्याख्या करने वाले दार्शनिको ने तो किसी किसी वार्तिक की पुस्तकों में **'प्रमेयता च'** ऐसे पाठ को सूत्र में लिया है, उसका प्रमाणों को तुला के प्रामाण्य के समान प्रमाणों को प्रमेयता भी होती है (अर्थात् जिस प्रकार तुला (तौल) में प्रमाणता होती है और प्रमेयता भी होती है उसी प्रकार प्रमाणों में प्रमेयता भी होती है ऐसा अर्थ है।)॥ १६॥

(सोलहवें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या ऐसी करते हैं कि)—गुरुत्व परिणाम (यह कितना तौल में है) इस सुवर्णादि पदार्थ की तौल को जानने की साधन रूप तुला (बटखरा) प्रमाण है, क्योंकि उससे सुवर्ण कितने भरी अथवा कितने तोले हैं यह जाना जाता है, और उस तौल को जानने का विषय है गुरु द्रव्य (भारी द्रव्य पदार्थ) सुवर्णादिक प्रमेय हैं, क्योंकि वह तौल में कितना है इस प्रकार वह जाना जाता है, अतः वह है प्रमेय (तौल जानने योग्य) पदार्थ और जब उसी तौले हुए सुवर्णादिक से दूसरी संदेह वाला तुला (बटखरा) ही तौल में कितना है यह निश्चित जाना जाता है तो उस सन्दिग्ध तौल वाली दूसरी तुला (बटखरे) के तौल के निश्चित ज्ञान होने में सुवर्णादि प्रमेय द्रव्य ही प्रमाण एवं दूसरी सन्दिग्ध तौली हुई तुला (बटखरा) निश्चित माप के ज्ञान का विषय होने के कारण प्रमेय पदार्थ हो जाती है। अर्थात् तुला के समान एक ही द्रव्य प्रमेय के ज्ञान का साधन होने से प्रमाण और ज्ञान का विषय होने से प्रमेय भी हो सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से सम्पूर्ण शास्त्रों का विषय कहा गया यह जान लेना चाहिये (अर्थात् एक ही में प्रमेय तथा प्रमाण इन दोनों का समावेश होता है यह विषय सम्पूर्ण शास्त्रों में व्यापक है यह इस भाष्य से सूचित होता है)। इसी प्रकार प्रमेय प्रमाता भी हो सकता है, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—आत्मा नामक द्रव्य, ज्ञान का विषय होने के कारण बारह प्रकार के प्रमेयों में **'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'** (१।१।९) सूत्र में पढा गया है, किन्तु वह ज्ञान होने में स्वतन्त्र होने के कारण प्रमाता (ज्ञाता) भी होता है। इसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान) प्रमेय पदार्थों के ज्ञान का साधन होने से प्रमाण कहाती है, और अपने ज्ञान का विषय होने के कारण वह प्रमेय पदार्थ भी है। और (ज्ञान का साधन तथा विषय न होने पर वह प्रमिति (ज्ञान) रूप होती है। (इस प्रकार

तथा च कारकशब्दा निमित्तवशात् समावेशेन वर्त्तन्त इति। वृक्षस्तिष्ठतीति स्वस्थितौ स्वातन्त्र्यात्कर्ता। वृक्षं पश्यतीति दर्शनेनाप्तुमिष्यमाणतमत्वात् कर्म। वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम्। वृक्षायोदकमासिञ्चतीति आसिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैतीति सम्प्रदानम्। वृक्षात्पर्णं पततीति ध्रुवमपायेऽपादानमित्यपादानम्। वृक्षे वयांसि सन्तीत्याधारोऽधिकरणमित्यधिकरणम्। एवं च सति न द्रव्यमात्रं कारकं, न क्रियामात्रम्, किंतर्हि? क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्। यत्क्रियासाधनं स्वतन्त्रः स कर्ता, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। क्रियया व्याप्तुमिष्यमाणतमं

प्रमाणादि चतुर्वर्ग में किये हुए दूसरी-दूसरी संज्ञाओं के कथन की रीति को संशयादि पदार्थों में भी दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस विशेष पदार्थ रूप संशयादिकों में भी संज्ञा शब्दों का सम्बन्ध स्वयं पाठकों को लगा लेना चाहिये, अर्थात् सम्पूर्ण कारक शब्द प्रकृति के निमित्त के अधीन होने से एक ही पदार्थ में समावेश (संकर) से रहते हैं। (इसी कारण) भाष्यकार सामान्य तथा विशेष रूप से क्रिया तथा कारकों के स्वरूप की व्युत्पत्ति (ज्ञान) होने के लिये और संज्ञा शब्दों के सम्बन्धों के दिखलाने के लिये भी प्रयोगों को दिखाते हैं कि)—**'वृक्षः तिष्ठति'** पेड़ खड़ा है, इस प्रयोग में वृक्ष अपनी स्थिति (खड़े रहने) में स्वतन्त्र होने से कर्ता (कारक) है। **'वृक्षं पश्यति'** वृक्ष को देखता है, इस प्रयोग में देखने की क्रिया से प्राप्त करने के लिये इच्छा का विषय होने के कारण **'कर्म'** नामक कारक है। **'वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयति'** वृक्ष के द्वारा चन्द्रमा को जनाता है, इस प्रयोग में वृक्ष को जनाने का अव्यक्त साधन होने के कारण वृक्ष **'करण'** कारक है। **'वृक्षायोदकमासिंचति'** वृक्ष को बढ़ने के लिये जल सींचता है, इस प्रयोग में सींचे जाने वाले जल से वृक्ष अभिप्राय का विषय हो रहा है इस लिये वह **'संप्रदान'** कारक है। **'वृक्षात्पर्णं पतति'** वृक्ष से पत्ता गिर रहा है इस प्रयोग में **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'** हटने वाले पदार्थ में अपादान नामक कारक होता है इस व्याकरण के अनुशासन के अनुसार वृक्ष अपादान नामक कारक है। तथा **'वृक्षे वयांसि सन्ति'** वृक्ष पर पक्षी हैं, इस प्रयोग में **'आधारोऽधिकरणम्'** आश्रय पदार्थ अधिकरण कारक कहाता है, इस व्याकरण के अनुशासन के अनुसार अधिकरण नामक कारक होता है। और ऐसा होने से केवल द्रव्य, अथवा केवल क्रिया ही कारक नहीं होती। (प्रश्न)—तो क्या कारक होता है? (उत्तर)—क्रिया (व्यापार) विशेष से युक्त क्रिया (व्यापार) का साधन कारक होता है। जो स्वतन्त्र होता हुआ क्रिया का साधन होता है वह कर्ता नामक कारक होता है, न केवल द्रव्य, न केवल क्रिया (व्यापार) कारक होता है। इसी प्रकार अत्यन्त क्रिया के साधक करणादि कारकों में भी केवल क्रिया या द्रव्य करणादि कारक नहीं होते। इस प्रकार जैसे कारकों के स्वरूपों की व्याख्या युक्ति से होती है वैसे लक्षण से भी कारकों का स्वरूप कथन केवल द्रव्य अथवा केवल क्रिया को लेकर नहीं होता। (प्रश्न)—तो किससे होता है! (उत्तर)—क्रिया के विशेष से युक्त क्रिया के साधन में ही कारकों के स्वरूपों की व्याख्या होती है। प्रस्तुत में यह प्रमेय तथा प्रमाण शब्द भी कारक शब्द हैं, इस कारण यह दोनों शब्द भी कारक के उपरोक्त धर्म को नहीं छोड़ सकते॥ (यहाँ **'एवं च सति'** यहाँ से लेकर यहाँ तक के भाष्य को कुछ विद्वान् पूर्वपक्ष मानते हैं, उनके मत से **'आगे का'** **'अग्नि भोः'** इत्यादि से **'इत्येवमादित'** यहाँ तक का भाष्य उस पूर्वपक्ष का समाधान है। पश्चात्

कर्म, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। एवं साधकतमादिष्वपि। एवं च कारकार्थान्वाख्यानं यथैव उपपत्तित एवं लक्षणतः कारकान्वाख्यानमपि न द्रव्यमात्रेण न क्रियया वा। किं तर्हि? क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्त इति। कारकशब्दश्चायं प्रमाणं प्रमेयमिति। स च कारकधर्मं न हातुमर्हति।

अस्ति भोः? कारकशब्दानां निमित्तसमावेशात् समावेशः?। प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि, उपलब्धिहेतुत्वात्, प्रमेयं चोपलब्धिविषयत्वात्। संवेद्यानि च प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि, प्रत्यक्षेणोपलभे अनुमानेनोपलभे उपमानेनोपलभे आगमेनोपलभे। प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानुमानिकं मे ज्ञानमौपमानिकं मे ज्ञानमागमिकं मे ज्ञानमिति विशेषा गृह्यन्ते। लक्षणतश्च ज्ञाप्यमानानि ज्ञायन्ते विशेषेणेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमित्येवमादिना ॥ १६ ॥

सेयमुपलब्धिः प्रत्यक्षादिविषया किं प्रमाणान्तरतः, अथान्तरेण प्रमाणान्तरमसाधनेति? कश्चात्र विशेषः?

'सेयमुपलब्धिः' इत्यादि भाष्य में दूसरा पूर्वपक्ष है। और वार्तिक तथा तात्पर्यटीका के मत से तो **'एवं च'** इत्यादि से **'हातुमर्हति'** यहाँ तक सिद्धान्ती का ही वाक्य है। और उसके पश्चात **'अस्तिभोः'** यहाँ से लेकर अट्ठारहवें सूत्र तक पूर्वपक्षी का भाष्य है। (यहाँ केवल द्रव्य कारक होता है ऐसा माध्यमिक बौद्ध का सिद्धान्त है। क्रियामात्र शब्द का अर्थ है, केवल अवान्तर (बीच की क्रिया) और क्रिया साधन शब्द का अर्थ है जो प्रधान क्रिया का साधक अवान्तर क्रिया से युक्त होता है वह कारक होता है)॥ १६ ॥

(पूर्वपक्षी के मत से प्रश्न दिखाते हुए भाष्यकार १७ वें सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—(प्रश्न)—वह यह उपरोक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान क्या दूसरे प्रमाणों से होता है, अथवा बिना दूसरे प्रमाण के! (सिद्धान्ती का प्रश्न)—इस प्रश्न से पूर्वपक्षी का किस विशेष की जिज्ञासा का आशय है। (उत्तर)—इस उपरोक्त सिद्धान्ती के कारकों की व्यवस्था को लेकर पूर्वपक्षी के मत से आपत्ति देखाते हुए भाष्यकार अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हुए कहते हैं कि) पूर्वपक्षी सिद्धान्ती को यह आपत्ति ऐसी दे सकता है कि—"हम तुम्हारे कहे अनुसार निमित्तों के सम्बन्धों का समावेश होना मानते हैं। प्रस्तुत में प्रत्यक्षादि प्रमाण ज्ञान के साधन होने के कारण प्रमाण कहाते हैं, और ज्ञान के विषय होने के कारण वे प्रमेय भी होते हैं। क्योंकि जानने योग्य भी प्रमाण हैं और प्रमाण रूप भी, कारण यह कि मैं प्रत्यक्ष से वस्तु को जानता हूँ, अनुमान से जानता हूँ, उपमान से जानता हूँ, तथा आगम (शब्द प्रमाण) से जानता हूँ (ऐसा प्रमाण रूप से) प्रत्यक्षादिकों का ग्रहण होता है), एवं मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है, अनुमान से हुआ आनुमानिक ज्ञान है, उपमान से उत्पन्न हुआ औपमानिक ज्ञान है, आगम से उत्पन्न हुआ आगमिक (शाब्दिक) ज्ञान है इस प्रकार प्रत्यक्षादिकों में प्रमाण रूप होना एवं प्रमेय रूप होना ऐसे विशेषों का ग्रहण होता है। तथा 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं' इत्यादि पूर्वोक्त प्रत्यक्षादिकों के विशेष लक्षणों से बतलाये हुए वे प्रत्यक्षादिक हैं यह भी ज्ञान होता है। प्रस्तुत में पूर्वपक्षी कहता है कि मेरा यह प्रश्न का आशय है कि यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों को विषय करने वाला ज्ञान क्या दूसरे प्रमाणों से होता है, अथवा बिना दूसरे प्रमाणों के बिना साधन के ही होना

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणेनोपलभ्यन्ते ? येन प्रमाणेनोपलभ्यन्ते तत्प्र-

---

है।" यदि इस पर सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से ऐसा प्रश्न करे कि ऐसा कहने में पूर्वपक्षी किस विशेष का प्रश्न करता है ! तो पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ = प्रमाणतः = प्रमाण से, सिद्धेः = सिद्धि मानने पर, प्रमाणानां = प्रत्यक्षादि प्रमाणों-की, प्रामाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः = प्रत्यक्षादि मानते हुए प्रमाणों से भिन्न दूसरे प्रमाणों के मानने की आपत्ति आ जायगी ॥ १७ ॥

भावार्थ = सिद्धान्ती के कहे कारक शब्दों की व्याख्या के अनुसार प्रमाण एवं प्रमेय शब्दों के भी कारक शब्द होने से उपरोक्त रीति से प्रमाण एवं प्रमेय रूपता प्रत्यक्षादिकों में होने के कारण जिस पक्ष में प्रत्यक्षादिकों में प्रमेय है, उस पक्ष में इनके जानने के लिये दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता है अथवा नहीं ! यदि है तो सिद्धान्ती के माने हुए (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों से भिन्न और भी दूसरे प्रमाण मानना पड़ेगा। (तात्पर्यटीकाकार ने यहाँ पूर्वपक्षी के भाष्य का तात्पर्य दिखाया है कि—यहाँ पर ऐसी आपत्ति हो सकती है कि प्रत्यक्षादिकों का ज्ञान होने में साधन (प्रमाण) की आवश्यकता है कि बिना प्रमाण के ही उनका ज्ञान होता है; प्रथमपक्ष में भी इन्हीं प्रत्यक्षादिकों से प्रत्यक्षादिकों का ज्ञान होता है अथवा दूसरे प्रमाणों से; यदि इन्हीं प्रत्यक्षादिकों से इनका ज्ञान होता है तो क्या उसी प्रत्यक्ष व्यक्ति से उसी का ज्ञान होता है, अथवा एक प्रत्यक्ष व्यक्ति का दूसरे प्रत्यक्ष व्यक्ति से ! इसमें यदि दूसरे प्रमाण माने जायं तो **'प्रत्यक्षानुमानो-पमानाः प्रमाणानि'** इस प्रमाण के विभाग सूत्र का विरोध तथा अनवस्था दोष भी आवेगा। क्योंकि इससे दूसरे प्रत्यक्षादिकों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष होगा। और उसी प्रत्यक्ष से उसीका ज्ञान मानने से अपने से अपना ज्ञान होने का विरोध होगा। क्योंकि उसी खड्ग की धारों से उसीका कटना नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान होने में कोई साधन (प्रमाण) की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा है तो प्रमेय पदार्थों के ज्ञान के लिये भी प्रमाणों की क्या आवश्यकता है। प्रमाणों के समान प्रमेय पदार्थों का ज्ञान भी बिना प्रमाणों के ही हो जायगा)। (इस पूर्वपक्ष पर जो सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी को **'कश्चात्र विशेषः'** इस भाष्य में प्रश्न के विशेष का प्रश्न किया है उसमें सिद्धान्ती का यह कहना है कि)—प्रमाणों की सिद्धि बिना प्रमाणों के नहीं होती, न तो प्रत्यक्षादिकों से भिन्न प्रमाण माने जाते हैं, जिससे उपरोक्त प्रमाण सूत्र के विभाग का विरोध होगा। और न उसी प्रत्यक्ष से उसीका ज्ञान होता है जिससे खड्गधारा के दृष्टान्त से अपने से अपने ज्ञान का होने से विरोध होगा, किन्तु प्रत्यक्ष जाति के एक प्रत्यक्ष का दूसरे उसी जाति के प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है ऐसा हम मानते हैं। न तो अनवस्था दोष भी हो सकता है। क्योंकि कोई प्रमाण अपने ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का कारण होता है, जैसे धूम आदि, और कोई बिना ज्ञान के ही दूसरे का ज्ञान कराता है, जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ जिसमें धूम आदि अपने ज्ञान में चक्षु आदि इन्द्रियों की अपेक्षा रखते हैं, और चक्षु आदि बिना ज्ञान की अपेक्षा किये ही ज्ञान के साधक होते हैं जिससे अनवस्था दोष न होगा। क्योंकि ज्ञान की इच्छा होने पर उसका ज्ञान हो सकता है, वह इच्छा तो किसी विषय में किसी ही समय में होती है, अतः अनवस्था नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उनका (प्रत्यक्षादिका) ग्रहण होता है। यह सिद्धान्त आगे १९ वें सूत्र से सिद्धान्ती कहेंगे ॥ १७ ॥

(१९ वें पूर्वपक्ष सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की

माणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्यत इति अनवस्थामाह तस्याप्यन्येन तस्याप्यन्येनेति । न चानवस्था शक्याऽनुज्ञातुमनुपपत्तेरिति ॥ १७ ॥

अस्तु तर्हि प्रमाणान्तरेण निःसाधनेति ?—

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणासिद्धिवत्प्रमेयसिद्धिः ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्षाद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्तते ? आत्माद्युपलब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्त्स्यते, अविशेषात् ॥ १८ ॥

एवं च सर्वप्रमाणविलोप इत्यत आह—

न प्रदीपप्रकाश(सिद्धि)वत्तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

प्रमाण से उपलब्धि (ज्ञान) माना जाय तो, जिस प्रमाण से उनका ज्ञान होगा वह दूसरे प्रमाण हैं, इस कारण दूसरे प्रमाणों की सत्ता माननी पड़ेगी अतः दूसरे उस प्रमाण का उससे भिन्न दूसरे प्रमाण से ज्ञान मानना पड़ेगा इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा, जो अनवस्था अयुक्त होने से मानना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

(१८ वें सूत्र के अवतरण में भाष्यकार पूर्वपक्षिमत से कहते हैं कि)—यदि उक्त दोष वारणार्थ बिना दूसरे प्रमाण के ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि साधन (प्रमाण) रहित ही होगी ऐसा सिद्धान्ती कहे, तो पूर्वपक्षी मत के सूत्र से दोष दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ = तद्विनिवृत्तेः वा = अथवा दूसरे साधक प्रमाण की आवश्यकता न मानकर, प्रमाणसिद्धिवत् = प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि के समान, प्रमेयसिद्धिः = बिना प्रमाण के प्रमेय पदार्थों की सिद्धि होने लगेगी ॥ १८ ॥

भावार्थ = यदि १७ वें सूत्र में दिये अनवस्था दोष के निवारण के लिये बिना दूसरे प्रमाणों के ही प्रत्यक्षादि प्रमाण माने जांय तो बिना दूसरे प्रमाणों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सत्ता की सिद्धि के समान, बिना ही प्रत्यक्षादि प्रमाण माने प्रमेय आत्मादि पदार्थों की भी सत्ता क्यों न मानी जाय, जिससे सिद्धान्ती का षोडश पदार्थों में प्रथम पदार्थ प्रमाण का वर्णन ही असंगत हो जायगा. जिससे प्रत्यक्षादि संपूर्ण प्रमाणों का विलोप (असिद्धि) हो जायगी ॥ १८ ॥

(१८ वें सूत्र की पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ज्ञान में सिद्धान्ती दूसरे प्रमाण न मानें तो आत्मादि रूप बारह प्रकार के प्रमेय पदार्थों के ज्ञान में भी इसी प्रमाण रूप पदार्थ की आवश्यकता न होगी । अर्थात् साधन के बिना साध्य का ज्ञान होना यह दोनों में समान होने से आत्मादि प्रमेय पदार्थों के ज्ञान होने के लिये संपूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाण रूप प्रथम पदार्थ का वर्णन करना ही सिद्धान्ती का असंगत हो जायगा ॥ १८ ॥

(इस प्रकार १७ वें सूत्र से दिये हुए पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान करते हुए सूत्रकार सिद्धान्ती के मत से कहते हैं)—

पदपदार्थ = न = ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, प्रदीपप्रकाशवत् = दीपक के प्रकाश के समान, तत्सिद्धेः = प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सत्ता सिद्ध होने से ॥ १९ ॥

भावार्थ = जिस प्रकार प्रत्यक्ष का साधन (अंग) होने से अन्धेरे में देखाई देने योग्य पदार्थों के प्रत्यक्ष होने के कारण प्रदीप प्रमाण होता है, जो चक्षुइन्द्रिय के संनिकर्ष (सम्बन्ध) रूप दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाण से जाना जाता है, दीपक के रहने पर अन्धकार में घटादि पदार्थ देखाते हैं, नहीं रहने से नहीं दिखाते, इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक से दर्शन का दीप कारण

यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षाङ्गत्वात् दृश्यदर्शने प्रमाणम्, स च प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते। प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथाभावाद्दर्शनहेतुरनुमीयते। तमसि प्रदीपमुपाददीथा इत्याप्तोपदेशेनापि प्रतिपद्यते। *एवं प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनं प्रत्यक्षादिभिरेवोपलब्धिः।* इन्द्रियाणि तावत् स्वविषयग्रहणेनैवानुमियन्ते। अर्थाः प्रत्यक्षतो गृह्यन्ते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षास्त्वावरणेन लिङ्गेनानुमीयन्ते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद् गृह्यते। एवं प्रमाणविशेषो विभज्य वचनीयः। यथा च दृश्यः सन् प्रदीपप्रकाशो दृश्यान्तराणां दर्शनहेतुरिति दृश्यदर्शनव्य-

---

है, यह अनुमान प्रमाण द्वारा, तथा अन्धेरे में दीप ले आना, ऐसे आप्तोपदेश रूप शब्द प्रमाण द्वारा भी सिद्ध होता है, इसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही ज्ञान होता है यह भी सिद्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आ सकती, अतः जैसे प्रदीप प्रकाश की सिद्धि में दूसरे प्रमाण की आवश्यकता न होने पर भी वह अन्धेरे में घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे प्रत्यक्षादि प्रमाण भी दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता न रखकर आत्मादि प्रमेय पदार्थों को सिद्ध कर सकते हैं, अतः पूर्वपक्षी का दिया अनवस्था दोष, एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमाणों की सिद्धि होने के कारण बिना प्रमाण के प्रमेय पदार्थों के ज्ञान की भी आपत्ति नहीं हो सकती॥ १९॥

(१९ वें सिद्धान्तिमत के सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस प्रकार प्रदीप का प्रकाश प्रत्यक्ष-ज्ञान का अंग (साधन) होने के कारण अन्धकार में दिखाई देने वाले घटादि पदार्थों के देखाने में प्रमाण होता है। और उसका चक्षु इन्द्रिय के संनिकर्ष (सम्बन्ध) रूप दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण होता है। एवं दीपक के रहते अन्धेरे में पदार्थों का दर्शन होता है न रहने पर नहीं होता ऐसे अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति विज्ञान के बल से अनुमान प्रमाण द्वारा भी सिद्ध किया जाता है। तथा अन्धकार में पदार्थों का ज्ञान होने के लिये दीपक लाना, इस प्रकार आप्तोपदेश रूप शब्द प्रमाण द्वारा भी अन्धेरे में पदार्थों के प्रदीप देखाने का कारण है यह सिद्ध होता है। जिस प्रकार प्रदीप का अन्धकार में पदार्थों के ज्ञान होने में उपरोक्त आधार से प्रत्यक्षादिक प्रमाण हैं यह सिद्ध होता है, इसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही ज्ञान होता है। जिसमें अतीन्द्रिय भी इन्द्रियों की अपने रूपादि विषयों के ज्ञान से अनुमान प्रमाण से सिद्धि होती है। रूपादि विषयों का प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण होता है। और इन्द्रिय तथा विषयों (पदार्थों) का संनिकर्ष (सम्बन्ध) उन विषयों के आवरण (ढके रहना) इस साधक हेतु से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, इन्द्रिय तथा विषयों की संनिकर्ष से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा तथा मन के विशेष संयोग, एवं आत्मा के समवाय सम्बन्ध से भी सुखादिकों के समान गृहीत होता है। (अर्थात् संनिकर्ष के प्रतिबन्धक आवरण (आच्छादन)-के न रहने पर ही प्रत्यक्ष होता है, और आवरण के रहते नहीं होता, इससे यह सिद्ध होता है कि आवरण के अभाव से संनिकर्ष का अनुमान होता है, अतः आवरण ही अपने अभाव के द्वारा संनिकर्ष में साधक हेतु है। जिस अनुमान का प्रत्यक्ष, इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है, उस संनिकर्ष के प्रतिबन्धक आवरण के रहते, प्रत्यक्ष के न होने से, ऐसा प्रयोग यहाँ जानना चाहिये) इसी प्रकार अनुमानादि प्रमाणों में भी—'व्याप्तिज्ञान, परामर्श

वस्थां लभते, एवं प्रमेयं सत्किञ्चिदर्थजातमुपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थां लभते। सेयं प्रत्यक्षादिभिरेव प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमुपलब्धिर्न प्रमाणान्तरतो, न च प्रमाणमन्तरेण निःसाधनेति।

तेनैव तस्याग्रहणमिति चेद् ? न। अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात्। प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरेव ग्रहणमित्ययुक्तम्, अन्येन ह्यन्यस्य ग्रहणं दृष्टमिति। न। *अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात्।* प्रत्यक्षलक्षणेनानेकोऽर्थः सङ्गृहीतस्तत्र केनचित् कस्यचिद् ग्रहणमित्यदोषः। एवमनुमानादिष्वपीति। यथोद्धृतेनोदकेनाशयस्थस्य ग्रहणमिति।

आदि उनके अनुव्यवसाय (प्रत्यक्ष) से विषय किये जाते हैं' इस प्रकार विभाग पूर्वक विवेचन कर कहना चाहिये। और जिस प्रकार प्रदीप का प्रकट सादृश्य (देखाता) होता हुआ प्रमेय होकर भी दूसरे घटादि दृश्य (देखाने वाले) पदार्थों के दर्शन (देखाने) का कारण होने के कारण प्रमाण रूप भी होता हुआ दृश्य रूप प्रमेय तथा दर्शन रूप प्रमाण होने की व्यवस्था को प्राप्त होता है, इसी प्रकार कोई पदार्थ भी ज्ञान का जब विषय होता है (जाना जाता है), तब वह 'प्रमेय', एवं दूसरे पदार्थ के जानने का साधन होने के कारण **'प्रमाण'** कहा जाता है इस व्यवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार वह यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों की जैसा उपरोक्त प्रकार से देखा जाता है उपलब्धि (ज्ञान) होता है, न कि उनसे भिन्न दूसरे प्रमाणों से (जिससे पूर्वपक्षी का दिया हुआ अनवस्था दोष नहीं हो सकता) और न विना प्रमाण के साधन रहित ही प्रत्यक्षादिकों का ज्ञान होता है (जिससे उसके दृष्टान्त से प्रमेयों का ज्ञान भी बिना प्रमाण के होने लगेगा, यह भी पूर्वपक्षी का दिया दोष आ सकता है) (यदि) पूर्वपक्षी कहे कि "उन्हीं प्रत्यक्षादिकों से उन्हीं का ग्रहण (ज्ञान) नहीं हो सकता" तो इसका उत्तर यह है कि—भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षादि रूप अर्थ में उनका लक्षण साधारण होने के कारण यह भी दोष न होगा। (अर्थात् "प्रत्यक्षादि प्रमाणों का उन्हीं प्रत्यक्षादिकों से ग्रहण होना (अपने ही अपने को जानना) यह सिद्धान्ती का कहना अयुक्त है, क्योंकि दूसरा दूसरे को देखता है (न कि अपने ही अपने को) देखता है" ऐसा पूर्वपक्षी का कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष व्यक्ति रूप अर्थों में प्रत्यक्ष का साधारण लक्षण रूप समान है, अर्थात् इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, इस सामान्य प्रत्यक्ष के लक्षण से अनेक प्रत्यक्ष व्यक्तियों का संग्रह होता है जिसमें एक किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति से दूसरे किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति का ज्ञान होता है, इस कारण पूर्वपक्षी के दिये कोई दोष नहीं आ सकते। इसी प्रकार अनुमानादिकों में भी जानना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार जलाशय (कूप) आदिकों से पात्र में निकाले हुए जल के पीने से जलाशय का जल मीठा है या खारा यह ज्ञान होता है इसी प्रकार एक प्रमाण व्यक्ति से दूसरे प्रमाण व्यक्ति का भी ज्ञान हो सकता है (अर्थात् वस्तुतः प्रत्यक्ष व्यक्ति भिन्न-भिन्न ही हैं जिनका केवल 'इन्द्रियार्थ संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष होता है' इस सामान्य लक्षण से प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष ऐसा व्यवहार होता है, अतः एक प्रत्यक्ष का दूसरे प्रत्यक्ष से ग्रहण होने के कारण उसीसे उसका ग्रहण होता है यह दोष नहीं आता, जैसे जलाशय से निकाले हुए जल से जलाशय में रहने वाले जल का (मीठा या खारा है) यह अनुमान होता है। इसमें यद्यपि जल ही से जल का अनुमान

ज्ञातृमनसोश्च दर्शनात्। अहं सुखी अहं दुःखी चेति तेनैव ज्ञात्रा तस्यैव ग्रहणं दृश्यते। *'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'* (अ० १ आ० १ सू० १६) इति च तेनैव मनसा तस्यैवानुमानं दृश्यते, ज्ञातुर्ज्ञेयस्य चाभेदो ग्रहणस्य ग्राह्यकस्य चाभेद इति।

निमित्तभेदोऽत्रेति चेत् ? समानम्। न निमित्तान्तरेण विना ज्ञाताऽऽत्मानं जानीते, न च निमित्तान्तरेण विना मनसा मनो गृह्यत इति ? समानमेतत् प्रत्यक्षादिभिः प्रत्यक्षादीनां ग्रहणमित्यत्राप्यर्थभेदो न गृह्यत इति।

होता है, किन्तु उसीसे उसका वस्तुतः ग्रहण नहीं होता।) उपरोक्त **'अन्येन ह्यन्यस्य ग्रहणं दृष्टम्'** दूसरे ही दूसरे का ज्ञान होता है इस भाष्य में पूर्वपक्षि मत से जो कहा था उसमें **'हि'** इस शब्द के अर्थ का भाष्यकार (खण्डन करते हैं कि)—ज्ञाता, (आत्मा), तथा मन में अपने से ही अपना ज्ञान होता है यह देखाने के कारण भी अन्य से ही (दूसरे से ही) दूसरे का ज्ञान होता है यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा उसी ज्ञाता आत्मा से उसी सुखी अथवा दुःखी आत्मा का ज्ञान होता है यह देखने में आता है। ऐसे ही **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'** एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना यह मन का साधक लिङ्ग है, (१।१।१६) इस सूत्र में वर्णन किये मन का उसी मन से अनुमान होता है यह भी देखने में आता है। पूर्व उदाहरण में ज्ञाता (जानने वाला आत्मा, तथा ज्ञेय (जानने योग्य) आत्मा इन दोनों का, तथा दूसरे उदाहरण में ग्रहण (प्रमाण रूप मन) तथा ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य मन) इन दोनों का भेद नहीं है इस कारण दूसरे से ही दूसरे का ज्ञान होता है अपने से अपना नहीं होता यह नियम नहीं हो सकता। (अर्थात् प्रथम उदाहरण में ज्ञाता (आत्मा) ज्ञेय (जानने योग्य) होता है यह कर्म को लेकर कहा है, ज्ञानरूप-क्रिया दूसरे में सम्बद्ध नहीं हैं, जिससे आत्मा कर्म हो, किन्तु ज्ञाता में वर्तमान वही ज्ञान क्रिया है। क्योंकि दूसरे में सम्बद्ध फल को रखने वाला कर्म होता है' ऐसा व्याकरण में कर्म कारक का लक्षण कहा है। इस कारण **'मैं सुखी हूँ'** इत्यादि वाक्यों में आत्मा के सुख आदि धर्म कर्म हैं, और आत्मा में प्रकाश मानता है। उसमें कहने की इच्छा से ज्ञेय (जानने योग्य) कहा गया है। और दूसरे उदाहरण में मान पक्ष में अपना ज्ञान होने में करण और कर्म दोनों हैं, तथापि भिन्न-भिन्न निमित्त होने से अपने में रहने का विरोध नहीं हो सकता। यदि ज्ञान करण हो तो आत्माश्रय दोष आवेगा। क्योंकि वह मन अपनी केवल सत्ता से ज्ञान में करण है। मन की सत्ता और उसका ज्ञान ये दोनों भिन्न हैं। तथा ज्ञानरूप क्रिया आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहती है, न कि मनमें। अतः एक ही मन में ज्ञेयता (ज्ञान का विषय होना) और ज्ञान का साधन (प्रमाण) होना भी दोष का कारण नहीं हो सकता ऐसा इस भाष्य का गूढ आशय है॥) यदि पूर्वपक्षी कहे कि "निमित्त के भेद से एक ही ज्ञेय आत्मा ज्ञाता, (जानने वाला) तथा एक ही मन ज्ञेय, और प्रमाण कैसे हो सकते हैं"—तो यह समान है। भाष्यकार (उपरोक्त पूर्वपक्षी का आक्षेप स्पष्ट करते हैं कि)—"बिना दूसरे (ज्ञान का विषय होना इस) निमित्त के ज्ञाता (जानने वाला आत्मा अपने को नहीं जानता, तथा बिना ज्ञान साधन रूप दूसरे निमित्त के मन का जानना रूप ज्ञेय (ज्ञान की विषयता) भी मनमें नहीं हो सकती" ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो, यह तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी समान ही है क्योंकि

प्रत्यक्षादीनां चाविषयस्यानुपपत्तेः। यदि स्यात् किञ्चिदर्थजातं प्रत्यक्षादीनामविषयः यत्प्रत्यक्षादिभिर्न शक्यं ग्रहीतुम्, तस्य ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत, तत्तु न शक्यं केनचिदुपपादयितुमिति। प्रत्यक्षादीनां तथादर्शनमेवेदं सच्चासच्च सर्वं विषय इति ॥ १९ ॥

केचित्तु दृष्टान्तमपरिगृहीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाधनायोपाददते यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते तथा प्रमाणानि प्रमाणान्तरमन्तरेण गृह्यन्त इति।

स चायम्—

क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनेकान्तः ॥ २० ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रत्यक्षादिकों का ज्ञान होता है यहाँ भी प्रत्यक्ष व्यक्ति रूप अर्थ का पूर्वप्रदर्शित रीति से भेद जाना जाता ही है (अर्थात् प्रत्यक्षादि व्यक्तियों से उन्हीं का ज्ञान होने में भी ज्ञान के साधन, तथा ज्ञान के विषय ऐसा निमित्त का भेद हो सकता है।)

(यहाँ पर **'ग्रहणस्य ग्राह्यस्य च'** इस भाष्य में **'ग्राह्यस्य'** के स्थान में **'ग्राहकस्य'** ऐसा किसी-किसी पुस्तक में पाठ है वही ठीक है, क्योंकि 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रतीति में ज्ञान तथा ज्ञेय आत्मा का भेद नहीं है, और मन के अनुमान में मन ही ज्ञान का करण (प्रमाण) तथा ज्ञान का विषयी है इसमें ग्रहण करने वाले आत्मा का समावेश नहीं है ऐसी उद्योतकार की संमति है।) (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न दूसरे प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—न्यायमत में माने हुए प्रत्यक्षादि प्रमाणों का कोई भी संसार में विषय नहीं है यह नहीं हो सकता, क्योंकि यदि कोई पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय न हो तो—अर्थात् किसी पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान न हो तो—उसके ज्ञान के लिये उनसे भिन्न दूसरे प्रमाण माने जायँ, यह किसी प्रकार सिद्ध किया नहीं जा सकता। क्योंकि संसार के संपूर्ण सत् (वर्तमान), अथवा असत् (अवर्तमान) पदार्थों को प्रत्यक्षादि चार प्रमाण ही विषय करते हैं यह देखने में आता है। (इसी विषय को पुष्ट करने के लिये प्रथम सूत्र के भूमिका भाष्य में भाष्यकार ने **'असच्चासदितिगृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्वम्'** असत् (नहीं है) इस प्रकार प्रमाण से जाना हुआ वह जैसा अवर्तमान रूप है उसके विपरीत सत् (वर्तमान) रूप न होता हुआ असत् का तत्व (वास्तविक रूप) होता है, ऐसा वर्णन किया है)॥ १९ ॥

(२० वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—कुछ विद्वान् तो यहाँ पर "जिस हेतु में दृष्टान्त न हो, ऐसे बिना विशेष हेतु के बिना साध्य सिद्धि के लिये हेतु को ग्रहण करते हैं—कि जिस प्रकार दीप का प्रकाश बिना दूसरे प्रदीप के प्रकाश के ही अन्धकार में पदार्थ का ज्ञान होने के लिये लाया जाता है, उसी प्रकार बिना दूसरे प्रमाणों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी ज्ञान होता है" किन्तु वह यह हेतु—

पदपदार्थ = क्वचित् = किसी (प्रदीप) आदि में, निवृत्तिदर्शनात् = दूसरे प्रमाण की निवृत्ति के देखाने से, अनिवृत्तिदर्शनात् च = और दूसरे प्रमाण की अपेक्षा के दिखाने से, क्वचित् = किसी (रूपादिक के प्रकाश करने वाले धारादिक) ये, अनैकान्तः = हेतु व्यभिचारी है ॥ २० ॥

भावार्थ = प्रदीप रूप दृष्टान्त में जिस प्रकार दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं देखाती है, उसी प्रकार रूपादि गुणों को प्रकाशित करने वाले घटादिकों में दूसरे रूपादिकों के प्रकाश करने

यथा चाऽयं प्रसङ्गो निवृत्तिदर्शनात् प्रमाणसाधनायोपादीयते एवं प्रमेयसाधनायाप्युपादेयोऽविशेषहेतुत्वात् । यथा च स्थाल्यादिरूपग्रहणे प्रदीपप्रकाशः प्रमेयसाधनायोपादीयते, एवं प्रमाणसाधनायाप्युपादेयो विशेषहेत्वभावात् सोऽयं विशेषहेतुपरिग्रहमन्तरेण दृष्टान्त एकस्मिन्पक्षे उपादेयो न प्रतिपक्ष इत्यनेकान्तः।

वाले की अपेक्षा दिखाती है, इस कारण उक्त विद्वानों का हेतु व्यभिचार दोष ग्रस्त होने के कारण व्यभिचारी है, अतः प्रदीप प्रकाश के दृष्टान्त से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ज्ञान में दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है यह मत असंगत है। (अर्थात् प्रदीप के उपरोक्त दृष्टान्त में जिस प्रकार कुछ विद्वान् दूसरे प्रमाण की आवश्यकता न होना सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार घट के उपरोक्त दृष्टान्त से प्रत्यक्षादिकों के जानने में उनसे भिन्न दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होती है-यह भी क्यों न सिद्ध होगा) ॥ २० ॥

(२० वें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—जिस प्रकार प्रदीप दृष्टान्त से दूसरे प्रमाण की आवश्यकता न होने के कारण प्रमाणान्तर (दूसरे प्रमाण) की आवश्यकता न होने की आपत्ति (दूसरे प्रमाणों के बिना) प्रत्यक्षादि प्रमाणों के सिद्ध करने के लिये ली जाती है, इसी प्रकार प्रमेय पदार्थों की भी बिना प्रमाणों के सिद्धि के लिये समानता होने से ली जाय। तथा जिस प्रकार अन्धकार में थाली आदि पदार्थों के रूप गुण का ज्ञान होने में प्रदीप के प्रकाश का ग्रहण होता है, उसी प्रकार प्रमाणों की सिद्धि के लिये भी लिया जाय, क्योंकि कोई दोनों में विशेष हेतु नहीं है (अर्थात् एक दीप को अन्धकार में पदार्थों को दिखाने के लिये दूसरे दीप के प्रकाश की आवश्यकता न होने से प्रकाश के समान प्रत्यक्षादि प्रमाण भी दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती इस लिये आपत्ति दी जाती है, जिससे प्रमेय पदार्थों के ज्ञान होने में भी प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है, इस लिये ऐसा मानने से प्रमाण मात्र का अभाव सिद्ध हो जायगा इसलिये आपत्ति ग्राह्य (लेने योग्य है) और भाष्य में यहाँ दिये थाली रूप दृष्टान्त को लेकर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता और प्रदीप दृष्टान्त को लेकर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती यह सूचित किया है) (आगे भाष्यकार व्यभिचार दोष को उक्त मत में दिखाते हुए कहते हैं कि)—वह यह विशेष हेतु के स्वीकार के बिना दीप तथा थाली रूप दोनों प्रकार का दृष्टान्त एक ही पक्ष में लेना चाहिये विरुद्ध पक्ष में नहीं लेना चाहिये इस प्रकार एक पक्ष में स्थित न होने के कारण व्यभिचारी (दुष्ट हेतु) है। (अर्थात् दूसरे प्रमाण की आवश्यकता न होने में प्रदीप दृष्टान्त लेना चाहिये, और उसके विरुद्ध थाली रूप दृष्टान्त में दूसरे प्रमाण की आवश्यकता रखने में नहीं लेना इस प्रकार व्यभिचारी हो जाता है, क्योंकि एक ही पक्ष लेने में कोई विशेष हेतु नहीं है, अतः कुछ विद्वानों का उपरोक्त मत असंगत है। और यदि दोनों उपरोक्त पक्षों में से एक पक्ष का साधक कोई विशेष हेतु का स्वीकार किया जाय तो उस पक्ष के दृष्टान्त के बल से उपसंहार (उपनय) नामक चतुर्थ अवयव का स्वीकार होने से उस पक्ष का निषेध न हो सकेगा। (अर्थात् किसी विशेष एक पक्ष के साधक हेतु से स्वीकृत उस पक्ष का दृष्टान्त दोनों पक्षों में से एक पक्ष में उपसंहार होने के कारण उसको नहीं मान सकते यह नहीं माना जा सकता। ऐसा होने से उपरोक्त विद्वानों का मत व्यभिचार दोष होने के कारण यह एक पक्ष का निषेध नहीं कर सकता। (यहाँ **'विशेष हेतु'** इत्यादि भाष्य से बिना विशेष हेतु का स्वीकार किये केवल दृष्टान्त को देखकर १९ वें सूत्र के भाष्य में कही रीति से विशेष हेतु का स्वीकार करने पर

एकस्मिंश्च पक्षे दृष्टान्त उपादेयो न प्रतिपक्षे दृष्टान्त इत्यनेकान्तो विशेषहेत्वभावादिति । विशेषहेतुपरिग्रहे सति उपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ।

विशेषहेतुपरिगृहीतस्तु दृष्टान्त एकस्मिन्पक्षे उपसंह्रियमाणो न शक्योऽननुज्ञातुम् । एवं च सत्यनेकान्त इत्ययं प्रतिषेधो न भवति ।

प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरुपलब्धावनवस्थेति चेद् ? न । संविद्विषयनिमित्तानामुपलब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः । प्रत्यक्षेणार्थमुपलभे, अनुमानेनार्थमुपलभे, उपमानेनार्थमुपलभे, आगमेनार्थमुपलभे इति, प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानुमानिकं मे ज्ञानमागमिकं में ज्ञानमिति संविद्विषयं संविन्निमित्तं चोपलभमानस्य धर्मार्थसुखापवर्गप्रयोजनस्तत्प्रत्यनीकपरिवर्जनप्रयोजनश्च व्यवहार उपपद्यते, सोऽयं तावत्येव निवर्त्तते । न चास्ति व्यवहारान्तरमनवस्थासाधनीयं येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति ॥ २० ॥

इति प्रमाणसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् ।

सामान्येन प्रमाणानि परीक्ष्य विशेषेण परीक्ष्यन्ते । तत्र—

अनिष्ट आपत्ति नहीं हो सकती यह सूचित होता है) (भाष्यचन्द्रकार रघूत्तम ने **'विशेष हेतु परिग्रहे सति'** इत्यादि भाष्य को सूत्र माना है) पूर्वोक्त प्रमाण में प्रमेयता सिद्ध होने से दी हुई अनवस्था दोष की शंका वा अनुवाद कर उत्तर देने के लिये पूर्वपक्षी के मत से शंका करता है कि—सिद्धान्ती के कथनानुसार यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उनका ज्ञान होता है ऐसा माना जाय तो प्रमाण रूप प्रत्यक्षादिकों के जानने के लिये दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष आवेगा" तो ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि संवित् (ज्ञान के) विषयों निमित्तों (कारणों) के ज्ञान से संपूर्ण व्यवहार हो सकते हैं । कारण यह कि 'मैं प्रत्यक्ष से विषय को जानता हूँ, अनुमान से अर्थ को जानता हूँ, उपमान से विषय को जानता हूँ, आगम (शब्द प्रमाण) से विषय का मुझे ज्ञान है इस प्रकार तथा 'मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है, मुझे अनुमान से उत्पन्न ज्ञान है, मुझे उपमान द्वारा ज्ञान है, तथा आगम (शब्द) से उत्पन्न हुआ ज्ञान है—इस प्रकार ज्ञान के विषय तथा ज्ञान निमित्त (कारण प्रमाण) को जानने वाले प्राणी का धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को देने वाला तथा उनके प्रतिबन्धक (रोकने वालों) को हटाने वाला सम्पूर्ण व्यवहार संसार में हो सकता है । इस प्रकार उसके सम्पूर्ण व्यवहार हो सकने के कारण उसकी निवृत्ति हो जायगी और कोई दूसरे व्यवहार बाकी नहीं रहते जिनसे पूर्वपक्षी का दिया अनवस्था रूप दोष आ सकेगा, (अर्थात् सम्पूर्ण संसार के व्यवहार संपन्न हो जाने से अनवस्था दोष नहीं हो सकता) ॥ २० ॥

(३) प्रत्यक्षपरीक्षा प्रकरण

(इस प्रकार सामान्य रूप से प्रमाण पदार्थों की परीक्षा करने के पश्चात् क्रमप्राप्त प्रथम प्रत्यक्ष नामक विशेष प्रमाण की परीक्षा की प्रतिज्ञा करते हुए २१ वें पूर्वपक्ष सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—पूर्व ग्रन्थ में सामान्य रूप से प्रमाणों की परीक्षा कर उनकी विशेष रूप से परीक्षा की जाती है, उसमें से—

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात ॥ २१ ॥

आत्ममनःसन्निकर्षो हि कारणान्तरं नोक्तमिति ॥ २१ ॥

न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजन्यस्य गुणस्योत्पत्तिरिति, ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादात्ममनःसन्निकर्षः कारणम्। मनःसन्निकर्षानिपेक्षस्य चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वे युगपदुत्पद्येरन् बुद्धय इति मनःसन्निकर्षोऽपि कारणम्। तदिदं सूत्रं पुरस्तात्कृतभाष्यम्—

पदपदार्थ = प्रत्यक्ष लक्षणानुपपत्तिः = प्रथम प्रमाण प्रत्यक्ष का 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं' यह लक्षण नहीं बन सकता, असमग्रवचनात् = आत्मा तथा मन का संनिकर्ष इत्यादि संपूर्ण प्रत्यक्ष के लक्षणों में न कहने के कारण ॥ २१ ॥

भावार्थ = सिद्धान्ती ने 'इन्द्रिय तथा संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं', ऐसा जो प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहा है वह अयुक्त है क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष के समान आत्मा तथा मन का संनिकर्ष भी कारण होता है, उसे सिद्धान्ती ने लक्षण में नहीं कहा है, अतः सम्पूर्ण लक्षणों के न कहने के कारण यह प्रत्यक्ष लक्षण असंगत है। (यह पूर्वपक्षी का सूत्र है जिसमें लक्षण पद से दूसरे की व्यावृत्ति (भेद) सिद्ध होता है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है, किन्तु यह लक्षण जो असम्पूर्ण है सम्पूर्ण प्रत्यक्ष व्यक्तियों में न रहने से होगा, अथवा अति व्यापक होने पर आवश्यक दूसरे विशेषणों के न कहने से होगा। प्रस्तुत में दोनों बातें नहीं हो सकतीं। अतः यथाश्रुत में लक्षण पद से कारण ही कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। अतः प्रतीति के अनुसार ही पूर्वपक्ष इस सूत्र में है यह सिद्ध होता है) ॥ २१ ॥

(पूर्वपक्षी के २१ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष के समान प्रत्यक्ष में आत्मा तथा मन का संनिकर्ष भी कारण है जिसे सिद्धान्ती ने प्रत्यक्ष लक्षण में नहीं कहा है ॥ २१ ॥

(२२ वें पूर्वपक्ष सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बिना द्रव्य के संयोग के संयोग से उत्पन्न होने वाले गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः ज्ञान रूप गुण की उत्पत्ति देखाने के कारण आत्मा तथा मन का संनिकर्ष भी प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण है यह मानना होगा। एवं मन के संनिकर्ष की आवश्यकता न रखने वाले ही इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण माना जाय तो, एक ही काल में अनेक ज्ञान होने लगेंगे, इस कारण मन का संनिकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है यह मानना होगा। इस आशय को इस २२ वें सूत्र को भाष्य में कर दिया है, वह यह पूर्वपक्षी का सूत्र है—

पदपदार्थ = न = नहीं हो सकती, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन इन दोनों के, संनिकर्षभाव = संनिकर्ष के न रहते, प्रत्यक्षोत्पत्तिः = प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति ॥ २२ ॥

भावार्थ = बिना द्रव्य के संयोग के संयोग से उत्पन्न होने वाले गुण नहीं होते—और ज्ञान रूप गुण की उत्पत्ति देखने में तो आती है, अतः आत्मा तथा मन का संनिकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है यह भी मानना होगा। एवं यदि मन के संनिकर्ष की आवश्यकता न रखने वाला केवल इन्द्रिय तथा अर्थ का संनिकर्ष ज्ञान में कारण होता है, ऐसा माना जाय तो एक ही काल में अनेक ज्ञान होने लगेंगे इस कारण आत्मा और मन का संनिकर्ष भी ज्ञान में कारण होता है यह भी मानना होगा। (यहाँ पर **'न चासंयुक्ते द्रव्ये'** इत्यादि भाष्य को **'नात्ममनसोः'** इत्यादि सूत्र

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २२ ॥

आत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे नोत्पद्यते प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाववदिति ॥

सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् कारणभावं ब्रुवतो—

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ २३ ॥

दिगादिषु सत्सु ज्ञानभावात्तान्यपि कारणानीति । अकारणभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिर्दिगादिसन्निधेरवर्ज्जनीयत्वात् । यद्यप्यकारणं दिगादीनि ज्ञानोत्पत्तौ,

---

को न पढ़कर ही उसकी व्याख्या करते हैं ऐसी तात्पर्यटीकाकार ने व्याख्या की है। **'तदिदं सूत्रं'** यह आगे का सूत्र न पढ़कर ही हमने पहले ही व्याख्या की है ऐसा भाष्यकार का कहना है। तथा **'नात्ममनसोः'** यह पूर्वपक्ष का सूत्र है, क्योंकि (भाष्यकार ने ऐसा कहा है) यदि इसे सिद्धान्त सूत्र माना जाय तो, **'ज्ञानलिंगत्वात्'** तथा **'तदयौगपद्य०'** यह सूत्र भी व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि पूर्वसूत्र में यह चरितार्थ होता है ऐसी उदयनाचार्य ने परिशुद्धि में समालोचना की है। (आत्मा और मन का संनिकर्ष न हो तो प्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न होगा, अतः इसका भी प्रत्यक्ष के लक्षण सूत्र में निवेश करना आवश्यक है। यह पूर्वपक्षी के सूत्र का आशय है)॥

(२२ वें सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षिमत से और व्याख्या भी करते हैं)—कि आत्मा तथा मन के संनिकर्ष के न रहने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता जिस प्रकार इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के न रहने पर प्रत्यक्ष नहीं होता। इस कारण मनःसंनिकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है॥ २२ ॥

(इस प्रकार दो २१ तथा २२ के सूत्रों से पूर्वपक्ष होने पर, केवल इनकी (इन्द्रियार्थ संनिकर्ष, मनःसंनिकर्ष की) सत्ता से कारणता पूर्वपक्षी ने मानी है यह समझ कर समीप बैठा हुआ मध्यस्थ सिद्धान्ती तथा पूर्वपक्षी इन दोनों को **'सति च'** यहाँ से २३ वें सूत्र के सहित **'कारणानि'** यहाँ तक के भाष्य में आपत्ति देता है। यह मध्यस्थ ही का वाक्य है न कि पूर्वपक्षी या सिद्धान्ती का, क्योंकि यदि यह वाक्य पूर्वपक्षी का हो तो आत्ममनः संनिकर्षादिकों के अकारणता के कथन से प्रत्यक्ष लक्षण के संपूर्ण न होने के कारण पूर्वपक्ष का विरोध होगा, और यदि यह वाक्य सिद्धान्ती का हो तो, सिद्धान्त भंग हो जायगा। इस मध्यस्थ के आशय से भाष्यकार २३ वें सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—"इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष के रहते ज्ञान की उत्पत्ति होती है यह दिखाने के कारण उसको प्रत्यक्ष में कारणता है ऐसा कहने वाले पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती के मत में"—

पदपदार्थ—दिग्देशकालाकाशेषु अपि = दिशा, देश, काल तथा आकाश द्रव्यों में भी, एवं = ऐसा (कारण) होने का, प्रसंगः = आपत्ति आ जायगी ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के रहते प्रत्यक्ष होता है अतः वह प्रत्यक्ष में कारण है ऐसा मानने वाले पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों के मत में दिशा, देश, काल तथा आकाशादिकों के भी रहते ही प्रत्यक्ष होने से ये ही प्रत्यक्ष में कारण हैं ऐसा मानना पड़ेगा ॥ २३ ॥

(मध्यस्थ मत से सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—दिशा, देश, काल आदि व्यापक तथा नित्य द्रव्यों के रहते प्रत्यक्षादि ज्ञान होता है इस कारण दिशा आदि को भी पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती को प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण मानना होगा (अर्थात् केवल-सत्ता से कोई किसी में कारण नहीं होता, यदि केवल सत्ता से कारण माना जाय तो आकाश, काल आदि भी प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होने लगेंगे। पूर्वपक्षी की कही आत्मा और मन के संयोग की कारणता, तथा सिद्धान्ती की

तदापि सत्सु दिगादिषु ज्ञानेन भवितव्यं, न हि दिगादीनां सन्निधिः शक्यः परिवर्जयितुमिति। तत्र कारणभावे हेतुवचनमेतस्माद्धेतोर्दिगादीनि ज्ञान-कारणानीति ॥ २३ ॥

आत्ममनःसन्निकर्षस्तर्ह्युपसङ्ख्येय इति ? तत्रेदमुच्यते—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ २४ ॥

कही इन्द्रियादि संनिकर्ष में कारणता तो केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के पूर्व में उनके रहने से ही कही गई है, जिससे आकाशादिकों में भी कारणता आने की आपत्ति आ जायगी, अतः आत्ममनः-संनिकर्ष एवं इन्द्रियार्थसंनिकर्ष ये दोनों भी प्रत्यक्ष में कारण नहीं हो सकते, यह मध्यस्थ का गूढ आशय है) (उक्त मध्यस्थ की आपत्ति का सूत्र की व्याख्या में परिहार करते हुए भाष्यकार आगे कहते है)—यदि दिशा आदि को ज्ञान में कारण न मानें तो भी उनकी समापता को हटाना अशक्य होने से उनके रहते ज्ञान उत्पन्न होता ही है, अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति में यदि दिशा आदि को कारण न माना जाय तब भी उनके रहते ही ज्ञान होगा। क्योंकि नित्य एवं व्यापक होने के कारण इन्हें हटाना अशक्य है। तब वह दिशा आदिक ज्ञान में कारण हैं इसमें कोई मध्यस्थ को विशेष हेतु कहना होगा, कि इस कारण से दिशा, काल, आदि प्रत्यक्षादि ज्ञानों में कारण हैं, अतः दिशा आदि ज्ञान में कारण नहीं हो सकते। अर्थात् केवल अन्वय (दिशा आदि के रहते ज्ञान का होना) से ही दिशा, इन्द्रियार्थसंनिकर्ष आदि ज्ञान में कारण हैं यह निश्चय नहीं हो सकता, किन्तु अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों से ही कारण होने का निश्चय हो सकता है। अतः दिशा आदिकों के नित्य होने के कारण (दिशा आदि के न रहने पर ज्ञान नहीं होता) ऐसा व्यतिरेक न होने से दिशा आदि ज्ञान में कारण नहीं हो सकते। इन्द्रियसहित शरीर में वर्तमान आत्मा तथा मन के संयोग का तो अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों से कारण होने का सामर्थ्य निश्चित है, क्योंकि निद्रावस्था में प्रत्यक्षादिक नहीं होते यह मध्यस्थ के परिहार का आशय है) ॥ २३ ॥

(इस प्रकार मध्यस्थ के मत का खण्डन होने पर पुनः पूर्वपक्षी के मत से २४ वें सूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—'तो इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के समान आत्मा तथा मन का संनिकर्ष भी प्रत्यक्ष में पूर्वोक्त ज्ञान से कारण होने के कारण सिद्धान्ती को प्रत्यक्ष के लक्षण में कहना चाहिये' ऐसी पूर्वपक्षी शंका कर सकता है, उसके उत्तर में सूत्रकार ने यह कहा है—

पदपदार्थ—ज्ञानलिङ्गत्वात् = ज्ञानरूप लिङ्ग (हेतु) से आत्मा की सिद्धि होने के कारण, आत्मनः = आत्मा का, न = नहीं है, अनवरोधः = असंग्रह ॥ २४ ॥

भावार्थ—'प्रत्यक्ष होने में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के समान आत्ममनःसंनिकर्ष भी कारण होने के कारण प्रत्यक्ष के लक्षण में उसको क्यों नहीं कहा'—ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता क्योंकि ज्ञानरूप लिङ्ग (हेतु) ही से आत्मा सिद्ध होता है, अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मा का भी निवेश होने के कारण आत्ममनःसंनिकर्ष भी आ ही जाता है (यहाँ सूत्र के अवतरण में पूर्वपक्षी का आशय है कि यदि केवल सत्ता से कोई कारण नहीं होता, तथा दिशा काल आदि की अपेक्षा से आत्ममनःसंनिकर्ष में ज्ञान की कारणता स्पष्ट है, तो सिद्धान्ती को प्रत्यक्ष के लक्षण में निवेश करना चाहता था किन्तु विवरणकार का मत यह है कि यदि सत्तामात्र से कारणता नहीं होती, तो आत्ममनःसंनिकर्ष का भी त्याग कर देना चाहिये। यहाँ सूत्र में 'नानवरोधः' ऐसा न्यायसूची-निबन्ध में पाठ लिया है और 'नावरोधः' ऐसा बहुत से पुस्तकों में पाठ लिया है, इन दोनों

ज्ञानमात्मलिङ्गं तद्गुणत्वात्। न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिरस्तीति ॥ २४ ॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २५ ॥

अनवरोध इति वर्त्तते। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमित्युच्यमाने सिद्ध्यत्येव मनःसन्निकर्षापेक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो ज्ञानकारणमिति ॥ २५ ॥

पक्षों में **'संग्रह नहीं ऐसा नहीं'** किन्तु संग्रह है यही अर्थ होता है और विवरणकार को **'नानवबोधः'** ऐसा पाठ संमत है जिसका अन्यथा सिद्ध न होना यह अर्थ है ॥ २४ ॥

(२४ वें सूत्र की भाष्यकार सिद्धान्ती के मत से व्याख्या करते हैं कि)—ज्ञान यह आत्मा का लिङ्ग (साधक हेतु) है, उस (आत्मा) का ही गुण होने से और बिना द्रव्य के संयोग के संयोग से उत्पन्न होने वाले गुण की उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण आत्ममनःसंनिकर्ष बिना कहे ही प्रत्यक्ष के लक्षण में आ ही जाता है। अतः पूर्वपक्षी की शंका नहीं हो सकती। (अर्थात् जिस कारण आत्मा के आधार से ही ज्ञान की सिद्धि होती है, इस कारण ज्ञानगुण आत्मा का साधक हेतु है यह इस भाष्य का तात्पर्य है)। (आत्मा इत्यादि भाष्य ग्रन्थ से लेकर **'प्रत्ययनिमित्तत्वात्'** इस सूत्र के पूर्व ग्रन्थ की व्याख्या में मतभेद मिलता है। विवरणकार के मत से **'आत्मा'** इत्यादि वाक्य का **'आत्ममनः'** संनिकर्ष को भी छोड़ देना चाहिये ऐसा तात्पर्य निकलता है जिसका २३ तथा २४ सूत्रों में उत्तर दिया है। उस पर पुनः पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि तब तो आत्ममनःसंनिकर्ष का भी प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में निवेश करना आवश्यक था वह क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर २५ वें सूत्र में है। वार्तिककार इत्यादिकों के मत से **'आत्मा'** इत्यादि वाक्य का तात्पर्य पहिले ही दिखा चुके हैं कि प्रत्यक्षलक्षण में आत्ममनःसंनिकर्ष का निवेश करना चाहिये, इसके उत्तर में २३ वाँ सूत्र है। आत्ममनःसन्निकर्ष के दूसरे प्रकार से सूचित होने के कारण उसे साक्षात्सूत्र में कहने की आवश्यकता नहीं है, यह इसका अर्थ है। वह कैसे सूचित है यह दिखाने के लिये चौबीसवाँ सूत्र है। उस पर पुनः यदि आत्ममनःसंनिकर्ष दूसरे प्रकार से सूचित होने से ही उसका प्रत्यक्ष के लक्षण में निवेश नहीं किया, ऐसा है तो इसी कारण से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के भी प्रत्यक्षलक्षण में निवेश की क्या आवश्यकता थी, इस शंका के समाधानार्थ २५ वाँ सूत्र है। आत्ममनःसंयोग का निवेश न होने पर ऐसी व्याख्या होने से इन्द्रियमनः संयोग के लक्षण में क्यों न कहा ? इस प्रश्न के उत्तर में २५ वाँ **'तदयौगपद्य'** इत्यादि सूत्र है यह भी यहाँ विद्वानों को विशेष आशय समझ लेना चाहिये) ॥ २४ ॥

पदपदार्थ—तदयौगपद्यलिङ्गत्वात् च = और अनेक (ज्ञान) के एक काल में न होने का साधक होने से, न = नहीं है, मनसः = मन का (असंग्रह) ॥ २५ ॥

भावार्थ—आत्मा के समान प्रत्यक्ष के लक्षण में अनेक ज्ञानों की एक काल में उत्पत्ति न होने का साधक होने से मन का भी समावेश नहीं है यह नहीं किन्तु समावेश है यह सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

(भाष्यकार २५ वें सूत्र में आवश्यक पूर्वसूत्र के **'अनवरोधः'** असंग्रह इस पद की आवृत्ति करते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अनवरोध (असंग्रह) यह इस सूत्र में पूर्व सूत्र से है। एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते ऐसा कहने पर मन के संनिकर्ष की अपेक्षा करने वाला ही इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञानों में कारण है ऐसा स्वयं सिद्ध होता है, इस कारण मनःसंनिकर्ष

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निमित्तमात्ममनःसन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्यैवेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इत्यसमानोऽसमानत्वात्तस्य ग्रहणम् ॥ २६ ॥

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥ २७ ॥

—को प्रत्यक्ष के लक्षण में न कहने की आपत्ति नहीं हो सकती ॥ (यहाँ पर २४ तथा २५ वें सूत्र में किया हुआ समाधान केवल प्रौढिवाद से (केवल प्रसिद्धी से) हैं, क्योंकि वार्तिक तथा तात्पर्यटीका में संपूर्ण ही प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों का प्रत्यक्ष के लक्षण में देना अत्यन्त आवश्यक नहीं है, यही पूर्वपक्षी के आपत्ति का ठीक उत्तर हो सकता है ऐसा स्पष्ट कहा है ॥ २५ ॥

("यदि उक्त प्रकार से मन के संनिकर्ष की अर्थात् प्राप्ति होती है इस कारण प्रत्यक्ष के लक्षण में उसे नहीं कहा हो तो, उसी प्रकार इन्द्रियार्थसंनिकर्ष भी अर्थात् प्रत्यक्ष का कारण है यह भी प्रतीत हो सकता है, तो उसका प्रत्यक्ष के लक्षण के सूत्र में उसे सिद्धान्तिमत से गौतम महर्षि ने क्यों कहा ?" इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षनिमि त्तत्वात् = संपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानों में कारण होने से ही, इन्द्रियार्थयोः = इन्द्रिय तथा पदार्थ दोनों के, संनिकर्षस्य = संयोगादि सम्बन्ध को, स्वशब्देन = अपने इन्द्रिय तथा अर्थ शब्द से, वचनम् = सूत्रकार ने प्रत्यक्ष के लक्षण मे कहा है ॥ २६ ॥

भावार्थ—आत्मा तथा मन का संनिकर्ष प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द से होने वाले ज्ञानों में कारण है और इन्द्रिय तथा पदार्थ का संयोगादि रूप संनिकर्ष केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही का कारण होता है इस कारण आत्ममनःसंनिकर्ष तथा इन्द्रियार्थसंनिकर्ष दोनों में समानता नहीं है, इस कारण समान होने के कारण इन्द्रियार्थसंनिकर्ष का ही प्रत्यक्ष के लक्षण में गौतम महर्षि ने ग्रहण किया है । (अर्थात् यदि आत्मा आदि कोई भी न कहे जांय तो प्रत्यक्ष का लक्षण न हो सकेगा, अतः उसके लक्षण के लिये कुछ अवश्य कहना होगा । उनमें से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष का ही कहना युक्त है क्योंकि घ्राणज, रासन आदि संपूर्ण प्रत्यक्षों में वह व्यापक हैं, न कि आत्ममनः संनिकर्ष तथा इन्द्रियमनःसंनिकर्ष, क्योंकि संपूर्ण प्रत्यक्षों में वे नहीं होते, अतः अव्याप्ति, एवं प्रत्यक्षभिन्न अनुमानादिकों में रहने से अतिव्याप्ति दोष भी आ जायगा यह सूत्रकार का समाधान का आशय है) ॥ २६ ॥

(२६ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द से होने वाले ज्ञानों में आत्मा तथा मन का संनिकर्ष कारण होता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थ का संयोगादिरूप संनिकर्ष तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही का कारण होता है, इस कारण दोनों में समानता नहीं है । इस कारण समानता न होने से अर्थात् प्रत्यक्ष ही में कारण होने से महर्षि-गौतम ने उस (इन्द्रियार्थसंनिकर्ष) का प्रत्यक्ष के लक्षण में ग्रहण किया है ॥ २६ ॥

(आगे पूर्वप्रदर्शित अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—सुप्तव्यासक्तमनसां च = और निद्रावस्था में रहने वाले, एक विषय में जिनका मन आसक्त हैं ऐसे मनुष्यों के भी, इन्द्रियार्थयोः = इन्द्रिय तथा अर्थों के, सन्निकर्षरूप निमित्त कारण से प्रत्यक्ष होने के कारण ॥ २७ ॥

भावार्थ—जब कभी नींद लेने के पूर्व 'मैं अमुक समय में उठूँगा,' ऐसी चित्त में इच्छा रख कर प्राणी सोता है तो उस प्रणिधान (इच्छा) के अनुसार जग जाता है, और यदि उसके

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति। एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः प्रणिधानवशात् प्रबुध्यते। यदा तु तीव्रौ ध्वनिस्पर्शौ प्रबोधकारणं भवतः तदा प्रसुप्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोधज्ञानमुत्पद्यते।

जागने के समय उसे उत्कर ध्वनि सुनाता है अथवा किसी ठण्डे अथवा गरम पदार्थ का उसके शरीर में स्पर्श होता है उस समय उस सोये हुए प्राणी का चक्षु या त्वचारूप इन्द्रिय के सन्निकर्ष से ही जागने की अवस्था में एकाएक लीन होता है, जिसमें आत्मा तथा मन का सन्निकर्ष मुख्य नहीं होता, किन्तु इन्द्रियार्थ सम्बन्ध ही मुख्य होता है, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा मन की प्रेरणा नहीं करता। इसी प्रकार किसी अवस्था में आत्मा दूसरे किसी विषय में चित्त के आसक्त होने पर इच्छा के अनुसार उस विषय की जिज्ञासा करता हुआ मन से इन्द्रिय को लगाकर उस विषय को जानता है, किन्तु कभी-कभी इच्छा तथा जिज्ञासा के न रहने पर भी तथा एक किसी विषय में चित्त के लगे रहने पर भी, बाहर के किसी अनिष्ट, माथे पर ढेला गिरना इत्यादि विषय के सम्बन्ध से जो अकस्मात् ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधान है न कि आत्ममनः-संनिकर्ष। क्योंकि इसमें भी आत्मा जिज्ञासापूर्वक मन की प्रेरणा नहीं करता। इसलिये भी प्रधान होने के कारण गौतम महर्षि ने प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ग्रहण किया है। इस सूत्र में **'सुप्त'** तथा **'व्यासक्त'** यह दोनों ही मन के विशेषण हैं। तथा सूत्र में **'इन्द्रियार्थ-संनिकर्षनिमित्तत्वात्'** ऐसा समस्त पद न रखकर **'इन्द्रियार्थयोः'** ऐसा पृथक् पद रखने से समास में सामार्थ्य नहीं है यह स्पष्ट है। किन्तु ऐसे असमर्थ समास के न करने में भी **'इन्द्रिय'** तथा **'अर्थ'** इन दोनों को ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करने में सामर्थ्य है, यह सूत्रकार का तात्पर्य प्रतीत होता है। यहाँ सुप्त तथा एक विषय में आसक्त-चित्त प्राणियों को जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से होने के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का सूत्रकार ने प्रत्यक्षलक्षण में निवेश किया है। ऐसा अग्रिम सूत्र की व्याख्या भाष्य के साथ सम्बन्ध लेकर सूत्र का अर्थ करना चाहिये।

(भाष्यकार सूत्र में आवश्यक पदों की अनुवृत्ति करते हुए २७ वें सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सुप्त तथा व्यासक्त चित्त वाले प्राणियों को जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसमें इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रधान होने कारण प्रत्यक्षलक्षण के सूक्त में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ग्रहण किया है, और आत्ममनःसन्निकर्ष का ग्रहण नहीं किया है। **'सुप्तमनसां'** इस सूत्र के विशेषण पद की भाष्य-कार व्याख्या करते हैं कि—किसी एक समय निद्रा लेने की इच्छा करने वाला प्राणी मैं अमुक समय में उठ जाऊँ इस प्रकार जागरणावस्था के काल की इच्छा कर निद्रा करता है, और इच्छा के अनुसार समय पर उठ भी जाता है। और किसी-किसी समय तो उठने के समय की इच्छा न कर ही निद्रावस्था में सो जाता है, और उस निद्रावस्था में ही यदि कोई वाद्यादिकों की उत्कट ध्वनि अथवा अग्नि, जल आदि उष्ण अथवा शीतपदार्थ का शरीर में स्पर्श होने से उसकी निद्रा भंग हो जाती है, उस समय उस सुप्त (सोये हुए) प्राणी को जो अकस्मात् जागरणावस्था में ध्वनि तथा स्पर्श का ज्ञान होता है उसमें उपरोक्त ध्वनि अथवा स्पर्श के सम्बन्ध की प्रधानता होने के कारण उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधान कारण है, क्योंकि उससे भये आत्मा तथा मन का सन्निकर्ष होने पर भी वह प्रधान नहीं है, कारण यह कि अकस्मात् भये हुए उस जागरणावस्था के ज्ञान को आत्मा जिज्ञासा रखता हुआ मन की प्रेरणा नहीं करता। (यहाँ पर **'एकदा'** इत्यादि प्रथम पक्ष में साधारण अनुभव तथा **'यदा तु'** इस दूसरे पक्ष में विशेष अनुभव लेना चाहिए) अर्थात् सायंकाल के समय सूतने (शयन करने) वाला प्राणी मैं 'आधी रात को जग जाऊँगा' ऐसा मन में

तत्र न ज्ञातुर्मनसश्च सन्निकर्षस्य प्राधान्यं भवति। किं तर्हि? इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य। न ह्यात्मा जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनस्तदा प्रेरयतीति।

एकदा खल्वयं विषयान्तरासक्तमनाः सङ्कल्पवशाद्विषयान्तरं जिज्ञासमानः प्रयत्नप्रेरितेन मनसा इन्द्रियं संयोज्य तद्विषयान्तरं जानीते। यदा तु खल्वस्य निःसङ्कल्पस्य निर्जिज्ञासस्य च व्यासक्तमनसो बाह्यविषयोपनिपातनाज् ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यम्। न ह्यत्रासौ जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनः प्रेरयतीति। प्राधान्याच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यं गुणत्वाद् नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति ॥ २७ ॥

प्राधान्ये च हेत्वन्तरम्—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २८ ॥

रखकर यदि आधी रात में जग जाय तो उसमें मन का सन्निकर्ष कारण है ही और जब कि उठने के समय की इच्छा न कर शयन किया हुआ प्राणी अकस्मात् बजे हुए वाद्यादिकों की उत्कट ध्वनि, अथवा किसी अग्नि, जल आदि द्रव्यों का शरीर में स्पर्श होने के कारण एकाएक जाग जाता है उस जागरणावस्था के ज्ञान में मन के सन्निकर्ष का कोई व्यापार नहीं होता ऐसा दोनों पक्षों का आशय है, जिसमें द्वितीय पक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रधान है यह सिद्ध होता है।) (इस प्रकार सूत्र के **'सुप्तमनसां'** इस पद की व्याख्या करने के पश्चात् **'व्यासक्तमनसां'** इस पद की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि—किसी समय, किसी एक ही विषय में जिसका चित्त आसक्त है ऐसा प्राणी अपनी इच्छा के अनुसार उस विषय की जिज्ञासा रखता हुआ प्रयत्नपूर्वक प्रेरणा किये मन से चक्षु आदि इन्द्रियों को सम्बद्ध कर उस विषय को जानता है (यह साधारण ज्ञान है जिसमें मन के सन्निकर्ष का व्यापार है यह स्पष्ट है)॥ और जब किसी समय इच्छा तथा जिज्ञासा न रखता हुआ यह प्राणी किसी एक ही विषय में चित्त के आसक्त होने पर भी बाहर के अनिष्ट (मस्तक पर ढेले गिरना अथवा किसी के मारना) आदि विषयों का सम्बन्ध होने के कारण दूसरे विषयों का ज्ञान होता है (अर्थात् एक ही विषय में आसक्त मन) उससे अकस्मात् हट जाता है, इसमें भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष ही प्रधान है, क्योंकि आकस्मिक होने से उस समय आत्मा जिज्ञासापूर्वक प्रयत्न से मन प्रेरणा नहीं कर सकता। (जिससे इसमें मन के सन्निकर्ष का कोई व्यापार नहीं होता यह सूचित होता है) अतः उपरोक्त प्रकार से इस दूसरे पक्ष में भी प्रधान होने के कारण प्रत्यक्ष के लक्षण में ग्रहण करना चाहिये और प्रधान न होने के कारण मन के सन्निकर्ष का ग्रहण नहीं करना चाहिये, ऐसा गौतम महर्षि का गूढ आशय है ॥ २७ ॥

(२८ वें सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रधान होने का यह दूसरा भी कारण (हेतु) है—

पदपदार्थ—तैः च = और उस इन्द्रिय तथा पदार्थों से, अपदेशः = व्यवहार होता है, ज्ञान-विशेषाणाम् = घ्राणज, रासन, चाक्षुष इत्यादि विशेष प्रत्यक्ष ज्ञानों का ॥ २८ ॥

भावार्थ—नाक से सूंघता है, आँख से देखता है, जिह्वा से स्वाद लेता है, इत्यादि रूप से इन्द्रियों को लेकर तथा सुगंध का ज्ञान मुझे है, रूप का ज्ञान है, रस का जिह्वा से ज्ञान है, इत्यादि विषयों (अर्थों) को भी लेकर विशेष रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं, इस कारण भी प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रधान है न कि रहते हुए भी मन का संनिकर्ष प्रधान है ॥ २८ ॥

न्द्रियैरर्थैश्च व्यपदिश्यन्ते ज्ञानविशेषाः। कथं? घ्राणेन जिघ्रति, चक्षुषा रसनया रसयतीति, घ्राणविज्ञानं चक्षुर्विज्ञानं गन्धविज्ञानं रूपविज्ञानं ज्ञानमिति च। इन्द्रियविषयविशेषाच्च पञ्चधा बुद्धिर्भवति। अतः प्राधान्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्येति ॥ २८ ॥

यदुक्तमिन्द्रियार्थसन्निकर्षग्रहणं कार्यं, नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति, कस्मात्? सुप्तव्यासक्तमनसामिन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य ज्ञाननिमित्तत्वादिति?

सोऽयम्—

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २९ ॥

(२८ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उन, चक्षुरादि इन्द्रिय तथा अर्थ (रूपादि) में से ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विशेष (भेदों) का व्यवहार होता है (इस कारण भी प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष मुख्य कारण है) (प्रश्न) इन्द्रिय तथा अर्थों को लेकर विशेष प्रत्यक्षों का व्यवहार कैसे होता है? (उत्तर) घ्राण इन्द्रिय से गन्ध को सूंघता है, चक्षुरिन्द्रिय से रूप को देखता है, जिह्वा (रसनेन्द्रिय) से रस का स्वाद लेता है, यह घ्राण इन्द्रिय से भया हुआ गन्धज्ञान है, यह चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न रूप का ज्ञान है, यह रसनेन्द्रिय से उत्पन्न मधुरादि रस का ज्ञान है, यह घ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न गन्ध का ज्ञान है, यह चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न रूप का ज्ञान है इस प्रकार प्रत्यक्षों का विशेष व्यवहार होता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के रूप आदि विषयों के विशेष (भेद) ज्ञान से भी पाँच प्रकार के ज्ञान होते हैं इस कारण प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रधान है, (अर्थात् इन्द्रियों की संख्या के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान पाँच प्रकार के हैं) ॥ २८ ॥

(पूर्व सूत्रों में तीन प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रियार्थसंनिकर्ष ही है, न कि आत्ममनःसंनिकर्ष, अथवा इन्द्रिय और मन का संनिकर्ष, ऐसा सिद्धान्ती ने कहा है यह समझ कर, पूर्वपक्षी के २८ वें **'व्याहतत्वादहेतुः'** इस आक्षेप सूत्र के अवतरण को देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से कहते हैं कि)—इन्द्रिय तथा पदार्थ के संनिकर्ष ही को प्रत्यक्ष के लक्षण में स्वीकार करना चाहिये, न कि आत्मा तथा मन के संनिकर्ष का ऐसा जो सिद्धान्ती ने कहा था (पूर्वपक्षी का प्रश्न)—क्यों? (सिद्धान्ती का उत्तर) सुप्त तथा एक विषय में आसक्त चित्त प्राणियों के आकस्मिक होने वाले ज्ञानों में इन्द्रिय तथा पदार्थ का संनिकर्ष ही प्रधान रूप से ज्ञान में कारण है। इस कारण (पूर्वपक्षी कहता है)—वह यह (हेतु)—

पदपदार्थ—व्याहतत्वात् = विरोधी होने से, अहेतुः = सद्धेतु नहीं है ॥ २९ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती कहीं भी आत्मा और मन के सनिकर्ष को कारण न माने तो एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना मन का साधक लिङ्ग होता है, इससे मन की सिद्धि करना विरुद्ध हो जायगा, अर्थात् मन की सिद्धि की कोई आवश्यकता न रहेगी, क्योंकि (मनःसंनिकर्ष को कारण न मानने पर) इन्द्रियार्थसंनिकर्ष उसकी अपेक्षा ही नहीं रख सकता और मन के संयोग की अपेक्षा यदि करे तो एक काल में अनेक ज्ञानों के उत्पत्ति की आपत्ति आ जायगी। अतः इस व्याघात के हटाने के लिये यदि आत्मा तथा मन के संनिकर्ष को संपूर्ण ज्ञानों में कारण मानें तो, पुनः ज्ञान का कारण होने से प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्ममनःसंनिकर्ष का भी ग्रहण करना चाहिये यह पूर्वप्रदर्शित दोष वैसा ही रह जाता है ॥ २९ ॥

यदि तावत् कचिदात्मनसोः सन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं नेष्यते ? तदा 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्ग'मिति व्याहन्येत। नेदानीं मनसः सन्निकर्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपेक्षते। मनःसंयोगानपेक्षायां च युगपज् ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ मा भूद् व्याघात इति सर्वविज्ञानानामात्ममनसोः सन्निकर्षः कारणमिष्यते ? तदवस्थमेवेदं भवति ज्ञानकारणत्वादात्ममनसोः सन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यमिति ॥ २९ ॥

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३० ॥

नास्ति व्याघातो न ह्यात्ममनःसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं व्यभिचरति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यमुपादीयते। अर्थविशेषप्राबल्याद्धि सुप्तव्यासक्त-

---

(२९ वें पूर्वपक्ष सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा तथा मन के संनिकर्ष को सिद्धान्ती कारण नहीं मानता, तो **'एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का साधक लिङ्ग'** (हेतु) है यह सिद्धान्ती का कहना व्याहत (भंग) हो जायगा। क्योंकि आत्ममनःसंयोग के ज्ञान में कहीं भी कारण न होने से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष को मन के संनिकर्ष की आवश्यकता ही नहीं है, और मन के संयोग की आवश्यकता न होने से एक काल में अनेक चाक्षुषादि ज्ञान उत्पन्न होने की भी आपत्ति आ जायगी। यदि उपरोक्त इस व्याघात दोष के भय से संपूर्ण ज्ञानों में आत्मा तथा मन का संनिकर्ष कारण होता है ऐसा सिद्धान्ती मानें, तो पुनः हमारा पूर्वोक्त यह दोष वैसा ही आ जाता है कि प्रत्यक्ष के लक्षण में ज्ञानमात्र का कारण होने से आत्मा तथा मन के संनिकर्ष का समावेश होना चाहिये ॥ २९ ॥

उपरोक्त आक्षेप का सूत्रकार समाधान देते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं है (व्याघात दोष), अर्थविशेषप्राबल्यात् = सुप्त तथा एक विषयासक्त प्राणी को किसी अवस्था में पदार्थों की प्रबलता से प्रत्यक्ष होता है, अतः उसमें इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रधान होता है ऐसा कहने के कारण ॥ ३० ॥

भावार्थ—सुप्त तथा एक विषय में आसक्त चित्तवाले प्राणियों को जो आकस्मिक ज्ञान होता है उसमें इन्द्रियों के विशेष अर्थों की प्रबलता होती है, इस कारण उसमें इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रधान होता है यह सिद्धान्ती ने कहा है, न कि सामान्यरूप से ज्ञानों में आत्मा तथा मन का संनिकर्ष कारण नहीं होता, ऐसा कहा है, इस कारण **'सुप्तव्यासक्त'** इत्यादि सूत्र में कहा हुआ हेतु व्याहत (विरुद्ध) नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

(३० वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—२९ वें सूत्र में दिया हुआ पूर्वपक्षी का व्याघातरूप दोष नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा तथा मन के संनिकर्ष का किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति होने में व्यभिचार नहीं है। केवल सिद्धान्ती ने प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष ही प्रधान है ऐसा ग्रहण किया है (माना है)। (अर्थात् सिद्धान्ती ने इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष को प्रत्यक्ष में मुख्यता ही कही है न कि आत्मा तथा मन का संयोग, या इन्द्रियों तथा मन के संयोग के संपूर्ण ज्ञानों में कारण होने का निषेध किया है, अतः पूर्वपक्षी ने दिया व्याघात दोष नहीं आ सकता) (आगे उक्त व्याघात दोष के निराकरण का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—निद्रावस्था में अथवा एक ही किसी विषय में आसक्त चित्तवाले प्राणियों को किसी-

मनसां ज्ञानोत्पत्तिरेकदा भवति। अर्थविशेषः कश्चिदेवेन्द्रियार्थः, तस्य प्राबल्यं तीव्रतापटुते। तच्चार्थविशेषप्राबल्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयं नात्ममनसोः सन्निकर्षविषयम्, तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रधानमिति।

असति प्रणिधाने, सङ्कल्पे चासति, सुप्तव्यासक्तमनसां यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं तत्र मनःसंयोगोऽपि कारणमिति मनसि क्रियाकारणं वाच्यमिति।

यथैव ज्ञातुः खल्वयमिच्छाजनितः प्रयत्नो मनसः प्रेरक आत्मगुणः, एवमात्मनि गुणान्तरं सर्वस्य साधकं प्रवृत्तिदोषजनितमस्ति, येन प्रेरितं मन इन्द्रियेण सम्बध्यते। तेन ह्यप्रेर्यमाणे मनसि संयोगाभावाज् ज्ञानानुत्पत्तौ सर्वार्थताऽस्य निवर्त्तते। एषितव्यं चास्य गुणान्तरस्य द्रव्यगुणकर्मकारणत्वम्।

किसी समय (पूर्वोक्त दूसरे पक्षों में) बाह्य पदार्थविशेषों के प्रबलता के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है। इसमें सूत्र के **अर्थविशेष** शब्द का अर्थ है कोई इन्द्रिय का अर्थ (विषय)। उसकी तीव्रता (तीव्र होना), पटुता (मन्द होना) ही प्रबलता कहाती है। वह यह अर्थविशेष की प्रबलता इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष के विषय में होती है, न कि आत्मा तथा मन के संनिकर्ष के विषय में, इस कारण प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रधान होता है (ऐसा सिद्धान्ती ने कहा है अतः पूर्वपक्षी ने दिया हुआ व्याघात दोष नहीं हो सकता) (पुनः पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार प्रश्न दिखाते हैं कि)—"प्रणिधान (इच्छा) तथा, संकल्प के न रहते जो सुप्त तथा एक विषय में आसक्तचित्त पुरुषों को जो इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें मन का संयोग भी कारण है, तो उस संयोग को उत्पन्न करने वाली मन में क्रिया किस कारण से होती है, यह सिद्धान्ती को कहना चाहिये ऐसा प्रश्न है (अर्थात् जिस अवस्था में प्रयत्नादि मन के प्रेरक हैं उसमें मन का व्यापार तो कहा जाना सरल है किन्तु जिस अवस्था में सुप्त तथा आसक्तचित्त पुरुषों के ज्ञानों में प्रयत्नादि मन के प्रेरक नहीं हैं, उस अवस्था में मन के व्यापार का क्या कारण है ऐसा पूर्वपक्षी के प्रश्न का आशय है" इस प्रश्न का समाधान भाष्यकार देते हैं कि)—जिस प्रकार जाननेवाले आत्मा का यह इच्छा से होने वाला प्रयत्न प्रणिधानपूर्वक निद्रा तथा विषयासक्तचित्त में मन को प्रेरणा करता है, जो प्रयत्न आत्मा का गुण है, इसी प्रकार आत्मा में एक दूसरा अदृष्ट नामक संपूर्ण योग तथा उसके साधन समुदाय को भी उत्पन्न करने वाला भी गुण है, जो दस प्रकार की पूर्वोक्त प्रवृत्ति तथा राग, द्वेष, मोह ऐसे तीन प्रकार के दोषों से उत्पन्न भया है, जिस अदृष्ट (धर्माधर्म) से प्रेरणा किया हुआ मन, बाह्य इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है यदि मन में अदृष्ट की प्रेरणा न हो तो दूसरा मन की क्रिया का कारण न होने से मन का इन्द्रियों से संबन्ध न होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति न होगी, जिससे अदृष्ट में संपूर्ण भोगादिकों को करना यह उसकी सर्वार्थता (सबके लिये होना-संपूर्ण कार्यों का कारण होना) न बनेगा। सर्वसाधकता अदृष्ट में न माने तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि इस अदृष्टरूप आत्मा के दूसरे गुण को द्रव्यगुण तथा कर्म का भी कारण मानना आवश्यक है, नहीं तो पृथिवी आदि चार प्रकार के कार्यों के मूल कारण सूक्ष्मरूप परमाणु तथा मन में इस अदृष्ट को छोड़कर दूसरा क्रिया को उत्पन्न करने वाला कारण न हो सकने से शरीर, इन्द्रिय तथा विषयरूप पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न न हो सकेंगे, यह आपत्ति आ जायगी॥ अर्थात् सुख-दुःख का संसार में भोग होना ही अदृष्ट

अन्यथा हि चतुर्विधानामणूनां भूतसूक्ष्माणां मनसां च ततोऽन्यस्य क्रियाहेतोरसम्भवात् शरीरेन्द्रियविषयाणामनुत्पत्तिप्रसङ्गः ॥ ३० ॥

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ ३१ ॥

यदिदमिद्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं वृक्ष इति एतत् किल *प्रत्यक्षं*, तत् खल्वनुमानमेव। कस्मात्? *एकदेशग्रहणात्* वृक्षस्योपलब्धेः। अर्वाग्भागमयं गृहीत्वा वृक्षमुपलभते। न चैकदेशो वृक्षः। तत्र यथा धूमं गृहीत्वा वह्निमनुमिनोति तादृगेव तद्भवति ॥ ३१ ॥

(धर्माधर्मरूप भाग्य) ही मुख्य फल है, जो बिना जन्म लेकर आयुष्य के बिना नहीं हो सकता, ऐसी व्याप्ति होने के कारण जन्म लेना तथा आयु होना इन दोनों को भी आक्षेप से (गौणरूप से) स्वीकार करता है (अर्थात् भोग के लिये जन्म तथा आयु की आवश्यकता है यह सिद्ध होता है) प्राणी को अपने सुख-दुःख का अनुभव करना ही भोग कहाता है, जिसका शरीर आयतन (स्थान) है। शरीर में मन के प्राप्त हुये बिना शरीर में भोग, अथवा भोग के सुख-दुःखरूप विषयों को, उनके कारण, अथवा ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता, इस कारण उस भोग की प्राप्ति के कारण मन की क्रिया का कारण अदृष्ट ही मानना पड़ेगा, यदि अदृष्ट न माना जाय तो वह संपूर्ण पृथिव्यादि द्रव्यरूपादि गुण तथा क्रियाओं का कारण होता है यह न हो सकेगा।) ॥ ३० ॥

(४) प्रत्यक्ष के अनुमान में अन्तर्भाव की परीक्षा का प्रकरण

(इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप की परीक्षा करने के पश्चात् उसके विषय को लेकर परीक्षा इस चतुर्थ प्रकरण में करते हुए पूर्वपक्षिमत से अनुमान में अन्तर्भाव होने के कारण प्रत्यक्ष पृथक् प्रमाण नहीं हो सकता, इस आशय का पूर्वपक्ष सूत्रकार सूत्र में दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष नामक प्रमाण, अनुमानं = अनुमान नामक प्रमाण है, एकदेशग्रहणात् = वृक्षादिकों के एकदेश (आगे के भाग) के देखने से, उपलब्धेः = (यह वृक्ष है इत्यादि) ज्ञान होने से ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो चक्षुरिन्द्रिय के वृक्ष में संयोगसंनिकर्ष होने पर 'यह वृक्ष है' ऐसा प्रत्यक्षरूप ज्ञान होता है वह अनुमान में ही अन्तर्गत हो सकता है, क्योंकि केवल वृक्ष के आगे के भाग को देखकर 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान होता है, केवल आगे का भाग तो वृक्ष नहीं है, अतः वह्नि के एकदेश धूम को देखकर जिस प्रकार वह्नि का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार वृक्ष के आगे के भाग को देखकर 'यह वृक्ष है' ऐसा अनुमान होता है न कि उससे भिन्न प्रत्यक्ष प्रमाण है। (यहाँ पर पूर्वपक्ष का यह संक्षेप में आशय है कि "अवयवों से भिन्न अवयवी (घटादि) पदार्थ नहीं है किन्तु वास्तविक पदार्थ अवयव ही हैं, उनमें से कुछ अवयवों को जानकर उनके साथ में रहनेवाले दूसरे अवयवों का अनुमान करने से उनके समुदाय को लेकर (यह वृक्ष है यह घट है) ऐसा ज्ञान होता है, उन प्रत्यक्ष होनेवाले अवयवों के साथ रहनेवाले अवयवों का अनुमान होता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमान प्रमाण से अन्तर्भाव होने के कारण **'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'** इस प्रमाण के विभागसूत्र से अधिक तथा न्यून प्रमाणों की व्यावृत्ति (भेद) नहीं हो सकता, अर्थात् प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से कम अथवा अधिक प्रमाणों का न होना नहीं हो सकता)" ॥ ३१ ॥

किं पुनर्गृह्यमाणादेकदेशाद् अर्थान्तरमनुमेयं मन्यसे! अवयवसमूहपक्षे अवयवान्तराणि, द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे तानि चावयवी चेति। अवयवसमूहपक्षे तावदेकदेशग्रहणाद् वृक्षबुद्धेरभावः नागृह्यमाणमेकदेशान्तरं वृक्षो गृह्यमाणैकदेशवदिति। अथैकदेशग्रहणादेकदेशान्तरानुमाने समुदायप्रतिसन्धानात् तत्र वृक्षबुद्धिः? न तर्हि वृक्षबुद्धिरनुमानमेवं सति भवितुमर्हतीति। द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे नावयव्यनुमेयोऽस्यैकदेशसम्बद्धस्याग्रहणात्, ग्रहणे चाविशेषादनुमेयत्वाभावः। तस्माद् वृक्षबुद्धिरनुमानं न भवति ॥३१॥

(३१ वें पूर्वपक्षी के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जो यह चक्षु, इन्द्रिय तथा वृक्षरूप पदार्थ के संयोग सम्बन्ध से 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान होता है, यह निश्चय से (आप) सिद्धान्ती का प्रत्यक्ष है, किन्तु यह निश्चय से अनुमान ही प्रमाण है। (प्रश्न सिद्धान्ती का)—क्यों ? (उत्तर पूर्वपक्षी का)—वृक्ष के आगे के भागरूप एकदेश का प्रत्यक्ष से ज्ञान होने से वृक्ष का ज्ञान होने के कारण। क्योंकि आगे के वृक्ष के भाग को प्रत्यक्ष से जानकर 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान जानता है। वह एकदेश (आगे का भाग) वृक्ष नहीं है, इस कारण वहाँ जिस प्रकार वह्नि के एकदेशरूप धूम को प्रत्यक्ष से देखकर वह्नि का ज्ञाता पुरुष अनुमान करता है, उसी प्रकार (वृक्ष के आगे के भाग को देखकर 'यह वृक्ष है' यह ज्ञान भी) अनुमान ही है"।

(इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से यह प्रश्न करता है कि)—आप चक्षु से देखने वाले वृक्ष के आगे के भाग से अनुमान करने योग्य दूसरा पदार्थ क्या मानते हैं? (इस प्रश्न पर पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि)—अवयव समुदायरूप ही अवयवों से भिन्न दूसरा कोई अवयवी पदार्थ नहीं होता है। इस बौद्धमत से एक प्रत्यक्ष भाग से जो दूसरे अप्रत्यक्ष भाग (अवयव) हैं, उन्हें हम अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं ऐसा अवयवांश तथा अवयवों से भिन्न अवयविरूप पदार्थ उत्पन्न होता है इस नैयायिकादि पक्ष में वे कारणरूप अवयव तथा कार्यरूप अवयवी की अनुमान प्रमाण से सिद्धि होती है ऐसा हमारा (पूर्वपक्षी का) मत है"। (भाष्यकार इस पूर्वपक्ष के प्रथमपक्ष का सिद्धान्ती के मत से ऐसा खण्डन करते हैं कि)—अवयवसमूह पक्ष में तो एकदेश के ज्ञान से 'यह वृक्ष है' ऐसी वृक्ष-बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि न दिखाई पड़ने वाला पिछला वृक्ष का दूसरा एकदेश भी वृक्ष नहीं है (दीखने वाले आगे के भाग के समान), इस कारण बौद्धपक्ष से पूर्वपक्ष मत युक्त नहीं है (अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्ष से देखा हुआ केवल वृक्ष का आगे का भाग वृक्ष नहीं है उसी प्रकार अनुमान करने में मध्य तथा पिछला भाग भी वृक्ष नहीं है, अतः 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान का ही लोप हो जायगा) यदि पूर्वपक्षी का ऐसा आशय हो कि "आगे के कुछ वृक्ष के अवयवों को देखकर उसके साथ में वृक्ष में रहने वाले मध्य तथा पिछले भागों की अनुमान से सिद्धि करने के पश्चात् उन दोनों प्रकार के वृक्ष के अवयवों में समुदाय का उसी वृक्ष में उक्त दोनों प्रकार के अवयव हैं, ऐसा अनुसंधान करने से उसमें 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान होता है, अतः अनुमान में प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव होने के कारण प्रत्यक्ष दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता" (तो इसका सिद्धान्तिमत से भाष्यकार समाधान देते हुए कहते हैं कि)—यदि ऐसा है तब तो 'यह वृक्ष है' यह ज्ञान अनुमान नहीं हो सकता (क्योंकि बौद्धमतानुसार पूर्वपक्षी ने दूसरे न दीखने वाले भागों की ही अनुमान से सिद्धि मानी है न कि 'यह वृक्ष है' इसकी अनुमान द्वारा सिद्धि मानी है। जिससे प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थान से

एकदेशग्रहणमाश्रित्य प्रत्यक्षस्यानुमानत्वमुपपाद्यते । तच्च—

न, प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३२ ॥

न प्रत्यक्षमनुमानम् । कस्मात् ? *प्रत्यक्षेणैवोपलम्भात्* । यत् तदेकदेशग्रहणमाश्रीयते प्रत्यक्षेणासावुपलम्भः । न चोपलम्भो निर्विषयोऽस्ति । यावच्चार्थजातं तस्य विषयस्तावदभ्यनुज्ञायमानं प्रत्यक्षव्यवस्थापकं भवति ।

पूर्वपक्षी का पराजय हुआ । (दूसरे अवयवों से भिन्न अवयवी मानने को भी नैयायिकादि पक्ष से दिये पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अवयवों से पृथक् अवयवीरूप द्रव्य उत्पन्न होता है इस पक्ष में वृक्षरूप अवयवी का अनुमान न हो सकेगा, क्योंकि मध्य तथा पिछले भागों में भी वर्तमान अवयवी का ग्रहण नहीं हुआ है, यदि उसका भी ग्रहण हुआ हो तो, आगे के भागों के दीखने वाले अवयवों के समान होने से मध्य तथा पश्चिम भाग के अवयवी का भी अनुमान न होगा, इस कारण 'यह वृक्ष है' यह ज्ञान अनुमानप्रमाण से नहीं हो सकता (अर्थात् यदि वृक्षरूप अवयवी की अनुमानप्रमाण से सिद्धि मानें तो उसके साथ उसके अवयवों का व्याप्तिरूप सम्बन्ध अवश्य मानना होगा, बिना सम्बद्ध (सम्बन्ध रखनेवाले) अवयवी तथा अवयव इन दोनों के सम्बन्ध का ग्रहण होना असंभव है, (अर्थात् अवयवी तथा अवयवों के व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ज्ञान के समय में अवयवी का भी ज्ञान होता है, यह भी मानना होगा, जिससे वृक्षादिरूप अवयवी का प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञान होता है, यह भी पूर्वपक्षी को मानना पड़ेगा, तो फिर वृक्षरूप अवयवी की वह अनुमान द्वारा सिद्धि कैसे मान सकता है) ॥ ३१ ॥

(अग्रिमसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पूर्वपक्षी आगे के दीखने वाले एकदेश का ज्ञान मानकर ही प्रत्यक्षप्रमाण को अनुमानप्रमाण मानता है, और वह —

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्षप्रमाण से, यावत्तावत् अपि = जितने भाग का ज्ञान होता है उतना भी, उपलंभात् = ज्ञान होता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी जो आगे के भागों का ज्ञान मानकर वृक्षबुद्धि की अनुमान से सिद्धि मानता है, उसमें जितने आगे के भागों का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण से ही होता है। उसका विषय कोई नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कोई भी ज्ञान विषयरहित नहीं होता। अतः जितना आगे के भाग का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष से ही होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण तो सिद्ध हो ही जाती है । यहाँ पर **'तच्चेति'** इस भाष्य के अन्तिम अवतरण पद की सूत्र के **'न'** इस पद से योजना का प्रत्यक्ष अनुमान नहीं हो सकता ऐसा अर्थ करना चाहिये) ॥ तस्मात् पूर्वपक्षी का मत असंगत है ॥ ३२ ॥

(३२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रत्यक्षप्रमाण अनुमान के अन्तर्गत नहीं हो सकता । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—प्रत्यक्षप्रमाण से ही उपलंभ (ज्ञान) होने के कारण । जो पूर्वपक्षी ने हेतुरूप से आगे के दीखने वाले एकदेशी का ज्ञान माना है वह प्रत्यक्षप्रमाण से उपलंभ (ज्ञान) होता है । वह उस ज्ञान का कोई विषय नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता (क्योंकि कोई भी ज्ञान विषयरहित नहीं होता, अतः जितना आगे का दिखाई पड़नेवाला एक भाग है, वही उस ज्ञान का विषय है ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष नामक प्रमाण तो सिद्ध हो हो जाता है । अर्थात् आगे के भाग का प्रत्यक्ष से ज्ञान होने के कारण 'प्रत्यक्ष अनुमान ही है' ऐसी पूर्वपक्षी

किं पुनस्ततोऽन्यदर्थजातम् ? अवयवी, समुदायो वा । न चैकदेशग्रहणमनुमानं भावयितुं शक्यं हेत्वभावादिति ।

अन्यथापि च प्रत्यक्षस्य नानुमानत्वप्रसङ्गस्तत्पूर्वकत्वात् । प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं सम्बद्धावग्निधूमौ प्रत्यक्षतो दृष्टवतो धूमप्रत्यक्षदर्शनादग्नावनुमानं भवति । तत्र यच्च सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षं, यच्च लिङ्गमात्रप्रत्यक्षग्रहणं नैतदन्तरेणानुमानस्य प्रवृत्तिरस्ति । न त्वेतदनुमानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् । न चानुमेयस्येन्द्रियेण सन्निकर्षादनुमानं भवति । सोऽयं प्रत्यक्षानुमानयोर्लक्षणभेदो महानाश्रयितव्य इति ॥ ३२ ॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३३ ॥

की प्रतिज्ञा, एकदेश के ज्ञान से उपलब्धि होने के कारण इस हेतु से विरुद्ध होने के कारण यह विरुद्ध नामक दुष्ट हेतु हो जाता है और एकदेश का प्रत्यक्ष से ज्ञान न माना जाय तो दूसरे इसमें प्रमाण के न होने के कारण हेतु असिद्ध दुष्टहेतु हो जायगा । अतः दोनों पक्ष से पूर्वपक्षी रस्सी के फांसे में पड़ जायगा । (प्रश्न पूर्वपक्षी का)—इस दीखने वाले अवयवों से भिन्न दूसरा पदार्थ क्या है ? (उत्तर सिद्धान्ती का)—हमारे मत से अवयवी तथा बौद्धपक्ष से अवयवों का समुदाय । (यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'सिद्धान्ती के दिया हुआ हमारे हेतु में असिद्धि दोष नहीं हो सकता, क्योंकि हम अनुमानप्रमाण से ही न दीखने वाले अवयवों का ज्ञान मानते हैं' तो भाष्यकार सिद्धान्त मत से उत्तर देते हैं कि)—ऐसा सत् हेतु न रहने के कारण एकदेश (न दीखने वाले भाग) का ज्ञान अनुमान है यह नहीं कहा जा सकता, (अर्थात् अनवस्था दोष आने के कारण ऐसा हेतु न होने से न दीखने वाले भाग का ज्ञान अनुमान ही है यह पक्ष पूर्वपक्षी का संगत नहीं है)। (प्रत्यक्ष के अनुमान न होने से दूसरी युक्ति दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष में अनुमान होने की आपत्ति नहीं आ सकती प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमान भी होता है । व्याप्तिरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध वह्नि तथा धूम को प्रत्यक्ष महानस में देखे हुए ही मनुष्य को पर्वत पर प्रत्यक्ष धूम को देखकर 'पर्वत अग्निवाला है' ऐसा अनुमान होता है । उसमें जो महानस में सम्बद्ध धूमरूप लिङ्ग (हेतु) तथा वह्निरूप लिङ्गी (साध्य का) प्रत्यक्ष पूर्व में आता है, और जो पर्वत पर केवल लिङ्गधूम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इन दोनों के विना अनुमानप्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती । यह दोनों महानस तथा पर्वत में प्रत्यक्षरूप ज्ञान अनुमान नहीं है क्योंकि चक्षु, इन्द्रिय तथा वह्नि एवं धूम तथा केवल धूम का क्रम से सन्निकर्ष (संयोग) होने से यह दोनों ज्ञान होते हैं । अनुमान करने योग्य साध्य वह्नि का इन्द्रियसंनिकर्ष से ज्ञान होना अनुमान नहीं होता । अतः यह उपरोक्त इन्द्रियसंनिकर्ष से होना प्रत्यक्ष का तथा प्रत्यक्षपूर्वक होना यह अनुमान का लक्षण, परस्पर अत्यन्त भिन्न है, यह अवश्य मानना होगा । इस कारण प्रत्यक्ष अनुमान ही है, यह पूर्वपक्षी का मत असंगत है ॥ ३२ ॥

(आगे प्रसंग से प्राप्त अवयवी की परीक्षा करने का प्रकरण है, जिसमें बौद्ध का ऐसा पूर्वपक्ष हो सकता है कि 'नैयायिकों के मत में जो अवयवों से भिन्न घटादि अवयवी हैं, वह हमारे मत में परमाणुरूप अवयवों का समूह ही है, हमारे मत में परमाणुओं का प्रत्यक्ष होता है आपके मत में नहीं होता, इस कारण हमारे मत में घटादि अवयवी का प्रत्यक्ष न होगा' इस आक्षेप के समाधान में सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

न चैकदेशोपलब्धिमात्रम् । किं तर्हि ? एकदेशोपलब्धिः तत्सहचरितावयव्युपलब्धिश्च । कस्मात् ? *अवयविसद्भावात्* । अस्ति ह्ययमेकदेशव्यतिरिक्तोऽवयवी तस्यावयवस्थानस्योपलब्धिकारणप्राप्तस्यैकदेशोपलब्धावनुपलब्धिरनुपपन्नेति ।

अकृत्स्नग्रहणादिति चेद् न, *कारणतोऽन्यस्यैकदेशस्याभावात्* । न चावयवाः

पदपदार्थ—न च = और नहीं हो सकते, एकदेशोपलब्धिः = एक भाग का ज्ञान, अवयवी सद्भावात् = उस एकदेश (अवयव) में अवयवों (परमाणुओं) से भिन्न अवयवी पदार्थ (घटादिकों की) सत्ता होने के कारण ॥ ३३ ॥

भावार्थ—घटादि पदार्थों में केवल परमाणुरूप एकदेश का ही ज्ञान नहीं होता किन्तु परमाणुओं से बने हुए उनसे भिन्न घटादिरूप अवयव की, तथा परमाणुरूप अवयव दोनों का ग्रहण होता है, क्योंकि परमाणु समुदाय से भिन्न घटादि, अवयवी भी अवयवों में रहता ही है। जब कि अवयवों में रहनेवाले घटादि अवयवी का ज्ञान होने का कारण है तो केवल परमाणु समूह-रूप, अवयवों का ही घटादिकों में ग्रहण होता है, अवयवों से भिन्न अवयवों का नहीं होता यह नहीं कहा जा सकता। तात्पर्यटीकाकार ने न्यायसूचीनिबन्ध में 'न मिलने के कारण यह सूत्र नहीं माना है तथा उस इस भाष्य के पीछे भाषण कर वार्तिककार व्याख्या करते हैं ऐसी व्याख्या भी वाचस्पति मिश्र ने की है। अवयवी की सत्ता न मानकर पूर्वपक्षी ने एकदेश के ज्ञान से वृक्ष ज्ञान को अनुमान कहा था, किन्तु यह केवल एकदेश ही का ज्ञान नहीं है, किन्तु उसके साथ रहने वाले अवयवी का भी ज्ञान होता है, क्योंकि वह भी उपलब्धि (प्राप्ति) के लक्षण से प्राप्त होने के कारण सिद्ध होता है यह सिद्धान्त सूत्र का आशय है) ॥ ३३ ॥

(३३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—केवल वृक्ष के दीखने वाले. एकदेश ही का ज्ञान नहीं होता। (प्रश्न)—तो किसका होता है ? (उत्तर)—एकदेशों का तथा उनके साथ रहने वाले अवयवी की भी उपलब्धि होती है । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—अवयवी की एकदेशों में सत्ता होने से। क्योंकि एकदेशों (अवयवों) से भिन्न वृक्षादि अवयवी भी पदार्थ हेतु हैं। अवयवों के समान देश में रहने वाले तथा उपलब्धि (ज्ञान) के कारण लक्षण में प्राप्त होने से उस अवयवी की एकदेश (अवयवों) का ज्ञान होने पर अवयवी का ज्ञान नहीं होता यह नहीं हो सकता। अर्थात् यह हेतु परिमाण तथा सावयवता और उद्भूतरूप ये द्रव्यज्ञान के कारण होते हैं, ये सब एकदेश अवयव वाले अवयवी में भी हैं अतः अवयव का ज्ञान होता है और अवयवी (वृक्षादिकों) का ज्ञान नहीं होता यह नहीं हो सकता। (आक्षेप पूर्वपक्षी का)—संपूर्ण अवयवों का ग्रहण न होने से (अवयवी का ग्रहण नहीं हो सकता) (उत्तर सिद्धान्ती का)—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि समवायि कारण को छोड़कर दूसरे एकदेश (अवयव) नहीं हैं। (यदि उपरोक्त पूर्वपक्षी के आक्षेप का यह आशय है कि वृक्ष के सभी अवयवों (हिस्सों) का ग्रहण तो होता ही नहीं, क्योंकि आगे के अवयवों से पीछे के अवयव व्यवधान से युक्त (छिपे) हैं, इस कारण सम्पूर्ण अवयवी का ग्रहण नहीं होता और यह आगे के दिखाई देनेवाले ही अवयवों में समाप्त भी नहीं है, इस कारण वह यह एकदेश का ज्ञान तो हटा ही नहीं) अर्थात् एकदेश के ग्रहण के निवृत्ति होने के लिये सिद्धान्ती अवयवी का ग्रहण मानते हैं, किन्तु इतने से सम्पूर्ण ग्रहण नहीं हो सकता, जिससे एकदेश की निवृत्ति हो जाय क्योंकि अवयवी के ग्रहण के होने पर भी संपूर्ण अवयवों का ग्रहण तो होता ही नहीं है, तथा अवयवी का भी ग्रहण नहीं होता, क्योंकि आगे के भाग में वर्तमान अवयवी का ग्रहण होने पर भी मध्य तथा पृष्ठभाग में वर्तमान अवयवी का

कृत्स्ना गृह्यन्ते अवयवैरेवावयवान्तरव्यवधानाद्, नावयवी कृत्स्नो गृह्यते इति, नायं गृह्यमाणेष्ववयवेषु परिसमाप्त इति, सेयमेकदेशोपलब्धिरनिवृत्तैवेति। कृत्स्नमिति वै खल्वशेषतायां सत्यां भवति, अकृत्स्नमिति शेषे सति, तच्चैतदवयवेषु बहुष्वस्ति अव्यवधाने ग्रहणाद् व्ययधाने चाग्रहणादिति।

अङ्ग तु भवान् पृष्टो व्याचष्टां गृह्यमाणस्यावयविनः किमगृहीतं मन्यते? येनैकदेशोपलब्धिः स्यादिति। न ह्यस्य कारणेभ्योऽन्ये एकदेशा भवन्तीति तत्रावयववृत्तं नोपपद्यत इति। इदं तस्य वृत्तं येषामिन्द्रियसन्निकर्षाद् ग्रहणमवयवानां तैः सह गृह्यते, येषामवयवानां व्यवधानादग्रहणं तैः सह न गृह्यते। न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति।

समुदाय्यशेषता वा समुदायो वृक्षः स्यात् तत्प्राप्तिर्वा, उभयथा ग्रहणाभावः।

ग्रहण नहीं होता यह आक्षेप का गूढ आशय है। (इस प्रकार आक्षेपभाष्य का आशय दिखाकर भाष्यकार उत्तर के भाष्य का आशय ऐसा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि)—**'कृत्स्न'** सम्पूर्ण ऐसा कहना **'अशेषता'** जिसमें कोई अवशिष्ट न बचे तो हो सकता है। तथा **'अकृत्स्न'** असंपूर्ण ऐसा कहना शेष (अवशिष्ट) के वचन पर ही हो सकता है। वह यह बहुत से अवयवों में ही उपरोक्त दोनों **'कृत्स्न'** तथा **'अकृत्स्न'** का व्यवहार हो सकता है, क्योंकि जिन अवयवों का व्यवधान होता है उनका ग्रहण नहीं होता, और जिनका व्यवधान होता है, उनका ग्रहण नहीं होता (यहाँ पर जो अनेक, तथा असंपूर्ण होते हैं उनमें **'कृत्स्न'** शब्द का प्रयोग होता है, और अनेक होने पर किसी को कहने को एकदेश कहते हैं ऐसी वार्तिककार की व्याख्या है। (एकदेशमात्र की उपलब्धि होने से सिद्धान्ती पूर्वपक्षी को ऐसी भी आपत्ति दे सकता है कि)—आप प्रश्न करने पर यह भी कहें कि—जाने जाने वाले वृक्षादिरूप अवयवीवाक्य नहीं जाना गया, जिससे एकदेश ही का प्रत्यक्ष माना जाय, अवयवी का नहीं जिससे पूर्वपक्षी का एकदेशमात्र का ज्ञान हो सकेगा क्योंकि अवयवी वृक्षादिकों के मूल, शाखा आदि कारणों से भिन्न तो एकदेश नहीं होते, इस कारण उस अवयवी में अवयवों का वृत्त (स्वभाव) को होने का आरोप नहीं हो सकता ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, उस अवयवी का यह वृत्त (स्वभाव) है कि मन एकदेशरूप अवयवों का इन्द्रिय, तथा उनके सम्बन्ध से ग्रहण होता है, उन अवयवों के साथ वृक्षादि अवयवी द्रव्य का ग्रहण होता है और जिन अवयवों का व्यवधान होने के कारण ग्रहण नहीं होता, उनके साथ उस अवयवों का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह अवयवी वृक्षरूप भिन्न नहीं होता (अर्थात् आगे के भागों में वर्तमान अवयवी का ज्ञान होने पर भी मध्य तथा पृष्ठभाग में वर्तमान अवयवी की उपलब्धि नहीं होती, यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि एक भाग में रहने वाले अवयवी के ग्रहण तथा दूसरे भागों में रहने वाले अवयवी का ग्रहण न होने से ही अनेक वृक्षादि अवयवी होते हैं; यह सिद्ध नहीं हो सकता।) ("आगे वृक्षादिक परमाणुरूप अवयवों का समुदाय ही अवयवी होता है" ऐसा मानने वाले बौद्धों का मत खण्डन करने के लिये आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—समुदाय वाले परमाणुओं की अशेषता (संपूर्ण होना रूप अवयवसमुदाय वृक्ष है, अथवा उन अवयवों को प्राप्त होना? यदि अवयवी उनसे भिन्न न हो तो दोनों पक्षों में वृक्ष का ग्रहण न होगा। अर्थात् मूल (जड) स्कंध, शाखा, पलाश (पत्ते) आदि अवयवों का संपूर्णतारूप अवयव समूह ही बौद्ध वृक्ष है ऐसा मानता है, अथवा उन समुदाय वाले अवयवों के परस्पर में

मूलस्कन्धशाखापलाशादीनामशेषता वा समुदायो वृक्ष इति स्यात्, प्राप्तिर्वा समुदायिनामिति, उभयथा समुदायभूतस्य वृक्षस्य ग्रहणं नोपपद्यते इति। अवयवैस्तावदवयवान्तरस्य व्यवधानादशेषग्रहणं नोपपद्यते। प्राप्तिग्रहणमपि नोपपद्यते प्राप्तिमतामग्रहणात्। सेयमेकदेशग्रहणसहचरिता वृक्षबुद्धिर्द्रव्यान्तरोत्पत्तौ कल्पते न समुदायमात्रे इति ॥ ३३ ॥

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३४ ॥

यदुक्तमवयविसद्भावात् इति, अयमहेतुः *साध्यत्वात्* साध्यं तावदेतत्कारणेभ्यो द्रव्यान्तरमुत्पद्यते इति। अनुपपादितमेतत्। एवं च सति विप्रतिपत्तिमात्रं भवति विप्रतिपत्तेश्चावयविनि संशय इति ॥ ३४ ॥

प्राप्ति को। उक्त दोनों पक्षों में समुदायरूप वृक्ष का ग्रहण न हो सकेगा, क्योंकि आगे के अवयवों से मध्य तथा पृष्ठभाग में (पीछे) रहने वाले दूसरे अवयवों का व्यवधान होने के कारण संपूर्ण का ग्रहण नहीं हो सकता। तथा उन अवयवों की परस्पर प्राप्ति (संयोग) का भी ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि प्राप्ति (संयोग-मिलन) वाले परमाणुरूप अवयवों का ग्रहण नहीं होता। वह यह अवयवरूप एकदेश के साथ होने वाली 'यह वृक्ष है' यह बुद्धि परमाणु आदि रूप अवयवों से उत्पन्न तथा इससे भिन्न दूसरे अवयवी वृक्षादि द्रव्यों के उत्पन्न होने के पक्ष में हो सकती है, न कि केवल अवयवों के समूहरूप वृक्ष को मानने के पक्ष में। (अर्थात् वृक्षादिरूप अवयवी दूसरा द्रव्य है केवल परमाणु आदि अवयवों का समूह ही वृक्ष नहीं है, इस कारण नैयायिकों के अवयवी मानने के पक्ष ही में उक्त वृक्षज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता यह सिद्धान्ती का गूढ आशय है।) ॥ ३३ ॥

(५) प्रासंगिक अवयवि परीक्षा प्रकरण

(पूर्व के प्रत्यक्ष के अनुमान होने के प्रकरण के अन्त में **'अवयविसद्भावात्'** इस सिद्धान्ती के हेतुवचन से नैयायिक मत में अवयवों से भिन्न अवयवी होता है यह माना नहीं जा सकता, क्योंकि बौद्धप्रतिपक्षी के मत से अर्थ अवयवी 'साध्य' सिद्ध करने योग्य ही है, क्योंकि उसका ऐसा कहना है कि ज्ञान से ही विषय की व्यवस्था होती है। कारण यह कि ज्ञान से उसकी सिद्धि हो सकती है, जो उसका विषय होता है, और वही ज्ञान का विषय होता है, जो उसमें अपना आकार देता है, निरन्तर उत्पन्न होने वाले रूपादि परमाणुरूप अवयव समुदाय को छोड़ कर दूसरे अवयवी के आकार को विषय करने वाला कोई ज्ञान ही नहीं होता, किन्तु उक्त परमाणुसमूह के आकार को रखने वाला ही ज्ञान होता है। यद्यपि प्रत्येक परमाणु में स्थूलता नहीं है, तथापि बहुत्वादि संख्या के समान वह प्रतिभास का धर्म है, अतः वह अवयवों से भिन्न अवयवी को सिद्ध नहीं कर सकता, इस आशय से आगे पूर्वपक्ष सूत्र दिखाते हैं, क्योंकि ऐसा मानने वाले बौद्धपक्ष से अवयवी के होने में विवाद है अतः अवयवी होने में साधक तथा बाधक प्रमाण का अभाव होने के कारण संदेह ही होता है—

पदपदार्थ—साध्यत्वात् = सिद्ध करने योग्य होने से, अवयविनि = अवयवों से भिन्न वृक्षादिरूप अवयवी में, संदेहः = संशय है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो सिद्धान्ती ने कहा था कि **'अवयवी के होने से'** यह (अवयवी) सिद्ध करने योग्य होने के कारण सिद्धान्ती का उपरोक्त हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि अवयवों से भिन्न अवयवी

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३५ ॥

यद्यवयवी नास्ति सर्वस्य ग्रहणं नोपपद्यते। किं तत्सर्वम् ? द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः। कथं कृत्वा ? परमाणुसमवस्थानं तावद् दर्शनविषयो न भवत्यतीन्द्रियत्वादणूनाम्, द्रव्यान्तरञ्चावयविभूतं दर्शनविषयो नास्ति, दर्शनविषयस्थाश्चेमे द्रव्यादयो गृह्यन्ते तेन निरधिष्ठाना न गृह्येरन्। गृह्यन्ते तु कुम्भोऽयं श्याम एको महान् संयुक्तः स्पन्दते अस्ति मृन्मयश्चेति, सन्ति चेमे गुणादयो धर्मा इति। तेन सर्वस्य ग्रहणात्पश्यामोऽस्ति द्रव्यान्तरभूतोऽवयवीति ॥ ३५ ॥

अभी सिद्धान्ती को सिद्ध करना है। अभी तक सिद्धान्ती ने अवयवी सिद्ध नहीं किया है, अतः इस विषय में बौद्ध तथा नैयायिकों का विवाद होने के कारण अवयवी पृथक् मानने में सन्देह ही है ॥३४॥

(इस सन्देह का निवारण सिद्धान्तिमत से सूत्रकार करते हैं कि)—

पदपदार्थ—सर्वाग्रहणम् = द्रव्यगुण, कर्म आदि संपूर्ण पदार्थों का ग्रहण न होगा, अवयव्यसिद्धेः = अवयवों से भिन्न अवयवी न मानने से ॥ ३५ ॥

भावार्थ—परमाणुरूप अवयव ही घटादि पदार्थ माने जांय, तो परमाणु तथा उनके गुणादिकों का ग्रहण न हो सकने के कारण घटादि द्रव्य, उनके रूपादि गुण तथा क्रिया आदि किसी का भी ग्रहण न होगा। (इस सूत्र की वार्तिककार ने 'सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण न होगा, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण वर्तमान महत्परिमाण वाले द्रव्यों में ही प्रवृत्त होता है, यदि अवयवी घटादि अवयव परमाणुओं से भिन्न न माना जाय तो बाह्यचक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत होने वाला विषय ही नहीं रहता। प्रत्यक्ष के न होने से अनुमानादिक भी न हो सकेंगे। अतः संपूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी का ग्रहण न होने के कारण, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विभाग ही असंगत हो जायगा। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों का ज्ञान तो होता है, इस कारण अवयवों से भिन्न घटादिरूप अवयवी पदार्थ है यह सिद्ध होता है' ऐसी दूसरी व्याख्या की है) (यह सूत्र अवयवी न मानने से विरोध होता है यह सूचित करता है) ॥ ३५ ॥

(३५ वें सूत्र की सिद्धान्तिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि परमाणु आदि अवयवों से भिन्न अवयवी पूर्वपक्षी के मत से न हो तो सम्पूर्ण (द्रव्यादि पदार्थों) का ग्रहण न हो सकेगा। (प्रश्न)—सम्पूर्ण कौन ? (उत्तर)—पृथिवी आदि नौ द्रव्य, रूप आदि चतुर्विंशति-गुण, उत्क्षेपणादि पंचकर्म, पर तथा अपर दो प्रकार के सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक सम्बन्ध (इनका ग्रहण न हो सकेगा)। (प्रश्न)—किस प्रकार? (उत्तर)—जिस कारण परमाणुरूप से वर्तमान घटादि द्रव्य दृष्टि के गोचर नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से न दीखने वाले) होते हैं और पूर्वपक्षी तो अवयवों से भिन्न अवयवी (घटादि) पदार्थों को मानता ही नहीं। दृष्टिगोचर होनेवाले घटादि द्रव्य तथा उनके गुण, क्रिया आदिकों का ग्रहण तो होता है। घटादि द्रव्यों में वर्तमान गुण, क्रिया आदिकों का अवयवि पदार्थ को न मानने पर आधार के न होने से ग्रहण न होगा। 'यह घट है, यह श्यामवर्ण है, यह एक है, यह स्थूल है, यह संयुक्त है, यह चल रहा है, यह मृत्तिका से भरा है' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान तो होता है और उन घटादिकों में वर्तमान रूपादि गुणरूप धर्म भी है इस कारण सम्पूर्ण द्रव्यादिकों के दृष्टिगोचर होने से हम देखते हैं कि परमाणु (अवयवों) से भिन्न दूसरा द्रव्य घटादि स्वरूप है ॥ ३५ ॥

धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

अवयव्यर्थान्तरभूत इति । सङ्ग्रहकारिते वै धारणाऽऽकर्षणे । सङ्ग्रहो नाम संयोगसहचरितं गुणान्तरं स्नेहद्रवत्वकारितमपां संयोगादामे कुम्भे, अग्निसंयोगात्पक्वे। यदि त्ववयविकारिते अभविष्यतां पांशुराशिप्रभृतिष्वप्यज्ञास्येताम्, द्रव्यान्तरानुत्पत्तौ च तृणोपलकाष्ठादिषु जतुसङ्गृहीतेष्वपि नाभविष्यतामिति।

अथावयविनं प्रत्याचक्षाणको मा भूत् प्रत्यक्षलोप इत्यणुसञ्चयं दर्शनविषयं प्रतिजानानः किमनुयोक्तव्य इति? एकमिदं द्रव्यमित्येकबुद्धेर्विषयं पर्यनुयोज्यः।

(अवयवी की अवयवों से पृथक् सिद्धि होने में सूत्रकार दूसरा हेतु देते हैं कि)—

पदपदार्थ—धारणाकर्षणोपपत्तेः च = और धारण (पकड़ रखना) तथा आकर्षण (खींचना) होने से भी (अवयवी पृथक् है) ॥ ३६ ॥

भावार्थ—परमाणु आदि रूप अवयवों से भिन्न अवयवी घटादि पदार्थ इस कारण भी है कि धारण तथा आकर्षण भी होता है ऐसा भाष्य के **'अवयवी अर्थान्तरभूतः'** इस पूरक वाक्य को लेकर इस सूत्र का उपरोक्त अर्थ करना चाहिये। यहाँ सूत्रकार के सूत्र के 'चकार से' भाष्य के वाक्य की पूर्ति करना चाहिये ऐसा वार्तिककार ने कहा है। इस सूत्र में अवयवी पृथक् पदार्थ है, धारण तथा आकर्षण होने से, यह अनुमान का आकार है, जिसमें 'धारणाकर्षणोपपत्तिरूप हेतु व्यधिकरण है, क्योंकि धारणाकर्षण का होना दूसरे हेतु का अवयवी आधार नहीं हो सकता, इसी कारण सूत्र में कहे हुए अनुमान की व्याख्या तात्पर्यटीकाकार ने व्यतिरेकरूप ही की है, कि दिखने वाले घटादि अवयवी (जिसमें परमाणुओं के समूहरूप होने का विवाद है), वह अवयवी नहीं है ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि धारण तथा आकर्षक न होने की आपत्ति आ जायगी—क्योंकि जो-जो अवयवी नहीं होता, उस-उस में धारण तथा आकर्षण नहीं होते, जैसे ज्ञानादिकों में, और यह घटादि ऐसे नहीं हैं, इस कारण अवयवी नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता यह तात्पर्यटीकाकार का प्रयास धारण तथा आकर्षण के न हो सकने की आपत्तिरूप व्यतिरेकी हेतु वाला अनुमान है, यही प्रगट करने के लिये प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में धारणाकर्षण वाला होना ही अवयवी की सिद्धि करने में सूत्र में कहे हेतु का अर्थ है ऐसी परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने समालोचना की है ॥ ३६ ॥

(सूत्र में अपेक्षित वाक्य को लेकर सूत्र का अर्थ दिखाते हुए ३६ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि धारण तथा आकर्षण के होने से भी अवयवों से भिन्न घटादि दूसरा पदार्थ है, यह सिद्ध होता है। पूर्वपक्षिमत से सूत्र में उक्त 'धारणाकर्षण के होने से' इस हेतु का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—धारण तथा आकर्षण (पकड़ रखना तथा खींचना) ये दोनों सङ्ग्रह नामक (इकट्ठा होना) दूसरे गुण से होते हैं। जिसमें सङ्ग्रह उसे कहते हैं जो संयोग के साथ रहने वाला, स्नेह तथा द्रव्य व गुण से किया हुआ एक दूसरा गुण है, जो जल के संयोग से कच्चे घट में रहता है, और अग्नि के संयोग से पक्के हुए घट में रहता है। इस कारण यदि अवयवी से किये हुए धारण तथा आकर्षण होंगे तो (पांश) धूल के राशि (समूह) में भी जाने जाते, (अर्थात् सिद्धान्ती के मत के अनुसार पांशुराशि में अवयवी होने से उसमें धारण तथा आकर्षण होने) तथा लाह से जोड़े हुए तृण (तिनका), पत्थर तथा लकड़ी आदिकों में दूसरे किसी अवयवी की उत्पत्ति न होने पर भी जो धारण तथा आकर्षण होते हैं वे न होते (अर्थात् लाह से जुड़े हुए

किमेकबुद्धिरभिन्नार्थविषयेति आहोस्वित् भिन्नार्थविषयेति ? अभिन्नार्थविषयेति चेद् ? अर्थान्तरानुज्ञानादवयविसिद्धिः । नानार्थविषयेति चेद् ? भिन्नेष्वेकदर्शनानुपपत्तिः अनेकस्मिन्नेक इति व्याहता बुद्धिर्न दृश्यत इति ॥ ३६ ॥

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ३७ ॥

तिनका, पत्थर, लकड़ी आदिकों में धारण तथा आकर्षण पाये जाते हैं, और उनमें सिद्धान्ती के मत से कोई दूसरा अवयवीरूप द्रव्य तो उत्पन्न नहीं होता। अतः दोनों प्रकार से धारण तथा आकर्षण से अवयवों से पृथक् अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा पूर्वपक्षी का यहाँ आक्षेप है। (इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती आचार्य ने उत्तर न देने के पूर्व उपरोक्त पूर्वपक्ष की युक्तियों से सन्देह में पड़ा हुआ शिष्य प्रश्न करता है कि)—"अवयवों से भिन्न अवयवी का खंडन करने वाला बौद्ध पूर्वपक्षी परमाणुसमूहरूप होने के कारण घटादिकों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इस कारण अवयवी पृथक् मानना चाहिये" इस सिद्धान्ती के आक्षेप का यह उत्तर देकर एक केश के दूर रहने पर प्रत्यक्ष न होने पर सौ केशों का समूह का दूर से भी दीखता है, इसी प्रकार एक-एककर परमाणुओं का प्रत्यक्ष न हो सकने पर भी परमाणुओं के समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः सिद्धान्ती की आपत्ति नहीं हो सकती ऐसी पूर्वपक्षी प्रतिज्ञा करे, तो उससे क्या प्रश्न किया जायगा, (अर्थात् सिद्धान्तिमत से क्या भेद की आपत्ति दी जायगी, अर्थात् जो पूर्वपक्षी अवयवों से भिन्न अवयवी का निषेध कर परमाणुसमूह ही का घटादिकों से प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानता है ऐसे उस पूर्वपक्षी को कौन सा उसके खंडन के लिये हमें हेतु देना होगा।) (आगे शिष्य के प्रश्न के उत्तर के व्याज (बहाने) से पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यह घटरूप द्रव्य एक है इस प्रतीति में **'एक है'** इस ज्ञान का क्या विषय है, ऐसा पूर्वपक्षी को प्रश्न करना होगा, अर्थात् **'एक है'** इस प्रतीति में अभिन्न (एक) ही विषय है, अथवा भिन्न-भिन्न (अनेक) विषय हैं। यदि एक है इस ज्ञान का विषय एक है तो पूर्वपक्षी ने अवयवों से भिन्न दूसरा अवयवीरूप पदार्थ मानने के कारण सिद्धान्ती को अभिमत अवयवीरूप पदार्थ सिद्ध हो जायगा। यदि एक है इस ज्ञान का विषय अनेक पदार्थ (परमाणु) हों तो भिन्न भिन्न अनेक परमाणुओं में एक है ऐसा होने वाला ज्ञान सत्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि एक और अनेक का परस्पर विरोध होने के कारण अनेकों में एक है ऐसा ज्ञान होता हुआ नहीं देखा जाता (अर्थात् यदि बौद्ध पूर्वपक्षी घटादिकों को अनेक परमाणुरूप मानता है, तो उसके मत में यह एक घट है ऐसी लोकव्यवहार से सिद्ध बुद्धि में हमारा प्रश्न है कि क्या इस बुद्धि का पदार्थ एक ही विषय है अथवा अनेक ? यदि एक है तो वही हमारा अवयवों से भिन्न अवयवी है ऐसा हमारा सिद्धान्ती का मत सिद्ध हो जाता है, और यदि अनेक परमाणु उक्त एक ज्ञान के विषय हों तो पूर्वपक्षिमत में व्याघात (विरोध) आ जाता है) अतः अवयवी अवयवों से पृथक् पदार्थ है, यह सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

(इसी विषय में आक्षेप तथा समाधान दोनों दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—सेना, वनवत् = सेना तथा वन (अरण्य) के ज्ञान के समान, घटादि परमाणुसमूहों का ग्रहण होता है, इति चेत् = ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे, न = नहीं हो सकता, अतीन्द्रियत्वात् = इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य न होने से, अणूनां = परमाणुओं के ॥ ३७ ॥

यथा सेनाङ्गेषु वनाङ्गेषु च दूरादगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिः एवमणुषु सञ्चितेष्वगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिरिति । यथा गृह्यमाणपृथक्त्वानां सेनावनाङ्गानामारात्कारणान्तरतः पृथक्त्वस्याग्रहणं, यथा गृह्यमाणजातीनां पलाश इति वा खदिर इति वा नाराज्जातिग्रहणं भवति, यथा गृह्यमाणप्रस्पन्दानां नारात् स्पन्दग्रहणं, गृह्यमाणे चार्थजाते पृथक्त्वस्याग्रहणादेकमिति भाक्तः प्रत्ययो भवति, न त्वणूनामगृह्यमाणपृथक्त्वानां कारणतः पृथक्त्वाग्रहणाद्भाक्त एकप्रत्ययोऽतीन्द्रियत्वादणूनामिति ।

इदमेव च परीक्ष्यते । किमेकप्रत्ययोऽणुसञ्चयविषय आहोस्विन्नेति, अणुसञ्चय एव सेनावनाङ्गानि । न च परीक्ष्यमाणमुदाहरणमिति युक्तम्, साध्यत्वादिति ।

दृष्टमिति चेन्न । तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः । यदपि मन्येत दृष्टमिदं सेनाव-

---

भावार्थ—जिस प्रकार दूर से सेना तथा अरण्य के अलग-अलग सैनिक तथा वृक्षों का ग्रहण नहीं होता, तो भी 'यह एक सेना है, यह एक वन है' ऐसा ज्ञान होता है इसी प्रकार परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्येक भिन्न-भिन्न परमाणुओं का ग्रहण न होने पर भी परमाणुओं के समूह को लेकर 'यह एक घट है' इत्यादि ज्ञान हो जायगा ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि समीप रहने पर सेना तथा वन के सैनिक एवं वृक्षादिकों का पृथक्-पृथक् ग्रहण होता है, किन्तु दूर होने पर नहीं होता तथा उनके कम्प आदि क्रियाओं का भी समीप रहते ग्रहण होता है दूर होने पर नहीं होता इस प्रकार दीखने वाले पदार्थों के पृथक्-पृथक् ग्रहण होने के कारण उनमें एक है यह ज्ञान भाक्त (गौण) है, किन्तु परमाणुओं का जिनका अतीन्द्रिय होने के कारण पृथक्-पृथक् ग्रहण नहीं होता, पृथक्-पृथक् ग्रहण होकर दूरतादि दोष के कारण पृथक् पृथक् ग्रहण न होने से उनके समुदाय में एक घट है ऐसा भाक्त (गौण) ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणु इन्द्रियों से नहीं जाने जाते । (अर्थात् जहाँ पर अनेक अर्थ दिखा सकते हैं, किन्तु दूरतादि दोष के कारण उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता, इस कारण जो उनमें एक है ऐसा ज्ञान होता है वह भाक्त (गौण) ही है न कि वास्तविक, किन्तु परमाणुओं के स्वरूप से अदृश्य होने के कारण उनके उपरोक्त प्रकार से भाक्त (गौण) ज्ञान का अवसर ही नहीं है । (समीप स्थलों में अवयवी को न मानने वाले अथवा इन्द्रियों से गृहीत न होने वाले (अतीन्द्रिय) परमाणुओं के समूह ही को मानने वाले पूर्वपक्षी के मत में सेना तथा वन के सैनिक एवं वृक्षादिकों को केवल अतीन्द्रिय परमाणुसमूहरूप होने से दृष्टान्त ही पूर्वपक्षी का न बन सकेगा इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—'इसी विषय की तो परीक्षा की जाती है कि 'यह एक घट है' यह ज्ञान क्या परमाणुओं के समूह को विषय करता है अथवा नहीं ? क्योंकि दृष्टान्त में भी तो बौद्धमत में सेना तथा वन के अंग परमाणुओं का समुदाय ही है । जिसकी स्वयं परीक्षा करना है, वह उदाहरण नहीं हो सकता क्योंकि इस उपरोक्त सेनादि अंगों में भी तो वह परमाणुसमूहरूप में हैं अथवा नहीं यह अभी सिद्ध करना ही है । (यदि सेना तथा वन के अङ्गों का भी दर्शन होता है यह पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों को देखने में आता है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे, तो यह नहीं कह सकता, क्योंकि उसी के विषय की तो परीक्षा करना है अर्थात् पूर्वपक्षी का आशय यह हो कि सेना तथा वन के सैनिक तथा वृक्षादि अङ्गों का दूर से पृथक्-पृथक् ग्रहण नहीं होने के

नाङ्गानां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणं, न च दृष्टं शक्यं प्रत्याख्यातुमिति ? तच्च नैवं, *तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः।* दर्शनविषय एवायं परीक्ष्यते योऽयमेकमिति प्रत्ययो दृश्यते, स परीक्ष्यते किं द्रव्यान्तरविषयो वा अथाणुसञ्चयविषय इति ? अत्र दर्शनमन्यतरस्य साधकं न भवति। नानाभावे चाणूनां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम् अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो, यथा स्थाणौ पुरुष इति। ततः किम् ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिः। स्थाणौ पुरुष इति प्रत्ययस्य किं प्रधानम् ? येऽसौ पुरुषे पुरुषप्रत्ययस्तस्मिन्सति पुरुषसामान्यग्रहणात् स्थाणौ पुरुषोऽयमिति। एवं नानाभूतेष्वेकमिति सामान्यग्रहणात् प्रधाने सति भवितुमर्हति। प्रधानं च सर्वस्याग्रहणादिति नोपपद्यते। तस्मादभिन्न एवायमभेदप्रत्यय एकमिति।

इन्द्रियान्तरविषयेष्वभेदप्रत्ययः प्रधानमिति चेद् न। विशेषहेत्वभावात्

कारण भेदज्ञान के न होने से अभेद से 'एक सेना है, एक वन है' ऐसा एक ज्ञान होता है यह देखने में आता है, जिस प्रत्यक्ष देखे हुए का खण्डन नहीं हो सकता तो वह यह भी ऐसा नहीं है; क्योंकि इसी दृष्टिगोचर होने वाले विषय की ही तो परीक्षा करना है। दृष्टिगोचर होने वाले ही विषय की तो परीक्षा कर रहे हैं। जो 'यह एक घट है, एक सेना है, एक वन है' ऐसा 'एक' यह ज्ञान होता है वह परमाणुरूप अवयवों से पृथक् अवयविद्रव्य में होता है, अथवा परमाणुओं के संचय (समूह) रूप विषय में। इस प्रकार परीक्षा की जा रही है। इसमें घट, सेना, वन आदिकों का दीखना ही दोनों में से एक पक्ष का साधक नहीं हो सकता।

अतः अनेक परमाणुओं का अतीन्द्रिय होने के कारण पृथक्-पृथक् ग्रहण न होने से भेदबुद्धि को हटाकर अभेदरूप से एक है यह ज्ञान 'जो एक नहीं हैं उनमें एक है' ऐसा ज्ञान होना ऊंचाई के कारण वृक्ष में मनुष्यज्ञान के समान मिथ्याज्ञान है। (प्रश्न)—इससे क्या हुआ ? (उत्तर)—जो जैसा नहीं है उसमें वैसा है यह मिथ्याज्ञान वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा करता है, इस कारण मुख्य एक है इस ज्ञान की अपेक्षा करता है। अर्थात् जिस विषय में सत्यज्ञान होता है उसी विषय में मिथ्याज्ञान भी होता है, और यथार्थज्ञान ही मिथ्याज्ञान का प्रधान ऐसा यहाँ कहा जाता है, अतः जिस प्रकार मनुष्य को मनुष्य समझना सत्यज्ञान है, जो वृक्ष को मनुष्य समझना इस मिथ्याज्ञान का प्रधान (मुख्य) होता है इसी प्रकार अनेक परमाणुओं को एक समझना इस मिथ्याज्ञान का प्रधान वास्तविक एक को एक समझना यह भी प्रधान ज्ञान कहीं अवश्य होना चाहिये, ऐसा सिद्धान्ती का आशय है।

(आगे पूर्वपक्षी का इस विषय में प्रश्न दिखाते हुए भाष्यकार समाधान करते हैं कि)—(प्रश्न)—वृक्ष को मनुष्य समझना इस मिथ्याज्ञान का प्रधान (वास्तविकज्ञान) क्या है ? (उत्तर)—जो यह मनुष्य को मनुष्य समझा जाता है, (यही उक्त मिथ्याज्ञान का प्रधान है), क्योंकि उसके रहने पर दूर से ऊंचाईरूप सामान्य धर्ममात्र को देखकर वृक्ष में यह मनुष्य है ऐसा मिथ्याज्ञान होता है। इसी प्रकार अनेक परमाणुओं में एक है ऐसा साधारण धर्म के ज्ञान से प्रधान (मुख्य) एक ज्ञान के कहीं रहते ही हो सकता है। वह प्रधान ज्ञान परमाणुसमुदायपक्ष में परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने के कारण द्रव्यादिकों के ग्रहण न होने के कारण पूर्वोक्त आपत्ति का कारण नहीं बन सकता। इस कारण भेदरहित एक ही अवयवीरूप पदार्थ में

दृष्टान्ताव्यवस्था । श्रोत्रादिविषयेषु शब्दादिष्वभिन्नेऽष्वेकप्रत्ययः प्रधानमनेकस्मिन्नेकप्रत्ययस्येति । एवं च सति दृष्टान्तोपादानं न व्यवतिष्ठते विशेषहेत्वभावात् । अणुषु सञ्चितेष्वेकप्रत्ययः किमतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स्थाणौ पुरुषप्रत्ययवत् ? अथार्थस्य तथाभावात्तस्मिंस्तदिति प्रत्ययो यथा शब्दस्यैकत्वादेकः शब्द इति ? । विशेषहेतुपरिग्रहणमन्तरेण दृष्टान्तौ संशयमापादयत इति । कुम्भवत्सञ्चयमात्रं गन्धादयोऽपीत्यनुदाहरणं गन्धादय इति । एवं परिमाणसंयोगस्पन्दजातिविशेषप्रत्ययानप्यनुयोक्तव्यस्तेषु चैवं प्रसङ्ग इति ।

एकत्वबुद्धिस्तस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति विशेषहेतुर्महदिति प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यात् । एकमिदं महच्चेति एकविषयौ प्रत्ययौ समानाधिकरणौ भवतः तेन

भेदरहित होने के कारण 'एक' यह ज्ञान वहीं प्रधान है जो अनेक परमाणुओं में एक इस मिथ्याज्ञान का प्रधान है यह मानना पड़ेगा)।

(आगे अवयवी में रहने वाला एकज्ञान प्रधान होता है और दूसरे (अनेक में एकज्ञान) में गौण होता है यह नियम नहीं हो सकता इस आशय का पूर्वपक्षी का अक्षेप दिखाकर खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं)—कि यदि पूर्वपक्षी कहे कि दूसरे श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विषयों (शब्द आदिकों) में 'यह शब्द एक है, यह रूप एक है' इत्यादि अभेद (एकता) ज्ञान ही पूर्वक अनेक परमाणुओं में 'एक घट है, इत्यादि ज्ञान का प्रधान है' तो कोई विशेष हेतु न होने से दृष्टान्त की व्यवस्था न होगी । यदि "शब्द, रूप, रस, गन्ध इत्यादि श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, घ्राण आदि इन्द्रियों के विषयों में यह शब्द एक है, यह सब एक है ऐसे एक-एक ही शब्दादिकों में इस प्रकार का ज्ञानों में पूर्वोक्त अनेक परमाणुओं में 'एक घट है' ऐसे मिथ्याज्ञान का प्रधान है" ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो ऐसा होने पर विशेष हेतु के न होने से दृष्टान्त के ग्रहण की व्यवस्था न होगी। क्योंकि (संचित एकट्ठाभया अनेक) परमाणुओं में 'जो घट एक है' ऐसा ज्ञान होता है, वह क्या मनुष्य में वृक्षज्ञान के समान एक न होनेवाले परमाणुओं में एक है इस प्रकार मिथ्याज्ञान है ? अथवा शब्दरूप आदिकों के वस्तुतः एक होने से 'एक शब्द है, एक रूप है' इत्यादि ज्ञान के समान वास्तविक परमाणुओं से भिन्न एक ही अवयवी में 'एक घट है' ऐसा सत्यज्ञान है (यह संशय बना ही रहता है) अतः एक पक्ष का साधक कोई विशेष हेतु का स्वीकार किये बिना ये उपरोक्त दोनों दृष्टान्त संदेह को उत्पन्न करते हैं तथा घट के समान गंध आदि गुण भी बौद्धमत में परमाणुसमूहरूप ही हैं, अतः प्रधान (सत्य) ज्ञान के उदाहरण भी नहीं हो सकते । अर्थात् जिन शब्दादि गुणों को बौद्ध पूर्वपक्षी प्रधान ज्ञान का कारण मानता है वे भी परमाणुओं के समूहरूप ही हैं । बौद्धों में भी वैभाषिक बौद्ध तो भूत तथा भौतिकसमूहरूप पट से भी शब्दादि गुणों की उत्पत्ति मानते हैं, अतः उनके मत में शब्दादिक भी परमाणुसमूहरूप ही हैं और हमारे मत में भी शब्दादि गुणों में मुख्य एकज्ञान ही है, क्योंकि एक संख्यारूप गुण शब्दादि गुणों में नहीं रहता, किन्तु शब्दादि गुणों में भी एक है यह ज्ञान भाक्त (मिथ्या) ही है। ऐसा भाष्य का आशय है। गौण होने पर भी कहीं-कहीं 'एक है' यह ज्ञान सत्य होता है जहाँ वाधकज्ञान न होता हो, और कहीं-कहीं मिथ्या होता है, जहाँ पर वाधकज्ञान उत्पन्न होता हो यह भेद है । (आगे भाष्यकार शिष्य को बौद्ध पूर्वपक्षी के प्रति अवयवी पृथक् न मानने पर और भी आपत्ति देने के लिये अतिदेश (समानन्याय) से उपदेश करते हैं कि)—इसी प्रकार अवयवी

विज्ञायते यन्महत्तदेकमिति। अणुसमूहातिशयग्रहणं महत्प्रत्यय इति चेत्? सोऽयममहत्सु अणुषु महत्प्रत्ययोऽतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवतीति। किं चातः? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिरिति भवितव्यं महत्येव महत्प्रत्ययेनेति।

अणुः शब्दो महानिति च व्यवसायात् प्रधानसिद्धिरिति चेद् न। मन्दतीव्रताग्रहणमियत्तानवधारणाद् यथा द्रव्ये। अणुः शब्दोऽल्पो मन्द इत्येतस्य ग्रहणं महान् शब्दः पटुस्तीव्र इत्येतस्य ग्रहणम्। कस्मात्? इयत्तानवधारणात्। न

से पृथक् अवयवी का खण्डन करने वाले बौद्ध पूर्वपक्षी को यदि वह अवयवी को पृथक् नहीं माने तो **'यह'** 'महत्परिमाण वाला है, यह संयुक्त है यह अश्व जा रहा है' इत्यादि ज्ञान पूर्वपक्षी के मत से न हो सकेंगे, क्योंकि अतीन्द्रिय परमाणुओं में उक्त ज्ञान नहीं हो सकते। (उक्त महदादि चारों परिमाण, क्रिया तथा जातिविशेषों में से परिमाण को लेकर भाष्यकार आगे कहते हैं कि)— 'एक है' यह एक संख्या का ज्ञान वास्तविक एक अवयवीरूप घटादिकों में होने वाला सत्यज्ञान है इसमें सिद्धान्तिमत से विशेष हेतु मिलता है कि वह एक संख्या का ज्ञान यह एक घट महान् (बड़ा) है इस प्रकार महान् (बड़ा) इस ज्ञान का उस एक संख्याज्ञान में समानाधिकरणता (दोनों का एक ही में ज्ञान होना) है, अर्थात् यह एक तथा महान् (बड़ा) है ऐसे एक ही घट को विषय करने वाले एक ही घट में दोनों ज्ञान होते हैं। जिससे जो बड़ा है वही एक है यह जाना जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि "परमाणुओं के समूहरूप अतिशय (विशेष) का ग्रहण होने से **'महान्'** बड़ा है ऐसा ज्ञान होता है, न कि परमाणुसमूह से पृथक् अवयविरूप घटादिकों में" तो सिद्धान्ती इसका उत्तर देते हुए कह सकता है कि तब तो वह यह परमाणुरूप होने से जो महत्परिमाण वाले नहीं हैं ऐसे परमाणुओं में महान् (बड़ा) है यह ज्ञान महत्परिमाण-रहित में महत्परिमाण का ज्ञान होना मिथ्याज्ञान होता है। (प्रश्न)—तो मिथ्याज्ञान होने से क्या हुआ? (उत्तर)—तो इस महत्परिमाणहीन परमाणुओं में महान् है यह मिथ्या (गौण) ज्ञान प्रधान (मुख्य) सत्यज्ञान की अपेक्षा करता है, इस कारण कहीं न कहीं वास्तविक महत्परिमाण वाले में महान् है ऐसा सत्यज्ञान भी पूर्वपक्षी को मानना पड़ेगा। (जो सिद्धान्ती के मत से परमाणु भिन्न अवयवी में सिद्ध होता है। यदि "यह शब्द छोटा है यह बड़ा है इत्यादि ज्ञानों में अणु तथा महत्परिमाण इन दोनों का एक आधार में रहने की प्रतीति होती है, यही उक्त परमाणुओं में भेदन है इस मिथ्याज्ञान का प्रधान मान लेंगे" (ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो सिद्धान्तीमत से भाष्यकार उत्तर देते हैं कि)—यह नहीं हो सकता, क्योंकि बदरीफल (बैर) आमलक (आंवला) बिल्व (बेल) आदि फलों के समान इयत्ता (इतना बड़ा है) का निश्चितग्रहण (ज्ञान) न होने के कारण यह प्रत्यक्ष परिमाण का विषय इयत्ता का ग्रहण शब्द या परमाणुओं में न होने के कारण यह शब्द में यह शब्द मंद (मंदा) है, यह तीव्र (तीक्ष्ण) है, ऐसा ग्रहण होता है। (इसी विषय को आगे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अणु (परिमाण वाला) शब्द अल्प (छोटा) है, मंद है इस प्रकार इस शब्द (ध्वनि) का ज्ञान होता है, तथा महत्परिमाण का यह ध्वनिरूप शब्द, पटु (समर्थ), तीव्र (तीक्ष्ण) है ऐसा ज्ञान होता है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—इतना (इतत्ता बडा है इस) का ग्रहण न होने के कारण,

ह्ययं महान् शब्द इति व्यवस्यन्नियानयमित्यवधारयति । यथा वदरामलकबिल्वादीनि ।

संयुक्ते इमे इति च द्वित्वसमानाश्रयप्राप्तिग्रहणम् ।

द्वौ समुदायावाश्रयः संयोगस्येति चेत् । कोऽयं समुदायः, प्राप्तिरनेकस्यानेका वा प्राप्तिरेकस्य समुदाय इति चेत् ? *प्राप्तेरग्रहणं* प्राप्त्याश्रितायाः । संयुक्ते इमे वस्तुनी इति नात्र द्वे प्राप्ती संयुक्ते गृह्येते ।

अनेकसमूहः समुदाय इति चेद् न । द्वित्वेन समानाधिकरणस्य ग्रहणात् । द्वाविमौ संयुक्तावर्थाविति ग्रहणे सति नानेकसमूहाश्रयः संयोगो गृह्यते । न च

क्योंकि ध्वनि आदि शब्द का महान् शब्द है ऐसा जानने वाला प्राणी इतना बड़ा है ऐसा निश्चय नहीं कर सकता । जिस प्रकार बैर के फल, आंवला, बेल इत्यादिकों के इयत्ता (इतने बड़े हैं) इसका निश्चय करता है ।

(पीछे कहे हुए परिमाणादि चार में से दूसरे संयोग को लेकर भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत पर दोष दिखाते हुए कहते हैं कि)—इसी प्रकार ये दोनों संयुक्त हैं यह भी ज्ञान दो संख्या के आश्रय द्रव्यों में रहने वाले दोनों पदार्थों की परस्पर प्राप्तिरूप संयोग को विषय करता है जो परमाणुओं के अनेक संख्या में असंभव होने के कारण अनेक परमाणुओं से भिन्न दो परमाणुओं से बने हुए अवयवी द्रव्यों को ही विषय करता है । (यदि पूर्वपक्षी कहे कि)—"उपरोक्त प्राप्तिरूप संयोग के दो परमाणुओं के समूह ही विषय हैं ऐसा हम मान लेंगे न कि उनसे भिन्न उनसे बने हुए पृथक् दो अवयवी द्रव्य संयोग के आश्रय मानेंगे" तो सिद्धान्तिमत से भाष्यकार पूर्वपक्षिमत का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी से प्रश्न करते हैं कि) यह आपका परमाणुओं का समुदाय क्या है ? (जिस प्रश्न पर पूर्वपक्षी समुदाय शब्द के अर्थ का विकल्प कर सिद्धान्ती को ऐसा उत्तर देता है कि)—अनेक परमाणुओं की प्राप्ति को समुदाय कहते हैं अथवा एक परमाणु की अनेक प्राप्ति को समुदाय कहेंगे (अर्थात् अनेक अवयवों (परमाणु) की प्राप्तिरूप संयोग ही समुदाय शब्द का अर्थ है ऐसा विकल्प का अर्थ है । क्योंकि भिन्न-भिन्न समुदाय वाले अवयवसंयोग से इकट्ठा भये परमाणु ही समुदाय कहाते हैं ऐसा प्रथम विकल्प का आशय है । तथा एक ही परमाणुरूप अवयव की अनेक प्रकार की प्राप्ति अर्थात् अनेक अवयवों से संयोग होना यह द्वितीय विकल्प का आशय है, अर्थात् अनेक परमाणुरूप अवयवों के समूह ही समुदाय बोला जाता है ऐसा द्वितीय विकल्प का आशय है । (यही दोनों विकल्प २२वें सूत्र में भी **'समुदाय्यशेषता वा समुदायो वृक्षः स्यात्तत्प्राप्तिर्वा'** समुदाय वाले की अशेषता (संपूर्णता) रूप अवयवसमुदाय वृक्ष होगा, या उनकी प्राप्ति (मिलना) रूप समुदाय वृक्ष होगा ऐसे ही विकल्प दिखाये थे । उसमें समुदायी को अशेष पद से कहा था वही यहाँ पर द्वितीय (एक की अनेक प्राप्तिरूप) पक्ष से कहा है । समुदाय वालों की प्राप्ति जो वहाँ समुदाय कहा था वही यहाँ पर 'अनेक की प्राप्ति' रूप प्रथम विकल्प में कहा गया है) । (जिन दोनों में से प्रथम विकल्प का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—'ये दोनों संयुक्त हैं इस ज्ञान में प्राप्ति (संयोग) को आश्रय करने वाली प्राप्ति (संयोग) का ही ग्रहण नहीं होता, क्योंकि 'ये दोनों पदार्थ परस्पर संयुक्त हैं' इस प्रतीति में दो प्राप्ति (दो संयोग) ही परस्पर में मिली हुई नहीं जानी जाती किन्तु दो पदार्थों की परस्पर प्राप्ति (संयोग) का ग्रहण होता है । (अर्थात् 'ये दो

द्वयोरण्वोर्ग्रहणमस्ति, तस्मान्महती द्वित्वाश्रयभूते द्रव्ये संयोगस्य स्थानमिति।

प्रत्यासत्तिः प्रतीघातावसाना संयोगो नार्थान्तरमिति चेत्? नार्थान्तरहेतुत्वात्संयोगस्य। शब्दरूपादिस्पन्दानां हेतुः संयोगो नच द्रव्ययोर्गुणान्तरोपजननमन्तरेण शब्दे रूपादिषु स्पन्दे च कारणत्वं गृह्यते तस्माद् गुणान्तरं, प्रत्ययविषयश्चार्थान्तरं तत्प्रतिषेधो वा कुण्डली गुरुरकुण्डलश्छात्र इति। संयोगबुद्धेश्च

पदार्थ परस्पर संयुक्त हैं' इस प्रतीति में दो समुदायों का संयोग जाना जाता है। अतः उसमें यदि अनेक अवयवों की प्राप्ति ही समुदाय शब्द का अर्थ हो तो इसमें दो समुदायरूप प्राप्ति (संयोगों) की प्राप्ति (संयोग) का ही ज्ञान होगा। किन्तु प्राप्ति (संयोग) की प्राप्तिपूर्वक प्रकार से (संयोग) का ग्रहण नहीं हो सकता, अतः प्रथम पक्ष से पूर्वपक्षी का अनेक की प्राप्ति समुदाय शब्द का अर्थ है यह कहना असंगत है।) (इस प्रकार पूर्वपक्षी के प्रथम विकल्प का खण्डन करने के पश्चात् द्वितीय विकल्प का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्षी के आशय से द्वितीय विकल्प का अर्थ दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—"एक अवयव अनेक प्राप्तिरूप अनेक समूह ही समुदाय शब्द का अर्थ है" ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि 'ये दो पदार्थ परस्पर संयुक्त हैं' इस ज्ञान में दो संख्या के आश्रय दो द्रव्यों में संयोग है' ऐसा ज्ञान होता है, (अतः अनेक प्राप्तिरूप द्वितीय विकल्प में अनेक परमाणुओं में दो संख्या का होना नहीं बन सकता)। (इसी विषय को आगे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—'ये दो पदार्थ परस्पर में संयुक्त हैं' ऐसा ज्ञान होने के कारण अनेक परमाणुरूप अवयवों के समुदायों को लेकर संयोग का ग्रहण नहीं होता। और दो परमाणुओं का भी परमाणु के अतीन्द्रिय होने के कारण ग्रहण नहीं होता। इस कारण महत्परिमाण वाले द्वित्वसंख्या के आश्रय दो अवयविरूप घटादि पदार्थ ही परस्पर संयोग के स्थान (आधार) हैं यह सिद्ध होता है (न कि दो परमाणुपुञ्ज महत्परिमाण वाले दो हैं यह सिद्ध होता है) (पूर्वोक्त परिमाणादिकों में से तृतीय स्पन्द (क्रिया) को लेकर पूर्वपक्षी का मत खण्डन करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी की शंका दिखाते हैं कि)—"जिसका अन्त में प्रतिघात (टक्कर लगना) रूप क्रिया ही फल होता है ऐसे केवल दो सम्बन्धियों को छोड़कर संयोगरूप सम्बन्ध कोई दूसरा पदार्थ नहीं है" ऐसा यदि संयोग को पृथक् न मानकर पूर्वपक्षी कहे, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग एक दूसरा गुणरूप पदार्थ है। शब्द, रूप इत्यादि गुण, तथा क्रिया का संयोगरूप गुण पदार्थ कारण होता है, बिना दो द्रव्यों में किसी एक विशेष गुण की उत्पत्ति के वह संयोग शब्द, रूपादि गुण तथा क्रिया में कारण होता है यह ज्ञान नहीं होता, इस कारण संयोग नामक एक दूसरा गुण पदार्थ है। (अर्थात् यदि वह संयोग उपरोक्त पूर्वपक्षी के कथनानुसार दोनों सम्बन्धीरूप ही माना जाय, तो उसके पूर्व भी उपरोक्त शब्दादि कार्यों की उत्पत्ति होने की आपत्ति आ जायगी। (इस प्रकार अनुमानप्रमाण से संयोग को अतिरिक्त सिद्ध कर प्रत्यक्षप्रमाण से संयोग की सिद्धि करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—संयोगरूप दूसरा पदार्थ तथा उसका (निषेधरूप) दोनों अभाव प्रत्यक्षज्ञान के भी विषय होते हैं (जिनको संयोगसम्बन्ध तथा संयोगसम्बन्ध का अभाव कहते हैं) जैसे 'कुण्डल वाले गुरु जी हैं, तथा छात्र कुण्डल वाला नहीं है' (इन दोनों ज्ञानों में क्रम से कुण्डल का संयोग तथा उसका अभावरूप निषेध कहे जाते हैं। यदि 'कुण्डल वाले गुरु जी हैं' इस ज्ञान में कुण्डल का कर्ण में संयोगरूप दूसरा गुणपदार्थ विषय न हो तो, दूसरे पदार्थ का निषेध विषय है यह कहना पड़ेगा। अर्थात् उसमें किसका निषेध किया जाता है यह कहना होगा। 'ये दोनों परस्पर में संयुक्त द्रव्य हैं'

यद्यर्थान्तरं न विषयः अर्थान्तरप्रतिषेधस्तर्हि विषयः। *तत्र प्रतिषिध्यमानवचनम्*। संयुक्ते द्रव्ये इति यदर्थान्तरमन्यत्र दृष्टमिह प्रतिषिध्यते तद्वक्तव्यमिति। द्वयोर्महतोराश्रितस्य ग्रहणान्नाण्वाश्रय इति।

जातिविशेषस्य प्रत्ययानुवृत्तिलिङ्गस्याप्रत्याख्यानम्, प्रत्याख्याने वा प्रत्ययव्यवस्थानुपपत्तिः। *व्यधिकरणस्यानभिव्यक्तेरधिकरणवचनम्*। अणुसमवस्थानं

इस ज्ञान में हमें दूसरा पदार्थ दूसरी जगह दीखता हुआ यहाँ पर निषेध किया जाता है वह कहना पड़ेगा। दो महत्परिमाण वाले द्रव्यों के आश्रित संयोग का ग्रहण होने से यह परमाणुओं में संयोग नहीं हो सकता। (अर्थात् विधी तथा निषेध दो में से एक का निषेध होने पर एक के विधि में तात्पर्य होता है, इस कारण 'गुरु जी कुण्डल वाले हैं' इस ज्ञान में यदि कुण्डल तथा गुरु दोनों का संयोगसम्बन्ध यदि सम्बन्धी गुरु तथा कुण्डलरूप हो तो कुण्डल गुरु अथवा गुरु कुण्डल ऐसा ज्ञान होने लगेगा, तथा अकुण्डल छात्र उपरोक्त वाक्य में छात्राकुण्डल ऐसा **'अकुण्डलश्छात्र'** इस वाक्य से ज्ञान होने लगेगा, जिससे 'मतुप्' अर्थ में प्रत्यय एवं बहुव्रीही समास भी प्रकरणानुसार **'कुण्डली गुरुः अकुण्डलश्छात्रः'** इन दोनों वाक्यों में न होंगे, क्योंकि **'समर्थः पदविधिः'** पद की विधि समर्थ होती है, यह शास्त्र अर्थ के सम्बन्ध में होता है, उसके न होने के कारण लोक तथा शास्त्र का विरोध हो जायगा। तथा द्रव्य, गुण तथा क्रिया का कारण होने से भी संयोग एक दूसरा पदार्थ है यह सिद्ध होता है, जैसे पट का तन्तुसंयोग, शब्द का भेरी एवं आकाश का संयोग, तथा हस्त में क्रिया होने का कारण प्रयत्न वाले आत्मा तथा हस्त का संयोग कारण होता है इत्यादि लोकसिद्ध उदाहरणों से भी संयोग एक पृथक् गुण पदार्थ है यह सिद्ध होता है।

(पूर्वप्रदर्शित संयोगादि चारों में से चतुर्थ जातिविशेष को लेकर पूर्वपक्षिमत का खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—'गौ गौ' ऐसी अनुगत ज्ञानरूप कारण से अनुमान द्वारा सिद्ध गोत्वादि जातिविशेष का खण्डन पूर्वपक्षी नहीं कर सकता, यदि उक्त जातिपदार्थ का वह खण्डन करे तो 'गौ गौ' इत्यादि समान ज्ञान की व्यवस्था न बन सकेगी। (अर्थात् यदि अवयवी न माना जाय तो घट घट, इत्यादि अनुगताकार ज्ञान न हो सकेगा, क्योंकि जाति को प्रगट करने वाली अवयवीरूप व्यक्ति ही नहीं है)। जो जाति व्यधिकरण होने पर (आश्रय न होने पर) प्रगट नहीं हो सकती, अतः उसका आधार मानना पड़ेगा जो इन गत्वादि जातिविशेषों का आधार होता है वही परमाणुओं से भिन्न व्यक्तिरूप अवयवि द्रव्य है। (तात्पर्यटीकाकार यहाँ पर **'लिंगस्य'** इस लिंगपद से **'अनुमापक'** अनुमान कराने वाला, ऐसा अर्थ करते हैं, क्योंकि उन्होंने **'गौ गौ'** इत्यादि ज्ञानों की अनुवृत्ति (अनुगम यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाण ही से सिद्ध है, तथापि जाति विषय में विवाद रखने वाले बौद्ध के लिये यही अनुमापक लिङ्ग होती है ऐसी तात्पर्यटीका में समालोचना की है)। (आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—यदि पूर्वपक्षी कहे कि अणुओं का किसी अवस्थान (पुंजरूप) से रहना ही उक्त जातिविशेषों का आश्रय होता है, न कि उससे भिन्न घटादिरूप अवयवी, (अर्थात् पुंजरूप से रहने वाले घटादिकों के परमाणु ही घटत्व आदि जाति को प्रगट करते हैं, जिससे अवयवी मानने की कोई आवश्यकता नहीं है) तो जिससे परमाणुओं के पुंजरूप अवस्था से उक्त जाति प्रगट होती है ऐसा आप मानते हैं, उसकी चक्षु इन्द्रिय से प्राप्ति होती है, अथवा नहीं यह आपको कहना पड़ेगा, कि उन परमाणुपुंजों का

विषय इति चेत् ? *प्राप्ताप्राप्तसामर्थ्यवचनम्* । किमप्राप्ते अणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्यते ? अथ प्राप्ते इति । अप्राप्ते ग्रहणमिति चेत् ? व्यवहितस्याणुसमवस्थानस्याप्युपलब्धिप्रसङ्गः, ते व्यवहितेऽणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्येत । प्राप्ते ग्रहणमिति चेत् ? मध्यपरभागयोरप्राप्तावनभिव्यक्तिः । यावत्प्राप्तं भवति तावत्यभिव्यक्तिरिति चेत् ? तावतोऽधिकरणत्वमणुसमवस्थानस्य । यावति प्राप्ते जातिविशेषो गृह्यते तावदस्याधिकरणमिति प्राप्तं भवति । *तत्रैकसमुदाये प्रतीयमानेऽर्थभेदः* । एवं च सति योऽयमणुसमुदायो वृक्ष इति

चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण न होने पर भी उनमें रहने वाले जातिविशेष का ग्रहण होता है, अथवा चक्षुइन्द्रिय से परमाणुओं का ग्रहण होने पर उनके पुंज में रहने वाली विशेष जाति का ग्रहण होता है। यदि परमाणुओं की चक्षुइन्द्रिय से प्राप्ति न होने पर भी उनमें रहने वाली जातिविशेषों का ग्रहण होता है ऐसा मानो, तो व्यवहित (व्यवधान वाले) परमाणुओं की भी पूर्वोक्त किसी प्रकार की (पुञ्जरूपवाली) स्थिति का भी उपलब्धि (ज्ञान) होने लगेगा, जिससे परमाणुपुञ्ज के अवस्थाविशेष के व्यवधानयुक्त होने पर भी, उनमें रहने वाली विशेष जाति का ग्रहण होगा। (अर्थात् परमाणुओं की पुञ्जरूप से स्थितिविशेष जाति को प्रगट करती है, ऐसा पूर्वपक्षी मानता है। क्या यह चक्षु से प्राप्त (गृहीत) विशेष जाति को प्रगट करती है, अथवा चक्षु से अप्राप्त जातिविशेष को यह सिद्धान्ती के विकल्प का यहाँ उत्तर से तात्पर्य है, जिसमें अप्राप्तिपक्ष में यदि परमाणुओं की विशेष स्थिति न दीखने पर भी उसमें वर्तमान जाति का ग्रहण मानों तो व्यवधान वाले परमाणुओं की विशेष स्थिति का भी चक्षु से ग्रहण होने लगेगा ऐसा प्रथमपक्ष के खण्डन का तात्पर्य है।) (यदि पूर्वपक्षी द्वितीयपक्ष से परमाणुपुञ्ज के चक्षु से ग्रहण होने पर उसमें रहने वाली विशेष जाति का ग्रहण माने तो भाष्यकार कहते हैं कि)—"चक्षुइन्द्रिय से प्राप्त परमाणुओं में विशेष जाति का ग्रहण होता है". ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो मध्य तथा (पर) पिछले ऐसे दोनों भागों के चक्षु से ग्रहण न होने के कारण परमाणुसमूहरूप घटादि की अभिव्यक्ति (प्रगट होना-जाना जाता) न बन सकेगा। यदि जितना घटादिकों का भाग चक्षु से गृहीत होता है उतने में उसकी अभिव्यक्ति (प्रगटता) होती है ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो जितने घट के भागों का चक्षु से दर्शन होता है उतना ही उन परमाणुओं का अवस्थान (विशेष अवस्था से रहने) का आधार होगा, जिससे जितना घटादिकों का भाग चक्षु से देखा जाता है, उसी में घटत्वादि विशेष जाति का ग्रहण होने के कारण उतना ही भाग उस घटत्वादि जातिविशेषों का आश्रय है ऐसा प्राप्त होता है (ऐसा मानना होगा) जिससे जो यह वृक्ष परमाणुसमुदायरूप प्रतीत होता है उस वृक्ष में भेद (अनेक होना) प्राप्त होती है (अर्थात् जिस-जिस भाग में वृक्षतारूप जाति प्रगट होती है वह-वह वृक्ष है, ऐसा प्राप्त होने के कारण एक वृक्ष अनेक है ऐसी प्रतीति होने लगेगी जिससे 'यह एक वृक्ष है' यह ज्ञान न होगा।) (इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ऐसा होने से जो यह पूर्वपक्षी के मत से परमाणुसमुदायरूप वृक्ष का ज्ञान होता है उसमें अनेक वृक्षों की प्रतीति होने लगेगी, क्योंकि जिस-जिस परमाणुपुञ्ज के भाग में वृक्ष का ज्ञान होता है वह-वह सम्पूर्ण भाग ही वृक्ष है। इस कारण समुहित (एकट्ठा हुये) परमाणुओं में रहने वाले परमाणुओं से भिन्न अवयवीरूप दूसरे पदार्थ के ही वृक्षत्वादि विशेष जातियों के प्रगट होने का विषय होने के कारण वृक्षादि रूप अवयवि पदार्थ परमाणुरूप अवयवों से भिन्न है यह सिद्ध होता है। (अर्थात् पुञ्जरूप परमाणुओं में वर्तमान उनसे भिन्न वृक्षादिरूप

प्रतीयते तत्र वृक्षबहुत्वं प्रतीयेत, यत्र तत्र ह्यणुसमुदायस्य भागे वृक्षत्वं गृह्यते स स वृक्ष इति। तस्मात्समुदिताणुसमवस्थानस्यार्थान्तरस्य जातिविशेषाभिव्यक्तिविषयत्वादवयव्यर्थान्तरभूत इति ॥ ३७ ॥

इति प्रत्यक्षपरीक्षाप्रकरणम्।

परीक्षितं प्रत्यक्षम्। अनुमानमिदानीं परीक्ष्यते—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥ ३८ ॥

*अप्रमाण*मिति, एकदाप्यर्थस्य न प्रतिपादकमिति। *रोधादपि* नदी पूर्णा गृह्यते तदा चोपरिष्टाद्वृष्टो देव इति मिथ्यानुमानम्। *नीडोपघातादपि* पिपीलिकाण्डसञ्चारो भवति, तदा च भविष्यति वृष्टिरिति मिथ्यानुमानमिति। पुरुषोऽपि मयूरवाशितमनुकरोति तदापि *शब्दसादृश्या*न्मिथ्यानुमानं भवति ॥३८॥

अवयवी पदार्थ ही वृक्षादिकों में वर्तमान वृक्षत्व आदि विशेष जातियों के व्यक्त होने का कारण है न कि पुञ्जरूप परमाणु, यह नैयायिक मत से सिद्ध होता है, अतः पूर्वपक्षिओं का मत असंगत है) ॥ ३७ ॥

(६) अनुमानपरीक्षाप्रकरण

(इस प्रकार प्रत्यक्षरूप प्रथम प्रमाण की परीक्षा करने के पश्चात् क्रमप्राप्त द्वितीय अनुमानप्रमाण की परीक्षा करने के लिये पूर्वपक्षिसूत्र के अवतरण में भाष्यकार पूर्वप्रकरण की अग्रिम प्रकरण में संगति दिखाते हुए कहते हैं कि)—पूर्वग्रन्थ में प्रत्यक्षप्रमाण की सूत्रकार परीक्षा कर चुके। सांप्रत अनुमान नामक द्वितीय प्रमाण की परीक्षा करते हुए पूर्वपक्षी के मत से कहते हैं—

पदपदार्थ—रोधोपघातसादृश्येभ्यः = रोध (जल का रोकना), उपघात (चिउंटिओं के रहने के स्थान का) (खराब हो तो), तथा मयूर के ऐसी नकली आवाज से, व्यभिचारात् = नदी वृद्धि आदिकों के होने से व्यभिचारदोष आने के कारण, अनुमानं = अनुमान, अप्रमाणं = प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती ने नदी का जल भरा-पूरा होने रूप हेतु से वर्षा हुई है ऐसा अनुमान किया है किन्तु नदी के जल को रोक देने से भी नदी पूरी जल से भर जाती है, इस कारण तथा पिपीलिका (चिउंटिओं) के अण्डों के साथ एकतार चलने इस हेतु से आगे वृष्टि होगी ऐसा अनुमान माना है, किन्तु पिपीलिका (चिउंटिओं) के रहने के स्थान के खराब होने से भी अण्डेसहित पिपीलिका बाहर निकल कर प्रायः कतार से चलती हैं, जिससे आगे वृष्टि नहीं होती, इस कारण तथा मयूर के शब्द को सुनकर इस हेतु से मेघ आकाश में (वर्तमान) हैं ऐसा सिद्धान्ती ने अनुमान माना है, किन्तु मयूर के सदृश किसी पुरुष के शब्द (आवाज) करने, पर भी आकाश में मेघ नहीं रहते, इस कारण भी सिद्धान्ती के माने हुए क्रम से कार्य से गत कारण का, कारण से आगे होने वाले कार्य का, तथा वर्तमान में रहने वाले का ऐसे तीनों अनुमानों के हेतुओं में उपरोक्त प्रकार से व्यभिचारदोष आने के कारण तीनों सिद्धान्ती के साध्य के साधकहेतु सव्यभिचार नामक दुष्ट होते हैं. अतः अनमान नामक द्वितीय प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

(३८ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से कहते हैं कि)—इस सूत्र में अप्रमाण शब्द का यह अर्थ है कि अनुमान नामक प्रमाण से भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों में से एक ही समय में भी साध्य की सिद्धि का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि केवल कथन तो अप्रमाण से भी किया जाता है)। सिद्धान्ती ने नदी की पूर्णता (भरा हुआ होना) देखकर इस हेतु से पूर्वकाल में वृष्टि हुई थी, ऐसा सिद्ध करना शेषकार (कार्य से कारण का) अनुमानप्रमाण माना है, किन्तु नदी के जल के मेढ आदि बांधकर रोकने से भी नदी का प्रवाह बहता है ऐसा देखने में आता है, अतः नदी के प्रवाह तथा जलवृष्टि का सम्बन्ध नियमित न होने के कारण व्यभिचार दोष आने से नदी की पूर्णतारूप हेतु भूतवृष्टिरूप साध्य का साधक हेतु नहीं हो सकता। इस कारण यह मिथ्या (असत्य) अनुमान है। इसी प्रकार सिद्धान्ती ने अण्डेसहित पिपीलिका (चिउंटियों) का एक पङ्क्ति से चलना देखकर उस कारण से आगे वृष्टि होगी, इस कार्य का अनुमान पूर्ववत् नामक अनुमान माना है, किन्तु पिपीलिकाओं के छिद्ररूप रहने के स्थान के खराब होने से भी पिपीलिका अण्डों के साथ बाहर निकल कर चलती हैं, इस कारण भावी वृष्टिरूप कार्य का अण्डेसहित चिउंटियों का चलनारूप हेतु का नियमित व्याप्तिरूप सम्बन्ध न होने के कारण पिपीलिकाओं के संचरणरूप कारण से आगे होने वाली वर्षारूप कार्य का अनुमान भी व्यभिचारदोषग्रस्त होने से मिथ्या अनुमान है। (इसमें यह विचारणीय विषय है कि पिपीलिकाओं के अण्डेसहित कतार बांधकर चलने में आगे होनेवाली जलवृष्टि करने में सामर्थ्य है ऐसा उपलब्ध न होने के कारण पिपीलिकाओं का अण्डेसहित चलना वर्षा का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि उसके न होने पर भी वृष्टि होती है, अतः वर्षा के मूलकारण पृथिवी आदि महाभूतों का संक्षोभ (विकार) पिपीलिकाओं का अण्डे के साथ चलने का प्रथम कार्य है, क्योंकि पृथ्वी की उष्णता से घबड़ाने वाली पिपीलिकाएं अपने अण्डों को पृथ्वी पर ऊपर लाती हैं। इस कारण पिपीलिकाओं का अण्डे के साथ गति को देखकर इससे पृथिवी आदि भूत पदार्थों में विकास का अनुमान करने के पश्चात् यदि वर्षा के कारण भूतविकार से भविष्य वृष्टिरूप कार्य का अनुमान किया जाता है, तो यह पूर्वोक्त पूर्ववत् नामक अनुमान हो जाता हैं। यदि उपरोक्त कार्यकारणभाव को न जानकर ही पिपीलिकाओं के अण्डेसहित गति से भावी वर्षा का अनुमान किया जाय तो इनका कार्यकारणभाव न होने से यह सामान्यतोदृष्ट नामक तीसरे अनुमान का उदाहरण होगा' ऐसी खद्योतकार ने यहाँ समालोचना की है) (इस प्रकार दो अनुमानों में व्यभिचारदोष दिखाने के पश्चात् तीसरे वर्तमान हेतु से वर्तमान साध्य की सिद्धि का जो सिद्धान्ती ने मयूर शब्द करता है ऐसा मयूर का शब्द सुनकर, अतः वर्तमानकाल में आकाश में मेघ अवश्य है ऐसा अनुमान किया है उसमें भी यदि कोई मनुष्य मयूर की बोली बोले तो उस समय आकाश में मेघों का वर्तमान होना सम्भव न होने के कारण शब्द के सदृश होने से यह मिथ्या अनुमान है। वार्तिककार ने जो मयूर के शब्द से मयूर ही की सत्ता का अनुमान होता है ऐसा अर्थ यहाँ पर किया है) अतः सिद्धान्ती के भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे तीनों कालों में साध्य की सिद्धि करने वाले, उदाहरणों में उपरोक्त प्रकार से व्यभिचारदोष के आने से सिद्धान्ती के हेतु (सव्यभिचार नामक दुष्टहेतु होने के कारण साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते, ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है)॥ ३८ ॥

(इस प्रकार पूर्वपक्षिमत से व्यभिचारदोष आने के कारण दिये हुए सिद्धान्ती के त्रिकाल के अनुमान में मिथ्यात्व का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३९ ॥

नायमनुमानव्यभिचारः, अननुमाने तु खल्वयमनुमानाभिमानः । कथम् ? नाविशिष्टो लिङ्गं भवितुमर्हति । पूर्वोदकविशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरत्वं स्रोतसो बहुतरफेनफलपर्णकाष्ठादिवहनं चोपलभमानः पूर्णत्वेन नद्या उपरि वृष्टो देव इत्यनुमिनोति नोदकवृद्धिमात्रेण । पिपीलिकाप्रायस्याण्डसञ्चारे

पदपदार्थ—न = ऐसा (मिथ्यात्व अनुमानप्रमाण का) नहीं हो सकता, एकदेशत्राससादृश्येभ्यः = क्योंकि प्रवाह के रोकने के कारण एकदेश से नदी की वृद्धि रहने के स्थान के नष्ट होने के कारण भय से अण्डेसहित प्रायः एक पंक्ति से चलना एवं मयूरसदृश मनुष्य के शब्द से, अर्थान्तरभावात् = सिद्धान्तिमत से दिये हुए वर्षा की नदी की विलक्षण बाढ़, विशेषकर अण्डों के साथ पिपीलिकाओं का एक ही पंक्ति से चलना तथा वास्तविक मयूर शब्द इस क्रम से भयी हुई वर्षा, भविष्यवर्षा तथा वर्तमान में आकाश में मेघों का होना इन साध्यों के साधक हेतुओं से भिन्न होने से ॥ ३९ ॥

भावार्थ = पूर्वपक्षी ने दिया हुआ अनुमान का प्रमाण न होने का दोष सिद्धान्ती के मत से नहीं हो सकता, क्योंकि एकदेश से नदी की वृद्धि, वासस्थान के खराब होने के कारण भय से अण्डों के साथ पिपीलिकाओं का चलना, तथा मयूर के शब्द के समान मनुष्य के नकली शब्द से सिद्धान्ती के दिये हुए भूतवृष्टि का साधक पूर्णरूप से विलक्षण नदी की वृद्धि, तथा भविष्यवृष्टि का साधक पिपीलिकाओं का अण्डेसहित विशेषरूप से एक ही पंक्ति से चलना, एवं वास्तविक मयूर के शब्द जो वर्तमानकाल में आकाश में मेघों की सत्ता सिद्ध करते हैं, ये सिद्धान्ती का अभिमत हेतु भिन्न है जो यथार्थ अनुमिति के कारण सिद्धान्ती ने माने हैं, अतः जिसकी अपने साध्य की सिद्धि करने में व्यभिचार न होने के कारण अनुमानप्रमाण मिथ्या है यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत है ॥ ३९ ॥

(सिद्धान्तिमत से ३९ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पूर्वपक्ष सूत्र में पूर्वपक्षी के दिये हुये पूर्वोक्त व्यभिचारदोष नहीं हो सकते हैं, क्योंकि यह पूर्वपक्षी का जो अनुमान नहीं है उसमें अनुमान होने का अभिमान (भान) है। (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—क्योंकि अविशिष्ट (साधारण) केवल नदी की वृद्धि इत्यादि वही अनुमिति का कारण होना सिद्धान्ती को अभिमत नहीं है किन्तु वृद्धि के पूर्वकाल के भरे हुए जल से युक्त वर्षा का जल, जिसमें बड़े वेग से प्रवाह बहता है तथा वर्षा के नदी के जल में बहुत-सा फेन होता है एवं फल, पत्ते, लकड़ी आदि प्रवाह के वेग से बहते हैं यह देखनेवाला मनुष्य नदी की पूर्णता (पूरा भरा हुआ होना) इस सत् हेतु से नदी पर पर्जन्य की वृष्टि हुई थी ऐसा अनुमान करता है न कि केवल नदी की वृद्धि (बाढ) से तथा विशेषरूप से अण्डों के साथ चिऊँटियों का एक ही पंक्ति (कतार) से चलना देखकर जो मनुष्य ऊपर से पर्जन्य की वृष्टि होगी ऐसा अनुमान करना सिद्धान्ती का अभिमत है न कि कुछ चिउंटियों का अण्डेसहित छितर-वितर होकर चलना तथा यह मयूर की ध्वनि है, यह उसके समान मनुष्य की ध्वनि है इस प्रकार विशेष (भेद) का ज्ञान न होने के कारण ही यह पूर्वपक्षी ने दिये हुए अनुमान में मिथ्यात्व की सिद्धि हो सकती है। जो प्राणी विशिष्ट (असाधारण) वास्तविक मयूर शब्द सुनकर यह मयूर ही की ध्वनि है ऐसा जानता है उससे वर्तमान में मेघ अवश्य है इस साध्य की सिद्धि होने में उपरोक्त विशेष मयूर ही का

भविष्यति वृष्टिरित्यनुमीयते न कासाञ्चिदिति। नेदं मयूरवाशितं तत्सदृशोऽयं शब्द इति विशेषापरिज्ञानान्मिथ्यानुमानमिति। यस्तु विशिष्टाच्छब्दाद्विशिष्टमयूरवाशितं गृह्णाति तस्य विशिष्टोऽर्थो गृह्यमाणो लिङ्गं यथा सर्पादीनामिति। सोऽयमनुमातुरपराधो नानुमानस्य, योऽर्थविशेषेणानुमेयमर्थमविशिष्टार्थदर्शनेन बुभुत्सत इति ॥ ३९ ॥

त्रिकालविषयमनुमानं त्रैकाल्यग्रहणादित्युक्तम्, अत्र च—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ॥ ४० ॥

वृन्तात्प्रच्युतस्य फलस्य भूमौ प्रत्यासीदतो यदूर्ध्वं स पतितोऽध्वा तत्संयुक्तः कालः पतितकालः, योऽधस्तात् स पतितव्योऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः

वास्तविक शब्द ही साधक होता है जिस प्रकार सर्प आदिकों को मयूर ही की वास्तविक ध्वनि को सुनकर ही मयूर की सत्ता का अनुमान होता है न कि मयूर के सदृश मनुष्य की ध्वनि से। (अर्थात् जब प्राणी को मयूर की ध्वनि से उसके सदृश मनुष्य की ध्वनि में भेदज्ञान नहीं रहता और उसके द्वारा ही जब आकाश में मेघ का अनुमान किया जाता है उसी समय वह अनुमान मिथ्या होगा। इसी प्रकार रोकने आदि दूसरे कारणों से नदी का प्रवाह भरा है ऐसा प्राणी को निश्चय नहीं रहता और उसीके द्वारा वह ऊपर से वृष्टि हुई थी ऐसा अनुमान करता है तभी वह मिथ्या अनुमान होता है। इसी प्रकार यह वासस्थन के नष्ट होने के कारण भय से पिपीलिका अण्डेसहित चल रही हैं यह निश्चय प्राणी को नहीं रहता और उसी के द्वारा वह भविष्यवृष्टी का अनुमान करता है तभी वह मिथ्या अनुमान होता है, न कि विशेष ज्ञान रहने पर यह सिद्धान्ती का यहाँ गूढ आशय है) (इस प्रकार पूर्वपक्षिमत का खण्डन कर उपसंहार करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—यह उस प्राणी ही का अपराध है जो अनुमान करता है, नकि अनुमान प्रमाण का, जो विशेष सिद्धान्ती ने दिये हुऐ हेतुओं से सिद्ध होने वाले साध्य विषय अर्थ को सामान्यरूप से नदीवृद्धि आदिकों को देखकर भूतवृष्टि आदि का अनुमान करता है ॥ ३९ ॥

(७) वर्तमानकालपरीक्षाप्रकरण

(इस प्रकार अनुमान के लक्षण के परीक्षा द्वारा अनुमानप्रमाण की परीक्षा करने के पश्चात् अनुमानप्रमाण के विषय की परीक्षापूर्वक अनुमान की परीक्षा करते हुए पूर्वपक्षिमत के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—भूत, भविष्य तथा वर्तमान में से तीनों कालों में हेतु से साध्य की सिद्धि के ज्ञान होने के कारण अनुनानप्रमाण उक्त तीनों कालों को विषय करता है ऐसा पूर्वग्रन्थ में कहा है, किन्तु इस (वर्तमानादि त्रिकल विषय अनुमान होने) में पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आपत्ति दिखाते हैं—

पदपदार्थ = वर्तमानभावः = वर्तमानकाल का अभाव है, पततः = वृक्ष से गिरने वाले फलादिक का, पतितपतितव्यकालोपपत्तेः = पूर्व में गिरे हुए कल का भूतकाल, तथा आगे गिरने वाले फल का भविष्यकाल इन दोनों कालों से ही काम चलने के कारण ॥ ४० ॥

भावार्थ=वृक्ष के उत्पन्न करने वाले बंधन से भूमि पर गिरने वाले फल का जो ऊपर का भाग है वह गिरा हुआ भूतकाल का भाग है अतः उससे संयुक्त काल को भूतकाल कहते हैं। और जो गिरने वाले फल का आधा भाग नीचे का भाग है आगे गिरने योग्य यह मार्ग है, उसमें संयुक्तकाल ही पतितव्य आगे गिरने योग्य (भविष्य) काल है, तो अब कोई तीसरा भाग

पतितव्यकालः । नेदानीं तृतीयोऽध्वा विद्यते यत्र पततीति वर्त्तमानः कालो गृह्येत, तस्माद्वर्तमानः कालो न विद्यत इति ॥ ४० ॥

तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥ ४१ ॥

नाध्वव्यङ्ग्यः कालः । किं तर्हि ? क्रियाव्यङ्ग्यः पततीति । यदा पतनक्रिया व्युपरता भवति स कालः पतितकालः । यदोत्पत्स्यते स पतितव्यकालः । यदा द्रव्ये वर्तमाना क्रिया गृह्यते स वर्त्तमानः कालः। यदि चायं द्रव्ये वर्तमानं पतनं न गृह्णाति कस्योपरममुत्पत्स्यमानतां वा प्रतिपद्यते । पतितः काल इति भूता क्रिया । पतितव्यः काल इति चोत्पत्स्यमाना क्रिया । उभयोः कालयोः क्रियाहीनं द्रव्यम्, अधः पततीति क्रियासम्बद्धं, सोऽयं क्रियाद्रव्ययोः सम्बन्धं गृह्णातीति वर्तमानः कालस्तदाश्रयौ चेतरौ कालौ तदभावे न स्यातामिति ॥

ही 'फल के' गिरने का नहीं बचता है जिससे गिर रहा है इस प्रकार वर्तमानकाल का ज्ञान हो, अतः भूत तथा भविष्य इन दो कालों से भिन्न तीसरा वर्तमान नामक कोई काल ही नहीं है ऐसा पूर्वपक्षी के आक्षेप का आशय है ॥ ४० ॥

(४० वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—प्रसवबंधन से गिरता हुआ जो फल पृथ्वी के पास गिरकर पहुँचता है, वह उसके ऊर्ध्व (ऊपर) जो मार्ग है वह पतित (जिससे गिर चुका) ऐसा मार्ग है, जिससे संयोगसम्बन्ध रखने वाले काल को भूतकाल कहते हैं। तथा जो वृक्ष से पृथ्वी पर गिरने वाले फल का अधोभाग (नीचे का भाग) है वह पतित का (आगे गिरने योग्य) मार्ग है, जिससे संयुक्तकाल भविष्यकाल कहाता है, अब कोई वृक्ष से गिरने वाले फल का तीसरा मार्ग ही नहीं बचता जिसमें संयुक्त **'यह फल गिर रहा है'** इसका व्यवहार के लिये वर्तमानकाल का ग्रहण हो। इस कारण वर्तमान नामक कोई भूत तथा भविष्यकाल से भिन्न काल ही नहीं है, अतः सिद्धान्ती के अनुमान तीन काल को विषय करता है यह कहना असंगत है ऐसा पूर्वपक्ष है ॥ ४० ॥

इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्तमत से सत्रकार उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ=तयोः अपि = उन भूत तथा भविष्य कालों का भी, अभावः = अभाव होगा, वर्तमानाभावे = वर्तमानकाल के न होने पर, तदपेक्षत्वात् = उस वर्तमानकाल की भूत तथा भविष्य दोनों कालों की अपेक्षा होने से ॥ ४१ ॥

भावार्थ=काल की सिद्धि मार्ग को लेकर नहीं होती, किन्तु क्रिया (व्यापार) को लेकर । क्योंकि पतनादि क्रिया समाप्त हो जाती है उसे भूतकाल, और जब आयतनादि क्रिया उत्पन्न होगी, उसे भविष्यकाल, एवं जिस समय पतनादि क्रिया का वर्तमान होते हुए ग्रहण होता है, उसे वर्तमान काल कहते हैं। यदि पद से वर्तमान पतन क्रिया का ज्ञान न हो तो जिसके समाप्त होने तथा आगे उत्पन्न होने का ज्ञान होगा, अतः पतनादि क्रिया तथा फल आदि द्रव्य इन दोनों के वर्तमान सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला काल वर्तमान भी तीसरा काल है यह सिद्ध होता है। और इस वर्तमानकाल के आधार से भूत तथा भविष्य ये दो काल भी हैं, अतः यदि वर्तमानकाल न हो तो भूत भविष्य काल भी जिनको पूर्वपक्षी मानता है सिद्ध न होंगे ॥ ४१ ॥

(४१ वें सूत्र की भाष्य आदि व्याख्या ऐसी करते हैं कि—समय की मार्ग से सिद्धि नहीं होती। (प्रश्न)—तो किससे होती है ! (उत्तर)—क्रिया (व्यापार) से काल जाना जाता है।

अथापि—

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ४२ ॥

यद्यतीतानागतावितरेतरापेक्षौ सिद्धयेतां प्रतिपद्येमहि वर्त्तमानविलोपम्। नातीतापेक्षाऽनागतसिद्धिः। नाप्यनागतापेक्षाऽतीतसिद्धिः। कया युक्त्या ? केन

जिस समय पतनादि क्रिया समाप्त हो जाती है वह पतित (गिरा हुआ) पतन क्रिया का भूतकाल कहाता है और आगे के समय में पतनादि क्रिया उत्पन्न होगी, वह पतित कर आगे पतन क्रिया होने का काल भविष्यकाल है और जिस काल में फल आदि द्रव्य में वर्तमान रहने वाली पतनादि क्रिया का ग्रहण होता है वह वर्तमानकाल होता है। यदि यह प्राणी फलादिकों में वर्तमान पतन (गिरना) आदि क्रिया का ग्रहण न करे, तो किस क्रिया की समाप्ति तथा भविष्य में उत्पत्ति होने को जानेगा, क्योंकि जो पतित (गिरना समाप्त होने का) काल है, वह पूर्व में समाप्त हुई पतनादि क्रिया है, और जो आगे गिरने का (पतित का) काल है वह आगे उत्पन्न होने वाली पतनादि क्रिया है, और इन दोनों भूत तथा भविष्यकालों में फलादि द्रव्यों में पतनादि क्रिया नहीं है, और फल नीचे गिर रहा है इस ज्ञान में पतनादि क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले फलादि द्रव्य जाने जाते हैं। वह यह पतनादि क्रिया तथा फलादि द्रव्य इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है ऐसा जिस काल में ज्ञान होता है, वह वर्तमान नामक तीसरा काल कहाता है, और उसी के आधार से भूत तथा भविष्य ये दो काल होते हैं, अतः वर्तमानकाल में न होने पर भूत तथा भविष्य ये दोनों काल भी सिद्ध न होंगे, अतः वर्तमान नामक तृतीय काल के न होने से त्रिकाल विषय में अनुमानप्रमाण नहीं होता ऐसा पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है ॥ ४१ ॥

(पूर्वपक्षी के कथनानुसार वर्तमानकाल न मानने में और भी आपत्ति देने वाले सिद्धान्तों के मत से दूसरे युक्ति के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि) और भी—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकती, अतीतानागतयोः = भूत तथा भविष्य इन दो कालों की, इतरेतरापेक्षा = परस्पर की अपेक्षा से, सिद्धिः=सिद्धि ॥ ४२ ॥

भावार्थ—यदि भूत तथा भविष्य इन दोनों पूर्वपक्षी को अभिमत कालों की, परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि हो तो वर्तमानकाल का लोप (अभाव) हम मानें, किन्तु भूतकाल की अपेक्षा कर भविष्यकाल की, तथा भविष्यकाल की अपेक्षा कर भूतकाल की सिद्धि भी नहीं होती, अर्थात् किस युक्ति से भूतकाल सिद्ध होता है, और किस प्रकार भूतकाल की अपेक्षा से भविष्यकाल की सिद्धि होती है, तथा किस युक्ति से भविष्यकाल की सिद्धि होती है यह पूर्वपक्षी बिना वर्तमान काल माने नहीं कह सकता, अतः बिना वर्तमानकाल माने भूत तथा भविष्य इन दोनों कालों की भी परस्पर अपेक्षा से सिद्धि न होने के कारण भूत तथा भविष्य इन दोनों कालों को मानने के लिये वर्तमानकाल मानने की आवश्यकता है यह सिद्ध होता है अर्थात् यदि भूत तथा भविष्यकाल परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होते हों तो वर्तमानकाल की असत्ता मानी जायेगी यह इस द्वितीय सिद्धान्त सूत्र का आशय है ॥ ४२ ॥

(४२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि भूत तथा भविष्य ये दोनों काल परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध हो सकते हों तो हम वर्तमानकाल नहीं है ऐसा मान सकेंगे, किन्तु भूतकाल की अपेक्षा से भविष्यकाल की, और न भविष्यकाल की अपेक्षा से भूतकाल की सिद्धि होती है। (प्रश्न)—किस युक्ति से ? (उत्तर)—किस प्रकार से पहिले भूतकाल सिद्ध होता

कल्पेनातीतः कथमतीतापेक्षाऽनागतसिद्धिः, केन च कल्पेनानागतः कथमनागतापेक्षातीतसिद्धिरिति नैतच्छक्यं निर्वक्तुमव्याकरणीयमेतद्वर्तमानलोप इति। यच्च मन्येत ह्रस्वदीर्घयोः स्थलनिम्नयोश्छायाऽऽतपयोश्च यथेतरतरापेक्षया सिद्धिरेवमतीतानागतयोरिति, तन्नोपपद्यते। विशेषहेत्वभावात्। दृष्टान्तवत्प्रतिदृष्टान्तोऽपि प्रसज्यते यथा रूपस्पर्शौ गन्धरसौ नेतरेतरापेक्षौ सिध्यतः, एवमतीतानागताविति, नेतरेतरापेक्षा कस्यचित्सिद्धिरिति। *यस्मादेकाभावेऽन्यतराभावादुभयाभावः।* यद्येकस्यान्यतरापेक्षा सिद्धिरन्यतरस्येदानीं किमपेक्षा? यद्यन्यतरस्यैकापेक्षा सिद्धिरेकस्येदानीं किमपेक्षा? एवमेकस्याभावे अन्यतन्न सिध्यतीत्युभयाभावः प्रसज्यते॥ ४२॥

अर्थसद्भावव्यङ्ग्यश्चायं वर्त्तमानः कालः, विद्यते द्रव्यं विद्यते गुणः, विद्यते कर्मेति। यस्य चायं नास्ति, तस्य—

है, और उसकी अपेक्षा से भविष्यकाल कैसे सिद्ध होता है, अथवा किस प्रकार पहले भविष्यकाल की सिद्धि होकर उसकी अपेक्षा कर भूतकाल की सिद्धि होती है यह निर्वचन करना (कहना) अशक्य है। वर्तमानकाल को न मानने पर उपरोक्त प्रकार से भूत तथा भविष्यकाल की व्याख्या करना कठिन है। (इस कारण भूत तथा भविष्यकाल की परस्पर अपेक्षा से सिद्धि न होने के कारण वर्तमानकाल भी मानना आवश्यक है) यदि पूर्वपक्षी के मत से "ह्रस्व तथा दीर्घ दो परिमाणों तथा स्थल (पृथ्वी का तल) तथा गड्ढे के एवं छाया (अन्धकार) तथा प्रकाश के जिस प्रकार परस्पर अपेक्षा से सिद्धि होती है, इसी प्रकार प्रस्तुत में भी भूत तथा भविष्य इन दोनों कालों की भी परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि होगी" ऐसा माना जाय तो ह्रस्व दीर्घ आदि की परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि मानने पर भी इन दृष्टान्तों से भूत तथा भविष्यकाल इन दोनों की परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि विशेष साधक हेतु इसमें नहीं है, कारण यह कि इस परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि में ह्रस्व दीर्घ आदि दृष्टान्त के समान, भूत तथा भविष्यकाल की परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि न होने से विरुद्ध दृष्टान्त भी यह मिल सकता है कि जिस प्रकार रूप तथा स्पर्श नामक गुण, एवं गन्ध तथा रस नामक गुण परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होते, इसी प्रकार भूत तथा भविष्य ये दोनों काल भी परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं हैं, अतः किसी की परस्पर अपेक्षा से सिद्धि नहीं है (अर्थात् वस्तुतः ह्रस्व दीर्घ परिमाणादिकों की भी परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि नहीं होती) क्योंकि दो में से एक के न होने पर दो में से एक के अभाव से दोनों का अभाव है ऐसा होगा। यदि दो में से एक को दूसरे किसी एक की अपेक्षा हो तो उस दूसरे किसी एक को किसकी अपेक्षा होगी? यदि दोनों में से किसी एक की अपेक्षा से सिद्धि होती हो तो उस दूसरे एक को अब किसकी अपेक्षा होगी? इस प्रकार दो में से एक न रहने पर दूसरा एक भी नहीं सिद्ध हो सकता, इसलिये दोनों का अभाव होने की आपत्ति आ जायगी॥ ४२॥

(वर्तमानकाल की सत्ता मानने में और युक्ति के प्रतिपादक सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—और यह वर्तमानकाल पदार्थ की सत्ता से भी प्रगट होता है, क्योंकि द्रव्य है, गुण है, क्रिया है, इस प्रकार वर्तमानकाल की प्रतीति होती है। (अर्थात् न

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं, न चाविद्यमानमसदिन्द्रियेण सन्निकृष्यते। न चायं विद्यमानं सत्किञ्चिदनुजानाति। प्रत्यक्षनिमित्तं प्रत्यक्षविषयः प्रत्यक्षज्ञानं सर्वं नोपपद्यते, प्रत्यक्षानुपपत्तौ तत्पूर्वकत्वादनुमानागमयोरनुपपत्तिः। सर्वप्रमाणविलोपे सर्वग्रहणं न भवतीति ॥ ४३ ॥

उभयथा च वर्त्तमानः कालो गृह्यते क्वचिदर्थसद्भावव्यङ्ग्यः। यथाऽस्ति द्रव्यमिति। क्वचित् क्रियासन्तानव्यङ्ग्यः। यथा पचति छिनत्तीति। *नानाविधा*

केवल पतनादि क्रिया से काल सिद्ध होता है, किन्तु पदार्थ की सत्ता से भी) जिस पूर्वपक्षी के मत से यह वर्तमानकाल नहीं है, उसके मत से—

पदपदार्थ—वर्तमानाभावे = वर्तमान काल के न होने पर, सर्वाग्रहणं = किसी पदार्थ का ग्रहण न होगा, प्रत्यक्षानुपपत्तेः = क्योंकि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

भावार्थ—इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोगादि सम्बन्ध रूप संनिकर्ष से विद्यमान ही पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पूर्वपक्षी यदि वर्तमानकाल में विद्यमान कोई पदार्थ नहीं है ऐसा कहे तो उसके मत से प्रत्यक्ष का निमित्त (कारण) प्रत्यक्ष का विषय तथा आधाररहित प्रत्यक्षरूप ज्ञान यह संपूर्ण नहीं हो सकता, प्रत्यक्ष के न होने के कारण प्रत्यक्षपूर्वक होने वाले अनुमान, तथा शब्द भी न हो सकने से संपूर्ण प्रमाणों के अभाव की आपत्ति होने के कारण किसी पदार्थ का किसी प्रकार का ज्ञान ही नहीं होगा (वृक्षादिकों से फल आदि का पतन (गिरना) क्रिया होती हैं, तथा निवृत्त होती हैं। 'है' यह क्रिया सम्पूर्ण वर्तमानकाल में व्यापक है अतः पतन आदि क्रिया से युक्त वर्तमानकाल के न मानने पर प्रत्यक्ष न होने से द्रव्य, गुण तथा क्रिया इत्यादिकों का ज्ञान ही न होगा) ॥ ४३ ॥

(४३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, जो अविद्यमान है, अतः जिसकी सत्ता नहीं है ऐसे पदार्थ का इन्द्रिय से संयोगादि संनिकर्ष नहीं हो सकता और यह पूर्वपक्षी जो विद्यमान होने से कोई सत् पदार्थ ही नहीं मानता। जिससे उसके मन से प्रत्यक्षज्ञान का इन्द्रिय संनिकर्ष रूप निमित्त (कारण), प्रत्यक्षज्ञान के विषय पदार्थ, तथा प्रत्यक्षज्ञान—यह संपूर्ण ही न बन सकेंगे। और प्रत्यक्ष रूपज्ञान के न हो सकने के कारण प्रत्यक्षपूर्वक होने वाले अनुमान तथा शब्द इन दोनों प्रमाणों की सिद्धि न होंगी, इस प्रकार संपूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लोप (अभाव) होने पर पूर्वपक्षी के मत से द्रव्य, गुण तथा क्रिया आदि संपूर्ण पदार्थों का ग्रहण (ज्ञान) न होगा, अतः पूर्वपक्षिमत से वर्तमान काल का न मानना असंगत है। (अर्थात् जिस कारण प्रत्यक्षज्ञान वर्तमान के आश्रय से ही होता है, क्योंकि संसार के सभी कार्य वर्तमान ही के आश्रय से होते हैं जैसे दुग्ध, आदि संसार के सभी कार्य भी प्रत्यक्ष होने से वर्तमान काल के ही आधार से हैं अतः वर्तमान काल के न मानने से प्रत्यक्षज्ञान का कोई आश्रय ही नहीं हो सकता, और विना आधार के कोई कार्य होता नहीं अतः कोई प्रत्यक्षज्ञान ही न हो सकेगा) ॥ ४३ ॥

(वर्तमान के साधक सिद्धान्त सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—वर्तमानकाल का दो प्रकार से ज्ञान होता भी है, कहीं-कहीं अर्थ की सत्ता से केवल अस्ति से इस क्रिया से जानने योग्य वर्तमानकाल की सिद्धि होती है जैसे अमुक द्रव्य है। तथा कहीं-कहीं क्रिया के

चैकार्था क्रिया क्रियासन्तानः क्रियाभ्यासश्च। नानाविधा चैकार्था क्रिया पचतीति स्थाल्यधिश्रयणमुदकासेचनं तण्डुलावपनमेधोऽपसर्पणमग्न्यभिज्वालनं दर्वीघट्टनं मण्डस्रावणमधोऽवतारणमिति। छिनत्तीति क्रियाभ्यास उद्यम्योद्यम्य परशुं दारुणि निपातयन् छिनत्तीत्युच्यते।

यच्चेदं पच्यमानं छिद्यमानं च तत्क्रियमाणं, तस्मिन् क्रियमाणे—

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४४ ॥

सन्तान से वर्तमानकाल व्यंग्य (प्रगट) होता है, जैसे 'पकाता है, काटता है' इस प्रकार। एक विषय में होने वाली क्रिया नाना प्रकार की होती है—क्रिया का संतान, तथा क्रिया का अभ्यास। जिसमें क्रिया संतान (समुदाय) रूप क्रिया वह है जैसे 'पचति' पका रहा है क्योंकि स्थाली (बटुई) को चूल्हे पर चढाना, उसमें पानी डालना, चावल धोकर डालना, लकड़ी को चूल्हे के भीतर करना, आग को तेज करना, (दर्वी) कलछुल से चलाना, मण्ड (मांड) का निकालना, बटुई को चूल्हे के नीचे उतारना, यहाँ तक की संपूर्ण क्रिया करना। क्रिया के अभ्यास का उदाहरण यह है जैसे **'छिनत्ति'** काट रहा है—इस क्रिया में बारम्बार परशु (फरसे) को उठाकर लकड़ी पर मार-मार कर काटना ही लकड़ी **'काटता है'** इस वाक्य में कहा जाता है। (अर्थात् पचति इस प्रथम उदाहरण में उपरोक्त क्रियाओं के समुदाय से वर्तमानकाल की सिद्धि होती है। तथा **'छिनत्ति'** काट रहा है इस द्वितीय उदाहरण में एक ही काटने की क्रिया का बारम्बार करना इस अभ्यास रूप क्रिया सन्तान से भी वर्तमानकाल सिद्ध होता है) ॥ (इस प्रकार वर्तमानक्रिया की सत्ता सिद्ध कर उसके सम्बन्ध से सिद्ध होने वाली कारक की वर्तमानता को दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो यह पकाया जाने वाला चावल, तथा काटा जाने वाला लकड़ी रूप कर्मकारक है, वह क्रियमाण (किया जाने वाला) वर्तमान पकाने, काटने की क्रिया के सम्बन्ध से वर्तमान हुआ न कि केवल स्वरूप से रहना है। उस किये जाने वाले चावल तथा लकड़ी में—

पदपदार्थ—कृततां कर्तव्यतोपपत्तेः = (कृतता) किया गया (पकाया गया काटा गया), तथा (कर्तव्यता) किया जायगा (पकाया तथा काटा जायगा) ऐसा दो प्रकार का ज्ञान होने के कारण, उभयथा = दोनों (भूत तथा भविष्य) रूप से, ग्रहणम् = वर्तमानकाल का ग्रहण होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—आगे होने वाली कहने के लिये इष्ट ऐसी न आरंभ की हुई क्रिया संतान को भविष्य काल जैसे पकायेगा काटेगा तथा आरंभ के पश्चात् समाप्त हुई क्रिया के सन्तान को अतीत (भूतकाल) कहते हैं, जैसे पकाया, काटा गया इत्यादि और जिस क्रिया का आरंभ हुआ है समाप्ति नहीं हुई ऐसे क्रिया समुदाय को वर्तमानकाल कहते हैं जैसे पका रहा है, काट रहा है, इस पर किया गया, किया जायगा, क्रिया जा रहा है इस प्रकार क्रिया सन्तान में भूत, भविष्य एवं वर्तमानकाल का सम्बन्ध देखने में आता है, इस कारण भी वर्तमानकाल भी अवश्य पूर्वपक्षी को मानना ही होगा। तथा पदार्थों की सत्ता से भी तीनों काल की सिद्धि होती है, क्योंकि यहाँ घट था, लाया जायगा तथा इस समय में घट है इस प्रकार ज्ञान होते हैं, अतः पूर्वपक्षी को क्रिया तथा अर्थ की सत्ता दोनों प्रकार से वर्तमानकाल अवश्य मानना होगा ॥ ४४ ॥

क्रियासन्तानोऽनारब्धश्चिकीर्षितोऽनागतः कालः पक्ष्यतीति। प्रयोजनावसानः क्रियासन्तानोपरमः अतीतः कालोऽपाक्षीदिति। आरब्धक्रियासन्तानो वर्तमानः कालः पचतीति। तत्र या उपरता सा कृतता। या चिकीर्षिता सा कर्त्तव्यता। या विद्यमाना सा क्रियमाणता। तदेवं क्रियासन्तानस्थस्त्रैकाल्यसमाहारः पचति पच्यते इति वर्त्तमानग्रहणेन गृह्यते, क्रियासन्तानस्य ह्यत्राविच्छेदो विधीयते नारम्भो नोपरम इति। सोऽयमुभयथा वर्त्तमानो गृह्यते अपवृक्तो व्यपवृक्तश्च अतीतानागताभ्यां, स्थितिव्यङ्ग्यो विद्यते द्रव्यमिति। क्रियासन्तानाविच्छेदाभिधायी च त्रैकाल्यान्वितः पचति छिनत्तीति। अन्यश्च प्रत्यासत्तिप्रभृतेरर्थस्य विवक्षायां तदभिधायी बहुप्रकारो लोकेषु उत्प्रेक्षितव्यः। तस्मादस्ति वर्त्तमानः काल इति॥ ४४॥

इत्यौपोद्घातिकवर्तमानपरीक्षासहितानुमानपरीक्षाप्रकरणम्।

(४४ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—करने की इच्छा का विषय तथा जो क्रियासमूह प्रारंभ नहीं हुआ है ऐसे क्रियासमूह को भविष्यकाल कहते हैं। जैसे पकावेगा' तथा जिसका चावल का पक जाना रूप प्रयोजन समाप्त होने से जिसे पाकक्रिया न्तान की भी समाप्ति हुई हो, ऐसे मत को अतीत (भूत) काल कहते हैं, जैसे उसने चावल का लिया तथा जिस पाकक्रिया के समूह का प्रारंभ हुआ हो और समाप्ति न हुई हो, अर्थात ो चावल पकता हो उसे वर्तमानकाल कहते हैं जैसे 'चावल पका रहा है।' इनमें जो पाक की समाप्ति है वही कृतता (कर लिया गया) ऐसी पाकक्रिया कहाती है और (चिकीर्षिता) पाक करने की इच्छा की जो विषयता है वही कर्तव्यता (आगे पाक करने की विषयता है। और जो पाकक्रिया विद्यमान है (हो रही है) वह क्रियमाणता (की जा रही है) है। अतः इस प्रकार से यह पाकक्रिया के समूह में वर्तमान भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे तीनों कालों का समाहार (मिलन) चावल को पकाता है, या चावल पकाये जा रहे हैं इस प्रकार वर्तमानकाल के व्यवहार से ज्ञान होता है, क्योंकि इस व्यवहार में पाकक्रिया के समूह का समाप्त न होना कहा जाता है, नकि पाकक्रिया का आरम्भ होना, न समाप्त होना (सूत्र के तु शब्द का अर्थ दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस कारण वह यह वर्तमानकाल, भूत तथा भविष्य दोनों कालों से (अपवृत्त) रहित तथा व्यापवृक्त (सहित) ऐसे दो प्रकार से जाना जाता है उपरोक्त क्रियासमूह के समान पदार्थों की सत्ता से भी वर्तमानकाल की सिद्धि होती है, जैसे द्रव्य है यह प्रतीति वर्तमानकाल को सिद्ध करती है। पाकादि क्रिया के समूह को अविच्छेद (समाप्ति न होने) को कहने वाला भी काल भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों से युक्त होता है—जैसे पकाता है, काटता है इस प्रतीति में भूतकाल से जिस क्रिया का आरम्भ हुआ है तथा भविष्यकाल में जो समाप्त होगी और वर्तमानकाल में हो रही है। इसी प्रकार आगे गमन करने रूप अर्थ की विवक्षा से समीप ही होने वाली गति आदि को लेकर 'यह मैं जाता हूँ' ऐसा अनेक प्रकार का व्यवहार भी त्रिकाल के सम्बन्ध से होता है ऐसा स्वयं जान लेना चाहिये। अतः वर्तमानकाल है यह सिद्ध होता है॥ ४४॥

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥ ४५ ॥

अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति । प्रायःसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि भवति यथाऽनड्वानेवं महिष इति । एकदेशसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि सर्वेण सर्वमुपमीयत इति ॥ ४५ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ ४६ ॥

(८) उपमानपरीक्षाप्रकरण

(इस प्रकार अनुमान परीक्षा करने के पश्चात् तृतीय उपमान नामक प्रमाण की परीक्षा करने के लिये पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यात् = अत्यन्त (अधिक) प्राय (प्रायः) होने वाला, तथा एकदेश को लेकर समानधर्म से, उपमानसिद्धिः=उपमानप्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती ॥४५॥

भावार्थ—'जैसी गो है वैसा ही गवय होता है' ऐसे अतिदेश गवय को जानने वाले आरण्यवासी ने कहे हुए वाक्य के अर्थ के स्मरण की सहायता से गवय को देख कर उसमें गौ की समानरूपता को देख साधन योग्य—यह गवय कहाता है ऐसे गवय शब्द तथा उसके अर्थ के वाच्यवाचकरूपसम्बन्ध—का सिद्ध करना उपमानप्रमाण होता है ऐसा सिद्धान्ती की उपमानप्रमाण पृथक् मानने में युक्ति है, किन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि उपरोक्त जैसे गौ होती है वैसा ही गवय (नीलगाय) होती है इस वाक्य में अत्यन्त अधिक गौ तथा गवय का समानधर्म सिद्धान्ती को विवक्षित है, अथवा प्रायिक (कुछ थोड़ा सा), या एकदेश (एक भाग) को लेकर साधर्म्य की सिद्धान्ती को कहने की इच्छा है ! किसी पक्ष से उक्त साधर्म्य उदाहरण नहीं बन सकता । अतः सिद्धान्ती का उपमानप्रमाण पृथक् मानना असंगत है ॥ ४५ ॥

(४५ वें सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से व्याख्या करते हैं कि)—सिद्धान्ती का अत्यन्त (अतिअधिक) समानधर्म से उपमानप्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसी गौ है वैसी गो है ऐसा गौओं का अतिअधिक समानधर्म को लेकर उपमा नहीं दी जाती । प्रायिक समानधर्म से भी उपमानप्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्रायः होने वाले, शृङ्ग (सींग), पुच्छ आदि समानधर्म को लेकर जैसा अनुडह (बैल) है वैसा महिष (भैंस) है ऐसी भी उपमा नहीं दी जाती तथा एकदेश से समानधर्म को लेकर भी उपमा नहीं दी जाती क्योंकि संपूर्ण पदार्थों में कुछ न कुछ समानधर्म होता है इस कारण संपूर्ण पदार्थों की संपूर्ण पदार्थों को उपमा नहीं दी जाती । इस कारण सिद्धान्ती का उपमान नामक पृथक् प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

उपरोक्त पूर्वपक्षी के आक्षेप का सूत्रकार परिहार करते हैं—

पदपदार्थ—प्रसिद्धसाधर्मात्=लोक में प्रसिद्ध समानधर्म को लेकर, उपमानसिद्धेः = उपमान नामक पृथक् प्रमाण सिद्ध होने के कारण, तथोक्तदोषानुपपत्तिः=पूर्वपक्षीमत से जैसे दोष दिये हैं वे नहीं हो सकते ॥ ४६ ॥

भावार्थ—प्रकरणादिकों की अपेक्षा रखने वाला ही वाक्य अपने अर्थ को कहता है, नकि केवल वाक्य, उसी प्रकरणादियों के अनुसार कहीं-कहीं अत्यन्त सादृश्य वा, कहीं-कहीं प्रायिक साधर्म्य का तथा कहीं-कहीं एकदेश से समानधर्म का ज्ञान होता है, और प्रस्तुत में जिस प्राणी को महिप, अश्व आदि का ज्ञान है, किन्तु गवय (नीलगाय) का ज्ञान नहीं है, उसी नगरवासी को गवय का ज्ञान होने के लिये आरण्य में रहने वाला पुरुष 'जैसी गौ होती है वैसा

न साधर्म्यस्य कृत्स्नप्रायाल्पभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्त्तते, किं तर्हि? प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्तते। यत्र चैतदस्ति न तत्रोपमानं प्रतिषेद्धुं शक्यम्। तस्माद्यथोक्तदोषो नोपपद्यत इति ॥ ४६ ॥

अस्तु तर्ह्युपमानमनुमानम्—

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४७ ॥

ही गवय होता है' ऐसा वाक्य कहता है उस समय महिषादिकों के निवृत्ति के लिये भूयः (प्रसिद्ध) समानधर्म ही अरण्यवासी कहना चाहता है इस कारण उसके वाक्य के अर्थ को स्मरण करता हुआ नगरवासी महिषादिकों में गौ का सादृश्य देखता हुआ भी महिष को गवय नहीं जानता, किन्तु गौ के प्रसिद्धसाधर्म्य वाले नील गौ (गवय) को ही गवय है ऐसा जानता है यह सिद्धान्त-सूत्र का आशय है ॥ ४६ ॥

(४६ वें सूत्र की व्याख्या सिद्धान्तिमत से भाष्यकार करते हैं कि)—समानधर्म की सपूणता (अत्यन्त होना), प्रायः होना, तथा एकदेश से होना लेकर (अतिदेशवाक्यरूप) उपमान-प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती (अर्थात् साधर्म्य की संपूर्णता या अल्पता को ही लेकर अरण्यवासी ने 'जैसी गौ होती है वैसी ही गवय होता है' ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि समानधर्म का होने का कोई नियम नहीं है) (प्रश्न)—किसको लेकर समानधर्म से उपमान प्रमाण होता है ? (उत्तर)—लोकव्यवहार में प्रसिद्ध समानधर्म को लेकर गवय का गवय कहाना इस साध्य का जैसी गौ होती है वैसा ही गवय होता है, इस अतिदेश वाक्यरूप साधना (हेतु) रूप धर्म को लेकर उपमानप्रमाण की प्रवृत्ति होती है। जहाँ यह प्रसिद्ध साधर्म्य है वहाँ उपमानप्रमाण का निषेध नहीं हो सकता, इस कारण पूर्वपक्षी का दिया हुआ दोप नहीं हो सकता (अर्थात् अरण्यवासी ने कहे हुए वाक्य में जो प्रसिद्ध समानधर्म है वही गवय शब्द तथा गवयरूप अर्थ इन दोनों के वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध का साधक होगा, जिसमें पूर्वपक्षी ने दोष में दिखाये हुए संपूर्ण प्रकार से साधर्म्य होना इत्यादिकों का नियम नहीं है किसी स्थल में किसी साधर्म्य को लेकर अतिदेशवाक्य की प्रवृत्ति होती है, और वह समानधर्म कैसा है यह प्रकरण से जाना जाता है) ॥

(यद्यपि शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञान में अतिदेश वाक्य से भया हुआ सादृश्यज्ञानरूप उपमान कारण होता है, तथापि उसे पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका अनुमान-प्रमाण में ही अन्तर्भाव मान लेंगे, इस आशय के पूर्वपक्ष सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—तो उपमान नामक प्रमाण अनुमानप्रमाण है ऐसा मान लेंगे—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्ष नील गाय में देखे गौ के सादृश्य से, अप्रत्यक्षसिद्धेः = प्रत्यक्ष न होने वाले नील गौ की सिद्धि होती है इस कारण ॥ ४७ ॥

भावार्थ—अरण्यवासी ने नगरवासी को कहा हुआ 'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है' यह वाक्य प्रत्यक्ष होने वाली गौ से प्रत्यक्ष न देखे हुए गवय को कहना है। उक्त वाक्य को सुनकर भी जब नगरवासी प्रत्यक्ष से गवय को देखता है, उस समय उक्त वाक्य के अर्थ के ज्ञान से अधिक वह कुछ नहीं जानता। गवय शब्द तथा उसके गवयरूप पदार्थ का वाच्यवाचक-भावरूप सम्बन्ध का भी उक्त वाक्य से ही ज्ञान उसे हुआ है। इस कारण प्रत्यक्ष गौ से अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष न होने वाले) गवय पदार्थ की (जिसका गवय शब्द नामवाचक है) उसकी प्रतीति होना अनुमानप्रमाण ही है ऐसा पूर्वपक्ष सूत्र का आशय है ॥ ४७ ॥

यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्, एवं गवा प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणमिति नेदमनुमानाद्विशिष्यते ॥ ४७ ॥

विशिष्यत इत्याह। कया युक्त्या ?—

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४८ ॥

यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवा समानमर्थं पश्यति तदाऽयं गवय इत्यस्य संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते न चेदमनुमानमिति। परार्थं चोपमानम्, यस्य ह्युपमेयमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियते इति।

(४७ वें सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार प्रत्यक्ष दीखने वाले धूम से पर्वत पर प्रत्यक्ष न दीखने वाले वह्नी का ज्ञान अनुमानप्रमाण होता है इसी प्रकार प्रस्तुत में नगर में प्रत्यक्ष दीखने वाली गौ से अरण्य में होने से प्रत्यक्ष न दीखने वाले गवय (नीलगाय) का ज्ञान भी होता है, इस कारण यह अनुमानप्रमाण से पृथक् दूसरा कोई उपमान नामक प्रमाण नहीं है ॥ ४७ ॥

(उक्त पूर्वपक्षी के उत्तर के सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अनुमानप्रमाण से उपमानप्रमाण में विशेष है ऐसा सूत्रकार ने कहा है। (प्रश्न)—किस युक्ति (प्रकार) से ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—न = नहीं, अप्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष न दीखने वाले, गवये = गवय में, प्रमाणार्थ = प्रमाण का प्रयोजन, उपमानस्य = उपमान का, पश्यामः = देखते हैं, इति = इस कारण ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जब यह उपमानप्रमाण का प्रयोग करने वाला नगरवासी प्राणी गौ को नहीं दिखाता है उस समय उपमान नामक प्रमाण का कोई प्रयोजन नहीं होता, किन्तु अतिदेश वाक्य को सुनकर वह गौ के दिखाने वाला नगरवासी गौ के प्रसिद्ध समानधर्म वाले गवय (नीलगाय) को प्रत्यक्ष से देखता है उस समय यही गवय है इस प्रकार ज्ञान होने के पश्चात् इस गवय पदार्थ की गवय शब्द कहता है ऐसी गवय शब्द तथा गवय के वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध की व्यवस्था को जानता है। यह ऐसा (गौ के सादृश्य के बल से) गवय को जानना अनुमानप्रमाण से नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

(४८ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सिद्धान्ती के मत से कहते हैं कि)—जिस समय 'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है ऐसा आरण्यक पुरुष से सुनकर नगरवासी जो गवय को नहीं जानता है और जिसने नगर में गौ को देखा है अरण्य में जाने के पश्चात् वहाँ गौ के समानधर्म वाले प्राणी गवय पदार्थ को प्रत्यक्ष से देखता है उस समय वही वह गौ के समान गवय पदार्थ है जिसको गवय शब्द कहता है इस प्रकार गवय शब्द तथा गवय पदार्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध की व्यवस्था को जानता है, जो इस प्रकार जानना अनुमानप्रमाण नहीं हो सकता है (अर्थात् गवय पदार्थ है **'संज्ञी'** विषयरूप अर्थ, जिसका 'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है' इस आरण्यक पुरुष से ज्ञान नहीं होता, किन्तु इस वाक्य से कोई अरण्य में ऐसा प्राणी है इतना ही बोध नगरवासी को होता है। और इस वाक्य में रहने वाला गवय शब्द गौ के सादृश्य का बोधक है, क्योंकि गौ के सादृश्य को कहने की गवय शब्द में शक्ति है यह उस नगरवासी को संगति का ज्ञान नहीं हुआ है। सादृश्य **'संज्ञी'** विषयरूप अर्थ भी नहीं है। इस कारण अरण्य में जाकर नगरवासी ने प्रत्यक्ष देखे हुए ही गवय में गवयत्व जाति

परार्थमुपमानमिति चेद् न। *स्वयमध्यवसायात्*। भवति च भोः स्वयमध्यवसायः यथा गौरेवं गवय इति। नाध्यवसायः प्रतिषिध्यते उपमानं तु तन्न भवति 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'। न च यस्योभयं प्रसिद्धं तं प्रति साध्यसाधनभावो विद्यत इति ॥ ४८ ॥

अथापि—

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ४९ ॥

का प्रत्यक्ष होने के कारण संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवयरूप पदार्थ), इन दोनों का परस्पर वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध होता है। यही उपमान नामक तृतीय प्रमाण का प्रयोजन है, अतः उपमान भी अनुमान से भिन्न तीसरा प्रमाण मानना चाहिये। (यहाँ पूर्वपक्षी ऐसी सिद्धान्ती को आपत्ति दे सकता है कि—'उपमान नामक प्रमाण पर (दूसरे) के लिये होता है ऐसा यदि कहो तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं निश्चय होता है। हे सिद्धान्ती ! स्वयं भी 'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है' ऐसा निश्चित ज्ञान होता है, अतः सिद्धान्ती का उपमानप्रमाण परार्थ (दूसरे के लिये ही होता है ऐसा कहना असंगत है) अर्थात् यदि उपमानप्रमाण दूसरे के लिये हो तो 'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है' यह वाक्य ही यदि दूसरे को ही निश्चय करावे तो वह परार्थ ही होगा, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि इस वाक्य के कहने वाले अरण्यवासी को भी इससे नागरिक के समान निश्चित ज्ञान होता है, तस्मात् स्वार्थ (अपने लिये भी) उपमानप्रमाण हो सकता है इस कारण अनुमान से उपमान में अत्यन्त भेद नहीं हो सकता ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है। (इस आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—हम (उक्त वाक्य से) अध्यवसाय (निश्चित ज्ञान) का खण्डन नहीं करते, किन्तु यह उपमान नहीं होता ऐसा कहते हैं। क्योंकि प्रसिद्ध गौ के साधर्म्य ज्ञान के कारण यह गवय पद का अर्थ है ऐसी साध्य की सिद्धि करना उपमानप्रमाण होता है। जिस प्राणी को दोनों गौ तथा गवय का ज्ञान है उसके लिये गौ के साधर्म्य से गवय पद के अर्थ की सिद्धि होना यह साध्यसाधनभाव नहीं हो सकता (अर्थात् उपरोक्त अध्यवसाय 'जैसी गौ होती है वैसा गवय भी होता है' इस वाक्य के कहने वाले अरण्यवासी के लिये उपमानप्रमाण नहीं होता यह सिद्धान्ती का आशय है) ॥ ४८ ॥

(अनुमानप्रमाण से उपमानप्रमाण में विशेषता को सिद्ध करने वाले सिद्धान्ती के और युक्ति देने वाले सिद्धान्ती के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि) और भी—

पदपदार्थ—तथा इति = वैसा होता है, इस प्रकार, उपसंहारात् = उपसंहार (कथन) होने से, उपमान सिद्धेः = उपमान नामक पृथक् प्रमाण की सिद्धि होने के कारण, न = नहीं है, अविशेषः = दोनों में समानता ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अनुमान में 'जैसा धूम है वैसा अग्नि है' ऐसा ज्ञान नहीं होना, और उपमान में जैसी गौ है वैसा गवय होता है ऐसा ज्ञान होता है, अतः अनुमान तथा उपमान नामक दोनों प्रमाणों में विशेष ज्ञान ही है यह नहीं हो सकता, इस कारण अनुमान के समान उपमान भी तीसरा पृथक् प्रमाण है यह सिद्ध होता है ॥ ४९ ॥

तथेति समानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति नानुमानम्। अयं चानयोर्विशेष इति ॥ ४९ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैरुपमानपरीक्षणम्।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ५० ॥

शब्दोऽनुमानं, न प्रमाणान्तरं, कस्मात्? शब्दार्थस्यानुमेयत्वात्। कथमनुमेयत्वम्? *प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः*। यथाऽनुपलभ्यमानो लिङ्गी मितेन लिङ्गेन पश्चान्मीयत इति अनुमानम्। एवं मितेन शब्देन पश्चान्मीयतेऽर्थोऽनुपलभ्यमान इत्यनुमानं शब्दः ॥ ५० ॥

इतश्चानुमानं शब्दः—

(४९ वें सूत्र की भाष्यकार सिद्धान्तिमत से व्याख्या करते हैं कि)—'जैसी गौ होती है वैसा गवय होता है' इस प्रकार के उपसंहार के कारण उपमानप्रमाण की सिद्धि होती है और अनुमान में उक्त उपसंहार नहीं होता, यही अनुमान तथा उपमान इन दोनों प्रमाणों में विशेष है ॥ ४९ ॥

(९) शब्दपरीक्षाप्रकरण

(क्रमप्राप्त चतुर्थ प्रमाण शब्द की परीक्षा करने के लिये पूर्वपक्षी के मत से शब्द के सामान्य लक्षण की परीक्षा करने के लिये पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—शब्दः = शब्द, अनुमानं = अनुमान है, अर्थस्य = शब्द के अर्थ का, अनुपलब्धः = प्रत्यक्ष से ज्ञान न होने के कारण, अनुमेयत्वात् = अनुमान से सिद्ध होने की योग्यता होने से ॥५०॥

भावार्थ—किसी भी शब्द के अर्थ का प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता इस कारण घटादि शब्द से उससे कहे जाने वाले घटादि पदार्थ की अनुमानप्रमाण से सिद्धि होती है, यह पूर्वपक्षी का आशय है (अर्थात् जो ज्ञान प्रत्यक्ष से विषय को नहीं जनाता हुआ प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न होता है वह अनुमानप्रमाण कहाता है, जैसे अग्नि वाले धूम का ज्ञान, ऐसा ही शब्दज्ञान भी है अतः वह अनुमानप्रमाण है, इस कारण अनुमान से भिन्न चतुर्थ शब्द नाम का कोई प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

(५० वें सूत्र की पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—शब्द नाम का सिद्धान्ती ने माना हुआ प्रमाण अनुमानप्रमाण ही है, उससे भिन्न कोई प्रमाण नहीं है। (प्रश्न सिद्धान्ती का)—किस कारण? (उत्तर पूर्वपक्षी का)—शब्द के अर्थ की अनुमानप्रमाण से सिद्धि होने के कारण। (प्रश्न सि० का)—शब्द का अर्थ अनुमानप्रमाण से कैसे (क्यों) सिद्धि होती है? (उत्तर पू० का)—शब्द के अर्थ की प्रत्यक्ष से उपलब्धि न होने के कारण। क्योंकि जिस प्रकार न दीखने वाला अग्निरूप लिङ्गी साध्य व्याप्तिरूप सम्बन्ध रखने वाले लिङ्ग (धूम) से पश्चात् अनुमानप्रमाण से जाना जाता है इस कारण यह अनुमानप्रमाण कहाता है उसी प्रकार अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले शब्द से भी उसके अर्थ का पश्चात् ज्ञान होता है, जो प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं हुआ था इस कारण शब्द भी अनुमानप्रमाण ही है ॥ ५० ॥

(शब्द का अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव करने के लिये पूर्वपक्षिमत के दूसरे हेतु का निरूपण करने वाले पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस हेतु से भी शब्द अनुमानप्रमाण है—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ५१ ॥

प्रमाणान्तरभावे द्विप्रवृत्तिरुपलब्धिः अन्यथा ह्युपलब्धिरनुमाने अन्यथोपमाने तद्व्याख्यातम् । शब्दानुमानयोस्तूपलब्धिरद्विप्रवृत्तिः, यथानुमाने प्रवर्त्तते तथा शब्देऽपि विशेषाभावादनुमानं शब्द इति ॥ ५१ ॥

सम्बन्धाच्च ॥ ५२ ॥

शब्दोऽनुमानमिति वर्त्तते । सम्बद्धयोश्च शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धौ

पदपदार्थ—उपलब्धेः = ज्ञान के, अद्विप्रवृत्तित्वात् = दो भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रवृत्ति होने के कारण ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जो भिन्न-भिन्न प्रमाण होते है उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार से (स्वरूप से) प्रवृत्ति होती हैं, जैसे उपमानप्रमाण में साधर्म्य के कारण, और अनुमानप्रमाण में व्याप्ति विशिष्ट हेतु से साध्य की सिद्धि होती हैं, ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार हैं प्रस्तुत में शब्द तथा अनुमान इन दोनों की प्रवृत्ति होने में भिन्न-भिन्न प्रकार नहीं हैं, क्योंकि अनुमान में सिद्ध हेतु से जैसे साध्य की सिद्धि होती है, उसी प्रकार सिद्ध शब्द से अर्थरूप साध्य की सिद्धि होती है, अतः अनुमान में अन्तर्भाव होने के कारण शब्द अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं है ॥ ५१ ॥

(५१ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार कहते हैं कि)—जो भिन्न-भिन्न प्रमाण होते हैं उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रवृत्ति होती है । इसी कारण अनुमानप्रमाण में (अन्यथा) दूसरे प्रकार से (सिद्ध धूमादि हेतु से) साध्य (वह्नि) आदि की सिद्धि होती है, और उपमानप्रमाण (अन्यथा) दूसरे प्रकार से (सादृश्य से शब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान) होता है, जिसकी पूर्वग्रन्थ में व्याख्या कर चुके हैं । प्रस्तुत में शब्द तथा अनुमान में दो भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रवृत्ति नहीं होती । अर्थात् जिस प्रकार अनुमानप्रमाण में सिद्ध हेतु धूमादिकों से वह्नि को सिद्ध किया जाता है उसी प्रकार सिद्ध शब्द से अर्थ की सिद्धि की जाती है, इस प्रकार एक ही प्रकार की प्रवृत्ति दोनों में होने के कारण कोई विशेष न होने से शब्द भी अनुमानप्रमाण ही है नकि अनुमान से भिन्न ऐसा पूर्वपक्षी के दूसरे हेतु का आशय है ॥ ५१ ॥

(पूर्वपक्षी के मत से शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव करने का तीसरा हेतु सूत्रकार देते हैं)-

पदपदार्थ—सम्बन्धात् च = और शब्द तथा अर्थ का परस्पर सम्बन्ध होने से भी ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार व्याप्तिरूप सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हेतु (धूमादि) तथा लिङ्गी साध्य वह्नि आदिकों को व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ज्ञान होने पर लिङ्ग (धूमादि कों) के ज्ञान से लिङ्गी (साध्यवह्नि आदि का) अनुमान होता है, इसी प्रकार परस्पर सम्बद्ध शब्द तथा अर्थ को स्वाभाविक सम्बन्ध के ज्ञान के रहते शब्द के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होना भी अनुमानप्रमाण में अन्तर्गत है नकि शब्द अनुमान से पृथक् प्रमाण है ॥ ५२ ॥

(५२ वें सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षिसूत्र की सूत्र में आकांक्षित (आवश्यक) वाक्य की अनुवृत्ति करते हुये व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में **'सम्बन्धाच्च'** इस हेतु के पश्चात् **'शब्द अनुमान है'** ऐसे वाक्य की अनुवृत्ति करना (लेना) जिससे परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध से सम्बद्ध शब्द तथा अर्थ का जिसे ज्ञान रहता है उसी को शब्द के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है, जिस प्रकार व्याप्तिरूप सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हेतु (धूमादि) तथा वह्नि आदि साध्य का जिन्हें व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान रहता हैं उसी को लिङ्ग धूमादिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान से लिङ्गी

शब्दोपलब्धेरर्थग्रहणं यथा सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धप्रतीतौ लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गिग्रहणमिति ॥ ५२ ॥

यत्तावदर्थस्यानुमेयत्वादिति तन्न—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

(साध्य) वह्नि आदि का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है, अतः शब्द अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं हो सकता। (यहाँ पर प्रथम सूत्रकार ने शब्द की अनुमान में अन्तर्भाव होने की ही परीक्षा की है) किन्तु जब तक शब्द के प्रमाण होने की परीक्षा न की जाय, तब तक उस शब्दप्रमाण की अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव होने की परीक्षा करना असंगत है इस कारण वार्तिककार ने प्रथम शब्द के प्रमाण होने की ही परीक्षा की है जिसमें पूर्वपक्ष का आशय यह है, कि जिसके रहते यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा होती ही है, और न रहने पर नहीं होती है वही प्रमाण कहाता है, क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा का अत्यन्त साधक होने के कारण करण हो सकता है किन्तु जब तक शब्द का श्रवण न हो तब तक शब्द की सत्ता के रहने पर भी यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा नहीं होती, जिससे उसका प्रमा में अत्यन्त साधक होना नहीं बनता। तथा प्रमाण होना विषय के सम्बन्ध से भी व्याप्ति रखती है वह (विषय सम्बन्ध) शब्द में न रहने के कारण उसमें प्रमाण होना भी नहीं रह सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष ऐसे दो प्रकार के विषय होते हैं। जिसमें प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है और जो प्रत्यक्ष नहीं होता वह व्याप्ति सम्बन्ध वाले लिङ्ग (हेतु) से जाना जाता है चाहे व्याप्ति सम्बन्ध की आवश्यकता हेतु साध्य की सिद्धि करने में न रक्खें तो चाहे जिससे चाहे जिसका बोध होने लगेगा। जिससे यह सिद्ध होता है कि सभी प्रत्यक्ष न होने वाले पदार्थों की अनुमानप्रमाण से व्याप्ति है; अतः शब्द का कोई विषय न होने के कारण भी शब्द प्रमाण ही नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों से भिन्न प्रकार वाला शब्द प्रमाण ही नहीं है, और यदि है तो उपरोक्त प्रकार से अनुमानप्रमाण में ही अन्तर्गत हो जाता है। उन दो प्रमाणों में से भी किस प्रमाण में शब्द का अन्तर्भाव है ऐसी जिज्ञासा होने पर अनुमानप्रमाण में ही शब्द का अन्तर्भाव है ऐसा ५० से ५२ तक के तीन सूत्रों में पूर्वपक्षी का आशय है) ॥ ५२ ॥ -

(उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने वाले सिद्धान्त सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हुये कहते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। वह नहीं हो सकता—

पदपदार्थ—आप्तोपदेशसामर्थ्यात् = सत्य कहने वाले आप्तपुरुष के उपदेश के बल से, शब्दात् = शब्द से, अर्थसम्प्रत्ययः = शब्द के अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—स्वर्ग लोक है, अप्सरा है इत्यादि वाक्य से प्रत्यक्ष न होने वाले स्वर्ग आदि पदार्थों का केवल शब्द से ही निश्चय नहीं होता, किन्तु यह वाक्य आप्त सत्यवक्ता पुरुष का वचन है यह जानकर सुनने वाले प्राणी को ही स्वर्गादि अप्रत्यक्ष पदार्थों की सत्ता का निर्णय होता है, अनुमानप्रमाण ऐसा नहीं होता, अतः अनुमान से शब्द में विलक्षणता होने से शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

(इस सिद्धान्तसूत्र में भाष्य तथा वार्तिककार ने सामान्य रूप से सिद्धान्त को लेकर आप्तोक्त का होना तथा न होना यह विशेष लेकर शब्द तथा अनुमानप्रमाण के भिन्न होने का हेतु दिया है, वस्तुतः जो अत्यन्त ही पूर्व में कहीं भी नहीं देखे गये हैं ऐसे स्वर्ग, अपूर्व तथा देवतादिक वाक्य के अर्थ के ही विषय होते हैं, नकि हम जीवों के ये प्रत्यक्ष होते हैं तथा इनकी सिद्धि होवे में

स्वर्गः, अप्सरसः, उत्तराः कुरवः, सप्त द्वीपाः, समुद्रो लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात्प्रत्ययः, किं तर्हि? आप्तैरयमुक्तः शब्द इत्यतः सम्प्रत्ययः विपर्यये सम्प्रत्ययाभावाद्, न त्वेवमनुमानमिति। यत्पुनरुपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वादिति। अयमेव शब्दानुमानयोरुपलब्धेः प्रवृत्तिभेदः तत्र विशेषे सत्यहेतुर्विशेषाभावादिति।

यत्पुनरिदं सम्बन्धाच्चेति, अस्ति च शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽनुज्ञातः, अस्ति च प्रतिषिद्धः। अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः,

---

कोई लिङ्ग (साधक) हेतुकी होने से अनुमान के द्वारा भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बिना व्याप्तिरूप सम्बन्ध के सम्बन्धी के ज्ञान के व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता। और वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञान में तो पदार्थ स्मरणरूप अवान्तर व्यापार के द्वारा पद ही कारण होते हैं, अतः पदार्थ स्मरणरूप व्यापार के द्वारा अनेक सम्बन्ध को सूचित करने वाले पद ही वाक्य के अर्थज्ञान में प्रमाण होते हैं, किन्तु वे पक्ष के धर्म न होने से लिङ्ग नहीं हो सकते। पदों में वाक्यार्थ के बोध कराने के लिये स्मरण को उत्पन्न करना भी माना गया है अतः वह भी किसी दूसरे सम्बन्ध को सूचित नहीं करता। ऐसी यहाँ खद्योतकार ने इस सिद्धान्तसूत्र की समालोचना की है)॥ ५२॥

(५२ वें सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—स्वर्ग है, अप्सरा है, उत्तर-कुरुदेश हैं, संपूर्ण संसाररूप भूमंडल सात जंबू आदि द्वीप (टापू) तथा सात समुद्रों से व्याप्त है, इत्यादि प्रत्यक्ष न होने वाले पदार्थों का (आप्तविशेषणरहित) केवल सामान्य रूप शब्द से निश्चय नहीं होता (प्रश्न)—तब कैसे होता है ? (उत्तर)—किन्तु स्वर्गादि पदार्थों को कहने वाले इन स्वर्गादि शब्द सत्य अर्थों की प्रसिद्धि की इच्छा वाले सत्यवक्ता आप्त पुरुषों से ये शब्द कहे गये हैं इस कारण स्वर्गादि पदार्थों की सत्ता का सुनने वाले प्राणि को निश्चित ज्ञान होता है, यदि इसके विपरीत सामान्य रूप से कहे हुए ये शब्द हों तो उनसे स्वर्गादि पदार्थों की सत्ता का निश्चित ज्ञान नहीं होता, किन्तु अनुमानप्रमाण ऐसा नहीं है, (यदि ऐसा हो तो दूसरे को केवल प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि होने लगेगी)। आगे क्रम से दूसरे तीसरे दिये हुए पूर्वपक्षी के शब्द के अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध करने वाले हेतुओं का अनुवाद कर खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) जो अनुमान तथा शब्द से होने वाले ज्ञानों में प्रकार भिन्न नहीं है ऐसा पूर्वपक्षी ने द्वितीय हेतु दिया था—यही तो शब्द तथा अनुमान से होने वाले ज्ञानों में (प्रवृत्ति) प्रकार का भेद है—कि उपरोक्त प्रवृत्ति का भेद रहते पूर्वपक्षी का विशेष नहीं है यह हेतु देना हेतु नहीं हो सकता। और जो शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होने से धूम से वह्निज्ञान के समान शब्द से अर्थ का ज्ञान अनुमान ही है ऐसा पूर्वपक्षी ने कहा था—इसका यह उत्तर है कि—शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध सिद्धान्ती मनता भी है और खण्डन भी करता है, क्योंकि 'इस शब्द का यह अर्थ है' इस प्रकार भेद को कहने वाली षष्ठी विभक्ति से युक्त इस वाक्य का वाच्यवाचकभावरूप विशेष सम्बन्ध नैयायिकों ने माना है, और मीमांसकों ने माने हुए शब्द तथा अर्थ का परस्पर प्राप्ति (स्वाभाविक) रूप सम्बन्ध नहीं माना है। (अर्थात् शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध तब होगा, जब कि वह (१) तादात्म्य (शब्द तथा अर्थ का अभेद रूप) हो, (२) अथवा प्रत्याय्य (बोध कराने योग्य, (प्रत्यायक) बोधक रूप हो या (३) प्राप्ति (स्वाभाविक) रूप हो। जिनमें से प्रत्यक्ष लक्षण के **'अव्यपदेश्य'** इस

प्राप्तिलक्षणस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रतिषिद्धः। कस्मात्?

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः।

प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दार्थप्राप्तेर्नोपलब्धिरतीन्द्रियत्वात्। येनेन्द्रियेण गृह्यते शब्दस्तस्य विषयभावमतिवृत्तोऽर्थो न गृह्यते। अस्ति चातीन्द्रियविषयभूतोऽप्यर्थः समानेन चेन्द्रियेण गृह्यमाणयोः प्राप्तिर्गृह्यत इति। प्राप्तिलक्षणे च गृह्यमाणे सम्बन्धे शब्दार्थयोः शब्दान्तिके वार्थः स्यात्, अर्थान्तिके वा शब्दः स्याद्, उभयं वोभयत्र ॥ ५३ ॥

अथ खल्वयम्—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥ ५४ ॥

पद से ही शब्द तथा अर्थ का भेद न होना तो खण्डित हो ही जाता है, अतः शब्दप्रमाण की प्रत्यक्षप्रमाण से एकता तो हो नहीं सकती। दूसरे प्रत्याय्य-प्रत्यायक (बोध्य-बोधक) रूप उत्पत्ति से होने वाले शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का आगे खण्डन करेंगे। अतः यहाँ पर भाष्यकार ने प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही का खण्डन किया है)। (इसी प्राप्तिरूप शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध न होने को प्रश्नपूर्वक सिद्ध करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—(प्रश्न)—किस कारण शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध का नैयायिकों ने निषेध किया है? (उत्तर)—किसी प्रमाण से ज्ञान न होने के कारण। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से शब्द तथा अर्थ की परस्पर प्राप्ति का अतीन्द्रिय होने के कारण ज्ञान नहीं होता। कारण यह कि जिस श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है उसके विषय न होने वाला उस शब्द का अर्थ तक नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियों से गृहीत न होने वाले अतीन्द्रिय विषयरूप भी पदार्थ होते हैं (यह अतीन्द्रिय विषय शब्द का ग्रहण करने वाले श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत न होने वाला, तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से गृहीत न होने वाला ऐसा दो प्रकार का होता है) और समान ही इन्द्रिय से जाने वाले पदार्थों की ही परस्पर प्राप्ति का ग्रहण भी होता है, इस कारण शब्द तथा अर्थ का मीमांसकों को अभिमत प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः पूर्वपक्षी के शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव करने में द्वितीय तथा तृतीय भी हेतु साधक नहीं हो सकते। (यहाँ पर भाष्य में **'नगृह्यते'** इस पद से यह सूचित होता है कि एक इन्द्रिय से गृहीत होने वाले ही दो पदार्थों की परस्पर प्राप्ति का ग्रहण होता है, जैसे दो अंगुलियों की प्राप्ति, किन्तु शब्द और अर्थ एक ही इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते, क्योंकि जिस श्रोत से शब्द का ज्ञान होता है उसी से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता) ॥ ५३ ॥

(शब्द तथा अर्थ के प्राप्तिरूप सम्बन्ध न होने के साधक सिद्धान्तमत के दूसरे हेतु को वर्णन करने वाले सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) यदि शब्द तथा अर्थ इन दोनों के प्राप्तिरूप सम्बन्ध का ग्रहण हो तो शब्द के समीप अर्थ, अथवा अर्थ के समीप में शब्द रहने लगेगा, अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने लगेंगे, किन्तु निश्चय से यह—

पदपदार्थ—पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेः च = मुख का भर जाना, जलना तथा फट जाना, न होने से, सम्बन्धाभावः = शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—यदि शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध परस्पर में हो तो **मोदक** शब्द के कहते ही मुख मोदक (लड्डुओं) से भर जायगा, तथा **अग्नि** शब्द के कहते ही मुख जलने लगेगा, एवं **'असि'** तलवार शब्द के मुख से उच्चारण करते ही मुख फट जायगा। क्योंकि

स्थानकरणाभावादिति चार्थः। न चायमनुमानतोऽप्युपलभ्यते शब्दान्तिकेऽर्थ इति। एतस्मिन्पक्षेऽप्यास्यस्थानकरणोच्चारणीयः शब्दस्तदन्तिकेऽर्थ इति अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येरन् न च गृह्यन्ते, अग्रहणान्नानुमेयः प्राप्तिलक्षणः सम्बन्धः। अर्थान्तिके शब्द इति *स्थानकरणासम्भवाद् अनुच्चारणम्।* स्थानं कण्ठादयः, करणं प्रयत्नविशेषः तस्यार्थान्तिकेऽनुपपत्तिरिति। उभयप्रतिषेधाच्च नोभयम्। *तस्माच्च शब्देनार्थः प्राप्त इति* ॥ ५४ ॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

मीमांसक के मत में जहाँ शब्द होता है, वहाँ उसका अर्थ भी प्राप्त होता ही है। अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर प्राप्ति स्वरूप स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। (यदि यहाँ पर इन्द्रिय के अविषय होने से अप्रत्यक्ष शब्द के अर्थ की अनुमान से ही सिद्धि मानेंगे ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि क्या शब्द अर्थ के देश में जाता है, अथवा अर्थ शब्द के देश में, अथवा दोनों के देश में जाते हैं ये विकल्प नहीं बन सकते। क्योंकि मोदक शब्द का उच्चारण करते ही मोदक मुख में भर जाय ऐसा देखाई देगा, लेकिन ऐसा नहीं दीखता, अतः शब्द के देश में अर्थ नहीं जाता, और शब्द में तो गति ही नहीं है इत्यादि भाष्यकार ने अग्निभाष्य में स्पष्ट कहा है) ॥ ५४ ॥

(५४ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र में दिये हुए **'च'** शब्द का अर्थ दिखाते हैं कि)—सूत्र में दिये च शब्द का तालु, कण्ठ आदि अकारादि वर्णों के स्थान तथा प्रयत्नरूप करणों के भी अभाव से ऐसा अर्थ है। शब्द के समीप अर्थ रहता है यह ऐसा अनुमानप्रमाण से भी ज्ञान नहीं होता, शब्द के समीप अर्थ रहता है। यह भी इस पक्ष में भी मुख में वर्णों के उच्चारण के तालु, कण्ठ आदि स्थान तथा प्रयत्नविशेष रूप करणों से उच्चारण करने के योग्य शब्द और उसके समीप अर्थ है इस कारण अन्न (मोदकादि), अग्नि, तथा असि (खड्ग), इन शब्दों का उच्चारण कहते ही उच्चारण करने वाले प्राणी के मुख मोदकादि अन्न से भर जाना, जलना तथा फटना इनका क्रम से ग्रहण होने लगेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, इस कारण भी मीमांसकों को अभिमत शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। तथा अर्थ के समीप शब्द रहता है इस कारण वहाँ ताल्वादि स्थान तथा प्रयत्नविशेष कारणों का असंभव होने के कारण शब्द का उच्चारण नं होगा। जिनमें कण्ठ तालु आदि वर्णों के स्थान होते हैं। और विशेष प्रयत्न उनका करण होता है। इन दोनों का अर्थ के पास होना नहीं हो सकता स्थान तथा करण दोनों का अर्थ में निषेध होने से अर्थ में दोनों ही नहीं हो सकते। इस कारण शब्द से अर्थ स्वभावतः प्राप्त है यह नहीं हो सकता, इस कारण मीमांसकमत असंगत है ॥ ५४ ॥

(शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध मानने से अन्नादि शब्द का उच्चारण करते ही मुख में मोदकादि भर जांय इस सिद्धान्ती के दिये दोषों का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—शब्दार्थव्यवस्थानात् = इस (घट) शब्द से इसी (घट रूप ही) अर्थ का बोध होता है दूसरे पटादि अर्थों का बोध नहीं होता ऐसा नियम होने के कारण, अप्रतिषेधः = शब्द तथा अर्थ के परस्पर प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध का निषेध नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयतेऽस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम् । असम्बन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसङ्गः तस्मादप्रतिषेधः सम्बन्धस्येति ॥ ५५ ॥

अत्र समाधिः—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ५६ ॥

न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम्, किं तर्हि? *समयकारितं* यत्तदवोचाम । अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति समयं तमवोचाम इति । कः पुनरयं समयः? अस्य शब्दस्येदम-

भावार्थ—घटादि शब्द से घटादिरूप पदार्थ का ही ज्ञान होता है, दूसरे पटादि पदार्थों का बोध नहीं होता ऐसी व्यवस्था के दिखाने से अनुमान किया जाता है कि शब्द तथा अर्थ की उपरोक्त व्यवस्था का परस्पर शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध है। यदि शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध न माना जाय तो चाहे जिस शब्द से चाहे जिस अर्थ का बोध होने लगेगा, इस कारण प्राप्तिरूप शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का निषेध नहीं हो सकता ॥

(५५ वें पूर्वपक्षिमत के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—घटादि शब्दों से घटादिरूप पदार्थ ही का ज्ञान होता है, दूसरे पट आदि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, ऐसा नियम देखने में आता है, जिससे इस नियम का कारण शब्द तथा अर्थ का परस्पर प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध है, ऐसा अनुमान किया जाता है। यदि शब्द तथा अर्थ का यह प्राप्तिरूप परस्पर सम्बन्ध न हो तो संपूर्ण शब्दों से संपूर्ण अर्थों का ज्ञान होने लगेगा। इस कारण शब्द तथा अर्थ के परस्पर प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध का निषेध नहीं हो सकता, इस कारण शब्द तथा अर्थ का परस्पर प्राप्तिरूप सम्बन्ध अवश्य है यह मानना पड़ेगा, अतः सिद्धान्ती का इसका खण्डन करना असंगत है यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ५५ ॥

(प्राप्तिरूप शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध मानने के पूर्वपक्षी की शंका के समाधान करने वाले सूत्रकार के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

पदपदार्थ—न, ऐसा नहीं, सामयिकत्वात् = वृद्धव्यवहारादिकों से संकेतकृत होने से, शब्दार्थसम्दार्थसम्बन्धस्य = शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के ॥ ५६ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती शब्द तथा अर्थ के प्राप्तिरूप स्वाभाविक नित्य सम्बन्ध ही का निषेध करते हैं नकि सामान्य रूप से सम्बन्धमात्र का, क्योंकि इस शब्द से यह अर्थ जाना जाता है, इस प्रकार से वृद्धव्यवहारादिकों से समय (संकेत) रूप शक्ति सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ का परस्पर होना ही है ऐसा सिद्धान्त सूत्र का आशय है ॥ ५६ ॥

(५६ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सिद्धान्ती का मत स्पष्ट करते हैं कि)—प्राप्तिपरू नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध से पूर्वोक्त शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था नहीं है। (प्रश्न)—तो किससे है? (उत्तर)—समय (वृद्धव्यवहारिदिकों के संकेत रूप) सम्बन्ध से शब्दार्थ व्यवस्था होती है। जिसको हम कह चुके हैं कि—इस शब्द का यह अर्थ है इस प्रकार भेदबोधक षष्ठी विभक्तियुक्त वाक्य का वाच्यवाचकभावरूप शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध सिद्धान्ती मानता है, ऐसा जो कहा है उसको हमें **'समय'** संकेतरूप शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध मानता है। (प्रश्न)—यह सिद्धान्ती का समयरूप सम्बन्ध क्या है? (उत्तर)—इस शब्द से अर्थसमूह कहा

र्थजातमभिधेयमिति अभिधानाभिधेयनियमनियोगः। तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थसम्प्रत्ययो भवति। विपर्यये हि शब्दश्रवणेऽपि प्रत्ययाभावः। सम्बन्धवादिनापि चायमवर्जनीय इति। प्रयुज्यमानग्रहणाच्च समयोपयोगो लौकिकानाम्। समयपालनार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्। वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थो लक्षणम्। पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति। तदेवं प्राप्तिलक्षणस्य शब्दार्थसम्बन्धस्यार्थतुषोऽपि अनुमानहेतुर्न भवतीति॥ ५६॥

जातिविशेषे चानियमात्॥ ५७॥

सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययो न स्वाभाविकः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां

जाता है इस प्रकार सृष्टि के प्रारंभ में ईश्वर ने किया हुआ शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचकभावरूप नियम। उस सम्बन्ध का ज्ञान द्वारा उपयोग होने पर शब्द से अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है। यदि शब्द तथा अर्थ के उपरोक्त वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान न हो, तो शब्द के सुनने पर शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। शब्द तथा अर्थ के प्राप्तिरूप नित्यसम्बन्ध माननेवाले मीमांसक को भी नैयायिकों का माना हुआ यह वाच्यवाचकसम्बन्ध ही शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के निर्णय का परम उपाय होने से छोड़ने योग्य नहीं है तथा लौकिक व्यवहार करनेवाले पुरुषों का भी जिस अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से जिस शब्द का प्रयोग होता है, उसी का ग्रहण होने के कारण इस समय तक (संकेतरूप सम्बन्ध) का उपयोग हो रहा है। इस संकेतरूप सम्बन्ध का पालन करने के लिये ही पदस्वरूप शब्द की व्याख्या करने के लिये व्याकरणशास्त्र की महर्षि पाणिनी आदिकों ने रचना की है। वाक्यरूप वाणी का अर्थ लक्षण होता है। जिसमें एक अर्थ समाप्त होता है ऐसे पदसमूह को वाक्य कहते हैं। अतः इस प्रकार शब्द तथा अर्थ के परस्पर प्राप्तिरूप नित्यसम्बन्ध का कुछ अंश का भी उपरोक्त दोषों से अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं होता है। (अर्थात् मीमांसकों को अभिमत प्राप्तिरूप सम्बन्ध का साधक हेतु न होने के कारण शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध न होने से अनुमानप्रमाण से अभेद सिद्ध करते हुए व्याप्ति के सिद्धि करने के लिये मीमांसकों का शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध मानना असंगत है—यह सिद्ध होता है)॥ ५६॥

(शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचकभावरूप अनित्य ही सम्बन्ध है इसमें सूत्रकार दूसरा हेतु देते हैं)—

पदपदार्थ—जातिविशेषे च = विशेष जाति के प्राणियों में भी, अनियमात् = नियम न होने के कारण॥ ५७॥

भावार्थ—आर्यजाति के लोग यव शब्द का (दीर्घशूक) (लम्बे डण्ठे) में प्रयोग करने से यव शब्द का दीर्घशूक ऐसा अर्थ जानते हैं, और म्लेच्छ लोग उसका प्रियंगु (ककुनी) ऐसा अर्थ करते हैं, यह एक अर्थ में प्रयोग न करना शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक अर्थ मानने पर अर्थ का नियम न होना नहीं बन सकता, क्योंकि रूपगुण के साथ प्रकाश करने का सम्बन्ध रखने वाले प्रकाश को हजारों कारीगर मिलकर रसगुण के साथ प्रकाश का सम्बन्ध नहीं बना सकते। अतः यह शब्दार्थ का अनियम समय (संकेत) पक्ष में बन सकता है, क्योंकि संकेतसम्बन्ध प्राणियों के इच्छा के अधीन होता है, जो इच्छा नियमित (सब प्राणियों की) नहीं होती॥ ५७॥

(५७ वें सूत्र की सिद्धान्तिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—शब्द तथा अर्थ का

यथाकामं शब्दविनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्त्तते । स्वाभाविके हि शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वे यथाकामं न स्याद् यथा तैजसस्य प्रकाशस्य रूपप्रत्ययहेतुत्वं न जातिविशेषे व्यभिचरतीति ॥ ५७ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैः शब्दसामान्यप्रमाणपरीक्षाप्रकरणम् ।

पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेषु—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ ५८ ॥

समय (संकेत) से किया हुआ सम्बन्ध से ही शब्द से अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है, नकि प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध से । क्योंकि ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ का अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ का ज्ञान होने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं । यदि स्वाभाविक नित्यप्राप्तिरूप सम्वन्ध से शब्द अर्थ का ज्ञान करावें तो अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार ऋषि आदि शब्दों का प्रयोग न करेंगे, क्योंकि जिस प्रकार प्रदीपादि तैजस प्रकाश, रूप के जानने का कारण होता है, किन्तु वह दूसरे विशेष जाति के रसगुण का प्रकाश करने में व्यभिचारी होता है, (रस को नहीं प्रकाशित करता) ॥ ५७ ॥

(१०) शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरण

(इस प्रकार सामान्य शब्द की परीक्षा करने के पश्चात् वेदरूप शब्दविशेष की परीक्षा करने के लिये पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—पुत्रकामेष्टि (पुत्र की कामना से किये याग), हवन (होम) तथा अभ्यास (आवृत्ति) में—

पदपदार्थ—तदप्रामाण्यं = वेदरूप शब्दविशेष प्रमाण नहीं है, अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः = असत्यता, व्याघात (विरोध के कारण साथ न हो सकना) तथा अभ्यास आवृत्ति इन दोषों के आने से ॥ ५८ ॥

भावार्थ—पूर्व प्रकरण में सामान्य शब्द के प्रमाण होने की परीक्षा करने के पश्चात् वेदरूप शब्द के प्रामाण्य की परीक्षा करते हुये पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार कहते हैं कि वेदरूप शब्दविशेष के वचन से, पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि (पुत्रयाग) करने पर भी पुत्रप्राप्ति नहीं होती इस कारण वेद का मिथ्या होना, उदयकाल में हवन की विधि तथा निषेध दोनों के बोधक वेदवाक्य सिद्ध होने से परस्पर व्याघात तथा ग्यारह सामधेनी मंत्रों में से प्रथम तथा अन्तिम मंत्र का तीन बार कहना इस प्रकार पुनरुक्ति (बार-बार कहना) ऐसे दोष होते हैं, अतः शब्दविशेषरूप वेद प्रमाण नहीं हो सकता ॥ (यहाँ पर सम्पूर्ण संसार के व्यवहार के चलने में मूलकारण आप्तोपदेशरूप शब्द को अप्रमाण कहना लोक तथा अपने चरित्र के भी विरुद्ध है ऐसा समझकर पूर्वपक्षी ने अनुमान में अन्तर्भाव न करते हुए उससे बाहर होने के कारण शब्द में अप्रमाणता ही कही है। इस प्रकार अनुमान से शब्द बाहर है यह सिद्ध होने पर सांप्रत शब्द में प्रमाणता मानकर खण्डन किया है, क्योंकि सभी शब्द का अप्रमाण होना पूर्वपक्षी को अभिमत नहीं है यदि हो तो उसके वचन में ही प्रमाणता न होने के कारण व्याघात दोष आ जायगा, इस कारण ईश्वर के परमैश्वर्य की सिद्धि करनेवाले नैयायिकों को अभिमत वेदरूप शब्दविशेष में ही पूर्वपक्षी ने इस सूत्र में आक्षेप किया है । किन्तु वास्तविक विचार करने से पूर्वपक्षी को सभी शब्दों में अप्रमाणता मानना इष्ट है, यह प्रतीत होता है । क्योंकि कुछ उपरोक्त हेतुओं से कुछ वेद के शब्दों में अप्रमाण होना सिद्ध कर उनके दृष्टान्त से और भी शब्दों में अप्रमाणता सिद्ध करना अनायास

तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवान् ऋषिः। शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति। कस्मात्? अनृतदोषात् पुत्रकामेष्टौ। "पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत" इति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते। दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वाद् अदृष्टार्थमपि वाक्यम् "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम" इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते।

विहितव्याघातदोषाच्च हवने "उदिते होतव्यम् अनुदिते होतव्यम् समयाध्युषिते होतव्यम्" इति विधाय विहितं व्याहन्ति—"श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, 'श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति"। व्याघाताच्चान्यतरन्मिथ्येति।

सिद्ध हो जायगा, क्योंकि संदेह होने से आप्त पुरुषों का विवेचन करना कठिन है यह पूर्वपक्षी का गूढ आशय है।)॥ ५८॥

(५८ वें सूत्र की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि)—इस पूर्वपक्षसूत्र के **'तदप्रामाण्यं'** इस पद से **'तस्य अप्रमाण्यं'** उसका अप्रमाण्य इस षष्ठी तत्पुरुष समास में सूत्रकार गौतम महर्षि ने वेदरूप विशेष शब्द का ही ग्रहण किया है। उस वेद शब्द में प्रमाणता नहीं हो सकती। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—अनृतदोष (मिथ्या होने का दोष) होने से। क्योंकि पुत्रकामेष्टि नामक (जिस इष्टि (याग) से पुत्रप्राप्ति होती है) प्रकरण में—**'पुत्रकामः'** पुत्र की कामना करनेवाला प्राणी, **'पुत्रेष्ट्या'** पुत्रेष्टि नाम के याग से, **'यजेत'** याग करे, ऐसा कहा है किन्तु पुत्रेष्टियाग करने पर कुछ लोगों को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार प्रत्यक्ष पुत्ररूप फल कहनेवाले इस वाक्य के फल के न दीखने से मिथ्या होने के कारण, अप्रत्यक्ष स्वर्गादि रूप फल को कहनेवाला—**'अग्निहोत्रं'** अग्निहोत्र नामक याग से **'जुहुयात्'** हवन करे, **"स्वर्गकामः'** स्वर्गफल की कामना करनेवाला मनुष्य 'इत्यादि वाक्य भी मिथ्या है, ऐसा जाना जाता है। एवं **'विहितव्याघातदोष'** (एक स्थल में विधान किये कर्म का दूसरे वाक्य में निषेध करना रूप दोष) से भी (वेद अप्रमाण है यह सिद्ध होता है) क्योंकि हवन के प्रकरण में **'उदिते'** सूर्योदय होने पर **'होतव्यम्'** हवन करना, **'अनुदिते'** सूर्योदय होने के पूर्वकाल में **'होतव्यम्'** हवन करना, **'समयाध्युषिते'** सूर्योदय के सन्धिकाल में, **'होतव्यं'** हवन करना, इस प्रकार हवनों की विधि कहकर इसी हवन-विधि का निषेध द्वारा व्याघात (विरोध) भी किया है, कि **'श्यावः'** श्याव नाम का देवताओं का कुत्ता, **'अस्य'** इस हवन करनेवाले पुरुष के, **'आहुतिं'** हवन की आहुति को, **'अभ्यवहरति'** भक्षण करता है, **'यः'** जो पुरुष **'उदिते'** सूर्योदय होने पर, **'जुहोति'** हवन करता है, तथा **'शबलः'** शबल नामक कुत्ता, **'अस्य'** इस हवन करनेवाले के, **'आहुतिं'** आहुति के द्रव्य को, **'अभ्यवहरति'** खा जाता है, **'यः'** जो, **'अनुदिते'** सूर्योदय के पूर्व ही, **'जुहोति'** हवन करता है, एवं **'श्यावशबलौ'** श्याव और शबल नाम के दोनों कुत्ते, **'अस्य'** इस हवन करने वाले पुरुष के, **'आहुति'** हवनद्रव्य को, **'अभ्यवहरतः'** खा जाते हैं, **'यः'** जो पुरुष, **'समयाध्युषिते'** संधिकाल में हवन करता है। इस प्रकार परस्पर विरोध होने के कारण विधि अथवा निषेध के वाक्यों में एक मिथ्या है यह सिद्ध होता है। (इसी कारण **'श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ। ताभ्यां पिण्डं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ॥'** अर्थात् वैवस्वत मनु के कुल में श्याव तथा शबल नाम के दो कुत्ते उत्पन्न हुये हैं, उन दोनों को इस

पुनरुक्तदोषाच्च । अभ्यासे देश्यमाने "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति पुनरुक्तदोषो भवति । पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यमिति । तस्मादप्रमाणं शब्दोऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति ॥ ५८ ॥

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५९ ॥

नानृतदोषः पुत्रकामेष्टौ, कस्मात् ? कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् । इष्ट्या पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति । इष्टिः करणं साधनम्, पितरौ कर्तारौ, संयोगः कर्म, त्रयाणां गुणयोगात् पुत्रजन्म । वैगुण्याद्विपर्ययः । इष्ट्याश्रयं तावत्कर्मवैगुण्यं समीहाभ्रेषः, कर्तृवैगुण्यम् अविद्वान् प्रयोक्ता कपूयाचरणश्च । साधनवै-

---

कारण बलि देता हूँ जिससे यज्ञहवन में वे दोनों बाधक न हो ऐसा धर्मशास्त्र में भी इस विषय में प्रमाण मिलता है, वेद में पुनरुक्ति का भी दोष है। (इस कारण वेद प्रमाण नहीं हो सकता) क्योंकि जहाँ पर अभ्यास (आवृत्ति) कही है—जैसे **'त्रिः'** तीन बार, **'प्रथमां'** प्रथम मंत्र को, **'अनुआह'** पश्चात् कहा है, **'त्रिः'** तीन ही बार **'उत्तमाम्'** अंतिम मंत्र कहता है। ऐसा वचन होने से प्रथम तथा अन्तिम मंत्र के तीन-तीन बार कहने की विधि के कारण पुनरुक्ति (बार-बार कहना) यह दोष आ जाता है, बार-बार कहना तो उन्मत्त (पागल) पुरुष का वाक्य होता है। इस कारण सूत्र में कहे हुये अनृत (मिथ्या), व्याघात (परस्पर विरोध) एवं पुनरुक्ति ऐसे तीन दोषों के होने से वेदरूप शब्द प्रमाण नहीं है (अर्थात् दृष्टान्तरूप से उक्त वाक्यों को दिखाकर एक ही संपूर्ण वेद का कर्ता होने के कारण संपूर्ण वेदवाक्यों में अप्रामाण्य सिद्ध होता है)। (यहाँ **'तस्य इति शब्दविशेषं'** इस भाष्य के वाक्य में सूत्रकार ने **'तदप्रामाण्यं'** इस पद से प्रकरण में प्राप्त भी सामान्य शब्द को **'तत्'** इस शब्द से पुनः कहा है जिससे यही प्रतीत होता है कि वेदरूप शब्द में यह प्रमाणता का विचार सूत्रकार कर रहे हैं, नकि सामान्य शब्द का। नहीं तो **'अप्रमाणं शब्दोऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'** शब्द सामान्य अनृतादि दोषों से अप्रमाण है ऐसा ही सूत्र करते, यह भाष्यकार का आशय है ऐसा प्रतीत होता है) ॥ ५८ ॥

(उक्त वेद की प्रमाणता के आक्षेप का खण्डन सूत्रकार ऐसा करते हैं)—

पदपदार्थ—न = ऐसा नहीं हो सकता, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्—कर्म, कर्ता, तथा साधन (कारणों) में वैगुण्य (अपूर्णता) होने से ॥ ५९ ॥

भावार्थ—पुत्रेष्टि आदि कर्मों से पुत्रादि फल का न दिखाई पड़ना कर्म, कर्ता, तथा साधन के दुष्ट होने रूप बाधा से दूसरे कारणों से भी हो सकता है, अतः पूर्वपक्षी के कहे हुये अनृत (मिथ्या) आदि दोष नहीं हो सकते, इस कारण अनृतता आदि पूर्वपक्षी के दिये हुये वेद के अप्रमाणता के साधक हेतु असिद्ध दुष्टहेतु हैं ॥ ५९ ॥

(५९ वें सूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पुत्र की कामना से किये हुये पुत्रयाग में (अनृत) मिथ्या होने का दोष नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—यागादिरूप, उसके कर्ता तथा उसके साधन (उपायों) में पूर्णरूप से न होना रूप वैगुण्य के कारण पुत्रेष्टियाग करने के पश्चात् माता-पिता के संयोग से पुत्र उत्पन्न होता है। इस कारण पुत्रेष्टि उसमें विशेष कारणरूप करण अर्थात् साधन (उपाय) है तथा माता और पिता कर्ता हैं, और उन दोनों का संयोग कर्म है। इन कारण, कर्ता तथा संयोगरूप तीनों में गुण (साङ्गता) के सम्बन्ध से पुत्र उत्पन्न होता है और इन तीनों में से किसी एक में भी विगुणता (सांगता न होना) ही तो पुत्र के

गुण्यं हविरसंस्कृतमुपहतमिति। मन्त्रा न्यूनाधिकाः स्वरवर्णहीना इति। दक्षिणा दुरागता हीना निन्दिता चेति। अथोपजनाश्रयं कर्मवैगुण्यं मिथ्यासम्प्रयोगः। कर्तृवैगुण्यं योनिव्यापादो बीजोपघातश्चेति। साधनवैगुण्यम् इष्टावभिहितम्। लोके च "अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्" इति विधिवाक्यम्, तत्र कर्मवैगुण्यं मिथ्याभिमन्थनम्, कर्तृवैगुण्यं प्रज्ञाप्रयत्नगतः प्रमादः, साधनवैगुण्यम् आर्द्रं सुषिरं दार्विति, तत्र फलं न निष्पद्यत इति नानृतदोषः। गुणयोगेन फलनिष्पत्तिदर्शनात्। न चेदं लौकिकाद्भिद्यते "पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत" इति ॥ ५६ ॥

उत्पत्ति में बाधक है। जिसमें से याग में रहनेवाला कर्म का सांग न होना रूप वैगुण्य यह है जैसे याग के अङ्गरूप समिधा-साकल्य आदि का दूषित होना जिसको समीहाभ्रंश कहते हैं। याग-कर्म के कर्ता का वैगुण्य यह है कि यज्ञकर्ता का विद्वान् न होना, तथा निषिद्ध आचरण (कर्म) करनेवाला होना (क्योंकि सामर्थ्य होने के कारण विद्वान् ही कर्म का अधिकारी होता है, इसी कारण स्त्री, शूद्र तथा पशु-पक्षी आदि को कर्म में सामर्थ्य न होने के कारण अधिकार नहीं होता। विद्वान् होने पर भी यदि ब्राह्मणता के नाशक ब्रह्महत्यादि पापकर्म करे तो उसका किया भी यागादि कर्मफल नहीं दे सकता यह भाष्य में 'कपूय' निंदित पद से दिखाया है) साधन (उपायरूप विशेष कारण) की विगुणता यह है जैसे हवनद्रव्य घृत, शाकल्यादि द्रव्य का प्रोक्षित न होना तथा कुत्ते, मार्जार आदि से भ्रष्ट होना तथा यागकर्म के साधक वेदमन्त्रों के न्यून (कम) अधिक होना तथा स्वर एवं व्यंजन वर्णों से रहित होना (क्योंकि **'मन्त्रः'** मन्त्र, **'हीनः'** कम हो, **'स्वरतः'** स्वर वर्णों से, **'वर्णतः वा'** अथवा व्यंजन वर्णों से, **'मिथ्याप्रयुक्तः'** मिथ्या प्रयोग किया हुआ, **'न'** नहीं, **'सः'** वह मंत्र, **'तं अर्थं'** उस अर्थ को, **'आह'** कहता है, **'सः'** वह मंत्र, **'वाग्वज्रः'** वाणी का वज्र रूप है। **'यजमानं'** याग करनेवाले को, **'हिनस्ति'** नष्ट कर डालता है, **'यथा'** जिस प्रकार **'इन्द्रशत्रुः'** इन्द्र का शत्रु, **'स्वरतः'** स्वर से, **'अपराधात्'** अपराधी होने के कारण, ऐसा विद्वानों ने कर्मकाण्ड में कहा है)। तथा यज्ञ की दक्षिणा देने का धन द्यूत, चोरी आदि दुष्टव्यापार से प्राप्त होना तथा ब्राह्मणों को जिस दक्षिणा से संतोष न हो इस कारण हीन हो, तथा सुवर्ण के स्थान में रजत (चांदी), तांबा आदि दक्षिणा का द्रव्य हो, यह सब कर्म के साधनों की विगुणता है तथा पुत्र को उत्पन्न करना रूप उपजन कर्म की विगुणता यह होती है जैसे—**'मिथ्यासंप्रयोगः'** मिथ्या प्रयोग करना जैसे—स्त्रीयोनि का दूषित होना, पुरुष के वीर्य का दूषित होना यह सब कर्ता की विगुणता होती है। साधन की विगुणता याग में ही कह चुके हैं। लोक-व्यवहार में भी **'अग्निकामः'** अग्नि को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य, **'दारुणी'** दो लकड़ियों को, **'मथ्नीयात्'** मंथन करे। ऐसी अग्नि-प्राप्ति की विधि करनेवाला वाक्य सुनने में आता है। उसमें वास्तविक मंथन न करना, यह उस मंथनकर्म की विगुणता होती है। तथा बुद्धि एवं प्रयत्न में प्रमाद (असावधानता) करना मंथनकर्ता का वैगुण्य होता है। काष्ठ का गीला होना तथा घुन खाया हुआ होना यह साधन की विगुणता है जिससे अग्नि-रूप फल की प्राप्ति नहीं होती इस कारण अनृत (मिथ्या) होना यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि कर्म, कर्ता तथा साधन के पूर्व सांग होना रूप गुण के सम्बन्ध में रहने पर अग्नि की प्राप्तिरूप फल होता हुआ दिखाई पड़ता ही है। **'पुत्रकाम पुरुष पुत्रयाग करे'** यह भी वाक्य उपरोक्त अग्नि की प्राप्ति की विधि के वाक्य से भिन्न नहीं है। (जैसे—लोकव्यवहार में यदि अग्नि की प्राप्ति

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ६० ॥

न व्याघातो हवन इत्यनुवर्त्तते। योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनत्ति ततोऽन्यत्र जुहोति तत्रायमभ्युपगतकालभेदे दोष उच्यते "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति" तदिदं विधिभ्रेषे निन्दावचनमिति ॥ ६० ॥

करना है तो दो लकड़ी का ठीक-ठीक मन्थन करो तो अग्नि प्राप्त होगा, इस वाक्य को सुनने वाले ने किये लकड़ी के मंथन करने में उपरोक्त काष्ठमंथनकर्ता आदि के पूर्ण सांग न होने से अग्नि की उत्पति न हो तो भी मंथन के पूर्ण सांग होने पर अग्नि की प्राप्ति काष्ठमन्थन से होती ही है अतः उक्त काष्ठमन्थन का विधि-वाक्य जैसे अप्रमाण नहीं हो सकता, उसी प्रकार उपरोक्त पुत्रयागादि कर्मों के विधि के वचन यदि कर्ता आदि की विगुणता से पुत्रप्राप्तिफल न हो तब भी कर्म, कर्ता तथा साधन के पूर्ण सांग होने पर पुत्ररूप फल की प्राप्ति होती ही है अतः पूर्वोक्त वाक्य अप्रमाण नहीं हो सकते यह यहाँ पर भाष्यकार का लौकिक दृष्टान्त देने में तात्पर्य है ॥ ५९ ॥

पूर्वपक्षी के दिये हुये वेद की अप्रमाणता के साधक द्वितीय व्याघातदोष का खण्डन करते हुये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभ्युपेत्यः=एक काल में हवन करना स्वीकार कर; कालभेदे =उस काल का भेद करने पर (छोड़ने पर), दोषवचनात् = उसकी आहुति को देवताओं का कुत्ता खा जाता है यह दोष कहा होने से ॥ ६० ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी ने वेद के अप्रामाण होने में दिया हुआ **'उदिते होतव्यम्'** आदि तथा श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य **'उदिते जुहोति'** अर्थात् सूर्य के उदयकाल के पश्चात् हवन करना एवं जो इस काल में हवन करता है उसकी आहुति को श्याव कुत्ता खा जाता है, इत्यादि वाक्यों के परस्पर विरोध के कारण व्याघातदोष दिया था, वह इस कारण नहीं हो सकता कि जो हवनकर्ता सूर्योदय के पूर्व या पश्चात् अथवा संधिकाल इन तीनों में से एक काल का नियम मानकर उससे भिन्नकाल में हवन करता है उसके आहुति को श्याव तथा शवल नाम के देवताओं के कुत्ते खा जाते हैं ऐसा दोष बताया है अतः पूर्वपक्षी का दिया हुआ व्याघातदोष नहीं हो सकता, क्योंकि जो हवनकर्ता सूर्योदयादिकाल के एक नियम से प्रतिदिन हवन करता है उसके हवनद्रव्य को कुत्ते नहीं खाते अर्थात् दोष नहीं लगता ॥ ६० ॥

(६० वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में अपेक्षित **'हवन में व्याघात नहीं होता'** ऐसे पद की अनुवृत्ति (पूर्णता) करना चाहिये। जिससे जो हवनकर्ता पुरुष सूर्योदय होने पर, या उसके पूर्व अथवा सन्धिकाल में प्रतिदिन हवन करूँगा ऐसा नियम स्वीकार कर उसको छोड़कर दूसरे काल में हवन करता है उस हवन में नियम में स्वीकार किये काल को छोड़कर भिन्नकाल में हवन करने के कारण उसे **'श्याव नामक कुत्ता हवनकर्त्ता की आहुति को खा जाता है'** इत्यादि दोष कहा है। वह यह नियमित कर्म की विधि के भ्रष्ट होने से निन्दा का वचन है (न कि नियमितकाल में ही हवन करनेवाले को यह दोष हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी का व्याघातदोष भी वेद को अप्रमाण सिद्ध नहीं कर सकता) ॥ ६० ॥

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६१ ॥

पुनरुक्तदोषोऽभ्यासे नेति प्रकृतम्। अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यासोऽनुवादः। योऽयमभ्यासः "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इत्यनुवाद उपपद्यते अर्थवत्त्वात्। त्रिर्वचनेन हि प्रथमोत्तमयोः पञ्चदशत्वं सामिधेनीनां भवति। तथा च मन्त्राभिवादः "इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेणापबाधे योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म" इति पञ्चदशसामिधेनीर्वज्रं मन्त्रोऽभिवदति तदभ्यासमन्तरेण न स्यादिति ॥ ६१ ॥

(तीसरे वेद की अप्रमाणता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षी के दिये पुनरुक्ततादोष का सूत्रकार खण्डन करते हैं)—

पदपदार्थ—अनुवादोपपत्तेः च = और सार्थक आवृत्तिरूप अनुवाद होने से भी ॥ ६१ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी ने वेद की अप्रमाणता सिद्ध करने के लिये जो प्रथम मंत्र तथा अन्तिम मंत्र को तीन-तीन बार कहने की वेद में विधि होने के कारण पुनरुक्ततादोष दिया है, वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि हवन के पूर्व अग्नि को प्रज्वलित करने के सामधेनी नामक मन्त्र एकादश (ग्यारह) ही कहे हैं, जिनमें प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र को तीन-तीन बार कहे विना वह पंचदश नहीं हो सकते, जिनका शत्रु के निवारणार्थ हवन की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए **'पंचदशावरेण'** इत्यादि मन्त्र में पन्द्रह बार कहने की विधि की है, अतः यह सार्थक पुनः उक्ति मन्त्रों की होने के कारण पुनरुक्तिदोष नहीं हो सकता। क्योंकि विना प्रयोजन पुनः कहना ही पुनरुक्ति नामक दोष कहाता है और यदि प्रयोजन हो तो पुनः-पुनः कथन को अनुवाद कहते हैं जो दोष नहीं होता, अतः पूर्वपक्षी का तीसरा हेतु भी असंगत है ॥ ६१ ॥

(६१ वें सूत्र की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि)—इस सूत्र में अभ्यास (आवृत्ति) में पुनरुक्तदोष नहीं आता अतः यह प्रस्तुत विषय है। निरर्थक (बिना प्रयोजन) अभ्यास को पुनरुक्त कहते हैं और प्रयोजन से 'युक्त' अभ्यास को अनुवाद कहते हैं (जो दोष नहीं होता)। अतः **'त्रिः'** तीन बार **'प्रथमां'** प्रथम सामधेनी मन्त्र को, **'अनुआह'** पश्चात् कहा है, **'त्रिः'** तीन बार **'उत्तमाम्'** अन्तिम मन्त्र को, **'अनुआह'** पश्चात् कहा, यह प्रयोजन होने से अभ्यास अनुवाद हो सकता है (अर्थात् जिसका कोई विशेष स्वीकृत नहीं है ऐसे अर्थ (विषय) का पुनः कहना पुनरुक्त तथा सामान्य श्रवण से जिसमें विशेष स्वीकृत है ऐसे अर्थ (विषय) का कहना अनुवाद कहाता है, ऐसा होने से पुनरुक्तदोष प्रस्तुत में न होगा) इसी कारण तीन बार अग्नि को प्रज्वलित करनेवाले सामधेनी नामक मन्त्रों में प्रथम तथा अन्तिम दोनों मन्त्रों को तीन-तीन बार कहने से सामधेनी मन्त्र पञ्चदश होते हैं। इसी कारण **'इदं'** इस, **'भ्रातृव्य'** (शत्रुरूप) को, **'अहं'** मैं, **'पंचदशावरेण'** पन्द्रह आवरण वाले, **'वाग्वज्रेण'** वाणीरूप वज्र (शस्त्र) से **'बाधे'** पीडा देता हूँ, **'यः'** जो, **'अस्मात्'** हमसे, **'द्वेष्टि'** द्वेष करता है, **'यंच'** और जिसका, **'वयं'** हम, **'द्विष्मः'** द्वेष करते हैं। इस प्रकार पन्द्रह सामधेनी नामक मन्त्रों को वाणीरूप, वज्रशास्त्र है ऐसा मन्त्र में कहा है। यह बारह सामधेनी मन्त्रों का पन्द्रह होना, बिना अभ्यास के नहीं हो सकता। (इस कारण पूर्वपक्षी का दिया पुनरुक्तदोषादि वेद में अप्रमाणता का साधक नहीं हो सकता) ॥ ६१ ॥

(वेद में केवल कर्मों की विधि तथा अर्थवाद (प्रशंसा) के बाद (कथन ही) उपलब्ध होता

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६२ ॥

प्रमाणं शब्दो यथा लोके ॥ ६२॥

विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६३ ॥

त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति ॥ ६३ ॥

है अनुवाद तो मिलता ही नहीं। इस आक्षेप का समाधान करते हुये सूत्रकार अपने को अभिमत वेद के विभागों को कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—वाक्यविभागस्य च = वेदस्वरूप ब्राह्मणवाक्यों के तीन प्रकार के विभाग का भी, अर्थग्रहणात्—अर्थ का ज्ञान होने से ॥ ६२ ॥

भावार्थ—वेदस्वरूप ब्राह्मणवाक्यों के विधिवाक्य (१), अर्थवादवाक्य (२) तथा अनुवादवाक्य (३), ऐसे तीन विभाग हैं जिसके सार्थक होने से भी वेदशब्द प्रमाण होता है। जिस प्रकार लौकिक वाक्य सार्थक होने से प्रमाण होते हैं, (इस सूत्र से सम्पूर्ण वेदवाक्य, प्रमाण हैं, अर्थ का विभाग उनमें होने से मन्वादिस्मृतिवाक्य के समान यह अनुमानप्रमाण वेदवाक्यों के प्रमाण होने में सूचित होता है ॥ ६२ ॥

(६२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार तीन प्रकार के लौकिक वाक्य प्रमाण होते हैं उसी प्रकार वेदवाक्य भी विधि, अर्थवाद एवं अनुवाद ऐसे तीन प्रकार के ब्राह्मणवाक्यों के विभाग के अर्थ का ग्रहण होने से प्रमाण हैं ॥ ६२ ॥

(६३ वें सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—वेदरूप ब्राह्मणवाक्यों का तीन प्रकार का विभाग भी है—

पदपदार्थ—विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् = विधिवचन—(१), अर्थवादवचन (२) तथा अनुवादवचन (३), ऐसे तीन प्रकार के वचनों का उपयोग होने से ॥ ६३ ॥

भावार्थ—ब्राह्मण नामक वेदवाक्यों का विधिवाक्य, अर्थवादवाक्य तथा अनुवादवाक्य ऐसे तीन विभागों का कर्मकाण्ड में उपयोग होता है अतः उनके अर्थग्रहण से भी वेदरूप शब्द प्रमाण होता है जिस प्रकार मन्वादि वाक्य प्रमाण हैं। यह वेदस्वरूप उसके एकदेश ब्राह्मणवाक्यों का विभाग है नकि मन्त्रों का। वे मन्त्र—(१) कर्मरूप ईश्वर के ज्ञान का कारण अलौकिक वाक्य, जिसके ऋग्वेद आदि चार भेद कहे हैं—चार प्रकार का है, जिसके मन्त्र (१) तथा ब्राह्मण (२), ऐसे दो भेद हैं। जिनमें कर्म का करना, उसके साधन, द्रव्य तथा देवता इनको बताने वाले मन्त्र होते हैं। और विधि, अर्थवाद और अनुवाद ऐसे तीन भेद हैं इत्यादि विषय का विस्तार **'अष्टादशविद्यानिरूपणलहरी'** आदि आकर ग्रन्थों में स्वयं पाठकों को देख लेना चाहिये ॥ ६३ ॥

(६३ वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—ब्राह्मणवाक्यों का वह भाग विधिवचन, अर्थवादवचन तथा अनुवादवचन, ऐसे तीन प्रकार का कर्मकाण्ड में उपयोग होता है यह कहा है। अतः इस प्रकार के वाक्य-विभाग के अर्थ के ग्रहण होने के कारण वेदशब्द प्रमाण हैं यह सिद्ध होता है ॥ ६३ ॥

तत्र—

विधिर्विधायकः ॥ ६४ ॥

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा । यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि ॥ ६४ ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६५ ॥

अग्रिम विधि के वर्णन के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं—कि उन तीनों में से—

पदपदार्थ—विधिः = विधि के वाक्य, विधायकः = कर्म का विधान करते हैं ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जिस वाक्य से मनुष्य को कर्म करने में प्रवृत्ति होती है वे विधिवाक्य कहाते हैं । नियोग (प्रेरणा करना), अथवा आयोग (आज्ञा देना) यह विधि कहाता है, जैसे **'स्वर्ग की कामना करनेवाला अग्निहोत्र हवन करे'** इत्यादि । (अर्थात् अग्निहोत्र कर्म करने में जो पुरुष प्रवृत्त नहीं है उसकी उसमें प्रवृत्ति करानेवाला कर्ता को अपेक्षित उपाय (साधन) को कहनेवाला **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** स्वर्ग की इच्छा करनेवाला, अग्निहोत्र हवन करे, यह वाक्य विधिवाक्य कहाता है । इसीको उसके साधनरूप द्रव्यादिकों के प्राप्ति की प्रवृत्ति करानेवाला होने से **'अनुज्ञा'** ऐसा भी कहते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही उपरोक्त अग्निहोत्र हवनकर्म का वाक्य यदि पूर्व में अग्निहोत्र कहीं प्राप्त न हो तो वह **'विधि'** और यदि पूर्ववाक्यों में कहीं प्राप्त हो तो **'अनुज्ञा'** भी कहाती है । और जो 'ब्राह्मण को प्रतिग्रह' (दान लेना) इत्यादि धनोपार्जन की विधियाँ हैं वे स्वभावतः धन के उपार्जन करने में प्रवृत्त ब्राह्मणों के लिए अनेक प्रकार के और दूसरे धनार्जन के उपायों का प्रयोग प्राप्त होने पर प्रतिग्रह का नियम करते हैं, वे केवल पुरुषार्थ मात्र हैं नकि यज्ञ के लिए । यज्ञकर्म की विधि धन से होती है उनका अनुवाद होने पर भी धनार्जन अथवा उसके नियम का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वे पुरुषार्थ होने से केवल अनुज्ञामात्र करते हैं ऐसी यहाँ खद्योतकार ने समालोचना की है ॥ ६४ ॥

(६४ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जो वाक्य विधान करता है अर्थात् मनुष्य को कर्म करने में प्रेरणा करता है उसे विधिवाक्य कहते हैं और वह विधि कहाता है जो कर्म करने के लिए मनुष्य को प्रेरणा करने से नियोग अथवा अनुज्ञा करता है जिस प्रकार **'अग्निहोत्रं'** अग्निहोत्र नामक, **'जुहुयात्'** हवन करे, **'स्वर्गकामः'** स्वर्ग की इच्छा करनेवाला, इत्यादि वेदवाक्य विधिवाक्य कहाते हैं ॥ ६४ ॥

इस प्रकार तीन प्रकार के ब्राह्मणवाक्यों में विधिवाक्यों का वर्णन करने के पश्चात् द्वितीय अर्थवादवाक्यों का विभाग सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—स्तुतिः = प्रशंसा, निन्दा = निंदा, परकृतिः = विरुद्धविधि का कथन, पुराकल्पः = ऐतिहासिक विधि, इति = ऐसे, अर्थवादः = अर्थवाद वाक्य चार प्रकार के होते हैं ॥ ६५ ॥

भावार्थ—फल के कथनस्वरूप जो मनुष्य की कर्म में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति होने के लिए कर्म की प्रशंसा की जाती है उसे स्तुति (प्रशंसा) रूप अर्थवाद कहते हैं, जैसे देवताओं ने याग कर सम्पूर्ण दैत्यों को पराजित कर सम्पूर्ण कामना प्राप्त की, ऐसी याग की प्रशंसा (स्तुति) नामक प्रथम अर्थवाद कहाता है तथा और किसी शास्त्र में निषेध किये कर्म का त्याग करने के लिए उसके अनिष्ट (खराब) फल को कहना निन्दारूप अर्थवाद कहाता है । जैसे जो यज्ञों में मुख्य ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ है, जो इस यज्ञ को नहीं करता वह नरकगामी होता है । इस वाक्य में

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्थो स्तूयमानं श्रद्धीतेति। प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात् प्रवर्तते "सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाऽऽप्नोति सर्वं जयति" इत्येवमादि।

अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्थो निन्दितं न समाचरेदिति। "स एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा" इत्येवमादि।

ज्योतिष्टोम यज्ञ से भिन्न याग जो करता है उसे नरकप्राप्तिरूप अनिष्ट फल को कहने से इस ज्योतिष्टोम भिन्न याग करने में कर्ता की प्रवृत्ति न हो इसलिए निन्दा करना यह दूसरा अर्थवाद निंदा नामक है। दूसरे के किये कर्म के विरुद्ध कर्म की विधि के कथन को **'परकृति'** नामक अर्थवाद कहते हैं, जैसे कुछ कर्मकाण्डी वपा हवन के रूप अभिधारण कर्म के पश्चात् ही पृषदाज्य कर्म करते हैं और कुछ पृषदाज्य के अभिधारण कर्म को ही प्रथम इस कारण करते हैं कि वही अग्नि के प्राण हैं, इस प्रकार परस्पर एक के किये कर्म का विरोध कहना यह **'परकृति'** नामक तीसरा अर्थवाद कहाता है तथा जो वाद इतिहास से प्राप्त कर्म को कहता है वह पुराकल्प कहाता है, जैसे ब्राह्मणों ने बर्हिष्पवमान नामक सामवेद के स्तोत्र से अग्नि की स्तुति की थी, इस प्रकार इतिहास को लेकर यह वाद की विधि होने से इसे पुराकल्प नामक चतुर्थ अर्थवाद कहते हैं ॥६५॥

(६५ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या कहते हैं कि)—किसी कर्म की विधि की उस कर्म के फल के कथनरूप जो प्रशंसा होती है उसे स्तुति नामक अर्थवाद कहते हैं, जो कर्मकर्त्ता को कर्म में विश्वास दिलाती है—जिससे प्रशंसा किये कर्म पर उसे श्रद्धा होने के कारण वह कर्म की प्रशंसा मनुष्य को उस कर्म के न करने में प्रवृत्त करती है, क्योंकि वह कर्म करनेवाला कर्म के फल को सुनकर उस कर्म के करने में प्रवृत्त होता है। जैसे—**'सर्वजितः'** सम्पूर्ण दैत्यादि शत्रुओं को जीतने वाले, **'वै'** निश्चय से, **'देवाः'** देवताओं ने, **'सर्वं'** सर्वजित् नाम का, **'अयजन्'** याग किया, **'सर्वस्व'** सब फल की, **'आप्त्यै'** प्राप्ति के लिये, **'सर्वस्य'** सम्पूर्ण जगत् के, **'जयाय'** जीतने के लिये, **'सर्वएव'** सम्पूर्ण फल ही, **'एतेन'** इस याग से, **'आप्नोति'** प्राप्त करता है, **'सर्वं'** सभी को, **'जयति'** जीतता है। (इस प्रकार सर्वजित् नामक याग की प्रशंसा सुनकर इस याग के करने में और भी दूसरे मनुष्य की प्रवृत्ति होती है अतः यह प्रथम स्तुति नामक अर्थवाद कहाता है)। किसी कर्म में अनिष्ट (बुरे) फल को कहना रूप उस कर्म के त्याग करने के लिए निन्दा करना निन्दा नामक अर्थवाद होता है। जिससे कर्मकर्ता निषिद्ध कर्म न करे। जैसे—**'सः'** वह, **'एषः'** यह, **'वाव'** अथवा निश्चय से, **'प्रथमः'** प्रथम (मुख्य), **'यज्ञः'** यज्ञ है, **'यत्'** जिससे, **'ज्योतिष्टोमः'** ज्योतिष्टोम नाम का, **'यः'** जो, **'एतेन'** इस यज्ञ से, **'अनिष्ट्वा'** याग न कर, **'अन्येन'** दूसरे यज्ञ से, **'यजते'** याग करता है, **'गर्त्ते'** नरक रूप गड्ढे में, **'पतति'** गिरता है, **'अयं एव'** यही ज्योतिष्टोम से भिन्न यज्ञ करनेवाला **'एतत्'** यहीं (इसी लोक में), **'जीर्यते'** जीर्ण (नष्ट) हो जाता है, **'वा'** अथवा, **'प्रमीयते'** मारा जाता है, **'वा'** अथवा। इत्यादि (ज्योतिष्टोम से भिन्न यज्ञ के करने की इन ब्राह्मणवाक्यों से निन्दा सुनकर कर्म करनेवाला उसे न करे इस प्रकार के वाद को निन्दा नामक द्वितीय अर्थवाद कहते हैं)। दूसरे कर्मकर्ता से किये कर्म के विरुद्ध कर्म की विधि के वाद (कथन) को परकृति कहते हैं। 'वा हुत्वा वपामग्नेभिधारयन्ति अथ पृषदाज्यम् ततः चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाभिधारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यमित्येवमभिदधति' अर्थात् जैसे कुछ कर्म करने

अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। "हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यस्तोममित्येवमभिदधति" इत्येवमादि।

ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति। "तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन् योने यज्ञं प्रतनवामहे" इत्येवमादि।

कथं परकृतिपुराकल्पावर्थवादाविति ? स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवादाविति ॥ ६५ ॥

वाले वपाहवन करने के पश्चात् पृषदाज्यका अभिघारण कर्म करते हैं और चरक नामक यज्ञ अध्वर्यु प्रथम पृषदाज्य का अवधारण करने के पश्चात् वपाहोम करते हैं क्योंकि पृषदाज्य ही अग्नि के प्राण हैं, ऐसा वे कहते हैं, इत्यादि परस्पर कर्ताओं को लेकर विरुद्ध प्रकार से कर्मा की विधि होने से यह परकृति नामक तीसरा अर्थवाद कहाता है। चतुर्थ पुराकल्प नामक अर्थवाद वह होता है जो प्राचीन इतिहास में किया हुआ विधि हो। जैसे **'तस्मात् वा'** इस कारण से, **'एतेन'** इससे, **'ब्राह्मणाः'** ब्राह्मणों ने, **'बहिष्पवमानं'** बहिष्पव नामक, **'सामस्तोमम्'** सामवेद के मन्त्रसमूह की, **'अस्तौषीत्'** स्तुति की, **'योने'** हे वरुण, **'यज्ञं'** यज्ञ को, **'प्रतनवामहे'** हम करें। इत्यादि पूर्वकल्प में किये सामस्तोत्र के इतिहास को लेकर यह विधि है। अतः इसे पुराकल्प नामक अर्थवाद कहते हैं (यहाँ पर चरकाध्वर्यु नामक कर्मकर्ताओं के सम्बन्ध से वपाहोम तथा पृषदाज्य का अभिधारण इन दोनों का जो क्रम का भेद प्राप्त नहीं है उसके पुरुष का धर्म बतलानेवाला वाद पुराकृति होती है। तथा बहिष्पवमान सामस्तोत्र मन्त्र के सम्बन्ध के पूर्वकाल के पुरुषों के सम्बन्धी होने के रूप से श्रवण होने से इस काल के मनुष्यों का धर्मरूप से विधि करनेवाला वाक्य पुराकल्प नामक अर्थवाद होता है। यह दोनों में परस्पर भेद है। और अत्यस्पष्टरूप से प्रशंसा एवं निन्दा की इनमें प्रतीति होने से परकृति तथा पुराकल्प नामक दोनों अर्थवादों की स्तुति तथा निन्दा नामक दोनों अर्थवादों से महर्षि गौतम ने पृथक् कहा है।) (आगे भाष्यकार परकृति एवं पुराकल्प भी अर्थवाद ही हैं यह सिद्ध करने के लिये प्रश्नपूर्वक कहते हैं कि)—(प्रश्न)—पुराकृति एवं पुराकल्प ये दोनों अर्थवाद क्यों कहाते हैं ? (उत्तर)—स्तुति, तथा निन्दा करनेवाले वाक्य से सम्बन्ध रखने के कारण कर्म के विधि के आधाररूप किसी-न-किसी अर्थ (विषय) को प्रकाशित करते हैं इस कारण पुराकृति एवं पुराकल्प भी अर्थवाद माने जाते हैं (अर्थात् किसी कर्म की विधि के अङ्ग (शेष) रूप स्तुति तथा निन्दा वाक्य के साथ सम्बन्ध रखने से पुराकृति एवं पुराकल्प भी अर्थवाद माने गये हैं)। इन उपरोक्त वाक्यों में जो सिद्ध अर्थ को कहते हैं जिनमें किसी कर्म की विधि का श्रवण नहीं है तो उसमें क्या न सुनी हुई विधि की कल्पना की जाय ? अथवा जाने हुये ही दूसरे किसी कर्म की विधि के साथ एकवाक्यता को मान कर कर्म की विधि की कल्पना की जाय ? ऐसा संदेह होने पर कल्पना के लाघव से जाने हुये ही कर्मविधि के साथ एकवाक्यता मानना श्रेष्ठ है। क्योंकि प्रथमपक्ष में कर्मविधि की कल्पना तथा उसके साथ एकवाक्यता की कल्पना ऐसी दो कल्पना करनी पड़ती है और द्वितीयपक्ष में केवल अन्यत्र माने हुये कर्मविधि के साथ केवल एकवाक्यता की ही कल्पना करनी पड़ती है, यह पुराकृति और पुराकल्प को अर्थवाद मानने का गूढ महर्षि का आशय है) ॥ ६५ ॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६६ ॥

विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः। यथा पुनरुक्तं द्विविधमेवमनुवादोऽपि। किमर्थं पुनर्विहितमनूद्यते? अधिकारार्थम्, विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते निन्दा वा विधिशेषो वाऽभिधीयते। विहितानन्तरार्थोऽपि चानुवादो भवति। एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम्।

लोकेऽपि च विधिरर्थवादोऽनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम्। ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम्। अर्थवादवाक्यमायुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने

(पूर्वोक्त पुनरुक्त के समान अनुवाद भी दो प्रकार का होता है, यह दिखाते हुये सूत्रकार सिद्धान्तिमत से कहते हैं)—

पदपदार्थ—विधिविहितस्य = कर्म के विधि तथा विधान किये का, अनुवचनं = पश्चात् कथन, अनुवादः = अनुवाद कहाता है ॥ ६६ ॥

भावार्थ—कर्म को विधि का पश्चात् कथन जो शब्द का अनुवाद कहाता है, तथा विधि से कथित विषय का पश्चात् वचन जो अर्थ का अनुवाद कहाता है ऐसे दो प्रकार के अनुवाद भी होते हैं, जिस प्रकार पुनरुक्त दो प्रकार का होता है। (१) **'अश्वमेधेन'** अश्वमेध नामक याग से, **'यजेत'** याग (हवन) करे, इत्यादि अश्वमेधयज्ञ कर्म के विधि का अनुवाद है, जिससे—**'यः'** जो, **'अश्वमेधेन'** अश्वमेध नामक यज्ञ से, **'यजते'** हवन करता है, **'तरति'** पार करता है, **'मृत्युं'** मृत्यु को, **'तरति'** पार करता है, **'पाप्मानं'** पाप को, इत्यादि रूप से विधान किये अश्वमेधयज्ञ की स्तुति होती है। (२) **'उदिते'** सूर्योदय के पश्चात्, **'होतव्यं'** हवन करना चाहिये, इत्यादि हवनविधि का अनुवाद है, जिससे **'यः'** जो, **'उदिते'** सूर्योदय होने पर, **'जुहोति'** हवन करता है, **'यः'** जो, **'अनुदिते'** सूर्योदय के पूर्व, **'जुहोति'** हवन करता है, **'श्यावशबलौ'** श्याव तथा शबल नाम के देवताओं के कुत्ते, **'अस्य'** इस हवन करनेवाले की, **'आहुतिं'** आहुति के द्रव्य को, **'अभ्यवहरति'** खा जाते हैं, इत्यादि नियम को छोड़नेवाले की निन्दा बोधित होती है। (३) तथा **'सोम'** नामक एवं दर्शपूर्णमास नामक याग की भी विधि है, जिनका अनुवाद **'दर्शपूर्णमासाभ्यां'** दर्श तथा पूर्णमास नामक दो यागों से, **'इष्ट्वा'** याग कर, **'सोमेन'** सोम से, **'यजेत्'** याग करे। इस प्रकार अनुष्ठान के क्रम को बतलाता है ॥ ६६ ॥

(६६ वें सूत्र की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि)—अनुवाद कर्मविधि का पश्चात् कथन एवं विधि में कहे हुए विषय का पश्चात् कथन ऐसे दो प्रकार के अनुवाद होते हैं, जिनमें प्रथम शब्द का अनुवाद और द्वितीय अर्थ का अनुवाद होता है, जिस प्रकार सार्थक एवं निरर्थक ऐसे दो प्रकार के पुनरुक्त होते हैं। (प्रश्न)—विधि में कहे विषय का पुनः अनुवाद (कथन) क्यों होता है? (उत्तर)—अधिकार के लिए अर्थात् फल की प्राप्ति के लिए साधन में प्रवृत्ति होने के लिए। क्योंकि विधि से उक्त विषय का उद्देश कर किसी कर्म की प्रशंसा, अथवा निन्दा अथवा यह अमुक कर्म के विधि का शेष (अङ्ग) है यह कहा जाता है। तथा विधान किये कर्म के पश्चात् क्या कर्त्तव्य है यह कहने के लिए भी अनुवाद होता है। इसी प्रकार और भी दूसरा अर्थात् विधान किए हुए कर्म में क्या हेय (त्याज्य) है, क्या हानि है, इत्यादि विषय स्वयं जाना जाय इस लिए भी अनुवाद होता है)।

लोकव्यवहार में भी विधि, अर्थवाद एवं अनुवाद, ऐसे तीन प्रकार के वाक्य होते हैं। जिनमें **'ओदनं'** भात को, **'पचेत्'** पकाये, यह भात तैयार करने की विधि का वाक्य है। अर्थवाद वाक्य

प्रतिष्ठितम् । अनुवादः पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति वा, अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम् । पच्यतामेवेति चावधारणार्थम् । यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात्प्रमाणत्वम्, एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात्प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति ॥ ६६ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६७ ॥

पुनरुक्तमसाधु साधुरनुवाद इत्ययं विशेषो नोपपद्यते । कस्मात् ? उभयत्र हि प्रतीतार्थः शब्दोऽभ्यस्यते चरितार्थस्य शब्दस्याभ्यासादुभयमसाध्विति ॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६८ ॥

यह है जैसे **'आयुः'** आयुष्य, **'वर्चः'** तेज, **'बलं'** बल, **'सुखं'** सुख, **'प्रतिभानं'** तत्काल बुद्धि का होना, **'च'** भी, **'अन्ने'** अन्न में, **'प्रतिष्ठितं'** स्थित है, इत्यादि । अनुवाद वह होता है जैसे— **'पचतु-पचतु'** पकावे-पकावे, **'भवान्'** आप, **'इति'** इस प्रकार, **'अभ्यास'** पुनः-पुनः कथन या आप शीघ्र पकावें ऐसा कहना, भाई पकाओ ऐसी आज्ञा देना, अथवा अवश्य पकावें इस प्रकार पकाने के निश्चय के लिये भी लोकव्यवहार में अनुवाद हुआ करता है । अतः जिस प्रकार उपरोक्त लौकिक-वाक्य-विभाग से पृथक्-पृथक् अर्थों का ज्ञान होने के कारण प्रमाण होते हैं उसी प्रकार वेदवाक्य भी विभाग से पृथक्-पृथक् अर्थों का ज्ञान होने के प्रमाण होते हैं उसी प्रकार वेदवाक्य भी विभाग से पृथक्-पृथक् अर्थों से ज्ञान होने के कारण प्रमाण हो सकते हैं । (अतः पुनरुक्तिदोष वेद में नहीं हो सकता, इसलिये पूर्वपक्षी का वेद प्रमाण नहीं है यह कहना असंगत है) ॥ ६६ ॥

(भाष्यकार के कहे हुये अनुवाद का प्रयोजन न जाननेवाले पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखाते हुये सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—न = नहीं है, अनुवादपुनरुक्तयोः = सिद्धान्ती के कहे हुये अनुवाद और पुनरुक्ति इन दोनो में, विशेषः = भेद, शब्दाभ्यासोपपत्तेः = दोनों में शब्द का अभ्यास होने से ॥ ६७ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का पुनरुक्त (बारम्बार कहना) दोष होता है और अनुवाद दोष नहीं होता यह कहना असंगत है क्योंकि दोनों में जिस शब्द का अर्थ ज्ञात है ऐसे शब्द की आवृत्ति समान ही होती है, अतः जिसका अर्थ पूर्व में ज्ञात है ऐसे शब्द का अभ्यास पुनरुक्त तथा अनुवाद में व्यर्थ होने के कारण दोनों ही दोष समान हैं ॥ ६७ ॥

(६७ वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—सिद्धान्ती का पुनरुक्ति दुष्ट है, और अनुवाद दोषरहित है, यह विभाग नहीं हो सकता । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—पुनरुक्ति तथा अनुवाद दोनों में जिस शब्द के अर्थ का ज्ञान पूर्वशब्द से हो चुका है ऐसे शब्द का दोनों में ही अभ्यास (आवृत्ति) होती है अतः पूर्वशब्द से ही उस अर्थ के (चरितार्थ) गतार्थ होने के कारण ऐसे शब्द का अभ्यास दोनों में ही दोष होता है । अतः सिद्धान्ती का पुनरुक्त को दोष तथा अनुवाद को दोषरहित मानना असंगत है ॥ ६७ ॥

(उपरोक्त आक्षेप का सूत्रकार समाधान ऐसा देते हैं कि)—

पदपदार्थ—शीघ्रतरगमनोपदेशवत् = अतिशीघ्र जाने की आज्ञा के समान, अभ्यासात्=आवृत्ति होने से, न = नहीं है, अविशेषः = पुनरुक्त तथा अनुवाद में समानता ॥ ६८ ॥

भावार्थ—प्रयोजन वाले शब्द की आवृत्ति अनुवाद में होने के कारण अनुवाद तथा पुनरुक्ति इन दोनों में समानता नहीं हो सकती । बिना प्रयोजन के शब्द की आवृत्ति होने के कारण पुनरुक्त दुष्ट होता है और जिस प्रकार शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ, ऐसा बारम्बार कहना अतिशीघ्र गमन

नानुवादपुनरुक्तयोरविशेषः। कस्मात्? *अर्थवतोऽभ्यासस्यानुवादभावात्।* समानेऽभ्यासे पुनरुक्तमनर्थकम्। अर्थवानभ्यासोऽनुवादः। *शीघ्रतरगमनोपदेशवत्।* शीघ्रं शीघ्रं गम्यतामिति क्रियातिशयोऽभ्यासेनैवोच्यते। उदाहरणार्थं चेदम्। एवमन्योऽप्यभ्यासः पचति पचतीति क्रियानुपरमः। ग्रामो ग्रामो रमणीय इति व्याप्तिः। परि परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देव इति परिवर्जनम्। अध्यधिकुड्यं निषण्णमिति सामीप्यम्। तिक्तं तिक्तम् इति प्रकारः। एवमनुवादस्य स्तुतिनिन्दाशेषविधिष्वधिकारार्थता विहितानन्तरार्थता चेति ॥ ६८ ॥

किं पुनः प्रतिषेधहेतूद्धारादेव शब्दस्य प्रमाणत्वं सिध्यति? न, अतश्च—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥ ६९ ॥

करने की आज्ञा का सूचक होने से सप्रयोजन होने के कारण (शब्द का बारम्बार कहना), अनुवाद-दोष नहीं होता उसी प्रकार अनुवाद भी सप्रयोजन होने के कारण दोष नहीं होता ॥ ६८ ॥

(६८ वें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ऐसी करते हैं कि)—अनुवाद तथा पुनरुक्त इन दोनों में समानता नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—सप्रयोजन शब्द की आवृत्ति करना अनुवाद कहाता है। और प्रयोजन न रहने के कारण एकसमान शब्द की आवृत्ति करना पुनरुक्त कहाता है। अत्यन्त गमन की आज्ञा के समान प्रयोजन युक्त होने के कारण समान शब्द की आवृत्ति अनुवाद होता है। इससे अनुवादरूप शब्द का अभ्यास प्रयोजनयुक्त है, ज्ञानविशेष का कारण होने से अतिशीघ्र गमन की आज्ञा के समान यह अनुमान यहाँ भाष्यकार ने सूचित किया है) (दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुये भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—**'शीघ्र-शीघ्र जाओ', 'अतिशीघ्र जाओ'** ऐसी गमनक्रिया की अधिकता 'शीघ्र-शीघ्र' ऐसी शब्द की आवृत्ति से कही जाती है। यह केवल उदाहरणमात्र है। इसी प्रकार और सप्रयोजन शब्दाभ्यास रूप अनुवाद होते हैं जैसे—**'पकाता है-पकाता है'** इस शब्द की आवृत्ति से पकाना समाप्त नहीं हुआ है यह प्रयोजन जाना जाता है। तथा **'ग्रामं, ग्रामं'** गाँव-गाँव सुन्दर है इस शब्दाभ्यास से सम्पूर्ण ग्रामों में सुन्दरतारूप प्रयोजन का बोध होता है। **'ऊपर-ऊपर'** त्रिगर्त (गड्ढों) के भगवान् इन्द्र ने वर्षा की। त्रिगर्तों को छोड़कर वर्षा हुई यह प्रयोजन, तथा **'अधि-अधि कुण्ड्यं'** भीत के पास-पास, निषण्णं (बैठे हुये) को इस वाक्य में अधि इस पद के अनुवाद से भीत के अति समीपरूप प्रयोजन का बोध होता है। तथा **'तीता है, तीता है'** ऐसे शब्द के अभ्यास से प्रकाररूप प्रयोजन का बोध होता है अर्थात् सब अन्न प्रायः तीते हैं यह बोध होता है। इसी प्रकार अनुवाद भी स्तुति तथा निन्दा एवं अंगों की विधियों में अधिकार के लिये एवं विधान किये कर्म के अनन्तर क्या कर्तव्य है यह भी बोध कराता है, यह सिद्धान्ती के मत से महर्षि गौतम का आशय है ॥ ६८ ॥

(६९ वें सूत्र का अवतरण देते हुये पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखाते हैं कि)—(प्रश्न)—क्या केवल हमारे वेद की अप्रमाणता के बाधक दिये हुये हेतुओं का जो सिद्धान्ती ने खण्डन किया उसी से वह शब्द में प्रमाणता सिद्ध होती है? (उत्तर)—नहीं इस हेतु से भी वेद की प्रमाणता सिद्ध होती है—अर्थात् वेदप्रामाण्य के निषेध करनेवाले हेतुओं के खण्डन करने से ही वेद शब्द में प्रमाणता सिद्ध नहीं होती, इस कारण सूत्रकार दूसरे हेतुओं से वेद की प्रमांणता सिद्ध करते हैं)—

पदपदार्थ—मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् च = और वेद का मन्त्रभाग तथा आयुर्वेद के प्रमाण होने

किं पुनरायुर्वेदस्य प्रामाण्यम् ? यत्तदायुर्वेदेनोपदिश्यते इदं कृत्वेष्टमधिगच्छतीदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति, तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः। मन्त्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभाव एतत्प्रामाण्यम्। किं कृतमेतत ? आप्तप्रामाण्यकृतम्। किं पुनराप्तानां प्रामाण्यम् ? *साक्षात्कृतधर्मता भूतदया यथाभूतार्थचिख्यापयिषेति।* आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माण इदं हातव्यमिदमस्य हानिहेतुरिदमस्याधिगन्तव्यमिदमस्याधिगमहेतुरिति भूतान्यनुकम्पन्ते। तेषां खलु वै प्राणभृतां स्वयमनवबुद्ध्यमानानां नान्यदुपदेशादवबोधकारणमस्ति। न चानवबोधे समीहा वर्जनं वा, न

के समान भी, तत्प्रामाण्यम् = उस सम्पूर्ण वेद शब्द में प्रमाणता है, आप्तप्रामाण्यात् = वेदवक्ता-पुरुष के प्रमाण होने से ॥ ६९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विष, भूतप्रेतादि बाधा इत्यादि उपद्रवों को दूर करनेवाले मंत्रविशेषों का पाठ करने से उक्त उपद्रव दूर हो जाते हैं, अतः इन मन्त्रों को सभी प्राणी प्रमाण मानते हैं तथा आयुर्वेद (वैद्यकशास्त्र) में कही हुई अमुक औषधि करने से यह रोग दूर हो जायगा ऐसा वैद्य से सुन कर औषधि का निदान के अनुसार सेवन करने से वह रोग निवृत्त हो जाता है, इस कारण आयुर्वेदशास्त्र भी प्रमाण माना जाता है। अतः जिस प्रकार मन्त्र तथा आयुर्वेद ईश्वर धन्वंतरि आदि प्राप्तपुरुषों से निर्मित होने के कारण प्रमाण हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण वेदशब्द भी ईश्वररूप आप्तपुरुष के द्वारा निर्मित होने के कारण प्रमाण है यह सिद्ध होता है। इस सूत्र में सूत्रकार ने सम्पूर्ण वेदवचन, प्रमाण हैं ईश्वररूप विशेष वक्ता से कथित होने के कारण मन्त्र तथा आयुर्वेद वाक्य के समान, ऐसे अन्य भी अनुमान का प्रयोग सूचित किया है ॥ ६९ ॥

(६९ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि पूर्वपक्षी प्रश्न करे कि—इस सूत्र में दृष्टान्त दिये हुये आयुर्वेद की प्रमाणता क्या है ? तो इसका यह उत्तर है कि जो कुछ आयुर्वेदशास्त्र में कहा जाता है कि यह दवा करने से यह लाभ होगा, यह अपथ्य पदार्थ का खाना इत्यादि का त्याग करने से यह दुःख जायगा, इस उपदेश को मानकर वैसी औषधि आदि करने से उपरोक्त लाभ तथा दुःख का छूटना इत्यादिकों का होना, अर्थात् उसके विपरीत न होना रूप सत्यता ही आयुर्वेद में प्रमाणता है। तथा भूत-प्रेतबाधा, सर्पादिविष, और वज्रपात (बिजली का गिरना, आदि की निवृत्तिरूप प्रत्यक्ष फल देनेवाले वेद के कुछ मन्त्रों का प्रयोग करने पर उक्त भूत-प्रेतादि-बाधाओं की निवृत्ति अवश्य होती है। यही उन मन्त्रों में प्रमाणता होती है। (प्रश्न)—यह आयुर्वेद तथा विशेष मन्त्रों की प्रमाणता, किस कारण है ? (उत्तर)—उनके रचयितारूप आप्तों के प्रमाण होने से है। (प्रश्न)—प्राप्तपुरुष प्रमाण क्यों माने जाते हैं ? (उत्तर)—उस विषय के तत्त्व का प्रत्यक्ष करना, प्राणियों में दया (प्राणियों को सुख की प्राप्ति तथा उनके दुःखों के परिहार की इच्छा) तथा जैसा जो विषय है उसके वैसे ही वास्तविक रूप से प्रसिद्ध करने की इच्छा ये तीन आप्तपुरुषों के प्रमाण होने में कारण हैं। क्योंकि आप्तपुरुष को इस अनिष्ट विषय को छोड़ देना चाहिये यह इसके हानि का कारण है, यह इस प्राणी को प्राप्त करना चाहिये यह इसके इष्ट की प्राप्ति का उपाय है—इस प्रकार प्राणियों पर उपदेश द्वार कृपा करते हैं, क्योंकि उन साधारण मनुष्यों को जिन्हें स्वयं अपने हिताहित का ज्ञान नहीं रहता बिना उक्त प्रकार से आप्तों के उपदेश से दूसरा हिताहित ज्ञान होने का कोई कारण नहीं है, और

वाऽकृत्वा स्वस्तिभावः, नाप्यस्यान्य उपकारकोऽप्यस्ति। हन्त वयमेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्ति इति एवमाप्तोपदेशः। एतेन त्रिविधेनाप्तप्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधको भवति, एवमाप्तोपदेशः प्रमाणम्। एवमाप्ताः प्रमाणम्। दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनादृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति। आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति। अस्यापि चैकदेशो "ग्रामकामो यजेत" इत्येवमादिर्दृष्टार्थस्तेनानुमातव्यमिति। लोके च भूयानुपदेशाश्रयो व्यवहारः। लौकिकस्याप्युपदेष्टुरुपदेष्टव्यार्थज्ञानेन परानुजिघृक्षया यथाभूतार्थचिख्यापयिषया च प्रामाण्यं तत्परिग्रहादाप्तोपदेशः प्रमाणमिति।

विना ज्ञान के वह अपने इष्ट की प्राप्ति अथवा अनिष्ट का त्याग नहीं कर सकता और विना किये उसका संसार में कल्याण नहीं हो सकता, और न दूसरा इन साधारण मनुष्यों का उपकार करनेवाला सिवाय आप्तों के उपदेश के संसार में कोई है। (इस प्रकार आप्तों को धर्म का साक्षात्कार रहता है। यह दिखाकर भाष्यकार आप्तों की सत्यविषय को प्रसिद्ध करने की इच्छा को दिखाते हुये कहते हैं कि)—हर्ष है कि हम इन संसारी प्राणियों को जैसा हमने देखा है वैसा वास्तविक ही उपदेश करते हैं, जिसे वे प्राणी सुनकर तथा समझकर त्यागयोग्य अनिष्ट का त्याग करेंगे तथा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट है उसी को प्राप्त करेंगे, इसलिये आप्तों का उपदेश होता है। इस प्रकार वास्तविक विषय का ज्ञान, प्राणियों पर दया तथा सत्य विषय के प्रसिद्ध करने की इच्छा इन तीन प्रकार से आप्तपुरुषों के प्रमाण होने से संसार के साधारण प्राणियों ने आप्तों के उपदेश के अनुसार स्वीकार कर, वैसा ही आचरण करने से उनके सम्पूर्ण संसार के कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार आप्तों का उपदेश प्रमाण होता है। और इस उपरोक्त प्रकार से आप्तपुरुष भी प्रमाण माने जाते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से जिसका रोगनिवृत्ति आदि प्रत्यक्ष फल देखने में आता है ऐसे आयुर्वेद के दृष्टान्त से जिसका स्वर्गादि फल प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसे **'स्वर्गकामो यजेत्'** इत्यादि वेदभाग भी प्रमाण हैं यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध करना चाहिये, क्योंकि दोनों में उनके वक्तारूप आप्तों का प्रमाण होना समान ही है (अर्थात् जिस प्रकार आयुर्वेद आप्त (धन्वन्तरी) से निर्मित है उसी प्रकार सम्पूर्ण वेद भी आप्त (ईश्वर) से निर्मित है)। (अंगों के समान अङ्गी में प्रत्यक्ष फल दिखाते हुये आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इसका भी एकदेश (एकभाग) प्रत्यक्ष फलवाला है। जैसे—**'ग्रामकामः'** ग्राम की इच्छा करनेवाला मनुष्य, **'यजेत्'** याग करे, इत्यादि। इससे भी प्रत्यक्ष फल के देनेवाले वेद के प्रमाण होने का अनुमान करना चाहिये। (लौकिक तथा अलौकिक दोनों उपदेशों में समानता दिखाते हुये आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—संसार में भी बहुत से उपदेश को लेकर ही व्यवहार सदा चलते हैं, क्योंकि लौकिक (साधारण) उपदेश करनेवाले जीवों को भी उपदेश करनेयोग्य वास्तविक विषय के ज्ञान से, दूसरों पर अनुग्रह करने की इच्छा से तथा वास्तविक अर्थ के प्रसिद्ध करने की इच्छा से ही प्रमाण माना जाता है। उस उपदेश को अनजान लोग मानते हैं अतः लौकिक आप्तपुरुषों का उपदेश भी प्रमाण होता है तथा द्रष्टा (देखनेवाला) तथा प्रवक्ता (उपदेश करनेवाला) पुरुष इन दोनों की समानता के कारण भी अनुमान हो सकता है, क्योंकि जो आप्त मनुष्य ही वेदविषयों के देखनेवाले हैं वे ही आयुर्वेद आदिकों के प्रवक्ता

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति ।

नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रामाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्ययुक्तम् । शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न नित्यत्वात् । नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपपत्तिः । नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेद् न, लौकिकेष्वदर्शनात् । तेऽपि नित्या इति चेद् न, अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः । नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति । अनित्यः स इति चेत् ? अविशेषवचनम् । अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति । यथानियोगं चार्थस्य प्रत्यायनाद् नामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यं नित्यत्वात्प्रामाण्यानुपपत्तिः । यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके तस्य नियोगसामर्थ्यात्प्रत्यायको

(प्रवचन करने वाले) भी हैं । इस कारण आयुर्वेद के समान सम्पूर्ण वेद प्रमाण है, ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है । आप्त का उपदेश होने के कारण वेद प्रमाण नहीं है नित्य होने से प्रमाण है ऐसे मीमांसकों के मत का अनुवादपूर्वक खण्डन करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि—'वेद के वाक्य नित्य होने के कारण जब प्रमाण माने जा सकते हैं तो उसके वक्ता के प्रमाण होने से वेदों का प्रमाण मानना नहीं हो सकता ।' ऐसा मीमांसकों का मत युक्त नहीं है, क्योंकि कोई भी शब्द अर्थ का बोध कराने से प्रमाण माना जाता है, न कि नित्य होने के कारण यदि शब्द नित्य हो तो सम्पूर्ण शब्दों से सम्पूर्ण अर्थों का बोध हो सकने से इस (घट) शब्द से इस (घटरूप) अर्थ का ही ज्ञान होता है दूसरे पदादि अर्थों का बोध नहीं होता ऐसी शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था न हो सकेगी । (वेद के अनित्य होने में हेतु के असिद्धि की शंका दिखाते हुये भाष्यकार कहते हैं कि)—'वेदशब्द के अनित्य मानने पर उसमें अर्थ का बोध कराना न बन सकेगा । (तो इसका नैयायिक मत से यह उत्तर है कि)—"लौकिक शब्दों के अनित्य होने पर भी उनसे, अर्थ का ज्ञान होता है यह देखा जाता है । यदि इस दोष के कारण लौकिक शब्दों को भी हम नित्य ही मानेंगे ।' ऐसा मीमांसक कहें तो यह कह कहना असंगत है, क्योंकि अनाप्त (अप्रामाणिक) पुरुषों के उपदेश से जो अर्थ का विसंवाद (न मिलना) अर्थात् अप्रामाणिक (ठग) पुरुषों की बात जो मिथ्या होती है ऐसा देखने में आता है वह लौकिक शब्दों को नित्य मानने से न हो सकेगा । क्योंकि मीमांसकों के मत में शब्दमात्र सम्पूर्ण शब्द नित्य होने से ही प्रमाण होते हैं । यदि इस दोष के वारणार्थ, अनाप्त (प्रतारक-ठग) के शब्दों को अनित्य मानें तो इसमें कोई इसका विशेष हेतु मीमांसक को देना होगा, अर्थात् अनाप्त (प्रतारक-ठग) का उपदेशरूप लौकिक शब्द नित्य नहीं होता इस विषय में कोई कारण मीमांसक को कहना पड़ेगा । (इस कारण मीमांसक मत अयुक्त है) और लौकिक व्यवहारमात्र में शब्द के वाच्य-वाचक भावरूप समय (संकेत) ज्ञान के अनुसार ही शब्दों से अर्थ का बोध होने के कारण संज्ञा शब्द प्रमाण माने जाते हैं । यह दिखाई पड़ता है अतः मीमांसकमत के अनुसार शब्द को नित्य मानकर प्रमाण मानना संगत नहीं हो सकता । अर्थात् लोक-व्यवहार में ईश्वरेच्छारूप संकेतज्ञान से जिस पदार्थ का बोध कराने के लिये जिस संज्ञा शब्द का नियोग किया जाता है वह संज्ञा शब्द ईश्वरेच्छारूप नियोग (आज्ञा) के अनुसार उस अर्थ का बोध कराता है । न कि नित्य होने से ।

भवति न नित्यत्वात् । मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम् । आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत्समानमिति ॥ ६९ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरणम् ।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

ऐसा होने पर हम नैयायिकमतानुसारी भी मनुओं के तथा युगों के मध्य में जो व्यतीत हो गये हैं अथवा आगे आने वाले हैं जो वर्तमान में वेदों का एक आनुपूर्वी (क्रम) रूप संप्रदाय देखने में आ रहा है उस संप्रदाय के अभ्यास का विच्छेद न होना ऐसी नित्यता वेदों में मानते ही हैं। किन्तु उन वेदों का प्रमाण होना लौकिक शब्दों के समान उस वेद के वक्ता आप्तपुरुष के प्रमाण होने से ही मानते हैं जो लौकिक शब्दों में समान है। अर्थात् महाप्रलयकाल में परमात्मा वेदों का निर्माण कर सृष्टि के आदि में उसके संप्रदाय को चलाते हैं अतः वेद नित्य हैं ऐसा नैयायिक भी मानते हैं यह यहाँ पर भाष्यकार का गूढ़ आशय है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार वात्स्यायन मुनि-प्रणीत न्यायभाष्य में द्वितीयाध्याय का
प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

अयथार्थः प्रमाणोद्देश इति मत्वाऽऽह—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

न चत्वार्येव प्रमाणानि । किं तर्हि ? ऐतिह्यमर्थापत्तिः सम्भवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि, तानि कस्मान्नोक्तानि । इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम् । अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः । आपत्तिः प्राप्तिः प्रसङ्गः ।

(१) प्रमाणचतुष्टय परीक्षाप्रकरण

(इस प्रकार द्वितीयाध्याय के प्रथमाह्निक में प्रत्यक्षप्रमाण से लेकर शब्दपर्यन्त धर्मिरूप प्रमाणों का वर्णन कर सांप्रत द्वितीय आह्निक में उन प्रमाणों के चतुष्ट—चार हैं इत्यादि धर्मों का वर्णन करना है । अतः प्रमाणधर्मों की परीक्षा करना द्वितीय आह्निक का विषय है । इस कारण प्रथम भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों का जो विभाग अर्थात् चार प्रकार के प्रमाणों के होने के विभाग का उद्देश्य है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ऐसे चार ही प्रमाण न्यायमत में हैं, वह यथार्थ (सत्य) नहीं हैं ऐसा समझ कर पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकती, चतुष्ट्वं = प्रमाणों की चार संख्या, ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभाव-प्रामाण्यात् = क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव भी प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से भिन्न प्रमाण हो सकते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रथमाध्याय में सिद्धान्ती के कहे हुये प्रत्यक्षादि शब्दपर्यन्त चार ही प्रमाण प्रमेय-पदार्थों के साधक माने हैं, किन्तु इन चारों के समान ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव तथा अनुपलब्धिरूप अभाव नामक प्रमाण भी प्रमेयपदार्थों के साधक हो सकते हैं, अतः चार ही प्रमाण हैं, यह सिद्धान्त असंगत है । (अर्थात् पूर्वपक्षी प्रत्यक्षादि शब्दपर्यन्त चार प्रमाणों को मानता हुआ भी ऐतिह्यादिकों को भी प्रमाण मानने के कारण प्रमाणों की चार ही संख्या है यह स्वीकार नहीं करता । अथवा दूसरे शास्त्रों में प्रमाणादिकों से भिन्न ऐतिह्यादि प्रमाण भी हैं या नहीं इस विषय में निश्चय न रखनेवाला नैयायिकों का साथी ही ऐसा प्रश्न उठा सकता है कि जो सूत्र में सूत्रकार ने आपत्तिरूप से दिखाया है) ॥ १ ॥

(प्रथम सूत्र को पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रत्यक्ष से लेकर शब्द तक चार ही प्रमाण नहीं हैं । (प्रश्न)—तो कितने और कौन से हैं ? (उत्तर)—ऐतिह्य (इति-हास), अर्थापत्ति, संभव तथा अनुपलब्धिरूप अभाव; इस प्रकार के ये प्रत्यक्षादिकों से भिन्न भी प्रमाण हैं । उनको गौतम महर्षि ने क्यों नहीं कहा, जिनमें से 'इतिह' ऐसा, 'ऊचुः' कहा है 'इति' इस प्रकार जिस वाक्य के वक्ता के नाम का उल्लेख जिसमें नहीं होता केवल प्रवाद, (कहते आये हैं) इस प्रकार की परम्परा में 'ऐतिह्य' प्रमाण कहते हैं जिसे मुख्यरूप से पौराणिकों ने माना है । तथा 'अर्थात्' अर्थ से, 'आपत्तिः' प्राप्ति होना, 'अर्थापत्ति' प्रमाण कहाता है । जिसमें आपत्ति शब्द का अर्थ है प्राप्ति अर्थात् प्रसङ्ग (आपत्ति) देना । क्योंकि जिस वाक्य के एक अर्थ (विषय) के कहे जाने पर जो उससे दूसरे अर्थ (विषय) की प्रसक्ति (होने की आपत्ति) होती है उसे अर्थापत्तिप्रमाण कहते हैं । जिस प्रकार मेघों के न रहने पर वृष्टि नहीं होती ऐसा वाक्य का प्रयोग

यत्राऽभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः। यथा मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति। किमत्र प्रसज्यते? सत्सु भवतीति। सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्। यथा द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य सत्ता ग्रहणात्प्रस्थस्येति। अभावो विरोधी अभूतं भूतस्य, अविद्यमानं वर्षकर्म विद्यमानस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य प्रतिपादकं, विधारके हि वाय्वभ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनकर्म न भवतीति ॥ १ ॥

सत्यम् एतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराणि। प्रमाणान्तरं च मन्यमानेन प्रतिषेध उच्यते। सोऽयम्—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥

व्यवहार में करते हैं। (प्रश्न)—इस वाक्य से कौन से दूसरे अर्थ के होने की आपत्ति आती है? (उत्तर)—इस उक्त वाक्य के कहने से मेघों के रहते वर्षा होती है ऐसा प्राप्त होता है। संभव नामक प्रमाण वह होता है जिससे अविनाभावि (व्याप्तिवाले) एक पदार्थ की सत्ता के ज्ञान से दूसरे पदार्थ की सत्ता का ज्ञान होता है। जिस प्रकार द्रोण (पसेरी) रूप परिमाण (तौल) के ज्ञान से उस परिमाण के साथ अवश्य रहनेवाले आढक (अढ़ाई सेर) रूप तौल परिमाण का तथा आढक परिमाण का ज्ञान होने से प्रस्थ (सवा सेर) परिमाण का ज्ञान होता है, ऐसा यह संभव नामक प्रमाण कहाता है। अभावप्रमाण वह होता है जो विरोधी हो, जैसे अभूत (न रहनेवाला), भूत (रहनेवाला) का विरोधी होता है क्योंकि न होनेवाली वर्षा, रहनेवाले (विद्यमान) वायु तथा अभ्र (मेघ) के संयोग को बतलाती है कि वायु और मेघों को आपस में सटे रहने से वर्षा नहीं हो रही है क्योंकि विधारक (रोक रखनेवाले) वायु तथा मेघ का परस्पर दृढ सम्बन्ध जब तक रहता है तब तक गुरुत्व (भारीपन) जल में रहने के कारण जल की पतनक्रिया नहीं होती, इस प्रकार अभाव भी एक दूसरा प्रमाण हैं (अर्थात् जल के नीचे गिरने का विरोधी वायु तथा मेघों के संयोग का ग्रहण होना वर्षा न होने का कारण है यह अभाव नामक प्रमाण कहाता है, अतः मेघों के आकाश में रहने पर भी पानी न बरसने से (अभाव से) उसके विरोधी वायु तथा मेघों के दृढ संयोग का सिद्ध होना यह अभावप्रमाण है यह सिद्ध होता है, अतः सिद्धान्तो का प्रत्यक्षादिक ही चार प्रमाण हैं यह नियम नहीं हो सकता ॥ १ ॥

(इस आक्षेप के समाधान में ऐतिह्यादि अभावान्त प्रमाणों का सिद्धान्ती के माने हुये प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो सकता है, इस आशय के सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुये भाष्यकार कहते हैं कि)—ऐतिह्यादि अभावपर्यन्त पूर्वपक्षी के दिखाये हुये प्रमाण हैं यह सत्य है, किन्तु प्रत्यक्षादिकों से भिन्न वे प्रमाण नहीं हैं और पूर्वपक्षी ने इनको प्रत्यक्षादिकों से भिन्न प्रमाण मानकर प्रथम सूत्र में चार प्रमाण होने का निषेध कहा है। वह यह (निषेध)—

पदपदार्थ—शब्दे = शब्द नामक प्रमाण में, ऐतिह्यानर्थान्तरभावात् = ऐतिह्य नामक प्रमाण के भेद न होने से, अनुमाने = अनुमान नामक प्रमाण में, अर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावात् च = अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव प्रमाण का भी भेद न होने के कारण, अप्रतिषेधः = प्रमाण चार नहीं है यह निषेध नहीं हो सकता ॥ २ ॥

अनुपपन्नः प्रतिषेधः । कथम् ? "आप्तोपदेशः शब्दः" इति न च शब्दलक्षणमैतिह्याद्व्यावर्तते । सोऽयं भेदः सामान्यात्सङ्गृह्यत इति । *प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम् ।* तथा चार्थापत्तिसम्भवाभावाः । *वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद्ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव ।*

अविनाभाववृत्त्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः । तदप्यनुमानमेव ।

भावार्थ—यद्यपि पूर्वपक्षी के कहे हुये ऐतिह्यादि अभावपर्यन्त भी प्रमाण हैं, किन्तु ऐतिह्य का शब्दरूप होने के कारण शब्दप्रमाण से भेद नहीं है अर्थात् शब्दप्रमाण में उसका अन्तर्भाव हो सकता है । तथा अर्थापत्ति, संभव एवं अभाव भी प्रमाण हैं किन्तु उनका अनुमानरूप होने के कारण अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव हो सकता है, अतः सिद्धान्ती का प्रत्यक्षादि चार ही प्रमाण प्रमेयसाधक होते हैं यह सिद्धान्त युक्त है (अर्थात् ऐतिह्यादि अभावपर्यन्त भी प्रमाण हैं यह हम मानते हैं, किन्तु सिद्धान्ती के माने हुये प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से वे भिन्न नहीं हैं इतना ही हमारा भाव है, न कि ऐतिह्यादि अभावपर्यन्त प्रमाण ही नहीं होते इस, विषय में हमें कोई आपत्ति है, यह सिद्धान्ती का आशय है) ॥ २ ॥

(द्वितीय सूत्र की सिद्धान्ती के मत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी का किया हुआ प्रमाणों की चार संख्या का निषेध युक्त नहीं है । (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—पूर्वोक्त आप्तपुरुष के उपदेश शब्दप्रमाण कहाते हैं इस कारण । क्योंकि यह प्रमाणशब्द का लक्षण ऐतिह्य नामक प्रमाण से व्यावृत्त (निवृत्त) नहीं है । इस कारण उस इस ऐतिह्यरूप भेद (विशेष प्रमाण) का उपरोक्त शब्दप्रमाण के समानधर्म होने से शब्दप्रमाण में ही संग्रह हो जाता है (अर्थात् जिस वाक्य के कहनेवाले के नाम का निर्देश नहीं होता ऐसे प्रवाद (कहावत) की परम्परा को ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं । यदि उस वाक्य के कहनेवाले पुरुष में आप्त होने का निश्चय न हो तो वह वाक्य प्रमाण हो नहीं हो सकता । यदि उक्त वाक्य में यह आप्त का कहा हुआ प्रवाद (कथन) है ऐसा निश्चय हो तो वह शब्दप्रमाण में ही अन्तर्गत हो जाता है ऐसा सिद्धान्ती का आशय है) । इस कारण ऐतिह्य शब्द प्रमाण से भिन्न न होने से पूर्वपक्षी का कथन असंगत है ।

प्रत्यक्ष धूमादिकों से अप्रत्यक्ष वह्नि आदि का ज्ञान (जो धूम के साथ व्याप्तिरूप संबंध से सम्बन्ध रखता हो) अनुमान कहाता है । अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव भी वैसे ही हैं । वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञान से जो न कहे हुये अर्थ (विषय) का प्रत्यनीक (विरोधी) होने के कारण ज्ञान होना यह अर्थापत्ति भी अनुमानप्रमाण ही हो सकता है (अर्थात् 'मेघों के न रहते वृष्टि नहीं होती है' ऐसे वाक्य का ज्ञान होने पर इस वाक्य से न कहे हुये 'मेघों के रहते वृष्टि होगी' ऐसा । (अर्थात् सिद्ध होता है) ऐसा अर्थापत्ति प्रमाण भी असत्य नहीं पूर्वपक्षी मानता है । किन्तु उपरोक्त दोनों वाक्यों में विरोधरूप सम्बन्ध होने के कारण इसका भी अनुमान प्रमाण होने में सम्बन्धरूप बीज होने से अनुमान में ही अर्थापत्तिप्रमाण का अन्तर्भाव हो सकता है ।

तथा अविनाभाव (एक के विना दूसरे का न होना) रूप व्याप्तिसम्बन्ध से परस्पर में सम्बद्ध समुदाय तथा समुदायी (समुदायवाले) इन दोनों में से समुदाय से समुदायी का ज्ञान होना संभव नामक प्रमाण पूर्वपक्षी मानता है । अतः इसमें व्याप्तिसम्बन्ध से सम्बद्ध व्यापक पसेरी भर गेहूँ

अस्मिन्सतीदं नोपपद्यत इति विरोधित्वे प्रसिद्धे कार्यानुत्पत्त्या कारणस्य प्रतिबन्धकमनुमीयते । सोऽयं यथार्थ एव प्रमाणोद्देश इति ॥ २ ॥

सत्यमेतानि प्रमाणानि न तु प्रमाणान्तराणीत्युक्तम्, अत्रार्थापत्तेः प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते । तथा हीयम्—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीति सत्सु भवतीत्येतदर्थादापद्यते सत्स्वपि चैकदा न भवति सेयमर्थापत्तिरप्रमाणमिति ॥ ३ ॥

नानैकान्तिकत्वमर्थापत्तेः—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात ॥ ४ ॥

है इत्यादि परिमाण (तौल) के ज्ञान से उसके व्याप्य अढ़ाई सेर गेहूँ है यह ज्ञान होना भी अनुमानप्रमाण ही है ।

तथा वृष्टि के प्रतिबंधक परस्पर वायु तथा मेघों का सम्बन्ध जब तक है तब तक वृष्टि नहीं हो सकती, इस प्रकार वायु तथा मेघों का एक में रहना तथा वृष्टि का होना इन दोनों का परस्पर विरोध प्रसिद्ध होने के कारण वृष्टिरूप कार्य के न होने से वृष्टि के कारण का प्रतिबंधक वायु-मेघसम्बन्ध है ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है, क्योंकि 'कारण के न रहने पर कार्य नहीं होता' ऐसा नियम है । अतः अभावप्रमाण भी उक्त प्रकार से अनुमान में ही अन्तर्गत हो सकता है । इस कारण सिद्धान्ती का माना हुआ वह यह प्रत्यक्षादि चार ही प्रमाण हैं ऐसा प्रमाणों का उद्देश (विभाग) यथार्थ ही है अतः पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है ॥ २ ॥

(प्रसंग से अर्थापत्ति प्रमाण है या नहीं इस विषय की परीक्षा करने के लिये पूर्वपक्षिमत के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—सिद्धान्ती ने (यह सत्य है कि) अर्थापत्ति आदि प्रमाण हैं किन्तु वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न नहीं हैं ऐसा पूर्व में कहा गया है। इसमें प्रथम अर्थापत्ति को प्रमाण मानना ही अयुक्त है क्योंकि यह—

पदपदार्थ—अर्थापत्तिः = पूर्वप्रदर्शित अर्थापत्ति, अप्रमाणं = प्रमाण नहीं है, अनैकान्तिकत्वात् = व्यभिचारदोष होने के कारण ॥ ३ ॥

भावार्थ—मेघों के न रहने पर वृष्टि नहीं होती, ऐसा कहने से मेघों के रहने पर वृष्टि होती है यह अर्थात् प्राप्त होता है (अर्थापत्तिप्रमाण से सिद्ध होता है) किन्तु मेघों के रहने पर भी किसी समय वृष्टि नहीं होती, इस कारण यह अर्थापत्ति प्रमाण ही नहीं मानी जा सकती ॥ ३ ॥

(तीसरे सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से व्याख्या करते हैं)—मेघों के न रहने पर वर्षा नहीं होती इसके कहने से मेघों के रहते वर्षा होती है, ऐसा यह अर्थात् प्राप्त होता है । किन्तु मेघों के रहने पर भी किसी-किसी समय वर्षा नहीं होती । इस कारण वह यह उपरोक्त अर्थापत्ति व्यभिचार होने से प्रमाण ही नहीं मानी जा सकती ॥ ३ ॥

(इस आक्षेप के उत्तर-सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—उपरोक्त अर्थापत्ति व्यभिचारदोष से ग्रस्त नहीं है—

पदपदार्थ—अनर्थापत्तौ = जो अर्थापत्ति नहीं है उसमें, अर्थापत्त्यभिमानात् = यह अर्थापत्ति है ऐसा अभिमान (भ्रम) होने के कारण ॥ ४ ॥

असति कारणे कार्यं नोत्पद्यत इति वाक्यात्प्रत्यनीकभूतोऽर्थः सति कारणे कार्यमुत्पद्यते इत्यर्थादापद्यते। अभावस्य हि भावः प्रत्यनीक इति। सोऽयं कार्योत्पादः सति कारणेऽर्थादापद्यमानो न कारणस्य सत्तां व्यभिचरति, न खल्वसति कारणे कार्यमुत्पद्यते तस्मान्नानैकान्तिकी।

यत्तु सति कारणे निमित्तप्रतिबन्धात्कार्यं नोत्पद्यत इति, कारणधर्मोऽसौ न त्वर्थापत्तेः प्रमेयम्। किं तर्ह्यस्याः प्रमेयम्? सति कारणे कार्यमुत्पद्यते इति योऽसौ कार्योत्पादः कारणस्य सत्तां न व्यभिचरति तदस्याः प्रमेयम्। एवं तु सत्यनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानं कृत्वा प्रतिषेध उच्यते इति। दृष्टश्च कारणधर्मो न शक्यः प्रत्याख्यातुमिति॥ ४॥

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात्॥ ५॥

भावार्थ—कारण के न होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस वाक्य से विरुद्ध कारण के रहते कार्य होता है। यह अर्थात् प्राप्त होना है, क्योंकि अभाव का भावपदार्थ विरोधी होता है। अतः यह वृष्टि कार्य की उत्पत्ति का कारण मेघों के रहते होना यह अर्थात् प्राप्त होने से मेघरूप कारण की सत्ता को नहीं छोड़ सकता क्योंकि कारण के न रहने पर कभी भी कार्य उत्पन्न नहीं होता, अतः अर्थापत्ति व्यभिचारदोषरहित होने के कारण प्रमाण है॥ ४॥

(चतुर्थ सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—कारण (मेघादिकों के) न रहने पर वृष्टि आदि कार्य उत्पन्न नहीं होता, इस वाक्य से विरुद्ध कारण (मेघादिकों के) रहने पर वृष्टि आदि कार्य होता है, यह अर्थात् प्राप्त होता है, क्योंकि अभावपदार्थ का भावपदार्थ विरोधी होता है, इस कारण। वह यह कारण (मेघादिकों के) रहते वृष्टि आदि कार्यों का होनारूप अर्थ अर्थात् प्राप्त होने के कारण (मेघादिकों) की सत्ता का व्यभिचार नहीं रखता, क्योंकि कारण के न रहते कोई भी कार्य संसार में उत्पन्न नहीं होता। इस कारण अर्थापत्तिप्रमाण व्यभिचारदोष से ग्रस्त न होने से प्रमाण अवश्य है। और जो 'कारण मेघादिकों के न रहने पर भी उसके प्रतिबन्ध (रुकने) से वृष्टि आदि कार्य उत्पन्न नहीं होना।' ऐसा पूर्वपक्षी ने व्यभिचार दिखाया था, वह असंगत है। क्योंकि वह कारण का धर्म है, यह अर्थापत्तिप्रमाण से नहीं जाना जाता। अतः अर्थापत्तिप्रमाण का प्रमेय नहीं है। (प्रश्न)—तो इस अर्थापत्तिप्रमाण से जानने योग्य उसका प्रमेय क्या है? (उत्तर)—मेघादि कारण के रहते वृष्टि आदि रूप कार्य उत्पन्न होता है, इस प्रकार जो वृष्टि आदि कार्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् कार्य वृष्टि का होना अपने मेघादि कारणों की सत्ता का व्यभिचारी नहीं होता, वह इस अर्थापत्तिप्रमाण से जानने योग्य उसका प्रमेय है। ऐसा होने से जो अर्थापत्ति का विषय नहीं है उसे अर्थापत्ति है ऐसा अभिमान कर (समझकर) पूर्वपक्षी ने अर्थापत्ति के प्रमाण होने का तृतीय सूत्र में निषेध किया है, इसलिये उसका आक्षेप नहीं हो सकता और देखने में आनेवाले कारण के धर्म का खण्डन नहीं हो सकता, इस कारण व्यभिचारदोष के कारण अर्थापत्ति प्रमाण ही नहीं है यह पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है॥ ४॥

इस प्रकार चतुर्थ सूत्र में पूर्वपक्षी के अर्थापत्ति के प्रमाण होने में व्यभिचारदोष का खण्डन कर सिद्धान्ती के मत से इसी विषय में दूसरा भी उत्तर देते हुये सूत्रकार कहते हैं—

अर्थापत्तिर्न प्रमाणमनैकान्तिकत्वादिति वाक्यं प्रतिषेधः। तेनानेनार्थापत्तेः प्रमाणत्वं प्रतिषिध्यते न सद्भाव एवमनैकान्तिको भवति। अनैकान्तिकत्वादप्रमाणेनानेन न कश्चिदर्थः प्रतिषिध्यते इति ॥ ५ ॥

अथ मन्यसे नियतविषयेष्वर्थेषु स्वविषये व्यभिचारो भवति, न च प्रतिषेधस्य सद्भावो विषयः? एवं तर्हि—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—प्रतिषेधाप्रामाण्यं च = पूर्वपक्षी का अर्थापत्ति के प्रमाण न होनारूप निषेध भी अप्रमाण होगा, अनैकान्तिकत्वात् = व्यभिचारदोष आने से ॥ ५ ॥

भावार्थ—अर्थापत्ति व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण प्रमाण नहीं है, यह वाक्य पूर्वपक्षी का ही है निषेध, क्योंकि इसी वाक्य से पूर्वपक्षी अर्थापत्ति के प्रमाण होने का निषेध करता है न कि अर्थापत्तिप्रमाण की सत्ता का निषेध करता है, इस प्रकार इस निषेध में भी व्यभिचारदोष होता है, अतः व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण अप्रमाण इस निषेध से किसी विषय का निषेध नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

(पंचम सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण अर्थापत्ति नामक प्रमाण नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षी का वाक्य है निषेध। उस इस वाक्य से अर्थापत्ति के प्रमाण होने का निषेध किया जाता है, न कि अर्थापत्ति की सत्ता का (होने का) इस प्रकार पूर्वपक्षी का निषेध भी अर्थापत्ति के प्रमाण होने का निषेध करता है, किन्तु अर्थापत्ति की सत्ता का निषेध नहीं करता, इस कारण पूर्वपक्षी का निषेध भी व्यभिचारदोषग्रस्त होता है। व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण प्रमाण न होनेवाले इस निषेध से किसी अर्थ का अर्थात् अर्थापत्ति के प्रमाण न होने का निषेध नहीं हो सकता, इस कारण पूर्वपक्षी का अर्थापत्ति के प्रमाण न होने का निषेध असंगत है। (अर्थात् पूर्वपक्षी का निषेध तब व्यभिचारदोषग्रस्त न होगा यदि वह अर्थापत्ति की प्रमाणता तथा सत्ता दोनों का निषेध कर सके न कि व्यभिचारदोषग्रस्त होने से अर्थापत्ति की सत्ता का निषेध कर सकता है, क्योंकि 'जो व्यभिचारी है वह सब नहीं है।' ऐसा ज्ञान नहीं होता, कारण यह कि नित्यता के सिद्ध करने में प्रमेयत्वादि धर्म व्यभिचारी न होने पर भी रहते हैं, यह गूढ भाष्यकार का आशय है) ॥ ५ ॥

(६ वें सूत्र का अवतरण देते हुये पूर्वपक्षी का आक्षेप दिखाकर सूत्र से उत्तर देते हैं कि)—'नियमित विषयवाले पदार्थों में अपने ही विषय में व्यभिचारदोष हुआ करता है, प्रस्तुत में पूर्वपक्षी के निषेध का अर्थापत्ति की सत्ता तो विषय ही नहीं है तो सिद्धान्ती से दिया हुआ पूर्वपक्षी के निषेध में व्यभिचार कैसे हो सकता है' ऐसा यदि तुम (पूर्वपक्षी) मानो तो—

पदपदार्थ—तत्प्रमाण्ये वा = अथवा पूर्वपक्षी के निषेध के प्रमाण मानने पर, न = नहीं होगा, अर्थापत्त्यप्रामाण्यम् = अर्थापत्ति में भी अप्रमाणता ॥ ६ ॥

भावार्थ—अर्थापत्ति का भी कार्य (वृष्ट्यादि) की उत्पत्ति में मेघादि कारण की सत्ता का व्यभिचार न होना ही विषय है निमित्तकारण के प्रतिबन्ध से कार्य की उत्पत्ति न होना यह कारण का धर्म नहीं है इस कारण अर्थापत्ति भी अपने विषय में व्यभिचारदोषग्रस्त न होने के कारण प्रमाण ही है ॥ ६ ॥

अर्थापत्तेरपि कार्योत्पादेन कारणसत्ताया अव्यभिचारो विषयः । न च कारणधर्मो निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यानुत्पादकत्वमिति ॥ ६ ॥

अभावस्य तर्हि प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते । कथमिति ?

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥

अभावस्य भूयसि प्रमेये लोकसिद्धे वैयात्यादुच्यते *नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेरिति* ॥ ७ ॥

अथायमर्थबहुत्वादर्थैकदेश उदाह्रियते—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः ॥ ८ ॥

(६ ठे सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—अर्थापत्ति का भी वृष्टि आदि कार्य की उत्पत्ति में मेघादि रूप कारण की सत्ता का व्यभिचार न होना (विना मेघ के वृष्टि का न होना) ही विषय है, न कि निमित्त मेघ के वायु तथा मेघ के संयोग से प्रतिबंध होने पर वृष्टिरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती यह कारण का धर्म अर्थापत्ति का विषय है, अतः पूर्वपक्षी के निषेध के समान अर्थापत्ति भी अपने विषय में प्रमाण हो सकती है ॥ ६ ॥

(इस प्रकार अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव मानने पर भी वह प्रमाण हो सकती है यह वर्णन करने के पश्चात् अनुपलब्धिरूप अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव मानने पर भी उसे प्रमाण मानना होगा, यह सिद्धान्त करने के लिये प्रथम पूर्वपक्षी के मत से अभाव प्रमाण ही नहीं हो सकता, इस आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—'यदि ऐसा है तो भी अभाव को प्रमाण स्वीकार करना युक्त नहीं है' (प्रश्न—सिद्धान्ती का)—कैसे ? क्योंकि अभाव प्रमाण के बहुत से जानने योग्य प्रमेय विषयों के रहते अर्थात् सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध अभाव ज्ञान तथा उसके व्यवहार दोनों काल्पनिक नहीं हो सकते न तो कल्पना सब प्रकार से असत् पदार्थ को विषय कर सकती है, अतः वैयात्य (ढिठाई) से पूर्वपक्षी यह कहता है—

पदपदार्थ—न = नहीं है, अभावप्रामाण्यं = अनुपलब्धिरूप अभाव में प्रमाणता, प्रमेयाप्रसिद्धेः = प्रमेय विषयों की सिद्धि न होने से ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस कारण अनुपलब्धिरूप अभावप्रमाण मे जानने योग्य कोई प्रमेयरूप विषय ही सिद्ध नहीं है, अतः अभाव नामक कोई प्रमाण नहीं हो सकता । अर्थात् जानने योग्य अभावरूप विषय के ही सिद्ध न होने के कारण अभावज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जो संपूर्ण प्रकार से असत् ही है, वह प्रमाणज्ञान का विषय नहीं होगा, केवल कल्पना से ही संसार के लोक **'नहीं हैं'** ऐसा अभाव का व्यवहार नहीं करते, यह पूर्वपक्ष सूत्र का गूढ अभिप्राय है ॥ ७ ॥

(७ वें सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षिमत से व्याख्या करते हैं कि)—अभाव नामक प्रमाण से जानने योग्य प्रमेय विषय ही असिद्ध है अतः अभाव नामक कोई दूसरा प्रमाण ही नहीं है ॥ ७ ॥

संसार में अनेक प्रकार के अभावप्रमाण से जानने योग्य विषय के उदाहरण हैं, अतः अभाव भी प्रमाण है ऐसा कहते हुये भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुये कहते हैं कि—अब यह अभाव नामक प्रमाण जिसके बहुत से प्रमेय विषयपदार्थ होने के कारण, एक विषय को लेकर सूत्रकार उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—लक्षितेषु = चिह्नयुक्त (रंगीन) कपड़ों में, अलक्षणलक्षितत्वात् = चिह्नरूप रंग से

तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयम्। कथम्? लक्षितेषु वासःसु अनुपादेयेषु उपादेयानामलक्षितानामलक्षितत्वाद् लक्षणाभावेन लक्षितत्वादिति। उभयसन्निधावलक्षितानि वासांस्यानयेति प्रयुक्तो येषु वासस्सु लक्षणानि न भवन्ति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य चानयति, प्रतिपत्तिहेतुश्च प्रमाणमिति॥

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ९ ॥

रहित सादे वस्त्रों के सादेपनारूप लक्षणों से लक्षित होते हैं (जाने जाते हैं) इस कारण, अलक्षितानां = रंग से शून्य सादे वस्त्रों के, तत्प्रमेयसिद्धिः = अभावप्रमाण का प्रमेय विषय सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब हमें आपण (बाजार) से सादा वस्त्र खरीदना होता है तो हम बाजार में जाकर दूकानों पर जिन वस्त्रों में रंग नहीं होता, ऐसे सादे वस्त्रों के रंगरूप इत्यादि चित्र वर्णों का जिन वस्त्रों में अभाव देखते हैं, कि इन वस्त्रों में रंग नहीं है तो इसी रंग के न होने के कारण सादे वस्त्रों को जानकर उन्हें हम खरीदते हैं यह रंग न होना रूप अभावप्रमाण से सादे वस्त्रों को जानना अभावप्रमाण ही का विषय है, अतः अनुपलब्धिरूप अभावप्रमाण भी मानना होगा ॥ ८ ॥

(अष्टम सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—उस अनुपलब्धिरूप अभाव का प्रमेय (जानने योग्य विषय) सिद्ध होता है (प्रश्न)—कैसे? (उत्तर)—लक्षणयुक्त (रंगीन) वस्त्र जो हमें ग्रहण नहीं करने हैं खरीदने नहीं हैं उनके साथ रहनेवाले तथा ग्रहण योग्य (खरीदने के जो योग्य) हैं उन सादे रंगहीन वस्त्रों का रंग न होने के कारण ज्ञान होने से रंगरूप लक्षण के न होने से ही हम उन सादे वस्त्रों को जानते हैं (यदि सादे वस्त्रों में रंग होता तो प्राप्त होता, प्राप्त नहीं होता इस कारण सादे वस्त्र रंगवाले नहीं हैं ऐसा अनुपलब्धि (उपलब्धि के अभाव) रूप प्रमाण से सादे वस्त्र रंगीन नहीं हैं ऐसा अभाव का ज्ञान होता है) आपण (बाजार) में रंगीन तथा सादे दोनों प्रकार के वस्त्र तुम देखोगे उनमें से सादे वस्त्रों को खरीद लाना, ऐसी आज्ञा प्राप्त किया हुआ भाई, पुत्र अथवा नौकर बाजार में जाकर दुकानों पर जिन वस्त्रों में रंगकारी नहीं होती उन सादे वस्त्रों को रंगकारी के न होनेरूप अभावप्रमाण से ही जानता है। और जानकर उन्हीं को खरीदकर ले भी आता है। अतः रंग के न होने के कारण सादे वस्त्रों को जानना, यह प्रमाण है, क्योंकि जिससे यथार्थ ज्ञान होता है वह प्रमाण होता है, अतः अनुमान में यद्यपि अभाव का नैयायिक अन्तर्भाव मानते हैं तो भी वह प्रमाण अवश्य है, ऐसा मानना होगा, अतः पूर्वपक्षी का अभाव को प्रमाण न मानने का आक्षेप संगत नहीं है। **'प्रतिपत्तिहेतुः प्रमाणं'** इस भाष्य से **'लक्षण'** रंग का न होना ही सादे वस्त्र के जानने का कारण है यह सूचित होता है। अतः रंगरूप लक्षण के अभाव को ज्ञानविशिष्ट (सादे) वस्त्र का ज्ञान कराने से अत्यन्त साधक होने के कारण प्रमाण है, यह सूचित होता है ॥ ८ ॥

पूर्वपक्ष का अनुवाद करते हुये सूत्रकार अभाव को प्रमाण मानने की सूत्र ही में युक्ति देते हुये कहते हैं—

पदपदार्थ—असत्यर्थे = सादे वस्त्र में रंगरूप अर्थ के न रहने पर, न = नहीं हो सकता, अभावः—उसका अभाव, इति चेत् = ऐसा कहो, न = नहीं, अन्यलक्षणोपपत्तेः = अन्य रंगीन वस्त्र में वर्तमान लक्षण (रंग) को लेकर सादे वस्त्र में उसका अभाव ज्ञान हो सकने से ॥ ९ ॥

भावार्थ—यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'जिस पदार्थ में जो पूर्व में वर्तमान होकर पश्चात् नहीं रहता

यत्र भूत्वा किञ्चिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते। न चालक्षितेषु वासस्सु लक्षणानि भूत्वा न भवन्ति, तस्मात्तेषु लक्षणाभावोऽनुपपन्न इति। नान्यलक्षणोपपत्तेः, यथाऽयमन्येषु वासस्सु लक्षणानामुपपत्तिं पश्यति नैवमलक्षितेषु। सोऽयं लक्षणाभावं पश्यन्नभावेनार्थं प्रतिपद्यत इति ॥ ९ ॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥

उसका यहाँ अभाव हो सकता है। सादे वस्त्रों में तो पूर्वकाल में रंग रहा ही नहीं अतः रंग का सादे वस्त्रों में अभाव कैसे हो सकता है'। (अर्थात् ध्वंसरूप ही तो अभाव होता है जो भावपदार्थ के निरूपण से ही निरूपण करने योग्य होने के कारण वह प्राप्तिपूर्वक होने से अर्थात् भावपूर्वक होने के कारण जब सादे वस्त्रों में वह प्राप्त ही नहीं है तो उसका अभाव कैसे माना जायगा) तो सिद्धान्ती के मत से सूत्र ही में सूत्रकार उत्तर देते हैं कि ऐसा पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस यह सादे वस्त्र खरीदने वाला मनुष्य जिस प्रकार रंगीन वस्त्रों में रंग देखता है उस प्रकार सादे वस्त्रों में नहीं देखता, अतः सादे वस्त्रों में रंग न देखने से ये वस्त्र सादे हैं ऐसा जानता है। (अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण से प्रमेय के अभाव के जानने की व्यवस्था होती है जो ध्वंसरूप अभाव के समान प्रागभाव में भी समान ही है, क्योंकि लौकिक पुरुष भी दही में दूध में ध्वंस (नाश) को तथा दूध में दही के प्रागभाव को जानते ही हैं, अतः ये सादे वस्त्र रंगे जायँगे ऐसा प्रागभाव का ज्ञान हो सकने के कारण पूर्वपक्षी का ध्वंस लेकर आपत्ति देना असंगत है ॥ ९ ॥

(९ वें सूत्र की व्याख्या करते हुये प्रथम पूर्वपक्षी के आक्षेप का अर्थ भाष्यकार दिखाते हैं कि)—'जिस पदार्थ में वर्तमान होकर कोई नहीं रहता उस पदार्थ में उसका अभाव कहा जाता है। सादे वस्त्रों में तो रंग पूर्व में वर्तमान होकर अब नहीं है ऐसा नहीं होता, अतः सादे वस्त्रों में रंग का अभाव है यह सिद्धान्ती का कहना अयुक्त है जिसे वह अभावप्रमाण का विषय मानता है'। इस आक्षेप का सूत्र ही के मत से उत्तर का अर्थ करते हैं कि)—नहीं, दूसरे रंगीन वस्त्रों के लक्षण (रंग) को लेकर सादे वस्त्रों में उनका अभाव हो सकता है क्योंकि यह सादे वस्त्र खरीदनेवाला मनुष्य दूसरे रंगीन वस्त्रों में रंग का होना देखता है, वैसे सादे वस्त्रों में रंग को नहीं देखता है अतः वह सादे वस्त्र खरीदनेवाला सादे वस्त्रों में रंग को न देखने से यही सादे वस्त्र खरीदने योग्य हैं इस विषय को अच्छी तरह जानता है। अतः अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञान आवश्यक है जिसे अन्यत्र देखकर उसके अभाव का दूसरे में ज्ञान होता है नकि परस्पर विरोधी होने में एक ही में प्रतियोगी तथा अभाव का ज्ञान होता है ॥ ९ ॥

अभाव के प्रमाण होने में आपत्ति देते हुये पुनः पूर्वपक्षी की शंका के आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्सिद्धेः = रंगीन वस्त्रों में रंग का होना, अलक्षितेषु = सादे वस्त्रों में रंग के न रहने का, अहेतुः = कारण नहीं हो सकता ॥ १० ॥

भावार्थ—जिन वस्त्रों में रंग है उनमें उनका न होना विरुद्ध है। और जिन सादे वस्त्रों में रंग नहीं है उनमें भी रंग न होना अयुक्त है। क्योंकि भावरूप प्रतियोगी के अभाव का निरूपण होता है, जबकि सादे वस्त्रों में रंग नहीं है तो उनके अभाव का ज्ञान सादे वस्त्रों में कैसे हो सकता है, अर्थात् रंगीन वस्त्रों में रंग का होना सादे वस्त्रों में उनके अभाव का साधक कैसे हो सकता है, क्योंकि एक ही अधिकरण में वर्तमान हेतु से साध्य की सिद्धि होती है यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ १० ॥

तेषु वासस्सु लक्षितेषु सिद्धिर्विद्यमानता येषां भवति न तेषामभावो लक्षणानाम्। यानि च लक्षितेषु विद्यन्ते लक्षणानि तेषामलक्षितेष्वभाव इत्यहेतुः। यानि खलु भवन्ति तेषामभावो व्याहत इति ॥ १० ॥

न लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः ॥ ११ ॥

न ब्रूमो यानि लक्षणानि भवन्ति तेषामभाव इति। किं तु केषु चिल्लक्षणान्यवस्थितानि अनवस्थितानि केषुचिदपेक्षमाणो येषु लक्षणानां भावं न पश्यति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यत इति ॥ ११ ॥

(१० वें पूर्वपक्षी के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उन लक्षित (रंगीन) वस्त्रों में जिन लक्षण (रंगों) की सिद्धि अर्थात् विद्यमानता है उनका लक्षणों (रंगों) का अभाव उनमें नहीं है और जो लक्षित (रंगीन) वस्त्रों में लक्षण (रंग) विद्यमान हैं उनका अलक्षित (सादे) वस्त्रों में न होना यह साधक हेतु नहीं हो सकता और जो लक्षण (रंग) हैं, उनका अभाव होना उनसे विरुद्ध है। अर्थात् रंगीन वस्त्रों में रंग का न होना सादे वस्त्रों में रंग के अभाव का साधक नहीं हो सकता क्योंकि एक ही आधार में वर्तमान हेतु से साध्य की सिद्धि होती है। प्रस्तुत में रंग है, रंगीन वस्त्रों में, अतः वह उससे भिन्न सादे वस्त्रों में रंग के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता ॥ १० ॥

उक्त आक्षेप का समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं कि—

पदपदार्थ—न = नहीं, लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः = लक्षण के स्थिति की अपेक्षा से सिद्धि होने के कारण ॥ ११ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती के आशय से पूर्वपक्षी के आक्षेप का यह उत्तर है कि हमारा यह कहना है कि हम यह नहीं कहते कि जिस रंगीन वस्त्र में जो रंग रहता है उसी का उसमें अभाव भी रहता है, किन्तु रंगीन वस्त्रों में जो रंग रहता है और सादे वस्त्रों में नहीं रहता। सादे वस्त्र खरीदने वाला मनुष्य जिन वस्त्रों में रंग नहीं देखता उन वस्त्रों के रंग के न रहने से ही जानता है, वह अभाव प्रमाण का विषय है ॥ ११ ॥

(११वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी सिद्धान्ती के मत से व्याख्या करते हैं कि)—हम यह नहीं कहते कि जो रंगरूप लक्षण रंगीन वस्त्रों में विद्यमान है उनका उन्हीं रंगीन वस्त्रों में अभाव भी है किन्तु कुछ वस्त्रों में लक्षण (रंग) है, और कुछ सादे वस्त्रों में वे लक्षण (रंग) नहीं हैं, सादे वस्त्रों को खरीदनेवाला जिन सादे वस्त्रों में लक्षण (रंगों) की विद्यमानता नहीं देखता उन सादे वस्त्रों का लक्षणों (रंगों) के न रहने से ही जानता है ऐसा हम कहते हैं। अर्थात् परस्पर विरुद्ध होने से एक ही आधार में प्रतियोगी रंग तथा उनका अभाव नहीं रह सकता, अतः दूसरे रंगीन वस्त्र पदार्थ में रंगरूप-प्रतियोगी के ज्ञान से सादे वस्त्रों में उनके अभाव का ज्ञान होता है जैसा एक ही भूतल में घट तथा उसके अभाव का ज्ञान नहीं होता किन्तु एक भूतल में घट का ज्ञान तथा दूसरे में घट के अभाव का ज्ञान होता ही है। कारण यह कि अभावपदार्थ का ज्ञान केवल भावपदार्थ के निरूपण के अधीन होता है। आगे होनेवाले भावपदार्थ के ज्ञान अथवा दूसरे स्थल में वर्तमान भावपदार्थ के ज्ञान से प्रागभाव का भी निरूपण हो सकता है अतः प्रागभाव का अभाव है यह नहीं कहा जा सकता, इसी कारण आगे सूत्रकार भी इस विषय को पुष्ट करेंगे ॥ ११ ॥

अभाव को प्रमाण सिद्ध करने के लिये सूत्रकार सिद्धान्तीमत से कहते हैं—

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

अभावद्वैतं खलु भवति प्राक् चोत्पत्तेरविद्यमानता, उत्पन्नस्य चात्मनो हानादविद्यमानता। तत्रालक्षितेषु वासस्सु प्रागुत्पत्तेरविद्यमानतालक्षणो लक्षणानामभावो नेतर इति ॥ १२ ॥

इति द्वादशसूत्रैः प्रमाणचतुष्टयपरीक्षणम्।

"आप्तोपदेशः शब्द" इति प्रमाणभावे विशेषणं ब्रुवता नानाप्रकारः शब्द इति ज्ञाप्यते। तस्मिन् सामान्येन विचारः किं नित्योऽथानित्य इति *विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः।*

पदपदार्थ—प्राग = पूर्व में, उत्पत्तेः = पदार्थ के उत्पत्ति के, अभावोपपत्तेः च = अभाव की सिद्धि होने से भी ॥ १२ ॥

भावार्थ—उत्पत्ति के पूर्व पदार्थ का न होना, तथा उत्पन्न हुये पदार्थ के नाश से न होना ऐसे क्रम से प्रागभाव एवं ध्वंस अभाव ऐसे दो प्रकार के अभाव होते हैं। इन दोनों में सादे वस्त्रों में आगे रंगे जानेवाले होने से उनमें लक्षण (रंगों) का न होना यह (रंग) प्रागभाव ही है न कि रंग का ध्वंस, अतः अभाव अवश्य प्रमाण मानना होगा ॥ १२ ॥

(१२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पदार्थ की उत्पत्ति के पूर्वकाल में उसका न रहना तथा उत्पन्न हुये पदार्थ की आत्मा (स्वरूप) के नाश से न होना, ऐसे दो क्रम से प्रागभाव एवं ध्वंस नामक अभाव हैं। उनमें से लक्षणहीन सादे वस्त्रों में रंगरूप लक्षण (जो सादे वस्त्रों के रंगने से आगे होंगे) रंग के उत्पत्ति के पूर्व में रहनेवाला रंगरूप लक्षणों का प्रागभाव ही है ध्वंस (नाश) अभाव नहीं है। अतः उक्त युक्तियों से अनुपलब्धिरूप अभावप्रमाण से भी अभावरूप प्रमेय का ज्ञान होने के कारण अभाव भी प्रमाण अवश्य है, जिसका नैयायिक पूर्वोक्त प्रकार से अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं ॥ १२ ॥

(२) शब्द के अनित्यता का प्रकरण

पद तथा वाक्य की कूटस्थ (निर्विकार) होने की वैयाकरण मत की शंका का निवारण करने से प्रतिबंधक के निरास के कारण आप्तोक्तता सिद्ध होने से ही नैयायिक मत से वेद की प्रमाणता सिद्ध होगी। अन्यथा वेद को अपौरुषेय मानने के पक्ष में दोष आने से जिस प्रकार अप्रमाणता वेद में आ सकती है उसी प्रकार वेद के अर्थ के ज्ञान के प्रतिपादन करने की इच्छारूप गुण के न होने से भी अप्रामाण्य की शंका हो सकेगी-क्योंकि जिनका ऐसा मूल नहीं है वे लोकव्यवहार में अप्रमाण होते हैं यह देखने में आता है और शब्द में प्रथम अनित्यता सिद्ध होने पर ही आकाश का शब्द गुण है यह सिद्ध होसकेगा जिससे वह श्रोत्रेन्द्रिय से ही गृहीत होता है यह नियम भी बन सकेगा, यह भी प्रयोजन है, नहीं तो गन्धरसरूप स्पर्श तथा शब्द पृथिव्यादिकों के गुण इन्द्रियों के विषय (अर्थ) हैं यह नैयायिक मत भी न बनेगा। इस कारण शब्द के अनित्यता का प्रकरण आगे सूत्रकार उपस्थित कर रहे हैं। इस प्रकरण में सामान्यरूप से शब्द का विचार किया जाता है कि वह नित्य है अथवा अनित्य। वर्णरूप शब्द के अनित्यता का विचार आगे तीसरे प्रकरण में करेंगे। अतः शब्दसामान्यरूप के अनित्यता का विचार प्रारंभ करते हुये सिद्धान्तिमत से शब्द की अनित्यता के साधक १३ वें सूत्र का अवतरण भाष्यकार इस प्रकार देते हैं कि—पूर्वग्रन्थ में **'आप्तोपदेशः शब्दः'** इस सिद्धान्तसूत्र में प्रमाणरूप शब्द में **'आप्त का कहा-**

आकाशगुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मक इत्येके ।

गन्धादिसहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे ।

आकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधर्मको बुद्धिवदित्यपरे ।

महाभूतसङ्क्षोभजः शब्दोऽनाश्रित उत्पत्तिधर्मको निरोधधर्मक इत्यन्ये । अतः संशयः किमत्र तत्त्वमिति ।

अनित्यः शब्द इत्युत्तरम् । कथम् ?—

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥ १३ ॥

हुआ' ऐसा विशेषण देनेवाले (कहनेवाले) सूत्रकार महर्षि गौतम ने शब्द अनेक प्रकार का होता है यह सूचित किया है । उस शब्द में सामान्यरूप से यह विचार होता है कि—शब्द नित्य है अथवा अनित्य है । इस विचार में संशय का कारण क्या है ऐसा प्रश्न होने पर विप्रतिपत्ति (विरुद्धपक्ष) होने से संशय होता है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य है । क्योंकि प्राचीन पूर्वमीमांसादर्शन के माननेवालों का यह मत है कि—शब्द आकाशद्रव्य का गुण है, जो व्यापक तथा नित्य होने से अभिव्यक्त होता है न कि शब्द की उत्पत्ति होती है । अर्थात् अभिघात नामक संयोग से प्रेरित वायु से (जो जब तक वेग रहता है तब तक स्थित रहता है) वर्णरूप शष्कुली (गुझिया) से युक्त आकाश के भाग में समवेत (सम्बद्ध) होता हुआ नित्य ही शब्द प्रगट होता है तथा गन्ध, रूप आदि गुणों के साथ रहनेवाला द्रव्यों में वर्तमान तथा गन्धादि गुणों के समान नित्य होने से पूर्व ही से वर्तमान होता हुआ शब्द अभिव्यक्त (प्रगट होना) रूप धर्म का आधार भी होता है । (अर्थात् पाँच शब्दादि तन्मात्रारूप सूक्ष्मभूतादिकों से उत्पन्न पृथिवी आदि स्थूलद्रव्यों का विकार होने से घोघटादि द्रव्यों में वर्तमान ही शब्द अपने योग्य देश (कर्णादिकों) में रहता हुआ, अहंकार का कार्य करने से व्यापक तथा विषयदेश में वर्तमान श्रोत्रइन्द्रिय को विकारयुक्त करता हुआ पूर्व से वर्तमान ही शब्द गृहीत होता है, ऐसा सांख्यमत के आधार से विद्वान् कहते हैं । तथा वैशेषिकमतावलम्बी उत्पत्ति तथा विनाशधर्म का आधार शब्दगुण ज्ञानगुण के समान आकाश का गुण शब्द अनित्य है, ऐसा मानते हैं एवं पृथिवी आदि महाभूत द्रव्यों के विकार से उत्पन्न भया हुआ शब्द किसी के आधार से नहीं रहता तथा उत्पत्ति एवं निरोध (विनाश) धर्म-वाला है ऐसा बौद्धसिद्धान्त के अनुसार विद्वानों का मत है । इस कारण उक्त मत के परस्पर विरोध के कारण संशय होता है कि इन संपूर्ण पक्षों में से कौन सा पक्ष (मत) वास्तविक है । ऐसे संशय के दूर करने के लिये सूत्रकार कहते हैं कि शब्द अनित्य है ।

प्रश्न—कैसे, क्यों ? उत्तर—

पदपदार्थ—आदिमत्त्वात् = कारणवाला होने से, ऐन्द्रियकत्वात् = श्रोत्ररूप बाह्यइन्द्रिय से गृहीत होने से, कृतकवत् = कार्य के समान, उपचारात् च = व्यवहार होने से भी ॥ १३ ॥

भावार्थ—ऊपर दिखाए हुए शब्द की नित्यता तथा अनित्यता के कहनेवाले अनेक मत होने पर भी शब्द कारणवाला है तथा श्रोत्ररूप इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है । एवं शब्द में घटादि कार्यों के समान कार्य होने का व्यवहार भी होता है, अतः शब्द अनित्य ही है ॥ १३ ॥

आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति। कारणवदनित्यं दृष्टम्। संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति। का पुनरियमर्थदेशना कारणवत्त्वादिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति *सांशयिकमेतत्*— किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य, आहो स्विदभिव्यक्तिकारणमित्यत आह—*ऐन्द्रियकत्वात्*। इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः। किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत् ? अथ संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति।

संयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम्। दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते। न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति, तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः, उत्पादके तु संयोगे संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ग्रहणमिति युक्तं संयोगनिवृत्तौ शब्दस्य

(१३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में आदि शब्द का अर्थ है योनि अर्थात् कारण—क्योंकि जिससे लिया जाता है ऐसी आदि शब्द की व्युत्पत्ति से अर्थ निकलता है। जो कारणवाला होता है वह अनित्य देखा जाता है। इस कारण संयोग एवं विभाग से उत्पन्न होने से शब्द कारणवाला होने के कारण शब्द अनित्य है यह, सिद्ध होता है। (प्रश्न)—सूत्र में कारणवाला होने से इस पद का अर्थ क्या है। (उत्तर)—उत्पत्तिधर्मवाला (उत्पन्न होनेवाला) होने के कारण शब्द अनित्य है तथा शब्द पूर्व में रहकर पश्चात् नहीं रहता इस कारण शब्द विनाशधर्मवाला (विनाशी) भी है यह सिद्ध होता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'यह संशययुक्त विषय है क्योंकि संयोग तथा विभाग शब्द के उत्पन्न होने के कारण हैं अथवा अभिव्यक्ति (प्रगट होने के) कारण हैं' इसी पूर्वपक्षी की शंका के निवारण के लिए सूत्र में **'ऐन्द्रियकत्वात्'** इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण, ऐसा दूसरा शब्द में अनित्यता को सिद्ध करने के लिये हेतु दिया है। जिससे इन्द्रिय के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से गृहीत होनेवाला ऐसा **'ऐन्द्रियकः'** इस पद का अर्थ होता है। पुनः यहाँ पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि 'क्या यह शब्द आलोक के अन्धेरे में (प्रकाश) रूप व्यंजक (प्रकाशक) से घटादि द्रव्यों के रूप प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार वर्तमान ही शब्द को प्रकाशित करनेवाले समान (एक) देश में वर्तमान शब्द की अभिव्यक्ति होती है अथवा भेरी-दण्डादि संयोग से उत्पन्न हुये शब्द से शब्दों की धारा उत्पन्न होते २ श्रोत्र (कान) में पहुँचने पर शब्द का ग्रहण होता है।' इस आक्षेप का सिद्धान्ती के मत से भाष्यकार ऐसा उत्तर देते हैं कि)—संयोगरूप व्यञ्जक के निवृत्त होने पर भी शब्द का ग्रहण हुआ करता है, इस कारण प्रकाशकसंयोग से समान (एक) देश में वर्तमान शब्द का ग्रहण होता है यह पूर्वपक्षी का पक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि फरसे से काष्ठ के कट जाने के पश्चात् काष्ठ तथा फरसे दोनों का संयोग निवृत्त होने पर भी दूर देश में वर्तमान भी प्राणी को शब्द (ध्वनि) का ग्रहण होता है (ध्वनि) सुनने में आती है। व्यंजक (प्रकाशक) के न रहने पर व्यंग्य (प्रकाशयोग्य) का ग्रहण नहीं होता, इस कारण पूर्व से वर्तमान शब्द का संयोग व्यञ्जक है यह पूर्वपक्षी का मत नहीं हो सकता। संयोग को शब्द का उत्पन्न करनेवाला मानने के मत में तो संयोग से उत्पन्न प्रथम शब्द से कर्ण तक शब्दों का समुदाय उत्पन्न होने पर श्रोत्र के समीप उत्पन्न हुये शब्द का कर्ण से ग्रहण होता है, यह संयोगरूप कारण के न रहने पर शब्द का कर्ण

ग्रहणमिति। इतश्च शब्द उत्पद्यते नाभिव्यज्यते कृतकवदुपचारात्। तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते तीव्रं सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं, मन्दं दुःखमिति, उपचर्यते च तीव्रः शब्दो, मन्दः शब्द इति।

व्यञ्जकस्य तथाभावाद् ग्रहणस्य तीव्रमन्दता रूपवदिति चेद्। न। *अभिभवोपपत्तेः।* संयोगस्य व्यञ्जकस्य तीव्रमन्दतया शब्दग्रहणस्य तीव्रमन्दता भवति न तु शब्दो भिद्यते, यथा प्रकाशस्य तीव्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति? तच्च नैवम्, अभिभवोपपत्तेः। तीव्रो भेरीशब्दो मन्दं तन्त्रीशब्दमभिभवति न मन्दः। न च

से ग्रहण होता है "यही नैयायिकों का मत संगत है यह सिद्ध होता है।" (यहाँ पर कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि–'शब्द स्थिर एवं नित्य है, इस विषय को ही यह 'गकार है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) सिद्ध करती है इसीको अनुकूलता के लिए व्यापकगुण अथवा द्रव्यरूप शब्द के प्रगट होने के लिए आत्मा के प्रयत्न से प्रेरणा किये वायु तथा वेगकाल तक रहते हुये श्रोत्र अर्थात् श्रोत्रसंयुक्तविशेष शब्द का संस्कार करने के कारण व्यञ्जक होते हैं क्योंकि समानदेश में वर्तमान तथा समान ही इन्द्रियों से गृहीत होनेवालों का व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जकभाव का नियम नहीं होता ऐसा देखने में नहीं आता है इस आपत्ति को उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा वहन नहीं करती है। अतः उक्त प्रत्यभिज्ञा के प्रभाव से शब्द की कार्यता के विषय का बाध होने से शब्द स्थिर (नित्य) है यह सिद्ध होता है' इस मत के निरासार्थ आगे भाष्यकार कहते हैं कि—इस कारण भी शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त (प्रगट) नहीं होता, क्योंकि शब्द में कृतक (कार्य) के समान व्यवहार होता है, कारण यह कि कार्य पदार्थों में तीव्र (तीक्ष्ण) है, मन्द (मन्दा) है, ऐसा व्यवहार होता है। जैसे—मुझे तीव्र (अत्यन्त अधिक) सुख है, मुझे मन्द (कम) सुख है, मुझे तीव्र दुःख है मुझे मन्द (कम) दुःख है। इस प्रकार कार्य सुख-दुःखादिकों में व्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार शब्द (ध्वनि) तीव्र है, मन्द है ऐसा भी व्यवहार होता है। अर्थात् तीव्रता, मन्दता, अनुनासिकता, अनुनासिकता आदिवर्णरूप शब्द के धर्म उपाधिप्रयुक्त हैं या नहीं ऐसा संदेह होने पर, वर्णों में सम्बद्ध उपरोक्त अनुनासिक होना आदि प्रतीत होनेवाले धर्म वस्तुतः गकारादि वर्णों के ही हैं औपाधिक नहीं है अतः एक काल में उपरोक्त विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध होने के कारण गकारादि वर्ण भिन्न-भिन्न हैं। यही मानना युक्त है (यहाँ भाष्यकार ने '**कृतक के समान व्यवहार होना**' यह हेतु संपूर्ण और भी शब्द के अनित्यता के साधक हेतुओं का सग्रह करता है यह सूचित करता है। पुनः पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार शंका दिखाते हैं कि)—अन्धकार में घटादिरूप के दिखानेवाले व्यंजक दीप की तीव्रता तथा मन्दता के कारण जिस प्रकार रूप स्पष्ट तथा अस्पष्ट दिखाई पड़ता है उसी प्रकार संभोगरूप शब्द के व्यञ्जक की तीव्रता तथा मन्दता के कारण ही शब्द के ग्रहण में भी तीव्रता तथा मन्दता होती है, ऐसा मानने से शब्द व्यंग्य स्थिर तथा नित्य है यह सिद्ध होगा' तो इस शंका का समाधान भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—अभिभव होने के कारण पूर्वपक्षिमत ठीक नहीं है। अर्थात् 'कण्ठताल्वादि संयोगरूप व्यञ्जक की तीव्रता तथा मन्दता के कारण शब्द के ग्रहण में तीव्रता तथा मन्दता होती है, न कि शब्द भिन्न है, जिस प्रकार अन्धकार में दीपरूप व्यञ्जक की तीव्रता तथा मन्दता से घटादि रूप का स्पष्ट तथा अस्पष्ट ग्रहण (ज्ञान) होता है' ऐसा यदि पूर्वपक्षी का आशय हो तो वह भी ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अभिभव, दूसरे को तिरस्कारकर रोकना) होने से। क्योंकि तीव्र (तीखी) भेरी (नगाड़े) की ध्वनि, मन्द तन्त्री (तार) के ध्वनि को अभिभूत करती है

शब्दग्रहणमभिभावकं शब्दश्च न भिद्यते। शब्दे तु भिद्यमाने युक्तोऽभिभवः तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यत इति।

अभिभवानुपपत्तिश्च व्यञ्जकसमानदेशस्याभिव्यक्तौ प्राप्त्यभावात्। व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते शब्द इत्येतस्मिन्पक्षे नोपपद्यतेऽभिभवः। न हि भेरीशब्देन तन्त्रीस्वनः प्राप्त इति।

आप्राप्तेऽभिभव इति चेत्? शब्दमात्राभिभवप्रसङ्गः। अथ मन्येतासत्यां प्राप्तावभिभवो भवतीति। एवं सति यथा भेरीशब्दः कश्चित्तन्त्रीस्वनमभिभवति एवमन्तिकस्थोपादानमिव दवीयःस्थोपादानानपि तन्त्रीस्वनानभिभवेद् अप्राप्तेरविशेषात। तत्र कचिदेव भेर्यां प्रणादितायां सर्वलोकेषु समानकालास्तन्त्रीस्वना न श्रूयेरन्निति। नानाभूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रप्रत्यासत्तिभावेन

(दवा देती है), नकि मन्द ध्वनि। इसमें शब्द (ध्वनि) का ग्रहण अभिभावक (दबानेवाला) नहीं हो सकता और पूर्वपक्षी के मत में शब्द तो भिन्न है। नहीं, जिस मत में शब्द अनित्य होने के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं उनके मत में एक शब्द से दूसरे शब्द का उपरोक्त उदाहरण से अभिभव (दबाना) हो सकता है। इस कारण शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता है यही मानना युक्त है तथा शब्द को स्थिर तथा नित्य मानने के मत में उपरोक्त अभिभव (एक शब्द से दूसरे का दबना) हो भी नहीं सकता। क्योंकि संयोगादिरूप व्यञ्जक के समानदेश में वर्तमान स्थिर शब्द की अभिव्यक्ति होने पर दवानेवाले शब्द की जिसे वह दबाता है प्राप्ति ही नहीं हो सकती, अर्थात् 'शब्द के व्यञ्जक संयोग के समान (एक) देश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है' इस पक्ष में अभिभव नहीं हो सकता, क्योंकि भेरी (नगाड़े) की ध्वनि सितार के तार की ध्वनि तक पहुँची ही नहीं है, इस कारण शब्द नित्य नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'भेरी की ध्वनि सितार के तार की ध्वनि तक न पहुँच कर ही उसे दवा देगी' तब तो संपूर्ण ही शब्दों (ध्वनियों) का अभिभव होने लगेगा। (अर्थात् पूर्वपक्षी के मत से यदि ऐसा माना जाय कि—'भेरी का शब्द सितार तक न पहुँच कर ही उसे दबा देगा' तो ऐसा होने पर जिस प्रकार भेरी की ध्वनि किसी सितार के तार की ध्वनि को दबा देती है, इसी प्रकार समीप में वर्तमान वाद्य के स्वर (ध्वनि) के समान, अतिदूर में रहनेवाले वाद्य के ध्वनियों को भी भेरी की ध्वनि दबा देगी, क्योंकि दोनों के समीप न पहुँचनारूप अप्राप्ति में कोई विशेष नहीं है। ऐसा होने से कहीं भी नगाड़े के बजाने पर संपूर्ण भूमण्डल पर उस काल के सम्पूर्ण सितारों के तारों की ध्वनि सुनने में नहीं आवेगी। इस कारण नैयायिकों के मत से जब कि एकसंयोग से उत्पन्न ध्वनिरूप शब्दों के सन्तान (समूह) अनेक माने जाते हैं जो सन्तान द्वारा किसी के पास प्रत्यासन्न होने पर (पहुँचने पर) सुनाई पड़ती है उसमें किसी एक मन्दशब्द का तीव्र शब्द से अभिभव (दबाना) बन सकता है। यदि पूर्वपक्षी 'अभिभव किसे कहते हैं'? ऐसा प्रश्न करे, तो ग्रहण के योग्य पदार्थ के समान जातिवाले पदार्थ के ग्रहण से दूसरे पदार्थ का ग्रहण न होना 'अभिभव' कहाता है। जिस प्रकार ग्रहणयोग्य उल्का के प्रकाश का सूर्य के प्रकाश से ग्रहण न होना। (अर्थात् दूसरे पदार्थ से अपने समान जातिवाले दूसरे पदार्थ का अभिभव होता है, नकि अपने से अपना ही) क्योंकि मध्याह्नकाल के उल्का के प्रकाश का सम्बन्ध रखनेवाला वस्त्र अतिसमर्थ सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होनेवाले अपनी आत्मा (स्वरूप) का अपने से ही प्रकाश करता है। इसी प्रकार गकाररूप शब्द भी तीव्र ध्वनि से

कस्य चिच्छब्दस्य तीव्रेण मन्दस्याभिभवो युक्त इति। कः पुनरयमभिभवो नाम? ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणम् अभिभवः। यथोल्काप्रकाशस्य ग्रहणार्हस्यादित्यप्रकाशेनेति ॥ १३ ॥

न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥१४॥

न खलु *आदिमत्त्वादनित्यः* शब्दः। कस्माद्? व्यभिचारात्। आदिमतः खलु घटाभावस्य दृष्टं नित्यत्वम्। कथमादिमान्? कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति। कथमस्य नित्यत्वम्! योऽसौ कारणविभागेभ्यो न भवति न तस्याभावो भावेन कदाचिन्निवर्त्यत इति। *यदप्यैन्द्रियकत्वादिति, तदपि व्यभिचरति*

प्रकाशित होनेवाले आत्मा (स्वरूप) रूपी गकार को तभी दबावेगा, यदि यह मन्दध्वनि से प्रगट होनेवाला गकार तीव्रध्वनि से प्रगट होनेवाले गकार से भिन्न हो। मध्याह्नकाल का उल्का का प्रकाश तो अपने से भिन्न सूर्य के प्रकाश से आत्म होने के कारण दबाया जाता है। अतः स्थिर तथा नित्य शब्द में व्यंग्यव्यञ्जकभाव मानने पर भी निर्वाह नहीं हो सकता, इस कारण शब्द को जो कार्य तथा अनित्य मानना है वह युक्तिसंगत है ॥ १३ ॥

उक्त नैयायिकों के सिद्धान्त में शब्द की अनित्यता के साधक 'आदिमत्त्व आदि हेतुओं' में व्यभिचारदोष दिखाने के लिए पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—न = नहीं, घटाभावसामान्यनित्यत्वात् = घटाभाव तथा सामान्य (जाति) पदार्थ के नित्य होने से, नित्येषु अपि = नित्यपदार्थों में भी, अनित्यवत् = अनित्य के समान, उपचारात् च = व्यवहार होने के कारण भी ॥ १४ ॥

भावार्थ—आदि (कारण) वाले घटाभाव में नित्यता होने के कारण व्यभिचार आने से आदिमत्तारूप हेतु शब्द में अनित्यता का साधक नहीं हो सकता एवं इन्द्रियग्राह्यतारूप ऐन्द्रियकत्व हेतु भी घटत्वादि जातियों के इन्द्रिय से ग्रहण होने पर भी नित्य होने से व्यभिचार आने के कारण शब्द में अनित्यता की सिद्धि नहीं कर सकता। वृक्ष का प्रदेश (एकदेश) है कंबल का एकदेश है। ऐसे व्यवहारों के समान आत्मा का प्रदेश है, आकाश का प्रदेश है, ऐसा नित्यआत्मादि पदार्थों में भी अनित्यता का व्यवहार दिखाई पड़ने से व्यभिचारदोष के कारण कार्यता का व्यवहाररूप हेतु भी शब्द में अनित्यता का साधक नहीं हो सकता। अर्थात् 'आकाश का प्रदेश है,' इस व्यवहार में वस्तुतः प्रदेशरहित भी आकाश में प्रदेश का कहना नित्य भी आकाशपदार्थ में अनित्य होना प्रगट करता है उसी प्रकार वस्तुतः नित्य ही शब्द में अनित्यता की उक्ति हो सकती है ॥ १४ ॥

(१४वें सूत्र की व्याख्या करते हुये पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार कहते हैं कि)—आदि (कारण) वाला होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता। (प्रश्न)—किस कारण? (उत्तर)—व्यभिचारदोष आने के कारण। क्योंकि उत्पन्न होनेवाले ध्वंसरूप अभाव में नित्यता देखने में आती है। (प्रश्न)—वह ध्वंसरूप अभाव आदि (कारण) वाला कैसे है? (उत्तर)—घट के कारण (अवयवों के विभाग पृथक् होने) से घटरूपकार्य नहीं रहता। (प्रश्न)—यह घट ध्वंसरूप अभाव नित्य क्यों है? (उत्तर)—जो यह घट का ध्वंस कारणों के पृथक् होने से घट नहीं रहता, उस घट का अभाव घटरूप भावपदार्थ से निवृत्त नहीं होता, (अर्थात् ध्वंस का नाश नहीं होता यदि हो तो पुनः वही घट होने लगेगा) और जो इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण शब्द अनित्य है ऐसा सिद्धान्ती ने कहा था वह भी सामान्य (जाति) पदार्थ के इन्द्रिय से गृहीत होने पर भी नित्य होने के कारण व्यभिचारदोषग्रस्त है तथा जो कार्य

ऐन्द्रियकं च सामान्यं नित्यं चेति । यदपि कृतकवदुपचारादिति । एतदपि व्यभिचरति । नित्येष्वनित्यवदुपचारो दृष्टो यथा हि भवति वृक्षस्य प्रदेशः कम्बलस्य प्रदेशः, एवमाकाशस्य प्रदेशः, आत्मनः प्रदेश इति भवतीति ॥ १४ ॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥ १५ ॥

नित्यमित्यत्र किं तावत्तत्त्वम् ? अर्थान्तरस्यानुत्पत्तिधर्मकस्याऽऽत्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वं, तच्चाभावे नोपपद्यते । भाक्तं तु भवति यत्तत्रात्मानमहासीद्यद् भूत्वा न भवति न जातु तत्पुनर्भवति तत्र नित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थ इति । तत्र यथाजातीयकः शब्दो, न तथाजातीयकं कार्यं किंचिन्नित्यं दृश्यत इत्यव्यभिचारः ॥ १५ ॥

के समान व्यवहार होने से शब्द अनित्य है ऐसा सिद्धान्ती ने कहा था, वह भी व्यभिचारदोषग्रस्त है। क्योंकि जिस प्रकार यह वृक्ष का प्रदेश है, यह कंबल का प्रदेश है इस प्रकार अनित्य वृक्षादिकों में प्रदेश का व्यवहार होता है, उस प्रकार यह आकाश का प्रदेश है, यह आत्मा का प्रदेश है; ऐसा नित्य आकाशादिकों में भी व्यवहार होता है इस कारण सिद्धान्ती का कार्य के समान व्यवहार होना यह हेतु अनित्यता के सिद्ध करने में व्यभिचारदोषग्रस्त है। अतः सिद्धान्ती के दोनों हेतुओं से शब्द में अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

उक्त दोषों का समाधान करते हुये सूत्रकार सिद्धान्तिमत से कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्वभाक्तयोः = मुख्य तथा गौण दोनों व्यवहारों के, नानात्वविभागात् = नाना-प्रकार के विभाग होने से, अव्यभिचारः = उक्त व्यभिचारदोष नहीं होगा ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होता तथा नष्ट भी नहीं होता उसीमें मुख्य नित्यता होती है यह अभावपदार्थ में नहीं हो सकती, किन्तु उसमें गौण नित्यता है। जो घटादि अपने को नष्ट करने के पश्चात् नहीं रहता और जो पुनः नहीं होता ऐसा घट का ध्वंस अभाव होने के कारण वह नित्य आत्मादि पदार्थों के समान प्रतीत होने से नित्य कहाता है वस्तुतः उत्पन्न होने से वह नित्य नहीं है। अतः जिस जाति का शब्द है वैसा कोई कार्य नित्य नहीं दिखाई पड़ता। अतः पूर्वपक्षी का दिया व्यभिचार नहीं आ सकता ॥ १५ ॥

(१५ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'**नित्यं**' यह नित्य है, इस प्रतीति में वास्तविक तत्त्व (नित्यता) क्या है ? (इस प्रश्न का यह उत्तर होता है कि)—उत्पत्ति धर्म से रहित जिस पदार्थ के आत्मा (स्वरूप) की हानि (नाश) नहीं होता, उसे ही वस्तुतः नित्य कहते हैं। यही वास्तविक नित्यता है। यह मुख्य नित्यता अभाव में नहीं हो सकती किन्तु अभाव में गौण नित्यता है। क्योंकि जिस पदार्थ ने अपने स्वरूप को छोड़ दिया था अर्थात् जो पूर्व में वर्तमान होकर आगे नहीं रहता, अर्थात् पुनः वह नहीं होता, क्योंकि यदि ध्वंसता नाश माना जाय तो पुनः वही घट हो जायगा। अतः उत्पत्ति होने पर भी नाश न होने के कारण आत्मादि नित्यपदार्थों के समान यह घटाभाव पदार्थ भी गौण नित्य है। उसमें जिस जातिवाला शब्द है उस जाति का कोई कार्य नित्य नहीं दिखाई पड़ता। इस कारण कारणवान् होने पर भी घटाभाव के नित्य होने के कारण जो पूर्वपक्षी ने व्यभिचारदोष दिया था, वह नहीं हो सकता क्योंकि घटाभाव वास्तविक नित्य नहीं है ॥ १५ ॥

यदपि सामान्यनित्यत्वादिति इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यमैन्द्रियकमिति—

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १६ ॥

नित्येष्वव्यभिचार इति प्रकृतम्। नेन्द्रियग्रहणसामर्थ्याच्छब्दस्यानित्यत्वम्। किं तर्हि ? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात् सन्तानानुमानं तेनानित्यत्वमिति ॥ १६॥

यदपि नित्येष्वप्यनित्यवदुपचारादिति। न—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानात् नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ॥१७॥

एवमाकाशप्रदेश आत्मप्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारणद्रव्यमभिधीयते यथा कृतकस्य। कथं ह्यविद्यमानमभिधीयते ?। अविद्यमानता च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः। किं तर्हि तत्राभिधीयते ? संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वम् परिच्छिन्नेन

(भाष्यकार १६ वें सूत्र का अवतरण देते हुये कहते हैं कि)—जो चतुर्दश सूत्र में पूर्वपक्षी ने कहा था कि 'सामान्य (जाति) पदार्थ के इन्द्रिय से ग्रहण होने पर भी वह नित्य है' इस कारण—क्योंकि इन्द्रिय के सन्निकर्ष से गृहीत होनेवाला ही ऐन्द्रियक होता है—

पदपदार्थ—सन्तानानुमानविशेषणात = शब्द के सन्तान के अनुमानरूप विशेषण होने से ॥१६॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का सामान्य के नित्य होने पर भी उसका इन्द्रिय के सन्निकर्ष से ग्रहण होता है इस दिये पूर्वपक्षी के व्यभिचारदोष के वारण करने का यह आशय है कि—'यह इन्द्रियग्राह्य होने के कारण अनित्यता होती है' ऐसा नहीं कहते किन्तु शब्द की अभिव्यक्ति का निषेध करते हैं क्योंकि व्यक्त होनेवाला ऐन्द्रियक होता है ऐसा मानना युक्त नहीं है। यहाँ पर इन्द्रिय के सन्निकर्ष से गृहीत होना ही ऐन्द्रियकता होती है, उससे शब्द के सन्तान का अनुमान किया जाता है, सन्तान में रहने के कारण यह शब्द नित्य कहाता है यह इस सिद्धान्तसूत्र का आशय है ॥ १६ ॥

(१६ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में नित्य सामान्यादि पदार्थों में व्यभिचारदोष नहीं है यह प्रस्तुत है। इन्द्रिय से ग्रहण होता है इस सामर्थ्य से शब्द में अनित्यता नहीं है। (प्रश्न)—तो किससे अनित्यता है ? (उत्तर)—इन्द्रिय के सन्निकर्ष से ग्रहणयोग्य होने के कारण शब्द के सन्तान (परम्परा) का अनुमान किया जाता है, उससे शब्द में अनित्यता सिद्ध होती है ॥ १६ ॥

(१७ वें सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुये भाष्यकार पूर्वपक्षी के चतुर्दश सूत्र में कहे हुए तीसरे व्यभिचारदोष का अनुवाद करते हैं कि)—जो 'नित्य पदार्थों में भी अनित्यपदार्थ के समान व्यवहार होता है, इस कारण व्यभिचारदोष आता है यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था वह नहीं है—

पदपदार्थ—कारणद्रव्यस्य = कारण (अवयव) रूप द्रव्य के, प्रदेशशब्देन = प्रदेश है इस शब्द से, अभिधानात = कथन होने के कारण ॥ १७ ॥

भावार्थ—वृक्ष, कम्बल आदि विशेष कार्य द्रव्यों में प्रदेश शब्द से उनके अवयवरूप कारण द्रव्य ही लिए जाते हैं, वह आकाश आत्मादि द्रव्यों में नहीं हो सकते। अतः वास्तविक आकाश का प्रदेश है इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

(१७वें सिद्धान्तसूत्र में आवश्यक विषय का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—कारण द्रव्य का प्रदेश शब्द से कथन होने के कारण नित्यपदार्थों में भी व्यभिचार नहीं होता, ऐसा सूत्र का अर्थ है। इस प्रकार 'आकाश का यह प्रदेश है। यह आत्मा का प्रदेश है—ऐसे व्यवहार में आकाश तथा आत्माद्रव्य का कारण (अवयव) द्रव्य नहीं कहा जाता, जैसे कंबल वृक्ष आदि कार्य

द्रव्येणाकाशस्य संयोगो नाकाशं व्याप्नोति अव्याप्य वर्त्तत इति तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यं न ह्यामलकयोः संयोग आश्रयं व्याप्नोति, सामान्यकृता च भक्तिराकाशस्य प्रदेश इति अनेनात्मप्रदेशो व्याख्यातः। संयोगवच्च शब्दबुद्ध्यादीनामव्याप्यवृत्तित्वमिति। परीक्षिता च तीव्रमन्दता शब्दतत्त्वं न भक्तिकृतेति। कस्मात्पुनः सूत्रकारस्यास्मिन्नर्थे सूत्रं न श्रूयते इति ? शीलमिदं भगवतः सूत्रकारस्य बहुष्वधिकरणेषु द्वौ पक्षौ न व्यवस्थापयति तत्र शास्त्रसिद्धान्तात्तत्त्वावधारणं प्रतिपत्तुमर्हतीति मन्यते। शास्त्रसिद्धान्तस्तु न्यायसमाख्यातमनुमतं बहुशाखमनुमानमिति ॥ १७ ॥

अथापि खल्विदमस्ति इदं नास्तीति कुत एतत्प्रतिपत्तव्यमिति प्रमाणत उपलब्धेरनुपलब्धेश्चेति। अविद्यमानस्तर्हि शब्दः—

द्रव्यों का। (प्रश्न)--यदि आकाश तथा आत्मा का प्रदेश नहीं है तो 'आकाश का प्रदेश' इत्यादि कैसे कहा जाता है ? (उत्तर)—आकाश तथा आत्मा का प्रदेश है, यह किसी भी प्रमाण से उनके प्रदेशों के उपलब्ध न होने से सिद्ध होता है। (प्रश्न)—तो आकाश का प्रदेश इस व्यवहार में क्या कहा जाता है ? (उत्तर)—आकाश द्रव्य के संयोग की अव्याप्यवृत्तिता (एकदेश में होना) कहा जाता है। क्योंकि परिमाणयुक्त घटादि द्रव्यों के साथ व्यापक आकाश द्रव्य का संयोग आकाश में व्याप्त नहीं है—अर्थात् व्याप्त न होकर रहता है। यही इसकी कंवल, वृक्ष आदि कार्य द्रव्यों की समानता है, क्योंकि दो आमलक (आँवलों) परस्पर संयोग दोनों आँवलेरूप द्रव्यों में व्याप्त नहीं होता। इसी सामान्य (साधारण) धर्म को लेकर यह (गौण) व्यवहार होता है कि यदि आकाश का प्रदेश है। इसी से आत्मा का प्रदेश है। उसका भी गौणरूप से व्यवहार जान लेना चाहिए। संयोग के समान शब्द, ज्ञान आदि कभी गुण अव्याप्यवृत्ति (व्याप्त न होकर रहनेवाले) होते हैं, यह भी जान लेना चाहिए। शब्द में तीव्रता तथा मन्दता वास्तविक है—गौण नहीं, इसकी यह परीक्षा पहले ही कर चुके हैं। (प्रश्न)—वस्तुतः आकाश प्रदेशरहित है, आत्मा प्रदेशरहित है, इस विषय को सूत्रकार ने सूत्र में क्यों नहीं कहा ? (उत्तर)—भगवान् महर्षि गौतम का यह स्वभाव है, कि वे बहुत से प्रकरणों में दो पूर्व तथा उत्तरपक्ष की स्थापना नहीं करते हैं, अर्थात् पूर्वपक्ष भी नहीं दिखाते। क्योंकि केवल उत्तरपक्ष (सिद्धान्त) के कहने से ही शास्त्र के सिद्धान्त का वास्तविक ज्ञान हो सकता है—ऐसा सूत्रकार समझते हैं। न्यायशास्त्र-मात्र से प्रसिद्ध, शास्त्र का सिद्धान्त तो अनेक शाखाओं में फैला हुआ अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध होनेवाला सूत्रकार सर्वत्र मानते हैं। (कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि सत्रहवें सूत्र में उक्त दोनों विषयों का कथन होने के कारण यह प्रश्न ही असंगत है। किन्तु कारणद्रव्य के प्रदेश शब्द में कथन होने से यह सूत्र आकाशादि में साक्षात् प्रदेशशून्यता को नहीं कहता, इस कारण प्रश्न हो सकता है। इसी असंगति की सम्भावना से वार्तिककार ने प्रश्न का दूसरे प्रकार से वर्णन किया है कि—'या शब्द के सन्तान कहने में यह सूत्र नहीं है' ऐसा प्रश्न करनेवाले का आशय है ॥ १७ ॥

(आगे सिद्धान्तिमत के १८ वें सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—(प्रश्न)—यह ऐसा है, अर्थात् शब्द अनित्य है, यह ऐसा नहीं है, अर्थात् शब्द नित्य नहीं है,—यह कैसे माना जाय ? (उत्तर)—प्रमाण से ज्ञात होने से तथा प्रमाण से ज्ञात न होने के कारण। इसलिये जिससे शब्द (उत्पत्ति के पूर्व) अविद्यमान शब्द है—'अथापि' इत्यादि वातावरणभाष्य का यह आशय है कि—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १८ ॥

प्रागुच्चारणान्नास्ति शब्दः। कस्मात्? अनुपलब्धेः। सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्य,एतन्नोपपद्यते कस्माद्? *आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात्।* अनेनावृतः शब्दो नोपलभ्यते, असन्निकृष्टश्चेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यत इति सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति। उच्चारणमस्य व्यञ्जकं तदभावात्प्रागुच्चारणादनुपलब्धिरिति? किमिदमुच्चारणं नामेति? विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठ्यस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वादिप्रतिघातः, यथास्थानं प्रतिघाताद्वर्णाभिव्यक्तिरिति। संयोगविशेषो वै प्रतिघातः, प्रतिषिद्धं

ज्ञात न होनेवाले शब्द की सत्ता है या नहीं यह प्रश्न का विषय है। अर्थात् जो शब्द को नित्य मानते हैं उनसे हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि, यह है, वह नहीं है, यह आप कैसे मानते हैं? ऐसा प्रश्न करने पर उन्हें यही कहना होगा कि प्रमाण से ज्ञात तथा अज्ञात होने के कारण। जिससे अनिष्ट आपत्ति आ जायगी यही दिखाने के लिये 'प्रागुच्चारणात्' इत्यादि सिद्धान्ती का सूत्र है। किन्तु वार्तिककार ने दूसरे प्रकार से भी इस सूत्र का ऐसा अवतरण दिया है कि—'जो पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों को घटादि पदार्थ अनित्य हैं' यह सम्मत है, उसीको लेकर पूर्वपक्षी का यह प्रश्न होगा कि—जो आप घटादिकों को अनित्य मानते हैं, यह क्यों मानते हैं? यदि ऐसा प्रश्न करने पर घटादि कार्य होने से अनित्य हैं ऐसा अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध करेंगे वही अनुमान शब्द में भी अनित्यता की सिद्धि कर सकता है—यही सूत्रकार ने सूत्र में सूचित किया है॥

पदपदार्थ—प्राक् = पूर्व में, उच्चारणात् = शब्द के उच्चारण करने के, अनुपलब्धे = शब्द की प्राप्ति न होने से, आवरणाद्यनुपलब्धेः च = और वर्तमान शब्द के प्रतिबन्धक आवरणादिकों के उपलब्ध न होने से भी॥ १८॥

भावार्थ—शब्द के उच्चारण के पूर्वकाल में शब्द का ग्रहण नहीं होता तथा यदि शब्द नित्य एवं स्थिर होने के कारण उच्चारण के पूर्व में है तो उसका ग्रहण न होने में प्रतिबन्ध करनेवाले को आवरण (रोकनेवाले) का भी ग्रहण नहीं होता, इस कारण शब्द नित्य (स्थिर) नहीं हो सकता। किन्तु उच्चारण से वह शब्द उत्पन्न होने के कारण अनित्य है। यही मानना संगत है॥१८॥

(१८ वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—उच्चारण करने के पूर्वकाल में शब्द नहीं है। (प्रश्न)—किस कारण? (उत्तर)—प्राप्त न होने से। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'शब्द वर्तमान होने पर भी उसके उपलब्ध होने के प्रतिबन्धक आवरणादिकों के रहने से शब्द की प्राप्ति नहीं होती' तो यह नहीं हो सकता। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—क्योंकि शब्द उपलब्ध न होने में कारणरूप आवरण (ढाँकनेवाला) आदिकों का ग्रहण नहीं होता। अर्थात् इससे आवृत्त (ढंका हुआ) शब्द उपलब्ध (प्राप्त) नहीं होता, अथवा व्यवधान के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) नहीं है, इत्यादि शब्द के उपलब्ध न होने का कारण गृहीत नहीं होता। इस कारण यह सिद्ध होता है कि उच्चारण किया हुआ शब्द अनित्य होने के कारण नहीं हो है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'उचारण करना स्थिर तथा नित्य का व्यंजक (प्रकाशक) है, अतः उचारणरूप व्यंजक के न रहने के कारण उचारण के पूर्वकाल में शब्द के रहने पर भी उपलब्धि (ग्रहण) नहीं होता' (तो इसके उत्तर में सिद्धान्तिमत से भाष्यकार प्रश्न करते हैं कि)—यह उचारण क्या है अर्थात् उचारण किसे कहते हैं? इस प्रश्न का स्वयं समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—

च संयोगस्य व्यञ्जकत्वं, तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणम्, अपि त्वभावादेवेति।
सोऽयमुच्चार्यमाणः श्रूयते श्रूयमाणश्चाभूत्वा भवतीति अनुमीयते। ऊर्ध्वं चोच्चारणान्न श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान्न श्रूयत इति कथम्? आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम्, तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मकः शब्द इति ॥ १८ ॥

एवं च सति तत्त्वं पांशुभिरिवावाकिरन्निदमाह—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ १९ ॥

वर्ण को कहने की इच्छा से उत्पन्न हुए आत्मा के प्रयत्न से प्रेरणा किये हुए—जठर (उदर) में वर्तमान वायु का कण्ठ, तालु आदि स्थानों से प्रतिघात (टक्कर) होता है, अपने-अपने वर्ण के प्रकट होनेवाले स्थानों में यह वायु का प्रतिघात होने से वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् आकारादि वर्ण मुख से निकलते हैं। जिसके विशेष संयोग को ही प्रतिघात कहते हैं। जो संयोग स्थिर तथा नित्य शब्द का व्यंजक नहीं हो सकता, यह हम पूर्व में ही कह चुके हैं अर्थात् काष्ठ तथा फरसे के संयोग न रहने पर भी शब्द सुनाई पड़ता है। यह पूर्व में कहा हुआ स्मरण करना चाहिये। इस कारण संयोगरूप व्यंजक के न रहने से स्थिर तथा नित्यशब्द का ग्रहण नहीं होता यह नहीं हो सकता। किन्तु उच्चारण के पूर्व शब्द नहीं था इसी कारण उसका ग्रहण नहीं होता यही मानना संगत है। अतः वह यह शब्द उच्चारण करने पर सुनाई देता है और सुनाई देने वाला शब्द न रह कर पुनः होता है—ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है। तथा उच्चारण करने के पश्चात् जो शब्द नहीं सुनाई देता वह पूर्व में रहने के पश्चात् नहीं रहता, इससे सिद्ध होता है कि वह शब्द न होने के कारण ही सुनाई नहीं देता। (प्रश्न)—कैसे? (शब्द क्यों नहीं है)। (उत्तर)—शब्द के वर्तमान होने पर उसके न सुनाई देने में कोई आवरण (प्रतिबन्धक) उपलब्ध नहीं होता, ऐसा पूर्व में ही कहा गया है। इस कारण शब्द उत्पत्ति तथा नाशधर्मवाले होने से अनित्य है, यह सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

(इस प्रकार सिद्धान्ती के मत से शब्द अनित्य है यह सिद्ध होने पर भी पूर्वपक्षी असदुत्तररूप जाति के द्वारा आक्षेप करता है—इस अभिप्राय से भाष्यकर पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण ऐसा देते हैं कि)—ऐसा होने पर (शब्द की अनित्यता सिद्ध होने पर) शब्द की अनित्यतारूप वास्तविक विषय का पांशु (धूलि) से प्रहार करता हुआ, अर्थात् आँख में धूल झोंकता हुआ पूर्वपक्षी यह कहता है)—

पदपदार्थ—तदनुपलब्धेः = आवरण की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) के, अनुपलम्भात् = उपलंभ (प्राप्ति) न होने के कारण, आवरणोपपत्तिः = वर्तमान ही शब्द के ग्रहण न होने में आवरण (प्रतिबन्धक) है यह सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती के मत से शब्द को अनित्य मानना असंगत है, क्योंकि वर्तमान नित्य शब्द की उच्चारण के पूर्व जो उपलब्धि नहीं होती, इसमें आवरण (प्रतिबन्धक) हो सकता है, क्योंकि जिस प्रकार न प्राप्त होने वाली भी आवरण की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है, उसी प्रकार न प्राप्त होनेवाला भी आवरण (प्रतिबन्धक) है यह सिद्ध हो सकता है। क्योंकि आवरण की अनुपलब्धि की उपलब्धि हो नहीं सकती, कारण यह कि अनुपलब्धि और उपलब्धि का परस्पर में स्वरूपों का विरोध है। अतः अनुपलब्धि ही उसे मानना होगा। ऐसा होने से आवरण की अनुपलब्धि के अभाव के होने से आवरण की उपलब्धि है यह सिद्ध हो जाता है, जिससे वर्तमान शब्द की उपलब्धि होवे

यद्यनुपलम्भादावरणं नास्ति, आवरणानुपलब्धिरपि तर्ह्यनुपलम्भान्नास्तीति तस्या अभावादप्रतिषिद्धमावरणमिति । कथं पुनर्जानीते भवान्नावरणानुपलब्धिरुपलभ्यत इति । *किमत्र ज्ञेयं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् समानम्* । अयं खल्वावरणम् अनुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते नावरणमुपलभे इति, यथा कुड्येनावृतस्यावरणमुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते सेयमावरणोपलब्धिवदावरणानुपलब्धिरपि संवेद्यैवेति । एवं च सत्यपहृतविषयमुत्तरवाक्यमस्तीति ॥ १६ ॥

अभ्यनुज्ञावादेन तूच्यते जातिवादिना—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २० ॥

में आवरण (प्रतिबन्धक) है, यह सिद्ध हो सकता है, क्योंकि कोई भी ज्ञान (उपलब्धि) निराधार नहीं होता—यह पूर्वपक्षी के जातिउत्तर का गूढ़ आशय है) ॥ १९ ॥

(१९ वें सूत्र की पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'यदि वर्तमान शब्द के उच्चारण के पूर्व ग्रहण न होने में आवरण (प्रतिबन्धक) की उपलब्धि न होने के कारण आवरण नहीं है, तो उस आवरण की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) का भी उपलम्भ (प्राप्ति) न होने से आवरणानुपलब्धि (आवरण का ग्रहण न होना) भी नहीं है—अतः उस (अनुपलब्धि) के न होने के कारण आवरण (प्रतिबन्धक) का निषेध नहीं हो सकता' । (प्रश्न सिद्धांती का)—यह आप (पूर्वपक्षी) कैसे जानते हैं कि आवरण की अप्राप्ति की उपलब्धि (ग्रहण) नहीं होती ? (उत्तर पूर्वपक्षी का)—इसमें क्या जानना है । प्रत्येक आत्मा को अनुभव से सिद्ध होने के कारण समान ही है । क्योंकि वर्तमान शब्द के ग्रहण न होने में आवरण को न प्राप्त करनेवाले प्रत्येक आत्मा को मुझे शब्द के ग्रहण न होने में किसी प्रतिबन्धक (आवरण) की प्राप्ति नहीं हो रही है, ऐसा अनुभव होता है । जिस प्रकार कुड्य (भीत) से आवृत (ढंके हुये) शब्द के न सुनाई देने में भीतरूप आवरण (प्रतिबन्धक) को प्राप्त करनेवाले प्रत्येक आत्मा को भीतरूप आवरण का अनुभव हुआ करता है । वह यह प्रतिबन्धक की उपलब्धि (ज्ञान) के समान आवरणों की उपलब्धि न होना भी प्रत्येक आत्मा को स्वयं अनुभव से जानने योग्य ही है । (सिद्धान्ती के मत से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ऐसा होने से जातिरूप उत्तरवाक्य के विषय का अपहार (बाध) हो जाता है, (अर्थात् यदि मानसप्रत्यक्षरूप ज्ञान से आवरणों की अनुपलब्धि का ग्रहण होता है तो पूर्वप्रदर्शित व्यभिचारदोष न होगा तथा आवरण की सत्ता भी न सिद्ध होगी । इस कारण पूर्वपक्षी का उन्नीसवें सूत्र में कहा हुआ जातिरूप असदुत्तर वाक्य विषय का अपहार हो जाता है, यह सिद्धान्ती का गूढ़ आशय है) ॥ १९ ॥

(इस प्रकार सिद्धान्ती के वचन को मानकर भी जातिवाद से पुनः आपत्ति देता हुआ पूर्वपक्ष कहता है । इस अभिप्राय से पूर्वपक्षसूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—सिद्धान्तिमत को स्वीकार कर भी जातिवादी पूर्वपक्षी ऐसा कहता है कि—

पदपदार्थ—अनुपलंभात् अपि = ग्रहण न होने से भी, अनुपलब्धिसद्भावात् = अनुपलब्धि की सत्ता होने से, न = नहीं हो सकती, आवरणानुपपत्ति = वर्तमान शब्द के ग्रहण न होने में आवरण (प्रतिबंधक) की असिद्धि, अनुपलंभात् = अग्रहण से ॥ २० ॥

भावार्थ—यदि उपरोक्त दोष के भय से गृहीत न होनेवाली भी आवरण की अनुपलब्धि है यह माना जाय तो अनुपलब्धि में व्यभिचारदोष आ जायगा, अर्थात् जैसे गृहीत न होने पर आवरण की

यथाऽनुपलभ्यमानाप्यावरणानुपलब्धिरस्ति एवमनुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति यद्यभ्यनुजानाति भवान् अनुपलभ्यमानावरणानुपलब्धिरस्तीति अभ्यनुज्ञाय च वदति नास्त्यावरणमनुपलम्भादित्येतद् एतस्मिन्नप्यभ्यनुज्ञावादे प्रतिपत्तिनियमो नोपपद्यत इति ॥ २० ॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ २१ ॥

यदुपलभ्यते तदस्ति, यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, इति अनुपलम्भात्मकमसदिति व्यवस्थितम् । उपलब्ध्यभावश्चानुपलब्धिरिति । सेयमभावत्वान्नोपलभ्यते।

अनुपलब्धि है, यह सिद्ध होता है; उसी प्रकार ग्रहण न होने पर भी आवरण है—यह भी सिद्ध हो जायगा। क्योंकि यदि सिद्धांती यह माने कि ग्रहण न होने पर भी आवरण की अनुपलब्धि है, और उसे मान कर वह कहे कि ग्रहण न होने के कारण आवरण नहीं है तो इस प्रकार के स्वीकार करने में विशेष हेतु के न होने से प्रत्यक्षनिषेध का नियम न हो सकेगा ॥ २० ॥

(२० वें पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'जिस प्रकार ग्रहण न होने पर भी शब्दग्रहण के आवरणों की अनुपलब्धि है, उसी प्रकार ग्रहण न होने पर भी शब्दग्रहण के प्रतिबंधक (आवरण) हैं (यह भी मानना पड़ेगा)। यदि आप (सिद्धांती) ग्रहण न होने पर भी आवरणों की अनुपलब्धि है ऐसा स्वीकार करें और स्वीकार कर ऐसा कहें कि ग्रहण न होने के कारण शब्दग्रहण के प्रतिबंधक आवरण नहीं हैं। ऐसा स्वीकार करने के पक्ष में विशेष हेतु के न होने के कारण प्रत्यक्ष आवरण का निषेध नहीं हो सकता ॥ २० ॥

(उपरोक्त अनुपलब्धि सत्ता नामक जाति (असदुत्तर) से आक्षेप करने वाले पूर्वपक्षी का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—अनुपलंभात्मकत्वात् = प्राप्ति के अभावस्वरूप होने से, अनुपलब्धेः = अप्राप्ति के, अहेतुः = पूर्वपक्षी का आवरण की अप्राप्ति प्राप्त न होने से यह हेतु नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

भावार्थ—आवरण की अप्राप्ति के, आवरण की प्राप्ति के निषेधस्वरूप होने के कारण—'आवरण की अप्राप्ति के प्राप्त न होने से' यह उन्नीसवें सूत्र में कहा हुआ आवरण की सिद्धि होने में हेतु नहीं हो सकता—क्योंकि वह असिद्ध है। अर्थात् उस जाति के न होनेवाले को लेकर पूर्वपक्षी का निषेध होने से पूर्वपक्षी का उत्तर असत् (दुष्ट) है, क्योंकि जिस जाति का शब्द नित्य है, उसी जाति का कुछ भी नित्य देखने में नहीं आता—यह सिद्धांतसूत्र का अभिप्राय है ॥ २१ ॥

(२१ वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—जो विधि करनेवाले प्रमाण से प्राप्त होता है वह वर्तमान होता है और जो निषेध करनेवाले प्रमाण से प्राप्त (नहीं) होता है वह वर्तमान नहीं है। इस कारण जो पदार्थ उपलब्ध (प्राप्त) नहीं होता वह असत् (नहीं है), यह सिद्ध होता है। प्राप्त न होना ही अनुपलब्धि (अप्राप्ति) कहाती है। वह यह (अनुपलब्धि) अप्राप्ति अभावरूप होने से विधायक प्रमाण से उपलब्ध नहीं होती और आवरण (प्रतिबंधक) तो सत् (वर्तमान) पदार्थ होता है। अतः वह यदि हो तो उसकी प्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु वर्तमान शब्द के न सुनाई देने में प्रतिबंधक (आवरण) उपलब्ध नहीं होता, अर्थात् नहीं मिलता। इस कारण वर्तमान स्थिरशब्द का प्रतिबन्धक कोई नहीं है—यह सिद्ध होता है। इस कारण उसमें पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'आवरण की असिद्धि नहीं है, क्योंकि उस असिद्धि की उपलब्धि

सच्च खल्वावरणं तस्योपलब्ध्या भवितव्यं, न चोपलभ्यते तस्मान्नास्तीति। तत्र यदुक्तं नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भादित्ययुक्तमिति ॥ २१ ॥

अथ शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिजानानः कस्माद्धेतोः प्रतिजानीते—

अस्पर्शत्वात् ॥ २२ ॥

अस्पर्शमाकाशं नित्यं दृष्टमिति, तथा च शब्द इति ॥ २२ ॥

सोऽयमुभयतः सव्यभिचारः स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यः। अस्पर्शं च कर्मानित्यं दृष्टम्। अस्पर्शत्वादित्येतस्य साध्यसाधर्म्येणोदाहरणम्—

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २३ ॥

(प्राप्ति) नहीं होती'—यह असंगत है। अर्थात् आवरण की अनुपलब्धि की उपलब्धि न होने के कारण आवरण की सिद्धि होती है। यह जातिवादी का उत्तर हेतु नहीं हो सकता और सिद्धांती के मत में आवरण का निषेध हो सकता है, क्योंकि आवरण का उपलब्ध न होना यह अप्राप्तिरूप अनुपलंभस्वरूप है नकि अनुपलंभ का विषय है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा को अनुभव से सिद्ध अनुपलंभ नहीं हो सकता। इसी विषय को भाष्यकार ने **'अनुपलभ्यते'** आदि सूत्र की व्याख्या में दिखाया है ॥ २१ ॥

(अग्रिम शब्दनित्यतासाधक पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार सिद्धान्ती के पक्ष से प्रश्न दिखाते हैं अथवा शिष्य प्रश्न करता है कि)—शब्द नित्य है ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाला मीमांसक किस हेतु से उक्त प्रतिज्ञा करता है ?—

पदपदार्थ—अस्पर्शत्वात् = स्पर्शरहित होने से ॥ २२ ॥

भावार्थ—मीमांसक कहता है कि स्पर्शरहित आकाशद्रव्य नित्य देखने में आता है, शब्द भी स्पर्शरहित है, अतः वह भी आकाश के समान नित्य है यह सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

(२२ वें सूत्र की पूर्वपक्षिमत से व्याख्या करते हैं कि)—'आकाशरूप द्रव्य स्पर्शरहित होने के कारण नित्य है' ऐसा देखने में आता है, वैसा (स्पर्शरहित) ही शब्द है। अतः वह भी नित्य है ॥

(अग्रिम सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—वह यह मीमांसक का शब्द नित्यतासाधक अस्पर्शतारूप हेतु अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों व्यभिचारदोष से दुष्ट है, क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् होकर भी नित्य होते है (अतः अस्पर्शतारूप कारण के न रहने पर भी नित्यता होने से व्यतिरेक व्यभिचार) आता है और स्पर्शवान् न होने पर भी कर्म अनित्य देखने में आता है अतः अस्पर्शतारूप कारण रहने पर भी नित्यता न होने से अन्वय व्यभिचाररूप दोष भी आता है। **'अस्पर्शत्वात्'** इस पूर्वपक्षी के शब्द में नित्यतासाधक हेतु का साध्य (नित्यता) के समानधर्मवाला उदाहरण—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, कर्मनित्यत्वात् = कर्मपदार्थ के स्पर्शरहित होने पर भी अनित्य होने के कारण ॥ २३ ॥

भावार्थ—यदि मीमांसक अस्पर्श होनेरूप हेतु से शब्द में नित्यता सिद्ध करे तो उसका इस हेतु का साध्य के समानधर्म को लेकर उदाहरण नहीं मिल सकता कि जो अस्पर्श होता है वह नित्य होता है, क्योंकि कर्मपदार्थ स्पर्शरहित होने पर भी नित्य नहीं होता। अतः उपरोक्त प्रकार से अन्वय व्यभिचारदोष आने से यह अस्पर्शत्वरूप हेतु दुष्ट हो जाता है तो उससे नित्यता शब्द

साध्यवैधर्म्येणोदाहरणम्—

नाणुनित्यत्वात् ॥ २४ ॥

उभयस्मिन्नुदाहरणे व्यभिचारान्न हेतुः ॥ २४ ॥

अयं तर्हि हेतुः—

सम्प्रदानात् ॥ २५ ॥

सम्प्रदीयमानमवस्थितं दृष्टं, सम्प्रदीयते च शब्द आचार्येणान्तेवासिने, तस्मादवस्थित इति ॥ २५ ॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २६ ॥

में कैसे सिद्धि होगी ? भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या अवतरण में ही दिखा दी है, अतः इसकी व्याख्या पुनः नहीं की है ॥ २३ ॥

(भाष्यकार अग्रिम सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—अन्वय व्यतिरेक नित्यतारूप साध्य के विरुद्धधर्म से व्यतिरेक का उदाहरण है—

पदपदार्थ—न = नहीं, अणुनित्यत्वात् = परमाणुओं के नित्य होने से ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमाणुओं में स्पर्श रहने पर भी वे नित्य होते हैं, अर्थात् अस्पर्शत्वरूप कारण न रहने पर भी नित्यतारूप कार्य होने के कारण व्यतिरेकव्यभिचारदोष आ जाता है। अतः अस्पर्शतारूप हेतु से नित्यतारूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४ ॥

(२४ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप दोनों उदाहरण में उपरोक्त प्रकार से व्यभिचारदोष होने के कारण पूर्वपक्षी का नित्यतासाधक अस्पर्शत्व हेतु नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

यद्यपि स्पर्शरहित कर्मपदार्थ को लेकर उपरोक्त दोनों प्रकार के व्यभिचार हो सकते हैं तथापि नित्यअणुओं में व्यभिचार के दिखाने से कृतकत्व तथा अनित्य के समान अस्पर्शत्व तथा नित्यत्व की समव्याप्ति नहीं है, यह सिद्ध होता है।

(अग्रिम पूर्वपक्षसूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—तो हम शब्द में नित्यता सिद्ध करने के लिये यह हेतु देंगे—

पदपदार्थ—संप्रदानात् = शब्द दिया जाता है इस कारण ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ किसी को दिया जाता है वह स्थिर होता है, यह संसार में देखने में आता है, उपदेशरूप शब्द भी गुरु से शिष्य को दिया जाता है। अतः शब्द नित्य है ॥ २५ ॥

(२५ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—दूसरे को दिया जानेवाला पदार्थ स्थित देखा जाता है, गुरु से शिष्य को उपदेशरूप शब्द भी दिया जाता है, इस कारण शब्द स्थिर होने से नित्य है ॥ २५ ॥

उक्त पूर्वपक्ष का सूत्रकार खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—तदन्तरालानुपलब्धेः = देने तथा लेनेवाले दोनों के मध्य में शब्द के न मिलने से, अहेतुः = संप्रदान शब्द की नित्यता का साधक नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

भावार्थ—जिस गुरु से जिस शिष्य को उपदेशरूप शब्द दिया जाता है, उन दोनों के मध्य में वह उपदेशरूप शब्द स्थित है इसमें क्या प्रमाण है, प्रमाण न होने के कारण शब्द मध्य में स्थित होने से नित्य है यह कैसे सिद्ध होगा ॥ २६ ॥

येन सम्प्रदीयते यस्मै च, तयोरन्तरालेऽवस्थानमस्य केन लिङ्गेनोपलभ्यते । सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः सम्प्रदातुरपैति सम्प्रदानं च प्राप्नोति इत्यवर्जनीयमेतत् ।। २६ ।।

अध्यापनादप्रतिषेधः ।। २७ ।।

अध्यापनं लिङ्गमसति सम्प्रदानेऽध्यापनं न स्यादिति ।। २७ ।।

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ।। २८ ।।

समानमध्यापनमुभयोः पक्षयोः, संशयानिवृत्तेः, किमाचार्यस्थः शब्दोऽन्ते-

---

(२६ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस गुरु से जिस शिष्य को उपदेशरूप शब्द दिया जाता है उन दोनों गुरु तथा शिष्य के मध्य में इस उपदेशरूप शब्द का कहना किस हेतु से सिद्ध होता है । क्योंकि दिया जानेवाला स्थिर पदार्थ ही दाता से हटकर ग्रहण करनेवाले के पास पहुँचता है यह नियम है ।। २६ ।।

२६ वें सूत्र में दिये हुए शब्द की नित्यता के साधक 'संप्रदान'रूप हेतु के विवरणरूप से पूर्वपक्षी कहता है कि—

पदपदार्थ—अध्यापनात् = पढ़ाने के कारण, अप्रतिषेधः = शब्द की स्थिरता का निषेध नहीं हो सकता ।। २७ ।।

भावार्थ—गुरु से शिष्य को दिया हुआ उपदेशरूप शब्द गुरु तथा शिष्य इन दोनों के मध्य में स्थित होता है, इसमें अध्यापन (पढ़ाना) ही साधक लिङ्ग है, अतः शब्द नित्य है ।। २७ ।।

(२७ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अध्यापन (पढ़ाना) शब्द के नित्य होने में लिङ्ग साधक हेतु है । क्योंकि विना शिष्य को उपदेश दिये अध्यापन (पढ़ाना) न हो सकेगा । यहाँ पर दाता तथा प्रतिगृहीता इन दोनों के मध्य में उपदेशरूप शब्द है, अध्यापन होने से, गुरु से शिष्य को दिया जाने से, धनुषविद्या को जाननेवाले गुरु से शिष्य को दिये जानेवाले बाणादिकों के समान यह अनुमान सूचित होता है ।। २७ ।।

(उक्त पूर्वपक्षी शब्द को नित्यतासाधक हेतु में आपत्ति देते हुए सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—उभयोः = दोनों, पक्षयोः = शब्द के नित्यता तथा अनित्यता मतों में, अन्यतरस्य = किसी नित्य अथवा अनित्य शब्द का, अध्यापनात् = अध्यापन हो सकने से, अप्रतिषेधः = शब्द की अनित्यता का निषेध नहीं हो सकता ।। २८ ।।

(२८ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—शब्द के नित्य तथा अनित्य मानने के दोनों पक्षों में सन्देह के निवृत्त न होने से अध्यापन (पढ़ाना) समान ही है । अर्थात् गुरु से वर्तमान उपदेशरूप शब्द अन्तेवासी (शिष्य) के समीप जाता है, यह अध्यापन शब्द का अर्थ है, अथवा नृत्य (नाचने) के उपदेश के समान ग्रहण किये उपदेशरूप शब्द का अनुकरण (पश्चात् करना) अध्यापन शब्द का अर्थ है ? इस प्रकार के संदेह के कारण अध्यापन उपदेशरूप शब्द के शिष्य को देने का साधक नहीं हो सकता । अर्थात् उपरोक्त संशय का जनक होने से पूर्वपक्षी का

वासिनमापद्यते तदध्यापनम् ? आहोस्विन्नृत्योपदेशवद् गृहीतस्यानुकरणमध्यापनमिति । एवमध्यापनमलिङ्गं सम्प्रदानस्येति ॥ २८ ॥

अयं तर्हि हेतुः—

अभ्यासात् ॥ २९ ॥

अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम् । पञ्चकृत्वः पश्यतीति रूपमवस्थितं पुनः पुनर्दृश्यते । भवति च शब्देऽभ्यासः, दशकृत्वोऽधीतोऽनुवाको, विंशतिकृत्वोऽधीत इति तस्मादवस्थितस्य पुनः पुनरुच्चारणमभ्यास इति ॥ २९ ॥

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३० ॥

शब्द की नित्यता का साधक अध्यापनरूप हेतु, हेतु नहीं हो सकता—यह सूत्रकार का आशय है । यहाँ भाष्य में 'अलिङ्गं' इस पद से अध्यापन संप्रदान का सिद्धसाधन दोष के कारण लिङ्ग नहीं है यह अर्थ सूचित होता है । अर्थात् सिद्धान्ती का यह आशय है कि हम भी गुरुरूप दाता से उच्चारण किया हुआ उपदेशरूप शब्द, शब्द के सन्तान (समुदाय, परम्परा) द्वारा दान का विषय होता है। अतः अध्यापन शब्द की स्थिरता (नित्यता) का साधक नहीं हो सकता) ॥ २८ ॥

(पूर्वपक्षिमत से शब्द के नित्य होने में दूसरा हेतु देनेवाले पूर्वपक्षिसूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—तो यह शब्द में नित्यतासाधकहेतु होगा—

पदपदार्थ—अभ्यासात् = बारंबार आवृत्ति होने से ॥ २९ ॥

भावार्थ—जिसकी बारंबार आवृत्ति होती है, वह पदार्थ स्थिर देखने में आता है। जैसे 'पाँच बार देखता है' ऐसा कहने से जिस पदार्थ को वह पाँच बार देखता है, वह पाँच बार देखा हुआ पदार्थ स्थिर (नित्य) होता है, नकि अस्थिर (अनित्य) । उसी प्रकार 'उस छात्र ने दश बार अनुवाक का अध्ययन किया' ऐसा कहने से वह अनुवाक (वेद का विशेष भाग) स्थिर (नित्य) है, यह भी सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

(२९ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अभ्यास (आवृत्ति) किया हुआ पदार्थ स्थिर (नित्य) देखने में आता है। 'पाँच बार देखता है' ऐसा कहने से स्थिर रहनेवाले पदार्थ का ही रूप पुनः-पुनः देखा जाना है। ऐसे ही शब्द में भी अभ्यास (आवृत्ति) होती है कि 'इस छात्र ने दस बार अनुवाकरूप वेद के विशेष भाग का अध्ययन किया, इसने बीस बार अनुवाक का अध्ययन किया' इत्यादि । इस कारण स्थिर ही शब्द का पुनः पुनः (बारंबार) उच्चारण करना ही अभ्यास होता है । अतः शब्द स्थिर तथा नित्य है ॥ २९ ॥

उपरोक्त शब्दनित्यतासाधक अभ्यासरूप हेतु का सूत्रकार सिद्धान्ती के मत से खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, अन्यत्वे अपि = भेद होने पर भी, अभ्यासस्य = अवृत्ति के, उपचारात् = व्यवहार होने के कारण ॥ ३० ॥

भावार्थ—'तुम दो बार नाचो, तीन बार नाचो; दो बार भोजन करता है, दो बार हवन करता है', इत्यादि व्यवहार नृत्य, भोजन, हवन इसके भिन्न होने पर भी देखने में आता है, अतः उसी का अभ्यास होता है यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत है। अतः अभ्यास से शब्द स्थिर (नित्य) है यह सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

अनवस्थानेऽप्यभ्यासस्याभिधानं भवति द्विर्नृत्यतु भवान् त्रिर्नृत्यतु भवानिति, द्विरनृत्यत् त्रिरनृत्यद् द्विरग्निहोत्रं जुहोति द्विर्भुङ्क्ते । एवं व्यभिचारात् ॥

प्रतिषिद्धहेतावन्यशब्दस्य प्रयोगः प्रतिषिध्यते—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥ ३१ ॥

यदिदमन्यदिति मन्यसे तत् स्वार्थेनानन्यत्वाद् अन्यन्न भवति, एवमन्यताया अभावः, तत्र यदुक्तमन्यत्वेऽप्यभ्यासोपचारादित्येतदयुक्तमिति ॥ ३१ ॥

(३० वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अस्थिर विषय में भी अभ्यास (आवृत्ति) कही जाती है । जैसे 'आप दो बार नाचें, आप तीन बार नाचें, उसने दो बार नृत्य किया, उसने तीन बार नृत्य किया; वह दो बार अग्निहोत्र-हवन करता है; वह दो बार भोजन करता है' इत्यादि । अतः नृत्य, हवन तथा भोजन के भिन्न होने पर भी अभ्यास देखने में आता है, इस कारण स्थिर नित्य एक ही का अभ्यास होता है—यह पूर्वपक्षी का मत असंगत है ॥ ३० ॥

उक्त सिद्धान्तसूत्र में वाक्छल द्वारा आपत्ति देनेवाले पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि—इस प्रकार एक तथा भिन्न दोनों में अभ्यास होने के कारण व्यभिचारदोष आने से पूर्वपक्षी के अभ्यासरूप हेतु का निषेध होने पर तथा अनित्यों में ही अभ्यास होता है, यह नियम नहीं है एवं अभ्यास के स्वरूप का ज्ञान न होने से अभ्यासरूप हेतु असिद्ध भी है, क्योंकि एक ही विषय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति अथवा एक आकार को विषय करने वाला भी अभ्यास होता है। जिससे यह नृत्यादि अभ्यास क्या एक ही नृत्य को विषय करता है, अथवा अनेक के एक आकार को विषय करता है, इस प्रकार पूर्वपक्षी का अभ्यासरूप हेतु संदिग्ध सिद्ध होने से भी सूत्र के 'अन्यत्वे' इस अन्य शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता—इस आशय से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अन्यत् = जो भिन्न है, अन्यस्मात् = उसी भिन्न से, अनन्यत्वात् = भिन्न न होने से, अनन्यत् = अभिन्न ही है, इति = इस कारण, अन्यत्वाभावः = संसार में कोई अन्य पदार्थ ही नहीं है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का अन्य होने पर भी अभ्यास का व्यवहार होता है, यह कहना ही असंगत है, क्योंकि संसार में अन्य पदार्थ हो ही नहीं सकता। कारण यह कि जिसको वह अन्य (भिन्न) कहता है वह भी उसी अन्यरूप स्वरूप से अभिन्न होने के कारण अनन्य (अभिन्न) ही है। अतः संसार में जिस अन्य पदार्थ में (भिन्नता) हो ही नहीं सकती ॥ ३१ ॥

(३१ वें छलवादी पूर्वपक्षी के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि—जिस इस पदार्थ को आप (सिद्धांती) अन्य (भिन्न) है ऐसा मानते हैं वह अन्य पदार्थ अपने स्वरूप से अनन्य (अपने से भिन्न न होने के कारण) अन्य (भिन्न) नहीं हो सकता। इस प्रकार संसार में अन्यता (भिन्नता) का अभाव ही है। अतः सिद्धान्ती ने जो 'अन्य (भिन्न) होने पर भी अभ्यास (आवृत्ति) का व्यवहार होता है' ऐसा कहा था वह यह अयुक्त है, क्योंकि संसार में कोई अन्य (भिन्न) पदार्थ है नहीं। अर्थात् यदि जगत् से 'अन्यत्' भिन्न नामक कोई पदार्थ हो तो सिद्धान्ती भेद में भी अभ्यास का व्यवहार होने से पूर्वपक्षी के मत में व्यभिचारदोष दे सकता है, किन्तु यही (अन्य) ही जगत् में कोई पदार्थ नहीं है यह वाक्छलवादी पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ३१॥

शब्दप्रयोगं प्रतिषेधतः शब्दान्तरप्रयोगः प्रतिषिध्यते—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अन्यस्मादन्यतामुपपादयति भगवान्, उपपाद्य चान्यत् प्रत्याचष्टे अनन्यदिति च शब्दमनुजानाति प्रयुङ्क्ते चानन्यदिति। एतत् समासपदमन्यशब्दोऽयं प्रतिषेधेन सह समस्यते। यदि चात्रोत्तरं पदं नास्ति कस्यायं प्रतिषेधेन सह समासः? तस्मात्तयोरनन्यान्यशब्दयोरितरोऽनन्यशब्द इतरमन्यशब्दमपेक्षमाणः सिद्ध्यतीति तत्र यदुक्तमन्यताया अभाव इत्येतदयुक्तमिति ॥ ३२ ॥

अस्तु तर्हीदानीं शब्दस्य नित्यत्वम् ?

(छलवादी पूर्वपक्षी का समाधान करते हुए सिद्धान्ती के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—सिद्धान्ती के 'नहीं, अन्य (भिन्न) ही पर भी अभ्यास का व्यवहार होता है'। इस ३० वें सूत्र में कहे हुए अन्य शब्द के प्रयोग का निषेध करनेवाले पूर्वपक्षी का 'अनन्य' अन्य नहीं इस दूसरे शब्द का सूत्रकार निषेध करते हैं—

पदपदार्थ—तदभावे = उस अन्य (भिन्न) का अभाव होने पर, न अस्ति = नहीं है, अनन्यता (अन्य का न होना), तयोः = उन दोनों अन्य (भिन्न) तथा अनन्य (भिन्न नहीं) के, इतरेतरापेक्षासिद्धेः = परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होने से ॥ ३२ ॥

भावार्थ—यदि संसार में 'अन्यत्' भिन्न है, ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता तो अनन्यत् अन्य नहीं, यह भी प्रयोग नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य (भिन्न) की अपेक्षा से अनन्य (भिन्न नहीं) तथा अनन्य (भिन्न न होने) की अपेक्षा से अन्य (भिन्न सिद्ध होता है। अर्थात् यदि अन्य शब्द का प्रयोग न हो तो आपका (पूर्वपक्षी) का अनन्य शब्द का भी प्रयोग नहीं हो सकता ॥३२॥

(३२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—आप पूर्वपक्षी अन्य पदार्थ का अर्थ अपने से अभिन्नता को कहते हैं, और अन्य पदार्थ की अभिन्नता को मानकर अन्यता का खण्डन करते हैं—और 'अनन्यत्' अन्य नहीं है इस शब्द को स्वीकार करते हैं—और 'अनन्यत्' अन्य नहीं है ऐसा शब्द प्रयोग भी करते हैं। किन्तु 'अनन्यत्' इस पद में 'अन्य नहीं सो अनन्यत् नञ् तत्पुरुष समास है, क्योंकि 'न' नहीं इस निषेध के साथ अन्य शब्द का समास है, यदि इस समास में 'अन्य' यह उत्तरपद न हो तो इस समास में किसका 'न' इस नञ् पद का समास होगा। इस कारण उन दोनों 'अन्य' तथा 'अनन्य' शब्दों में से दूसरा 'अनन्य' यह शब्द दूसरे अन्य शब्द की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है। इस कारण छलवादी पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'अन्यता' (भिन्न होने) का संसार में अभाव है, वह यह कहना असंगत है। अर्थात् जो अपने से 'अनन्य' (भिन्न नहीं) है वह दूसरे से भी 'अनन्य' (भिन्न नहीं) है ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि नीलरूप अपने से भिन्न न होने पर भी पीतरूप से अनन्य (भिन्न नहीं) है ऐसा नहीं होता, अर्थात् नीलरूप भी पीतरूप से वस्तुतः भिन्न ही है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अभ्यासरूप शब्द की नित्यतासाधक हेतु का सिद्धान्ती द्वारा खण्डन करने पर पूर्वपक्षी के मत से सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—तो यह साम्प्रत हम शब्द की नित्यता के लिये हेतु देते हैं—

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३३ ॥

यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद्भवति यथा लोष्टस्य कारणद्रव्यविभागात्, शब्दश्चेदनित्यस्तस्य विनाशो यस्मात्कारणाद्भवति तदुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नित्य इति ॥ ३३ ॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३४ ॥

यथा विनाशकारणानुपलब्धेरविनाशप्रसङ्ग एवमश्रवणकारणानुपलब्धेः सततं श्रवणप्रसङ्गः। व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् ? प्रतिषिद्धं व्यञ्जकम्। अथ विद्यमानस्य निर्निमित्तमश्रवणमिति विद्यमानस्य निर्निमित्तो विनाश इति। समानश्च दृष्टविरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे चाश्रवणे चेति ॥ ३४ ॥

पदपदार्थ—विनाशकारणानुपलब्धेः = शब्द के नष्ट होने का कारण न मिलने से ॥ ३३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मिट्टी के ढेले में अवयवरूप कारणों का परस्पर विभाग द्वारा नाश होता है, उसी प्रकार शब्द के अनित्य मानने पर उसका जिससे नाश होता है उसकी प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु शब्द के नाश का कारण नहीं मिलता। अतः शब्द नित्य है, अर्थात् जो अनित्य होता है, उसका कारण नाश होता है यह नियम है ॥ ३३ ॥

(३३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जो पदार्थ अनित्य होता है उसका किसी कारण से नाश हुआ करता है। जिस प्रकार लोष्ठ (मट्टी के ढेले) का उसके अवयव रूप कारणों के परस्पर विभागरूप कारण से नाश होता है। यदि शब्द भी अनित्य हो तो उसका जिस कारण से नाश होता है उसकी प्राप्ति होनी चाहिये, किन्तु शब्द के नाश का कोई कारण मिलता नहीं, इस कारण शब्द नित्य है—यह सिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

इस पूर्वपक्षिमत के शब्दनित्यता साधक हेतु पर आपत्ति देते हुए सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार, कहते हैं—

पदपदार्थ—अश्रवणकारणानुपलब्धेः = शब्द के न सुनाई देने के कारण के न मिलने के कारण सततश्रवण प्रसङ्गः = शब्द का सदा श्रवण होने की आपत्ति आ जायगी ॥ ३४ ॥

भावार्थ—यदि शब्द के नाश का कारण न मिलने से शब्द नित्य हो तो, उस स्थिर (नित्य) शब्द के न सुनाई देने का कारण न मिलने से शब्द सदा सुनाई पड़ेगा, यह आपत्ति आ जायगी ॥

(३४ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार शब्द के विनाश का कारण लोष्ठादिकों के समान उपलब्ध नहीं होता अतः उसके नाश न होने की आपत्ति आवेगी, इसी कारण स्थिर शब्द के न सुनने के कारण के न मिलने के कारण सदा शब्द का श्रवण होने लगेगा यह भी आपत्ति आ जायगी। यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'संयोगादि रूप शब्द के व्यञ्जक (प्रकाशक) के न होने से स्थिर भी शब्द का सदा श्रवण नहीं होगा' तो हम सिद्धान्ती के मत से संयोग शब्द का व्यंजक नहीं होता ऐसा निषेध कर चुके हैं और यदि पूर्वपक्षी नित्य विद्यमान रहनेवाले शब्द का बिना कारण ही श्रवण नहीं होता ऐसा माने तो विद्यमान ही शब्द का बिना कारण के नाश भी मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार बिना कारण के शब्द के न सुनने में प्रत्यक्ष विरोध आता है उसी प्रकार बिना कारण के शब्द का नाश मानने में भी प्रत्यक्ष विरोध होना भी समान ही है, अतः विनाशकारण की अप्राप्ति रूप हेतु से शब्द को नित्य मानना पूर्वपक्षी का असंगत है ॥ ३४ ॥

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३५ ॥

अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाशकारणानुपलब्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः, यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति। *किमनुमानमिति चेत् ? सन्तानोपपत्तिः।* उपपादितः शब्दसन्तानः संयोगविभागजाच्छब्दाच्छब्दान्तरं ततोऽप्यन्यत्ततोऽप्यन्यदिति। तत्र कार्यः शब्दः कारणशब्दमभिरुणद्धि प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः। दृष्टं हि तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य श्रवणं दूरस्थेनाप्यसति व्यवधान इति।

(तथा विनाशकारण की प्राप्ति न होना यह शब्द की नित्यता सिद्ध करने में असत् दुष्ट हेतु होने से भी यह शब्द में नित्यता का साधक नहीं हो सकता, इस आशय से सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—उपलभ्यमाने च = और अनुमानप्रमाण से (शब्द के नाश का कारण) सिद्ध होने के कारण, अनुपलब्धेः = अप्राप्ति के, असत्त्वात् = न होने से, अनपदेशः = विनाशकारणानुपलब्धिरूप पूर्वपक्षी का हेतु असिद्धिदोषग्रस्त होने से दुष्ट भी है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी का शब्द के नाश का कारण नहीं मिलता यह कहना भी असंगत है क्योंकि अनुमानप्रमाण से शब्द के नाश का कारण है यह सिद्ध होने पर शब्द के नाश के कारण की 'अनुपलब्धि' (अप्राप्ति) के न रहने के कारण 'विनाश के कारण की अनुपलब्धि' यह हेतु असिद्ध होने के कारण दुष्टहेतु है, अतः इससे शब्द में नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ३५ ॥

(३५ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अनुमानप्रमाण से शब्द के नाश के कारण की उपलब्धि होने के कारण 'शब्द के नाश के कारण की उपलब्धि न होने से' यह पूर्वपक्षी का हेतु अनपदेश (दुष्टहेतु) है जिस प्रकार 'यह विषाण (सींग) वाला होने से अश्व है' इस अनुमान में अश्वरूपपक्ष में सींग न होने के कारण यह सींग का होनारूप हेतु असिद्ध होता है। यदि ऐसा प्रश्न पूर्वपक्षी करे कि 'शब्द के नाश के कारण की सिद्धि करनेवाला कौन सा अनुमान है' तो शब्द के सन्तान (परम्परा) की सिद्धि होना। क्योंकि हम सिद्धान्ती के मत से संयोग अथवा विभाग से उत्पन्न हुए शब्द से दूसरा शब्द उत्पन्न होता है उससे दूसरा और उससे भी दूसरा शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार शब्दों की धारा का हम उपपादन (सिद्धि) कर चुके हैं। जिससे कार्यरूप दूसरा शब्द कारणरूप प्रथम शब्द को नष्ट कर देता है। और किसी प्रतिघाती (टक्कर) करनेवाले दूसरे द्रव्य का संयोग अंतिम शब्द भी रोक देता (नष्ट करता) है। क्योंकि समीप रहनेवाले प्राणी को भी भींत के आड़ होने पर शब्द का श्रवण नहीं होता और भींत इत्यादिकों का व्यवधान (आड़) न रहने पर दूर रहनेवाले भी प्राणी को शब्द सुनाई देता है, इस कारण उपर्युक्त अनुमान से शब्द के नाश के कारण की संज्ञा सिद्ध होने के कारण पूर्वपक्षी का शब्द के नाश का कारण सिद्ध न होने से शब्द नित्य है यह कहना असंगत है। (यहाँ पर शब्द के गुण होने से तथा एक गुण में दूसरे गुण का असंभव होने से उसका संयोग होना तो न्यायमत के विरुद्ध है इस कारण अन्तिम शब्द का रोकनेवाला (प्रतिघाति) द्रव्य आकाश ही है ऐसी तात्पर्यटीकाकार ने यहाँ समालोचना की है। इसी कारण उन्होंने कहा है कि अत्यन्त घने द्रव्य से संयुक्त आकाश शब्द का समवायिकारण नहीं हो सकता, इस कारण एक शब्द

घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तारतरो मन्दो मन्दतर इति श्रुतिभेदान्नानाशब्दसन्तानोऽविच्छेदेन श्रूयते, तत्र नित्ये शब्दे घण्टास्थमन्यगतं वाऽवस्थितं सन्तानवृत्ति वाऽभिव्यक्तिकारणं वाच्यं येन श्रुतिसन्तानो भवतीति शब्दभेदे चासति श्रुतिभेदे उपपादयितव्य इति। अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्तानवृत्ति संयोगसहकारि निमित्तान्तरं संस्कारभूतं पटु मन्दमिति वर्तते तस्यानुवृत्त्या शब्दसन्तानानुवृत्तिः, पटुमन्दभावाच्च तीव्रमन्दता शब्दस्य, तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति ॥ ३५ ॥

दूसरे शब्द को उत्पन्न नहीं करता इत्यादि । किन्तु श्रीधराचार्य कन्दली में ऐसा कहते हैं कि यहाँ पर शब्द का निमित्त कारण रूप वायु ही प्रतिघाति द्रव्य है ।)

(सिद्धान्ती के मत से पूर्वोक्त शब्दसन्तान की सिद्धि करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)- घण्टे के अभिघात (ठोकना) करने पर तार (ऊँचा) तारतर (अधिक ऊँचा) तथा मन्द और अतिमन्द इस प्रकार श्रवण के भेद से नाना प्रकार के शब्दों का सन्तान (धारा) अविच्छेद (बिना कटे, बराबर) सुनाई देती है । इसमें शब्द को नित्य मानने पर घण्टे में रहनेवाला अथवा किसी दूसरे में रहनेवाला अथवा शब्द की धारा में रहनेवाला उस नित्य शब्द को अभिव्यक्ति (प्रगट होने) का कारण कहना होगा; जिससे बराबर शब्द का सुनना सिद्ध होगा । अर्थात् यदि संयोग अथवा विभाग से उत्पन्न शब्द भिन्न न हो तो उसके सुनने में भेद कैसे होगा—यह पूर्वपक्षी को उपपादन (सिद्ध) करना होगा । जब हम सिद्धान्ती के मत से शब्द को अनित्य मानते हैं तब तो घण्टा में वर्तमान शब्द अथवा शब्दधारा में वर्तमान संयोग की सहायता लेनेवाला वेग नामक संस्काररूप दूसरा निमित्तकारण पटु (तीव्र) तथा मन्दरूप बराबर शब्दधारा का उत्पादक पीछे-पीछे चलता रहता है । उस पटु अथवा मन्दरूप वेगसंस्कार साथ-साथ चलने के कारण शब्दों की धारा भी चला करती है । वेग की तीव्रता अथवा मन्दता के कारण शब्द भी तीव्र अथवा मन्द होता है और इस कारण सुनने में भी भेद होता है (अर्थात् नित्य शब्द का स्वाभाविक अथवा उपाधि से हुआ (औपाधिक) भेद नहीं हो सकता यह सिद्धान्ती के मत से सिद्ध हो चुका है । ऐसा होने से शब्द के नित्य मानने के पक्ष में यदि घण्टे में या दूसरे किसी में या शब्दधारा में वर्तमान व्यंजक से नित्य शब्द प्रगट होता है तो ऊँचा, अतिऊँचा, मन्द, अतिमन्द इत्यादि शब्द के सुनाई देने में भेद नहीं हो सकेगा) यदि अति ऊंचे आदि उतने ही शब्द नित्य हों तो उतने ही एककाल में ही कोई विशेष न होने से प्रगट होंगे । क्योंकि उन शब्दों का व्यंजक एक तथा स्थिर है । जब घण्टा में वर्तमान शब्द की धारा को कारण मानते हैं तो ऊंचा, अतिऊंचा, मन्द आदि भेद से कारण के भिन्न होने से उनके सुननेरूप कार्य में भी भेद हो सकेगा—यह सिद्धान्ती का आशय है । इसका वार्तिककार ने स्पष्ट अर्थ ऐसा दिखाया है कि—शब्दों के उत्पन्न होने का कारण घण्टा में कभी-कभी हुआ करता है अर्थात् घण्टे की ध्वनि कभी-कभी होती है, सदा नहीं । कभी-कभी होने पर भी वह सन्तान में कारण रहता है । इस कारण निमित्त के भेद के अनुसार शब्द कभी-कभी होते हैं और सन्तान में रहने के कारण मन्द, अतिमन्द इत्यादि भिन्न-भिन्न रूप के अनुसार ही शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द का कारण वेग नामक संस्कार जिसकी हस्त के सम्बन्ध की अपेक्षा करनेवाली हस्त की क्रिया से हस्त तथा घण्टे के सम्बन्ध से (जो हस्त के वेग की अपेक्षा करता है) घण्टे में क्रिया उत्पन्न होती है, जो क्रिया हस्त के अभिघात नामक संयोग की अपेक्षा करती हुई हस्त तथा घण्टे के विभक्त होने

न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते अनुपलब्धेर्नास्तीति—

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ ३६ ॥

पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोत्पद्यते अतः श्रवणानुपपत्तिः। तत्र प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमि-

---

के समय घण्टे में वेगसंस्कार को उत्पन्न करती है। वह हिलनेवाला घण्टा अपने भीतर वायु का संग्रह करता हुआ, वायु के अभिवात से पुनः चलनक्रिया को करता है, जिससे पुनः वेग होता है जिससे पुनः-पुनः चलनक्रिया घण्टे में होती है, जिससे पुनः वायु का अभिघात होता है। इत्यादि प्रकार से वेग की उत्पत्ति होती है, जिसमें अन्तिम वेग के अत्यन्त मन्द होने से घण्टे में महाभूत के विकार की शक्ति नहीं रहने के कारण वायु का अभिघात नष्ट होकर वेग भी नष्ट हो जाता है, जिससे घण्टे का बजना बन्द हो जाता है) ॥ ३५ ॥

(घण्टा आदि के बजने में शब्द-सन्तान का कारण वेगसंस्कार है, इस सिद्धांत पर पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप उठाते हुए सिद्धांतसूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—'वह संस्काररूप दूसरा शब्द-सन्तान का कारण उपलब्ध नहीं होता, प्राप्त न होने से अनुमानप्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेग नामक संस्कार नहीं है।' इस आक्षेप का सूत्रकार समाधान करते हैं—

पदपदार्थ—पाणिनिमित्तप्रश्लेषात् = हस्त में होने वाली क्रियारूप निमित्त से घण्टे का संबंध होने पर, शब्दाभावे = ध्वनि न होने से, न = नहीं है, अनुपलब्धिः = वेगसंस्कार की अप्राप्ति ॥३६॥

भावार्थ—घण्टा बजते रहते हस्त में क्रिया होकर जब घण्टे से हस्त का संयोग (स्पर्श) होता है तो घण्टे का बजना बन्द हो जाता है। अतः घण्टे की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती, जिसमें प्रतिघाती (रोकने वाले) हस्तरूप द्रव्य का संयोग (स्पर्श) घण्टे की ध्वनि होने के दूसरे निमित्त (कारण) वेगरूप संस्कार को रोक देता है; यह अनुमान से सिद्ध होता है। उस वेग के रुकने के कारण अब घण्टे की ध्वनि नहीं होती जिससे घण्टे की ध्वनि कान से सुनाई नहीं देती है। अतः अनुमानप्रमाण से शब्द-सन्तान होने का कारण वेगसंस्कार है, यह सिद्ध होने के कारण पूर्वपक्षी का वेगसंस्कार नहीं है—यह कहना अयुक्त है ॥ ३६ ॥

(३६ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—हस्त की क्रिया से हस्त तथा घण्टे का संयोग (स्पर्श) होता है, उसके (हस्तस्पर्श के) होने से घण्टे की ध्वनि बन्द हो जाती है, इस कारण घण्टे की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। उसमें प्रतिघात (रुकावट) करने वाले हस्तरूप द्रव्य का संयोग (स्पर्श) ध्वनि के दूसरे निमित्तकारणरूप वेगसंस्कार को रोक देता है—ऐसा अनुमान किया जाता है। उस वेग के रुकने से घण्टे की ध्वनि की धारा उत्पन्न नहीं होती। ध्वनि की उत्पत्ति न होने से घण्टे की ध्वनि कान से सुनाई नहीं देती। जिस प्रकार वेग से जानेवाले बाण को रोकने वाले प्रतिघाती भीत आदि द्रव्य का संयोग होने से बाण की गमनरूपी क्रिया के कारण वेगसंस्कार के रुकने से बाण की गति नहीं होती और घण्टा, बाण आदिकों में जो स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रिय से गृहीत होनेवाली कम्प की धारा हुआ करती है वह भी उपरत (बन्द) हो जाती है। काँसे के कटोरे को हस्त से हिलाने पर जो कम्पसमुदाय होता है, उसमें हस्त का स्पर्शरूप संयोग होने से कम्प बन्द हो जाता है। अतः संयोग (स्पर्श) में काँसे कटोरे में वेगरूप संस्कार की धारा थी—इसको सिद्ध करता है। इस कारण वेगरूप संस्कार दूसरे निमित्त से अप्राप्ति होने से वह नहीं है, यह पूर्वपक्षी का कहना सर्वथा असंगत है। (इस वेगसंस्कार के साधक) सिद्धांती के

त्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते। अनुत्पत्तौ श्रुतिविच्छेदो यथा प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः कांस्यपात्रादिषु पाणिसंश्लेषो लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति। तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य नानुपलब्धिरिति ॥ ३६ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ ३७ ॥

यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते तदवतिष्ठते। अवस्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसज्यते, एवं यानि खल्विमानि शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति

सूत्र में अनेक मतभेद हैं, क्योंकि शब्द के अभाव होने का कारण हस्तरूप निमित्त के संयोग से शब्द का न होना उपलब्ध होने से 'शब्द के अभाव के कारण की अनुपलब्धि नहीं है' ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है और 'हस्तरूप निमित्त का 'प्रश्लेषे' कार्यतारूप संबंध जिसमें होता है, वह है उत्तर शब्द, उससे 'शब्दाभावे' प्रथम शब्द का नाश होने के कारण शब्द के नाश के कारण की अनुपलब्धि नहीं है'—ऐसी भी कुछ विद्वान् इस सूत्र की व्याख्या करते हैं। इन दो व्याख्याओं में प्रथम मत ही भाष्यकार को संमत है, यह प्रतीत होता है। इस पक्ष में 'अनुपलब्धिः' इस सूत्र के पद को 'संस्कार की अनुपलब्धि है ऐसा नहीं' ऐसा अन्वय करना चाहिये)। 'पाणिसंश्लेषः' ऐसा प्रथमान्त ही पाठ प्रायः पुस्तकों में मिलता है, जिससे काँसे के कटोरे आदि में त्वगिन्द्रिय से गृहीत होनेवाले कम्पसमूह का बन्द होना (१) तथा पाणिश्लेष (२)—ये दोनों वेगसंस्कार के साधक हैं—ऐसा अर्थ इस पाठ के पक्ष में प्रतीत होता है और 'पाणिसंश्लेषे' ऐसे सप्तमी पाठ में काँसे के पात्रादिकों में हस्तस्पर्श होने पर कम्प का बन्द होना वेगसंस्कार को सूचित करता है—ऐसा अर्थ जानना चाहिये ॥ ३६ ॥

३३ वें सूत्र में दिये हुए 'शब्द के विनाश के कारण की प्राप्ति नहीं होती' इस पूर्वपक्षी के कारण खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—विनाशकारणानुपलब्धेः च = और शब्द के नाशक कारण की उपलब्धि नहीं होती, स कारण, अवस्थाने = स्थिति रहते, तन्नित्यत्वप्रसंगः = उसकी नित्यता होगी ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जिसके नाश का कारण नहीं होता, वह रहता है, उसके स्थित होने से वह नित्य है, ऐसा सिद्ध होता है। अतः पूर्वपक्षी का शब्द का श्रवण याने शब्द की अभिव्यक्ति होती है (न कि शब्द उत्पन्न होता है) ऐसा जिसका मत है उनके विनाश का कारण तो आप (पूर्वपक्षी) नहीं सिद्ध करते। अतः उनके स्थित रहने के कारण वे (शब्द की अभिव्यक्ति के कारण) नित्य हो जायँगे। यदि ऐसा नहीं है तो शब्द के विनाश के कारण की अनुपलब्धि के शब्द के स्थित होने से वह नित्य है यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत हो जायगा ॥ ३७ ॥

(३७ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस पदार्थ के नाश का कारण नहीं मिलता, वह स्थिर रहता है। उसके स्थिर होने से वह नित्य होगा यह आपत्ति आती है, ऐसा होने से जो 'शब्द सुनाई पड़ता है वह शब्द की अभिव्यक्ति होती है', ऐसा जो पूर्वपक्षी का मत है—उन्होंने (शब्दाभिव्यक्तियों) के नाश का कारण तो नहीं सिद्ध किया है। सिद्ध न करने के कारण वह शब्द की अभिव्यक्ति स्थिर है यह सिद्ध होता है जिससे उनमें नित्यता की आपत्ति होती है, ऐसा दोष

मतं न तेषां विनाशकारणं भवतोपपाद्यते अनुपपादनादवस्थानमवस्थानात् तेषां नित्यत्वं प्रसज्यत इति। अथ नैवं, न तर्हि विनाशकारणानुपलब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यत्वमिति ॥ ३७ ॥

कम्पसमानाश्रयस्य चानुनादस्य पाणिप्रश्लेषात् कम्पवत् कारणोपरमादभावः। वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रश्लेषात् समानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३८ ॥

यदिदं नाकाशगुणः शब्द इति प्रतिषिध्यते अयमनुपपन्नः प्रतिषेधः। अस्पर्शत्वाच्छब्दाश्रयस्य। रूपादिसमानदेशस्याग्रहणे शब्दसन्तानोपपत्तेरस्पर्श-

---

आ जायगा और यदि नहीं मानते तो शब्द के नाश के कारण की उपलब्धि न होने से, शब्द में स्थिरता होने से 'वह शब्द नित्य है' यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत नहीं हो सकेगा ॥ ३७ ॥

(अग्रिम सिद्धांत का सांख्यमत से शंका दिखाते हुए भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—'कम्प के आधार में वर्तमान रहने वाले प्रतिध्वनि का हस्त के स्पर्श से कम्प के समान कारण के शान्त हो जाने से शब्द (प्रतिध्वनि) नहीं होता। यदि कम्प के आधार घण्टा, काँस्यपात्र आदि में शब्द न हो तो प्रतिघात करने वाले (रोकने वाले) हस्तरूप द्रव्य के स्पर्श से कम्प के आधार घण्टा आदिकों में वर्तमान ही शब्द (ध्वनि) बन्द हो जायगा' (अर्थात् शब्द के रोकने वाले हस्तरूप द्रव्य के स्पर्श के घण्टादि द्रव्यों में वर्तमान ही वेगसंस्कार का नाश होगा न कि भिन्न आश्रय आकाश में वर्तमान शब्द का नाश होगा। यदि भिन्न आश्रय में वर्तमान का नाश होता है ऐसा मानें तो चाहे जिसमें वर्तमान हेतु से चाहे जिसमें पदार्थ का नाश होने लगेगा। इस कारण कम्पसमुदाय रूप वेगसंस्कार के आधार में रहने वाला ही शब्द है। जिससे आकाश का गुण शब्द होता है— यह नैयायिक मत खण्डित हो जाता है—यह सांख्यपूर्वपक्षी का आशय है)। इस आक्षेप का समाधान सूत्रकार ऐसा देते हैं कि—

पदपदार्थ—अस्पर्शत्वात् = स्पर्शरहित होने से, अप्रतिषेधः = शब्द का आकाश का गुण होने का निषेध नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सांख्यपूर्वपक्षी का शब्द आकाश द्रव्य का गुण नहीं है यह निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द का आश्रय द्रव्य स्पर्शवाला नहीं होता। रूपादि गुणों के समानदेश में शब्द का ग्रहण न होते हुए भी शब्द का सन्तान हो सकता है, इस कारण स्पर्शरहित द्रव्य में शब्द रहता है यह सिद्ध होता है न कि कम्प के आश्रय घण्टा आदि में। अतः सांख्यमत असंगत है ॥ ३८ ॥

(३८ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जो यह शब्द आकाशद्रव्य का गुण नहीं है—ऐसा सांख्यपूर्वपक्षी कहता है, यह आकाश के गुण होने का निषेध नहीं हो सकता—क्योंकि शब्दगुण का आधार स्पर्शगुणवाला नहीं होता। क्योंकि रूप, रस आदि गुणों का ज्ञान न होने पर भी शब्द की धारा से हुआ करती है, इस कारण स्पर्शरहित तथा व्यापकद्रव्य में शब्द रहता है— यह प्रतीत होता है, न कि कम्प के आधार घण्टा आदि द्रव्यों में रहता है, यह सिद्ध होता है। (अर्थात् इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर ग्रहण करते हैं यह सिद्ध हो चुका है। घण्टा, कांस्यपात्र

व्यापिद्रव्याश्रयः शब्द इति ज्ञायते न च कम्पसमानाश्रय इति ॥ ३८ ॥

प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दः समानदेशो व्यज्यत इति नोपपद्यते, कथम् ?

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३९ ॥

सन्तानोपपत्तेश्चेति चार्थः। तद्व्याख्यातम्। यदि रूपादयः शब्दाश्च प्रतिद्रव्यं समस्ताः समुदितास्तस्मिन् समासे समुदाये यो यथाजातीयकः सन्नि-

---

आदिकों में रहनेवाला शब्दश्रोत्रइन्द्रिय को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि घण्टा का शब्द श्रोत्रेन्द्रिय में तब प्राप्त हो सकेगा यदि घण्टा या काँस्यपात्र कान तक पहुँचे, या कान घण्टा आदि तक पहुँचे। ये दोनों बातें नहीं होतीं। इन्द्रिय सांख्यमत के अनुसार अहंकार के कार्य व्यापक नहीं हैं, यह कह ही चुके हैं। इस कारण शब्द का आधार स्पर्शरहित व्यापक आकाश ही है। उस आकाश में रहनेवाला शब्द धारारूप से कर्ण तक पहुँचता है यही मानना संगत है। इसी प्रकार कर्ण से शब्द का श्रवण होता है दूसरे प्रकार से नहीं—ऐसा सिद्धांतिमत का आशय है ॥ ३८ ॥

(३९ वें सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—'प्रत्येक घण्टा आदि द्रव्यों में रूप, रस आदि गुणों के साथ रहने वाला शब्द के समान देश में रहने वाला ही शब्द व्यंजक से प्रगट होता है'—ऐसा सांख्यमत नहीं हो सकता। (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च = और षड्ज, मध्यम, गांधारादि तथा ऊँचा, मन्द आदि शब्दों के भेद हो सकने से भी, समासे = रूपादिकों के समुदाय में ॥ ३९ ॥

भावार्थ—यदि सांख्यमत से घण्टा आदि द्रव्यों में रूप, रस आदि गुण तथा उनके साथ शब्द गुण ये सब मिलकर रहते हैं और उस गुणसमुदाय में जो जैसा है उसका रूपादिकों के समान वैसा ज्ञान होता है—यह माना जाय तो एक ही घण्टादिकों में जो नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न प्रकार से विरुद्धधर्मवाले प्रगट होनेवाले शब्द सुनाई पड़ते हैं तथा समानरूप तथा समानधर्मवाले जो तीव्र तथा मन्द आदि भिन्न-भिन्न शब्द सुनाई पड़ते हैं इस प्रकार के दोनों विभाग (भेद) न बन सकेंगे। क्योंकि ऐसे दोनों विभाग होना नाना भिन्न-भिन्न शब्द मानने से हो सकता है, न कि एक स्थिर नित्य शब्द की अभिव्यक्ति मानने से हो सकते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि घण्टादि प्रत्येक द्रव्यों में रूपादि गुणों के साथ वर्तमान शब्द व्यंजक से प्रगट होता है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् 'वीणा, वेणु (बाँसुरी), शंखादि द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द गुण का समुदायरूप ही है। उस समुदाय के रहते ही शब्द भी उन शंखादि से प्रगट होता है' ऐसा सांख्यों का कहना है। उस सांख्य को अभिमत रूपादि समुदाय में इसके विभागों की सिद्धि होने के कारण शब्द प्रगट नहीं होता है यह नैयायिकमत से इस सिद्धांतसूत्र का अर्थ है। इस '**विभक्त्यन्तरोपपत्तेः**' इस पद में '**विभक्तिश्च विभक्त्यन्तरं च**' ऐसा विग्रह होता है। जिससे यदि सांख्य के मत के अनुसार शब्द की प्रगटता मानी जाय तो विभक्ति षड्ज, मध्यम, गांधार आदि शब्द के भेद तथा '**विभक्त्यन्तर**' उक्त भेदों के अवान्तर मन्द, तीव्र इत्यादि भेद भी न बन सकेंगे। इस कारण रूपादि समुदाय में शब्द प्रगट होता है यह नहीं हो सकता, किन्तु आकाश का गुण शब्द उत्पन्न होता है यही मानना संगत है ॥ ३९ ॥

(३९ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में चकार का अर्थ है शब्द के सन्तानों के होने से भी। जिनकी व्याख्या कर चुके हैं। यदि सांख्यमत के अनुसार प्रत्येक घण्टा,

विष्टस्तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणेन भवितव्यं शब्दे रूपादिवत्। तत्र योऽयं विभाग एकद्रव्ये नानारूपा भिन्नश्रुतयो विधर्माणः शब्दा अभिव्यज्यमानाः श्रूयन्ते यच्च विभागान्तरं सरूपाः समानश्रुतयः सधर्माणः शब्दास्तीव्रमन्द-धर्मतया भिन्नाः श्रूयन्ते तदुभयं नोपपद्यते, नानाभूतानामुत्पद्यमानानामयं धर्मो नैकस्य व्यज्यमानस्येति। अस्ति चायं विभागो विभागान्तरं च, तेन विभागोपपत्तेर्मन्यामहे न प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो व्यज्यत इति ॥ ३९ ॥

इति सप्तविंशत्या सूत्रैः शब्दानित्यत्वप्रकरणम्।

द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मको ध्वनिमात्रश्च। तत्र वर्णात्मनि तावत्—

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ ४० ॥

शंख आदि द्रव्यों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द भी ऐसे संपूर्ण गुण मिल कर रहते हैं और उस समास (समुदाय) में जो जिस जाति के रूपादि गुण वर्तमान रहते हैं उस जाति के ही रूपादि गुणों का जैसे ग्रहण होता है वैसा ही शब्द का भी ग्रहण होना पड़ेगा। उस शब्द में जो यह विभाग (भेद) होता है कि एक घण्टादि द्रव्य में नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनाने वाले षड्जादि रूप विरुद्धधर्म वाले वर्तमान शब्द प्रगट होते हुए सुनाई देते हैं। यह दूसरा विभाग (षड्ज के तार, मन्द आदि रूप भेद होता है कि) समान स्वरूप वाले तथा समान ही सुनाई देनेवाले एवं समानधर्म वाले शब्द तीव्र तथा मन्द धर्म वाले भिन्न-भिन्न शब्द सुनाई देते हैं—यह दोनों भेद नहीं बन सकेंगे। क्योंकि जो उत्पन्न होने वाले अनेक होते हैं उन्हीं का उपर्युक्त दोनों प्रकार का भेद होना धर्म हो सकता है, न कि प्रगट होने वाले नित्य एक पदार्थ का। यह उपर्युक्त दोनों प्रकार से विभाग (प्रथम भेद) तथा विभागान्तर (दूसरा भेद) तो होता ही है। अतः दोनों प्रकार के विभागों (भेदों) के सिद्ध होने से हम यह समझते हैं कि घण्टा, शंख आदि प्रत्येक द्रव्यों में रूप, रस आदि गुणों के साथ शब्द भी रहता है जो, संयोगादि रूप व्यंजकों से व्यक्त (प्रगट) होता है, यह सांख्यमत नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

(३) शब्दपरिणाम प्रकरण

('इस प्रकार रूपादि गुणों के साथ वर्तमान ही शब्द प्रगट होता है इस सांख्यमत का खण्डन करने वाली वही सांख्यवादी अकारादि वर्णों में व्याकरण के अनुसार प्रकृति (कारण) तथा विकार (कार्य) भाव के श्रवण होने से मृत्तिका, सुवर्ण आदि के समान परिणामी होते हुए नित्यवर्ण होते हैं', ऐसी यदि शंका करें, इस कारण इस शंका के समाधानार्थ शब्द के परिणामी होने की परीक्षा का आरंभ करते हुए भाष्यकार अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—यह पूर्वोक्त शब्द गुण अकारादि वर्णरूप तथा शंखादि ध्वनिरूप ऐसा दो प्रकार का है। उन दोनों में से वर्णरूप शब्द में प्रथम—

पदपदार्थ—विकारादेशोपदेशात = व्याकरणशास्त्र में एक वर्ण दूसरे वर्ण का विकार है तथा एक वर्ण के स्थान में दूसरे वर्ण का आदेश होता है, ऐसे दोनों प्रकार का उपदेश होने के कारण, संशयः = वर्णरूप शब्द विकार है या आदेश ऐसा संदेह होता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—'इको यणचि' इक् प्रत्याहार के वर्णों के यण् प्रत्याहार के वर्ण होते हैं ऐसा व्याकरण का अनुशासन है, जिसकी व्याख्या करने वालों में विरुद्धमत होने के कारण संशय होता

दध्यत्रेति केचिद् इकार इत्वं हित्वा यत्वमापद्यत इति विकारं मन्यन्ते। केचिदिकारस्य प्रयोगे विषयकृते यदिकारः स्थानं जहाति तत्र यकारस्य प्रयोगं ब्रुवते। संहितायां विषये इकारो न प्रयुज्यते तस्य स्थाने यकारः प्रयुज्यते स आदेश इति, उभयमिदमुपदिश्यते। तत्र न ज्ञायते किं तत्त्वमिति ?

आदेशोपदेशस्तत्त्वम्—

विकारोपदेशे ह्यन्वयस्याग्रहणाद्विकाराननुमानम्। सत्यन्वये किञ्चिन्निवर्तते, किञ्चिदुपजायत इति शक्यते विकारोऽनुमातुम्। न चान्वयो गृह्यते तस्माद्विकारो नास्तीति।

है कि—क्या इकार अपने इपना को छोड़कर यकाररूप को प्राप्त होता है—जैसे **'दधि'**, **'अत्र'** ऐसे दो पदों की संधि करणे से **'दध्यत्र'** ऐसा रूप होता है। इसमें कुछ वैयाकरणों का मत है कि इकार का यकार विकार है। कुछ वैयाकरणों का कहना है कि इकार यकार के लिए अपना स्थान छोड़ देता है। अतः इकार के स्थान में यकार का आना यह आदेश कहाता है। अतः ऐसे दो प्रकार के विरुद्धमत होने के कारण संशय होता है कि क्या वर्णों का प्रकृति (कारण) तथा विकृति (कार्य) भाव है यह आदेश है। इसकी परीक्षा (विचार) विना वास्तविक एकपक्ष का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

(४० वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—**'दधि अत्र'** ऐसे दो पदों की संधि (मेलन) करने से **'दध्यत्र'** ऐसा पद होता है, जिससे **'दधि'** इस पद के इकार रूप को छोड़कर 'इको यणचि' इस सूत्र से यकाररूपत्व को प्राप्त होता है, इस कारण यह यकार इकार वर्ण का विकार (कार्य) है ऐसा कुछ वैयाकरण विद्वान् मानते हैं; और कुछ वैयाकरणों का ऐसा कहना है कि कार्यरूप से अभिमत यकार के प्रयोग के लिये जो इकार अपना स्थान छोड़ देता है और उसके स्थान में यकार का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् **'दधि'**, **'अत्र'** इन दोनों पदों की संधि करने के समय इकार का प्रयोग (उच्चारण) नहीं किया जाता, किन्तु उस इकार के स्थान में यकार का प्रयोग किया जाता है—वह आदेश होता है'। ऐसे दोनों विकार तथा आदेश वैयाकरणों ने माने हैं। उसमें यह नहीं प्रतीत होता है कि विकार वास्तविक है अथवा आदेशपक्ष युक्त है ? (इस संदेह पर भाष्यकार अपना स्वतंत्र मत दिखाते हैं कि)—इकार-स्थान में यकार का प्रयोग होना यह द्वितीय आदेशपक्ष ही व्याकरण में वास्तविक पक्ष है। क्योंकि प्रथमपक्ष में अन्वय का ज्ञान न होने के कारण इकार का यकार विकार है, यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। (यहाँ पर बौद्धमत के समान पूर्ववर्ण का बिना अन्वय (पूर्व इकाररूप) के निवृत्त होने पर उत्तर (यकार) रूप का प्रगट होना सांख्यमत में नहीं माना जाता है किन्तु स्थिर रहने वाले धर्मी के पूर्व-पूर्व धर्मों का तिरस्कार होकर दूसरे धर्म का प्रगट होना है यही सांख्यमत में विकार कहा जाता है। प्रस्तुत में इकार रूप धर्म का धर्मी कोई प्राप्त नहीं होता जो इकाररूप धर्म के निवृत्त होने पर अनुगत आकाररूप से परिणाम को प्राप्त हो)। (आगे अन्वय कैसे नहीं है यह सिद्ध करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—कारण में रहने वाले किसी धर्म का अन्वय (सम्बन्ध) कार्य में हो तो कुछ धर्म निवृत्त हो जाता है और कुछ धर्म उत्पन्न होता है, इससे इकार का यकार विकार (कार्य) है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। किन्तु पूर्वोक्त ऐसे अन्वय का ग्रहण नहीं होता। इस कारण यकार इकार का विकार नहीं है। (अर्थात् सुवर्ण जाति के अवयव किसी एक स्वरूप को

भिन्नकरणयोश्च वर्णयोरप्रयोगे प्रयोगोपपत्तिः । विवृतकरण इकारः, ईषत्स्पृष्टकरणो यकारः, ताविमौ पृथक्करणाख्येन प्रयत्नेनोच्चारणीयौ तयोरेकस्याप्रयोगेऽन्यतरस्य प्रयोग उपपन्न इति ।

अविकारे चाविशेषः । यत्रेमाविकारयकारौ न विकारभूतौ यतते यच्छति प्रायंस्त इति, इति, इकार, इदमिति च, यत्र च विकारभूतौ इष्ट्वा व्याहरति उभयत्र प्रयोक्तुरविशेषो यत्नः श्रोतुश्च श्रुतिरित्यादेशोपपत्तिः ।

प्रयुज्यमानाग्रहणाच्च । न खलु इकारः प्रयुज्यमानो यकारतामापद्यमानो गृह्यते, किं तर्हि ? इकारस्य प्रयोगे यकारः प्रयुज्यते, तस्मादविकार इति ।

छोड़कर दूसरे किसी रूप में 'रुचक' (जन्तर) तथा **'वर्धमान'** आभूषणविशेष परिणाम को प्राप्त होते हैं । उन संपूर्ण के परिणामरूप अलङ्काररूप कार्यों में सुवर्ण के अवयवों का संबन्ध है, प्रस्तुत में यकाररूप परिणाम (कार्य) में इकार अथवा उसके उत्पन्न करने वाले किसी अवयव का सम्बन्ध नहीं देखने में आता । इस कारण इकार का यकार विकार है—यह नहीं हो सकता । किन्तु यकार इकार के स्थान में आदेश से आया है ऐसा हमें निश्चय होता है ।) (वर्णों में विकार नहीं होता, इस विषय में यह दूसरी युक्ति देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—व्याकरण में कथित 'भिन्न-भिन्न विवृत-संवृत इत्यादि करणवाले दो वर्णों के प्रयोग न होने में प्रयोग का होना' यह भी आदेश ही की सिद्धि करना है । प्रस्तुत में **'इ'** यह वर्ण **'विवृत'** नामक करण वाला है और **'य'** यह वर्ण तो **'ईषत्स्पृष्ट'** नामक करण वाला है । उन दोनों **'इ'** तथा **'य'** वर्ण का उच्चारण उपर्युक्त दोनों भिन्न-भिन्न करणों से किया जा सकता है । इन दोनों **'इ'** तथा **'य'** के साथ में प्रयोग न हो सकने के कारण **'इ'** के स्थान में **'य'** कार का आदेश ही हो सकता है । अर्थात् यदि यकार इकार का विकार हो तो यकार के उच्चारण करने के लिये इकार को लेकर उसके उच्चारण के कारण विवृतकरण का ही ग्रहण करेंगे । किन्तु इसकी अपेक्षा न कर यकार के प्रयोग करने के लिए **'ईषत्स्पृष्ट'** नामक करण का ही ग्रहण करते हैं । इस कारण इकार का विकार यकार नहीं है ऐसा ही संगत प्रतीत होता है) । (तीसरी युक्ति भी विकारपक्ष के खण्डनार्थ भाष्यकार ऐसी दिखाते हैं कि)—आदेश तथा विकार दोनों पक्षों में उच्चारण में कोई विशेषता नहीं है—अर्थात् जिस पद में जैसे **'यजते यच्छति प्रायंस्ते'** इत्यादि तथा **'इकारः' 'इदं'** इत्यादि में ये दोनों इकार तथा यकार परस्पर में प्रकृति तथा विकाररूप नहीं हैं, एवं जिन प्रयोगों में विकाररूप होना है—जैसे **'इष्ट्वा'** इस पद के प्रयोग में **'यज्'** धातु के यकार का इकार विकार हो गया है तथा **'दधि आहर'** ऐसे दोनों पदों का **'इको यणचि'** इस सूत्र से जहाँ संधि दो पदों की हुई है उसमें इकार का यकार विकार हुआ है । ऐसे प्रथम आदेशपक्ष और दूसरे विकार के पक्ष में भी उक्त पदों का उच्चारण करने में इन शब्दों को कहने का यत्न समान ही होता है तथा उक्त शब्दों को सुननेवाले को उक्त शब्दों का श्रवण भी समान ही होता है । इस कारण भी आदेशपक्ष ही हो सकता है) । (तथा चतुर्थ युक्ति आदेशपक्ष में भाष्यकार और दिखाते हैं कि)—प्रयोग किये जानेवाले वर्ण का ग्रहण भी नहीं होगा, इस कारण भी आदेशपक्ष ही युक्त है । क्योंकि मुख से उच्चारण किया जानेवाला **'इ'** यह वर्ण **'य'** वर्ण की स्वरूपता को प्राप्त हुआ जाना भी नहीं जाता । (प्रश्न)—तो किसका ज्ञान होता है ? (उत्तर)—**'इ'** का प्रयोग न कर **'य'** वर्ण का प्रयोग

अविकारे च न शब्दान्वाख्यानलोपः। न विक्रियन्ते वर्णा इति। न चैतस्मिन्पक्षे शब्दान्वाख्यानस्यासम्भवो येन वर्णविकारं प्रतिपद्येमहीति।

न खलु वर्णस्य वर्णान्तरं कार्यं, न हि इकाराद्यकार उत्पद्यते यकाराद्वा इकारः। पृथक्स्थानप्रयत्नोत्पाद्या हीमे वर्णास्तेषामन्योऽन्यस्य स्थाने प्रयुज्यत इति युक्तम्। एतावच्चैतत्परिणामो विकारः स्यात् कार्यकारणभावो वा उभयं च नास्ति तस्मान्न सन्ति वर्णविकाराः।

वर्णसमुदायविकारानुपपत्तिवच्च वर्णविकारानुपपत्तिः। 'अस्तेर्भूः' 'ब्रुवो वचि' रिति यथा वर्णसमुदायस्य धातुलक्षणस्य क्वचिद्विषये वर्णान्तरसमुदायो न

(उच्चारण) किया जाता है, इस कारण इकार का यकार विकार नहीं है। (अर्थात् जिस प्रकार समय में पकने की अपेक्षा करनेवाला दूध दही हो जाता है ऐसा देखने में आता है। उस कार 'इ' यह वर्ण 'य' वर्ण होता हुआ दीखता नहीं है, अतः विकारपक्ष असंगत है।) (यदि विकार न हो तो **'इक् के स्थान में यण् होता है'** इस व्याकरण के सूत्र की व्याख्या कैसे होगी? इस शंका के समाधानार्थ आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—आदेशपक्ष मानकर विकारपक्ष न माना जाय तो भी उक्त व्याकरणसूत्र की व्याख्या असंगत न होगी। क्योंकि वर्णों का विकार नहीं होता—ऐसे इस पक्ष में भी 'इक् के स्थान में यण् होता है' इत्यादि सूत्र की व्याख्या होना असंगत नहीं होता, इस कारण हम वर्णों का विकार नहीं मानते। (अर्थात् संधि करने के समय 'इक्' के प्रयोग की प्राप्ति होने पर 'यण्' का प्रयोग करना ऐसा उक्त व्याकरणसूत्र कहता है नकि इकार का यकार विकार है—ऐसा कहता है) यदि इस पर पूर्वपक्षी कहे कि 'इकार का यकार विकार न हो तब भी इकार का परिणामरूप दूसरा अर्थ (य) तो हो ही जायगा, जिससे वर्ण नित्य हो जाँयगे'। (इसका समाधान भाष्यकार आगे ऐसा करते हैं कि)—'एक वर्ण का दूसरा वर्ण कार्य नहीं होता, क्योंकि इकार वर्ण से यकार वर्ण उत्पन्न नहीं होता अथवा यकार से इकार उत्पन्न नहीं होगा। कारण यह कि ये इकार यकार आदि वर्ण कण्ठ-तालु आदि भिन्न-भिन्न स्थान तथा विवृत-संवृत आदि भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से उच्चारण होने के कारण उत्पन्न होते हैं। इस कारण उन वर्णों में से एक यकारादि वर्ण दूसरे इकारादि वर्णों के स्थान में प्रयोग किये जाते हैं ऐसा ही मानना युक्त है। वर्णों का परस्पर प्रकृति विकारभाव मानने से तो यह होगा कि दूध के दधिरूप परिणाम के समान इकार का यकार परिणाम है अथवा इकार तथा यकार का कार्य तथा कारणभाव है किन्तु दोनों ही वर्णों में नहीं है। इस कारण वर्णों का विकार नहीं होता। (अर्थात् इकार की अपेक्षा न रखते हुए यकार उत्पन्न होता है। अतः इकार तथा यकार का कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। उसके न होने से परिणामादि कभी नहीं हो सकते)। 'इक् के स्थान में यण् होता है' यह व्याकरण का सूत्र आदेश का ही उपदेश करता है नकि विकार का उपदेश। (इससे दूसरा साधक देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिस प्रकार वर्णों के समुदाय का विकार नहीं हो सकता उसी प्रकार वर्णों का विकार नहीं हो सकता। क्योंकि **'अस्तेर्भूः', 'ब्रुवो वचिः'** इत्यादि सूत्रों में 'अस्ति' तथा 'ब्रूञ्' इन वर्णों के धातुरूप समुदाय का किसी विषय में दूसरे **'भू-वचि'** इत्यादि रूप दूसरे वर्णों का समुदाय न परिणाम है न कार्य है, किन्तु केवल एक दूसरे 'अस्ति ब्रूञ्' इन शब्दों के स्थान में दूसरे 'भू' तथा 'वच्' इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'य' इस वर्ण का 'इ' इस वर्ण के स्थान में प्रयोग किया जाता है। (अर्थात् जो यह संधि करने के समय

परिणामो न कार्यं शब्दान्तरस्य स्थाने शब्दान्तरं प्रयुज्यते तथा वर्णस्य वर्णान्तरमिति ॥ ४० ॥

इतश्च न सन्ति विकाराः—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४१ ॥

प्रकृत्यनुविधानं विकारेषु दृष्टं, यकारे ह्रस्वदीर्घानुविधानं नास्ति येन विकारत्वमनुमीयत इति ॥ ४१ ॥

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४२ ॥

'इक्' प्रत्याहार के वर्णों के स्थान में 'यण्' प्रत्याहार के वर्णों के होने का व्याकरण में उपदेश किया जाता है, वह 'यण्' उस इक् वर्ण का विकार नहीं है, 'अस्ति' के स्थान में प्रयोग किये 'भू' के समान इकार वर्ण से यकार के भिन्न होने से—ऐसा अनुमान से सिद्ध हो सकता है। जिससे महापरिमाणवाले तूल (रुई) के पिण्ड (मुण्डों) से उत्पन्न हुआ उससे स्थूल (मोटा) रुई का पिण्ड होता है और छोटे तूलादिकों से उत्पन्न हुआ और छोटा उत्पन्न होता है—यह देखने में आता है उसी प्रकार यहाँ भी दीर्घ ईकार के विकाररूप यकार की ह्रस्व 'इ'कार के विकाररूप यकार में कोई विशेषता होने लगेगी। किन्तु दोनों में कोई विशेषता नहीं होती, इस कारण वर्णों में परस्पर प्रकृति (कारण) तथा विकार (कार्य) भाव नहीं हो सकता—यह सिद्ध होता है ॥ ४० ॥

(विकारपक्ष के खण्डन में हेतु दिखाने वाले सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस कारण भी वर्णों के विकार नहीं होते—

पदपदार्थ—प्रकृतिविवृद्धौ = प्रकृति (कारण) की वृद्धि होने पर, विकारवृद्धेः = विकार (कार्य) की वृद्धि होने से ॥ ४१ ॥

भावार्थ—कार्य में कारण का अनुसरण दिखाई देता है अर्थात् कार्य कारण के अनुकूल होता है, प्रस्तुत में यकाररूप कार्य में ह्रस्व तथा दीर्घ ऐसे इकाररूप कारण का अनुसरण करना नहीं दिखाई पड़ता, अर्थात् यकार अपने कारण इकार के अनुसार ह्रस्व-दीर्घ नहीं होता। जिससे यकार इकार वर्ण का विकार है—ऐसा हम अनुमान से सिद्ध कर सकें ॥ ४१ ॥

(४१ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—विकारों (कार्यों) में प्रकृति (कारण) के अनुसार होना देखने में आता है। प्रस्तुत में यकाररूप विकार अपने इकाररूप प्रकृति (कारण) के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेदों के अनुसार ह्रस्व आदि भेदवाला नहीं होता, जिससे यकार इकार का विकार है—यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध किया जाय। अतः वर्णों का विकारपक्ष असंगत है ॥४१॥

इस आदेशपक्ष के सिद्धांत पर पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न्यूनसमाधिकोपलब्धेः = कारण से न्यून (कम) सम (समान) तथा अधिक की प्राप्ति होने के कारण, विकाराणां = कार्यों के, अहेतुः = विकार होने में प्रकृति की वृद्धि होने पर विकार की वृद्धि होना यह हेतु नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मृत्तिका आदि द्रव्यों के न्यून, समान तथा अधिक परिमाणवाले विकार (कार्य) गृहीत होते हैं। उसी प्रकार यदि इकार का यकाररूप विकार न्यून (कम) हो जायगा। अतः सिद्धांती का प्रकृति की वृद्धि से विकार की वृद्धि होना, यह विकारपक्ष का निषेध नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥

द्रव्यविकारा न्यूनाः समा अधिकाश्च गृह्यन्ते। तद्वदयं विकारो न्यूनः स्यादिति।

द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः। अत्र नोदाहरणसाधर्म्याद्धेतुरस्ति न वैधर्म्यात्। अनुपसंहृतश्च हेतुना दृष्टान्तो न साधक इति।

प्रतिदृष्टान्ते चानियमः प्रसज्येत। यथाऽनडुहः स्थानेऽश्वो वोढुं नियुक्तो न तद्विकारो भवति, एवमिवर्णस्य स्थाने यकारः प्रयुक्तो न विकार इति, न

(४२ वें आक्षेपसूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—मृत्तिका आदि द्रव्यों के विकार (कार्य) न्यून, समान तथा अधिक परिमाण के भी गृहीत होते हैं, उसी प्रकार यह यकाररूप इकार का विकार भी न्यून हो जायगा। (अर्थात् छोटे वट के बीज से उत्पन्न हुआ वट का वृक्ष बड़ा होता है अथवा उससे बहुत बड़े नारियल के बीज से उत्पन्न हुआ नारियण का वृक्ष उसकी अपेक्षा से छोटा होता है। नारियल के बीजों से ही जो परस्पर में समान हैं उत्पन्न हुआ समान ही होता है)।

उक्त पूर्वपक्षी का समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं कि—

पदपदार्थ—द्विविधस्य अपि = दृष्टांत के समान तथा विरुद्ध धर्मवाले दोनों प्रकार के भी, हेतोः = साधकलिङ्ग के, अभावात् = न होने के कारण, असाधनं = साधन नहीं है, दृष्टान्तः = पूर्वपक्षी का दृष्टान्त ॥ ४३ ॥

भावार्थ—द्रव्यों के न्यून, सम तथा अधिक विकार (कार्यों) की उपलब्धि से यह विकार हो सकता है—ऐसे पूर्वपक्षी का दिया हुआ हेतु उदाहरण के साधर्म्य से अथवा उदाहरण के वैधर्म्य से नहीं है। अतः उस हेतु से उपसंहार न किया हुआ वृक्ष-बीजादिकों का दृष्टांत पूर्वपक्षी के वर्णविकाररूप साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता तथा विरुद्ध दृष्टांत में अनियम दोष भी आ जायगा कि—जैसे वृष (बैल) के स्थान में गाड़ी चलाने के लिये लगाया हुआ अश्व (घोड़ा) वृष का विकार नहीं होता, इसी प्रकार इकार के स्थान में प्रयोग किया हुआ यकार भी इकार का विकार नहीं हो सकता। इस विषय में कोई नियम का कारण नहीं है कि वृक्ष-बीजरूप दृष्टांत वर्णविकार को सिद्ध करेगा और वह वृष के स्थान में अश्व का जोतनारूप आदेशपक्ष का साधक वर्णविकार के विरुद्ध दृष्टांत का ग्रहण नहीं किया जायगा। अतः वर्णविकारपक्ष असंगत है। (अर्थात् न्यून, सम तथा अधिक विकारों की उपलब्धि होना रूप हेतु वर्णों के विकार की सिद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि दृष्टान्त के समानधर्म से तथा दृष्टान्त के विरुद्धधर्म से ऐसे दोनों प्रकार के उक्त हेतु के न होने के कारण तथा वर्णविकार के विरुद्ध दृष्टान्त का भी उपर्युक्त प्रकार से संभव भी है। यह पूर्वपक्षी के मत के परिहार का आशय है) ॥

(४२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस विषय (न्यून, सम तथा अधिक विकारों की उपलब्धि में न तो उदाहरण के समानधर्म को लेकर यह हेतु हो सकता है, न कि विरुद्धधर्म को लेकर। ऐसे हेतु से प्रस्तुत विषय में उपनय अवयव के द्वारा उपसंहार न किया हुआ दृष्टांत वर्णविकाररूप साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता तथा विरुद्ध दृष्टांत को लेकर नियम भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि जिस प्रकार वृष के स्थान में गाड़ी चलाने के लिये जोत

चात्र नियमहेतुरस्ति दृष्टान्तः साधको न प्रतिदृष्टान्त इति ॥ ४२ ॥

द्रव्यविकारोदाहरणं च—

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४३ ॥

अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावोऽत्रकल्पते विकाराश्च प्रकृतीरनुविधीयन्ते । न त्विवर्णमनुविधीयते यकारः तस्मादनुदाहरणं द्रव्यविकार इति ॥ ४३ ॥

द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः ॥ ४४ ॥

हुआ अश्व वृष का विकार नहीं होता, उसी प्रकार 'इ' इस वर्ण के स्थान में प्रयोग किया हुआ 'य' यह वर्ण भी इकार का विकार नहीं है। इस विषय में नियम का तो साधक हेतु है नहीं कि वृक्ष-बीजादि उपर्युक्त दृष्टांत से विकारों में न्यूनता, समता आदि मानकर वर्णों का विकार माना जाय और वृष के स्थान में जोते हुए अश्व का विरुद्ध दृष्टांत लेकर आदेशपक्ष न माना जाय। अतः वर्ण-विकारपक्ष ही युक्त है यह पूर्वपक्षी का मत संगत नहीं है ॥ ४२ ॥

(यदि 'न्यून' सम तथा अधिक उपलब्धि होनारूप हेतु वर्णविकार का साधक नहीं है, किन्तु सिद्धांती के दिए 'प्रकृति की वृद्धि से विकार की वृद्धिरूप हेतु में व्यभिचार पूर्वपक्षी के उक्त हेतु से दिखाया जाता है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उसके परिहार करनेवाले सिद्धांतसूत्र के अवतरण में भाष्यकार ऐसा कहते हैं कि)—वृक्षबीजादिकों के द्रव्यविकार के जो उदाहरण पूर्वपक्षी ने दिये थे—

पदपदार्थ—न = वह उदाहरण नहीं हो सकता, अतुल्यप्रकृतीनां = समान न होनेवाले प्रकृति (कारणों) का, विकारविकल्पात् = कार्यों में विकल्प होने से ॥ ४३ ॥

भावार्थ—असमान द्रव्यों में प्रकृति (कारण) स्वरूपता हो सकती है और विकार (कार्य), प्रकृति (कारण) के अनुसार होते हैं। किन्तु प्रस्तुत में यकार इकार के अनुसार ह्रस्व, दीर्घादि रूप नहीं होगा। इस कारण पूर्वपक्षी का दिया द्रव्यविकार वर्ण-विकारपक्ष का उदाहरण नहीं हो सकता; अर्थात् समान न होने पर भी। प्रकृति (कारण) के विकार (कार्य) अनेक प्रकार के होते हैं और विकार (कार्य) कारण के विशेषों के अनुसार होते हैं। जिस प्रकार वटवृक्ष का बीज वटवृक्ष की प्रकृति (कारण) और वट के बीज से वटवृक्ष ही उत्पन्न होता है न कि नारिकेल (नारियल) वृक्ष। यही प्रकृति (कारण) के अनुसार होना सिद्धांती ने कहा था न कि कारण के वृद्धि तथा ह्रास से विकृति (कार्य) की वृद्धि तथा ह्रास होते हैं—ऐसा कहा था) ॥ ४३ ॥

(४३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जो परस्पर समान नहीं हैं, ऐसे द्रव्यों में प्रकृति (कारण) रूप होना हो सकता है और विकार (कार्य) प्रकृति के अनुसार होते हैं। किन्तु प्रस्तुत में 'य' यह वर्ण 'इ' इस वर्ण के ह्रस्व, दीर्घ आदि भेदों के अनुसार नहीं होता। इस कारण द्रव्यों का विकार वर्णविकारपक्ष में उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि इकाररूप प्रकृति के ह्रस्व, दीर्घ होने के समान यकार ह्रस्व, दीर्घ नहीं होता) ॥ ४३ ॥

उक्त सिद्धांती का हेतु असिद्ध है इस आशय से पूर्वपक्षी का सूत्र दिखाते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यविकारे = द्रव्यों के विकार में, वैषम्यवत् = विषमता के समान, वर्णविकार-विकल्पः = वर्णों के विकारों में विकल्प हो सकता है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जैसे द्रव्यरूप से समान कारण के अनेक प्रकार के विषम कार्य होते हैं, इसी प्रकार वर्णरूप से समान प्रकृति के भी अनेक प्रकार के विषम विकार हो सकते हैं। (अर्थात् विकार

यथा द्रव्यभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यम्, एवं वर्णभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारविकल्प इति ॥ ४४ ॥

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

अयं विकारधर्मो द्रव्यसामान्ये यदात्मकं द्रव्यं मृद्वा सुवर्णं वा तस्यात्मनोऽन्वये पूर्वो व्यूहो निवर्त्तते व्यूहान्तरं चोपजायते तं विकारमाचक्षते न वर्णसामान्ये कश्चिच्छब्दात्माऽन्वयी य इत्वं जहाति यत्वं चोपद्यते। तत्र यथा सति द्रव्यभावे विकारवैषम्ये नाऽनडुहोऽश्वो विकारो विकारधर्मानुपपत्तेः, एवमिवर्णस्य न यकारो विकारो विकारधर्मानुपपत्तेरिति ॥ ४५ ॥

प्रकृति के भेदों के अनुसार नहीं होते, क्योंकि द्रव्यता समान होने पर भी प्रकृति (कारणों) के कार्यों में विषमता दीखती है। इसी प्रकार वर्णता समान होने पर भी विकार से विषमता हो सकती है—यह पूर्वपक्ष के दूषण का आशय है ॥ ४४ ॥

(४४ वें सूत्र की पूर्वपक्षी के आशय से व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस प्रकार द्रव्यरूप से समान प्रकृति के विकारों में विषमता दीखती है, इसी प्रकार वर्णरूप से समान कारणों के विकार (कार्यों) में विषमता हो सकती है ॥ ४४ ॥

उक्त पूर्वपक्षी का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = ऐसा नहीं हो सकता, विकारधर्मानुपपत्तेः = विकार के धर्मों के न हो सकने से ॥ ४५ ॥

भावार्थ—द्रव्यों में जैसे मृत्तिका अथवा सुवर्णरूप कारणद्रव्य है, उसके अलंकारादि विकारों (कार्यों) में मृत्तिका या सुवर्ण का संबंध रहते पूर्व अवयवी (सुवर्ण) का रूप हटकर दूसरा अलंकाररूप अवयवी उत्पन्न होता है उसे विकार कहते हैं। किन्तु प्रस्तुत में वर्णों में कोई शब्द स्वरूप ऐसा नहीं है जो इकारता को छोड़कर यकारता को प्राप्त होता हो। उसमें जिस प्रकार द्रव्यस्वरूपता रहते कार्य के वैषम्य में वृष तथा अश्व विकार नहीं होता, विकारधर्म के न होने से ऐसा दृष्टांत मिलता है ॥ ४५ ॥

(४५ वें सूत्र की सिद्धांतिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—साधारणरूप से द्रव्यों के विकारों का यह धर्म है कि—मृत्तिका अथवा सुवर्णरूप जो द्रव्य होता है उसका अपना मृत्तिका अथवा सुवर्ण का सम्बन्ध रहते हुए उसका पूर्व अवयविरूप हटकर दूसरे घट, अलंकाररूप अवयवी के स्वरूप उत्पन्न होते हैं, उसी को हम सिद्धांती विकार कहते हैं। किन्तु प्रस्तुत में साधारणरूप से वर्णों में कोई शब्द स्वरूप सम्बन्ध नहीं रखता जो 'इ' के स्वरूप को छोड़कर 'य' के स्वरूप को प्राप्त होता है। उसमें जिस प्रकार द्रव्यस्वरूपता रहते कार्य की विषमता होने पर भी वृष के स्थान में गाड़ी में जोता हुआ अश्व और वृष का प्रकृति-विकार भाव नहीं होता, क्योंकि उसमें विकारधर्म नहीं होता। इसी प्रकार इवर्ण का यवर्ण विकार नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त प्रकार से विकार के धर्म नहीं हो सकते। (अर्थात् यदि वृष तथा अश्व में विकारधर्म हो तो वृष के स्थान पर रथ में अश्व को जोतने पर 'यह वृष है' इस प्रकार वृष तथा अश्व में (अभेद) एकता ज्ञान होने लगेगा कि 'यह घोड़ा ही बैल है'। अतः वर्णों का विकार मानना असंगत है ॥ ४५ ॥

इतश्च न सन्ति वर्णविकाराः—

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ४६ ॥

अनुपपन्ना पुनरापत्तिः। कथम्? पुनरापत्तेरननुमानादिति। इकारो यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवति, न पुनरिकारस्य स्थाने यकारस्य प्रयोगोऽप्रयोगश्चेत्यत्रानुमानं नास्ति ॥ ४६ ॥

अननुमानादिति न। इदं ह्यनुमानम्—

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४७ ॥

(सिद्धान्तपक्ष से आदेशपक्ष नहीं हो सकता है, वर्णविकार नहीं हो सकता, इस आशय के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस आगे सूत्र में कहे जानेवाले हेतु से भी वर्णों के विकार नहीं हो सकते—

पदपदार्थ—विकारप्राप्तानां = विकाररूप को प्राप्त हुए वर्णों के, अपुनरापत्तेः = पुनः अपने स्वरूप में न आने के कारण ॥ ४६ ॥

भावार्थ—विकाररूप को प्राप्त हुए वर्णों को पुनः अपना स्वरूप प्राप्त होता है, ऐसा मानने में कोई अनुमानप्रमाण नहीं है। इकार यकार होकर पुनः इकार होता है, न कि पुनः इकार के स्थान में यकार का प्रयोग ऐसा प्रयोग नहीं होता—इस विषय में कोई अनुमानप्रमाण नहीं है, ऐसा नहीं। (अर्थात् विकारपक्ष में दूध का विकाररूप दही पुनः दूध होता हुआ नहीं देखने में आता है) इस कारण विकारपक्ष असंगत है ॥ ४६ ॥

(४६ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—विकाररूप हुए वर्णों का पुनः अपना स्वरूप प्राप्त करना अयुक्त है। (प्रश्न)—कैसे? (उत्तर)—पुनः विकारस्वरूपता को प्राप्त वर्णों को पुनः अपना स्वरूप प्राप्त होता है, इसमें कोई अनुमानप्रमाण नहीं है। इकार यकार स्वरूप को प्राप्तकर पुनः इकार होता है, न कि पुनः इकार के स्थान में यकार का प्रयोग तथा प्रयोग न होना, इस विषय में अनुमानप्रमाण नहीं है—ऐसा नहीं है। (अर्थात् यदि इवर्ण का यवर्ण विकार हो तो जिस प्रकार दही पुनः दूध नहीं होता यवर्ण को इवर्ण की प्राप्ति न होगी। किन्तु यवर्ण पुनः इकार होता है जैसे—'ध्यायति' संप्रसारण में 'धीः' ऐसा सिद्ध होता है और उसके समास में 'ध्याप्तिः' जिसका व्याकरण में 'धी' - प्राप्ति ऐसा अर्थ होता है। अतः वर्ण का विकारपक्ष असंगत है ॥ ४६ ॥

(पुनः पूर्वपक्षी के मत से सूत्र में विकाररूपों को पुनः अपना प्रकृतिरूप नहीं होता)—इस सिद्धांती के हेतु में आपत्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सुवर्णादीनां = सुवर्ण मृत्तिका आदि द्रव्यों के, पुनः = फिर, आपत्तेः = अपना स्वरूप प्राप्त होने से, अहेतुः = 'पुनः अपना स्वरूप प्राप्त नहीं होता' यह हेतु साधक नहीं हो सकता ॥ ४७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डलरूप को छोड़कर रुचक (यन्त्र) रूपता को प्राप्त होता है और पुनः रुचकरूप को छोड़कर कुण्डलरूप भी हो जाता है, इसी प्रकार इवर्ण भी यवर्ण रूप को प्राप्त होकर पुनः इवर्ण हो जाता है। इस कारण विकाररूप को प्राप्त हुए पदार्थों में पुनः अपना स्वरूप प्राप्त होता है ऐसा दिखाई देने के कारण 'पुनः अपना स्वरूप प्राप्त न होना' यह सिद्धांती का हेतु व्यभिचारी दुष्टहेतु है ॥ ४७ ॥

सुवर्णं कुण्डलत्वं हित्वा रुचकत्वमापद्यते रुचकत्वं हित्वा पुनः कुण्डलत्वमापद्यते, एवमिकारोऽपि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति ॥ ४७ ॥

व्यभिचारादननुमानम् यथा पयो दधिभावमापन्नं पुनः पयो भवति किम् ? एवं वर्णानां न पुनरापत्तिः अथ सुवर्णवत् पुनरापत्तिरिति ? सुवर्णोदाहरणोपपत्तिश्च—

न तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ॥ ४८ ॥

अवस्थितं सुवर्णं हीयमानेन उपजायमानेन च धर्मेण धर्मि भवति, नैव कश्चिच्छब्दात्मा हीयमानेनेत्वेनोपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते, तस्मात्सुवर्णोदाहरणं नोपपद्यत इति ।

(४७ वें सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—विकाररूप को प्राप्त हुए पदार्थों को पुनः अपना रूप प्राप्त होता है; इसमें अनुमानप्रमाण नहीं है—यह सिद्धांती का कहना युक्त नहीं है। क्योंकि यह अनुमान है। जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डलरूपता को त्यागकर, रुचक (गले का यन्त्र) रूपता को प्राप्त होता है और पुनः उस रुचकरूप को छोड़कर पुनः कुण्डलरूपता को भी प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार इवर्ण भी यवर्ण होकर पुनः इवर्ण हो जाता है—ऐसा अनुमान प्रमाण है। इस कारण सिद्धांती का विकाररूपों को पुनः अपना प्रकृतिरूप ही प्राप्त होता है—यह कहना संगत नहीं है ॥ ४७ ॥

(उक्त पूर्वपक्षीमत के खण्डन करनेवाले सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के हेतु का साधनपक्ष में दूषण देते हुए कहते हैं कि)—व्यभिचार होने के कारण अनुमानप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रकार दूध दही होने के पश्चात् दूध नहीं होता, क्या ऐसे ही यकारादि वर्ण पुनः इकारादि नहीं होते—अथवा उपर्युक्त सुवर्णादिकों के समान पुनः कार्यरूप छोड़कर कारणरूप हो जाते हैं ? अतः व्यभिचारदोष के कारण पूर्वपक्षी का कहना असंगत है और सुवर्ण का उदाहरण हो भी नहीं सकता—

पदपदार्थ—न = नहीं, तद्विकाराणां = सुवर्ण के कुण्डलादि विकारों में, सुवर्णभावाव्यतिरेकात् = सुवर्णरूपता का अभाव न होने से ॥ ४८ ॥

भावार्थ—एक कुण्डलादि विकार को छोड़ने में तथा दूसरे रुचकादि रूप को लेने में भी सुवर्ण धर्मीरूप से कुण्डल तथा रूचक दोनों में वर्तमान रहता है, किन्तु प्रस्तुत में कोई ऐसा शब्द स्वरूपधर्मी नहीं है जो निवृत्त होनेवाले इकार तथा उत्पन्न होनेवाले यकार दोनों में रहता हो। अतः सुवर्ण का उदाहरण पूर्वपक्षी का नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

(४८ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—वर्तमान में रहनेवाला सुवर्ण नष्ट होनेवाले कुण्डलादि विकारों में तथा उत्पन्न होनेवाले रुचकादि विकारों में भी धर्मीरूप से रहता है। इस प्रकार कोई शब्दस्वरूप धर्मी नहीं है, जो निवृत्त होनेवाले इवर्ण तथा उत्पन्न होनेवाले यवर्ण में भी धर्मी हो—ऐसा जाना जाय। इस कारण सुवर्ण का उदाहरण नहीं हो सकता। (अर्थात् सुवर्णजाति के जो अवयव रुचक अलंकाररूपता को प्राप्त हुए हैं वे ही पूर्व अपने स्वरूप को त्यागकर वर्तमान अलंकाररूप होकर पुनः रुचक अलंकाररूप होते हैं। क्योंकि उनके सुवर्णरूप अवयवों की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होती है। किन्तु प्रस्तुत में यकार में अनुगत इकार अथवा इकार तथा यकार दोनों में वर्तमान कोई शब्दरूप धर्मी नहीं दिखाई देता, जो इरूप को छोड़कर यरूपता को प्राप्त हो। वर्णता,

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः। वर्णविकारा अपि वर्णत्वं न व्यभिचरन्ति यथा सुवर्णविकारः सुवर्णत्वमिति।

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य। कुण्डलरुचकौ सुवर्णस्य धर्मौ न सुवर्णत्वस्य, एवमिकारयकारौ कस्य वर्णात्मनो धर्मौ वर्णत्वं सामान्यं न तस्येमौ धर्मौ भवितुमर्हतः। न च निवर्तमानो धर्म उपजायमानस्य प्रकृतिस्तत्र निवर्तमान इकारो न यकारस्योपजायमानस्य प्रकृतिरिति ॥ ४८ ॥

धर्म इकार तथा यकार दोनों में अनुगत (सम्बद्ध) होने पर भी वह धर्मी नहीं है किन्तु धर्म ही है। क्योंकि वर्णत्व को धर्मी माना जाय तो 'इक' के स्थान में यण् होता है यह नियम न होगा, क्योंकि वर्णत्व तो अकारादि पचासों वर्णों में रहता है और निवृत्त होनेवाला इकार भी यकार का धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म तथा धर्मी दोनों समान ही काल में होते हैं। यह सिद्धान्ती का आशय है ॥

वर्णविकारवादी पूर्वपक्षी के मत से पुनः सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं—

पदपदार्थ—वर्णत्वाव्यतिरेकात् = वर्णत्वधर्म का संपूर्ण वर्णों में अभाव न होने से, वर्णविकाराणां = वर्णों के विकारों का, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्ण के विकार (कार्य) रुचकादि अलंकारों में सुवर्ण का अभाव नहीं है उसी प्रकार वर्णों के विकारों में भी वर्णत्व का अभाव नहीं है। अतः वर्णविकारपक्ष संगत है ॥

(भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इकारादि वर्णों के यकारादि विकार भी वर्णत्वधर्म को नहीं छोड़ते। जिस प्रकार सुवर्ण प्रकृति के अलंकाररूप विकार (कार्य), स्वर्णत्वधर्म को नहीं छोड़ते ॥

उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए सिद्धांती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यवतः = समानधर्म के आधारधर्मी में, धर्मयोगः = धर्म का संबंध होता है, न = नहीं होना, सामान्यस्य = समान धर्म में ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रुचक, कुण्डल आदि सुवर्णरूपधर्मी के धर्म हैं न कि सुवर्णत्वरूप धर्म के; इसी प्रकार इकार और यकार किस वर्णस्वरूप के धर्म हैं ? वर्णत्व में वर्णों का समान धर्म है, उसके ये इकार और यकार धर्म नहीं हो सकते। इकाररूप निवृत्त होनेवाला धर्म उत्पन्न होनेवाले यकार की प्रकृति (कारण) नहीं है। जिससे यह सिद्ध होता है कि इकार तथा यकार का प्रकृति-विकारभाव नहीं है, अतः वर्णों का विकारपक्ष मानना असंगत है ॥

(भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—कुण्डल तथा रुचक अलंकार सुवर्णरूप अवयवी के धर्म हैं, न कि सुवर्णत्वधर्म के। इस प्रकार इकार और यकार ये दोनों किस वर्णस्वरूप के धर्म हैं ? वर्णत्व तो वर्णों का समानधर्म है, उसके ये इकार तथा यकार दोनों धर्म नहीं हो सकते। निवृत्त होनेवाला धर्म उत्पन्न होनेवाले की प्रकृति (कारण) नहीं होगा। जिससे यह सिद्ध होता है कि निवृत्त होनेवाला इकार उत्पन्न होनेवाले यकार की प्रकृति (कारण) नहीं है। इस कारण पूर्वपक्षी का विकारपक्ष असंगत है ॥ ४८ ॥

इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ४९ ॥

नित्या वर्णा इत्येतस्मिन्पक्षे इकारयकारौ वर्णौ इत्युभयोर्नित्यत्वाद्विकारानुपपत्तिः। नित्यत्वेऽविनाशित्वात् कः कस्य विकार इति। अथानित्या वर्णा इति पक्षः? एवमप्यनवस्थानं वर्णानाम्। किमिदमनवस्थानं वर्णानाम्? उत्पद्य निरोधः। उत्पद्य निरुद्ध इकारे यकार उत्पद्यते, यकारे चोत्पद्य निरुद्धे इकार उत्पद्यत इति कः कस्य विकारः? तदेतदवगृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे वेदितव्यमिति ॥ ४६ ॥

नित्यपक्षे तु तावत्समाधिः—

(वर्णविकारपक्ष अयुक्त है इस आशय से सिद्धांती के दूसरे हेतु देनेवाले सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस सूत्र में कहे जानेवाले हेतु से भी वर्णों का विकारपक्ष नहीं बन सकता—

पदपदार्थ—नित्यत्वे = वर्णों के नित्य होने पर, अविकारात् = उनका विकार न होने के कारण, अनित्यत्वे = वर्णों के अनित्य होने पर, च = और, अनवस्थानात् = स्थित न होने के कारण ॥ ५९ ॥

भावार्थ—यदि मीमांसकमत से वर्णों को नित्य माना जाय तो इस पक्ष में इकार तथा यकार नित्य होने के कारण उनका विकार नहीं हो सकता। क्योंकि नाश न होने से कौन किसका विकार बोला जायगा और यदि नैयायिकों के मत से वर्णों को अनित्य माना जाय तो वर्णों की स्थिति नहीं हो सकती, तो इस पक्ष में भी जब इकार नष्ट होने के पश्चात् यकार उत्पन्न हुआ तो किसका, किसको विकार कहा जायगा, अतः वर्णों का विकार मानना सर्वथा असंगत है ॥ ५९ ॥

(४९ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—वर्ण नित्य है इस पक्ष में इकार और यकार के वर्ण होने से नित्य होने के कारण विकार नहीं हो सकता। क्योंकि नित्य होने के कारण नाशरहित होने से कौन वर्ण किस वर्ण का विकार होगा। इस कारण वर्णों के नित्यपक्ष में वर्णविकारयुक्त नहीं है। यदि वर्ण अनित्य होते हैं ऐसा पक्ष लिया जाय तो भी वर्ण अनित्य होने से स्थित नहीं हो सकते। (प्रश्न पूर्वपक्षी का)—'यह वर्णों का अनवस्था' (स्थित न होना) क्या है? (उत्तर सिद्धांती का)—उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना। क्योंकि इकार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने के पश्चात् यकार उत्पन्न होता है और यकार उत्पन्न होकर नष्ट होने के पश्चात् इकार उत्पन्न हो जाता है। तब कौन वर्ण किस वर्ण का विकार कहा जायगा? वह यह दोनों प्रकार अवग्रह (पदच्छेद) पूर्वक दो पदों की संधि करना तथा सन्धिपूर्वक पदच्छेद करने में क्रम से होते हैं। अर्थात् यहाँ पर 'दध्यत्र' ऐसे प्रयोग में ध्य इकार की उत्पत्ति होकर नाश होता है—यह भाष्यकार ने सूचित किया है। क्योंकि 'दधि-अत्र' ऐसा पदच्छेद कर पहिले उच्चारण कर पश्चात् संधि कर 'दध्यत्र' ऐसा उच्चारण किया जाता है। अथवा 'दध्यत्र' ऐसी संधि दो पदों की करने के पश्चात् 'दधि-अत्र' ऐसा पदच्छेद कर उच्चारण किया जाता है। यही इकार का उत्पन्न होकर नाश होना है—यह सिद्धांती का आशय है ॥ ४९ ॥

(सिद्धांती के पूर्वोक्त प्रकार से वर्णों के नित्य तथा अनित्य दोनों पक्षों में वर्णविकार नहीं हो सकता। इस कथन पर शब्द के नित्यतापक्ष में समाधान देनेवाले पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥५०॥

नित्या वर्णा न विक्रियन्त इति विप्रतिषेधः। यथा नित्यत्वे सति किञ्चिद-तीन्द्रियं किञ्चिदिन्द्रियग्राह्यम् इन्द्रियग्राह्याश्च वर्णाः, एव नित्यत्वे सति किञ्चिन्न विक्रियते वर्णास्तु विक्रियन्त इति।

विरोधादहेतुस्तद्धर्मविकल्पः। नित्यं नोपजायते नापैति अनुपजनापायधर्मकं नित्यम्, अनित्यं पुनरुपजनापाययुक्तं, न चान्तरेणोपजनापायौ विकारः

देते हैं कि)—शब्द को नित्य माननेवाले के पक्ष में वर्णविकार न माननेवाले सिद्धांती के पूर्वसूत्रों के विषय पर यह समाधान है—

पदपदार्थ—नित्यानां = नित्य पदार्थों के, अतीन्द्रियत्वात् = इन्द्रियों से गृहीत न होने के कारण, तद्धर्मविकल्पात् च = और उनके धर्मों (नित्यों के धर्मों) का विकल्प (नाना भेद) होने के कारण भी, अप्रतिषेधः = वर्णों का विकार नहीं होता यह निषेध नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

भावार्थ—वर्ण नित्य होने के कारण उनका विकार नहीं हो सकता ऐसा सिद्धांतमत से (५० वें सूत्र में) कहा हुआ वर्णविकार का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार नित्यपदार्थ (परमाणु) आदि कुछ इन्द्रियों से गृहित न होने के कारण अतीन्द्रिय होते हैं तथा कुछ जैसे घटत्वादि जातिरूप नित्यपदार्थ चक्षुरादि इन्द्रियों से गृहीत होते हैं वैसे ही वर्ण भी श्रोत्रइन्द्रिय से गृहीत होते हैं। इसी प्रकार नित्य होने पर कुछ नित्यपदार्थों (आकाशादि) का विकार न होता हो तो भी वर्णरूप नित्य शब्दों का विकार होता है ऐसा क्यों न माना जाय। अतः शब्द के नित्य होने के पक्ष में विकार नहीं हो सकता—यह सिद्धांती का कथन असंगत है ॥ ५० ॥

(५० वें सूत्र की व्याख्या पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार करते हैं कि)—'नित्यवर्णों का विकार नहीं होता' ऐसा सिद्धांती का निषेध अयुक्त है। क्योंकि जिस प्रकार नित्य होने पर भी कुछ आकाशादि पदार्थों का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता है अतः वे अतीन्द्रिय होते हैं, तथा **'घटत्व,'** **'गोत्व'** आदि नित्य जातिरूप पदार्थों का (जिस इन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है उसमें वर्तमान जाति का भी उस इन्द्रिय से ग्रहण होता है) इस नियम से चक्षु तथा त्वचा इन्द्रिय से ग्रहण हो सकने से उनका इन्द्रिय से ग्रहण होता है। अतः अतीन्द्रिय नहीं है। प्रस्तुत में वर्णों का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है। अतः इस प्रकार 'कुछ पदार्थों का नित्य होने पर भी विकार होता है, कुछ नित्यपदार्थों का विकार नहीं होता'। ऐसा मानना संगत होने के कारण नित्य होने पर वर्णों का विकार हो सकता है। अतः वर्णविकार का पक्षयुक्त है। (यह नित्यपक्ष में वर्णविकार माननेवाले पूर्वपक्षी का समाधान विकल्पसमानामक जाति (असत् उत्तर) है, ऐसा कहते हुए भाष्यकार सिद्धांतीमत से स्वतन्त्ररूप से उत्तर करते हैं कि)—नित्यों में अतीन्द्रियता तथा इन्द्रियग्राह्यता ऐसे दो प्रकार के नित्यपदार्थों के धर्मों का विकल्प करना विरोध होने से वर्णविकार की स्थापना नहीं कर सकता। क्योंकि नित्य का भी पदार्थ न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। अर्थात् उपजन (उत्पत्ति) तथा अपाय (विनाश) इन दोनों धर्मों से जो रहित होता है उसे नित्य और उत्पत्ति तथा नाशरूप दोनों धर्मों से युक्त होता है वह अनित्य पदार्थ होता है और बिना उत्पत्ति तथा नाश इन दोनों धर्मों का विकार हो नहीं सकता। तो यदि वर्णों का विकार हो तो, उनमें नित्यता नहीं हो सकती और यदि वे वर्ण नित्य हैं तो वे विकारधर्मवाले नहीं हो सकते। अतः पूर्वपक्षी का **'धर्मविकल्प'** रूप हेतु वर्णविकाररूप साध्य का साधक न होकर उसके विपरीत वर्णविकार के अभाव का साधक होने के

सम्भवति। तद्यदि वर्णा विक्रियन्ते ? नित्यत्वमेषां निवर्त्तते। अथ नित्याः ? विकारधर्मत्वमेषां निवर्त्तते। सोऽयं विरुद्धो हेत्वाभासो धर्मविकल्प इति ॥५०॥

अनित्यपक्षे समाधिः—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥ ५१ ॥

यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवत्येवमेषां विकारो भवतीति।

असम्बन्धादसमर्था अर्थप्रतिपादिका वर्णोपलब्धिर्न विकारेण सम्बन्धादसमर्था या गृह्यमाणा वर्णविकारमर्थमनुमापयेदिति। तत्र यादृगिदं यथा गन्धगुणा पृथिव्येवं शब्दसुखादिगुणापीति, तादृगेतद्भवतीति। न च *वर्णोपलब्धिर्वर्णनिवृत्तौ वर्णान्तरप्रयोगस्य निवर्तिका*। योऽयमिवर्णनिवृत्तौ यकारस्य

कारण विरुद्धनामक दुष्टहेतु है। जिससे वर्णविकार सिद्ध नहीं हो सकता। (अर्थात् नित्यपदार्थों में इन्द्रियग्राह्य होना न होना, इन दोनों से कोई विरोध नहीं आता और वर्णों का प्रकृतिविकार (कार्यकारण) भाव मानने से तो नित्यता का विरोध होता है। क्योंकि कार्य होना और नित्य होना—इनका परस्पर विरोध है ॥ ५० ॥

(इस प्रकार वर्णविकार न माननेवाले सिद्धांती के शब्द की अनित्यता मानने से उस वर्ण की स्थिति (रहना) न हो सकने के कारणरूप हेतु पर वर्णों के अनित्य माननेवाले वर्णविकार के पक्ष से समाधान समाधान करनेवाले पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—वर्णों की अनित्यता मानने के पक्ष में सिद्धांती का समाधान यह है—

पदपदार्थ—अनवस्थायित्वे च = और वर्णों के स्थित न रहने पर भी, वर्णोपलब्धिवत् = न रहनेवाले वर्णों के श्रोत्रेन्द्रिय से ज्ञान होने के समान, तद्विकारोपपत्तिः = वर्णों का विकार हो सकता है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अनित्य होने से न रहनेवाले वर्णों का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण होता है उसी प्रकार अनित्य—अवर्तमान भी वर्णों का विकार हो सकता है। (अर्थात जिस प्रकार न रहनेवाले भी वर्णों का श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध होकर वर्ण का ग्रहण होता है, इसी प्रकार न रहनेवाला भी इकारादि वर्ण यकारादि विकार (कार्य) को भी कर सकेंगे यह जातिवादी पूर्वपक्षी का आशय है) ॥

(भाष्यकार इस अनित्यपक्ष की भी यह साधर्म्य सभा नामक जाति (असत उत्तर) है। इस आशय से स्वतन्त्ररूप से खण्डन करते हुए आगे कहते हैं कि)—अर्थ को कहनेवाली भी वर्णों की उपलब्धि सम्बन्ध न होने पर अर्थ के कहने में समर्थ नहीं होती। न कि विकार के सम्बन्ध से अर्थ के कहने में असमर्थ होती है, जो वह वर्ण की उपलब्धि गृहीत होकर उस वर्ण के विकाररूप अर्थ की अनुमान से सिद्धि करा सकेगी (इस कारण पूर्वपक्षी का मत अयुक्त है) तो इसमें यह आपत्ति आयगी कि जैसे यह कहना है कि—जिस प्रकार पृथ्वी गन्धगुण का आधार है, इसी प्रकार शब्द सुखादिगुणों का भी आधार होगा—वैसे ही यह भी पूर्वपक्षी का कहना है कि—'वर्तमान न होने पर भी जैसे शब्द सुनाई देते हैं वैसे विकार भी उनका होगा'। प्रस्तुत में यकार वर्ण की उपलब्धि (प्राप्ति) इकार वर्ण के निवृत्त होने पर दूसरे (यकार) वर्ण के प्रयोग करने का निवर्तक नहीं है। क्योंकि जो यह इकार के निवृत्त होने पर यकार का प्रयोग होता है—यह यदि यकार की

प्रयोगो यद्ययं वर्णोपलब्ध्या निवर्त्तते तदा तत्रोपलभ्यमान इवर्णो यत्वमापद्यते इति गृह्यते तस्माद्वर्णोपलब्धिरहेतुर्वर्णविकारस्येति ॥ ५१ ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥५२॥

तद्धर्मविकल्पादिति न युक्तः प्रतिषेधः । न खलु विकारधर्मकं किञ्चिन्नित्यमुपलभ्यत इति वर्णोपलब्धिवदिति न युक्तः प्रतिषेधः । अवग्रहे हि दधि अत्रेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा ततः संहितायां प्रयुङ्क्ते दध्यत्रेति । चिरनिवृत्ते चायमिवर्णे यकारः प्रयुज्यमानः कस्य विकार इति प्रतीयते, कारणाभावात् कार्याभाव इति अनुयोगः प्रसज्यत इति ॥ ५२ ॥

प्राप्ति से निवृत्त होता हो तो उस पद में मिलनेवाला इकार ही यकार हो जाता है । ऐसा ग्रहण होने लगेगा । इस कारण अवर्तमान भी वर्ण की उपलब्धि होना वर्णों का विकार होता है । यह सिद्ध नहीं कर सकता । (अर्थात् कुछ क्षणों तक रहनेवाले क्षणिक भी वर्णों से अपने विषय का ज्ञान जिस प्रकार हो सकता है । उसी प्रकार पदच्छेद के करने के कुछ काल के पश्चात् जब दोनों पदों की संधि की जाती है अथवा संधियुक्त पद कहकर उसके कुछ काल के पश्चात् जब दोनों पद पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं—उस समय अनित्य वर्णों की उतने काल तक स्थिति नहीं रहती । अतः उपलब्धि के कारण वर्णों के विकार को करना समान नहीं हो सकता । अतः सम्बन्ध न होने से वर्णों की उपलब्धि होना वर्णों का विकार होता है । यह कहने में असमर्थ होता है—यह भाष्यकार का स्वतन्त्र साधर्म्यसमा नामक जातिवादी का उत्तर है ॥ ५१ ॥

(इस प्रकार जातिवादी का जो भाष्यकार ने स्वतन्त्ररूप से खण्डन किया है इस विषय में सूत्रकार की संमति दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—विकारधर्मित्वे = वर्णों के विकार का धर्म (आश्रय) मानने पर, नित्यत्वाभावात् = नित्यता न हो सकने से, कालान्तरे = दूसरे समय में, विकारोपपत्तेः च = और विकार के हो सकने से भी, अप्रतिषेधः = तद्धर्म के विकल्प से यह निषेध नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी का दिया हुआ नित्यों के धर्मों का विकल्प वर्णविकार का खण्डन नहीं कर सकता, अर्थात् यह निषेध अयुक्त है । क्योंकि 'दधि अत्र' ऐसा पदच्छेद करने के कुछ काल के पश्चात् सन्धिकर 'दध्यत्र' ऐसा प्रयोग किया जाता है । बहुत पूर्वकाल में हट गया हुआ यह इकार के स्थान में यकार का प्रयोग किया जाता है, तो यह यकार किस वर्ण का विकार है यह जाना जाय, जिसके कारण इकार के न होने से कार्य यकार का अभाव हुआ ऐसे प्रश्न की आपत्ति होगी । अतः धर्मविकल्परूप हेतु दुष्ट होने के कारण वर्णों का विकारवाद सिद्ध नहीं कर सकता ॥ ५२ ॥

(५२ वें सिद्धांत सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी ने वर्णों के विकार की सिद्धि करने में जो नित्यपदार्थों के धर्मों का विकल्प होना यह हेतु देकर सिद्धांतिमत का निषेध किया था वह युक्त नहीं है क्योंकि वह दुष्ट है । क्योंकि विकार धर्मवाला कोई भी नित्य उपलब्ध नहीं होता । इस कारण वर्णों की उपलब्धि के समान इस कारण पूर्वपक्षी का निषेधयुक्त नहीं है । (इसी को आगे भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि)—अवग्रह (संधि न कर) 'दधि अत्र' ऐसे दो पदों का प्रयोग करने के बहुत काल के पश्चात् दोनों पदों की संधि कर 'दध्यत्र' ऐसा प्रयोग किया जाता है । अतः बहुत पूर्वकाल में इकार की निवृत्ति होने पर संधि में प्रयोग किया हुआ यह यकार किसका विकार है यह जाना जायगा । जिससे इकाररूप कारण के न होने से यकाररूप कार्य का अभाव है ऐसा

इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः—

प्रकृत्यनियमात् ॥ ५३ ॥

इकारस्थाने यकारः श्रूयते यकारस्थाने खल्विकारो विधीयते विध्यति इति। तद्यदि स्यात् प्रकृतिविकारभावो वर्णानां, तस्य प्रकृतिनियमः स्यात्। दृष्टो विकारधर्मित्वे प्रकृतिनियम इति ॥ ५३ ॥

अनियमे नियमान्नानियमः ॥ ५४ ॥

निषेध का प्रश्न हो सकेगा। इस कारण यदि वर्ण विकारी है तो नित्यता नहीं हो सकती तथा दूसरे समय में विकार हो भी सकता है। अतः पूर्वपक्षी का निषेध असंगत है ॥ ५२ ॥

(सिद्धान्ती के मत से वर्णविकार का खण्डन करनेवाले सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)— इस आगे के सूत्र में कहे हुए हेतु से भी वर्णों का विकार नहीं हो सकता—

पदपदार्थ—प्रकृत्यनियमात् = प्रकृति (कारण) का नियम न होने से, वर्णविकाराणाम् = वर्ण के विकारों का ॥ ५३ ॥

भावार्थ—'दधि अत्र' इस उदाहरण में इकार के स्थान में 'दध्यत्र' यकार सुनाई देता है और 'व्यध' धातु से बने हुए 'विध्यति' इस पद में यकार के स्थान में इकार सुनाई देता है। अतः यदि वर्णों का प्रकृतिविकार (कारण कार्य) भाव हो तो उसके प्रकृति (कारण) का नियम होगा। क्योंकि सुवर्ण के बने हुए सम्पूर्ण अलंकाररूप कार्यों में सुवर्ण ही कारण होता है। ऐसा विकार (अलंकारों) के प्रकृति (कारण) का नियम होता है। अर्थात् दूध का दही विकार होता है, न कि दही का दूध कभी भी कार्य देखने में आता है। प्रस्तुत में जिस प्रकार 'दध्यत्र' इस उदाहरण में इकार का यकार विकार है यह देखने में आता है ऐसे ही 'व्यध्' धातु से बने हुए 'विध्यति' इस पद के यकार का भी इकार विकार है ऐसा देखने में आता है। अतः वर्णों में प्रकृति (कारण) तथा विकृति (कार्य) का नियम होने का भाव नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

(५३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'दध्यत्र' इस पद में इकार के स्थान में यकार सुनाई देता है, और 'व्यध्' धातु से बने हुए 'विध्यति' इस पद में यकार के स्थान में इकार होने की व्याकरण में विधि दी हुई है। इस कारण वर्णों का यदि प्रकृति विकृतिभाव हो तो, उस विकार के प्रकृति (कारण) का नियम होने लगेगा। क्योंकि उपरोक्त प्रकार से दूध के विकार दही में प्रकृति का नियम देखा जाता है। (इस कारण वर्णों का विकार मानने का पूर्वपक्षी का मत सर्वथा असंगत है) ॥ ५३ ॥

(उक्त सिद्धान्ती के प्रकृति नियम के कारण वर्णविकार न होने के मत पर छल से असदुत्तर करनेवाले पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आपत्ति दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—अनियमे = उक्त प्रकृति के नियम नहीं होने में, नियमात् = नियम होने से, न = नहीं हो सकता, अनियमः = प्रकृति का नियम न होना ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जो यह सिद्धान्ती ने वर्णों का विकार न होने में प्रकृति (कारण) का नियम नहीं होता ऐसा कहा है यह यदि अपने विषय में व्यवस्थित है तो वही प्रकृति का नियम हो जायगा। अतः प्रकृति का नियम न होने के कारण सिद्धान्ती का 'प्रकृति (कारण) का वर्णों के विकार में नियम नहीं होता' यह कहना असंगत है ॥ ५४ ॥

योऽयं प्रकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं व्यवस्थितो नियतत्वान्नियम इति भवति, एवं सत्यनियमो नास्ति, तत्र यदुक्तं प्रकृत्यनियमादित्येतदयुक्तमिति ॥ ५४ ॥

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

नियम इत्यत्रार्थाभ्यनुज्ञा, अनियम इति तस्य प्रतिषेधः । अनुज्ञातनिषिद्धयोश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति । अनियमश्च नियतत्वान्नियमो न भवतीति नात्रार्थस्य तथाभावः प्रतिषिध्यते । किं तर्हि ? तथाभूतस्यार्थस्य नियमशब्देनाभिधीयमानस्य नियतत्वान्नियमशब्द एवोपपद्यते । सोऽयं नियमादनियमे प्रतिषेधो न भवतीति ॥ ५५ ॥

(५४ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'जो यह सिद्धान्ती ने वर्णों के विकारों के कारण का नियम नहीं होगा' यह कहा है, वह यदि नियमित अर्थात् अपने विषय (प्रकृति के अनियम) में व्यवस्थायुक्त है तो नियमित होने के कारण वह नियम ही है ऐसा होता है। ऐसा होने के कारण वह अनियम नहीं रहा। अतः उसमें जो सिद्धान्ती ने ५३ वें सूत्र में 'वर्णों के विकारों (कार्यों) के प्रकृति (कारण) का नियम नहीं होता' यह कहा था, वह असंगत है ॥ ५४ ॥

यह पूर्वपक्षी का कहना वाक्छल है; इस आशय से सिद्धांती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नियमानियमविरोधात् = नियम तथा अनियम का परस्पर विरोध होने के कारण, अनियमे = नियम न होने में, नियमात् च = नियम करने से भी, अप्रतिषेधः = प्रकृति के अनियम का निषेध नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

भावार्थ—नियम है यह कहना किसी विषय का स्वीकार होता है और नियम नहीं है यह कहना उसका निषेध होता है। अतः स्वीकृत भावपदार्थ तथा उसका निषेध इन दोनों का परस्पर विरोध होने के कारण नियम तथा अनियम एक पदार्थ नहीं हो सकते। अनियम (नियम न होना) यह भी नियम न होने से ही नियम नहीं होता। इस कथन से अनियमरूप पदार्थ का, अनियम होने का निषेध नहीं किया जाता, किन्तु नियम शब्द से कहे हुए पदार्थ के नियमित होने के कारण नियम शब्द ही वह हो सकता है। अतः यह नियमित होना लेकर अनियम का निषेध छलवादी का संगत नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

(५५ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—नियम है इस पद से किसी विषय को स्वीकार करने का बोध होता है और नियम नहीं है यह पद उसके निषेध को करता है। स्वीकार करना और निषेध करना इन दोनों का परस्पर विरोध होने के कारण नियम तथा अनियम ये दोनों एक नहीं हो सकते। अनियम भी अपने विषय का नियम करने से ही अनियम होता है, इस कहने में अनियम के अनियमरूप का निषेध नहीं किया जाता है। (प्रश्न)—तो क्या किया जाता है ? (उत्तर)—नियम शब्द से कहे जानेवाले वैसे अर्थ के नियमित होने के कारण वह नियम शब्द ही होता है (ऐसा कहा जाता है)। अतः वह यह पूर्वपक्षी का अनियम को भी नियम मानकर वर्णों के प्रकृति का नियम के न होने का निषेध नहीं हो सकता। अर्थात् विरुद्ध होने से नियम तथा अनियम एक आश्रय में नहीं रहते—ऐसा सिद्धांती का आशय है न कि उन दोनों का आश्रय तथा आश्रित होना नहीं हो सकता—यह आशय है। अतः वर्णविकार प्रकृति का नियम न होने के कारण नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त दृढ़ है ॥ ५५ ॥

न चेयं वर्णविकारोपपत्तिः परिणामात् कार्यकारणभावाद्वा । किं तर्हि ?

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकाराः ॥ ५६ ॥

स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः । स भिद्यते गुणान्तरापत्तिः उदात्तस्यानुदात्तः इत्येवमादिः । उपमर्दो नाम एकरूपनिवृत्तौ रूपान्तरोपजनः । ह्रासो दीर्घस्य ह्रस्वः । वृद्धिर्ह्रस्वस्य दीर्घः, तयोर्वा प्लुतः । लेशो लाघवम्, स्त इत्यस्तेर्विकारः । श्लेष आगमः, प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा । एत एव विशेषा विकारा

(इस प्रकार वर्णों के प्रकृति विकारभाव का खण्डनकर सिद्धान्ती के आदेशपक्ष से व्यवहार में वर्णविकार मानने का समर्थन करते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—यह वर्णों के विकारों का होना पूर्वोक्त प्रकार से न परिणाम मानकर हो सकता है, अथवा कार्य-कारणभाव को लेकर । (प्रश्न)—तो किसको लेकर वर्णों के विकार का व्यवहार होता है ?—

पदपदार्थ—गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेषश्लेषेभ्यःतु = किन्तु इसके उदात्तादि गुणों की प्राप्ति, (१) उपमर्द = एक रूप हटकर दूसरा रूप होना, (२) ह्रास = घटना जैसे दीर्घ का ह्रस्व होना, (३) वृद्धि = बढ़ना (ह्रस्व का दीर्घ होना), (४) लेश = छोटा होना जैसे अस्ति का अजाकर 'स्तः' होना, (५) श्लेष (आगम) = प्राप्ति (प्रकृति या प्रत्यय की), (६) इन कारणों से, विकारोपपत्तेः = विकार हो सकने से, वर्णविकाराः = वर्णों के विकार कहे जाते हैं ॥ ५६ ॥

भावार्थ—यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से आदेशपक्ष ही युक्त है, तथापि कुछ शास्त्रकार तथा लौकिक पुरुष भी वर्णों का विकार मानते हैं, किन्तु वह वास्तविक नहीं है । क्योंकि उदात्त स्वर का अनुदात्त होना १, एक 'ब्रुव' रूप के निवृत होकर उसका 'वच' रूप होना रूप उपमर्द २, दीर्घ का ह्रस्व होना रूप ह्रास (घटना) ३, एवं ह्रस्व का दीर्घ होना रूप वृद्धि ४, तथा साक्षात् का अनिकलकर 'स्तः' ऐसा प्रथमपुरुष द्विवचन का रूप होना, रूप लेश (लघु होना) ५, एवं प्रकृति या प्रत्यय का आगम (प्राप्ति) ६, ऐसे कारणों से वर्णों का विकार कहा जा सकता है । इसलिये वर्णविकार का व्यवहार होता है ॥ ५६ ॥

(५६ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में सामान्यरूप से विकार शब्द का यह अर्थ है कि एक स्थान में रहनेवाले के एक 'इ' के आदेशरूप से उस 'इ' का प्रयोग न कर एक दूसरे 'य' का प्रयोग करना । यह विकार भिन्न-भिन्न रूप से होता है । जैसे उदात्त स्वर को अनुदात्त स्वर होता है इत्यादि दूसरे गुण की प्राप्ति सूत्र के गुणाकरणपत्ति शब्द का अर्थ है १, तथा एक 'अस्ति' का रूप हटकर 'अस्तेर्भूः' इस व्याकरणसूत्र से दूसरा 'भू' रूप होना रूप उपमर्द २, 'अधिग्रामणि कुलं' इत्यादिक में 'णी' के दीर्घ का ह्रस्व हो जाना ह्रास ३, एवं 'नीहारः' इत्यादिक में 'नि' इस ह्रस्व इकार का दीर्घ स्वर हो जाना रूप वृद्धि ४, तथा अस् धातु के प्रथमपुरुष के द्विवचन के 'स्त' इस रूप में लघु होना रूप लेश (५), यह अस्ति का विकार है । 'भगवद्विह' इत्यादिकों में आगमादिकों का सम्बन्ध होना अर्थात् प्रकृति अथवा प्रत्यय का आगमरूप श्लेष (६), ये उपर्युक्त सम्पूर्ण व्याकरणानुसार विशेष ही विकार है और यही आदेश कहाते हैं । ये उपर्युक्त गुणान्तरापत्ति आदि वर्णों में विकार हो सकते हैं तो ये ही वर्णविकार व्यवहार में कहे जाते हैं । (अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से वास्तविक वर्णविकार न होने के कारण 'इ' का 'य' होना यह वस्तुतः

इति एत एवादेशाः, एत चेद्विकारा, उपपद्यन्ते तर्हि वर्णविकारा इति ॥ ५६ ॥

इत्यष्टादशभिः सूत्रैः शब्दपरिणामप्रकरणम् ।

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ५७ ॥

यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसञ्ज्ञा भवन्ति। विभक्तिर्द्वयी नामिक्याख्यातिकी च, ब्राह्मणः पचतीत्युदाहरणम् । उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसञ्ज्ञा लक्षणान्तरं वाच्यम् इति ? शिष्यते च खलु नामिक्या विभक्तेरव्ययाल्लोपः तयोः पदसञ्ज्ञार्थमिति ॥ ५७ ॥

आदेश ही है, तथापि उसे सूत्रोक्त व्याकरणानुसार गुणान्तरापत्ति आदि से इ का यकार विकार है ऐसा वर्णविकार कहा जाय तो इसमें सिद्धांती को कोई आपत्ति नहीं है ॥ ५६ ॥

शब्दपरिणामप्रकरण समाप्त

(४) शब्दशक्तिपरीक्षा प्रकरण

इस प्रकार इस प्रकरण में विस्तारपूर्वक वर्णों (शब्द) में अनित्यता को सिद्ध करने के पश्चात् शब्द के प्रमाण होने में उपयुक्त होने के कारण पद का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—ते = वे वर्ण, विभक्त्यन्ताः = सुप् (नाम) तथा तिङ् (धातु) नाम की विभक्ति जिनके अंत में हो, पदम् = उसे पद कहते हैं ॥ ५७ ॥

भावार्थ—व्याकरणशास्त्र के अनुसार विकार को प्राप्त हुए जिनके अंत में सुप् सु औ जस् आदि अथवा तिङ् (तिप् तस्, झि आदि विभक्ति हों, उन वर्णों को पद कहते हैं। अर्थात् दो प्रकार की विभक्ति होती है। एक नाम (प्रातिपदिक) नाम से प्रसिद्ध नामिकी तथा दूसरी धातुसम्बन्ध रखनेवाली आख्यातिकी संज्ञा होती है। जैसे 'ब्राह्मण' यह नामिकी एवं 'पचति' यह आख्यातिकी संज्ञा होती है। अतः विभक्त्यन्त वर्ण पद होते हैं, यह सिद्ध होता है ॥ ५७ ॥

(५७ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रमाणों के अनुसार पूर्वोक्त गुणान्तरोपपत्ति आदिकों से आदेशरूप से विकार को प्राप्त वर्ण (न कि प्रकृतिविकृतिरूप से क्योंकि वह पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण से बाधित है) सुप्, तिङ् आदि विभक्ति जिनके अंत में हों, उन्हें पद कहते हैं जिसमें **'नामिकी'** (प्रातिपदिक संज्ञानामवाली) एवं **'आख्यातिकी'** धातुसम्बन्धवाली—ऐसी दो प्रकार की होती है। **'ब्राह्मणः'**, **'पचति'** ये दोनों क्रम से जिनके उदाहरण हैं। यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसी शंका करता है कि—'तब तो **'प्रादि'** उपसर्ग तथा **'च'** आदि निपातों का दूसरा लक्षण कहना होगा, क्योंकि उनके अंत में विभक्ति नहीं होती'। इस पूर्वपक्षी की शंका का भाष्यकार समाधान देते हैं कि—'उपसर्ग तथा निपात इन दोनों में यह संज्ञा होने के लिये उनके अन्त में रहनेवाली विभक्ति का **'अव्ययाल्लोपः'** अव्ययों से विभक्ति का लोप होता है, ऐसा व्याकरण में अनुशासन (उपदेश) किया है 'यदि **'च'**, **'प्र'** इनके प्रयोगकाल में उक्त अनुशासन के अनुसार विभक्ति नहीं रहती तो उसकी पदसंज्ञा भी नहीं होगी'—ऐसी पूर्वपक्षी आपत्ति दे तो इसके निरासार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि—पद से ही अर्थ का ज्ञान होता है—यह अव्ययों को पद कहने का प्रयोजन है, क्योंकि **'नापदं प्रयुंजीत'** बिना पद के शब्द का प्रयोग न करे ऐसा बिना संज्ञा के अर्थबोध होने का निषेध करनेवाला शास्त्र इस विषय में प्रमाण है ॥ ५७ ॥

पदेनार्थसम्प्रत्यय इति प्रयोजनम्, नामपदं चाधिकृत्य परीक्षा, गौरिति पदं खल्विदमुदाहरणम्—

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥ ५८ ॥

अविनाभाववृत्तिः सन्निधिरिति। अविनाभावेन वर्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते, तत्र न ज्ञायते किमन्यतमः पदार्थ उत सर्व ? इति ॥५८॥

शब्दस्य प्रयोगसामर्थ्यात् पदार्थावधारणं तस्मात्—

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसङ्ख्यावृद्ध्यपचय-वर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥ ५९ ॥

(इस प्रकार के नाम तथा धातु ऐसे दो प्रकार के पदों में से प्रथम नाम पदों को लेकर सूत्रकार परीक्षा करते हैं इस आशय से भाष्यकार अग्रिम सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—नामपद को उद्देशकर परीक्षा (विचार) की जाती है, जिसका 'गौः' यह पद उदाहरण है उसके अर्थ में—

पदपदार्थ—व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधौ = गौशरीररूप व्यक्ति, गौ का गलकंबलादि आकार तथा गौओं में वर्तमान गोत्वजाति के समीप रहने पर, उपचारात = व्यवहार होने के कारण, संशयः = गोपद का अर्थ व्यक्ति है, आकार है अथवा जाति—यह सन्देह होता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जब व्यवहारकाल में यह 'गौ' है, यह 'घट' है ऐसा शब्द प्रयोग किया जाता है, तो उस गौ अथवा घट में व्याप्ति से वर्तमान गौ शरीर तथा घट स्वरूप व्यक्ति एवं उनके गल का कंबल, पुच्छ तथा मोटे पेंदेवाला इत्यादि आकार तथा सम्पूर्ण गौ तथा घट व्यक्तियों में वर्तमान गोत्व तथा घटत्व नाम की जातियों के वर्तमान होने का कारण वह गौ तथा घट का शरीररूप व्यक्ति अथवा उन दोनों का आकार अथवा उनमें वर्तमान गोत्व, घटत्वादि जाति ही गौ तथा घट का शब्द अर्थ है—यह यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतः पद का व्यक्ति, आकार अथवा जाति इन तीनों में से कौन अर्थ है यह संशय होता है ॥ ५८ ॥

(५८ वें सूत्र को व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के सन्निधि शब्द का अर्थ कहते हैं कि)—सूत्र में 'सन्निधि' इस पद का अर्थ है 'अविनाभाव' (व्याप्यव्यापक) वृत्तिरूप (सम्बन्ध)। 'पद का और पदार्थों का क्या सम्बन्ध है' ? ऐसी शिष्यों की जिज्ञासा के निरास के लिये भाष्यकार कहते हैं कि—व्याप्य तथा व्यापकरूप सम्बन्ध से रहनेवाले पदार्थों की व्यक्ति (स्वरूप), आकार तथा जातियों में 'गौ' है इत्यादि शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः इन तीनों में से गौ पद का अर्थ कोई एक ही पद का वाच्य अर्थ है अथवा तीनों सम्पूर्ण पद के अर्थ होते हैं ॥ ५८ ॥

(ऐसा संशय होने पर प्रथम केवल व्यक्ति (पदार्थ के स्वरूप) संज्ञा, रूप में पद की शक्ति है ऐसा माननेवालों के मत के पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—'गौ आदि शब्दों के सामर्थ्य से गौ आदि पदों के अर्थों का निश्चय किया जाता है' इस कारण—

पदपदार्थ—याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासानुबन्धानां = 'या' यह शब्द, समुदाय, त्याग, परिग्रह (स्वीकार), संख्या, वृद्धि (बढ़ना), अपचय (घटना), समास (सम्बन्ध), अनुबन्ध (समान उत्पत्ति करना), इनके व्यक्तावुपचाराद् = व्यक्तियों में व्यवहार होने से, व्यक्तिः = व्यक्ति (गौ आदि शरीररूप) ही गौ पद का अर्थ है ॥ ५९ ॥

भावार्थ—गौ आदि व्यक्ति अनेक होने के कारण 'जो गौ बैठी है' इत्यादि व्यवहार में या

व्यक्तिः पदार्थः, कस्मात्? याशब्दप्रभृतीनां व्यक्तावुपचारात्। उपचारः प्रयोगः।

या गौस्तिष्ठति या गौर्निषण्णेति, नेदं वाक्यं जातेरभिधायकमभेदात्। भेदात्तु द्रव्याभिधायकम्। गवां समूह इति भेदाद् द्रव्याभिधानम्, न जातेरभेदात्।

चैत्राय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागो न जातेरमूर्त्तत्वात्, प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च।

परिग्रहः—स्वत्वेनाऽभिसम्बन्धः कौण्डिन्यस्य गौर्ब्राह्मणस्य गौरिति, द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात् सम्बन्धभेद इति उपपन्नम्, अभिन्ना तु जातिरिति।

शब्दों के प्रयोग होने से, १, तथा गौओं के समूह को लेकर होने से २, एवं 'चैत्र को गौ देता है' इस व्यवहार में गोरूप व्यक्ति का दान ३, तथा परिग्रह (स्वीकार करना) भी व्यक्तियों का ही होने के कारण ४, 'दश गौ हैं' इत्यादि प्रयोग से संख्या का व्यक्ति में ही रहने के कारण ५, 'गौ बढ़ गई है' आदि व्यवहार में उसके शरीर के अवयवों का बढ़ना रूप वृद्धि ६, ऐसे ही शरीर के अवयवों का घटना अपचय ७, तथा 'श्वेत गौ है' इत्यादि प्रयोग से रूप नामक गुण का आश्रय गौ रूप व्यक्ति के होने ८, 'गौ सुख में है' आदि व्यवहार के कारण सुखरूप गुण का सम्बन्धरूप समास ९, एवं 'गौ बछड़े को बियाती है' इत्यादि व्यवहार से बछड़ेरूप व्यक्ति की ही उत्पत्ति होने के कारणरूप अनुबन्ध १०, का भी व्यक्तियों में व्यवहार संसार में होता है। अतः व्यक्ति ही गौ आदि स्वरूप गौपद का अर्थ है न कि आकार अथवा जाति ऐसा व्यक्तिवादी पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ५९ ॥

(५९ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'गौ आदि व्यक्ति रूप पदार्थ ही गौ आदि शब्दों का अर्थ है'। (प्रश्न)—किस कारण? (उत्तर)—सूत्र में कहे हुए या शब्द से लेकर अनुबन्ध तक कहे हुए दस प्रयोग (व्यवहार) गौरूप व्यक्ति में उपचार से होते हैं। यहाँ उपचार शब्द का अर्थ है—शब्द का प्रयोग करना। (१) क्योंकि 'जो गौ बैठी है, अर्थात् अच्छी तरह बैठी है' इत्यादि वाक्यों से गौओं में वर्तमान 'गोत्व' नामक जाति नहीं कही जाती, क्योंकि जाति तो एक ही है। अर्थात् जाति के एक होने से 'जो-जो' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा और भेद को लेकर 'जो-जो गौ' ऐसा व्यक्ति में ही प्रयोग हो सकता है। (२) 'गौओं का समूह' इस व्यवहार में भी व्यक्तियों के भिन्न होने के कारण गोरूप द्रव्य (व्यक्ति) ही कही जाती है, जाति एक होने के कारण उसका समुदाय यह व्यवहार नहीं हो सकेगा। (३) 'चैत्रनाम के मनुष्य को गौ देता है' इत्यादि वाक्यों में गौरूप व्यक्ति का ही त्यागरूप दान कहा जाता है, न कि गोत्वरूप जाति का, क्योंकि जाति तो मूर्तिवाली न होने के कारण अवयव-हीन होने से उसका दान नहीं हो सकता तथा गोत्व जाति का वियोग तथा संयोग भी उक्त कारण से नहीं हो सकेगा। (४) अपना यथार्थ संबंध व्यक्ति से ही हो सकता है—जाति से नहीं। इस कारण स्वत्वसम्बन्धरूप परिग्रह (दान लेना) भी व्यक्ति को ही कहता है न कि जाति आदि आकार को तथा 'कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण की गौ है' 'यह एक ब्राह्मण की गौ है' इत्यादि शब्द प्रयोग में भी गौ व्यक्तियों के अनेक होने से सम्बन्ध है यह कह सकते हैं, क्योंकि कौण्डिन्य तथा ब्राह्मण की जो गौ भिन्न-भिन्न हैं उनका कौण्डिन्यादिकों से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हो सकता है और (गोत्व) जाति के एक होने से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध न हो सकेगा।

सङ्ख्या, दश गावो विंशतिर्गाव इति भिन्नं द्रव्यं सङ्ख्यायते, न जातिरभेदादिति ।

वृद्धिः— कारणवतो द्रव्यस्यावयवोपचयः, अवर्द्धत गौरिति । निरवयवा तु जातिरिति । एतेनापचयो व्याख्यातः ।

वर्णः—शुक्ला गौः कपिला गौरिति, द्रव्यस्य गुणयोगो न सामान्यस्य ।

समासः—गोहितं गोसुखमिति द्रव्यस्य सुखादियोगो न जातेरिति ।

अनुबन्धः—सरूपप्रजननसन्तानो गौर्गां जनयतीति, तदुत्पत्तिधर्मत्वाद् द्रव्ये युक्तं न जातौ विपर्ययादिति । द्रव्यं व्यक्तिरिति हि नार्थान्तरम् ॥ ५६ ॥

अस्य प्रतिषेधः—

न तदनवस्थानात् ॥ ६० ॥

---

(५) 'दस गौ हैं', बीस गौ हैं, इत्यादि प्रयोग में भिन्न-भिन्न गौ व्यक्तियों की गणना की जाती है । गोत्व जाति के एक होने से उसकी दस-बीस यह संख्या नहीं हो सकती । (६) कारण (अवयव) वाला गो-शरीर व्यक्तिरूप द्रव्य ही हाथ-पैर आदि अवयवों के बढ़ने के कारण **'गौ मोटी हो गई है'** ऐसा व्यवहार व्यक्ति में ही होता है, क्योंकि उसमें अवयव हो सकते हैं **'गोत्व'** जाति तो अवयवरहित है अर्थात् जाति का तो हाथ-पैर आदि अवयव है नहीं, अतः वृद्धि होना । (७) इसीसे अवयवों का ह्रास (घटना) भी उक्त प्रकार से जो व्यक्ति में हो सकता है न कि जाति के । यह भी इसी दृष्टि से कहा गया । (८) यह श्वेत गौ है, यह कपिला गौ है, इत्यादि प्रयोग भी गौ व्यक्तिरूप द्रव्यों में ही श्वेत आदि रूप गुणों का सम्बन्ध बोध कराता है और जाति पदार्थ में गुण न रहने के कारण गोत्व जाति नहीं हो सकती, अतः यहाँ गौ वर्ण है । (९) **'गौ का हित है, वह सुखी है'** इत्यादि प्रयोग में सुखादि गुणों का सम्बन्ध भी गौ आदि व्यक्तियों में ही होता है नकि एक होने के कारण जाति में, अतः सम्बन्धरूप समासरूप । (१०) गौ बछड़े को उत्पन्न करती है (वियाती है) आदि प्रयोग में अपने स्वरूप के समान संतान को उत्पन्न करना रूप अनुबन्ध भी बछड़ारूप व्यक्ति के उत्पत्तिधर्म के आधार होने के कारण व्यक्ति में ही हो सकता है, जाति तो इसके विपरीत नित्य होने से उसमें उक्त अनुबन्ध नहीं हो सकता । इससे सिद्ध होता है कि गौ आदि व्यक्ति ही गौ आदि पदों का अर्थ है । दूसरा गौ का आकार अथवा गोत्व जाति इन दो में से कोई गौ शब्द का अर्थ नहीं है ॥ ५९ ॥

(व्यक्ति, जाति तथा आकार तीनों ही गुण तथा प्रधानरूप से गौ आदि पदों का अर्थ होता है, ऐसे आगे कहे जाने वाले सिद्धांती के मत से उपर्युक्त केवल गौ व्यक्ति ही गौ शब्द का अर्थ है, ऐसे पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करनेवाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस व्यक्तिवाद का निषेध इस प्रकार है—

पदपदार्थ—न = नहीं है, केवल व्यक्ति, पदार्थ, तदनवस्थानात् = उस व्यक्ति के स्थिर न होने के कारण ॥ ६० ॥

भावार्थ—ऊपर ५९ वें सूत्र में कहे हुए 'या' शब्द-समूह आदि से जो युक्त होता है वही गौ शब्द का अर्थ है । 'जो गौ बैठी है' इत्यादि व्यवहारों में केवल गौ स्वरूप व्यक्ति ही उसमें वर्तमान गोत्व जाति तथा अर्थ को छोड़कर कही जाती है । किन्तु गोत्व जातिवाली गो व्यक्ति

न व्यक्तिः पदार्थः । कस्मात् ? *अनवस्थानात्* । या शब्दप्रभृतिभिर्यो विशेष्यते स गोशब्दार्थो या गौस्तिष्ठति या गौर्निषण्णेति, न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्या विनाऽभिधीयते । किं तर्हि ? जातिविशिष्टम् । तस्मान्न व्यक्तिः पदार्थः । एवं समूहादिषु द्रष्टव्यम् ॥ ६० ॥

यदि व्यक्तिः पदार्थः कथं तर्हि व्यक्तावुपचार इति ? निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः । दृश्यते खलु—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६१ ॥

'गौ' शब्द से नहीं कही जाती है, इस कारण केवल गोस्वरूप व्यक्ति ही 'गौ' इस शब्द का अर्थ नहीं हो सकता ॥ ६० ॥

(६० वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—गौ स्वरूप व्यक्ति ही केवल 'गौ' इस शब्द का अर्थ नहीं है । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—व्यक्ति के स्थिर न होने के कारण । पूर्वसूत्र में 'या' शब्दसमूह आदिकों से जो युक्त हो वही 'गौ' शब्द का अर्थ है । जो गौ 'बैठी' है, खड़ी है, जो गौ सुख से अच्छी तरह बैठी है इत्यादि व्यवहार में केवल गौरूपद्रव्य व्यक्ति विना गोत्व जाति के नहीं कही जाती है, क्योंकि उसीसे अश्वादिकों के खड़े न होना आदि का बोध नहीं होता है वह होगा । (प्रश्न)—तब गौ शब्द से किसका ज्ञान होता है ? (उत्तर)—गोत्व जाति से युक्त गो रूप व्यक्ति 'गौ' इस शब्द से कही जाती है, इस कारण 'गौ' इस शब्द का केवल गोस्वरूप व्यक्ति अर्थ नहीं है अर्थात् गो शब्द की गोत्वजाति में शक्ति है व्यक्ति का व्याप्ति ज्ञान से लाभ होता है । इसी प्रकार **'गौओं का समूह'** आदि से भी अश्वादि समूह का बोध न होने के कारण गोत्व जातियुक्त गो व्यक्तियों के ही समुदाय का बोध होता है यह स्वयं जान लेना चाहिये ॥

(इस जातिविशिष्ट व्यक्ति में शब्द की शक्ति मानने वाले सिद्धान्ती के मत पर पुनः व्यक्तिवाद का आक्षेप दिखाकर व्यक्ति में शब्द के अर्थ के प्रयोग का बीज दिखलाते हुए अग्रिमसूत्र का भाष्यकार अवतरण दिखाते हैं कि)—यदि सिद्धान्ती के कथन के अनुसार गौ स्वरूप व्यक्ति 'गौ' इस शब्द का अर्थ नहीं है तो 'गौ बैठी है, खड़ी है' इत्यादि गौ व्यक्ति में व्यवहार कैसे होता है ? ऐसे केवल व्यक्तिवादी के प्रश्न का यह समाधान है कि—आगे के सूत्र में दिखाये जानेवाले 'साथ में रहना' इत्यादि कारण से गौ शब्द का जो व्यक्ति अर्थ न होने पर भी व्यक्ति में प्रयोग किया जाता है । क्योंकि यह देखने में आता है—

पदपदार्थ—सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यः = सहचरण (साथ में रहना), स्थान, तादर्थ्य (उसके लिये होना), वृत्त (आचरण), धारण (तौल), समीप होना, योग (सम्बन्ध), साधन (कारण) तथा आधिपत्य (स्वामी होना), इन निमित्तों से, ब्राह्मणमंचकटराजसक्तुचंदनगंगाशाटकान्नपुरुषेषु = ब्राह्मण, मंच (कुर्सी), कट (चटाई), राजा, सत्तू, चन्दन, गंगा, शाटक (साड़ी), अन्न तथा मनुष्यों में क्रम से, अतद्भावे अपि = ब्राह्मणादिकों के यष्टि न होने पर भी, तदुपचारः = यष्टि, छड़ी का भोजन कराओ इत्यादि प्रयोग में यष्टिं (छड़ी) के

अतद्भावेऽपि तदुपचार इति—अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति।
सहचरणात्—यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयत इति।
स्थानात्—मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते।
तादर्थ्यात्—कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु कटं करोतीति भवति।
वृत्ताद्—यमो राजा कुबेरो राजेति तद्वद्वर्त्तते इति।
मानाद्—आढकेन मिताः सक्तवः आढकसक्तव इति।
धारणात्—तुलायां धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति।
सामीप्याद्—गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्टः।
योगात्—कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते।

साथ रहने के कारण (वस्तुतः ब्राह्मण छड़ी न होने पर भी) ब्राह्मणादिकों में छड़ी आदि का व्यवहार होता है ॥ ६१ ॥

भावार्थ—यद्यपि गौ आदि शब्दों का केवल व्यक्ति अर्थ नहीं है, तथापि साथ में रहना आदि कारणों से व्यक्ति के पदार्थ न होने पर भी उसमें व्यवहार किया जाता है, जो गौण है क्योंकि वस्तुतः केवल व्यक्ति पद का अर्थ नहीं है। जैसे **'छड़ी को भोजन कराओ'**, **'कुर्सी चिल्लाती है'**। ऐसे व्यवहार में छड़ी के साथ रहने से छड़ी लिये वृद्ध ब्राह्मण तथा कुर्सी पर बैठे हुए मनुष्य चिल्लाते हैं। इस कारण कुर्सीरूप स्थान चिल्लाते हैं इत्यादि सहचरण आदि निमित्तों को लेकर ही **'यष्टि'** शब्द को ब्राह्मण और **'मंच'** शब्द का अर्थ कुर्सी पर बैठे हुए मनुष्य लिये जाते हैं। अतः केवल व्यक्तियों में शब्द के अर्थ का व्यवहार गौण है न कि वास्तव में यह सिद्ध होता है ॥ ६१ ॥

(६१ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के **'अतद्भावेपि तदुपचारः'** इस अंतिम प्रतिज्ञा-वाक्य का अर्थ करते हैं कि)—जो उस शब्द से नहीं कहा जाता, उसका उस शब्द से कहना ही तद्भाव न होने पर भी उसका व्यवहार होता है, इस वाक्य का अर्थ है। जिसमें (१) सहचरण (साथ में रहना) से—**'यष्टि (छड़ी) को 'भोजय'** (भोजन कराओ)'। इस व्यवहार में छड़ी लिया हुआ वृद्ध ब्राह्मण गौणरूप अर्थ है। (२) स्थान से—जैसे **'मंचाः'** (कुर्सियाँ) **'क्रोशन्ति'** (चिल्ला रही हैं)। इस प्रयोग में मंच पर बैठे हुए मनुष्यों का गौणरूप अर्थ है। (३) **तादर्थ्य** (उसके लिये होना) से—जैसे चटाई तैयार करने के लिये **वीरण** (चटाई की सींकों) के बुनाई होते रहते **'कट'** चटाई तैयार करता है—यह चटाईरूप पदार्थ गौण है। क्योंकि चटाई के तैयार होने के लिये उसकी सींकें बुनी जाती हैं। (४) वृत्त (आचरण) से—जैसे वह राजा साक्षात् यमस्वरूप है, वह राजा साक्षात् कुबेर है आदि प्रयोगों में राजा में यम के समान क्रूरता तथा धनसंपत्ति होना रूप वृत्त होने के कारण राजा यम है, कुबेर है आदि गौण अर्थ होता है। (५) **मान** (माप)—जैसे अढ़ैया नाम की तौल से तौलते हुए सत्तुओं को **'आढकसक्तु'** अढ़ैया सत्तू ऐसा कहना गौण है। (६) **धारणात्** (धारण करने) से—जैसे तौल पर चढ़ाया हुआ चन्दन **'तुलाचन्दन'** है ऐसा कहना गौणरूप अर्थ है। (७) **समीप होना**—जैसे **'गंगा में गौ चरती है'** इत्यादि प्रयोग में गंगा के समीप का देश कहा जाता है। क्योंकि उसी पर गौ चरती है, न कि गंगारूप जल में। अतः देशरूप अर्थ गौण है नकि मुख्य। (८) **योग** (सम्बन्ध) से—जैसे **'काले रंग में रंगी हुई छड़ी काली है'** इस व्यवहार में काली छड़ी को **'केवल काला है'** ऐसा कहना काले रंग के सम्बन्ध से गौण है

साधनात्—अन्नं प्राणा इति ।

आधिपत्यात्—अयं पुरुषः कुलम् अयं गोत्रमिति । तत्रायं सहचरणाद्योगाद् वा जातिशब्दो व्यक्तौ प्रयुज्यत इति ।। ६१ ।।

यदि गौरित्यस्य पदस्य न व्यक्तिरर्थः, अस्तु तर्हि—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६२ ॥

आकृतिः पदार्थः । कस्मात् ? तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः । सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियतो व्यूह आकृतिः तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वव-

---

न कि मुख्य । (९) **साधन** (निमित्त) से—जैसे 'प्राण अन्न है' इस प्रयोग में अन्न के कारण प्राणों की रक्षा होने से प्राणों को अन्न कहना निमित्तता को लेकर गौण प्रयोग होता है । (१०) **आधिपत्य** (स्वामी होने) से जैसे—'यह मनुष्य कुल है, यही गोत्र है' इत्यादि व्यवहार में गृहस्थी के मुख्य वृद्ध के लिये यही कुल है तथा गोत्र है, ऐसा व्यवहार स्वामी होने से गौण होता है, क्योंकि वस्तुतः वह वृद्ध पुरुष गोत्र अथवा कुल नहीं है । ऐसा होने के कारण गौ आदि जीववाचक भी शब्द उपर्युक्त साथ में रहना अथवा व्यक्ति में जाति का सम्बन्ध होने के कारण गौण प्रयोग होता है. वास्तविक नहीं । अतः केवल व्यक्ति पदार्थ है यह मत असंगत है ॥ ६१ ॥

(यदि जातिविशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ माना जाय तो गौरव तथा केवल व्यक्ति के स्थिर न होने के कारण पदार्थ मानना भी असंगत है तो गौ के गलकंबल, पुच्छ इत्यादि आकार ही को गौ शब्द का अर्थ मान लेंगे । इस आशय के केवल आकार को ही पद का अर्थ माननेवाले पूर्वपक्षी के मत के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यनि 'गौः' इस पद का गोरूप व्यक्ति अर्थ नहीं है, तो—

पदपदार्थ—आकृतिः = पदार्थ का आकार (पद का अर्थ हो), तदपेक्षत्वात = आकार की अपेक्षा करने के कारण, सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः=गौ आदि प्राणियों की स्थिति (स्वरूप) की सिद्धि होने से ॥६२॥

भावार्थ—गौ आदि प्राणियों (जीवों) के गलकंबल आदि अवयव तथा उनके भी पुच्छ के अन्त में केश से भरा होना आदि अवयवों की विशेष रचना आकार कहाती है, जिसको लेकर (जानने से) 'यह गौ है, यह अश्व है' इत्यादि प्राणियों की व्यवस्था होती है । बिना इस आकार के ज्ञान के गौ आदि विशेष प्राणियों का ज्ञान नहीं होता और आकार के ग्रहण से होता है । इस कारण गौ आदि शब्द गौ आदि के आकार ही को कहता है । अतः गौ आदि का आकार ही गौ आदि शब्दों का अर्थ है न कि जाति अथवा व्यक्ति का ॥ ६२ ॥

(६२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—गौ आदि का गलकंवल आदि आकार ही गौ आदि शब्दों का अर्थ है । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—गौ आदि प्राणियों की उनके उपर्युक्त आकारों को लेकर व्यवस्था (नियम) होने के कारण । गौ आदि प्राणियों के गलकंवल, केशमय पुच्छ आदि अवयव तथा उनके भी अवयवों के निमित विशेष रचना को आकार कहते हैं । उस आकार का ज्ञान होने से 'यह गौ है, यह अश्व है', आदि व्यवहार सिद्ध होता है, नकि गौ आदिकों के आकार के ज्ञान के बिना । अतः जिस गौ आदि के उपर्युक्त आकार के ज्ञान से

स्थानं सिध्यति अयं गौरयमश्व इति, नागृह्यमाणायाम्। यस्य ग्रहणात् सत्त्वव्यवस्थानं सिद्धयति तं शब्दोऽभिधातुमर्हति सोऽस्यार्थ इति।

नैतदुपपद्यते यस्य जात्या योगस्तत्र जातिविशिष्टमभिधीयते गौरिति। न चावयवव्यूहस्य जात्या योगः। कस्य तर्हि? नियतावयवव्यूहस्य द्रव्यस्य। द्रव्यस्य। तस्मान्नाकृतिः पदार्थः ।। ६२ ।।

अस्तु तर्हि जातिः पदार्थः—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ६३ ॥

जातिः पदार्थः। कस्मात्? *व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि मृद्गवके प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति* । गां प्रोक्षय गामानय गां देहीति नैतानि मृद्गवके प्रयुज्यन्ते। कस्मात्? जातेरभावात्। अस्ति हि तत्र व्यक्तिः, अस्त्याकृतिः, यदभावात्तत्रासम्प्रत्ययः स पदार्थ इति ।। ६३ ।।

'यह गौ है, यह अश्व है'—ऐसा सिद्ध होता है, उस आकार को ही 'गौ' आदि शब्द कह सकता है। वह आकार इस गौ आदि शब्द का अर्थ है न कि जाति अथवा व्यक्ति। (इस आकृतिवादी के मत या व्यक्तिवादी के मत से स्वतन्त्र भाष्यकार खण्डन करते हैं कि)—यह आकृति को शब्द का अर्थ मानना नहीं हो सकता, क्योंकि जिस गौ आदि व्यक्ति में 'गोत्व' आदि जाति का सम्बन्ध है, वही यहाँ गोत्वजातियुक्त गोरूप व्यक्ति पदार्थ 'गौ है' ऐसे प्रयोग में कहा जाता है। उपर्युक्त भी अवयवसमूहरूप गौ के आकार में गोत्वजाति का सम्बन्ध नहीं है अर्थात् गोत्वजाति गौ के आकार में विशेषण नहीं है। (प्रश्न)—किसमें गोत्वजाति का सम्बन्ध है? (उत्तर)—नियमित गलकंबलादिरूप अवयवों की रचनावाले गौ व्यक्तिरूप द्रव्य में। इस कारण गौ आदिकों के गलकंबलादि रूप आकार गौ आदि शब्द के अर्थ नहीं हैं—यह सिद्ध होता है ॥ ६२ ॥

(यदि गौ का आकार तथा जो व्यक्ति गौ शब्द का अर्थ नहीं है, तो गौओं में वर्तमान 'गोत्व' नामक जाति ही गौ शब्द का अर्थ मान लेंगे, इस आशय के केवल जाति को गौ आदि शब्दों का अर्थ माननेवाले पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—यदि आकार और व्यक्ति शब्दों का अर्थ नहीं हो सकता तो जाति (अनुगत गोत्वादिधर्म) को गौ आदि पद का अर्थ मानेंगे—

पदपदार्थ—व्यक्त्याकृतियुक्ते अपि = मृत्तिका के गौ में गोरूप व्यक्ति तथा गौ के गलकंबलादि आकार से युक्त होने पर भी, अप्रसङ्गात् = प्राप्ति न होने के कारण, प्रोक्षणादीनां = मंत्रपाठपूर्वक जलसिंचनरूप प्रोक्षण आदि शास्त्रोक्त कर्मों के, मृद्गवके = मृत्तिका की गौ में व्यक्ति जाति के गोत्वादिरूप अनुगत धर्म ही गौ शब्द का अर्थ है ॥ ६३ ॥

भावार्थ—मिट्टी की गौ के गोरूप व्यक्ति तथा गौ के गलकंबलादिरूप आकारों से युक्त होने पर भी 'गौ का प्रोक्षण करो, गौ का दान करो' इत्यादि शास्त्रोक्त विधि के न होने के कारण गोत्वजाति ही गौ शब्द का अर्थ है। अर्थात् गोत्वजाति मिट्टी की गौ में न रहने के कारण गोत्वजाति ही गौ शब्द का अर्थ है नकि व्यक्ति अथवा गौ का आकार ॥ ६३ ॥

(६३ वें सूत्र की पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—गौ आदि पद का गोत्व आदि जाति ही अर्थ है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—गोरूप व्यक्ति का स्वरूप तथा गौ का आकार मिट्टी की गौ में रहने पर भी मृत्तिका की गौ में शास्त्रोक्त प्रोक्षण, दान आदि कर्मों के न

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६४ ॥

जातेरभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते, नागृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ जातिमात्रं शुद्धं गृह्यते, तस्मान्न जातिः पदार्थ इति ॥ ६४ ॥

न वै पदार्थेन न भवितुं शक्यं. कः खल्विदानीं पदार्थ इति ?—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६५ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिष्यते ? *प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्व-*

प्राप्त होने से 'गौ का प्रोक्षण करो, गौ का दान करो'—इस वाक्य में प्रोक्षण तथा दान के विधान करनेवाले व्यवहार मृत्तिका के गौ में नहीं किये जाते। (प्रश्न)—क्यों मृत्तिका के गौ का प्रोक्षण, दान आदि नहीं होता ? (उत्तर)—मृत्तिका के गौ में गोत्वजाति के न रहने से। उस मृत्तिका की गौ में गो व्यक्ति का स्वरूप तथा गलकंबलादि गौ का आकार भी है। अतः जिस गोत्व जाति के न रहने के कारण को प्रोक्षण करो, दान करो आदि प्रयोग से मृत्तिका के गौ का दान नहीं होता अर्थात् मृत्तिका के गौ का लोग प्रोक्षण तथा दान नहीं करते। अतः 'गोत्व' आदि जाति ही गौपद का अर्थ हैं यह सिद्ध होता है ॥ ६३ ॥

इस जातिवादी के मत का आकृतिवाद के पक्ष से सिद्धान्ती खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात् = व्यक्ति तथा आकार की अपेक्षा करने में, जात्यभिव्यक्तिः = गोत्वादि जाति के प्रकट होने के कारण ॥ ६४ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्रोक्त जातिवादी के मत का आकृतिवादी के मत से निरास करते हुए सूत्रकार का यह कहना है कि—गोत्वादि जाति का होना व्यक्ति तथा गौ के आकार के ऊपर निर्भर है। अतः बिना व्यक्ति का रूप तथा उसके आकार के गोत्व जाति का होना असंभव है। अतः गोत्वादि जातिपद का अर्थ नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥

(६४ वें आकृतिवादी के मत से जातिवादी के मत का खण्डन करनेवाले सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—गोत्वादि जाति का सिद्ध होना गौ के व्यक्तिरूप तथा उसके गलकंबलादि आकार इन दोनों को आवश्यकता रखता है। क्योंकि बिना उपरोक्त गौ के आकार तथा गौ के स्वरूप के ज्ञान हुए केवल **'गोत्व'** जाति का ज्ञान नहीं होता। इस कारण गोत्वादि जाति गौ आदि शब्दों का अर्थ नहीं हो सकता। अर्थात् पद के अर्थ में जाति मुख्य नहीं है किन्तु आकार ही प्रधान होता है, क्योंकि व्यक्ति स्वरूप आकार में विशेषण होता है। कारण यह कि व्यक्ति से विशेषरूप को प्राप्त आकार ही उस व्यक्ति में जाति को सिद्ध करता है। अतः आकृति ही प्रधान होता है। इसी कारण सबसे प्रथम उसीका खण्डन किया गया है ॥ ६४ ॥

(ऐसे केवल आकार, व्यक्ति तथा जाति में पद की अर्थबोधक शक्ति है। ऐसे तीनों मतों का खण्डन करने के पश्चात् व्यक्ति, आकृति एवं जाति तीनों को पद का अर्थ माननेवाले सिद्धान्ती के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं)—अर्थात् व्यक्ति, आकार तथा जाति इन तीनों में से एक ही व्यक्ति, आकृति अथवा जाति को पद कहता है यह नियम नहीं है। ऐसा कहनेवाले अनियम को माननेवाले सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार अवतरण देते हैं कि)—गौ आदि पदों का कोई अर्थ ही नहीं है ऐसा तो नहीं हो सकता तो अब कौन गौ आदि पदों का अर्थ है ? ऐसे प्रश्न पर—

पदपदार्थ—व्यक्त्याकृतिजातयः तु = किन्तु व्यक्ति, आकार एवं जाति ये तीनों, पदार्थः = गौ आदि पदों का अर्थ है ॥ ६५ ॥

मिति। यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च, तदा व्यक्तिः प्रधानमङ्गं तु जात्याकृती। यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च, तदा जातिः प्रधानमङ्गं तु व्यक्त्याकृती। तदेतद्बहुलं प्रयोगेषु। आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षितव्यः॥६५॥

कथं पुनर्ज्ञायते नाना व्यक्त्याकृतिजातय इति? लक्षणभेदात्। तत्र तावत्—

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥ ६६ ॥

भावार्थ—केवल आकार व्यक्ति तथा जाति के पूर्वोक्त प्रकार से पदार्थ न होने के कारण व्यक्ति, आकृति तथा जाति तीनों ही एक को प्रधान तथा और दो को गुण (अंग) मानकर गौ आदि पदों का अर्थ होता है, ऐसा सिद्धान्ती का आशय है। इस सिद्धांत का विस्तार से तात्पर्यटीका में स्पष्टरूप से वर्णन किया है कि हम नैयायिकों के मत में व्यक्ति, आकृति तथा जाति ये तीनों होंगे आदि पदों का अर्थ है। जिसमें तीनों में से कहीं एक व्यक्ति आदि प्रधान तथा आकारादि दो गुण (अप्रधान) होते हैं—यह स्पष्ट अर्थ है॥ ६५॥

(६५ वें सूत्र की सिद्धान्ती के मत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में 'तु' यह शब्द विशेषणार्थक है अर्थात् विशेष विषय को सूचन करता है। (प्रश्न)—क्या विशेष विषय सूचित होता है? (उत्तर)—व्यक्ति, आकृति तथा जाति इन तीनों में एक प्रधान होता है, दो गुण (प्रधान) नहीं होते हैं। इसका नियम न होते हुए तीनों पद के अर्थ होते हैं। क्योंकि जिस समय गौ आदि पदों का प्रयोग करनेवाले को भेद कहने की इच्छा होती है और पदप्रयोग से विशेष का ज्ञान होता है उस समय गौ आदि व्यक्ति का स्वरूप प्रधान होता है और बाकी के गौ का आकार तथा गोत्व जाति अंग होते हैं अर्थात् मुख्य नहीं होते। (क्योंकि गौपद के प्रयोग करनेवाले उनके कहने की इच्छा नहीं है और उन दोनों विशेष व्यक्तिस्वरूप ज्ञान भी नहीं होता) और जिस समय गौ आदि शब्द के प्रयोग करनेवाले को भेद कहने की इच्छा नहीं होती और सामान्यरूप से संसार के सम्पूर्ण गोव्यक्तियों का ज्ञान होता है, उस समय गोत्व जाति ही प्रधान होती है और गो व्यक्ति का स्वरूप और उसका आकार प्रधान नहीं होता। ऐसा संसार के बहुत से शब्दों के प्रयोग करने में देखा जाता है। आकृति किस व्यवहार में प्रधान होती है यह स्वयं जान लेना चाहिए। जैसे 'आटे (पिसान) की गौ बनाओ' इस प्रयोग में केवल गौ का आकार ही मुख्य है व्यक्ति और गोत्व जाति प्रधान नहीं है॥ ६५॥

(इस सिद्धान्त पर पूर्वपक्षी इस आशय से आक्षेप करता है कि व्यक्ति, आकृति तथा जाति ये तीनों भिन्न हैं इसमें ही क्या प्रमाण है? इस अभिप्राय से अग्रिम व्यक्ति के लक्षण को कहनेवाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—(प्रश्न)—गौ आदि व्यक्ति, उसका आकार तथा गोत्व आदि जाति ये तीनों भिन्न हैं यह कैसे जाना जाता है? (उत्तर)—तीनों का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से। उनमें से प्रथम—

पदपदार्थ—व्यक्तिः = जो चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रकट होती है, गुणविशेषाश्रयः = जो रूपादि विशेष गुणों का आधार होती है, मूर्तिः = परस्पर अवयवों के सम्बन्ध से प्रकट होती है॥ ६६॥

भावार्थ—व्यक्ति, आकृति तथा जाति ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि इन तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्ति उसे कहते हैं जो चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्षरूप से जानी जाती है और जो सम्पूर्ण ही परमाणु आदि द्रव्य व्यक्ति (इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं जाने जाते वे व्यक्ति नहीं कहे

व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः। यो गुणविशेषाणां स्पर्शान्तानां गुरुत्वघनत्वद्रवत्वसंस्काराणामव्यापिनः परिमाणस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्तिः, मूर्च्छितावयवत्वादिति ॥ ६६ ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ६७ ॥

यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्। सा च नान्या सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियताद् व्यूहादिति। नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम्, शिरसा पादेन गामनुमिन्वन्ति। नियते च सत्त्वाव-

जाते) तथा जो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श तथा गुरुत्व घनत्व, द्रवत्व, संस्कार इन विशेष गुण तथा अव्यापक परिमाण का भी यथासंभव आधार हो उसे परस्पर अवयवों के सम्बन्ध से युक्त होनें के कारण मूर्ति कहते है, उसका नाम है व्यक्तिरूप पद का अर्थ ॥ ६६ ॥

(६७ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण जो प्रकट होती है उसको व्यक्ति कहते हैं। सम्पूर्ण ही व्यक्तिस्वरूप जैसे परमाणु, आकाश इनका इन्द्रियों से ज्ञान न होने के कारण व्यक्ति नहीं कहाते। जो रूप से लेकर स्पर्शपर्यन्त तथा गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व तथा वेगादि संस्कारों का एवं परम-महत् परिमाणादि रूप व्यापक परिमाणों को छोड़कर अव्यापक महत्परिमाण गुण का भी (जितने जिसमें हो सकें) आधा हो उस द्रव्य का स्वरूप (परस्पर अवयवों में सम्बन्ध से निमित्त होने के कारण) मूर्तिमान कहाते हैं, उसे व्यक्ति पदार्थ कहते हैं। (किन्तु इस सूत्र के अर्थ में वार्तिककार श्रद्धा नहीं करते, क्योंकि उनका यहाँ पर ऐसा कहना है कि)—यहाँ पर अवयवो को नहीं हटाना है किन्तु जाति तथा आकृति शब्द से भिन्न व्यक्ति क्या है यह कहना है और यह व्यक्ति होती है जो न जाति है, न आकृति। उसीसे **'व्यक्तिगुणविशेषाश्रयामूर्तिः'** इस सूत्र में सूत्रकार ने संग्रह किया है। इस सूत्र में विशेष गुण और उनके आधार का भी 'तत्' इस शब्द को लोपकर गुणविशेषाश्रय शब्द से ग्रहण किया जाता है। इसमें गुणों से विशेष होने के कारण कर्मपदार्थ भी गुणविशेष इस शब्द से प्राप्त होता है और मूर्ति शब्द से द्रव्य लिये जाते हैं। ऐसा होने से यह व्यक्ति का लक्षण रूपादि गुण तथा आकाशादि द्रव्यों में भी संगत होता है अथवा गुण तथा विशेष पदार्थों के आश्रय ऐसा **'गुणविशेषायश्रः'** का अर्थ करने से उनका आश्रय द्रव्य होता है उसमें पूर्वोक्त अवयव सम्बन्ध रूप मूर्ति भी है ॥ ६७ ॥

क्रमप्राप्त आकृति का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—आकृतिः = आकार वह है, जातिलिङ्गाख्या = जिससे **'गोत्व'** आदि गौ और व्यक्तियों में रहने वाले जातिरूप अनुगत धर्म सिद्ध होता है वह गौ पृथिवी आदि व्यक्ति उस गौ आदि प्राणियों के हस्तपादादि अवयव तथा उनके भी नियमित शरीर रचना को छोड़कर दूसरी नहीं होती—ऐसी व्यक्ति ही गोत्व आदि जातियों को सिद्ध करती है ॥ ६७ ॥

(६८ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिससे गोत्व आदि जाति तथा साध्यसाधक हेतु की प्रसिद्धि होती है, उसे आकृति ऐसा कहते हैं और वह जाति का आधाररूप अभिव्यक्ति तो उन प्राणियों के हस्तपादादि अवयव तथा उनके अंगुली आदि अवयव की नियमित (उन-उन जीवों के शरीर में भिन्न-भिन्न वर्तमान) रचना विशेष को छोड़कर दूसरी नहीं है। ऐसे नियमित अवयवों की रचनारूप गौ आदि प्राणियों के हस्तपादादि अवयव ही गोत्वादि जातियों के साधक अनुमानप्रमाण से सिद्ध होते हैं। जैसे सिर से, पैर से गौ का अनुमान किया जाता है कि गौ आदि

यवानां व्यूहे सति गोत्वं प्रख्यायत इति। अनाकृतिव्यङ्ग्यायां जातौ मृत्सुवर्णं रजतम् इत्येवमादिष्वाकृतिर्निवर्तते जहाति पदार्थत्वमिति ॥ ६७ ॥

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ६८ ॥

या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्। यच्च केषाञ्चिदभेदं कुतश्चिद्भेदं करोतीति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति ॥ ६८ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः शब्दशक्तिपरीक्षाप्रकरणम्।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

प्राणियों के अवयवों की रचना के नियमित होने से उन आकार तथा अवयव वाले संसार के सब गौओं में एक गोत्व जाति है—ऐसा प्रसिद्ध होता है और जो व्यक्ति का स्वरूप उसके आकार से प्रकट नहीं होता जैसे मृत्तिका, सुवर्ण तथा रजत आदि अवयविद्रव्य आकार से प्रकट नहीं होते अर्थात् विशेष आकृति वाले नहीं होते उनमें आकार नहीं रहता। इस कारण वह पदों का अर्थ नहीं होता। (यहाँ भाष्यकार सिर से, पैर से गौ का अनुमान करते हैं ऐसा इस कारण कहा है कि यद्यपि गौ व्यक्तियों में वर्तमान गोत्व जाति प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होती है तथापि जो प्रत्यक्ष को नहीं मानता उसके लिये अनुमान से जाति का अनुमान किया जाता है) ॥ ६८ ॥

क्रमप्राप्त जातिपदार्थ का लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—समानप्रसवात्मिका = एक समान ज्ञान को उत्पन्न करने का स्वरूप है, जातिः = जाति नामक पदार्थ होता है ॥ ६८ ॥

भावार्थ—जिससे भिन्न-भिन्न आधार व्यक्तियों में एक समान ज्ञान होता है, उसे अथवा जिससे अनेक उस जाति की व्यक्तियों का परस्पर भेद नहीं होता अथवा जो अनेक आधारों में ज्ञान के अनुगत होने का कारण हो उसे जाति नामक पदार्थ कहते हैं ॥ ६८ ॥

(६९ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जो भिन्न-भिन्न आधारों में एक सामान ज्ञान को उत्पन्न करती है, जिससे अनेक व्यक्तियों में परस्पर में भेद नहीं होता या जो पदार्थ अनेक द्रव्यरूप व्यक्तियों में एक समान ज्ञान होने का कारण होता है वह सामान्य (जातिरूप समानधर्म) होता है और जो कुछ पदार्थों की एकता तथा कुछ पदार्थों की अनेकता को करता है वह जातिविशेषरूप जातिपदार्थ होता है। (जिसमें जाति होती है वह अवश्य एक समान ज्ञान को उत्पन्न करती है,—यह नियम है न कि जो एक समान ज्ञान को उत्पन्न करती है वह जातिरूप धर्म होता है—यह नियम।) क्योंकि 'पाचक' २ पकानेवाला २, इत्यादि व्यवहारों में 'पाचकत्व', 'पाचकत्व' आदि का जातिरूप धर्म न होने के कारण व्यभिचारदोष आ जायगा। उक्त पाचकत्व आदि में आकाशत्व के समान अखण्डधर्म होते हैं। व्यक्ति तथा आकृति के भेद करने के कारण ही यह सूत्रकार ने लक्षण किया है किन्तु सर्वथा दोष रहित नहीं है। ऐसा यहाँ तात्पर्यटीकाकार का मत है ॥६८॥

इस प्रकार वात्स्यायन महर्षि से निर्माण किये न्यायभाष्य द्वितीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ।

अथ तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

परीक्षितानि प्रमाणानि, प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते। तत्रात्मादीत्यात्मा विविच्यते। किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनासङ्घातमात्रमात्मा आहोस्वित्तद्व्यतिरिक्त इति?। कुतस्ते संशयः? *व्यपदेशस्योभयथा सिद्धेः।* क्रियाकरणयोः कर्त्रा सम्बन्धस्याभिधानं व्यपदेशः। स द्विविधः—अवयवेन समुदायस्य मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति, स्तम्भैः प्रासादो ध्रियत इति। अन्येनान्यस्य व्यपदेशः परशुना

तृतीयाध्याय—प्रथम आह्निक

(इस प्रकार प्रमेयपदार्थों की परीक्षा करने के लिये द्वितीय अध्याय में प्रमाणों की परीक्षा करने के पश्चात् क्रम से आत्मा आदि द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों की परीक्षा करते हुए सूत्रकार द्वादश प्रकार के प्रमेयों में आत्मा के प्रधान होने के कारण प्रथम आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है या नहीं?—इस शंका के समाधानार्थ आत्मा इन्द्रियों की होती है (?)—यह सिद्ध करने के लिये सिद्धांती के मत से आत्मा की परीक्षा करते हैं। जिसका भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—द्वितीयाध्याय में प्रत्यक्ष से शब्दपर्यन्त प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी, साम्प्रत आत्मादि प्रमेयपदार्थों की तृतीयाध्याय में परीक्षा की जाती है। अर्थात् प्रमाणों से ही -प्रमेय (जानने योग्य) पदार्थों की परीक्षा होती है, दूसरे से नहीं। विना प्रमाणों के परीक्षा के वह प्रमेयपदार्थों की परीक्षा नहीं कर सकता। इस कारण प्रमाणों की परीक्षा कारण तथा प्रमेयपदार्थों की परीक्षा कार्य है। इसलिये कार्यकारण भावरूप संगति होने के कारण (प्रमाणों) की परीक्षा के पश्चात् कार्य (प्रमेय) पदार्थों की परीक्षा तृतीयाध्याय में सूत्रकार कर रहे हैं। वह प्रमेयपदार्थ प्रस्तुत में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय आदि द्वादश हैं, जिनमें प्रथम प्रधान आत्मा ही है। अतः आत्मा का विवेचन (परीक्षा विचार) किया जाता है कि—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा भय, तृष्णा आदिकों के समुदायरूप ही आत्मा पदार्थ है अथवा उनसे भिन्न है—ऐसी परीक्षा कर रहे हैं। अर्थात् द्वादश प्रमेयपदार्थों में प्रथम आत्मा का ही उद्देश किया गया है और उसका लक्षण भी कहा गया है। इस कारण उसी की प्रथम परीक्षा भी कर रहे हैं यद्यपि यहाँ पर आत्मा के स्वरूप ही की परीक्षा करना भाष्यकार को अभिमत है, तथापि आत्मा के लक्षण की परीक्षा के द्वारा ही लक्ष्य (लक्षण करने योग्य) आत्मा की परीक्षा हो जायगी। इस आशय से यह लक्षण की परीक्षा यहाँ जाननी चाहिये। यह आत्मा के लक्षण की ही परीक्षा है यह आगे स्वयं दिखलायेंगे। (उपरोक्त आत्मा शरीरादि समूहरूप है या उनसे भिन्न, इस संशय पर आगे भाष्यकार प्रश्न दिखाते हैं कि)—यह उपरोक्त संशय क्यों होता है? (उत्तर)—व्यवहार शरीरादि समूह तथा उनसे भिन्न दोनों में यह आत्मा है—यह व्यवहार दिखाने से। जिसमें क्रिया तथा करण इन दोनों को कर्ता के साथ सम्बन्ध जिसमें कहा जाता है, उसको व्यपदेश (व्यवहार) कहते हैं। वह (१) अवयवों से समूह का जैसे 'जड़ से वृक्ष खड़ा है' एवं स्तम्भों (खम्बों) से महल टिका है, इन व्यवहारों से वृक्षादि अवयवी के मूल (जड़) आदि अपने ही अवयवों से उक्त व्यवहार होता है। (२) इसीसे दूसरे का व्यवहार जैसे फरसे से लकड़ी को काटता है, दीप से अन्धकार में दिखाता है इत्यादि व्यवहार अवयवों से नहीं होता, ऐसे दो प्रकार के संसार में व्यवहार देखने में आते हैं। यह भी व्यवहार

वृश्चति, प्रदीपेन पश्यति। अस्ति चायं व्यपदेशः चक्षुषा पश्यति, मनसा विजानाति, बुद्ध्या विचारयति, शरीरेण सुखदुःखमनुभवतीति। तत्र नाव-धार्यते किमवयवेन समुदायस्य देहादिसङ्घातस्य, अथान्येनान्यस्य तद्व्यति-रिक्तस्य वेति ?

अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः। कस्मात् ?

होता है कि 'चक्षुइन्द्रिय से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से विचार करता है, शरीर से सुख तथा दुःख का अनुभव करता है' इत्यादि। इन व्यवहारों में यह निश्चित नहीं होता कि क्या उपरोक्त प्रथम व्यवहार के समान अवयव से लेकर शरीर इन्द्रिय आदि के समुदाय का यह व्यवहार है अथवा उपरोक्त दूसरे व्यवहार के दूसरे चक्षु आदि को लेकर देखता है इत्यादि व्यवहार है ? (यहाँ पर केवल व्यवहार ही देहादिकों से भिन्न आत्मा का साधक नहीं कहा है, जिससे 'मैं गौरवर्ण हूँ' इस व्यवहार में व्यभिचारदोष आयेगा, किन्तु अनुभव ही शरीरादि भिन्न आत्मा का साधक है यह आशय है और वह आत्मा ऐसा अनुभव शरीरादिकों में 'यह आत्मा है' इसमें 'इदं' यह के विषयों में नहीं है। अतः जिस प्रतीति में 'इदं' का विषय नहीं है ऐसा 'अहं' मैं यह ज्ञान शरीरादिकों से भिन्न विषय में ही होता है, वही आत्मा है। 'अहं गौरः' इत्यादि व्यवहार में तो मतुप् के लोप अथवा अभेद को लेकर शरीर में 'अहं' मैं यह व्यवहार होता है। मेरी आत्मा है यह व्यवहार तो केवल कहना मात्र है। क्योंकि शरीरादिकों के समान उसमें 'मम' मेरा यह कहना मुख्य नहीं है। क्योंकि दोनों का भेद नहीं प्रतीत होता। अतः वह 'मम' मेरा यह कहना 'राहू का शिर है' इत्यादि व्यवहार के समान भेद न रहते भी भेद को मानकर होता है—यह जान लेना चाहिये। 'मैं जानता हूँ, मैं यत्न करता हूँ, मेरी आत्मा' इत्यादि व्यवहारों में प्रथम तथा द्वितीय व्यवहार में कोई बाधक न होने से वे दोनों मुख्य हैं और मेरी आत्मा इस व्यवहार में अनवस्थादोषरूप बाधक होने के कारण यह व्यवहार तो गौण है ऐसा निश्चित होता है)। (यहाँ पर भाष्यकार ने जो 'मूल (जड़) से वृक्ष खड़ा है' इत्यादि वृक्ष तथा प्रासाद का उदाहरण दिया है उसमें अवयवीरूप भिन्न ही वृक्ष तथा प्रासाद इन दोनों का उनसे भिन्न समुदाय जड़ आदि अवयव से व्यवहार यद्यपि होता है, तथापि अवयवी को न मानना तथा समुदाय-समुदायियों से भिन्न नहीं है ऐसा माननेवाले परमत से यह उदाहरण दिया गया है। ऐसी तात्पर्यटीकाकार ने समालोचना की है। दूसरे से दूसरे का व्यवहार होता है, इसमें आत्मा शरीरादिकों से भिन्न है अथवा अभिन्न है इस विषय में ही विवाद है, न कि आत्मारूपधर्मी में, क्योंकि ऐसा कोई वादी ही नहीं हो सकता जो आत्मारूपधर्मी में विवाद करे। क्योंकि जो आत्मारूप-धर्मी में ही विवाद करता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कारण यह कि वह सब आश्रयासिद्धि दोषग्रस्त है। अतः जो आत्मारूपधर्मी ही नहीं मानता वह लोक व्यवहार जाननेवाला तथा शास्त्रज्ञ न होने से उन्मत्त (पागल) के समान होने के कारण उपेक्षा करने योग्य है।

(उपरोक्त दो प्रकार के व्यवहारों में से किस व्यवहार को लेकर सिद्धांती आत्मा की सिद्धि करता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सिद्धांत सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)— 'फरसे से काटता है', 'दीप से अन्धकार में देखता है' इत्यादि भिन्न से भिन्न ही आत्मा का व्यवहार होता है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति, यं चास्पाक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामीति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययावेककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते न च सङ्घातकर्तृकौ। नेन्द्रियेणैककर्तृकौ। तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य ग्रहीता भिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृकौ प्रत्ययौ समानविषयौ प्रतिसन्दधाति सोऽर्थान्तरभूत आत्मा। कथं पुनर्नेन्द्रियेणैककर्तृकौ? इन्द्रियं खलु स्वस्वविषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धातुमर्हति नेन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति। कथं न सङ्घात-

---

पदपदार्थ—दर्शनस्पर्शनाभ्यां = चक्षुरिन्द्रिय से देखने तथा त्वगिन्द्रिय से स्पर्श करने से, तदार्थग्रहणात् = इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मारूप पदार्थ का ज्ञान न होने के कारण ॥ १ ॥

भावार्थ—'जिस पदार्थ को मैंने आँख से देखा था, उसीको त्वचा इन्द्रिय से स्पर्श करता हूँ'। इस प्रकार जिसका चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण होता है, उसी को त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण होना है और जिसका मैंने त्वचा से स्पर्श वा ग्रहण किया उसी को मैं देखता हूँ। अतः एक ही पदार्थ के रूप तथा स्पर्श गुणों को ग्रहण करनेवाले दोनों ज्ञानों का एक ही उन इन्द्रियों से कर्त्ता है—जो ऐसा प्रतिसन्धान (पश्चात् अनुभव) करता है इन दोनों इन्द्रियजन्य ज्ञानों का अनुसन्धान करनेवाले व शरीरादिकों के समुदाय हैं, न इन्द्रियाँ। अतः जो चक्षु से तथा त्वचा से एक ही पदार्थ को ग्रहण करता है, चक्षु, त्वचारूप भिन्न-भिन्न कारणों से होनेवाले तथा एक कर्त्तावाले समान (पदार्थ) विषयक दो ज्ञानों का अनुसंधान करता है वह इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा है—यह सिद्ध होता है। (अर्थात् देखना, स्पर्श करना ये भाव (धर्म) भावता (धर्मी) की अपेक्षा करते हैं। जिससे अनेक चक्षु, त्वचा आदि इन्द्रियोंरूप कारणों (साधन) वाला, रूपादि अनेक विषयों को देखनेवाला कोई चेतन (जाननेवाला) आत्मा है—यह सिद्ध होता है ॥ १ ॥

(प्रथम सूत्र की सिद्धांती के मत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस पदार्थ का देखने से ग्रहण हुआ, वही पदार्थ स्पर्शन (त्वचा) रूप दूसरे इन्द्रिय से भी ग्रहण होता है कि—जिस पदार्थ को मैंने चक्षुरिन्द्रिय से देखा था, उसी पदार्थ को मैं स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श करता हूँ। इस प्रकार एक ही पदार्थ को विषय करनेवाले ये दोनों उपरोक्त ज्ञान एककर्त्ता से पश्चात् अनुसंधान किये जाते हैं। (इन दोनों ज्ञानों का प्रतिसंधान, शरीर, इन्द्रिय, मन नहीं वेदनाओं का समुदाय करता है, नकि इन्द्रियरूप एककर्त्ता ही करता है। इस कारण जो यह चक्षु तथा त्वचा इन्द्रिय से भी एक ही पदार्थ को ग्रहण करता है (जानता है) वही, चक्षु तथा त्वचारूप भिन्न निमित्त से होनेवाले तथा जिनका एक ही आत्मा कर्त्ता है और विषय (पदार्थ) भी एक ही है, प्रतिसन्धान करता है। वह इन्द्रियादिकों से भिन्न दूसरा पदार्थ है नित्य आत्मा। (प्रश्न)—ये दोनों ज्ञान इन्द्रियरूप एककर्ता का क्यों नहीं होते? (उत्तर)—चक्षु आदि इन्द्रिय तो अपने-अपने रूप आदि विषयों को ही ग्रहण करते हैं, अतः उनके ज्ञान के एककर्ता का ही अनुसन्धान हो सकता है, क्योंकि चक्षुरूप इन्द्रियत्व या इन्द्रिय के स्पर्श को ग्रहण नहीं कर सकता इस कारण। (प्रश्न)—शरीर इन्द्रियादिकों का समूह उपरोक्त दोनों ज्ञानों के अनुसन्धान को करनेवाला क्यों नहीं हो सकता? (उत्तर)—जिस कारण चाक्षुष, त्वच ऐसे चक्षु तथा त्वचारूप भिन्न-भिन्न साधनों से होनेवाले अपनी आत्मारूप जिसका कर्ता है ऐसे उपरोक्त दोनों प्रकार के इसमें के अनुसन्धान करने का (अनुभव करनेवाला)

कर्तृकौ ? एकः खल्वयं भिन्ननिमित्तौ स्वात्मकर्तृकौ प्रतिसंहितौ प्रत्ययौ वेदयते न सङ्घातः ? कस्मात् ? अनिवृत्तं हि सङ्घाते प्रत्येकं विषयान्तरग्रहणस्याप्रतिसन्धानमिन्द्रियान्तरेणेवेति ॥ १ ॥

न विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥

न देहादिसङ्घातादन्यश्चेतनः। कस्मात् ? विषयव्यवस्थानात्। व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि, चक्षुष्यसति रूपं न गृह्यते सति च गृह्यते, यच्च यस्मिन्नसति न भवति सति भवति तस्य तदिति विज्ञायते, तस्माद्रूपग्रहणं चक्षुषः, चक्षू

हो सकता है, नकि शरीरइन्द्रियादिकों का समूह। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—क्योंकि इन्द्रियादि समूहपक्ष में प्रत्येक में दूसरी इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान न होने से प्रतिसन्धान नहीं हो सकता— यह दोष नहीं हटता ॥ १ ॥

(उपरोक्त सिद्धांत पर इन्द्रिय को ही उपरोक्त ज्ञानों का अनुसन्धान करनेवाला मानने से निर्वाह हो सकने के कारण इन्द्रियों से भिन्न आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं है) इस आशय से पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं (इन्द्रियों से भिन्न आत्मा नहीं हो सकता)। विषयव्यवस्थानात् = अपने-अपने विषय के ज्ञान की व्यवस्था होने के कारण ॥ २ ॥

भावार्थ—अपने-अपने रूप, रस आदि विषयों के ज्ञान की व्यवस्था इन्द्रियों को लेकर ही होने के कारण इन्द्रिय तथा विषय ज्ञान की अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति है, अतः चक्षु आदि इन्द्रिय ही आत्मा हैं, यह सिद्ध होता है। (अर्थात् सिद्धांती के दर्शन तथा त्वगिन्द्रिय से होनेवाले दोनों ज्ञानों के अनुसन्धान करनेवाला एक इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है) इस सूत्र से चक्षु आदि अनेक इन्द्रियरूप करणवाला रूपादि अनेक विषयों को देखनेवाला कोई एक इन्द्रिय से भिन्न नित्य आत्मा पदार्थ है—यह सिद्धांती के कहने की इच्छा है; किन्तु पूर्वपक्षी 'उस भिन्न आत्मा की सिद्धि में अनुसंधान ही हेतु है' यह समझ कर अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि करने का विरोध इस सूत्र में दिखाता है। अर्थात् पूर्वपक्षी के सूत्र का अर्थ यह है कि जो आप सिद्धांती इन्द्रियों से भिन्न चेतन आत्मा मानते हैं तो भी वह सब आत्मा सर्वज्ञ (सब जाननेवाला) नहीं हो सकता। किन्तु कोई आत्मा किसी विषय का ज्ञान रखता है और दूसरा दूसरे किसी विषय को जानता है, यही कहना होगा तो इससे अच्छा यह है कि अपने-अपने विषयों का ज्ञान होने में व्यवस्था (नियम) वाले चक्षु आदि इन्द्रियों को ही आत्मा मान लें। उनसे भिन्न एक नित्य आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है) ॥ २ ॥

(पूर्वपक्षिमत के द्वितीय सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'शरीर इन्द्रिय आदिकों के समुदाय से भिन्न चेतन आत्मा नामक पदार्थ नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—विषय ग्रहण की व्यवस्था होने के कारण। क्योंकि चक्षुइन्द्रिय के न होने पर अन्धे को रूप का ज्ञान नहीं होता और चक्षुइन्द्रिय के रहने पर रूप का ज्ञान होता है। इस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रिय अपने-अपने विषय के ज्ञान होने में नियमित हैं। अतः जिस इन्द्रिय के रहने पर उसे अपने विषय का ज्ञान होता है और न रहने पर नहीं होता, ऐसे अन्वय तथा व्यतिरेकव्याप्ति से उन चक्षु आदि इन्द्रियों का वह रूपादि विषय होता है—यह जाना जाता है। (अर्थात् इन्द्रियों के अन्वय तथा व्यतिरेक से रूपादि ज्ञान होना, न होना यह सिद्ध होता है। इस कारण भाष्यकार कहते हैं कि)—चक्षुइन्द्रिय

रूपं पश्यति । एवं घ्राणादिष्वपीति । तानीन्द्रियाणीमानि स्वस्वविषयग्रहणाच्चेतनानि इन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावात् । एवं सति किमन्येन चेतनेन ? ॥

सन्दिग्धत्वादहेतुः । योऽयमिन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावः, स किमयं चेतनत्वादाहोस्वित् चेतनोपकरणानां ग्रहणनिमित्तत्वादिति सन्दिह्यते । चेतनोपकरणत्वेऽपीन्द्रियाणां ग्रहणनिमित्तत्वाद्भवितुमर्हति ॥ २ ॥

यच्चोक्तं विषयव्यवस्थानादिति—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

रूप को देखता है, इसलिये रूप का ज्ञान चक्षुइन्द्रिय का ही विषय है। इसी प्रकार घ्राणइन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है, अतः गन्ध का ज्ञान घ्राणइन्द्रिय का ही विषय है, इत्यादिकों में भी यही व्यवस्था जाननी चाहिये। इस कारण ये चक्षु आदि इन्द्रिय की अपने-अपने रूपादि विषयों के ज्ञान होने के नियम होने के कारण चेतन आत्मा है। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों के रहने से रूपादि विषयों का ज्ञान होता है, नहीं रहने पर नहीं होता। जब ऐसी विषयज्ञान की व्यवस्था इन्द्रियों से ही हो जाती है तो उनसे भिन्न एक नित्यआत्मा मानने की क्या आवश्यकता है? (इस पूर्वपक्ष का आगे सूत्र में उत्तर देने के लिये भाष्यकार सिद्धांती के मत से इसी सूत्र की व्याख्या में उत्तर देते हुए कहते हैं कि)—'इन्द्रियों में आत्मरूपता सिद्ध करनेवाली यह विषयव्यवस्थारूप' संदेहयुक्त होने से सन्दिग्धासिद्ध नामक दुष्टहेतु है। क्योंकि जो यह इन्द्रियों के रहते विषय का ज्ञान होना तथा न रहते न होना यह अन्वय तथा व्यतिरेकरूपा इन्द्रियों के चेतन आत्मा होने से है अथवा चेतन आत्मा के उपकरण (उपकार करनेवाले भिन्न आत्मा) को विषयों का ज्ञान होने के कारण होने से—यह सन्देह होता है। इन्द्रियों से भिन्न चेतनात्मा को विषयज्ञान होने की उपकार करनेवाली सामग्री मानने से भी उपरोक्त व्यवस्था हो सकती है। (अर्थात् अन्यथा से ही रहित अन्वय तथा व्यतिरेकव्याप्ति कारण होने पर अनुमान में प्रमाण होती है, नकि कर्त्ता चेतन नहीं, चेतन इन्द्रिय ही है—इस विषय में) यह भाष्य में ऊपर दिखाये हुए पूर्वपक्ष का उत्तर है। द्वितीय सूत्र में दिखाये हुए पूर्वपक्ष का उत्तर तो आगे तीसरे सूत्र में ही होगा ॥ २ ॥

(इन्द्रियों को आत्मा माननेवाले पूर्वपक्षी का **'विषयों की व्यवस्था से'** यह हेतु अयुक्त है। इस विषय के सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार के उत्तर सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी इन्द्रियात्मवादी ने कहा था कि—'अपने-अपने विषयों के इन्द्रियों से ग्रहण की व्यवस्था होने से' ऐसा—

पदपदार्थ—तदवस्थानात् एव = इन्द्रियों से अपने-अपने विषय रूपादि ग्रहण के नियम होने से ही. आत्मसद्भावात् = इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध होने के कारण, अप्रतिषेधः = इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का निषेध नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि चक्षु आदि इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानने का नियम न रखते हों तथा सर्वज्ञ तथा सम्पूर्ण रूपादि विषयों को जानते हों तो उससे भिन्न आत्मा है ऐसा कौन कह सकेगा। अतः इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों के ज्ञान होने की व्यवस्था होने के ही कारण सर्वज्ञ तथा सम्पूर्ण रूपादि विषयों को जाननेवाला अतः जिसको जानने के लिये विषय की व्यवस्था नहीं है, ऐसी इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा नित्य है—ऐसा सिद्ध होता है। (अर्थात्

यदि खल्वेकमिन्द्रियमव्यवस्थितविषयं सर्वज्ञं सर्वविषयग्राहि चेतनं स्यात् कस्ततोऽन्यं चेतनमनुमातुं शक्नुयात्? यस्मात्तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि तस्मात्तेभ्योऽन्यश्चेतनः सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थितिमतीतोऽनुमीयते। तत्रेदं अभिज्ञानमप्रत्याख्येयं चेतनवृत्तमुदाह्रियते। रूपदर्शी खल्वयं रसं गन्धं वा पूर्वगृहीतमनुमिनोति। गन्धप्रतिसंवेदी च रूपरसावनुमिनोति, एवं विषयशेषेऽपि वाच्यम्। रूपं दृष्ट्वा गन्धं जिघ्रति, घ्रात्वा च गन्धं रूपं पश्यति। तदेवमनियतपर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धत्ते प्रत्यक्षानुमानागमसंशयान् प्रत्ययांश्च नानाविषयान् स्वात्मकर्तृकान् प्रतिसन्दधाति प्रतिसन्धाय वेदयते। सर्वविषयं च शास्त्रं प्रतिपद्यते अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावेन प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेकविषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण

विषय व्यवस्थारूप हेतु से इन्द्रियों में चेतनता (आत्मरूपता) सिद्ध न होने से यह हेतु विरुद्ध दुष्ट हेतु है) ॥ ३ ॥

(तृतीय सूत्र की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—निश्चय ही यदि चक्षु आदिकों में से कोई भी एक इन्द्रिय में अपने-अपने रूपादि ज्ञान का नियम न होता और सर्वज्ञ (सब जाननेवाले) रूप, शब्द सुखादि सम्पूर्ण विषयों को जाननेवाले वे इन्द्रिय होते तो कौन मनुष्य उन इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अनुभव कर सकता। किन्तु जिस कारण चक्षु आदि सम्पूर्ण ही इन्द्रिय का रूप में अपने-अपने विषय के ग्रहण का नियम है, इसी कारण इन इन्द्रियों से भिन्न, सम्पूर्ण विषयों को जाननेवाले होने के कारण सर्वज्ञ तथा अमुक (इसी) ही विषय को जानता है इस प्रकार जिसमें विषयों के जानने का अनियम नहीं है (अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला) ऐसे इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अनुमान किया जाता है। जिसमें यह विशेष अभिज्ञान (चिह्न) है। जिस (प्रत्यभिज्ञा) का खण्डन नहीं हो सकता और जो चेतन का व्यापार है जैसे 'पूर्वकाल में आत्मा आदि केवल रूप को देखकर वह गौण है यह ज्ञान जिस मनुष्य को हुआ था वही दूसरे समय पीले दूसरे आम के रूप को देखकर उसके मीठा होने अथवा सुगन्ध का अनुमान होता है।' इसी प्रकार पूर्वकाल में उस आम के सुगन्ध का अनुभव कर दूसरे समय वैसे सुगन्ध को आम में प्राप्त कर उसके पीत रूप तथा मीठे रस का अनुमान करता है। इसी प्रकार और भी रूप आदि विषयों को लेकर कहना चाहिये। क्योंकि यह मनुष्य फलादिकों के रूप को देखकर उसके गन्ध को सूँघता है और गन्ध को सूँघने के पश्चात् उसके रूप को देखता है। इस प्रकार नियमित क्रम रहित, सम्पूर्ण रूपादि विषयों को ही एक ही चेतन (आत्मा) में रहना होने से जिसके भिन्न-भिन्न कर्ता नहीं हैं, प्रतिसन्धान ज्ञान को करता है (जानता है)। इसी प्रकार अनेक विषयवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा संशयरूप ज्ञानों को भी जिनमें आत्मा ही कर्त्ता होती है, प्रतिसन्धान कर उन्हें जान जाता है तथा सम्पूर्ण विषयों के प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों को भी जानता है। एवं जो पदार्थ श्रोत्रइन्द्रिय के विषय नहीं हैं, क्रम से कण्ठ-तालु संयोग उत्पन्न अकारादि वर्णों को श्रोत्रेन्द्रिय से सुनकर, उनमें यह वर्ण समूहरूप पद है। इन पदों को यह समूहरूप वाक्य है, इस प्रकार प्रतिसन्धान की संगति जानकर तथा इस शब्द का यह अर्थ है इस प्रकार वृद्धव्यवहार आदिकों से वाच्यवाचकभावरूप शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था को भी जानता हुआ अनेक रूपादि विषयरूप अर्थों

गृह्णाति। सेयं सर्वज्ञस्य ज्ञेयाव्यवस्थाऽनुपदं न शक्या परिक्रमितुम्। आकृतिमात्रं तूदाहृतम्। तत्र यदुक्तमिन्द्रियचैतन्ये सति किमन्येन चेतनेन तदयुक्तं भवति ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरिन्द्रियव्यतिरेकात्मप्रकरणम्।

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा, न देहादिसङ्घातमात्रम्—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

के समूह का जिसमें प्रत्येक सम्पूर्ण रूपादि को नाश का चक्षुरादि इन्द्रियों से ज्ञान न हो उस पद के अर्थ को जाना जाता है, पश्चात् वाक्यार्थ को भी जानता है। वह यह सर्वज्ञ आत्मा का विषय ग्रहण करने में नियम न होना जो संसार के व्यवहारों में सर्वत्र देखा जाता है उसको कोई छोड़ नहीं सकता। यह एक केवल उदाहरणादि या गप है। इस कारण उसमें जो पूर्वपक्षी इन्द्रियात्मवादी ने कहा था कि—'चक्षु आदि इन्द्रियों को ही आत्म चेतन मान लेंगे, दूसरे उनसे भिन्न एक नित्य आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है' यह असंगत है ॥ ३ ॥

(२) शरीरभिन्न आत्मा का प्रकरण

(इस प्रकार प्रथम प्रकरण में इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को सिद्ध करने पर यदि कोई ऐसा कहे कि)—'बाह्य इन्द्रिय चेतन आत्मा नहीं क्योंकि उनका अपने-अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न करने का नियम है किन्तु शरीर ही आत्मा क्यों न होगा, क्योंकि उसका अपने विषय को जानने का नियम नहीं है। कारण यह कि जिस गौर वर्ण, पीत (मीठे) तथा युवा (जवान) के रूप को देखा था, या स्पर्श कर रहा हूँ, ऐसा शरीर ही को अनुभव होता है। अतः पूर्वोक्त दर्शन तथा स्पर्शन दोनों से एक ही विषय को जाननेवाला शरीर ही चेतन (आत्मा) है'—उसके उत्तर में यह दूसरा शरीर से भी आत्मा भिन्न है यह सिद्ध करने के लिये शरीर भिन्न आत्मा का प्रकरण कहा ज़ा रहा है। जिससे सिद्धान्तमत के सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—आगे सूत्र में कथित हेतु से भी यह सिद्ध होता है कि शरीरादिकों से आत्मा भिन्न है, नकि शरीर इन्द्रियादिकों का केवल समुदाय—

पदपदार्थ—शरीरदाहे = किसी के शरीर के जलने पर, पातकाभावात्=पाप न होने की आपत्ति के आने से ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्राणीरूप शरीर के जला देने पर, प्राणी के हिंसा करने का पाप जलानेवाले को होता है यह न होगा। क्योंकि उसके फल का जलानेवाले में सम्बन्ध नहीं है और जलानेवाला नहीं है, उस फल का सम्बन्ध है, क्योंकि पूर्ण शरीरादिकों से आगे के शरीरादिक भिन्न हैं। अतः जिसने जलानारूप हिंसा की थी उसे आगे होनेवाले हिंसा के फल का सम्बन्ध नहीं है और जिसे आगे हिंसाफल का सम्बन्ध होता है, वह जलाना से हिंसा नहीं करता। अतः शरीरादि समुदायरूप आत्मा के भेद होने से कृतहान् (किये हिंसा की हानि) तथा अकृत का अभ्यागम न किये हिंसा के फल की प्राप्तिरूप दोष आ जायगा तथा शरीरादिरूप आत्मा की उत्पत्ति तथा नाश होने के कारण प्राणियों की सृष्टि उनके पुण्य-पापरूप कर्म से हुई है—यह भी सिद्ध न होगा। अतः शरीरादि समूह को आत्मा मानने से, किसी का शरीर जला देने से जो 'जलानेवाले को पाप लगता है, वह न लगेगा। ऐसा होना विरुद्ध है। इस कारण आत्मा शरीरादि समुदाय से भिन्न है—यह सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासङ्घातः प्राणिभूतो गृह्यते, प्राणिभूतं शरीरं दहतः प्राणिहिंसाकृतपापं पातकमित्युच्यते, तस्याभावः *तत्फलेन कर्तुर-सम्बन्धात् अकर्तुश्च सम्बन्धात्*। शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाप्रबन्धे खल्वन्यः सङ्घात उत्पद्यतेऽन्यो निरुध्यते, उत्पादनिरोधसन्ततिभूतः प्रबन्धो नान्यत्वं बाधते देहादिसङ्घातस्यान्यत्वाधिष्ठानत्वात्। अन्यताधिष्ठानो ह्यसौ प्रख्यायत इति। एवं च सति यो देहादिसङ्घातः प्राणिभूतो हिंसां करोति नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते, यश्च सम्बध्यते न तेन हिंसा कृता। तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानम-कृताभ्यागमः प्रसज्यते। सति च सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति, तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। तद्यदि देहादि-सङ्घातमात्रं सत्त्वं स्यात् शरीरदाहे पातकं न भवेत्। अनिष्टं चैतत् तस्माद्दे-हादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा नित्य इति ॥ ४ ॥

(चतुर्थ सूत्र की भाष्यकार व्यख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में शरीर पद के लेने से प्राणियों का शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि तथा भय, हर्ष आदि वेदनाओं का समुदाय ग्रहण किया जाता है। उस प्राण से संयुक्त शरीर को जला देनेवाले प्राणी को दूसरे प्राणी की हिंसा से उत्पन्न पाप को पातक कहते हैं। उसका अभाव हो जायगा—क्योंकि उसके नरकप्राप्तिरूप फल के साथ सम्बन्ध नहीं है और हिंसा न करनेवाले दूसरे को उक्त फल का सम्बन्ध है। कारण यह कि उपरोक्त शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदनाओं के समुदाय से दूसरा शरीरादिकों का समुदाय उत्पन्न होता है और पूर्व का नष्ट हो जाता है। अतः उत्पत्ति तथा निरोध (नाश) के कारण यह शरीरादिकों का समुदाय भेद को हटा नहीं सकता। क्योंकि शरीर, इन्द्रिय आदि के समुदाय भिन्न-भिन्न हैं। संसार में बाल्यावस्थादि शरीरादिकों से तरुणावस्था के शरीर भिन्न हैं—यह प्रसिद्ध है। ऐसा होने से जिन प्राणीस्वरूप शरीरादि समुदाय दूसरे प्राणी की हिंसा करता है, वह उस हिंसा से आगे होनेवाला नरक-दुःखादि रूप फलों से सम्बन्ध नहीं रखता और जो आगे हिंसा के फल का सम्बन्ध रखता है, उसने पूर्वकाल में हिंसा नहीं की थी। इस प्रकार अनित्य शरीरादिकों के समुदायरूप आत्माओं के भिन्न होने के कारण कृतहान (किये कर्म के फल की हानि) तथा अकृताभ्यागम (न किये कर्म के फल की प्राप्ति) ये दोनों आ जायँगे। तथा शरीरादि समुदायरूप आत्मा की उत्पत्ति तथा नाश होने के कारण प्राणियों की सृष्टि (निर्माण) पुण्य-पापरूप कर्म से उत्पन्न होना है—यह भी सिद्ध न होगा; जिससे ज्ञानी प्राणियों को लाभबल से पुण्य तथा पाप का फल न मिलने के कारण जो संसार से मुक्ति होती है उसके लिये ब्रह्मचर्य से रहने का कोई प्रयास न करेगा। इस कारण यदि शरीर, इन्द्रिय आदिकों का समुदाय ही आत्मा हो तो दूसरे की हिंसा करने से पाप का फल न हो सकेगा, जो न होना किसी को अभिमत नहीं है। इस कारण देहादि समुदाय से भिन्न एक नित्य होने के कारण कर्म का कर्त्ता तथा कालान्तर में उनके फलों को भोगनेवाला एक आत्मा पदार्थ है; यह सिद्ध होता है)। (अर्थात् किसी के प्राण के जाने पर प्राण लेनेवाले को जो पाप होता है वह न होगा। किन्तु जो शरीरादि भूत पदार्थों को ही आत्मा मानते हैं, उनके मत में पाप न होने के कारण यह सूत्रोक्त आपत्ति चार्वाकों के मत में नहीं आ सकती, किन्तु बौद्धमत पर आ सकती है। क्योंकि किसी का प्राण लेने को वे पाप मानते हैं, तो उनके मत से तो बुद्धि

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

यस्यापि नित्येनात्मना सात्मकं शरीरं दह्यते तस्यापि शरीरदाहे पातकं न भवेद्दग्धुः। कस्मात्? नित्यत्वादात्मनः। न जातु कश्चिन्नित्यं हिंसितुमर्हति, अथ हिंस्यते? नित्यत्वमस्य न भवति। सेयमेकस्मिन्पक्षे हिंसा निष्फला, अन्यस्मिंस्त्वनुपपन्नेति ॥ ५ ॥

न कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

(विज्ञान) आत्मा है—ऐसा कहना था, तो भी प्रत्येक प्राणियों का आशय विचित्र होता है। इस कारण कोई भूतचैतन्यवादी ही उक्त पाप माने तो उसके लिये सूत्रोक्त दोष हो सकेगा। इसी आशय से शरीरादिकों का ग्रहण किया गया है)। सूत्र में दाह शब्द का नाश अर्थ जानना चाहिये और 'पातक के अभाव' शब्द से कालान्तर में उपयोगी जितने स्थिर गुण हैं उनका बोध कराता है। यह सूत्र जिसके आत्मा पदार्थ नहीं हैं उसके मत में दोष दिखाता है, न कि आत्मा की सिद्धि करता है। आगे के मत में सूत्र से यही इस सूत्र का अर्थ होता है—यह स्पष्ट होता है। अतएव कुछ लोगों का इस सूत्र के (१)—यदि शरीर ही आत्मा होगा तो मृतक के शरीर के जलाने पर पातक होगा, किन्तु वह नहीं है, (२)—अथवा शरीर के जलने पर उसके शरीररूप आधार के न रहने के कारण पुण्य-पापादि कर्मों का अभाव हो जायगा, जिससे पुनः जन्म न होगा, ऐसे अर्थ करने का भी अवकाश नहीं है—यह सिद्ध होता है। इस सूत्र के भाष्य में 'अकर्त्तुः' न करनेवाले को इस पद से यह सूचित होता है **'शास्त्र दर्शितं फलमनुष्ठातरि'** शास्त्र में कहा हुआ फल करनेवाले को होता है। ऐसा **'उत्सर्ग'** सामान्य विधि है। किन्तु जिसमें शास्त्र ने दूसरे को फल कहा है, जैसे श्राद्ध तथा वैश्वानर नामक याग में—वहाँ पुत्र के किये श्राद्ध का फल पिता को हो अथवा पिता के किये उपरोक्त याग का फल पुत्र को हो, क्योंकि वह विशेष विधि है यह भाष्यकार का आशय है ॥४॥

सिद्धान्ती के दिये हुए पाप का फल पापकर्ता को न होगा, इस दोष को शरीरादि भिन्न आत्मा को माननेवाले सिद्धान्ती के मत में भी दिखलाने के आशय से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तदाभावः = पाप न होगा, सात्मकप्रदाहे अपि = नित्य आत्मा के साथ शरीर के जलाने पर भी, तन्नित्यत्वात् = उस शरीर से भिन्न आत्मा के नित्य होने के कारण ॥ ५ ॥

भावार्थ—शरीरादि भिन्न नित्य आत्मा मान कर जो सिद्धान्ती ने दोष दिया था वही दोष उसके मत में भी आ जायगा, क्योंकि उसके मत में भी उस नित्य आत्मा के साथ जो शरीर जलता है उससे जलानेवाले को आत्मा के नित्य होने से पाप नहीं हो सकता। क्योंकि नित्यपदार्थ नष्ट नहीं हो सकता, यदि नष्ट हो तो वह नित्य नहीं हो सकता, जिससे एकपक्ष (नित्यपक्ष) में हिंसा व्यर्थ है, दूसरे हिंसा होने के पक्ष में आत्मा नित्य नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

(५ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस सिद्धान्ती के मत में भी शरीरादि भिन्न नित्य आत्मा के साथ शरीर जलता है, उसके भी मत में शरीर को जलाने पर जलानेवाले को पातक न होगा। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—शरीरादि भिन्न आत्मा के नित्य होने के कारण। क्योंकि कभी भी कोई नित्य की हिंसा (नाश) नहीं कर सकता। यदि नित्य की हिंसा हो सके तो वह नित्य नहीं होगा। वह यह एकपक्ष (नित्यपक्ष) में हिंसा करने का फल नहीं हो सकता और दूसरे हिंसापक्ष में आत्मा की नित्यता नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा, अपि त्वनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्त्तॄणामिन्द्रियाणामुपघातः पीडा वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा प्रमापणलक्षणो वा वधो हिंसेति। कार्यं तु सुखदुःखसंवेदनं तस्यायतनमधिष्टानमाश्रयः शरीरम्, कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्त्तॄणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा, न नित्यस्यात्मनः। तत्र यदुक्तं "*तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वा*" दित्येतदयुक्तम्। यस्य सत्त्वोच्छेदो हिंसा, तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्चेति दोषः। एतावच्चैतत् स्यात् सत्त्वोच्छेदो वा हिंसा, अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयकर्तृवधो वा, न कल्पान्तरमस्ति। सत्त्वोच्छेदश्च प्रतिषिद्धः, तत्र किमन्यच्छेषं यथाभूतमिति।

ऐसे दिये समान दोष का निवारण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, कार्याश्रयकर्तृवधात् = पुण्य-पापरूप कर्मों के सुख-दुःखादि अनुभवरूप कार्य के आश्रय शरीरादिकों के नाश को हिंसा कहते हैं, जो नित्य होने से आत्मा को नहीं हो सकती, इस कारण 'नित्य आत्मा के साथ शरीर की हिंसा करने पर भी आत्मा के नित्य होने के कारण पातक न होगा'—ऐसा जो पूर्वपक्षी ने कहा था वह असंगत है। तथा जिसके मत में शरीरादिरूप आत्मा का नाश होता है उसके मत में पूर्वोक्त कृतकर्म की हानि तथा न किये के फल की प्राप्तिरूप दोष भी आ जायगा। अतः शरीरादि संघात को आत्मा मानना सर्वथा असंगत है। (इस सूत्र की भाष्यकार ने आगे व्याख्या में दो प्रकार की व्याख्या की)—(१)—कार्य के आधाररूप शरीर के जो कर्ता इन्द्रिय हैं उनके नाश से, अथवा (२)—कार्यों के आधार जो शरीर इन्द्रियादिकों का समूह, वही कर्ता उसके नाश से। जिसमें से न्यायसूत्र वृत्तिकार ने दूसरी व्याख्या को ही माना है और इस सूत्र में 'वधात्' के स्थान पर 'वाधात्' ऐसा पाठ न्यायसूत्रों के विवरणकार ने पाठ माना है, जिससे यह अर्थ निकलता है शरीर के जलाने पर अदृष्ट का नाश नहीं होगा। क्योंकि धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्टकार्य के आधारकर्ता आत्मा का बोध होने से अर्थात् नाश न होने से तथा एक और दूसरी इस सूत्र की व्याख्या देख कर विवरणकार ने खण्डन किया है कि—नित्य आत्मा सहित शरीर को जलाने पर पाप न होगा यह नहीं है क्योंकि शरीररूप कार्य के आश्रय (सम्बन्धीरूप) कर्ता आत्मा का बाध (नाश) होता है—इस कारण ॥ ६ ॥

(६ ठे सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—हम नित्यआत्मा का वध करना इसको हिंसा नहीं कहते, किन्तु नाश होने रूप धर्मवाले आत्मा के कार्यों के आधाररूप शरीर तथा अपने-अपने रूपादि विषय के ज्ञानों को उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियरूप कर्त्ताओं के उपघात (पीड़ा के अनुकूल) व्यापाररूप पीड़ा, व्याकुलतारूप समूह का नाश अथवा मारडालनारूप वध को हिंसा कहते हैं। सूत्र में कार्य शब्द का अर्थ है पाप-पुण्य के फल सुख तथा दुःख का अनुभव करना। उसका आयतन (स्थान) आधार है शरीर। इसलिये उपरोक्त कार्य के आश्रय शरीर का तथा अपने-अपने रूपादि-विषयों को जाननेवाले कर्ता इन्द्रियों का वध ही हिंसा होती है, न कि नित्यआत्मा की हिंसा होती है। इस कारण जो यह 'शरीरादि भिन्न नित्यआत्मा का दाह करने पर भी आत्मा के नित्य होने के कारण पाप न होग।' पूर्वपक्षी ने कहा था यह कहना असंगत है। जिस शरीरादि समुदाय को आत्मा माननेवाले के मत में आत्मा का नाश होता है उसके मत में पूर्वोक्त कृतकर्म की हानि तथा न किये कर्मों के फलप्राप्ति ये दोष भी आते हैं। उपरोक्त कथन से यह होगा कि—आत्मा का

अथ वा कार्याश्रयकर्तृवधादिति, कार्याश्रयो देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घातो नित्यस्यात्मनस्तत्र सुखदुःखप्रतिसंवेदनं तस्याधिष्ठानमाश्रयः तदायतनं तद् भवति न ततोऽन्यदिति स एव कर्ता। तन्निमित्ता हि सुखदुःखसंवेदनस्य निर्वृत्तिर्न तमन्तरेणेति। तस्य वध उपघातः पीडा प्रमापणं वा हिंसा न नित्यत्वेनात्मोच्छेदः। तत्र यदुक्तं '*तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्*' एतन्नेति ॥६॥

इति त्रिभिः सूत्रैः शरीरव्यतिरेकात्मप्रकरणम्।

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा—

नाश होना हिंसा होती है अथवा नाश धर्मरहित आत्मा के कार्यों के आश्रय शरीर, इन्द्रियादिरूप कर्त्ताओं का नाश होना हिंसा होती है। क्योंकि दो पक्षों को छोड़कर तीसरा कल्प (प्रकार) नहीं हो सकता। जिससे नित्य होने से आत्मा का नाश नहीं हो सकता यह कह चुके हैं, तो फिर दूसरा और वास्तविक पक्ष सिवाय शरीर तथा इन्द्रियों के नाश के मानने के क्या हो सकता है। (दूसरे प्रकार से ऐसी भी इस सूत्र की व्याख्या हो सकती है कि)—इस सूत्र में कार्याश्रय शब्द का अर्थ है शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिकों का समुदाय। उसमें उनसे भिन्न नित्यआत्मा को सुख तथा दुःख का अनुभव होता है उसका अधिष्ठान (अवलंबनरूप) आधार शरीरादि समूह ही है, क्योंकि उसीमें सुख-दुःखों का अनुभव हुआ करता है उनसे भिन्न सुख-दुःखानुभव का दूसरा आश्रय नहीं है। इस कारण शरीर इन्द्रियादिक ही कर्ता हैं। क्योंकि उन्हीं के कारण सुख तथा दुःखों का अनुभव हुआ करता है उनके विना नहीं होता। ऐसे उन शरीरादि समूहरूप कर्ता का वध-पीड़ा देने के अनुकूल व्यापार, दुःख देना अथवा मार डालना ही हिंसा कहाती है। अतः उससे भिन्न आत्मा के नित्य होने से उसका नाश नहीं हो सकता। अतः इस विषय में जो पूर्वपक्षी ने 'आत्मासहित शरीर को जलाने पर भी आत्मा के नित्य होने के कारण पातक न होगा' यह कहा था यह सर्वथा असंगत है ॥ ६ ॥

(३) प्रासंगिक चक्षुइन्द्रिय के एकता के खण्डन का प्रकरण

शरीरभिन्न आत्मा के सिद्ध करने के पश्चात् प्रसंग से इस चक्षुरूप इन्द्रिय दोनों आँखों की पुतलियों में (अद्वैत) एक ही है। इस प्रकरण के आगे के प्रकरण के विषय की व्याख्या में अनेक मत हैं। वस्तुतः तो इस ७ वें आगे के सूत्र तक आत्मा के स्वतन्त्र स्वरूप निवृत्ति का निरूपण करनेवाला एक ही संपूर्ण प्रकरण है किन्तु व्याख्याकारों ने उस आत्मा की सिद्धि करने के साधनों का भेद लेकर इस एक प्रकरण के अनेक प्रकरण किये हैं, क्योंकि न्यायसूचीनिबन्ध तथा तात्पर्यटीका में वाचस्पतिमिश्र ने सातवें सूत्र से चतुर्दश (चौदहवें) सूत्र तक यहाँ (७ वें सूत्र) से एक तक प्रकरण माना है, इसी कारण उन्हें तो चक्षुरिन्द्रिय का दो होना और आत्मा एक होना सिद्ध होने के कारण आत्मा तथा इन्द्रियों की एकता सिद्ध नहीं हो सकती' ऐसा कहा है, किन्तु वार्तिककार इसे नहीं मानते हैं, क्योंकि कुछ नैयायिक विद्वान् 'यह प्रकरण आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, यह दिखाने के लिये' ऐसा कहते हैं। किन्तु पूर्वप्रकरण में ही यह सिद्ध होने के कारण यह मानना अयुक्त है ऐसा कहा है। भाष्यकार का भी वार्तिककार के मत से भेद है यह स्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि भाष्यकार के मत से दोनों आँख की पुतलियाँ दो चक्षुइन्द्रिय हैं तथा वार्तिककार के मत में दोनों आँखों में दो चक्षुइन्द्रिय हैं ऐसा है। अर्थात् भाष्यकार का गूढ़ आशय यह है कि चक्षुइन्द्रिय के दो होने का सिद्धान्त मानकर उन दोनों से आत्मा एक भिन्न है यह सिद्ध करना सुलभ होगा।

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

अतः भाष्यकार के मत से इस प्रकार सूत्रों के अर्थों का विवेचन है कि इस आगे के सातवें सूत्र में वाएँ (बाईं) चक्षु से देखे पदार्थ का दाहिनी आँख से प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) होने के कारण दोनों बायें तथा दक्षिण चक्षु की अधिष्ठाता आत्मा एक है, यह सिद्ध होता है' ऐसे सिद्धान्त का प्रारंभ किया है। पश्चात् आगे आठवें **'नैकस्मिन्'** इस सूत्र में उस पर आक्षेप किया है कि—'दोनों आँख की पुतलियों में यदि एक चक्षुइन्द्रिय होने से ही उपरोक्त प्रत्यभिज्ञान होता है। इसके पश्चात् नवम् **'एकविनाशे'** इस सूत्र में 'दोनों आँख की पुतलियों में चक्षुइन्द्रिय एक नहीं हो सकता' ऐसा आक्षेप का उत्तर दिया है। पश्चात् दशम **'अवयवनाशे'** इस आगे के सूत्र में चक्षुइन्द्रिय की एकता मानकर उत्तर दिया है कि—एक आँख की पुतली के खराब होने पर चक्षुइन्द्रिय का एक अवयव ही नष्ट होता है। जिसका आगे **'दृष्टान्त'** इस एकादश (ग्यारहवें) सूत्र में 'चक्षुइन्द्रिय के दो होने रूप' सिद्धान्त का निषेध करना संगत नहीं है ऐसा एकतावादी के मत का खण्डन किया है। ऐसा होने से चक्षुइन्द्रिय को दो माननेवाले भाष्यकार के मत से सातवें सूत्र में सिद्धान्त ही को लेकर उपक्रम (प्रारंभ) किया है और वार्तिककार के मत में इस सूत्र में बाईं आँख से देखे हुए का दाहिनी आँख से प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) तो आत्मा के भिन्न सिद्ध करने के लिये कहा है और सूत्रकार ने उसके निराकरण के लिये ही कहा है एवं उसी का निराकरण के अंग होने के कारण आठवें सूत्र में चक्षुइन्द्रिय के एक होने का सिद्धान्त कहा गया है। नवम सूत्र में इस पर आक्षेप है और दसवें सूत्र में कुछ विद्वानों के मत से इस आक्षेप का परिहार (खण्डन) है तथा एकादश (ग्यारहवें) सूत्र में इस परिहार तथा नवम (नौवें) सूत्र में किये आक्षेप का भी खण्डन किया है। १२ वें सूत्र से १६ वें सूत्र तक कोई भी भेद नहीं है। क्योंकि उपरोक्त दोनों मत से आत्मा की ही सिद्धि मानी गई है। अतः प्रसङ्ग से प्राप्त चक्षुइन्द्रिय की एकता के निराकरण का प्रारम्भ करते हुए भाष्यकार सप्तम सूत्र की अवतरणिका में कहते हैं कि)—
इस आगे सप्तम सूत्र में कहे हेतु से भी देहादिकों से भिन्न आत्मा है—

पदपदार्थ—सव्य (बाँई) पुतली के चक्षुरिन्द्रिय से देखे हुए पदार्थ, इतरेण = दूसरी दाहिनी पुतली के चक्षुइन्द्रिय से, प्रत्यभिज्ञानात् = वह यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होने से ॥ ७ ॥

भावार्थ—'मैं उसी को इस समय देख रहा हूँ, जिस पदार्थ को पूर्वकाल में मैंने जाना था' इस प्रकार प्रथम तथा उत्तरकाल के दोनों ज्ञानों के एक विषय में प्रतिसन्धितत्व (एक होने के ज्ञान) को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, क्योंकि बाईं आँख से देखे हुए पदार्थ की दाहिनी आँख से पहिचान होती है कि—जिस पदार्थ को मैंने देखा था, उसी को इस समय देख रहा हूँ। यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को आत्मा चेतन माना जाय तो दूसरे इन्द्रिय चक्षु से जाने हुए की दूसरे त्वचा इन्द्रिय से उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी। उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा तो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है, इस कारण चक्षु आदि इन्द्रियों से नित्य आत्मा भिन्न है यहाँ सिद्ध होता है। सूत्र में **'प्रत्यभिज्ञानात्'** पहिचान होने से इस हेतु के बाद इन्द्रियों से भिन्न एक 'आत्मा है' ऐसा शेष (आकांक्षित पद की पूर्ति) करनी चाहिये। यहाँ इस सूत्र से दोनों आँखों की पुतलियों में एक ही चक्षुइन्द्रिय है यह सिद्ध होता है, ऐसा न्यायसूत्र विवरणकार का मत है, किन्तु यह अयुक्त है। क्योंकि अकस्मात् चक्षु इन्द्रिय की स्थापना करने से सूत्रकार की उक्ति असम्बद्ध प्रलाप हो जायगी। अतः आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है इस सिद्धि में अंगरूप से चक्षुइन्द्रिय का भेद सिद्ध करना ही इस प्रकरण में संगत हो सकता है ॥ ७ ॥

पूर्वपरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्–तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थ इति, सव्येन चक्षुषा दृष्टस्येतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानाद् यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानं तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तश्चेतनः ॥ ७ ॥

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥

एकमिदं चक्षुर्मध्ये नासास्थिव्यवहितं तस्यान्तौ गृह्यमाणौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतो मध्यव्यवहितस्य दीर्घस्येव ॥ ८ ॥

(७ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रथमकाल तथा उत्तरकाल के दो ज्ञानों के एक ही विषय में प्रतिसन्धिज्ञान को प्रत्यभिज्ञान (पहिचानना) कहते हैं—जैसे उसी पदार्थ को इस समय मैं देख रहा हूँ, जिसको मैंने पूर्वकाल में जाना था, वही यह अर्थ (विषय) है। इस प्रक सव्य (बाईं) आँख से देखे हुए का उससे भिन्न दाहिनी आँख से प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होती है कि स पदार्थ को मैंने पूर्वकाल में देखा था उसी पदार्थ को इस समय देख रहा हूँ'। ऐसी यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को चेतन आत्मा माना जाय, तो दूसरे ने देखे हुए विषय की उससे भिन्न की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) नहीं होती। इस कारण उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी। उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा तो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है, इस कारण चक्षुरादि इन्द्रियों से नित्यआत्मा भिन्न है यह सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

(उपरोक्त इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की सिद्धि करनेवाले सिद्धान्तसूत्र के चक्षुइन्द्रिय का द्वित्व (दो होना) साधक हेतु पर, दोनों पुतलियों में एक ही चक्षुइन्द्रिय है इस आशय से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप करते हैं)—

पदपदार्थ—न = नहीं, एकस्मिन् = एक ही, नासास्थिव्यवहिते = नाक की हड्डी से जिसमें बीच में व्यवधान है, द्वित्वाभिमानात् = दोनों आँख की पुतलियों में दो चक्षुइन्द्रिय हैं ऐसा भान होने के कारण ॥ ८ ॥

भावार्थ—मध्यभाग में नासिका की अस्थि (हड्डी) का व्यवधान होने के कारण दो चक्षुइन्द्रिय हैं ऐसा भान होता है, किन्तु वास्तव में दोनों आँखों की पुतलियों में एक ही चक्षुइन्द्रिय है ॥ ८ ॥

(अष्टम सूत्र की पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यह एक ही चक्षु नामक इन्द्रिय बीच में नासिका की लम्बी हड्डी का व्यवधान (आड़) होने के कारण उन दोनों आँखों के दोनों के अन्तभागों का ग्रहण होना दोनों आँखों में दो चक्षुइन्द्रिय हैं ऐसा अभिमान (भान) कराती है, जिस प्रकार लम्बे वंश (बाँस) के मध्यभाग में किसी तस्त्र आदिकों के व्यवधान होने से एक ही बाँस दो हैं, ऐसा भान होता है ॥ ८ ॥

दोनों आँखों की पुतलियों में एक ही चक्षुइन्द्रिय है, इस पक्ष का सूत्रकार परिहार द्वित्वपक्ष से करते हैं—

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

एकस्मिन्नुपहते चोद्धृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षुर्विषयग्रहणलिङ्गं तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ॥ ९ ॥

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशादित्यहेतुः। कस्मात्? वृक्षस्य हि कासुचिच्छाखासु छिन्नासूपलभ्यत एव वृक्षः ॥ १० ॥

पदपदार्थ—एकविनाशे = एक आँख के खराब होने पर भी, द्वितीयाविनाशान् = दूसरी आँख के नष्ट न होने के कारण, न = नहीं है, एकत्वम् = दोनों आँखों में एक ही चक्षु है यह नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

भावार्थ—एक आँख के खराब होने पर भी दूसरी आँख ज्यों की त्यों रहती है और प्राणी को दिखाई पड़ता है, इस कारण एक ही चक्षु में नासिका की हड्डी का व्यवधान नहीं कहा जा सकता। अतः चक्षुरिन्द्रिय दो आँखों की दो पुतलियों में (पूर्वपक्षी का कहा हुआ) दो ही चक्षुइन्द्रिय हैं, यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

(नवम सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—एक आँख के खराब होने पर अथवा निकलवा देने पर, दूसरी आँख रहती है, क्योंकि अपने रूपादि विषयों का जानना ही उस चक्षुइन्द्रिय की सत्ता का साधक लिङ्ग (हेतु) है। इस कारण पूर्वपक्षी के नासिका की लम्बी हड्डी से व्यवधान के कारण दो इन्द्रियों के ज्ञान को भ्रम कहना असंगत है। अर्थात् एक चक्षुइन्द्रिय होने में नाक का व्यवधान नहीं हो सकता। (यहाँ पर 'विषयग्रहणे लिङ्गम्' ऐसा वार्तिक की मुद्रित पुस्तकों में पाठ है, जिसका दूसरी ही चक्षुइन्द्रिय विषय के जानने में लिङ्ग (करण) है ऐसा अर्थ होता है ॥ ९ ॥

इस चक्षुइन्द्रिय को दो मानने के पक्ष का सूत्रकार खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—अवयवनाशे अपि = चक्षुइन्द्रियरूप अवयवी के एक आँखरूप अवयव का नाश होने पर भी, अवयव्युपलब्धेः = चक्षुइन्द्रियरूप अवयवी की प्राप्ति होने के कारण, अहेतुः = साधक को चक्षु मानने का नहीं हो सकता ॥ १० ॥

भावार्थ—किसी एक अवयव का नाश होने पर भी अवयवी रहता है ऐसा उपलब्ध होने के कारण, पूर्वपक्षिमत युक्त नहीं है ॥ १० ॥

(दसवें सूत्र की व्याख्या पूर्वपक्षी के मत से करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—(चक्षु को एक मानकर) चक्षु को दो माननेवाले का खण्डन करनेवाले का कहा हुआ 'एक के नष्ट होने पर भी दूसरी आँख का नाश नहीं होता', यह हेतु चक्षुइन्द्रिय में दो होना सिद्ध नहीं कर सकता। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—जैसे एक वृक्ष की कुछ शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष प्राप्त होता ही है, वैसे चक्षुइन्द्रियरूप एक अवयवी का दूसरी आँखरूप अवगव नष्ट होने पर भी चक्षुइन्द्रिय रहती है। क्योंकि एक आँख खराब हो या निकाल ली जाय तब भी प्राणी को एक आँख से रूप दिखाई पड़ता ही है ॥ १० ॥

उक्त चक्षुइन्द्रिय को दोनों आँखों में एक ही माननेवाले पूर्वपक्षी का सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार खण्डन करते हैं—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

न कारणद्रव्यस्य विभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते नित्यत्वप्रसङ्गात्। बहुष्ववयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तस्य विनाशः, येषां कारणान्यविभक्तानि तानि अवतिष्ठन्ते। अथ वा दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः मृतस्य हि शिरःकपाले द्वाववटौ नासास्थिव्यवहितौ चक्षुषः स्थाने भेदेन गृह्यते न चैतदेकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते सम्भवति। अथ च एकविनाशस्याऽनियमाद् द्वाविमावर्थौ तौ च पृथगावरणोपघातौ अनुमीयेते विभिन्नाविति। अवपीडनाच्चैकस्य चक्षुषो रश्मिविषयसन्निकर्षस्य भेदाद् दृश्यभेद इव गृह्यते तच्चैकत्वे विरुध्यते। अवपीडननिवृत्तौ चाभिन्नप्रतिसन्धानमिति तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—दृष्टान्तविरोधात् = दृष्टान्त के विरुद्ध होने से, अप्रतिषेधः = चक्षुइन्द्रिय के एक होने का निषेध नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

भावार्थ—वृक्ष के दृष्टान्त में उस वृक्ष की जिसकी कुछ शाखाएँ कट गई हों, अवयवों के नाश से उस वृक्षरूप अवयवी का भी नाश होकर दूसरा खण्डवृक्ष हो जाता है, किन्तु चक्षुइन्द्रियरूप अवयवी तो उसके अवयव दूसरी आँख का नाश होने पर रहता ही है। यह वृक्ष का दृष्टान्त विरुद्ध होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय का एक होना सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

(११वें सूत्र की व्याख्या सिद्धान्ती के मत से करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अवयवरूप (तन्तु) आदि कारण द्रव्य के अपने-अपने अवयवों की क्रिया से विभाग होने पर पटादिरूप कार्य द्रव्य वही नहीं रहता, यदि कारण के विभाग (अलग होने पर) भी पटादि कार्य वही रहें तो पट नित्य हो जायगा। क्योंकि अनेक अवयवियों में जिस अवयवीरूप द्रव्य के (पटादि) कारण अवयव द्रव्य पृथक् हो जाते हैं उसका नाश हो जाता है और जिन पटादि अवयवी द्रव्य के तन्तु आदि अवयवरूप कारणों का परस्पर विभाग नहीं होता वे वही रहते हैं। (२) अथवा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले अर्थ का विरोध होना यह सूत्र के 'दृष्टान्त का विरोध' इस पद का अर्थ करना। मृत शरीर के कपाल (खोपड़ी) में बीच में नाक की हड्डी से व्यवधानवाले, दो अवट (गड्ढे) एक चक्षुइन्द्रिय के स्थल में पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते हैं। यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ना नासिका की हड्डी से व्यवधान वाली एक चक्षुइन्द्रिय मानने में नहीं हो सकता। (३) अथवा 'एक आँख का नष्ट होना दूसरी आँख के रहने तथा नष्ट होने में नियामक न होने के कारण चक्षुइन्द्रिय में दूसरे प्रकार से द्वित्व का अनुमान किया जाता है'। (इस आशय से भाष्यकार तीसरे सूत्र का ऐसा आशय कहते हैं कि)—अथवा उपरोक्त एक के नाश से दो की स्थिति अथवा नाश का नियम न होने के कारण ये दो आँखों में दो चक्षुइन्द्रियरूप पदार्थ हैं, और इन दोनों का आवरण तथा उपघात नाशवाले होने से ये दोनों आँखों में दो चक्षुइन्द्रिय हैं ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है। (४) दृष्टान्त विरोध शब्द की चतुर्थ व्यख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—एक आँख के दबाने पर चक्षु के किरण तथा दिखाई पड़नेवाले विषय के सन्निकर्ष के भिन्न-भिन्न होने के कारण दिखाई पड़नेवाला पदार्थ भिन्न-भिन्न-सा प्रतीत होता है यह भी दोनों आँखों में एक ही चक्षुइन्द्रिय मानने के पक्ष में विरुद्ध है और दबाई आँख को छोड़ देने पर दिखाई पड़नेवाले पदार्थ का एक ही प्रतीत होना यह भी एक चक्षु मानने के

अनुमीयते चायं देहादिसङ्घातव्यतिरिक्तश्चेतन इति—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्धिप्रवर्तितो दन्तोदकसंप्लवभूतो गृह्यते । तस्येन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरति ॥ १२ ॥

पक्ष में नहीं हो सकता । इस कारण एक चक्षु में व्यवधान का कहना असंगत है । (अर्थात् दोनों आँखों से देखा हुआ पदार्थ एक ही दिखाई पड़ता है, किन्तु एक आँख को अँगुली से दबाकर देखने से वही एक पदार्थ दो प्रतीत होता है । अतः चक्षुइन्द्रिय एक ही है—यह कहना सर्वथा असंगत है ॥ ११ ॥

(इस प्रकार चक्षुइन्द्रिय के दो सिद्ध होने के कारण पूर्वोक्त प्रतिसन्धान से आत्मा में विषय के ज्ञान के प्रमाणित करने के पश्चात् सांप्रत इन्द्रियादिकों से भिन्न आत्मा की सिद्धि होने में दूसरा हेतु देने के आशय से सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार आत्मा में अनुमानप्रमाण दिखाते हुए अवतरण देते हैं कि)—शरीर इन्द्रियादिकों से आत्मा भिन्न है इस प्रकार अनुमान किया जाता है—

पदपदार्थ—इन्द्रियान्तरविकारात् = दूसरे इन्द्रिय में विकार होने से ॥ १२ ॥

भावार्थ— किसी आम्रफल के रसगुण के साथ पीतादि रूप अथवा गन्ध का ग्रहण इन्द्रिय से होने पर जिह्वारूप इन्द्रिय में विकार होता है, अर्थात् दाँत से पानी गिरता है । यह ऐसा होना इन्द्रिय को चेतन आत्मा मानने के पक्ष में नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे के देखने पर दूसरे प्राणी को स्मरण नहीं होता । इन्द्रिय से भिन्न आत्मा मानने के पक्ष से वाद करनेवाले के लिए पहले प्रतिसन्धान ज्ञानरूप हेतु, भिन्न आत्मा माननेवाले सिद्धान्ती ने दिया था और इस सूत्र में वस्तुतः इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की सिद्धि तो लोकव्यवहार के अनुभव ही से होती है, यह आशय सूत्रकार का है ॥१२॥

(१२वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वकाल में जिस पुरुष ने किसी आम्रफल में पीतरूप तथा उसके मीठे रस अथवा सुगन्ध को साथ में जान लिया है, पश्चात् रस के साथ पीतरूप या गन्ध को आम में वही पुरुष देखता है, तो उसे रससहित रूप को चक्षु से देखने के तथा रस-सहित उस आम की सुगन्ध को घ्राणेन्द्रिय से सूँघता है, तो उसके चक्षु आदि से भिन्न दूसरे रसना (जिह्वा) रूप इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होता है, क्योंकि आँख से रूप अथवा घ्राणेन्द्रिय से अनुमान द्वारा उस आम के रस का स्मरण होकर उस पुरुष को मीठे रस की प्राप्ति की आशारूप तृष्णा से दाँत से पानी गिरने लगता है—यह ज्ञान होता है । यह मीठे रस का स्मरण होकर दाँतों से पानी बहना इन्द्रियात्मपक्ष में होना असंगत है । क्योंकि चक्षु अथवा घ्राणरूप इन्द्रिय से अनुभव किये का जिह्वारूप दूसरे इन्द्रिय को स्मरण नहीं हो सकता । (अर्थात् मनुष्य पूर्वकाल में रूप तथा रस और गन्ध का फलादिकों में अनुभव करता है । इसके पश्चात् रूप और गन्ध के साथ ही आम्रादि फलों में देखकर उसके साथ रहनेवाले रस का स्मरण कर उसे खरीदना चाहता है । दाम पास में न रहने से उसके दाँत से पानी गिरने लगता है । इससे उस पुरुष की इच्छा का और इच्छा से पूर्वदृष्ट फल के स्मरण होने का अनुमान होता है । अतः दाँत से पानी गिरने के कारण से सिद्ध होनेवाला यह स्मरण एक सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाले इन्द्रियों से भिन्न आत्मा न हो तो नहीं हो सकता), यह पक्ष विवरणकार ने नहीं दिया है । क्योंकि उन्होंने पूर्वप्रदर्शित चक्षुइन्द्रिय एक ही है यह सिद्ध किया है, जिसका घर्षण (घिसने) आदि से पूर्व चक्षुइन्द्रिय का नाश होकर

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

स्मृतिर्नाम धर्मो निमित्तादुत्पद्यते, तस्याः स्मर्तव्यो विषयः, तत्कृत इन्द्रियान्तरविकारो नात्मकृत इति ॥ १३ ॥

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

खण्ड पट के समान दूसरे चक्षुइन्द्रिय की उत्पत्ति होती है—ऐसा उनका कहना है। किन्तु यह व्याख्या रुचिकर (श्रद्धा करने योग्य) नहीं प्रतीत होती ॥ १२ ॥

नास्तिक पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार स्मरण आने का विषय से होने के कारण स्मरण से भिन्न आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता इस आशय से कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, स्मृतेः = स्मरणरूप ज्ञान के, स्मर्तव्यविषयत्वात् = स्मरण के योग्य विषय में होने के कारण ॥ १३ ॥

भावार्थ—स्मरणनाम ज्ञानरूप धर्मकार्य अपने निमित्त (कारण) से उत्पन्न होता है उस स्मरण का उससे स्मरण करने योग्य घटादि विषय होते हैं, इसी कारण उस विषय के स्मरण होने से दाँत से पानी गिरना रूप दूसरे इन्द्रिय में विकार होता है (अर्थात् स्मरणज्ञान का आत्मा कारण है अथवा विषय ? भावना नामक संस्कार ही स्मरण को कालान्तर में उत्पन्न करता है, इस कारण आत्मा स्मरण का कारण नहीं हो सकता तथा स्मरणज्ञान अपने स्मरण किये जानेवाले पदार्थों में होता है। अतः आत्मा स्मरण का विषय नहीं सकता अर्थात् स्मरण किये आम्रफलरूप विषय ही से दाँतों से पानी छूटता है, नकि इस स्मरण के लिये विषयों से भिन्न आत्मा मानने की आवश्यकता है) ॥१३॥

(१३वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हुए पूर्वपक्षी के मत से कहते हैं कि)—स्मरणज्ञानरूप कार्यधर्म कारण से उत्पन्न होता है, उस स्मरणज्ञान का आम्रफल आदि विषय है, अतः उस आम्रफल रूप विषय से उसका स्मरण होने से दाँत से पानी गिरनारूप दूसरे इन्द्रिय में विकार होता है। विवरणकार ने इस सूत्र को भी चक्षु की एकता के सिद्धान्त से ऐसी व्याख्या की है कि–स्मरणरूप ज्ञान पूर्वकाल में अनुभव किये केवल विषय में होता है, यह नियम है, नकि इस स्मरण के होने में इन्द्रियों से उत्पन्न होने का नियम है—यह उनका आशय है ॥ १३ ॥

इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—तदात्मगुणसद्भावात् = उस स्मृति के आत्मा का गुण होने के कारण, अप्रतिषेधः = इन्द्रिय तथा विषयों से भिन्न आत्मा का निषेध नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

भावार्थ—स्मरणज्ञान आत्मा का गुण है, इस कारण आत्मा का खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि एक इन्द्रियादिकों से भिन्न नित्य आत्मा है, इसी कारण अनुभव के विषय का कालान्तर में स्मरण हो सकेगा उनके बाह्य इन्द्रियों को आत्मा मानने से नानास्मरणवती होने के कारण विषयों के ज्ञानों का प्रतिसन्धान न हो सकेगा। यदि हो तो चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने रूपादि ग्रहण की अवस्था (विषय) न हो सकेगा। जिससे यह सिद्ध होता है कि एक तथा अनेक विषयों को देखनेवाला आत्मा भिन्न-भिन्न चक्षु आदि निमित्त से पूर्वकाल में देखे पदार्थों को स्मरण करता है और देखे हुए पदार्थ के प्रतिसन्धान (पहिचान) से स्मरण होने से आत्मा एकनित्य के ही गुण होने पर हो सकता है, नकि अनेक इन्द्रियकर्त्ता मानने से। स्मरण से ही सम्पूर्ण संसार के व्यवहारों के चलने से यह स्मरण उक्त प्रकार से इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है। विवरणकार ने इस सूत्र की ऐसी व्याख्या की है कि—स्मरण का सम्बन्ध इन्द्रियों से मानना चाहिये,

तस्या आत्मगुणत्वे सति सद्भावादप्रतिषेध आत्मनः। यदि स्मृतिरात्मगुणः? एवं सति स्मृतिरुपपद्यते नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नानाकर्तृकाणां विषयग्रहणानामप्रतिसन्धानं, अप्रतिसन्धाने वा विषयव्यवस्थानुपपत्तिः। एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः पूर्वदृष्टमर्थं स्मरतीति एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावो विपर्यये चानुपपत्तिः। स्मृत्याश्रयाः प्राणभृतां सर्वे व्यवहारा आत्मलिङ्गम्। उदाहरणमात्रमिन्द्रियान्तरविकार इति। अपरिसङ्ख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य।

अपरिसङ्ख्याय च स्मृतिविषयमिदमुच्यत न 'स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वादि'ति।

क्योंकि इन्द्रियों से भिन्न किसी की उपस्थिति नहीं है तो फिर कैसे पूर्व चक्षुइन्द्रिय का नाश होने पर स्मरण होगा इस शंका के समाधानार्थ 'तदात्म' इत्यादि चतुर्दश सूत्र में उत्तर यह है कि—उक्त स्मरणज्ञान के आत्मा में सम्बन्ध का अनुभव होने के कारण, उक्त आत्मा का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि 'मैं स्मरण करता हूँ' ऐसा अनुभव होता है ॥ १४ ॥

(१४वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उक्त स्मृति की आत्मा के गुण होने से सिद्धि होने के कारण इन्द्रियादिकों से भिन्न आत्मा का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि स्मरण को इन्द्रियादि भिन्न आत्मा का गुण माना जाता है तो पूर्व में अनुभव किये विषय का कालान्तर में स्मरण हो सकता है। क्योंकि दूसरे के देखे हुए विषय का दूसरे को स्मरण नहीं होता, इस कारण। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों को चेतन आत्मा मानने से अनेक इन्द्रिय जिनके कर्ता हैं ऐसे रूप-रसादि अनेक विषयों के ज्ञानों का प्रतिसन्धान (स्मरण) न होगा। यदि हो तो अपने-अपने रूपादि ग्रहणरूप नियम न हो सकेगा। अतः अनेक विषयों को जाननेवाला एक चेतन इन्द्रियों से भिन्न नित्य आत्मा है, जिसके रूपादि अनेक विषयों के ज्ञानों की उत्पत्ति में चक्षु आदि अनेक निमित्त (साधन) होते हैं। इस कारण वह पूर्वकाल में अनुभव किये रूपादि विषयों को दूसरे समय में स्मरण करता है, इस कारण एक तथा अनेक विषयों को देखनेवाले आत्मा को देखे हुए विषय का प्रतिसन्धान होने के कारण स्मृति यह आत्मा का गुण होने से ही सिद्ध होती है। यदि नित्य एक आत्मा न माना जाय तो आत्मा को स्मरण न होगा। (जिससे बालक का जन्म होते ही पूर्वजन्म में दुग्धपान की स्मृति न होने से दुग्धपान में प्रवृत्ति आदि न होंगे) स्मरण ही से सम्पूर्ण संसार के प्राणियों के व्यवहार होते हैं। इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की सिद्धि करनेवाला पूर्वसूत्र में कहा हुआ एक 'इन्द्रियान्तर विकार' से स्मृति दाँत से पानी टपकने का भी उदाहरण सूत्रकार ने दिया है। (इस प्रकार इन्द्रियों से भिन्न आत्मा न मानने से कालान्तर में जो स्मरण होता है वह न हो सकेगा, यह देखकर स्मरण करने योग्य विषय में ही स्मृति होती है, आत्मारूप विषय में नहीं होती। (ऐसे त्रयोदश सूत्र में कहे हुए पूर्वपक्षी के निश्चय का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—स्मरण के विषयों की गणना अच्छी तरह विचार न हो सकने से भी। (इस भाष्य को कुछ विद्वान् सूत्र कहते हैं किन्तु न्यायसूचीनिबन्ध तथा प्राचीन पुस्तकों में यह सूत्र नहीं माना है और विवरणकार का ऐसा कहना है कि भाष्यकार का सूत्र है)।

(आगे इसी भाष्य के अर्थ को भाष्यकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं)—पूर्वपक्षी ने स्मृति के विषय को न समझकर यह कहा है कि—'न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्' स्मरणज्ञान के विषयों में होने से विषयों से अतिरिक्त आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह

येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थेऽज्ञासिषमहममुमर्थमिति, एतस्या ज्ञातृज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयो नार्थमात्रम् , ज्ञातवानहममुमर्थम् , असावर्थो मया ज्ञातः, अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूदिति चतुर्विधमेतद्वाक्यं स्मृतिविषयज्ञापकं समानार्थम् । सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते । अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृतिस्तया त्रीणि ज्ञानानि एकस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समानकर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि, नाकर्तृकाणि किं तर्हि ? एककर्तृकाणि । अद्राक्षममुमर्थं यमेवैतर्हि पश्यामि । अद्राक्षमिति दर्शनं दर्शनसंविच्च, न खल्वसंविदिते स्वे दर्शने स्यादेतदद्राक्षमिति । ते खल्वेते द्वे ज्ञाने, यमेवैतर्हि पश्यामीति तृतीयं ज्ञानम् , एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युज्यमानो नाकर्तृको न नानाकर्तृकः किं तर्हि ? एककर्तृक इति । सोऽयं स्मृतिविषयोऽपरिसङ्ख्यायमानो विद्यमानः प्रज्ञातोऽर्थः प्रतिषिध्यते '*नास्त्यात्मा स्मृतेः स्मर्तव्य-*

जो स्मरण विषय का अनुभव होने के समय होता है कि—मैंने 'ज्ञातवानहममुमर्थम्' इस पदार्थ को मैंने पहिले जाना था ऐसा। इस स्मरणज्ञान का ज्ञाता (जाननेवाले) के पूर्वज्ञान से सहित, पूर्वकाल में जाना हुआ पदार्थ विषय है, केवल पदार्थ स्मरणज्ञान का विषय नहीं है। क्योंकि उपरोक्त 'अज्ञासिषं' इस लुङ्लकार को लेकर जिसमें कर्ता कहा गया है (१) तथा 'ज्ञातवान् अहममुमर्थं' इस कृदन्त 'ज्ञातवान्' इस पद से जिसमें कर्ता कहा गया है (२) एवं 'असौ' यह अर्थः = पदार्थ, मया = मैंने, ज्ञातः = जाना है' इसमें ज्ञातः इस कृदन्त पद से कर्म (पदार्थ) कहा गया है (३) तथा 'अस्मिन् = इस, अर्थे = पदार्थ में, मयः = मुझे, ज्ञानं = ज्ञान, अभूत् = हुआ था। 'ज्ञातः' यह कृदन्त क्रिया जिसमें कही गई है ऐसे चारों प्रकार के वाक्य स्मरणज्ञान के विषय का बोध कराने में समान अर्थ के हैं। क्योंकि इन चारों प्रकारों के स्मरण में ज्ञाता (जाननेवाला आत्मा), पूर्वकाल में भया हुआ ज्ञान (अनुभव) तथा जानने योग्य विषय का भी ग्रहण समान ही होता है। (इस प्रकार स्मरण करने योग्य विषय को मानकर आत्मा का खण्डन करनेवाला उपरोक्त चारों प्रकार के वाक्यों का अपलाप करता है (नहीं मानता है) यह कहने के पश्चात् साम्प्रत प्रत्यक्ष प्रमाण भी वह नहीं मानता यह दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—और जो प्रत्यक्ष विषय के अनुभव के समय पूर्व में देखे हुए इस पदार्थ का स्मरणज्ञान होता है, उससे एक विषय (पदार्थ) में आगे दिखाये हुए प्रकार से प्रतिसन्धान (अनुसन्धान करनेवाले) एक ही स्मरणकर्ता का बोध होता है, नकि अनेक कर्ताओं का। न तो वे बिना कर्ता के होते हैं। (प्रश्न)—तो अनुसन्धान ज्ञान कैसे होता है ? (उत्तर)—'मैंने इस पदार्थ को देखा था, जिस पदार्थ को मैं इस समय देख रहा हूँ' ऐसा एक ही आत्मारूप कर्ता को लेकर अनुसन्धान होता है। जिसमें 'अद्राक्षं' देखा था इस दृश् धातुरूप पद के देखना तथा देखने का अनुभव दोनों कहे जाते हैं। क्योंकि यदि अपने पूर्वकाल में देखे हुए ज्ञान का अनुभव हो तो 'मैंने देखा था' ऐसा स्मरण ही न हो सकेगा। अतः दिखलाये हुए में वे दो ज्ञान हैं और 'जिस पदार्थ को इस समय मैं देखता हूँ' ऐसा यह तृतीय ज्ञान है। इस प्रकार एक ही पदार्थ जो उपरोक्त तीन ज्ञानों से नियुक्त होता है वह बिना कर्ता अथवा अनेक कर्ता वाला नहीं है। (प्रश्न)—तो कैसा है ? (उत्तर)—एक नित्य तीनों उपरोक्त ज्ञानों को जाननेवाले एक नित्य आत्मा कर्ता के आश्रय यह पदार्थ। इस कारण स्मरणज्ञान के विषय को अच्छी तरह न समझकर सम्पूर्ण पूर्वोक्त संसार के व्यवहार में वर्तमान जिस एक नित्य आत्मा की सिद्धान्ती ने प्रतिज्ञा द्वारा

विषयत्वादिति। न चेदं स्मृतिमात्रं स्मर्तव्यमात्रविषयं वा इदं खलु ज्ञानप्रतिसन्धानवद् स्मृतिप्रतिसन्धानमेकस्य सर्वविषयत्वात्। एकोऽयं ज्ञाता सर्वविषयः स्वानि ज्ञानानि प्रतिसन्धत्ते, अमुमर्थं ज्ञास्यामि अमुमर्थं विजानाम्यमुमर्थमज्ञासिषममुमर्थं जिज्ञासमानश्चिरमज्ञात्वाऽध्यवस्यत्यज्ञासिषमिति। एवं स्मृतिमपि त्रिकालविशिष्टां सुस्मूर्षाविशिष्टां च प्रतिसन्धत्ते। संस्कारसंततिमात्रे तु सत्त्वे उत्पद्योत्पद्य संस्कारास्तिरोभवन्ति स नास्त्येकोऽपि संस्कारो यस्त्रिकालविशिष्टं ज्ञानं स्मृतिं चानुभवेत्। न चानुभवमन्तरेण ज्ञानस्य स्मृतेश्च प्रतिसन्धानमहं ममेति चोत्पद्यते देहान्तरवत्। अतोऽनुमीयते अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसन्धत्ते इति, यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति ॥ १४ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैः चक्षुरद्वैतप्रकरणम्।

सिद्धि की है, उसका पूर्वपक्षी निषेध करता है कि 'विषयों से भिन्न एक नित्य आत्मा नहीं है, क्योंकि स्मृति स्मरण करने योग्य पदार्थों के विषय में ही होती है' इस कारण निषेध युक्त नहीं है। क्योंकि यह 'मैंने देखा था' यह ज्ञान केवल (विषयरहित) स्मरण नहीं है, अथवा केवल स्मरण योग्य विषय ही को विषय करता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष या अनुमानरूप अनुभव के अनुसंधान के समान स्मरणज्ञान का प्रतिसन्धान ही एकरूप नित्य आत्मा को ही होता है, क्योंकि वह एक आत्मा सर्वविषय में ज्ञाता होता है। क्योंकि यह एक ही नित्य आत्मा जो सम्पूर्ण विषयों को जानने की योग्यता होने के कारण अपने पूर्वकाल में हुए ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है कि—'इस पदार्थ को मैं जानूँगा, इस पदार्थ को मैं जानता हूँ, इस पदार्थ को मैंने पूर्वकाल में जाना था, इस पदार्थ को जानने की इच्छा कर मैंने बहुत काल तक उसे न जानकर उसका निश्चय किया है, कि मैंने इस पदार्थ को जान लिया'। ऐसा नित्य एक आत्मा ही प्रतिसन्धान करता है। इसी प्रकार स्मरण की इच्छा से युक्त भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में होनेवाली स्मृति का भी वही एक नित्य आत्मा प्रतिसन्धान करता है। जो बौद्ध क्षणिकविज्ञान को आत्मा मानकर उपरोक्त स्मरणादि कालान्तर में होने के लिये उन विज्ञानों से संस्कार-परम्परा मानता है, उसके मत में वे संस्कार भी उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जाते हैं। उनके मत में क्षणिक होने से ऐसा कोई एक भी संस्कार नहीं है जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान और स्मृति को अनुभव कर सके और बिना अनुभव के ज्ञान तथा स्मृति का उपरोक्त प्रतिसन्धान 'मैंने देखा था' ऐसा नहीं हो सकता। इस प्रकार बौद्धमत में उपरोक्त प्रतिसन्धान नहीं हो सकता यह कहकर आगे दो आकारवाले अनुभव का विरोध भाष्यकार दिखाते हैं कि—'**मैं करूँगा, मैं करता हूँ, मैंने किया**' एवं '**मेरी कृति होगी, मेरी हो रही है, मेरी हो चुकी**' इस प्रकार दूसरे शरीर में जैसे प्रतिसन्धान नहीं होता उसी प्रकार एक ही शरीर में विरुद्ध दो प्रकार के अनुभव न हो सकेंगे। जिससे यह अनुमान किया जाता है कि एक सर्वविषयों को जाननेवाला नित्य आत्मा इन्द्रिय तथा विषयों से भिन्न है। जो प्रत्येक शरीर में अपने पूर्व में हुए ज्ञानों तथा स्मृतियों को '**मैंने देखा था**' इत्यादि प्रतिसन्धान करता है। जिसके दूसरे शरीर में न होने के कारण प्रतिसन्धान नहीं होता। इस कारण नित्य एक शरीरादि भिन्न आत्मा का खण्डन नहीं हो सकता॥ १४ ॥

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १५ ॥

न देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा। कस्मात्? आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्। 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणा'दित्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि सम्भवो यतः मनो हि सर्वविषयमिति, तस्मान्न शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मेति ॥ १५ ॥

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ १६ ॥

---

(४) मनोभिन्न आत्मा का प्रकरण

मन के स्थिर होने के कारण उसी को आत्मा (कर्ता) मान लेने से उससे भिन्न एक नित्य, स्थिर आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं है इस आशय से पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं (आत्मा मन से भिन्न नहीं हो सकता), आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां = मन से भिन्न आत्मा के ज्ञान के साधक हेतुओं का, मनसि = मन में, सम्भवात् = हो सकने से ॥ १५ ॥

भावार्थ—दर्शन तथा स्पर्शन ज्ञानों से एक भिन्न आत्मा सिद्ध होता है, इत्यादि सिद्धान्ती के कहे हुए आत्मा के साधक हेतुओं का मनरूप स्थिर तथा नित्य आन्तरिक इन्द्रिय में हो सकने से शरादि समुदाय से आत्मा भिन्न नहीं हो सकता। क्योंकि मन भी बाहर के रूपादि तथा आन्तरिक सुख आदि सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करता है। अतः शरीरादि समुदाय से आत्मा भिन्न नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

(१५वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—आत्मारूप कर्ता शरीर इन्द्रियादिकों के समूह से भिन्न नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—शरीरादि समुदाय से भिन्न आत्मा के ज्ञान के कारण मन में हो सकते हैं। 'दर्शन तथा स्पर्शन दो प्रकार के ज्ञानों का प्रतिसन्धान करनेवाले एक नित्य शरीरादि समूह से भिन्न अर्थ (आत्मा) का ज्ञान होता है। इत्यादि सिद्धान्ती के कहे हुए पूर्वोक्त कारण मन में हो सकते हैं। क्योंकि मन सम्पूर्ण बाह्य तथा आन्तरिक विषयों को ग्रहण करता है। इस कारण शरीर, बाह्य इन्द्रिय मन तथा बुद्धि इनके समूह से भिन्न एक नित्य आत्मा नहीं है—यह सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

कर्ता तथा विशेषकारणरूप करण का परस्पर में भेद होता है। इस आशय से सिद्धान्ती के मत से मन को आत्मा माननेवाले उपरोक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—ज्ञातुः = जाननेवाले कर्ता के, ज्ञानसाधनोपपत्तेः = ज्ञान के साधकों के होने से आवश्यकता होने के कारण, संज्ञाभेदमात्रम् = केवल नाम में भेद होता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—'चक्षु से देखता है, घ्राणेन्द्रिय से सूँघता है' इत्यादि व्यवहारों से तथा स्मरणादि कभी मन से करता है इत्यादि प्रसिद्ध व्यवहारों के कारण ज्ञाता (जाननेवाले) कर्ता को बाह्य तथा आन्तरिक ज्ञान के साधक (विशेष कारण) मानना आवश्यक है, अर्थात् जाननेवाला (कर्त्ता) भिन्न है तथा उक्त ज्ञानों के साधन (करण-इन्द्रिय) भिन्न हैं यह सिद्ध होता है, तो कर्ता को आत्मा न कहकर मन को कर्ता तथा मन को आन्तरिक ज्ञानों का साधन न मानकर उसे ही आत्मा (कर्ता) है ऐसा कहनेवाले पूर्वपक्षी के मत में केवल नाममात्र में ही भेद होता है, नकि पदार्थों के करण तथा कर्ता दो मानने में। अतः मन को आत्मा मानना भी असंगत है ॥ १६ ॥

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते, चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति, एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनमन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनायं मन्यत इति। एवं सति ज्ञातर्यात्मसंज्ञा न मृष्यते मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते। मनसि च मनःसंज्ञा न मृष्यते मतिसाधनं त्वभ्यनुज्ञायते। तदिदं संज्ञाभेदमात्रं नार्थे विवाद इति। प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः। अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयं प्रत्याख्यायते नास्तीति?

(१६वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जाननेवाले कर्ता के ज्ञान होने के साधन (विशेष कारण) होते हैं, क्योंकि **'चक्षुइन्द्रिय से देखता है, घ्राणेन्द्रिय से सूँघता है, त्वचा इन्द्रिय से स्पर्श करता है'** इत्यादि संसार में प्रसिद्ध व्यवहार होते हैं। इसी प्रकार स्मरण, अनुमान आदि ज्ञान से माननेवाले का सम्पूर्ण बाह्य तथा आन्तरिक ज्ञानों के होने का विशेष कारण सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान होने से मन नामक एक आन्तरिक इन्द्रिय है, जिससे यह आत्मा स्मरणादिक करता है। ऐसा होने के कारण पूर्वपक्षी ज्ञाता (कर्ता) आत्मा का आत्मा यह नाम होना ही नहीं सहन करता है और उसे मन यह नाम देता है और ज्ञानसाधन मन को मन कहना सहन नहीं करता है। किन्तु पूर्वोक्त बाह्य विषय तथा आन्तरिक सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान होने का विशेष कारण तो मानता है। अतः साधन को कर्ता और कर्ता को साधन कहना इसमें केवल नाममात्र का भेद आता है, नकि सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान का विशेष कारण तथा एक उनका कर्ता (जाननेवाला है) इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। ऐसा मतभेद होने पर भी यदि शरीरादि भिन्न एक नित्य आत्मा न माना जाय तो सम्पूर्ण चक्षु आदि इन्द्रियों का विलोप (अभाव) होने की आपत्ति आ जायगी। क्योंकि जिस प्रकार स्मरणादि आन्तरिक सम्पूर्ण विषयों को जानननेवाले कर्ता को सम्पूर्ण आन्तरिक ज्ञानों के विशेष कारण तथा सम्पूर्ण विषय में ज्ञान रखनेवाले आन्तरिक ज्ञान के विशेष कारण मन का खण्डन करें कि **'मन नहीं है'** तो बाह्य रूपादि विषयों के न जानने के साधन (विशेष कारण) चक्षुरादिक भी मानने की आवश्यकता न होने के कारण सम्पूर्ण ही बाह्य तथा आन्तरिक चक्षु आदि तथा मन को भी मानने की आवश्यकता न होने के कारण पूर्वपक्षी के मत में कोई भी इन्द्रिय न सिद्ध होंगे। यद्यपि स्मरणादि ज्ञान स्वाभाविक संस्कार से ही होते हैं, तथापि वह इन्द्रियों से उत्पन्न हैं यह मानना ही होगा। क्योंकि जिस प्रकार रूपादि ज्ञान चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न हैं, वैसे यह स्मरणादिक भी ज्ञान होने के कारण इन्द्रिय से उत्पन्न हैं यह मानना होगा। यह स्मरणादि आन्तरिक ज्ञानचक्षु आदि के अन्ध आदि न रहने पर भी होता है। इस कारण वह चक्षु आदिकों से भिन्न एक आन्तरिक इन्द्रिय है, जिसे मन ऐसा कहते हैं। अर्थात् जैसे कारण के रहने से कार्य उत्पन्न होकर कारण की सत्ता का साधक होता है, इसी प्रकार मन के रहने मे मानसिक ज्ञान होने के कारण मन एक आन्तरिक इन्द्रिय है यह सिद्ध होता है और धूम आदि लिंगों से उत्पन्न हुआ मनोज्ञान मन की सत्ता से ही सिद्ध होता है। ऐसा मानने से अपने में अपने रहने का दोष नहीं होता, क्योंकि मन की सत्ता में मन अथवा मनोज्ञान में मन विशेष कारण होता है ऐसा नहीं है। अपने में जिससे अपने रहने का दोष आवे और केवल मन ही अपने ज्ञान होने से विशेष कारण है जिससे एक ही मन में विषय होनारूप कर्मता तथा करणता दोनों रहेंगे। किन्तु मनोज्ञान में लिङ्गज्ञान के सहित ही मन विशेष कारण है—उसका स्वरूप तो लिङ्गज्ञान इत्यादि सामग्री है। अतः अपने में अपने रहने का दोष नहीं हो सकता और वस्तुतः तो (एक ही पदार्थ का) कर्म तथा

एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि न सन्ति इति सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यत इति ॥ १६ ॥

नियमश्च निरनुमानः ॥ १७ ॥

योऽयं *नियम* इष्यते रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति, मतिसाधनं सर्वविषयं नास्तीति, *अयं नियमो निरनुमानः।* नात्रानुमानमस्ति येन नियमं प्रतिपद्यामह इति। *रूपादिभ्यश्च विषयान्तरं सुखादयस्तदुपलब्धौ करणान्तरसद्भावः।* यथा चक्षुषा गन्धो न गृह्यत इति करणान्तरं घ्राणमेवं चक्षुर्घ्राणाभ्यां रसो न गृह्यत इति करणान्तरं रसनम्, एवं शेषेष्वपि। तथा चक्षुरादिभिः

करण का होना इन दोनों का विरोध भी नहीं है। क्योंकि जो कर्ता कार्य के व्यापार में साधन होता है उसे करण और आत्मा में सम्बन्ध न रखनेवाली क्रिया के फल का आश्रय हो उसे कर्म कहते हैं। कर्ता के व्यापार योग्य करण तथा पटादि पदार्थ में सम्बन्ध क्रिया के फल का आश्रय होनारूप कर्मता का कोई भी स्वरूप से अथवा फल से विरोध नहीं होता है ॥ १६ ॥

यदि 'बाह्य विषयों का ज्ञान होने के लिये चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय को मानेंगे किन्तु स्मरणादि आन्तरिक ज्ञानों के लिये मन नहीं मानेंगे' ऐसा पूर्वपक्षी नियम माने तो ऐसा नियम होने में कोई प्रमाण नहीं है इस आशय से सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नियमः च = और बाह्येन्द्रिय मानेंगे मन नहीं यह नियम, निरनुमानः = अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

भावार्थ—यदि पूर्वपक्षी बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले रूप, रसादि विषयों के ज्ञान होने के लिये चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय मानेंगे, किन्तु आन्तरिक स्मरणादि ज्ञान होने के लिये सम्पूर्ण विषयों को जाननेवाला मन नहीं मानेंगे, ऐसा नियम मानें तो दूसरा नियम मानने में कोई अनुमानप्रमाण नहीं है जिससे ऐसा नियम माना जायगा। तथा एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते इस कारण भी मनरूप एक आन्तरिक ज्ञानों के उत्पन्न होने का कारण मन नामक आन्तरिक ज्ञानों का विशेष कारण मानना आवश्यक है ॥ १७ ॥

(१७वें सूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'रूप, रस आदि बाह्य विषयों के ज्ञान होने के विशेष कारण चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की सत्ता तो हम मानते हैं, किन्तु सम्पूर्ण बाह्य तथा आन्तरिक विषयों को जानने के विशेष कारण मन को हम नहीं मानेंगे'—यह नियम यदि पूर्वपक्षी मानना चाहे तो इस ऐसे नियम को मानने में कोई अनुमानप्रमाण नहीं है। अर्थात् उक्त नियम मानने में कोई अनुमान (साधक हेतु) नहीं है, जिससे यह नियम हम मानें और रूप, रस आदि बाह्य विषयों से भिन्न आन्तरिक सुख-दुःखादि भी दूसरे विषय हैं। अतः इन सुखादि आन्तरिक विषयों का ज्ञान होने का साधन (विशेष कारण) है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय से गन्धगुण का ज्ञान नहीं होता, इस कारण घ्राणेन्द्रिय चक्षु से भिन्न 'रूप को ग्रहण करने वाला' इन्द्रिय है। इसी प्रकार चक्षु और घ्राणेन्द्रिय दोनों से रस का ज्ञान नहीं होता, इस कारण तीसरी एक रसना (जिह्वा) भिन्न इन्द्रिय है। इसी प्रकार और भी बाह्येन्द्रिय मानने की आवश्यकता में स्वयं जान लेना चाहिये। इसी प्रकार चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों से आन्तरिक सुखादि विषयों का ज्ञान, स्मरण आदि नहीं हो सकते इस कारण एक बाह्येन्द्रियों से भिन्न आन्तरिक विषयों का ज्ञाता मनरूप

सुखादयो न गृह्यन्त इति करणान्तरेण भवितव्यम्। तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम्। यच्च सुखाद्युपलब्धौ करणं तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गं तस्येन्द्रियमिन्द्रियं प्रति सन्निधेरसन्निधेश्च न युगपज्ज्ञानान्युत्पद्यन्ते इति। तत्र यदुक्तम् 'आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवादिति' तदुक्तम् ॥ १७ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्मनोभेदप्रकरणम्।

किं पुनरयं देहादिसङ्घातादन्यो नित्यः? उतानित्य इति? कुतः संशयः? उभयथा दृष्टत्वात् संशयः। विद्यमानमुभयथा भवति नित्यमनित्यं च। प्रतिपादिते चात्मसद्भावे संशयानिवृत्तेरिति।

आत्मसद्भावहेतुभिरेवास्य प्राग् देहभेदादवस्थानं सिद्धमूर्ध्वमपि देहभेदादवतिष्ठते। कुतः?

आन्तरिक इन्द्रिय भी है, यह सिद्ध होता है और उस मन की सिद्धि में अनेक ज्ञानों का एककाल में न होना भी साधक लिङ्ग है। अर्थात् जो उपरोक्त प्रकार से आन्तरिक सुखादि विषयों के जानने में विशेष कारण आन्तरिक मन है, उस मन की एककाल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना भी सिद्धि करता है। क्योंकि उसी मन के चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों में सम्बन्ध होने पर क्रम से एक-एक बाह्य विषय के ज्ञान होते हैं और जिस मन के अणु होने के कारण सम्पूर्ण चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों में एककाल में सम्बन्ध न होने के कारण एककाल में अनेक बाह्य रूपादि विषयों में ज्ञान नहीं होता। अतः 'आत्मा के साधक हेतुओं के मन में हो सकने से शरीरादि समूह से आत्मा भिन्न नहीं है' यह पूर्वपक्षी का १५ वें सूत्र में किया मन आत्मवाद असंगत है ॥ १७ ॥

(५) आत्मा की नित्यता का प्रकरण

(यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदनाओं से आत्मा भिन्न पदार्थ है ऐसा पूर्वप्रकरण में कहने से बाल्यावस्था, कुमारावस्था, तारुण्य तथा वृद्धावस्थाओं के भिन्न होने पर भी एक आत्मा को कालान्तर में स्मरणादिक होते हैं—यह अर्थ सिद्ध हो चुका है, जिससे इस शरीर का नाश होने के पश्चात् भी आत्मा रहता है ऐसा कहा गया है, जिससे हमारा मत सिद्ध हो चुका है कि आत्मा नित्य है। तो अब यह आत्मा के नित्य सिद्ध करने का दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करने की क्या आवश्यकता है, तथापि देहादिकों से भिन्नआत्मा की सिद्धि होने पर भी एवं बाल्यादि अवस्थाओं में एक ही नित्य आत्मा का सम्बन्ध है, ऐसा सिद्ध होने पर भी, क्या यह आत्मा शरीर की उत्पत्ति से लेकर मरणपर्यन्त शरीरसन्तान के रहनेपर्यन्त रहता है, अथवा शरीरसन्तान के नष्ट होने पर भी वहीं रहता है? इस सन्देह की निवृत्ति अभी तक नहीं हुई है। इसलिये इस सन्देह की निवृत्ति के लिये इस आत्मा की नित्यता के प्रकरण से सूत्रकार प्रारम्भ करते हैं)। (इसके सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से शंका दिखाते हैं कि)—'क्या यह आत्मारूप कर्त्ता शरीरादि समुदाय से भिन्न नित्य है अथवा अनित्य? (प्रश्न)—ऐसा संशय तुम्हें क्यों होता है? (उत्तर)—दोनों प्रकार देखने में आते हैं, इस कारण संशय होता है, क्योंकि संसार में वर्तमान पदार्थ नित्य तथा अनित्य दो प्रकार के होते हैं। पूर्वग्रन्थ में जो आत्मा की सत्ता सिद्ध की गई है उससे आत्मा नामक विद्यमान पदार्थ नित्य है या अनित्य यह संशय निवृत्त नहीं हो सकता।' इस पूर्वपक्षी की शंका का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—पूर्व में कहे हुए स्मरण, प्रतिसन्धान आदि रूप आत्मा की सत्ता के साधक हेतुओं से ही यह आत्मा शरीर के छूटने के पूर्व वर्तमान रहता है, यह सिद्ध हो चुका है। किन्तु वही नित्य

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १८ ॥

जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यगृहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान्। ते च स्मृत्यनुबन्धादुत्पद्यन्ते नान्यथा। स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति। पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति, नान्यथेति सिद्ध्यत्येतदवतिष्ठतेऽयमूर्द्ध्वं शरीरभेदादिति ॥ १८ ॥

आत्मारूप कभी दूसरे शरीर में जाने के पूर्वजो प्रथम शरीर के छूटने के पश्चात् भी वर्तमान रहता है, अतः नित्य है। (प्रश्न)—शरीर छूटने के पश्चात् यहाँ पर 'देहभेदात्' यह ल्यत् प्रत्यय के लोप में पंचमी विभक्ति हुई है, अर्थात् बाल्यादि अवस्था के भेद से शरीर भिन्न है यह जानकर प्रतिसन्धान के कारण आत्मा रहता है, ऐसा तात्पर्यटीकाकार का आशय है। किन्तु पूर्वोक्त प्रतिसन्धान से ही आत्मा की नित्यता सिद्ध है, जो प्रतिसन्धानकर्ता है। देह के भेद से प्रतिसन्धान न करने से ऐसी तात्पर्यपरिशुद्धि में दूसरे प्रकार की व्याख्या है। दूसरा शरीर लेने के समय भी क्यों रहता है।

पदपदार्थ—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् = पूर्वजन्म में अभ्यास (बारम्बार) किये कर्मों के स्मरण के सम्बन्ध से, जातस्य = उत्पन्न हुए दूध पीनेवाले बालक को, हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः = आनन्द, भीति तथा शोक (दुःख) का ज्ञान होने के कारण ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिस कारण माता के उदर से जन्म लेनेवाले बालक को इस जन्म में हर्ष, भय तथा दुःख के कारणों का अनुभव न होने पर भी साधकहेतु से अनुमान करने योग्य हर्ष, भय, शोक इत्यादिकों को वह उत्पन्न होते ही छोटा-सा बालक भी जानने लगता है। यह हर्षादिकों का जानना विना उनके विषयों के स्मरण के नहीं हो सकता और यह स्मरण विना पूर्वजन्म में बारम्बार किये हर्षादिकों के कारणों के ज्ञान (अनुभव) के नहीं हो सकता। यह पूर्वजन्म में हर्षादिकों के कारणों का अनुभव विना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। अतः यह नित्य एक कर्तारूप आत्मा प्रथम शरीर के छूटने के पश्चात् दूसरा शरीर लेने पर भी अवश्य रहता है, यह सिद्ध होता है—जिससे वह नित्य है यह अवश्य मानना पड़ेगा ॥ १८ ॥

(१८वें सूत्र की भाष्यकार सिद्धान्ती के मत से व्याख्या करते हैं कि)—माता के उदर से उत्पन्न हुआ छोटा-सा दूध पीनेवाला बालक इस जन्म में (अभी जन्म लेने के कारण) अनुभव न किये आनन्द, भय तथा दुःख के कारणों को जानता है यह सिद्ध होता है। जिन हर्षादिकों का क्रम से हँसना, बालक का अकस्मात् काँपना, रोना इनसे अनुमान किया जाता है और हर्ष आदि विना उसके विषयों के स्मरण के नहीं हो सकते और उस स्मरण का सम्बन्ध पूर्वकाल में किये उसके विषय के अनुभव के अभ्यास के नहीं हो सकता और पूर्वकाल में स्मरण तथा अनुभव के विषय का अभ्यास इस जन्म में न होने के कारण पूर्वजन्म के होने से ही हो सकता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मारूप कर्ता पूर्वशरीर के छूटने के पूर्वकाल के समान पूर्वशरीर छोड़कर दूसरा आगे शरीर लेने के समय भी अवश्य रहता है। अर्थात् देखने में आता है कि निराधार बालक कभी गिरता हुआ माता की गोद से जमीन पर गिरना दुःखदायक होता है—ऐसा स्मरण कर यह मेरा गिरना भी दुःखदायक होगा, ऐसा जानकर रोने लगता है। अतः उसने गिरना दुःखदायक होता है इसका पूर्वजन्म में अनुभव किया है। अतः इस बालक की आत्मा नित्य है ॥ १८ ॥

सिद्धान्ती के मत से जो कहा गया है कि, बालक की अवस्था नित्य रहने आदि से बालक के पूर्वजन्म के अनुभूत विषयों के स्मरणादि उपरोक्त कारणों से आत्मा नित्य है यह सिद्ध होता है—यह

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ १९ ॥

यथा पद्मादिष्वनित्येषु प्रबोधसम्मीलनं विकारो भवति एवमनित्यस्यात्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तिर्विकारः स्यात् ॥ १६ ॥

हेत्वभावादयुक्तम्। अनेन हेतुना पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवदनित्यस्यात्मनो हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति नात्रोदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुर्न वैधर्म्यादस्ति, हेत्वभावात् असम्बद्धार्थकमपार्थक मुच्यते इति। *दृष्टान्ताच्च हर्षादिनिमित्तस्यानिवृत्तिः।* या चेयमासेवितेषु विषयेषु हर्षादिसम्प्रतिपत्तिः

आत्मा को अस्थिर (अनित्य) मानने के पक्ष में भी हो सकता है ऐसा पूर्वपक्षी के पक्ष से सूत्रकार सूत्र में आक्षेप दिखाते हैं—

पदपदार्थ—पद्मादिषु = कमल आदि पुष्पों में, प्रबोधसम्मीलनविकारवत् = खिलना-संकुचित होना आदि विकारों के समान, विकारः = हँसना-रोना आदि छोटे बालक में विकार होते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अनित्य कमल आदि पुष्पों में स्वभाव से ही खिल जाना, सिकुड़ जाना इत्यादि विकार होते हैं, इसी प्रकार अनित्य भी शरीरादि समुदायरूप बालक का आत्मा में भी अकस्मात् हँसना, रोना, काँपना आदि विकार भी हो सकते हैं। अतः शरीरादि समूह से भिन्न एक स्थिर नित्य आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १९ ॥

(१९वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'जिस प्रकार अनित्य (अस्थिर) कमलादि पुष्पों में स्वभावतः प्रबोध (विकास-खिलना) तथा सम्मिलन (सिकुड़ना) आदि विकार उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अनित्य (अस्थिर) भी बालकादिकों की आत्मा में हर्ष, भय, दुःख इत्यादिकों के लक्षणरूप हँसना, डरना, शोक आदिकों का ज्ञान होना भी बालक की अनित्य ही आत्मा का विकार हो सकता है'। (इस पूर्वपक्षी की शंका का उत्तर स्वतन्त्ररूप से भाष्यकार देते हैं कि)—पद्मादि पुष्पों के उपरोक्त स्वभाव के अनित्य आत्मा में हँसना आदि स्वभाव से ही विचार उत्पन्न होते हैं, इस पूर्वपक्षी के कहने (प्रतिज्ञा) में साधक हेतु नहीं है कि इस हेतु से कमलादि पुष्पों में स्वाभाविक खिलना, संकुचित होना आदि विकारों के समान अनित्य भी बालकादि आत्मा में उसके हँसने, रोने से जिनका ज्ञान होता है ऐसे हर्ष, भय आदि का ज्ञान होता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी की प्रतिज्ञा की सिद्धि में पूर्वोक्त उदाहरणमाध्यम से पूर्वपक्षी की उक्त प्रतिज्ञा में साध्य की सिद्धि करनेवाला अन्वय हेतु है, नकि उदाहरण के विरुद्ध धर्म से स्वाभाविक विकाररूप साध्य की सिद्धि करनेवाला ही व्यतिरेकी हेतु है। इस प्रकार आत्मा में स्वाभाविक हर्षादि रूप साध्य की सिद्धि करने में समर्थ किसी अन्वयी तथा व्यतिरेकी हेतु के न होने कारण पूर्वपक्षी का पुष्पों के समान आत्मा के हर्षादिक स्वाभाविक हैं यह कहना हेतु के न होने के कारण परस्पर में असम्बद्ध अर्थ है। तथा साध्य की सिद्धि न करने के कारण अपार्थक (व्यर्थ) भी है और दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक (प्रस्तुत) में वैषम्य भी है। क्योंकि कमलादिकों के खिलने आदि दृष्टान्त से बालक की आत्मा में हर्ष, भय आदि के कारणरूप चेतन नित्य आत्मा के धर्म का निषेध न हो सकेगा, क्योंकि बार-बार वह प्रत्येक आत्मा में जो यह पूर्वकाल में सेवा (भोग) किये विषय (पदार्थों) में पूर्वजन्म के अनुभव किये विषयों का स्मरण के सम्बन्ध से होनेवाला जो हर्ष, दुःख, भय आदिकों का ज्ञान होना अनुभव से सिद्ध है। वह यह कमलपुष्पादिकों के स्वाभाविक खिलने आदि दृष्टान्त से निवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे यह हर्षादि ज्ञान साधारण मनुष्यों में नहीं निवृत्त होता, उसी प्रकार छोटे-छोटे बालकों में भी निवृत्त नहीं हो सकता।

स्मृत्यनुबन्धकृता प्रत्यात्मं गृह्यते सेयं पद्मादिसम्मीलनदृष्टान्तेन न निवर्तते। यथा चेयं न निवर्तते तथा जातस्यापीति। क्रियाजातश्च पर्णविभागः संयोगः प्रबोधसम्मीलने, क्रियाहेतुश्च क्रियानुमेयः। एवं च सति किं दृष्टान्तेन प्रतिषिध्यते।

अथ निर्निमित्तः पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकार इति सतमेवमात्मनोऽपि हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति ?। तच्च—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २० ॥

उष्णादिषु सत्सु भावादसत्स्वभावात्तन्निमित्ताः पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां

अर्थात् वृद्ध आदि मनुष्यों के प्रत्येक आत्मा में अनुभवसिद्ध हर्षादिकों का जानना कमल के स्वाभाविक खिलने, सिकुड़ने आदि के दृष्टान्त से निवृत्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार छोटे-से बालक के हर्षादिकों का हँसने आदि से निवृत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् बालक के हँसने आदि में कारण है, यह दृष्टान्त से भी आता है क्योंकि कमलादिकों के खिलने आदि में भी कोई न कोई कारण है वैसे ही बालक के हँसने-रोने में भी कोई कारण अवश्य है यह पूर्वपक्षी को मानना पड़ेगा। (इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पुष्पों के पत्तों में उनके पर्ण (पत्रों) में परस्पर विभागरूप खिलना तथा पत्रों के परस्पर संयोगरूप सिकुड़ना एक कार्य ही उन पुष्पों के पत्तों में प्रथम होनेवाली क्रिया ही कारण है। कार्य धात्वर्थरूप क्रिया पत्रों में है यह उसके संयोगादिरूप उसके कार्य से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है। ऐसा रहते पूर्वपक्षी पद्मादि उपरोक्त दृष्टान्त से किसका निषेध करता है। (अर्थात् पूर्वपक्षी पुष्पों के संकोचविकास से बिना कारण कार्य होता है यह सिद्ध नहीं कर सकता। अतः बालक के आत्मा में उसके हँसने, रोने का कारण मानना ही पड़ेगा, जो बिना पूर्वजन्म के अनुभव के सिद्ध न हो सकने के कारण आत्मा नित्य स्थिर है यह सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

(पूर्वप्रदर्शित कमलादि पुष्पों के खिलने में और सिकुड़ने में पुष्पों के पत्रों की क्रिया कारण है। इस दृष्टान्त से बालक के हँसने-रोने आदि में भी पूर्वजन्म में अनुभव किये हुओं का स्मरण कारण है, यह सिद्ध करने के पश्चात् भी अग्रिम सूत्र द्वारा पुष्पों में जो खिलना, सिकुड़ना होता है यह कारण से ही होता है ऐसा सिद्धान्तिमत से इस निश्चय प्राप्त करने के सूत्र के अवतरण में भाष्यकार कमलादिकों के खिलने तथा सिकुड़ने में कोई कारण नहीं है किन्तु यह दोनों पुष्पों का स्वभाव है ऐसे ही आत्मा के हर्ष आदि किसी कारण होते हैं। ऐसे पूर्वपक्षिमत का अनुवाद कर समाधान सूत्र में दिखाते हैं कि)—यदि 'कमल, गुलाब आदि पुष्प जिस प्रकार बिना कारण ही खिलते तथा सिकुड़ते हैं, स्वाभाविक होते हैं, उसी प्रकार बालक की आत्मा में हर्ष, भय तथा दुःख के चिह्नरूप अकस्मात् हँसना, रोना, काँपना आदि स्वाभाविक होता है'—ऐसा पूर्वपक्षी का मत लिया जाय तो यह भी—

पदपदार्थ—न = नहीं (बिना कारण पुष्पों का खिलना, सिकुड़ना नहीं हो सकता), उष्णशीतवर्षाकालनिमित्वात् = उष्ण (गरमी), शीत (ठण्ढा) तथा वर्षा (बरसात) इन समयों के निमित्त (कारण) होने से, पञ्चात्मकविकाराणाम् = पृथिवी, जल आदि पाँच महाभूतों के कार्यों के ॥ २० ॥

(२०वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उष्ण, शीत तथा वर्षाकालरूप निमित्त कारण के रहने से होने के कारण तथा न रहते न होने के कारण, उष्ण आदि समयों के निमित्तों से होनेवाले अर्थात् पृथिवी आदि परमाणुओं से उत्पन्न पार्थिव के द्रव्यों में जलादिकों के संयोग होने के कारण पांचभौतिक कहानेवाले पुष्पादिकों में (न कि वेदान्तिमत से पंचीकरण द्वारा पाँचों पृथिव्यादि

पद्मादीनां प्रबोधसम्मीलनविकारा इति न निर्निमित्ताः। एवं हर्षादयोऽपि विकारा निमित्ताद्भवितुमर्हन्ति न निमित्तमन्तरेण। न चान्यत्पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धान्निमित्तमस्तीति। न चोत्पत्तिनिरोधकारणानुमानमात्मनो दृष्टान्तात्, न हर्षादीनां निमित्तमन्तरेणोत्पत्तिः, नोष्णादिवन्निमित्तान्तरोपादानं हर्षादीनां, तस्मादयुक्तमेतत्।' २०॥

इतश्च नित्य आत्मा—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २१ ।

महाभूत पुष्पादि पदार्थों में) संकोच तथा विकासरूप विकार होते हैं। अतः ये कारणरहित नहीं हैं। इसी प्रकार बालक आदिकों के हर्ष, भय, शोक में विकार भी कारण से हो सकते हैं, बिना कारण के नहीं हो सकते हैं और प्रकृत का बालकादिकों के पूर्वकाल में अभ्यास किये विषयों के अनुभव के स्मरण के सम्बन्ध को छोड़कर दूसरा उनके हर्षादि ज्ञान में कारण नहीं हो सकता। (इस कारण आत्मा नित्य है) और बिना दृष्टान्त के आत्मा के नष्ट या उत्पन्न होने के कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। हर्षादि विकार आत्मा में बिना कारण नहीं हो सकते और पुष्पों के खिलने तथा सिकुड़ने में, उष्ण, वर्षा आदि समय को छोड़कर जिस प्रकार दूसरा नहीं होता, उसी प्रकार हर्षादि विकार हँसना, रोना आदि बालकादिकों में होना भी बिना पूर्वकाल में उनके अनुभव के कारण स्मरण होकर उसके हँसना, रोना आदि भी नहीं हो सकते। अतः यह सिद्ध होता है कि जो आत्मा बालक स्वभाव के अनुभूत विषय को स्मरण कर जिस प्रकार वृद्धावस्था में हँसता तथा रोता है, उसी प्रकार पूर्वजन्मों में दुग्धपानादिकों के अनुभव का दूसरे जन्म में स्मरण करने के कारण उस दुग्धपान से हर्षित होकर वह हँसने लगता है। अतः उस बालक की आत्मा वही है जो पूर्वजन्म में थी, यह सिद्ध होने से आत्मा नित्य है ऐसा नैयायिकमत का सिद्धान्त है। अर्थात् पूर्वोक्त नाना साधक हेतुओं से आत्मा नित्य है यह सिद्ध होने पर केवल पुष्पों के दृष्टान्त के बल से आत्मा की उत्पत्ति तथा नाश मानना उचित नहीं है। जिसका जो विकारवाला होता है वह उत्पत्ति तथा नाशवाला होता है। जैसे कमल पुष्प, वैसा ही आत्मा हर्षादि विकारवाला होने से उत्पत्ति तथा नाशयुक्त है—ऐसा पूर्वपक्षी का अनुमान करना अयुक्त है ॥ २० ॥

(इस प्रकार बालक के पूर्वजन्म में अनुभव किये विषयों के स्मरण होने के कारण आत्मा नित्य है यह सिद्ध कर दूसरे भी हेतु से आत्मा की नित्यता सिद्ध करनेवाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार ऐसा अवतरण देते हैं कि)—इस आगे के सूत्र में कहे हुए हेतु से भी आत्मा नित्य है— ;

पदपदार्थ—प्रत्याहाराभ्यासकृतात् = मरने के पश्चात् आहार (रस के स्वादरूप अनुभव) के वारम्बार करने के कारण उत्पन्न हुए, स्तन्याभिलाषात् = दुग्ध पीने की इच्छा से (आत्मा नित्य है) ॥

भावार्थ—तत्काल उत्पन्न हुए बालक की माता के दुग्ध पीने में प्रवृत्ति होने के कारण अनुमान से उसे माता के स्तन का दुग्ध पीने की इच्छा है यह जाना जाता है, जो बिना उस जन्म में किये दुग्ध पीने के अभ्यास के नहीं हो सकता। क्योंकि प्राणिमात्र को जब क्षुधा व्याप्त होती है तो उन्हें 'भोजन करने से मेरा बिना भोजन का दुःख दूर हुआ था।' यह स्मरण होकर पुनः भोजन करने की इच्छा होती है। ऐसे ही तत्काल उत्पन्न बालक की भी दूध पीने की इच्छा भी बिना पूर्वजन्म के दुग्धपान से हुई तृप्ति के अनुभव के नहीं हो सकती, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस बालक की

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते। स च नान्तरेणाहाराभ्यासम्। कया युक्त्या? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधापीड्यमानानामाहाराभ्यासकृतात्स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषः। न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते। तेनानुमीयते भूतपूर्वं शरीरं, यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात्प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति। तस्मान्न देहभेदादात्मा भिद्यते भवत्येवोर्द्ध्वं देहभेदादिति॥ २१॥

आत्मा को पूर्वजन्म में शरीर था, जिसमें इस बालक ने दुग्धपान का अभ्यास किया था। अतः यह दूसरे शरीर में भी जाते ही जीवन के उपयोगी होने के कारण क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वजन्म के दुग्धपान को स्मरण कर इस जन्म में दुग्धपान की इच्छा करता है। इस कारण पूर्वशरीर के छूटने के पश्चात् भी उसमें आत्मा रहता है, नकि शरीरों के भेद से आत्मा भी भिन्न हो सकता है। अतः आत्मा नित्य है यह सिद्ध होता है। किन्तु इस सूत्र पर यहाँ ऐसा आक्षेप होता है कि इस सूत्र के करने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि 'पूर्वाभ्यस्त' इस १८ वें सूत्र में आत्मा नित्य है यह ज्ञात हो ही चुका है। इस आक्षेप का यह निरास हो सकता है कि 'उस सूत्र में जो सामान्यरूप से कहा था उसी का इस सूत्र में विशेष कहा है' इस कारण पूर्वपक्षी का पुनरुक्ति दोष नहीं आ सकता। क्योंकि हर्षादिकों के हँसना आदि चिह्नों से सामान्यरूप से उस आत्मा के इच्छा का ज्ञान होता है और इस सूत्र में माता के स्तन के दुग्ध पीने की इच्छा तथा उसमें अनुराग है यह विशेष कहा गया है॥२१॥

(२१वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वशरीर के अनन्तर माता के उदर से तत्काल उत्पन्न हुए शरीर में वर्तमान बालक की आत्मा के माता के स्तन के दुग्ध पीने में प्रवृत्ति होने रूप साधक हेतु से सिद्ध उस काल की दुग्धपान की इच्छा है यह जाना जाता है। वह दुग्ध पीने की इच्छा उस दुग्धपानरूप आहार के अभ्यास के बिना नहीं हो सकती। (प्रश्न)—किस युक्ति से अर्थात् इसमें क्या युक्ति है कि बिना दुग्धपान पूर्वजन्म में किये इस जन्म में दुग्धपान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती? (उत्तर)—प्राणिमात्र को जब बिना भोजन के अत्यन्त क्षुधा के कारण पीड़ा होती है, तब पूर्वकाल में किये भोजन के अभ्यास से होनेवाले 'भोजन से मेरी क्षुधा की पीड़ा निवृत्त हुई थी' ऐसे स्मरण के सम्बन्ध से ही भोजन करने की अभिलाषा (इच्छा) होती है। तत्काल माता के शरीर से उत्पन्न बालक को इस जन्म में दुग्धपान का अनुभव न होने के कारण बिना पूर्वशरीर में दुग्धपान का अनुभव माने इस जन्म में माता के स्तन के दुग्ध पीने में यह इच्छा नहीं हो सकती। इस अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है कि इस बालक की आत्मा का पूर्वजन्म का शरीर अवश्य रहा, जिसमें इसने दुग्धपानरूप भोजन को वार-वार किया था। अतः वह यह बालक की आत्मा पूर्वजन्म के शरीर से प्रेत्य (सम्बन्ध छोड़कर-मरकर) दूसरे जन्म के शरीर में प्राप्त होकर क्षुधा से पीड़ित होने के कारण पूर्वजन्म के शरीर में बारम्बार किये दुग्धपानरूप आहार को स्मरण करता हुआ ही इस जन्म में माता के स्तन के दुग्ध पीने की इच्छा करता है। इस कारण पूर्वजन्म तथा इस जन्म के दोनों शरीरों के भेद से, आत्मा का भेद नहीं है, किन्तु पूर्वजन्म का शरीर छूटने के पश्चात् दूसरे जन्म के शरीर में भी वर्तमान रहता है। अतः वह आत्मा नित्य है॥ २१॥

(उक्त दुग्धपान की प्रवृत्ति के समान सम्पूर्ण ही कार्यों में होनेवाली प्रवृत्ति में जो आत्मा को सिद्धान्ती के मत से नित्य सिद्ध करती है, उसमें व्यभिचार दोष आता है। इस आशय से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं)—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥ २२ ॥

यथा खल्वयोऽभ्यासमन्तरेणायस्कान्तमुपसर्पति, एवमाहाराभ्यासमन्तरेण बालः स्तन्यमभिलषति ॥ २२ ॥

किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं निर्निमित्तमथ निमित्तादिति ? निर्निमित्तं तावत्—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २३ ॥

पदपदार्थ—अयसः = सामान्य लोहे के, अयस्कान्ताभिसर्पणवत् = लोहचुम्बक के सामने जाने के समान, तदुपसर्पणम् = माता के स्तन के पास दुग्धपान के लिये बालक जाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार लोहे को बिना अभ्यास के चुम्बकलोह के समीप जाने की प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न बालक भी बिना दुग्धपान के अभ्यास के माता के स्तन के दुग्ध पीने की इच्छा से माता के स्तनों के समीप अपना मुख ले जाता है। अतः पूर्वजन्म के शरीर में वर्तमान ही बालक की आत्मा ही इस जन्म के शरीर में भी है यह सिद्ध नहीं हो सकता। संसार के सम्पूर्ण कार्यों की प्रवृत्तियों में व्यभिचार दोष आता है इस कारण सिद्धान्ती का कहना असंगत है। क्योंकि पूर्वकाल में किये हुए अनुभव का स्मरण होना ही प्रवृत्ति होने में कारण नहीं है। कारण यह कि जड़ लोहे को पूर्वकाल में चुम्बकलोह के समीप जाने का अभ्यास न रहने पर भी चुम्बक के समीप सामान्य लोह जाता है यह देखने में आता है। यदि बालक को पूर्वशरीर में किये दुग्धपान के अनुभव के स्मरण का संबंध हो तो अन्धे, बहिरे प्राणियों को भी इस जन्म में अनुभव किये रस, स्पर्श, गन्ध आदि गुणों के समान दूसरी जाति में अनुभव किये हुए रूप, शब्द आदि गुणों को कह सकेंगे यह यहाँ पूर्वपक्षी का आशय है ॥ २२ ॥

(२२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार सामान्य लोहा बिना चुम्बक के पास जाने में अभ्यास के ही चुम्बक लोह के समीप जाता है, इसी प्रकार बालक भी बिना दुग्धपान के अभ्यास के ही माता के स्तन के दुग्ध पीने की इच्छा करता है। अतः आत्मा नित्य है यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २२ ॥

(उक्त पूर्वपक्षी के लोह के दृष्टांत से आत्मा में हर्ष आदि होना स्वाभाविक (बिना कारण) होता है, यह कहना असंगत है। इस आशय के सिद्धांती के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—क्या यह सामान्य लोहे का चुम्बक नामक लोहे के समीप जाना बिना कारण होता है अथवा कारण से होता है ? किन्तु यह बिना कारण के—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता कारण के बिना, अन्यत्र = दूसरे, प्रवृत्त्यभावात् = प्रवृत्ति होने के कारण ॥ २३ ॥

भावार्थ—यदि लोहे का चुम्बक के समीप जाना बिना कारण के होता हो, तो किसी विशेषता के न होने के कारण मिट्टी का ढेला भी चुम्बक के समीप जाय और यदि लोहे का चुम्बक के पास जाने में कोई कारण है, तो उसे कैसे जाना जायगा। इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कहते हैं—क्रियारूप कार्य से उसकी अनुमान से सिद्धि होगी। जिससे दूसरे में प्रवृत्ति न होगी। अर्थात् चुम्बक लोहे में वर्तमान उद्भूत (प्रगट) बाह्यसंयोग होना ही उसमें कारण है, यदि स्वरूप से ही ऐसा संयोग होता हो तो लोह ही संसार में न रहेगा। क्योंकि समुद्र में भी चुम्बकलोह मणियों के समूह के रहने से उसी के साथ सब संसार के लोहे चले जायँगे। प्रकृत में बालक में सदा दुग्धपान

यदि निर्निमित्तम्? लोष्टादयोऽप्ययस्कान्तमुपसर्पेयुः। न जातु नियमे कारणमस्तीति। अथ निमित्तात्? तत्केनोपलभ्यते इति? क्रियालिङ्गः क्रियाहेतुः क्रियानियमलिङ्गश्च क्रियाहेतुनियमः, तेनान्यत्र प्रवृत्त्यभावः, बालस्यापि नियतमुपसर्पण क्रियोपलभ्यते। न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यदाहाभ्यास-

के लिये माता के स्तन के समीप मुख को ले जानारूप क्रिया देखी जाती है। यह विना पूर्वजन्म के दुग्धपान के अभ्यास के स्मरण के संबंध के नहीं हो सकती। पूर्वपक्षी के लोहे के दृष्टांत से भी जानारूप क्रियाकार्य से निमित्त (कारण) है यह सिद्ध होता है। बिना कारण किसी की उत्पत्ति भी नहीं होती, दृष्टांत से प्रत्यक्ष देखे हुए का खण्डन भी नहीं हो सकता। अतः पूर्वपक्षी का लोह दृष्टांत उसके मत का समर्थन नहीं कर सकता॥ २३॥

(२३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि चुम्बक का लोहे के समीप सामान्य लोहे का जाना बिना कारण के होता हो, तो मृत्तिका का गोला भी चुम्बक के पास जाने लगेगा। क्योंकि सामान्य लोहा ही चुम्बक के पास जाता है, मृत्तिका के गोले चुम्बक के समीप नहीं जाते—ऐसा नियम मानने में कोई साधकविशेष कारण नहीं है। (प्रश्न)—यदि चुम्बक के समीप जाने में उपर्युक्त दोष का कारण हो सकता है, तो उस कारण की किस प्रमाण से सिद्धि हो सकती है? (उत्तर)—क्रियारूप कार्य से (चुम्बक के पास जाने से) उसका कारण कोई है यह सिद्ध होता है। (इस आशय से भाष्यकार कहते हैं कि)—जाना आदि रूप क्रिया का कारण उन सामान्य लोहे में दिखाई देता है, मृत्तिका आदि के गोले में नहीं, इस कारण जानेरूप क्रिया के न होने के रूप लिङ्ग (साधक) से सिद्ध होता है कि यहाँ के सामान्य लोह में ही है, मृत्तिकादि के गोले आदि में नहीं है। क्योंकि दूसरे में प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् ऊपर प्रदर्शित समुद्र के चुम्बकों के साथ संपूर्ण सामान्य लोह चला जायगा। यह यहाँ पर भाष्यकार का गूढ आशय है। इस प्रकार चुम्बक के समीप सामान्य लोहा हो जाता है इस कार्य में काल (नियम) को अनुमान सिद्ध कर प्रस्तुत बालक के हर्षादि के सूचक हँसना आदि विषय में भी विना कारण अकस्मात् हँसना आदि छोटे-से बालक के मुख पर विकार नहीं हो सकते। (अतः स्मरण द्वारा पूर्व तथा उत्तर शरीर की आत्मा एक नित्य है यह कहते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—छोटा-सा बालक का भी जो माता के स्तन के समीप माता के दुग्ध को पीने ही के लिये अपना मुख ले जाता है, यह क्रिया देखने में आती है। क्योंकि वही दुग्ध थोड़ा बड़ा होने तक माता के विशेष केवल औषधियों के सेवन के कारण ही जीने के अदृष्टरूप निमित्त कारण से दुग्ध पीने में ही मुख को ले जाने की प्रवृत्ति होती है। अतएव माता ही उसके कुछ मास (षट्) पर्यन्त बल के अनुसार केवल दुग्धपान फलादि अल्पाहार भोजन करना माता के बालक के जीवन की सीमा बढ़ाने के लिये ही वैद्यकशास्त्र में कहा है और उसीके अनुसार धर्मशास्त्रों में आकर पारस्कर गृह्यसूत्र आदि मूल आर्षज्ञान से प्रणीत ग्रंथों में भी **'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्'** छठे महीने में अन्नप्राशन नामक संस्कार बालक का करना ऐसी विधि प्रायः सम्पूर्ण संस्कार बालक का ही कहा गया है। यदि इस प्रकार की वैद्यकशास्त्र से संबंध रखनेवाली धर्मशास्त्र की सीमा का उलंघन कर माता अपथ्यकारक जड़पदार्थों का (जिस तामस पदार्थों का) बालक के पुष्ट न होने तक भोजन करती है, तो उसके स्तन के दुग्ध में दोष आने के कारण उस छोटे बालक को नाना प्रकार के रोग ग्रस्त कर लेते हैं। इसी कारण बालक को छः मास पर्यन्त अन्न का भोजन नहीं दिया जाता तथा मातायें भी अपथ्य भोजन नहीं करतीं; जिससे बालक का ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने से वृद्धावस्था पर्यन्त शरीर निरोग रहता है। जिसके निरोग होने से ही संपूर्ण उस बालक की

कृतात्स्मरणानुबन्धात्। निमित्तं दृष्टान्तेनोपपाद्यते, न चासति निमित्ते कस्य चिदुत्पत्तिः। न च दृष्टान्ते दृष्टमभिलाषहेतुं बाधते तस्मादयसोऽयस्कान्ताभिगमनदृष्टान्त इति।

अयसः खल्वपि नान्यत्र प्रवृत्तिर्भवति न जात्वयो लोष्टमुपसर्पति, किं कृतोऽस्य नियम इति? यदि कारणनियमात्? स च क्रियानियमलिङ्गः। एवं बालस्यापि नियमविषयोऽभिलाषः कारणनियमाद्भवितुमर्हति। तच्च कारणमभ्यस्तस्मरणमन्यद्वेति दृष्टेन विशिष्यते। दृष्टो हि शरीरिणामभ्यस्तस्मरणादाहाराभिलाष इति॥ २३॥

इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों को जानने में समर्थ होने से पुष्ट रहती हैं और मानसिक व्यापार भी अच्छी तरह होता है। इस अन्नप्राशन विधि के समान और भी गर्भाधान से लेकर संपूर्ण षोड्श संस्कारों का भी वैद्यक के साथ शरीर के सबल (पुष्ट) रहने से संपूर्ण आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक कार्यों में उपयोग होता है—यह भी जान लेना चाहिये किन्तु इस विषय के विशद वर्णन में हमारे मुख्य भाष्य की व्याख्या का विषय बढ़ जायगा। अतः इसे यहीं हम समाप्त कर देते हैं)। (आगे भाष्यकार की ऊपर कही हुई बालक के मुख की माता के स्तन के समीप जाने की जो क्रिया दिखाई देती है, जिससे उस बालक के माता के स्तन में दुग्धपान करने की इच्छा का साधक सिवाय पूर्वजन्म के शरीर में किये हुए दुग्धपान के अभ्यास से होनेवाले इस जन्म के स्मरण के संबंध को छोड़कर दूसरा कारण नहीं हो सकता। चुम्बक के दृष्टांत से पूर्वोक्त प्रकार के नियमरूप कार्य के बल से चुम्बक के पास लोह के जाने का निमित्त है यह सिद्ध होता है और बिना कारण किसी कार्य की उत्पत्ति भी नहीं होती। उक्त दृष्टांत से प्रत्यक्ष देखे हुए का बाध नहीं हो सकता। इस कारण सामान्य लोह का चुम्बक के समीप जाना बालक के हँसना आदिकों में दृष्टांत नहीं हो सकता कि चुम्बक के समान बालक का हँसना आदि बिना कारण होता है। क्योंकि चुम्बक लोह की भी लोह को छोड़कर दूसरे पदार्थ के समीप जाने में प्रवृत्ति नहीं होती। कारण यह कि चुम्बक लोष्ठ मिट्टी के समीप जाकर उसे नहीं खींचता। (प्रश्न)—इसका नियम (लोह के समीप जाने का ही नियम) किसके कारण है? यदि कारण के नियम से? (उत्तर)—तो वह पूर्वोक्त क्रियारूप कार्य के नियम से ही सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार उत्पन्न हुए बालक का भी माता के स्तन के दुग्ध के पीने की ही इच्छारूप नियम भी कारण के ही नियम से हो सकता है। वह कारण पूर्वशरीर में अनुभव किये दुग्धपान का स्मरण है, अथवा कोई दूसरा, यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली प्राणिमात्र की प्रवृत्ति से सिद्ध होता है। क्योंकि शरीरधारी प्राणीमात्र को पूर्वकाल में अनुभव किये भोजन के अभ्यास के स्मरण से ही पुनः भोजन करने में प्रवृत्ति होती है, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। अर्थात् युवा आदि अवस्था में चेतन आत्मा की दुग्धपान आदि आहार करने में पूर्वकाल में किये उसके अभ्यास के स्मरण से ही होती है, यह देखने में आता है। अतः छोटे बालक की अवस्था में भी आत्मा की प्रवृत्ति भी स्मरण से ही हो सकती है। इससे वह्नि के साथ धूम के स्वाभाविक संबंध के समान स्मरणरूप हेतु के साथ चेतन आत्मा की आहार में होनेवाली प्रवृत्ति का स्वाभाविक संबंध है, यह सिद्ध होता है। ऐसा होने से जहाँ स्मरण का कार्य माता के स्तन के पास जानेरूप प्रवृत्ति होना दिखाई पड़ता है, उतने दुग्धपान की ही विषय करनेवाला उस बालक को स्मरण होता है दूसरे अन्न आदि खाने का स्मरण नहीं होता, यह अनुमान से सिद्ध होता है। जो एक विषय

इतश्च नित्य आत्मा । कस्मात् ?—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २४ ॥

सरागो जायते इत्यर्थादापद्यते । अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते, रागस्य

का स्मरण करता है, वह दूसरे विषय का भी स्मरण करता है। यह नियम मानने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि ऐसा मानें तो अन्धे, बहिरे आदि प्राणियों को रूप, शब्दादिकों को वर्णन करने की आपत्ति आ जायगी। क्योंकि जिस संसार का (जो कि अदृष्ट का तो फल देने के कारण उस समय जग जाता है) अदृष्टरूप निमित्त कारण के नियम से संस्कार के जानने में नियम हो सकता है, जिससे बालक को दुग्धपान ही में प्रवृत्ति होती है। अन्नादि भोजन में नहीं होती। यह प्रत्यक्ष अनुभव से भी सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में प्रत्यक्ष से अनुभव किये विषयों में से किसी-किसी का ही स्मरण होता है, न कि संपूर्ण विषयों का। यह भाष्यकार का यहाँ तात्पर्य है ॥ २३ ॥

शरीरादिकों से भिन्न नित्य आत्मा की सिद्धि में तृतीय हेतु देते हुए सिद्धांतिमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—वीतरागजन्मादर्शनात् = सांसारिक विषयों से विरक्त प्राणी को पुनः जन्म नहीं लेना होता ऐसा दिखाई पड़ने से ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बालक की माता के दुग्धपान की प्रवृत्ति से पूर्वजन्म में वही उसकी नित्य आत्मा रही, इससे आत्मा नित्य सिद्ध होता है उसी प्रकार पूर्वकाल में विषयों का सुख भोग करने से उन विषयों में अनुरक्त होने के कारण दूसरे जन्म में अनुभव किये सुख को देनेवाले विषयों का स्मरण होने के पश्चात् विवेक से उन विषयों में सुख केवल प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वे काम, क्रोधादि षट् शत्रुओं को बढ़ाकर दूसरा जन्म पुनः लेने के कारण होने से सांसारिक सुख के लेश की कल्पनामात्र रूप होने के कारण मुमुक्षु प्राणी को त्याग ही देना चाहिये। इस प्रकार दो जन्मों के संबंध ही से विरक्त पुरुष को वैराग्य होकर वर्तमान शरीर के छूटने पर मुक्ति मिलती है। अतः विरक्त पुरुषों को पुनः शरीर का ग्रहण नहीं करना पड़ता—यह सिद्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि जो आत्मा विषय सुख भोग के समय पूर्वशरीर में था वही। वैराग्य प्राप्ति के समय वर्तमान शरीर में होने के कारण शरीरादिकों से भिन्न एक नित्य आत्मा है। अर्थात् सूत्रकार ने बालक के दुग्ध पीने की इच्छा को २१ वें सूत्र में जो हेतु दिया है वह **'पूर्वाभ्यस्त'** इस सूत्र के कहे हुये हेतु का ही पुनर्वचन है। यह समझकर पूर्वजन्म में किये हुए दुग्धपान के सुखकर होने के ज्ञान के अधीन इस जन्म में उसका स्मरण कारण है। इस कारण पूर्व में दुग्धपान की इच्छा कही थी, सांप्रत पक्षी आदिकों को चावल के कणों के भक्षण की जो इच्छा होती है वह केवल उस चावल के कणों का केवल अनुराग ही है इस कारण पुनरुक्ति-दोष नहीं आ सकता। इस कारण **'प्रत्याहार'** इत्यादि प्रथम आत्मा के नित्यतासाधक हेतु में पुनरुक्ति थी, ऐसा यहाँ वृत्तिकार का मत है। किन्तु प्रथम **'स्तन्याभिलाषात्'** इस सूत्र में इस जन्म में बालक को दुग्धपान की इच्छा पूर्वजन्म के दुग्धपान के स्मरण से होती है—यह कहा था और इस **'वीतराग'** सूत्र में अनुराग उत्तर जन्म होने में कारण कहा गया है। इस कारण पुनरुक्ति-दोष की शंका का अवसर ही नहीं है ॥ २४ ॥

(२४ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में कहे हुए विरक्त प्राणी को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता, इस कथन से विषयों में अनुराग रखनेवाले प्राणी को पुनः जन्म लेना पड़ता है, यह अर्थात् सिद्ध होता है। क्योंकि दूसरे शरीर में उत्पन्न होनेवाला प्राणी विषयों में

पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः, पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते । सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन् तेषु तेषु रज्यते, तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः, एवं पूर्वशरीरस्य पूर्वतरेण, पूर्वतरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः, अनादिश्च रागानुबन्ध इति सिद्धं नित्यत्वमिति ॥ २४ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनजनितो जातस्य रागो, न पुनः—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २५ ॥

यथोत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणत उत्पद्यन्ते तथोत्पत्तिधर्मकस्यात्मनो रागः । अत्रायमुदितानुवादो निदर्शनार्थः ॥ २५ ॥

अनुराग से संबंध रखने से ही पुनः जन्म लेता है और उस विषयों में अनुराग होने का पूर्वजन्म से अनुभव किये विषयों के पश्चात् चिन्तन से उत्पन्न होना कारण है। (इससे यह सिद्ध होता है कि सराग ही को जन्म लेना पड़ता है) और वह पूर्वजन्म के विषयों का अनुभव उस जन्म में शरीर के बिना नहीं हो सकता। अतः वह यह आत्मा पूर्वशरीरों में अनुभव किये विषयों का स्मरण करता हुआ उन-उन सांसारिक विषयों में अनुरक्त होता है। जिससे यह सिद्ध होता है कि यह पूर्व तथा उत्तर ऐसे एक ही आत्मा को दो जन्मों के होने के प्रतिसंधान (समझने) का कारण है। इसी प्रकार इस शरीर के पूर्वशरीर की आत्मा और उसका उससे भी पूर्वशरीर के साथ, और उसका भी उससे भी पूर्वशरीर के साथ अनादि (जिसका आदि नहीं) चेतन आत्मा का शरीर के साथ संबंध होता है। इस प्रकार विषयानुराग का प्रवाह अनादि होने के कारण भी आत्मा नित्य है यह सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

(इस सिद्धांत पर पुनः पूर्वपक्षी के आक्षेपसूत्र का अवतरण भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से देते हैं कि)—'तत्काल उत्पन्न हुए छोटे बालक को माता के स्तन के दुग्धपान का राग (इच्छा) पूर्वजन्म में अनुभव किये दुग्धपानरूप विषय के स्मरण से होता है, यह कैसे जाना जाय, न कि—

पदपदार्थ—सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्=रूपादि गुणसहित घटादि द्रव्यों के उत्पत्ति के समान, तदुत्पत्तिः=दुग्धपान की इच्छासहित ही बालक की उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥

भावार्थ—सिद्धांती के कथनानुसार पूर्वजन्म में बालक के दुग्धपान का स्मरण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, जिससे आत्मा नित्य माना जाय। क्योंकि जिस प्रकार सुगन्धादि गुणसहित पुष्पादि द्रव्य स्वयं उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार माता के उदर से उत्पन्न हुआ बालक भी दुग्धपान की इच्छासहित ही उत्पन्न होता है ऐसा मानने से उस बालक की आत्मा पूर्वशरीर में भी थी ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिससे आत्मा नित्य माना जाय ॥ २५ ॥

(२५ वें पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार उत्पन्न होनेवाले पुष्पादि द्रव्यों के सुगन्ध आदि गुण अपने कारण द्रव्य से उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार माता के उदर से उत्पन्न होनेवाले बालक की आत्मा को भी अदृष्ट तथा किसी बाल्यावस्था के कालरूप विशेष इत्यादि कारणों से स्वभावतः दुग्धपान करने की इच्छा के साथ ही जन्म होता है। अतः आत्मा नित्य है यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पूर्वजन्म में दुग्धपान के अनुभव से इस जन्म में बालक को दुग्धपान की इच्छा होती है यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने इस सूत्र में सिद्धांती के हेतु में व्यभिचारदोष दिखाया है ॥ २५ ॥

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २६ ॥

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदुत्पत्तिरात्मनो रागस्य च। कस्मात्? सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम्। अयं खलु प्राणिनां विषयानासेवमानानां सङ्कल्पजनितो रागो गृह्यते, सङ्कल्पश्च पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनयोनिः। तेनानुमीयते जातस्यापि पूर्वानुभूतार्थचिन्तनकृतो राग इति। आत्मोत्पादाधिकरणा तु रागोत्पत्तिर्भवन्ती सङ्कल्पादन्यस्मिन् रागकारणे सति वाच्या कार्यद्रव्यगुणवत्। न चात्मो-

---

(यद्यपि चुम्बक लोह के दृष्टांत से किये पूर्वपक्ष में ही यह पूर्वपक्ष आ जाता है और पूर्वार्द्ध उसके परिहार से परिहार भी आ जाता है, अतः पुनः उसका परिहार देने की आवश्यकता नहीं है। तथापि उसके दृष्टांतमात्र के लिये सूत्रकार अनुवाद करते हैं—पूर्व में चुम्बक का और इसमें यहाँ पर उत्पन्न होनेवाले पुष्पादिकों का दृष्टांत दिया गया है अर्थात् आक्षेप तथा परिहार दोनों के अनुवाद ही हैं। इस आशय से अग्रिम सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—इस पूर्वपक्ष पर यहाँ यह दृष्टांत के लिये उदित (कथित) का अनुवाद पुनः कथन किया जाता है)—

पदपदार्थ—न = पूर्वपक्षी का ऐसा कहना युक्त नहीं है, संकल्पनिमित्तत्वात् = यह मेरे इष्ट का कारण है—यह अनिष्ट का कारण है इस प्रकार के संकल्प से ही प्राणियों को, रागादीनाम् = इष्टवस्तु की प्राप्ति में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिये निवृत्ति होती है इस कारण ॥ २६ ॥

भावार्थ—प्राणीमात्र को सांसारिक विषयों का भोग करते समय पूर्वजन्म में किये विषयों के भोग का स्मरण होने से ही इस विषय का भोग करना मेरे हित है, इस विषय का भोग मेरे अनिष्ट का है इस संकल्प (इच्छा) से ही होने के कारण जातमात्र बालक की भी पूर्वजन्म में अनुभव किये दुग्धपान के स्मरण से ही इस जन्म में भी माता का दुग्धपान करने में प्रवृत्ति होती है। अतः पूर्व तथा उत्तर शरीर में वर्तमान एक ही नित्य आत्मा है यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

(२६ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सुगंधरूप गुणसहित पुष्पादिकों की उत्पत्ति के समान आत्मा तथा उसके विषयों का अनुराग भी उत्पन्न नहीं होता। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—प्राणीमात्र को इष्ट वस्तुओं में अनुराग तथा अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष होने का बलवान् अर्थात् यह निश्चय कारण नहीं है तथा अधिक प्रियसुख का कारण है। ऐसे दोनों ज्ञानरूप संकल्प ही कारण होता है। यह प्राणीमात्र को प्रिय हित विषयों का सुखभोग करते समय उपर्युक्त संकल्प ही से विषयों में अनुराग होता है, यह देखा जाता है और यह उपर्युक्त संकल्प पूर्वकाल में अनुभव किये उन सुखदायक विषयों के अनुचिन्तन (स्मरण) ही के कारण उत्पन्न होता है। इससे अनुमान किया जाता है कि—तत्काल माता के उदर से उत्पन्न छोटे से बालक को भी माता के दुग्ध के पीने में स्नेह पूर्वशरीर में अनुभव किये माता के स्तन के दुग्धपान से यह दुग्धपान मेरे हितकर है—ऐसा समझ कर माता के स्तन के समीप मुख ले जाने की प्रवृत्ति होती है, दूसरी नहीं होती। जो पूर्वपक्षी आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं उनके पक्ष में यह जो आहार-भोजनादिकों से अनुराग होता है, वह सिद्धांती के संकल्प को छोड़कर दूसरे किसी कारण से मानना पड़ेगा। जिस प्रकार अनित्य (कार्य) द्रव्यों (पुष्पादिकों) के सुगन्ध आदि गुणों की अपने कारण द्रव्यों से (पुष्पादिकों से) माना जाता है और उत्पत्ति तो आत्मा की किसी प्रकार सिद्ध हो नहीं सकती। और न तो बालकादिकों का भोजनादि व्यवहार में प्रेम रहना। इसका सिवाय पूर्वप्रदर्शित संकल्प के दूसरा हो नहीं सकता। इस कारण 'सगुणद्रव्यों की उत्पत्ति के समान उन आत्मा तथा उसके अनुराग की साथ ही उत्पत्ति होती

त्पादः सिद्धो, नापि सङ्कल्पादन्यद्रागकारणमस्ति । तस्मादयुक्तं *सगुणद्रव्योत्पत्ति*वत्तदुत्पत्तिरिति ।

अथापि सङ्कल्पादन्यद्रागकारणं धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपादीयते ? तथापि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः । तत्र हि तस्य निर्वृत्तिर्नास्मिन् जन्मनि, *तन्मयत्वाद्राग इति* । विषयाभ्यासः खल्वयं भावनाहेतुः तन्मयत्वमुच्यते इति । *जातिविशेषाच्च रागविशेष* इति । कर्म खल्विदं जातिविशेषनिर्वर्तकं तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं विज्ञायते । तस्मादनुपपन्नं सङ्कल्पादन्यद्रागकारणमिति ॥ २६ ॥

इति नवभिः सूत्रैरात्मनो नित्यताप्रकरणम् ।

है । यह २५ वें सूत्र का पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है । (पूर्वपक्षी के दूसरे प्रकार से किये आक्षेप का अनुवाद कर खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—और यदि उपर्युक्त सिद्धान्ती के कहे हुए संकल्प का राग से प्रवृत्ति होने में कारण न मानकर पूर्वपक्षी के मत से धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट ही को विषयों के अनुराग में कारण माना जाय तो भी आत्मा को पूर्वशरीर का संबंध होना खण्डित नहीं हो सकता, क्योंकि वह आगे के जन्म में सुख तथा दुःखरूप फल देनेवाला धर्म तथा आत्मारूप अदृष्ट भी पूर्वजन्म के कर्मों से पूर्वजन्म में ही उत्पन्न हुआ है, इस जन्म में नहीं । कारण यह कि लोक में ऐसी कहावत प्रसिद्ध है कि **'तन्मय होने से उसमें अनुराग होता है'** अर्थात् स्त्री में अत्यन्त आसक्त होने के कारण मूर्ख को स्त्री में ही सदा प्रेम है । इसी स्त्री आदि विषयों को बार-बार सुख भोगने को जो मन में उत्तरकाल में स्मरण होने के कारण भावना नामक संस्कार को उत्पन्न करता है तद्रूप होना कहते हैं । अतः अदृष्ट को राग का कारण मानने से भी आत्मा को पूर्वशरीर का संबंध अवश्य ही मानना होगा, जिससे आत्मा नित्य ही सिद्ध होता है । (यदि आत्मा नित्य होने के कारण पूर्वजन्म में अनुभव किये विषयों के इस जन्म में स्मरण के संबंध से राग, द्वेष आदिकों की उत्पत्ति होती हो तो मनुष्य जन्म के पश्चात् ऊँट के शरीर में जन्म लेनेवाले आत्मा को मनुष्य-जन्म के उचित भावना नामक सांसारिक मनुष्य-शरीर में भोग किये विषयों का स्मरण होने से ऊँट के शरीर में भी मनुष्य-शरीर के उचित मीठा भोजन आदि विषय भोगादिकों में प्रवृत्ति होगी, न कि कड़ुए नीम को खाने में प्रवृत्ति होगी । क्योंकि मनुष्य-जन्म के अनंतर यह ऊँट का जन्म उस आत्मा को हुआ है । इस आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—विशेष जातियों के कारण भी विशेष अनुराग होता है । क्योंकि आत्मा को विशेष कर्म ही से विशेष जाति के शरीर में जन्म लेना पड़ता है और वह विशेष जाति के शरीर को पैदा करनेवाला विशेष कर्म ही उत्तरजाति के शरीरों में अभेद के अभिमान के कारण उन-उन मनुष्यादि शरीर को कहते हैं, यह सिद्ध होता है । अतः अदृष्टपक्ष में भी नित्य ही आत्मा सिद्ध होता है । इस कारण सिद्धांती के कहे संकल्प से भिन्न ही विषयों में अनुराग का कारण है । ऐसा पूर्वपक्षी का कहना भी असंगत है । अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्म ही भावना संस्कार को 'जगानेवाला होने के कारण ऊँट की जाति के प्राणी के शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म से हजारों जन्म का व्यवहार होने पर भी ऊँट ही के शरीर में अनुभव किये कड़ुए नीम आदि खाने की ही ऊँट को इच्छा होती है, न कि इसके पूर्व मनुष्यशरीर में अनुभव किये मीठा पदार्थ खाने की इच्छा होती है ॥ २६ ॥

अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इत्युक्तम्, स्वकृतकर्मनिमित्तं चास्य शरीरं सुखदुःखाधिष्ठानं, तत्परीक्ष्यते–किं घ्राणादिवदेकप्रकृतिकमुत नानाप्रकृतीति ? कुतः संशयः ? विप्रतिपत्तेः संशयः। पृथिव्यादीनि भूतानि सङ्ख्याविकल्पेन शरीरप्रकृतिरिति प्रतिजानत इति।

किं तत्र तत्त्वम् ?

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २७ ॥

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्। कस्मात् ? *गुणान्तरोपलब्धेः।* गन्धवती पृथिवी गन्धवच्च शरीरम्। अबादीनामगन्धत्वात् तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात्। न त्विदमबा-

---

(६) शरीर की परीक्षा का प्रकरण

(इस प्रकार द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों में प्रथम आत्मा की परीक्षा कर द्वितीय क्रमप्राप्त शरीर नामक प्रमेयपदार्थ की परीक्षा के प्रकरण के आरंभ में सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए कहे हुए पूर्वप्रकरण की संगति दिखाते हैं कि)—चेतन आत्मा का शरीर के साथ संबंध अनादि काल से चला आता है ऐसा आत्मा के प्रकरण में कह चुके हैं और यह इस आत्मा का शरीर उसके पूर्वजन्म में किये पुण्य तथा पापरूप कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होता है जिसमें सुख तथा दुःख का अनुभव होने के कारण सुख, दुःख का आश्रय है। उस इस शरीर की परीक्षा करते हैं कि क्या यह शरीर घ्राण आदि इन्द्रियों के समान एक ही भूतपदार्थ से उत्पन्न हुआ है अथवा अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ है (प्रश्न)—ऐसा संदेह क्यों होता है ? (उत्तर)—इस विषय में विद्वानों का विवाद होने से। क्योंकि पृथिवी, जल आदि पाँच भूतद्रव्यों में से कुछ विद्वान एक ही द्रव्य को, कुछ दो, कुछ तीन, कुछ चार और कुछ पाँचों द्रव्यों को शरीर का उपादान कारण मानते हैं—इस कारण। (प्रश्न)—इनमें से कौन मत वास्तविक है ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—पार्थिवं = मनुष्यादिकों का शरीर पार्थिव है, गुणान्तरोपलब्धेः = पृथिवी के विशेष गुणों के प्राप्त होने से ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य आदि प्राणियों का शरीर पृथिवी के विशेष गुण गन्धादि की उनमें उपलब्धि होने के कारण पार्थिव है ऐसा नैयायिकों का सिद्धांत है। यहाँ पर पार्थिवता अथवा जलीयता आदि को लेकर चेष्टा का आश्रय होना रूप शरीर का लक्षण हो सकता है या नहीं हो सकता। जिसके लिये इसका प्रस्ताव किया गया है। ऐसा कुछ विद्वानों का आक्षेप होता है, जिसका यह परिहार है कि—शरीर भौतिक होता है यह कहने तथा भूतपदार्थ होने से भी घटादि को वैसे मान चेतनता भी विना यत्न के सिद्ध होगी। जिससे प्रयत्नवान् आत्मा के संयोग की असमवायिकारण-क्रिया का आधार होना भी **अनायास** सिद्ध हो जायगा और उसके उत्पन्न करने वाले अंगरूप भोजन के करने से शरीर के हस्त, पादादि अवयवों की वृद्धि तथा अपचय (घटना) इन दोनों के कारण इन्द्रियों के बढ़ने तथा घटनेरूप इन्द्रियों का आधार होना तथा उनसे युक्त आत्मा को सुखादि भोग होना और अर्थ (सुख-दुःख) का आधार होना भी **'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'** इस सूत्र में कहा हुआ शरीर-लक्षण सिद्ध होगा। इस कारण शरीर के लक्षण की ही परीक्षा की जा रही है ॥२७॥

(२७ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—उन सब प्रकार के शरीरों में मनुष्य का शरीर पार्थिव है। (प्रश्न)—किस कारण ? (उत्तर)—गुणान्तर (गन्धरूप दूसरी पृथिवी का विशेष गुण-मनुष्य-शरीर में सदा उपलब्ध होता है इस कारण) क्योंकि जिसमें समवाय-सम्बन्ध से

दिभिरसम्पृक्तया पृथिव्याऽऽरब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते इत्यतः पञ्चानां भूतानां संयोगे सति शरीरं भवति। भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध इति। आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति। स्थाल्यादिद्रव्यनिष्पत्तावपि निःसंशया नाबादिसंयोगमन्तरेण निष्पत्तिरिति ॥ २७ ॥

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥ २८ ॥

निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥ २९ ॥

गन्धरूप विशेष गुण रहता है वह पृथिवी नामक द्रव्य होता है। मनुष्यों के शरीर में भी सर्वदा गन्धविशेष गुण रहता है। जल-तेज आदि चार भूतद्रव्यों में गन्धगुण न होने के कारण यदि मनुष्य-शरीर को जलीय आदि माना जाय तो जल तथा तेज आदि परमाणुओं से उत्पन्न हुआ मनुष्य-शरीर गन्धरहित हो जायगा। किन्तु जल, तेज आदि परमाणुओं के सम्बन्ध से रहित केवल पार्थिव परमाणुओं से बना हुआ ही यह मनुष्यों का शरीर चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थों का आधाररूप शरीर-लक्षण से संपन्न हो सकता है। इस कारण केवल जलादि भूतद्रव्यों के पार्थिव मनुष्य-शरीर में संयोग होने के कारण यह मनुष्य शरीर पांचभौतिक कहा जाता है। क्योंकि पाँच भूतद्रव्यों का संयोग नैयायिकों ने निवद्ध नहीं किया हैं। अर्थात् मनुष्यशरीर पार्थिव है इस नैयायिकों के सिद्धांत का यही तात्पर्य है कि—इस मनुष्य-शरीर का समवायिकारण पृथिवी द्रव्य ही है। किन्तु ऐसा मानने पर भी मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति होने में बाकी चार जलादि द्रव्यों के संयोग का उस पार्थिव शरीर में संयोग नहीं है ऐसा नैयायिकों का मत नहीं है। जिस प्रकार घट की उत्पत्ति में मृत्तिकारूप पृथिवी ही समवायिकारण है किन्तु उसमें जलादिकों का संयोग होना भी आवश्यक है, इसी प्रकार मनुष्यादिकों का शरीर पृथिवी से ही उत्पन्न है किन्तु उसमें जलादिकों का भी सम्बन्ध आवश्यक होता है। इसी कारण भाष्यकार आगे कहते हैं कि वरुण, सूर्य आदि लोकों में वर्तमान जलीय, तैजस तथा वायवीय शरीर भी केवल अपने-अपने जलादि अवयवरूप समवायिकारणों से उत्पन्न होते हैं और उनमें बचे हुए पृथिवी आदि द्रव्यों का संयोग भी उन-उन प्राणियों के भोग होने के अनुसार अवश्य होता है। थाली आदि द्रव्यों में भात तैयार होने में भी जल, तेज आदि संयोग के बिना काम नहीं चलता। अतः मनुष्य-शरीर में पृथिवी के समवायिकारण होने पर भी उसमें चार द्रव्यों का संयोग आवश्यक होने से मनुष्य-शरीर पाञ्चभौतिक कहा जाता है, पर वह वस्तुतः पार्थिव है। यह नैयायिकों का सिद्धांत है ॥ २७ ॥

(आगे पूर्वपक्षिमत के मनुष्यादि शरीर में भौतिक (पृथिवी, जल, तेज नामक द्रव्यों से बना हुआ) इत्यादि तीन मतों के खण्डनार्थ उन पूर्वपक्ष के सूत्रों को सूत्रकार दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—पार्थिवाप्यतैजसं = मनुष्यादि प्राणियों का शरीर, पार्थिव, जलीय तथा तैजस इन तीन भूतद्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण **'त्रैभौतिक'** तीन भूतोंवाला है, तद्गुणोपलब्धेः = उन पृथिवी आदि तीनों द्रव्यों के गन्ध, गीलापन तथा उष्णता नामक तीनों विशेष गुणों के प्राप्त होने से ॥ २८ ॥

मनुष्यादि प्राणियों का शरीर पूर्वसूत्र में कहे हुए गन्धादि गुणों के साथ श्वास लेना, छोड़ना वायु का भी गुण उपलब्ध होने के कारण, चातुर्भौतिकम् = पृथिवी से वायुपर्यन्त चार भूतद्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण चातुर्भौतिक है ॥ २९ ॥

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ॥ ३० ॥

त इमे सन्दिग्धा हेतव इत्युपेक्षितवान् सूत्रकारः। कथं सन्दिग्धाः ? सति च प्रकृतिभावे भूतानां धर्मोपलब्धिरसति च संयोगाप्रतिषेधात् सन्निहितानामिति। यथा स्थाल्यामुदकतेजोवाय्वाकाशानामिति। तदिदमनेकभूतप्रकृति शरीरमगन्धमरसमरूपमस्पर्शं च प्रकृत्यनुविधानात् स्यात्। न त्विदमित्थम्भूतं, तस्मात् '*पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः*' ॥ २८–३० ॥

गन्ध, गीलापन (क्लेद), उष्णता, भोजन किये आहार के रस के संचाररूप व्यूह तथा अवकाश (स्थान देना) इन पाँच गुणों के उपलब्ध होने से पाँचभौतिक है ॥ ३० ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का मनुष्यादि-शरीर को केवल पार्थिव मानना और उनमें जलादि भाग का केवल संयोग मानना उचित नहीं है। क्योंकि किसी के मत से गन्ध, क्लेद तथा उष्णता की प्रत्यक्ष से सिद्धि होने के कारण त्रैभौतिक (तीन भूतों से उत्पन्न) तथा भोजन किये आहार के रस के संचारण से शरीर पुष्ट दिखाई देने के कारण अनुमान से सिद्ध व्यूहरूप गुणविशेष से **'चातुर्भौतिक'** चार (पृथिवी आदि द्रव्यों से उत्पन्न) तथा उक्त चार विशेषगुणों से भिन्न शरीर में स्थान देना रूप अवकाशदान, आकाश के विशेषगुण के भी प्राणिमात्र के शरीर में होने के कारण मनुष्यादि प्राणियों का शरीर **'पाञ्चभौतिक'** (पाँच भूतद्रव्यों से उत्पन्न) ऐसा भी माना गया है ॥ ३० ॥

(उपर्युक्त पूर्वपक्षिमत के सूत्रों का भावार्थ स्पष्ट होने के कारण भाष्यकार उनका अर्थ न कहकर सिद्धान्तिमत से केवल उन तीनों मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि)—त्रैभौतिकादिकों के पूर्वपक्षियों ने तीन पृथिवी आदि द्रव्यों के गुणों की उपलब्धि आदि जो अपना-अपना मत सिद्ध करने के लिये हेतु दिये हैं, वे ये सम्पूर्ण हेतु संदेहयुक्त होने के कारण सन्दिग्धासिद्ध नामक दुष्ट हेतु हैं, इस कारण सूत्रकार ने इनका सूत्र द्वारा खण्डन करने में उपेक्षा की है। (प्रश्न)—इन पूर्वपक्षियों के उपर्युक्त हेतु कैसे सन्दिग्धासिद्ध हैं ? (उत्तर)—क्योंकि तीन, चार आदि भूतद्रव्यों को भी समवायिकारण मानने से उनके क्लेद, उष्णता आदि धर्मों की मनुष्यादि प्राणियों के पार्थिव शरीर में उपलब्धि होती है अथवा पृथिवी से बाकी के जलादि परमाणुओं को समवायिकारण न मान कर केवल उनको मनुष्यादि प्राणियों के पार्थिव शरीरों में संयोग का निषेध न होने के कारण उसमें संयोग सम्बन्ध से सन्निहित (समीप में वर्तमान) जलादि भूतद्रव्यों के क्लेद, उष्णता आदि धर्मों की उपलब्धि होती है, यह सन्देह हो सकता है। जिस प्रकार चूल्हे पर भात पकाने के लिये चढ़ाई हुई बटलोई, स्थाली (थाली) नीचे से अग्नि का संयोग होने पर भात को पकाती है और चावलों में जल (पानी) का सम्बन्ध होने से चावलों को क्लेदयुक्त (गीला) करती है तथा वायु से चावलों को घुमाती है तथा जो थाली में अवकाश प्रशस्त (स्थान) रूप आकाश धर्म के कारण यह उपर्युक्त सब क्रिया होने से चावल पकते हैं। इस उदाहरण में थाली पार्थिव द्रव्य है, जिसमें भात तैयार होने रूप कार्य में जल, वह्नि आदिकों का केवल संयोग मात्र है। उसी प्रकार यह मनुष्य का शरीर भी पार्थिव ही है नकि त्रैभौतिक, पाञ्चभौतिकादि। इतने पर भी यदि मनुष्यादि प्राणियों का शरीर पूर्वपक्षियों के मत से अनेक (तीन, चार, पाँच) भूतद्रव्यों से उत्पन्न माना जाय तो यह शरीर कारणों का अनुसरण करने के कारण गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्शगुण का आधार न होगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, इस कारण मनुष्यादि प्राणियों का शरीर गन्धरूप पृथिवी के विशेषगुण की अवश्य व्यभिचार रहित सर्वदा उपलब्धि होती है। अर्थात् पृथिवी तथा जल के दो परमाणुओं से मनुष्य शरीर की उत्पत्ति मानी जाय तो एक कारण को गन्ध से कार्य में गन्ध की

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ ३१ ॥

'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छता'दित्यत्र मन्त्रे 'पृथिवीं ते शरीरमिति' श्रूयते। तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति। 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यत्र मन्त्रान्तरे 'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमी'ति श्रूयते। सेयं कारणाद्विकारस्य

उत्पत्ति न होने के कारण मनुष्य-शरीर गन्ध से शून्य तथा पृथिवी एवं तेज इन दो परमाणुओं से मानी जाय तो कारण के गन्ध और रस के एक-एक परमाणु गन्ध से कार्य में गन्ध तथा रस न होने से मनुष्य का शरीर गन्ध तथा रस, दोनों से शून्य एवं पृथिवी तथा वायु के दो परमाणुओं से उत्पन्न होने के कारण मनुष्यादि शरीर गन्ध, रस तथा रूपरहित हो जायगा। इसी प्रकार पृथिवी, परमाणु एवं आकाश दो से मानें तो आकाश में गन्ध न होने के कारण गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्शगुणों की भी मनुष्य शरीर में उपलब्धि नहीं होगी। क्योंकि केवल कारण का गुण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता, यह उक्ति उपर्युक्त संपूर्ण स्थलों में समान ही है। जल तथा तेज से उत्पन्न, गन्ध तथा रस से शून्य, जल और वायु से उत्पन्न, गन्ध, रस एवं रूप से रहित तथा जल एवं आकाश से उत्पन्न, गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श से हीन शरीर हो जायगा—इत्यादि दोष आवेंगे। यदि एक ही भूतपरमाणु से शरीर की उत्पत्ति मानें तो सदा ही 'उत्पत्ति होने लगेगी या नहीं होगी, नित्यता की भी आपत्ति आ जायगी यह स्वयं जान लेना चाहिये ॥ २८-३० ॥

(मनुष्यादि प्राणियों के शरीर' के पार्थिव होने में सिद्धान्तिमत से सूत्रकार दूसरा हेतु दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—श्रुतिप्रामाण्यात् च = वेदमंत्र वाक्यों के प्रमाण होने के कारण भी ॥ ३१ ॥

भावार्थ—'तेरी चक्षु इन्द्रिय का सूर्यदेवता में लय हो, तेरा शरीर पृथिवी में लय हो' इत्यादि आशय के वेदमन्त्रों में कारण में कार्य का लय तथा **'सूर्य को तेरी चक्षु बनाता हूँ, पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ'** इत्यादि वेदमन्त्रों में कारण से कार्य की उत्पत्ति कही गई है तथा थाली आदि पात्रों में समान जाति के कारण एक कार्य को उत्पन्न करते हैं यह प्रत्यक्ष दीखने के कारण भिन्न-भिन्न जाति के कारण एक कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। अतः मनुष्यादि शरीर पार्थिव हैं, यह सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

(३१ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—**'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्'** सूर्य में तेरी चक्षु का लय हो, इत्यादि प्रेतशरीर के अन्त्येष्टि संस्कार के मन्त्रों में **'पृथिवीं ते शरीरम्'** पृथिवी में तेरे शरीर का लय हो। इस मंत्र में प्रेत के शरीर का पृथिवीरूप कारण में लय कहा गया है। वह यह सूर्य तथा पृथिवीरूप (प्रकृति) कारण में क्रम से चक्षुइन्द्रिय तथा शरीररूप विकार (कार्य) का लय होता है यह कहा गया है। इसी प्रकार **'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि'** तेरी चक्षुइन्द्रिय में सूर्य को बनाता हूँ, **'पृथिवीं ते शरीरम्'** पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ, इत्यादि गर्भाधान संस्कार के मन्त्रों में चक्षु, शरीर आदि की उत्पत्ति कही गई है। वह यह कारण से विकार (कार्य) की उत्पत्ति कही गई है। (अर्थात् इस मन्त्र का यह अर्थ है कि जो जिससे आया है, उसका उसीमें लय होता है। इस प्रकार यह कारण में कार्य का लय कहा गया है। प्रकृति शब्द का अर्थ है कार्यरहित कारण, नकि कारण में कार्य का लय। लौकिक उदाहरण में भी उक्त वेदार्थ दो बातों के लिये समान जाति के परमाणुओं से कार्य होता है, नकि भिन्न-भिन्न जाति के कारणों

स्मृतिरभिधीयत इति । स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्नजातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः ॥ ३१ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः शरीरपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते किमाव्यक्तिकान्याहोस्विद् भौतिकानीति ? कुतः संशयः ?—

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात्संशयः ॥ ३२ ॥

से। यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—मिट्टी की थाली इत्यादि बनाने में भी एक पृथिवीजाति के मृत्तिका, सूत्र, बन्धन तथा चक्र आदिक ही कारण होते हैं, नकि भिन्न-भिन्न जाति के। अतः मनुष्यादि प्राणियों के शरीररूप कार्यों को उत्पत्ति होने में भी विजातीय जलादि परमाणु कारण नहीं हो सकते, जिससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मन्त्र भी मनुष्यादि शरीर पार्थिव हैं, नकि त्रैभौतिक, चातुर्भौतिक तथा पाञ्चभौतिक—इस विषय में प्रमाण हैं तथा पूर्वोक्त युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है। (यहाँ पर विवादग्रस्त द्व्यणुकरूप कार्य गन्धगुण वाला ही दो परमाणुओं से उत्पन्न है, गन्धगुणाश्रय होने से, दोनों मत से सिद्ध पार्थिव द्व्यणुक के समान ॥ ३१ ॥

(७) इन्द्रियों की परीक्षा का प्रकरण

(क्रमप्राप्त इन्द्रिय नामक प्रमेय पदार्थ की परीक्षा का प्रकरण सूत्रकार प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकरण में भाष्यकार के मत से सांख्य तथा नैयायिकों का विवाद है और वाचस्पतिमिश्र के मत से बौद्ध एवं नैयायिकों का भी विवाद है। इसी कारण तात्पर्यटीका में—यह जिस पक्ष में इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं उस पक्ष में भी जो यह आँख में काली पुतली दिखाई पड़ती है वही इन्द्रिय है अथवा उसका आधार तैजस द्रव्य यह संशय होता है। इनमें से प्रथम संशय है सांख्य तथा नैयायिकों के विवाद का और दूसरा संशय है बौद्ध एवं नैयायिकों के विवाद का। अतः यह दोनों विषय का सूचक है)। (इन्द्रियों के परीक्षा के अङ्ग संशय के प्रतिपादक सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार करते हैं कि)—आत्मा आदि द्वादश प्रकार से प्रमेय पदार्थों में से शरीर की परीक्षा के पश्चात् इन्द्रियों की परीक्षा का सांप्रत विचार करते हैं कि—यह चक्षुरादि बाह्यइन्द्रिय तथा अव्यक्त (अहंकार) से उत्पन्न है अथवा पृथिवी आदि भूतद्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण भौतिक है ? (प्रश्न)—यह सन्देह क्यों होता है ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—कृष्णसारे = कनीनिका (आँख की पुतली) के, सति = समीप वर्तमान रहते, उपलंभात् = चक्षु से विषय की प्राप्ति होने पर, व्यतिरिच्य च=और छोड़कर दुष्ट विषय के दूर होने पर भी, उपलंभात् = प्रत्यक्ष होने से भी, संशयः = चक्षुइन्द्रिय आहंकारिक है अथवा भौतिक हैं यह संशय होता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त दो पक्षों में से आहंकारिकपक्ष से आँख की पुतली से न सटे हुए पदार्थ का प्रत्यक्षतः ग्रहण होता है तथा भौतिकपक्ष से उससे सटे हुए पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होता है ऐसा दोनों देखने में आता है और चक्षुइन्द्रिय विषय को न प्राप्त करे तो अपना देखना व्यापार करता ही नहीं। अतः आहंकारिकपक्ष में व्यापक होने से यह उपर्युक्त दोनों प्रकार हो सकते हैं। इस कारण चक्षुइन्द्रिय अहंकार का कार्य है अथवा पृथिव्यादि भूतद्रव्यों का, यह संशय हो सकता है। अर्थात् सांख्यमत में साक्षात् प्रकृति से इन्द्रिय उत्पन्न नहीं होते किन्तु अहंकार ही से उत्पन्न होते हैं। इसी कारण यहाँ पर 'आव्यक्तिक' शब्द का अर्थ है आहंकारिक। क्योंकि बुद्धि नामक महत्तत्त्व के

कृष्णसारं भौतिकं, तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिरुपहते चानुपलब्धिरिति। व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषयस्य उपलम्भो न कृष्णसारप्राप्तस्य। न चाप्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणां तदिदमभौतिकत्वे विभुत्वात्सम्भवति। एवमुभयधर्मोपलब्धेः संशयः ॥ ३२ ॥

अभौतिकानीत्याह। कस्मात्?—

महदणुग्रहणात् ॥ ३३ ॥

महदिति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते यथा न्यग्रोधपर्वतादि। अण्विति अणुतरमणुतमं च गृह्यते यथा न्यग्रोधधानादि। तदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो

विकाररूप अहंकार से चक्षु आदि एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं ऐसा सांख्यदर्शन का मत है। इसे मूल कारण अव्यक्त (प्रधान) होने से आव्यक्तिक ऐसा माना है, ऐसा वाचस्पतिमिश्र ने कहा है ॥ ३२ ॥

(३२ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—कृष्णसार (आँख की पुतली) भौतिक पदार्थ है। उसके नष्ट न होने से रूप विषय का ज्ञान होता है और उसके नष्ट होने से रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता। (इससे चक्षु में भौतिकता सिद्ध होती है) किन्तु इस आँख की पुतली को छोड़कर दूर रहनेवाले भी पदार्थ के रूप का प्रत्यक्ष होता है, नकि आँख की पुतली के अत्यन्त पास रहनेवाले पदार्थ के रूप का प्रत्यक्ष होता है। इससे चक्षुइन्द्रिय की व्यापकता सिद्ध होती है। कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को न प्राप्तकर ग्रहण नहीं करते, यह दृष्ट से विषय का प्रत्यक्ष करना चक्षुइन्द्रिय को भौतिक न होकर व्यापक होने से ही हो सकता है। अतः भौतिक होने का धर्म, कनीनिका का भौतिक होना तथा व्यापकता का धर्म इससे भी विषय का प्रत्यक्ष होना दोनों की उपलब्धि (ज्ञान) होने से संशय होता है कि इन्द्रिय भौतिक है अथवा आहंकारिक ॥ ३२ ॥

(बौद्धमत से आँख की पुतली (कनीनिका) ही चक्षुइन्द्रिय है इस पक्ष का खण्डन करने के लिये सांख्यों के अभौतिकता (व्यापकता) पक्ष को उठाकर सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—सांख्यवादी 'इन्द्रिय भौतिक नहीं है' ऐसा कहता है। (प्रश्न)—किस कारण ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—महदणुग्रहणात्=महत् तथा अणुपरिमाण वाले द्रव्यों का प्रत्यक्ष होने के कारण ॥३३॥

भावार्थ—बड़े से बड़े वृक्ष, पर्वत आदि महापरिमाणवाले तथा छोटे से छोटे बटवृक्ष का बीज, धान आदि अणुपरिमाणवाले द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है, यह चक्षुइन्द्रिय के भौतिक मानने में बाधक है। क्योंकि भौतिक पदार्थ जितने परिमाणवाला होता है उतने ही परिमाणवाले को व्याप्त करता है और अभौतिक पदार्थ व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण को व्याप्त करता है। अतः चक्षुइन्द्रिय आहंकारिक ही है। (अर्थात् यदि इन्द्रिय विना विषय को प्राप्त किये) ग्रहण करे तो चाहे जिस इन्द्रिय से किसी भी विषय का प्रत्यक्ष होने लगेगा। इस आपत्ति के आने के कारण आँख की पुतली नैयायिकमत से चक्षुइन्द्रिय नहीं हो सकती। अतः नैयायिकों को जो इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं आँख की कनीनिका को छोड़कर दूसरा ही कोई चक्षुइन्द्रिय है यह कहना होगा—यह भी असंगत है, क्योंकि चक्षुइन्द्रिय से न्यून (छोटे) महत् (बड़े) परिमाणवाले भी पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, भौतिकपक्ष से यह नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

(सांख्यमत को सिद्ध करनेवाले ३३ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में 'महत्' इस शब्द से महान्, उससे भी महान् (महत्तर) तथा (महत्तम) उससे भी महापरि-

भौतिकत्वं बाधते। भौतिकं हि यावत्तावदेव व्याप्नोति। अभौतिकं तु विभुत्वात्सर्वव्यापकमिति ॥ ३३ ॥

न महदणुग्रहणमात्रादभौतिकत्वं विभुत्वं चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम्। इदं खलु—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ॥ ३४ ॥

तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद्भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति। *रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चावरणलिङ्गः।* चाक्षुषो हि रश्मिः कुड्यादिभिरावृतमर्थं न प्रकाशयति यथा प्रदीपरश्मिरिति ॥ ३४ ॥

माणवाले पदार्थों का जैसे वटवृक्ष, पर्वत आदिकों का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है। ऐसे ही सूत्र के 'अणु' इस शब्द से उससे छोटा (अणुतर) तथा उससे भी छोटा (अणुतम) जैसे बट का बीज, धान आदिकों का भी चक्षुइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। यह दोनों प्रकार से प्रत्यक्ष होना चक्षुइन्द्रिय के भौतिक होने में बाधक है। क्योंकि कोई भी भौतिकपदार्थ जितने परिमाण का होता है वह उतने ही परिमाण को व्याप्त करता है। जिस प्रकार अंगुली का अग्रभाग अपने परिमाण के समान परिमाणवाले ही पदार्थ को व्याप्त करता है और अभौतिक पदार्थ व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थ को व्याप्त करता है ॥ ३३ ॥

(नैयायिकमत से उपर्युक्त सांख्यमत का खण्डन करनेवाले सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सांख्यमत से ऊपर कहा हुआ बड़े से बड़े तथा छोटे से छोटे पदार्थों का प्रत्यक्ष होने के कारण इन्द्रियों में भौतिकता न होना तथा व्यापकता होना नहीं सिद्ध हो सकता। यह निश्चय से—

पदपदार्थ—रश्म्यर्थसन्निकर्षात् = चक्षुइन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोगादिरूप सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से, तद्ग्रहणम् = उस दूरदेश में वर्तमान पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—बड़े से बड़े तथा छोटे से छोटे पदार्थ का चक्षुइन्द्रिय के रश्मि (किरण) से भौतिकपक्ष में भी प्रत्यक्ष हो सकता है, जिस प्रकार दूर रहनेवाले भी बड़े तथा छोटे पदार्थों की दीपक की किरणों के पदार्थ के पास जाने से दीपक द्वारा प्रत्यक्ष होता है, उपर्युक्त किरण तथा पदार्थों का सम्बन्ध होता है, यह परदा आदि आवरण (रोकने) वाले अनुमान से सिद्ध होता है। क्योंकि पदार्थ तथा चक्षु या दीपक के बीच में परदा पड़ता है तो पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ३४ ॥

(३४ वें सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हुए उपर्युक्त यही कहते हैं कि)—महान् तथा अणुपरिमाणवाले घटादि पदार्थों का चक्षुइन्द्रिय के साथ संयोगादि रूप विशेष सम्बन्ध होने के कारण प्रत्यक्ष होता है, जिस प्रकार दीपक के किरणों की घटादि पदार्थों के साथ संयोगादि सम्बन्ध होने के कारण उनका प्रत्यक्ष होता है। जिस चक्षु तथा प्रदीप में किरण है वह बीच में परदा आदि (आड़) होने पर घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस कारण अनुमान से किरण से सिद्ध होता है। अर्थात् चक्षु तथा दीप के किरण हैं, इसमें पदार्थ तथा चक्षु और दीपक को परदे का आवरण होना यह साधक लिङ्ग (हेतु) है। क्योंकि चक्षुइन्द्रिय के भी न आदि का न बीच में आड़ हो तो घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष किरणों के नहीं होता। जैसे प्रदीप के किरण बीच में परदा आदि का आवरण रहने पर पदार्थों के प्रत्यक्ष नहीं करने अर्थात् जो यह सन्निकर्ष विशेष ज्ञान होने का कारण है बहुत से अवयवों के संयोग से सहायता पाकर अवान्तर (बीच) के संयोग की अपेक्षा से सन्निकर्ष विशेष

आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३५ ॥

रूपस्पर्शवद्धि तेजः, महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपवत्त्वाच्चोपलब्धिरिति प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्यते चाक्षुषो रश्मिर्यदि स्यादिति ॥ ३५ ॥

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३६ ॥

कहाते हैं और यह सन्निकर्ष इन्द्रियों के अवयव (१) तथा पदार्थ के अवयव, इन्द्रिय के अवयव तथा पदार्थरूप अवयवी (२) एवं पदार्थ के अवयवों का इन्द्रिय से (३) और इन्द्रियों का अर्थ के साथ ऐसा चार प्रकार का होता है। जो किरण तथा पदार्थ दोनों का संयोगादि सन्निकर्ष विशेष बड़े तथा छोटे परिमाणवाले दोनों प्रकार के पदार्थों में समान होता है। इस प्रकार भौतिकपक्ष में भी बड़े और छोटे पदार्थ का प्रत्यक्ष हो सकता है। यह सूत्रकार का गूढ़ अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

(उपर्युक्त न्यायमत का पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखानेवाले सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस प्रकार आवरण (प्रतिबन्धक) से चक्षुइन्द्रिय के किरणों की अनुमान से सिद्धि होनें पर पूर्वपक्षी यह कहता है—

पदपदार्थ—तदनुपलब्धेः = उन चक्षुइन्द्रियों के किरणों की उपलब्धि न होने से, अहेतुः = किरण तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से दूर के पदार्थों का ग्रहण होना, हेतु नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

भावार्थ—चक्षुइन्द्रिय में किरण हो तो उनकी उपलब्धि होने लगेगी। क्योंकि रूप तथा स्पर्शगुण का आधार तेजद्रव्य होता है, जिससे महत्व परिमाण हो तथा उद्भूतरूप और स्ववयव जो हो उसी को प्रदीप के समान प्रत्यक्ष से ग्रहण होना चाहिये, किन्तु नहीं होता। अतः चक्षु के किरण नहीं है। अर्थात उपलब्धि होने के उपर्युक्त लक्षण में जो प्राप्त हो और उपलब्धि न होती हो तो उसकी अनुमान से सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ऐसा हो तो मनुष्य को शृङ्ग है यह भी अनुमान से सिद्ध होने लगेगा ॥ ३५ ॥

(इसी आशय से सूत्र की भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से व्याख्या करते हैं कि)—रूप एवं स्पर्शविशेष गुण का आश्रय तेजद्रव्य होता है तथा महतरिमाण सावयवता एवं उद्भूतरूप जिस द्रव्य में हो तो उसकी उपलब्धि होती है। इस कारण उक्त हेतु होने से जैसे प्रदीप का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही चक्षुइन्द्रिय में किरण हो तो उनकी उपलब्धि (ग्रहण) होने लगेगा ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदप्रदार्थ—न = नहीं होती, अनुमीयम नस्य = अनुमानप्रमाण से सिद्ध होनेवाले पदार्थ की, प्रत्यक्षतः = प्रत्यक्षप्रमाण से, अनुपलब्धि = ज्ञान न होना, अभावहेतुः = न होने की कारण ॥ ३६ ॥

भावार्थ—चक्षुइन्द्रिय के पदार्थ के साथ सन्निकर्ष का निषेध करनेवाले आवरणरूप पूर्व में कहे हुए साधकलिङ्ग अनुमानप्रमाण के द्वारा किरणों के सिद्ध होने के कारण चक्षु के किरणों का जो प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता वह उन किरणों की असत्ता सिद्ध नहीं कर सकता। जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग नहीं है यह एवं पृथिवी का नीचे का भाग नहीं है यह दोनों उनके प्रत्यक्ष के न होने के कारण वे दोनों नहीं हैं, यह सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि उन दोनों की अनुमान द्वारा सिद्धि हो सकती है। अर्थात केवल प्रत्यक्षज्ञान न होने से उपलब्धि न होना यह अवश्य अभाव की सिद्धि का साधक नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षोऽनुपलब्धिर्नासावभावं प्रतिपादयति यथा चन्द्रमसः परभागस्य पृथिव्याश्चाधोभागस्य ॥ ३६ ॥

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३७ ॥

भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च, महदनेकद्रव्यवच्च विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते। तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्पेते, तथाविधमेव च तैजसं द्रव्यमनुद्भूतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यते, स्पर्शस्त्वस्योष्ण उपलभ्यते तस्य द्रव्यस्यानुबन्धाद् ग्रीष्मवसन्तौ कल्पेते ॥ ३७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—चक्षु तथा पदार्थ का सन्निकर्ष नहीं है इसको सिद्ध करनेवाले पूर्वोक्त आवरणरूप लिङ्ग से अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध होनेवाले चक्षुइन्द्रिय के किरणों का प्रत्यक्ष से ज्ञान न होना, यह उन किरणों का अभाव सिद्ध नहीं करता। जिस प्रकार से अनुमान द्वारा कि जब चन्द्रमा का आगे का भाग है तो अवश्य पिछला भाग भी होगा एवं पृथिवी का जब ऊपर का भाग है तो नीचे का भाग भी होगा सिद्ध होने के कारण इन दोनों का प्रत्यक्ष से ज्ञान न होना। इन दोनों चन्द्रमा का पिछला भाग एवं पृथिवी का अधोभाग का न होना सिद्ध नहीं कर सकता ॥ ३६ ॥

एक जाति के पदार्थ भी इन्द्रिय से गृहीत तथा न गृहीत होते हैं इस विषय का समर्थन दृष्टांत के द्वारा दिखाते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणधर्मभेदात् च = द्रव्य तथा गुणपदार्थ के धर्म भिन्न-भिन्न होने से भी; उपलब्धिनियमः = उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होने का नियम नहीं हो सकता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—द्रव्यपदार्थों के धर्म भिन्न होते हैं और गुण के धर्म भिन्न होते हैं। महत्परिमाण तथा अवयवों के आश्रय भी हिम (शीतकाल के तुषार) रूप द्रव्य जिसका त्वगीन्द्रिय से सम्बन्ध होने पर भी चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता और शीतस्पर्श का ग्रहण होता है, जिससे हेमन्त तथा शिशिर नामक दो ऋतु शीतकाल (जाड़ा) कहा जाता है ऐसे ही जिसका रूप उद्भूत नहीं है जैसे तैजस द्रव्य का रूप के साथ प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उष्णस्पर्श का त्वचाप्रत्यक्ष होता है, जिसके सम्बन्ध से ग्रीष्म और वसन्त ऋतु माने जाते हैं। अतः द्रव्य तथा गुणों के धर्मभेद के कारण प्रत्यक्ष होने का कोई नियम नहीं है ॥ ३७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पृथिवी आदि द्रव्यों के तथा रूप आदि गुणों के धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। क्योंकि महापरिमाण तथा अवयवयुक्त भी शीतकाल के ओस के सूक्ष्म जल बिन्दुओं का जिसके अवयवों का त्वचा इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है, अतः विषता अवयव का आधार वह तुषारद्रव्य चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उन तुषारों का शीतस्पर्श त्वचा से गृहीत होता है। इसी तुषाररूप सूक्ष्म जलबिन्दुओं के सम्बन्ध से ही हेमन्त और शिशिर ऋतु नामक दो ऋतुओं का शीतकाल (जाड़ा) है, यह कल्पना की जाती है। उपरोक्त प्रकार का ही तैजस सूक्ष्मरूप द्रव्य भी रूप के उद्भूत न होने के कारण रूप के साथ चक्षु से गृहीत नहीं होता, किन्तु उसका उष्णस्पर्श त्वचा से गृहीत होता ही है। इन्हीं के संबंध से ग्रीष्म तथा वसन्त ऋतु नाम के दो ऋतुओं के समय को उष्णकाल (गरमी का मौसिम) कहते हैं ॥ ३७ ॥

यत्र त्वेषा भवति—

अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ३८ ॥

(चक्षु-इन्द्रिय से रूपज्ञान कैसी अवस्था में होता है यह सिद्धांती के मत से दिखानेवाले सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस स्थल में रूप की चक्षु-इन्द्रिय से उपलब्धि होती है, यह पर सूत्र से 'अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च' ऐसा सूत्र से संबंध लेकर उक्त अवतरण भाष्य में संबंध करना चाहिए। उसमें रूपविशेष शब्द का उद्भूतरूप अर्थ करना, नकि रूपत्व जाति, क्योंकि वह एकरूप का दूसरे रूप से भेद नहीं करता, उद्भूत होना यह रूप का विशेष अनुद्भूतरूप से भेद सिद्ध करता है। उद्भूतरूप कार्य से जाना जाता है, जिसके न होने से पूर्वोक्त शीत तथा उष्णकाल के तुषारों का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता केवल स्पर्श का ग्रहण होता है और जिसके रहने में दीपक के किरण तथा सूर्य के किरणों का प्रत्यक्ष होता है। चक्षुइन्द्रिय के किरणों में वह उसके रूप में उद्भूत नहीं है। अतः उसका चक्षुइन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता—यह भी सूत्रकार का अभिप्राय है और वह सूत्र है—

पदपदार्थ—अनेकद्रव्यसमवायात् = कारण (अवयवरूप) अनेक द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण, रूपविशेषात् च = उद्भूतरूप नामक विशेष रूप होने से भी, रूपोपलब्धिः = रूप-गुण तथा रूपवान् द्रव्य इन दोनों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—उसी रूप तथा उसके आधार द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है जो द्रव्य सावयव हों तथा जिसका रूप उद्भूत हो उद्भूतता यह एक रूप का विशेष धर्म है। प्रस्तुत में चक्षुइन्द्रिय के किरण उद्भूत नहीं हैं, इसीसे उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता। तेज नामक द्रव्य के भी दुःख के अनुभवस्वभावरूप अर्थ भी हो सके उसी प्रकार के उन-उन पुण्यात्मा तथा पापियों के भोग के अनुसार चक्षु आदि इन्द्रिय भी उसके ईश्वर से उन प्राणियों के कर्मों के अनुसार रचे हैं। उन्हीं चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों (मात्रादि) को प्राप्त होकर सुखादि होने के लिये चक्षुइन्द्रिय के किरणों की रचना हुई है। सांसारिक इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं इत्यादि शब्द-प्रयोगरूप व्यवहार होने के लिये चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप तथा स्पर्श उद्भूत (प्रगट) नहीं होते। किसी मध्य में परदा, भीत आदि का व्यवधान रहते विषय का प्रत्यक्ष नहीं होना भी युक्त नहीं दिखाई पड़ता। इत्यादि लौकिक व्यवहार होने के लिये ही होता है। जिससे चक्षुइन्द्रिय के किरणरूप एवं स्पर्श दोनों से रहित होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष न होने पर भी उक्त आवरण के कारण चक्षु के किरण अनुमान से सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार संसार के सम्पूर्ण व्यवहार के द्रव्यों (पदार्थों) की रचना ब्रह्माण्ड के प्राणियों के धर्म तथा अधर्म से सुख तथा दुःख के देनेवाले पुण्य और पापकर्मों से उनके भोग के लिये ईश्वर से रचित होने के कारण जीवात्माओं के भोगरूप पुरुषार्थ के लिये हैं, क्योंकि पृथिवी आदि कार्यों की रचना करनेवाले कोई भी हमारे ऐसे जीवात्मा प्राणी नहीं हो सकते और पुण्य तथा पापरूप कर्म, धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट के द्वारा कालान्तर में उन प्राणियों को सुख तथा दुःख के अनुभवरूप भोग के लिये ही ईश्वर से बनाये गये हैं। (आगे चश्मा, अभ्रपटल (अभ्रक) तथा स्फटिकादि मणियों से चक्षुइन्द्रिय के किरणों का प्रतिघात (रुकावट) नहीं होती, इस कारण इन्द्रिय भौतिक नहीं है। इस पूर्वपक्षिमत का खण्डन करने के लिये भाष्यकार प्रतिज्ञा करते हैं कि)—व्यभिचार न आने के कारण भौतिक पदार्थों का प्रतिघात धर्म होता है। अर्थात् जो यह भीत आदिकों के बीच में व्यवधान रहते घटादिकों का चाक्षुषप्रत्यक्ष न होने में भीत आदि रूप आवरण मिलते हैं उससे चक्षुइन्द्रिय के किरणों की भीत आदि द्रव्यों में गति रुक जाती है (अर्थात् भीत के

यत्र रूपं च द्रव्यं च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते रूपविशेषस्तु, यद्भावात् क्वचिद्रूपोपलब्धिः, यदभावाच्च द्रव्यस्य क्वचिदनुपलब्धिः स रूपधर्मोऽयमुद्भवसमाख्यात इति। अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः, तस्मात्प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत इति। दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः, उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजो यथा आदित्यरश्मयः। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षं तेजो यथा प्रदीपरश्मयः। उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथाऽबादिसंयुक्तं तेजः। अनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ३८ ॥

आड़ में चक्षु के किरणों से घटादि पदार्थ नहीं दिखाई पड़ते) यह भौतिक पदार्थों में व्यभिचाररहित (अवश्य रहनेवाला) धर्म है। क्योंकि किसी भी भौतिक पदार्थों में वह नहीं रहता ऐसा नहीं है—क्योंकि अभौतिक पदार्थों में प्रतिघात (रुकावट) नहीं दिखाई पड़ती। यदि 'चश्मा, अभ्रपटल तथा स्फटिकादि मणियों में चक्षुइन्द्रिय के किरणों की रुकावट नहीं होती, किन्तु दिखाई पड़ती है, इस कारण चक्षु आदिकों को अभौतिक ही क्यों माना जाय'? ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे, तो इसके उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि—प्रतिघात न होना यह तो व्यभिचारी धर्म है। क्योंकि भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार के पदार्थों में वह समान ही है। अतः अप्रतिघात के भौतिक पदार्थों में वर्तमान होने से वह भौतिकता का साधक नहीं हो सकता। (उपरोक्त पूर्वपक्षी की शंका को स्पष्टरूप से दिखाकर खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो यह पूर्वपक्षी से माना जाता है कि—'चक्षु आदि इन्द्रियों के किरण भीत आदि से रुक जाते हैं अतः चक्षु आदि इन्द्रिय भौतिक हैं ऐसा सिद्धान्तिमत से माना जाय सो चक्षु के किरणों की रुकावट न होने से उन्हें अभौतिक मानना प्राप्त होता है। चश्मा, अभ्रपटल तथा स्फटिकादिकों के बीच में व्यवधान रहने पर भी पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। अतः सिद्ध होता है कि चक्षु के किरणों की रुकावट नहीं होती—तो सिद्धान्तिमत से भाष्यकार इस शंका के आशय का खण्डन करते हैं कि—यह पूर्वपक्षी का कहना संगत नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—भिन्न-भिन्न धर्म होते हैं। जैसे (१) उद्भूतरूप तथा स्पर्शगुण का आधार होते हैं सूर्य के किरण (२) तथा उद्भूतरूप तथा अनुद्भूत स्पर्शगुण का आधार होता है, जैसे दीप के किरण, जिनका चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। (३) उद्भूतस्पर्श तथा अनुद्भूतरूप का आधार होता है उष्ण जल जिसके रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता केवल उष्णस्पर्श का ज्ञान होता है। (४) रूप तथा स्पर्श दोनों जिसको अनुद्भूत हों ऐसे चक्षुइन्द्रिय के किरण हैं। अतः उसका चाक्षुष तथा स्पर्श का दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं होगा ॥ ३८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस स्थान में रूप और उसके आधार द्रव्य का प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है। वह रूप उद्भूत होता है, जिस रूप में उद्भूतता विशेष होने से कहीं-कहीं रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है और जिसके न रहने पर उसका कहीं-कहीं चक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता—वही रूप का विशेषण भी होता है जिसको उद्भव (प्रगट) ऐसा कहते हैं ऐसा प्रसिद्ध ही है। प्रस्तुत में यह चक्षुइन्द्रिय के किरण उद्भूतरूपवाले नहीं हैं। इस कारण उनका प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता। तेज नामक द्रव्य के भिन्न-भिन्न धर्म होते हैं—जैसे (१) उद्भूतरूप तथा स्पर्शवाले सूर्य के किरणों का चाक्षुष एवं स्पर्शन दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। (२) तथा किसी तेज द्रव्य का रूप उद्भूत होता है और स्पर्श उद्भूत नहीं होता जैसे दीपक के

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३९ ॥

यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्प्यते तथेन्द्रियाणि व्यूढानि, विषयप्राप्त्यर्थश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः। रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रक्लृप्त्यर्था द्रव्यविशेषे च प्रतिघातादावरणोपपत्तिर्व्यवहारार्था। सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत् *कर्मकारितः* पुरुषार्थतन्त्रः। कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति ॥ ३६ ॥

[अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः ॥

यश्चावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतिघातः स भौतिकधर्मो न भूतानि *व्यभिचरति*, नाभौतिकं प्रतिघातधर्मकं दृष्टमिति।

अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी भौतिकभौतिकयोः समानत्वादिति।

यदपि मन्यते प्रतिघाताद्भौतिकानीन्द्रियाणि, अप्रतिघातादभौतिकानीति प्राप्तम्? दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः। तन्न युक्तम्।

किरण। अतः उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है, नकि स्पार्शन उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है। (३) उद्भूतस्पर्शवान् होने पर भी जिसका रूप उद्भूत नहीं होता जैसे जल में सम्बद्ध तेज, जिसका हस्तादिकों से उष्णस्पर्श का ज्ञान होता है किन्तु जिसके रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता। (४) और किसी तेजद्रव्य का रूप तथा स्पर्श दोनों उद्भूत नहीं होते, जैसे चक्षुइन्द्रिय के किरण। अतः उनका चाक्षुष तथा स्पार्शन दोनों प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ३८ ॥

उपरोक्त चार प्रकार के तेजोद्रव्यों की विलक्षणता में हेतु दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कर्मकारितः च = और प्राणियों के किये पुण्य तथा पापकर्म से उत्पन्न धर्माधर्मरूप अदृष्ट से कराया हुआ होता है, इन्द्रियाणां = चक्षु आदि इन्द्रियों का, व्यूहः = रचना, पुरुषार्थतंत्रः = सुखदुःखभोगरूप पुरुषार्थ के अधीन ॥ ३९ ॥

भावार्थ—प्राणियों के अपने किये हुए कर्मों के अनुसार उसके सुख तथा दुःख का संसार में अनुभवरूप भोग होता है, उसी के अनुसार उसके सुख तथा दुःख के अनुभव करने के साधनभूत चक्षुरादि इन्द्रिय भी शरीर में बनते हैं। प्रस्तुत में रूपादि विषय का ज्ञान होने के अनुसार प्राणीमात्र के शरीर में चक्षुरादि इन्द्रियों का निर्माण हुआ है। अतः एक पुण्यात्मा के चक्षु आदि इन्द्रिय अच्छे होने के कारण ठीक-ठीक चाक्षुषादि प्रत्यक्ष होता है, किन्तु अन्धे, बधिर आदिकों के इन्द्रिय खराब होने से उनको चाक्षुषादि ज्ञान ठीक-ठीक नहीं होता ॥३९॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं कि)—जिस प्रकार चेतन प्राणियों को जो संसार में माला, चन्दन आदि विषयों के भोग स्वभावरूप अर्थ एवं सुख तथा भौतिक-पदार्थ दीप की किरणों का काँच, अभ्रपटल तथा स्फटिकमणि से व्यवधान युक्त भी पदार्थों का प्रकाश करने के कारण भौतिक पदार्थों का भी प्रतिघात नहीं होता यह सिद्ध होता है तथा चावल को पकानेवाली चूल्हे पर चढ़ी हुई बटुली में भी इन्धन के अग्निरूप तेजरूप भौतिक पदार्थ की रुकावट नहीं होती, जिस कारण बटुली में चावल पक जाते हैं ॥ ३९ ॥

---

१. कोष्ठान्तार्गतः पाठः क्वचिदुपलभ्यते।

कस्मात् ? यस्माद्भौतिकमपि न प्रतिहन्यते, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितप्रकाशात् प्रदीपरश्मीनाम् , स्थाल्यादिषु पाचकस्य तेजसोऽप्रतिघातः ।]

उपपद्यते चानुपलब्धिः कारणभेदात्—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ ४० ॥

यथा '*अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिरि*'ति सत्युपलब्धिकारणे माध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः, एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः । तच्च व्याख्यातमनुद्भूतरूपस्पर्शस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरिति ॥ ४० ॥

अत्यन्तानुपलब्धिश्चाभावकारणम् , यो हि ब्रवीति लोष्टप्रकाशो मध्यन्दिने आदित्यप्रकाशाभिभवान्नोपलभ्यते इति तस्यैतत्स्यात्—

(उपरोक्त चक्षुइन्द्रिय के किरणों का प्रत्यक्ष न होना यह युक्त भी है इस आशय से सिद्धांतसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—चक्षुइन्द्रिय के किरणों के रूप की अनुद्भूत होना रूप विशेष कारण से ग्रहण न होना युक्त भी है—

पदपदार्थ—मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् = मध्याह्न समय में विद्यमान भी उल्का (पाकनक्षत्रविशेष) के ग्रहण न होने के समान, तदनुपलब्धिः = चक्षुइन्द्रिय के किरणों का ग्रहण नहीं होता ॥ ४० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मध्याह्न में भी सूर्यप्रकाश से अभिभूत (तिरस्कृत) होने के कारण उल्कारूप नक्षत्रविशेष में सावयवता, उद्भूतरूप इन प्रत्यक्ष के कारणों के रहते भी चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता, इसी प्रकार चक्षुइन्द्रिय के किरणों में सावयवता तथा उद्भूत रूप रहने पर भी उनके रूप तथा स्पर्श के उद्भूत न होने के कारण चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ४० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार अनेक द्रव्यों में समवेत होने के कारण तथा उद्भूतरूपविशेष के होने पर प्रत्यक्ष होता है इस प्रकार से प्रत्यक्ष का कारण रहने पर भी मध्याह्न समय में उल्का के प्रकाश का चाक्षुप्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह सूर्य के प्रकाश से अभिभूत (तिरस्कृत-दबा रहना) है। इसी प्रकार महत्व परिमाण, सावयवता तथा उद्भूतरूपविशेष के रहने पर चाक्षुषज्ञान होता है । इस प्रकार उपलब्धि का कारण रहते चक्षुइन्द्रिय के किरणों का चाक्षुषज्ञान नहीं होता दूसरे किसी निमित्त कारण से यह मानना होगा और वह निमित्तकारण हम अनेक द्रव्य से पीछे के प्रकरण में कह चुके हैं कि उद्भूतरूप तथा स्पर्शन होने के कारण द्रव्य का चाक्षुषज्ञान नहीं होता, किन्तु वे नहीं हैं, यह नहीं हो सकता । क्योंकि किसी प्रमाण से सिद्ध न होना अभाव को सिद्ध करता है । चक्षु के किरण तो आवरणलिङ्ग से सिद्ध होते हैं ॥ ४० ॥

(यदि चक्षुरश्मियों के रहने पर भी उनका रूप तथा स्पर्शगुण उद्भूत न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा माना जाय तो मृत्तिका में भी किरण मानना पड़ेगा । इस आशंका के समाधानार्थक सिद्धांतसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि—'मृत्तिका में भी किरणों का प्रकाश है जो मध्याह्न में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण नहीं दिखाई पड़ता'—उसके लिये यह समाधान होगा—

न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४१ ॥

अप्यनुमानतोऽनुपलब्धेरिति । एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्टप्रकाशो नास्ति, न त्वेवं चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४१ ॥

उपपन्नरूपा चेयम्—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४२ ॥

पदपदार्थ—न = नहीं, रात्रौ अपि = रात्रि में भी, अनुपलब्धेः=मृत्तिका में प्रकाश की उपलब्धि न होने के कारण ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मृत्तिका के ढेले में अनुमान द्वारा भी किरणों का प्रकाश सिद्ध नहीं होता, इस कारण अत्यन्त (सर्वप्रकार से) उनमें किरण प्रकाश नहीं है । किन्तु चक्षुइन्द्रिय के किरणों में यह नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त आवरणलिङ्ग से उनकी सिद्धि होती है । अर्थात् सूर्य के प्रकाश से अभिभूत मध्याह्नकाल में उल्का का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता, यह सिद्धांती का कहना असंगत है । क्योंकि ऐसा मानने से तो सम्पूर्ण ही मृत्तिकादि पदार्थों में किरण है यह मानना होगा । ऐसा होने से मृत्तिका के समान सम्पूर्ण पदार्थ रश्मिवाले हो जायेंगे । तो 'मृत्तिकादि में किरण क्यों नहीं मिलते' ? ऐसा प्रश्न करने पर यह उत्तर कहना होगा कि सूर्य के किरण अभिभूत होने के कारण । इस उत्तर में यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'रात्रि में भी मृत्तिकादिकों में किरण नहीं मिलते'—यह सूत्र गौतम ने कहा है ॥ ४१ ॥

इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के सम्बन्ध में नहीं रात्रि में भी मृत्तिकादिकों में किरणों के न मिलने के कारण, अनुमानप्रमाण से भी मृत्तिकादिकों के किरणों में सिद्धि नहीं हो सकती । इस प्रकार किसी भी प्रमाण से मृत्तिकादिकों में रश्मियों के सिद्ध न होने के कारण लोष्ठ (मृत्तिका के ढेले) में किरणों का प्रकाश नहीं है, किन्तु चक्षु के किरणों में ऐसा नहीं है क्योंकि उनकी पूर्व मे अनुमान द्वारा सिद्धि कर चुके हैं ॥ ४१ ॥

(सिद्धांती के मत से चक्षुइन्द्रिय के किरणों का प्रत्यक्ष न होने की युक्ति देनेवाले सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हुए कहते हैं कि)—यह चक्षुइन्द्रिय के किरणों की उपलब्धि न होना यह प्रमाणसिद्ध स्वरूप है—

पदपदार्थ—बाह्यप्रकाशानुग्रहात् = बाहरी दीप आदि के प्रकाश की सहायता से, विषयोपलब्धेः = पदार्थों का प्रत्यक्ष होने के कारण, अनभिव्यक्तितः = प्रगट न होने के कारण, अनुपलब्धिः= ग्रहण नहीं होता ॥ ४२ ॥

भावार्थ—बाह्य सूर्य दीप आदिकों के प्रकाश की सहायता से चक्षुइन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है । क्योंकि अन्धकार में पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः बाह्यप्रकाश के रहते तथा शीतस्पर्श की उपलब्धि भी रहते उसके आधार द्रव्य का जो चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता वह उसके रूप के उद्भूत न होने से नहीं होता, यह मानना उचित है, क्योंकि रूप के प्रगट न होने से उसके आश्रयद्रव्य का ज्ञान नहीं होता, यह देखने में आता है । अतः पूर्वपक्षी का उसकी उपलब्धि न होना यह साधक नहीं है ऐसा कहना असंगत है । अर्थात् इस सूत्र में दृष्टान्त कहा गया है । जो-जो बाहर के प्रकाश की आवश्यकता रखता है, उस-उस पदार्थ का ज्ञान न होना उस पदार्थ के रूप के प्रगट न होने से ही होता है, नकि उसके रूप का दूसरे से अभिभव होता है इस कारण उसका ज्ञान नहीं होता । अपने ज्ञान में बाहर के प्रकाश की जो आवश्यकता नहीं रखते ऐसे ही पदार्थों का ज्ञान न

बाह्येन प्रकाशेनानुगृहीतं चक्षुर्विषयग्राहकं तदभावेऽनुपलब्धिः। सति च प्रकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धौ च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्षुषाऽग्रहणं रूपस्यानुद्भूतत्वात्सेयं रूपानभिव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलब्धिर्दृष्टा तत्र यदुक्तं 'तदनुपलब्धेरहेतु' रित्येतदयुक्तम् ॥ ४२ ॥

कस्मात्पुनरभिभवोऽनुपलब्धिकारणं चाक्षुषस्य रश्मेर्नोच्यत इति ?—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४३ ॥

बाह्यप्रकाशानुग्रहनिरपेक्षतायां चेति चार्थः। यद्रूपमभिव्यक्तमुद्भूतं बाह्य-

---

होना दूसरे से अभिभव के कारण होता है। जैसे दिन में नक्षत्रों का और पूर्वोक्त आकाश में वर्तमान विषक्त अवयववाले तुषार आदि जलीय द्रव्य का जो ग्रहण चक्षु से नहीं होता वह उसके रूप के प्रगट न होने से ही होता है; क्योंकि जलीय द्रव्यों को अपने ज्ञान में बाह्यप्रकाश की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार चक्षुइन्द्रिय किरणों को भी अपना ज्ञान होने में बाह्यप्रकाश की अपेक्षा होने के कारण उसका ग्रहण न होना भी उसके रूप के प्रगट न होने के ही कारण है, नकि उसका रूप दूसरे से अभिभूत होने के कारण होता है। यह सिद्धांती का गूढ़ आशय है ॥ ४२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार कहते हैं कि)—बाह्य सूर्यादि के प्रकाश की सहायता से चक्षु-इन्द्रिय अपने विषयों का ग्रहण करता है। उस बाह्यप्रकाश के न रहते चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता और बाह्यप्रकाश की सहायता रहने पर शीतस्पर्श का ग्रहण होने पर भी उसके आश्रयद्रव्य का (चक्षुइन्द्रिय से) रूप उद्भूत न होने के कारण ज्ञान नहीं होता। वह यह रूप के प्रगट न होने के कारण रूप के आश्रय भी द्रव्य का चाक्षुषज्ञान न होना, पूर्वोक्त तुषार आदि दृष्टान्तों में देखा गया है। अतः पूर्वपक्षी का चाक्षुष किरणों का ग्रहण न होने से 'वे नहीं हैं'—यह कहना असंगत है ॥ ४२ ॥

(चाक्षुषरश्मि रूप के उद्भूत न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते, नकि दूसरे से अभिभूत होने के कारण इस आशय के सिद्धांतसूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—'चाक्षुष-किरणों के चाक्षुषप्रत्यक्ष न होने का कारण पूर्वोक्त उल्काप्रकाश के समान अभिभव क्यों न माना जाय' ? (ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे) तो—

पदपदार्थ—अभिव्यक्तौ च = और अभिव्यक्ति होने में, अभिभवात् = अभिभव होने के कारण ॥ ४३ ॥

भावार्थ—बाह्य सूर्यादि प्रकाश के सहायता की अपेक्षा न रहते भी किसी पदार्थ के अभिव्यक्त (प्रगट) होने में अभिभव माना जाता है। अर्थात् जिस पदार्थ का रूप उद्भूत होने से प्रगट होता है और बाहर के सूर्यादि प्रकाश की अपने प्रगट करने में अपेक्षा भी नहीं रखता उसी में दूसरे से अभिभव माना जाता है। यदि इसके विपरीत हो तो अभिभव नहीं कहा जा सकता और जिसकी रूप के उद्भूत न होने से उपलब्धि (ग्रहण) नहीं होता और बाह्यप्रकाश की सहायता से ही उपलब्धि होती है उसका अभिभव नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि चक्षु के रश्मि अवश्य हैं ॥ ४३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में चकार का अर्थ है बाह्य सूर्यादि प्रकाश की सहायता की अपेक्षा न करने पर भी जो पदार्थ का रूप प्रगट होता है तथा उद्भूत होता है तथा बाहरी सूर्यादि प्रकाश के सहायता की आवश्यकता भी नहीं रखता, वही रूप दूसरे के

प्रकाशानुग्रहं च नापेक्षते तद्विषयोऽभिभवो विपर्ययेऽभिभवाभावात् । अनुद्भूतरूपत्वाच्चानुपलभ्यमानं बाह्यप्रकाशानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयत इति एवमुपपन्नमस्ति चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४३ ॥

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४४ ॥

दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनां तेन शेषस्यानुमानमिति । जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेत् ? धर्मभेदमात्रं चानुपपन्नमावरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति ॥ ४४ ॥

रूप से अभिभूत (तिरस्कृत) होता है। इसके विपरीत अप्रकट, अनुद्भूत तथा बाह्यप्रकाश की सहायता की अपेक्षा भी रखता है। उसका अभिभव नहीं माना जा सकता और अप्रगट होने से उपलब्ध (प्राप्त) न होना है तथा बाह्यप्रकाश की सहायता से भी जिसका ज्ञान होता हो, उस रूप का अभिभव नहीं होता। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि चक्षु के किरण बाह्यप्रकाश के सहायता की अपेक्षा नहीं करते तथा उद्भूतरूप उनका नहीं है। इस कारण चक्षु के किरणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। तो भी पूर्वोक्त आवरणरूप लिङ्ग से वे हैं—यह सिद्ध होता है ॥ ४३ ॥

सूत्रकार 'दूसरे हेतु से भी चक्षु के किरण हैं' यह सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—नक्तंचरनयनरश्मिदर्शनात् च = रात्रि में चरने वाले बिडाल आदि पशु प्राणियों के चक्षु के किरणों का दर्शन होने से भी ॥ ४४ ॥

भावार्थ—बिडाल आदि रात्रि में घूमने वाले पशु प्राणियों के चक्षुइन्द्रिय के किरणों का प्रत्यक्ष रात्रि में होता है। इससे और मनुष्यादि प्राणियों के भी चक्षुइन्द्रिय में किरण है यह अनुमान से सिद्ध होता है। यहाँ पर बिडाल की पुतली से संयुक्त कोई दूसरे ही तेज का प्रत्यक्ष रात्रि में होता है, किन्तु वह इन्द्रिय नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय, अतीन्द्रिय होते हैं। यदि 'शब्द से इतर उद्भूत-विशेष गुण के जो आश्रय नहीं होते' इस इन्द्रियों के लक्षण में रूप तथा शब्द से भिन्न उद्भूत-विशेष गुणों का आधार न होनेवाले ऐसा विशेषण दिया जाय तो बिडाल के इन्द्रिय में भी लक्षण आने से दोष न होगा। क्योंकि उपरोक्त तेज में इन्द्रियता न आवेगी। गोलक से लेकर उसके विषय तक उसका दर्शन होने लगेगा। क्योंकि इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर ग्रहण करते हैं—यह नियम है। इत्यादि विषय विचार करने योग्य है ॥ ४४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार ४४ वें सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—विशेषकर रात्रि में घूमनेवाले बिडालादि पशुप्राणियों के चक्षु के किरण स्पष्ट देखने में आते हैं, जिससे मनुष्यादि प्राणियों के चक्षुओं में रश्मियों का अनुमान हो सकता है कि—(१) विवाद विषय आँख की पुतली में किरण है, द्रव्य होते हुए, रूप के ज्ञान में नियमित साधन का कारण होने से, प्रदीप के समान। (२) अथवा चक्षु, रश्मि का आधार है, द्रव्य तथा नियमित होते हुए, स्फटिकादिकों के व्यवधान होने पर भी पदार्थ को प्रकाशित करने से। (३) अथवा मनुष्यों के चक्षुइन्द्रिय, किरणवाले हैं, प्राप्तिस्वभाव वाले न होते हुए, रूपादिकों के प्रत्यक्ष होने में कारण होने से बिडालादि रात्रि में घूमनेवाले प्राणियों के चक्षु के समान ऐसा। यदि पूर्वपक्षी 'प्राणियों के जातिभेद के समान इन्द्रियों का भी भेद मानेंगे', ऐसा कहे तो केवल धर्म का भेद नहीं हो सकता। क्योंकि चक्षुइन्द्रिय के किरणों के विषय के समीप प्राप्ति होने का निषेध करनेवाला आवरण देखने में आता है। अर्थात् जातिभेद के दृष्टांत का पूर्वपक्षी का यह आशय है कि बिडालत्व जाति बिडाल में

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वानुपपत्तिः, कस्मात् ?

अप्राप्य ग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ४५ ॥

तृणादिसर्पद्द्रव्यं काचेऽभ्रपटले वा प्रतिहतं दृष्टमव्यवहितेन सन्निकृष्यते व्याहन्यते वै प्राप्तिर्व्यवधानेनेति। यदि च रश्म्यर्थसन्निकर्षो ग्रहणहेतुः स्याद् न व्यवहितस्य सन्निकर्ष इत्यग्रहणं स्यात्। अस्ति चेयं काचाभ्रपटलस्फटिका-

---

ही रहती है, मनुष्य में नहीं। इसी प्रकार विडाल के चक्षु में ही किरण होंगे, मनुष्य के चक्षु में न होंगे और परिहार का आशय यह है कि उक्त पूर्वपक्षी का कहना मानने पर भी विडाल के चक्षु में ही किरण है, मनुष्य के चक्षु में नहीं—यह धर्म का भेद नहीं हो सकता। क्योंकि जाति का भेद होने पर भी जिस प्रकार विडाल आदि पशुओं के चक्षु के किरणों का भीत आदि से प्रतिबन्ध (रुकावट) होती है, उसी प्रकार मनुष्यों के भी इस अंश में समानता ही है ॥ ४४ ॥

उक्त प्रकार से चक्षु इन्द्रिय में तैजसता सिद्ध करने के पश्चात् इन्द्रियविषयदेश में न पहुँचकर अपने-अपने विषयों का ग्रहण करते हैं इस आशय के सांख्य पूर्वपक्षी के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि—'सिद्धान्ती के मत से इन्द्रिय तथा पदार्थों का संयोगादि संनिकर्ष चाक्षुषादिज्ञानों का कारण नहीं हो सकता। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—अप्राप्य = विषय को न प्राप्त कर, ग्रहणं = चक्षुइन्द्रियों से ज्ञान होता है, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः = कांच, अभ्रपटल (अभ्रक) तथा स्फटिकादि मणि से व्यवधात युक्त भी पदार्थों का चक्षुइन्द्रिय से प्रत्यक्षज्ञान होने के कारण ॥ ४५ ॥

भावार्थ—तृण (तिनके) आदि द्रव्यों का वायु से उड़कर कांच, या अभ्रक में प्रतिघात (टक्कर) होता है यह देखने में आता है, इससे यह सिद्ध होता है कि व्यवधान मध्य में न रहने पर संनिकर्ष पदार्थ से होता है, और मध्य के व्यवधान से प्राप्तिरूप संयोग संनिकर्ष नहीं होता। अतः यदि चक्षु के किरण तथा घटादि पदार्थ का संयोग आदि रूप संनिकर्ष चाक्षुपज्ञान में कारण हो तो चश्मे के कांच, अभ्रक, तथा स्फटिकादि मणियों का मध्य में व्यवधान होने से कांच आदि के नीचे रहते वस्त्र आदि पदार्थों का चाक्षुषप्रत्यक्ष न होगा, और कांच आदिकों का मध्य में व्यवधान होने पर कांचादिकों के नीचे रहने वाले वस्त्रादिकों का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है जिससे सिद्ध होता है कि चक्षु आदि इन्द्रिय पदार्थों में संयोगादि संनिकर्षों के बिना भी पदार्थों का चाक्षुपादिज्ञान होता है इस कारण 'यह दण्ड ग्रहणात्' इस ३३ वें सूत्र में कहा हुआ सांख्यों का पक्ष ही ठीक है, क्योंकि उक्त मत में अहंकार के कार्य होने से व्यापक होने के कारण व्यवधान रहते भी पदार्थों का चाक्षुषादिज्ञान होता है भौतिकपक्ष में नहीं हो सकता, क्योंकि भौतिक पदार्थ समीप जाकर ही कार्य करते हैं यह इन्द्रियों का धर्म है ॥ ४५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'तृण, रुई आदि लघु द्रव्य वायु में उड़कर कांच या अभ्रक में टक्कर खाते हैं, यह देखने में आता है, इससे सिद्ध होता है कि व्यवधान-रहित ही चक्षु का पदार्थ का संयोगादि संनिकर्ष होता है, व्यवधान से इन्द्रिय का पदार्थ के समीप प्राप्ति का व्याघात होता है (अर्थात् इन्द्रिय का पदार्थ में संनिकर्ष नहीं होता)। अतः प्रस्तुत में यदि चक्षु के किरणों का पदार्थ के साथ संनिकर्ष चाक्षुषप्रत्यक्ष होने में कारण हो तो कांचादि से व्यवहित पदार्थ का संनिकर्ष न होने के कारण कांचादिकों के नीचे रहनेवाले पदार्थों का चाक्षुष-प्रत्यक्ष न होगा, किन्तु कांचादि पदार्थों के व्यवधान में भी पदार्थों का चाक्षुषप्रत्यक्ष तो होता है यह

न्तरितोपलब्धिः सा ज्ञापयत्यप्राप्यकारीणीन्द्रियाणि । अत एवाभौतिकानि, प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्म इति ॥ ४५ ॥

न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४६ ॥

अप्राप्यकारित्वे सतीन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्यानुपलब्धिर्न स्यात् ॥ ४६ ॥
प्राप्यकारित्वेऽपि तु काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिर्न स्यात्—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४७ ॥

व्यवहित पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान यह सिद्ध करता है कि चक्षु आदि इन्द्रिय व्यापक होने से अपने-अपने विषयों के समीप न पहुँच कर विषयों का ज्ञान उत्पन्न करते हैं अतः इन्द्रिय **'अप्राप्य कारण है'** विषय को न प्राप्तकर उसका ग्रहण करते हैं इसी कारण चक्षुआदि इन्द्रिय अभौतिक **'अहंकारिक'** हैं क्योंकि भौतिक पदार्थों का भौतिक दूसरे पदार्थ के समीप पहुँचकर ग्रहण करना यह धर्म देखने में आता है ॥ ४५ ॥

उपरोक्त सूत्र के पूर्वपक्ष का खण्डन सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—न कुड्यान्तरितानुपलब्धेः = कुड्य (भीत) से व्यवधान युक्त पदार्थ का चाक्षुषज्ञान न होने के कारण, अप्रतिषेधः = चक्षुकिरणों के संनिकर्ष को ज्ञान में कारण मानने का निषेध नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

भावार्थ—यदि पूर्वपक्षी सांख्य के मत से इन्द्रियों को विषय के समीप न पहुँचकर पदार्थ के ज्ञान होने के कारण पूर्वोक्त प्रकार से 'अप्राप्यकारी' माना जाय, तो भीत के आड़ में रहनेवाले भी घटादि पदार्थों का चाक्षुषादिज्ञान होने लगेगा, और होता तो नहीं, अतः इन्द्रिय भौतिक ही हैं जो संनिकर्ष द्वारा विषयों का ज्ञान करा देते हैं यह सिद्ध होता है ॥ ४६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी कहते हैं कि)—यदि सांख्य के मत से इन्द्रियों को विषय के समीप न पहुँचकर ही अपने-अपने विषयों का ज्ञान होता है, ऐसा मानें तो भीत के आड़ में रहनेवाले पदार्थों का भी चाक्षुषज्ञान होने लगेगा, और होता तो नहीं यही देखने में आता है, अतः इन्द्रिय भौतिक ही हैं, अहंकार के कार्य नहीं हैं ॥ ४६ ॥

इन्द्रिय विषयों के न प्राप्त कर ही अपने-अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न करते हैं ऐसे अप्राप्यकारितापक्ष से, सिद्धान्ती के किरण द्वारा विषयों के समीप पहुँचकर ही इन्द्रियों से अपने-अपने विषयों का ग्रहण होता है। (ऐसे सिद्धान्ती के पक्ष में दोष दिखाते हुए सूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—(प्रश्न)—'सिद्धान्ती के मत से चक्षुरादि इन्द्रियों को अपने-अपने रूपादि विषयों का ज्ञान होता है, ऐसा मानें तो कांच, अभ्रक तथा स्फटिकमणि आदिकों से व्यवधान वाले पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह न होगा'। (उत्तर)—

पदपदार्थ—अप्रतिघातात् = कांचादि स्वच्छ द्रव्यों से चक्षुइन्द्रिय के किरणों का अप्रतिघात (रुकावट) न होने के कारण, सन्निकर्षोपपत्तिः = संयोगादिरूप सन्निकर्ष हो सकता है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—कांच; अभ्रक आदि स्वच्छ द्रव्य चक्षुइन्द्रिय के किरणों को नहीं रोकते इस कारण उस चक्षु के किरणों की रुकावट न होने के कारण किरणों का कांचादि व्यवहित पदार्थों का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है ॥ ४७ ॥

न च काचोऽभ्रपटलं वा नयनरश्मिं विष्टभ्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानः सन्निकृष्यत इति ॥ ४७ ॥

यश्च मन्यते न भौतिकस्याप्रतिघात इति तन्न—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ ४८ ॥

आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽविघातात्, अविघातादिति च पदाभिसम्बन्धाद्वाक्यभेद इति। प्रतिवाक्यं चार्थभेद इति। आदित्यरश्मिः कुम्भादिषु न प्रतिहन्यतेऽविघातात्। कुम्भस्थमुदकं तपति, प्राप्तौ हि द्रव्यान्तरगुणस्य उष्णस्य स्पर्शस्य ग्रहणं तेन च शीतस्पर्शाभिभव

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—कांच, अथवा अभ्रक चक्षुइन्द्रिय के किरणों को नहीं रोकता, इस कारण रुकावट न होने से चक्षु के किरणों का कांचादि स्वच्छ द्रव्यों का व्यवधान होने पर भी पदार्थों के साथ संयोगादि रूप सन्निकर्ष हो सकता है ॥ ४७ ॥

(भौतिक पदार्थों का अप्रतिघात (रुकावट न होना) नहीं हो सकता ऐसा जो पूर्वपक्षी नहीं मानता उसके खण्डन करने वाले सिद्धान्तमत के सूत्र का पूर्वपक्षिमत से अवतरण देते हैं कि)—और जो पूर्वपक्षी मानता है कि—'भौतिक पदार्थ की रुकावट नहीं होती ऐसा नहीं है' ऐसा, वह नहीं हो सकता—

पदपदार्थ—आदित्यरश्मेः = सूर्य के किरण के, स्फटिकान्तरिते अपि = स्फटिकमणि का व्यवधान रहने पर भी, दाह्ये=जलाने योग्य वस्त्रादिकों में, अविघातात्=जलाने की रुकावट न होने से ॥४८॥

भावार्थ—इस सूत्र के तीन अर्थ हैं—(१) सूर्य के किरणों की रुकावट न होने से, (२) स्फटिकमणि से व्यवधानयुक्त पदार्थ में भी रुकावट न होने से, तथा (३) जलाने योग्य पदार्थों में रुकावट न होने से ऐसे। जिसमें 'अविघातात्' रुकावट न होने से, (१) आदित्यरश्मि, (२) 'स्फटिकान्तरित', तथा (३) दाह्य (जलाने योग्य पदार्थ) सूत्र के इन तीनों पदों में सम्बन्ध करने से तीन वाक्य होने के कारण अर्थ भी तीन प्रकार के हैं। क्योंकि कलश आदिकों में घाम में रक्खा हुआ जल गरम हो जाता है जिससे सूर्यकिरणों की रुकावट नहीं होती, सूर्य के किरणों के प्राप्त होने के कारण ही सूर्यकिरणरूप तेजद्रव्य के उष्णस्पर्शरूप गुण का ग्रहण होता है जिससे जल के स्वाभाविक शीतस्पर्श गुण का अभिभव (तिरस्कार) होता है यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार स्फटिकमणि के व्यवधान रहने पर भी प्रकाश करने योग्य पदार्थों में दीपक के किरणों की रुकावट नहीं होती, क्योंकि दीपक से स्फटिकमणि के नीचे रहने वाले पदार्थों का भी ग्रहण होता है। इसी प्रकार भुंजवे के भूंजने के घड़े के भीतर रहनेवाली बालू में नीचे के अग्निरूप तेजद्रव्य का सम्बन्ध होने से चावल आदि पदार्थ भूंजे जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि दाह्य पदार्थों में भी अग्नि आदि तेजद्रव्य की रुकावट नहीं होती, क्योंकि बिना तेज के सम्बन्ध के दाह नहीं हो सकता, कारण यह कि तेजद्रव्य बिना समीप पहुँचे कोई कार्य नहीं करता ॥ ४८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में सूर्यकिरणों के न रुकने से, स्फटिकमणि से व्यवधानयुक्त पदार्थ में रुकावट न होने से, तथा जलाने योग्य पदार्थ में भी रुकावट न होने से। 'अभिघातात्' इस पद को सूर्य के किरण, स्फटिक का व्यवधान तथा दाह्य (जलाने योग्य पदार्थ) तीनों में सम्बन्ध करने से तीन वाक्य होने के कारण उनके अनुसार तीनों अर्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रथम का उदाहरण यह है कि सूर्य के किरणों से गरम किये हुए कलशे

इति । स्फटिकान्तरितेऽपि प्रकाशनीये प्रदीपरश्मीनामप्रतिघातः, अप्रतिघाता- त्प्राप्तस्य ग्रहणमिति । भर्जनकपालादिस्थं च द्रव्यमाग्नेयेन तेजसा दह्यते तत्राविघातात्प्राप्तिः, प्राप्तौ तु दाहो नाप्राप्यकारि तेज इति ।

अविघातादिति च केवलं पदमुपादीयते, कोऽयमविघातो नाम ? *अव्यूह्यमानावयवेन व्यवधायकेन द्रव्येण सर्वतो द्रव्यस्याविष्टम्भः क्रियाहेतोरप्रतिबन्धः प्राप्तेरप्रतिषेध इति* । दृष्टं हि कलशनिषक्तानामपां बहिः शीतस्पर्शस्य ग्रहणम् । न चेन्द्रियेणासन्निकृष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलब्धिः दृष्टौ च प्रस्पन्दपरिस्रवौ । तत्र काचाभ्रपटलादिभिर्नयनरश्मेरप्रतिघाताद्विभिद्यार्थेन सह सन्निकर्षादुपपन्नं ग्रहणमिति ।। ४८ ।।

का जल सूर्य के किरणों की रुकावट न होने से ही उनके सम्बन्ध से जल गरम हो जाता है, और सूर्यकिरणों के प्राप्त होने से ही सूर्यकिरणरूप तेज द्रव्य के उष्णस्पर्शरूप विशेष गुण का जल में ग्रहण होता है, जिस उष्णस्पर्श से जल का स्वाभाविक शीतस्पर्श, उष्ण जल के स्पर्श से तिरस्कृत होने के कारण उष्णजल में शीतस्पर्श का ग्रहण नहीं होता । इसी प्रकार स्फटिकमणि का व्यवधान होने पर भी प्रकाश करने योग्य पदार्थ में दीपक के किरणों को रुकावट नहीं होती, जिससे दीपक के किरणों से प्राप्त पदार्थ का ज्ञान होता है । एवं भुंजवे के भूंजने के गरम (उष्ण) बालू वाले घड़े में रहनेवाली बालू में नीचे से धधकनेवाली आगरूप तेजद्रव्य के न रुकने से ही बालू जलने लगती है, जिससे अग्निरूप तेजद्रव्य के न रुकने से ही वह बालू में पहुंचता है, जिससे बालू जलने लगती है क्योंकि कोई भी तेज द्रव्य विषय को न प्राप्त कर अपने दाहादि कार्यों को नहीं कर सकता । उपरोक्त भाष्य में कही हुई सूत्र में तीन प्रकार की उक्ति है यह भाष्यकार का मत सिद्ध होता है, किन्तु स्फटिक का व्यवधान रहने पर भी जलाने योग्य पदार्थ में सूर्य के किरणों को रुकावट नहीं होती ऐसी एक ही उक्ति ठीक प्रतीत होती है । क्योंकि स्फटिक का व्यवधान होने पर भी सूर्य के किरणों से स्फटिक के नीचे का रुई आदि जल ही जाती है यह सूत्रकार का गूढ़ आशय प्रतीत होता है । (आगे भाष्यकार सूत्र के **'अविघातात्'** इस पद का अर्थ दिखाते हुए कहते हैं कि)—केवल **'अविघातात्'** इस पद को भी ग्रहण किया जाता है । जिससे सामान्यरूप से रुकावट न होने के कारण भी इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व सिद्ध होता है । जिसमें अविघात शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के उत्तर में जिस व्यवधान करने वाले द्रव्य के अवयव व्यूह्यमान (छिद्र- रहित नहीं है) ऐसी न होने के कारण चारों तरफ से द्रव्य द्रव्य को गति नहीं रुक सकती । अर्थात् प्रक्रिया से उत्पन्न संयोग का प्रतिबन्ध नहीं होता (अर्थात् संयोगरूप प्राप्ति का निषेध नहीं हो सकता) क्योंकि कलश में रखे हुए जल को कलसे के बाहरी भाग में जल के शीतस्पर्श का त्वगिन्द्रिय से ज्ञान होता है । क्योंकि बिना त्वगिन्द्रिय के संनिकर्ष के जल द्रव्य को स्पर्श का ग्रहण नहीं हो सकता और जल का बहना तो देखने में आता है । इस कारण प्रस्तुत में काँच, अभ्रक, स्फटिक आदिकों से चक्षुइन्द्रिय के किरणों की रुकावट न होने के कारण कांच आदि के भीतर जाकर पदार्थ के साथ इन्द्रिय और पदार्थ का संयोगादि संनिकर्ष होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष हो सकता है । (अर्थात् भुंजवे के घड़े के अवयवों का पूर्व में उत्पन्न द्रव्य के अवयवसंयोग का नाश इसी द्रव्य को उत्पन्न करनेवाले संयोग को उत्पन्न करना रूप) व्यूह नहीं होता—ऐसे भुंजवे के घड़े- रूप द्रव्य को भीतरी भाग में जो अग्नि का संयोग होता है, उसका **'अप्रतिघात'** रुकावट न होना

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४९ ॥

काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातः, कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिः प्रतिघात इति प्रसज्यते, नियमे कारणं वाच्यमिति ? ॥ ४९ ॥

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ५० ॥

होता है, अर्थात् घटादि द्रव्यों में सूक्ष्म छिद्र होने के कारण घटके नष्ट न होते अग्नि का बीच में प्रवेश होना ही 'अप्रतिघात' रुकावट न होना है। यहां तक भाष्यकार ने प्रवेश में रुकावट नहीं होती यह कहने के पश्चात् जल के घट से निकलने में भी जल द्रव्य की रुकावट नहीं होती यह भाष्यकार ने घट में भरे जल का दृष्टान्त दिया है कि जिस समय घट में भरा हुआ जल चूल्हे पर चढ़ाने पर उष्ण होता है उस समय घट के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा उष्णकिरण निकल कर घट में रहने वाले जल को उष्ण करते हैं, वहां भी घट का नाश नहीं होता। और '**दृष्टौ च परिस्वन्द्रस्रवौ**' जल की क्रिया तथा चूना दोनों देखने में आते हैं इस भाष्य का यह आशय है कि जल के बाहर चूने से भी घट का नाश नहीं होता ॥ ४८ ॥

तब तो कांच, अभ्रक आदि के समान भीत आदि से भी चक्षु के किरणों को रुकावट नहीं होती, अथवा भीत आदि के समान कांच आदि से भी चक्षुकिरण की रुकावट होती है ऐसा माना जाय यह संशय होता है, क्योंकि एक पक्ष के नियम का तो कोई कारण नहीं हैं। इस आशय से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ=न=नहीं हो सकता, इतरेतरधर्मप्रसङ्गः=परस्पर के धर्मों के होने की आपत्ति आने से ॥ ४९ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती चक्षुइन्द्रिय के संनिकर्ष से पदार्थ को चाक्षुषज्ञान होना ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि कांच, अभ्रक आदिकों के दृष्टान्त से भीत आदिकों के व्यवधान से भी चक्षुइन्द्रिय के किरणों का न रुकना ऐसा माना जाय अथवा भीत आदि के दृष्टान्त से काँच, अभ्रक आदिकों के भी व्यवधान रहते (कांच, अभ्रक, स्फटिक आदिकों के व्यवधानकाल में) चक्षु के किरणों की रुकावट मानी जाय, क्योंकि उपरोक्त दोनों पक्षों में एक पक्ष को मनाने से कोई नियम का कारण नहीं दिखाई पड़ता, जो सिद्धान्ती को दिखाना चाहिये ॥ ४९ ॥

(इसी आशयानुसार भाष्य में व्याख्या है कि)—कांच, अभ्रकपटल (समूह) आदि में के समान कुड्य (भीत) आदिकों चक्षु के किरणों की रुकावट नहीं होती ऐसा माना जाय, अथवा भीत आदि के व्यवधान में जिस प्रकार चक्षु के किरणों को रुकावट होती है इसी प्रकार कांच, अभ्रकपटल आदिकों के व्यवधान काल में भी चक्षु के किरण पदार्थ के समीप नहीं पहुँचते ऐसा माना जाय यह आपत्ति आ सकती है, उक्त दोनों पक्षों में से एक ही पक्ष मानने में कोई नियम का कारण सिद्धान्ती को कहना चाहिये ॥ ४९ ॥

(उक्त प्रश्न का उत्तर सूत्रकार देते हैं)—

पदपदार्थ—आदर्शोदकयोः=दर्पण, तथा जल दोनों के, प्रासादस्वाभाघात=स्वच्छ स्वभाव होने से, रूपोपलब्धिः=प्रतिबिम्ब के रूप का ग्रहण होने के समान, तदुपलब्धिः=कांच आदि के व्यवधान में पदार्थ का ज्ञान होता है ॥ ५० ॥

भावार्थ—दर्पण तथा जल में स्वच्छतारूप अपना एक स्वाभाविक रूप को ग्रहण करनारूप धर्म होने के कारण जिस प्रकार देखनेवाले की परछांई में उसके मुखरूप का चाक्षुषग्रहण संनिकर्ष

आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स्वो धर्मो नियमदर्शनात्, प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलम्भनम्। यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्बग्रहणाख्यमादर्शरूपानुग्रहात्तन्निमित्तं भवति, आदर्शरूपोपघाते तदभावात्, कुड्यादिषु च प्रतिबिम्बग्रहणं न भवति। एवं काचाभ्रपटलादिभिरविघातश्चक्षूरश्मेः कुड्यादिभिश्च प्रतिघातो द्रव्यस्वभावनियमादिति ॥ ५० ॥

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५१ ॥

के होने से होता है, और दर्पण तथा जल के क्रम से फूट जाने या गन्दा होने पर देखनेवाले की प्रतिच्छाया का रूप संनिकर्ष के न होने से ठीक नहीं पड़ता—इसी प्रकार प्रस्तुत में भी कांच आदिकों का व्यवधान होने पर चक्षु के किरणों को रुकावट नहीं होती और भीत आदि व्यवधानों के रहने में दर्पणादिकों के समान स्वच्छता न होने से रुकावट होती है यह सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी व्याख्या करते हैं कि)—दर्पण तथा जल दोनों का प्रसाद (स्वच्छता) विशेष रूप है, जो उन दर्पण तथा जल दोनों अपना-अपना धर्म है, क्योंकि स्वच्छ पदार्थों में स्वच्छता धर्म रहता ही है। अथवा स्वच्छता का यह अपना धर्म है रूप के प्रतिविम्ब के रूप को ग्रहण करना। जिस प्रकार जिस समय दर्पण में अपना रूप ठीक है या नहीं यह देखने के लिये मनुष्य अपना मुख दर्पण के समीप ले जाता है उस दर्पण से प्रतिघात (टक्कर खाने) से मुख के समीप लौटनेवाले चक्षु के किरण अपने ही वास्तविक मुख से सन्निकर्ष (संयोग) होने के कारण अपने मुख की दर्पण में पड़ी हुई प्रतिच्छाया का ग्रहण होना ऐसा जिसका नाम है दर्पण की स्वच्छता की सहायता से (जो भीत आदि में नहीं है) अपने मुख की दर्पण में परछांई देखने में कारण होती है। और यदि दर्पण तथा जल आदि स्वच्छ द्रव्यों का रूप दर्पण के चूर होने पर उसके रूप नाश होने से या गदीला जल होने के कारण स्वच्छता न रहने से तथा कुड्या (भीत) आदिकों में भी प्रतिच्छाया (अपने मुख की परछांई) का ग्रहण नहीं होगा—इस प्रकार कांच तथा अभ्रक के छाते में चक्षुइन्द्रिय के किरणों के रुकावट नहीं होती, और भीत आदि के व्यवधान में चक्षु के किरण नहीं पहुँचते हैं यह स्वच्छ तथा अस्वच्छ पदार्थों का स्वभाव है, ऐसा नियम हो सकता है, (अतः पूर्वपक्षी उपरोक्त परस्पर में धर्म का सांकर्य दोष नहीं हो सकता)। (अर्थात् वह दर्पण तथा जल का जो विशेष रूप है वह इसी द्रव्य में संयुक्त समवायसम्बन्ध से रहता ही है, अथवा रूप के ग्रहण का सामर्थ्य है, उसकी जो जलादि में रहता है, वही उसका स्वभाव कहा जाता है) ॥ ५१ ॥

उपरोक्त प्रमाणसिद्ध विषय में (अर्थात् स्वच्छ द्रव्यों में इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है तथा अस्वच्छ द्रव्यों में नहीं होता है) ऐसा क्यों होता है? यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि—

पदपदार्थ—दृष्टानुमितानां = प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होनेवाले विषयों को, नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः = ऐसा क्यों होता है ऐसा नहीं हो सकता, इस प्रकार विधि तथा निषेध नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

भावार्थ—प्रमाण यथार्थ विषय में ही प्रवृत्त होते हैं इस कारण प्रत्यक्ष एवं अनुमानप्रमाण से सिद्ध पदार्थ विषयों में ऐसा क्यों होता है, या ऐसा नहीं हो सकता, इस प्रकार पदार्थों के आज्ञा या निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि रूप के समान गन्ध का चाक्षुषप्रत्यक्ष हो, अथवा गन्ध के समान

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात्। न खलु भोः ? परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुमेवं भवतेति, नापि प्रतिषेद्धुमेवं न भवतेति। न हीदमुपपद्यते रूपवद्गन्धोऽपि चाक्षुषो भवत्विति, गन्धवद्वा रूपं चाक्षुषं मा भूदिति, अग्निप्रतिपत्तिवत् धूमेनोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति, उदकाप्रतिपत्तिवद्वा धूमेनाग्निप्रतिपत्तिरपि मा भूदिति। किं कारणम् ? यथा खल्वर्था भवन्ति य एषां स्वो भावः स्वो धर्म इति तथाभूताः प्रमाणेन प्रतिपद्यन्ते इति। तथाभूतविषयकं हि प्रमाणमिति। इमौ खलु नियोगप्रतिषेधौ भवता देशितौ काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातो भवतु कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघातो मा भूदिति। न, दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्माः, *प्रतिघाताप्रतिघातयोर्ह्युपलब्ध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके।* व्यवहितानुपलब्ध्याऽनुमीयते कुड्या-

---

रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष न हो इस प्रकार अथवा जैसे धूम से जलज्ञान का अनुमान नहीं होता वैसे धूमज्ञान से अग्नि का भी अनुमान भी कहो ऐसा नहीं। कोई पदार्थों के होने का प्रश्न कर सकता है न निषेध, क्योंकि वास्तविक प्रमाण पदार्थ का जैसा स्वरूप होता है वैसा ही उसका वर्णन करते हैं, इस कारण कांचादिकों के समान भीत आदिकों में भी चक्षु के किरणों की रुकावट न हो, अथवा भीत आदिकों के व्यवधान के समान कांच, आदिकों में भी चक्षु के किरणों में रुकावट हो, यह पूर्वपक्षी का कहना सर्वथा संगत नहीं है, क्योंकि जैसा जिन पदार्थों का स्वभाव होता है वे वैसे ही होते हैं, यह प्रमाणों से सिद्ध होता है ॥ ५१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध पदार्थ जिस स्वरूप का होता है उसी को विषय करते हैं। इस कारण हे पूर्वपक्षी ! परीक्षा करनेवाले प्राणी ने प्रत्यक्ष से देखे हुए अथवा अनुमान से सिद्ध किये को पदार्थों हे पदार्थों ! तुम ऐसे हो, अथवा ऐसे न हो, इस प्रकार आज्ञा अथवा निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि रूप के समान गन्ध का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष हो, अथवा गन्ध के समान रूप का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष न हो, अथवा धूमज्ञान से अग्नि की अनुमान द्वारा सिद्धि के समान जल की भी अनुमान से सिद्धि हो, या जल का ज्ञान अनुमान से न होने के कारण धूमज्ञान से अग्नि की भी अनुमान से सिद्धि न हो। (प्रश्न)—किस कारण ? (उत्तर)—जो पदार्थ जैसे होते हैं, जो उनका भाव (स्वभाव) रूप अपना धर्म होता है वैसा ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उनका ज्ञान होता है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण पदार्थों के वैसे ही वास्तविक स्वभाव को कहते हैं यह उनका स्वभाव है। इस कारण कांच, अभ्रक आदि के व्यवधान रहते जिस प्रकार चक्षु के किरणों को रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार भीत आदि के व्यवधान रहते भी उनकी रुकावट न हो, अथवा भीत आदि के व्यवधान के रहते जिस प्रकार चक्षु के किरणों को रुकावट होती है. उसी प्रकार कांच, अभ्रक आदिकों के व्यवधान रहते भी रुकावट हो—इस प्रकार जो आप (पूर्वपक्षी) ने नियोग (आज्ञा) तथा निषेध दोनों किये है, ये दोनों नहीं हो सकते, क्योंकि यह कांच, भीत आदि के स्वच्छता अस्वच्छता इत्यादि स्वाभाविक धर्म प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होते हैं। जिसमें रुकावट होना और न होना इन दोनों की व्यवस्था भीत के व्यवधान में पदार्थ का ज्ञान न होना तथा कांच आदि के व्यवधान रहते पदार्थ का ज्ञान होना ही व्यवस्था का कारण है। अतः भीत के व्यवधान रहते पदार्थ का ज्ञान न होने के कारण अनुमान से सिद्ध होता है, कि चक्षुकिरणों के पदार्थ ज्ञान में रुकावट होती है

दिभिः प्रतिघातः, व्यवहितोपलब्ध्याऽनुमीयते काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति ॥ ५१ ॥

(इतीन्द्रियपरीक्षणम् ।)

अथापि खल्वेकमिदमिन्द्रियं बहूनीन्द्रियाणि वा ? कुतः संशयः ?

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥ ५२ ॥

और कांच आदि का व्यवधान रहने पर भी पदार्थों का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है, इससे अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, कि काँचादियों से चक्षु के किरणों को रुकावट नहीं होगी ॥ ५१ ॥

(८) इन्द्रियों के नानात्व (अनेक होने का) प्रकरण

पूर्वप्रकरण में इन्द्रिय विषयों को प्राप्त कर ग्रहण करते हैं तथा भौतिक हैं यह सिद्ध करने के पश्चात् इन्द्रिय अनेक हैं, इस विषय के प्रकरण का आरंभ करना है, क्योंकि इन्द्रियों के अनेक न मानने पर उनमें भौतिकता सिद्ध न होगी, और भौतिकता न सिद्ध होने से उनमें विषय के समीप पहुँचकर उनका ग्रहण करना भी सिद्ध न होगा। क्योंकि इन्द्रिय एक मानने से रूपादि गुणों में से नियम से रूप के प्रकाशक होने से इत्यादि भौतिकता साधक हेतु न सिद्ध होंगे। जिससे इन्द्रियों में विषय के समीप जाकर ग्रहण करना भी न सिद्ध होगा, क्योंकि यह भूतपदार्थ का धर्म है, इसका प्रयोजन यह है कि इन्द्रियों की अनेकता सिद्ध होने से ही 'दर्शन और स्पर्शन से एक अर्थ को ग्रहण होने के कारण है इत्यादि पूर्वोक्त हेतुओं से इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की सिद्धि होना, नहीं जो एक इन्द्रिय ही सम्पूर्ण स्मरण तथा प्रतिसंधान कर सकेगा, जिससे इन्द्रिय भिन्न आत्मा की सिद्धि न हो सकेगी' इत्यादि तात्पर्यपरिशुद्धि में इस प्रकरण की संगति दिखाई है।

(अतः इन्द्रिय एक है अथवा अनेक, इस परीक्षा के अंगरूप संशय को दिखाने के वास्ते सूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—यह भी संशय होता है कि क्या इन्द्रिय एक है, अथवा अनेक (प्रश्न)—यह संशय क्यों हुआ ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—स्थानान्यत्वे=स्थानभिन्न होने पर, नानात्वात्=अनेकता होने से, अवयविनानास्थानत्वात् च=और एक अवयवी के अनेक अवयवरूप स्थान होने से भी, संशयः=इन्द्रिय नाना हैं अथवा एक यह संदेह होता है ॥ ५२ ॥

भावार्थ—अनेक स्थान में रहने वाले अनेक द्रव्य भी दिखाई पड़ते एवं नाना अवयवरूप स्थानों में रहनेवाला एक अवयवी भी देखने में आता है, अतः अनेक चक्षु आदि स्थानों में अनेक इन्द्रिय हैं अथवा उक्त अनेक स्थानों में एक ही इन्द्रिय है यह संशय होता है। कुछ विद्वान् भाष्यकार के मत की अपेक्षा न कर इस सूत्र की यथाश्रुत व्याख्या करते हैं कि—जिस प्रकार अनेक स्थानों में अनेक घट होते हैं, ऐसी स्थानभेद से अनेकता देखने में आती हैं, एवं अनेक अवयवरूप स्थानों में रहने वाला एक अवयवी भी देखने में आता है। किन्तु यह असंगत है ऐसा वार्त्तिक तथा तात्पर्यकार के मत से प्रतीत होता है, क्योंकि स्थान के भेद को 'स्थानान्यत्व' कहते हैं—और नाना हैं स्थान जिसके रस निग्रह से 'नानास्थान होना' यह अन्य पदार्थ स्थान के भेद से दूसरा है। संशय का कारण तो एक ही धर्म होता है दो धर्म नहीं होते, इस कारण दो में से एक-एक तथा अनेक दोनों में रहनेवाला कोई साधारण धर्म कहना होगा। उसमें (१) यदि ऐसा संशय किया जाय कि—स्थान का भेद होने पर अनेकता तथा एकता दिखई पड़ने से संशय होता है ऐसा, तो सूत्र के अर्थ का विचार करने से एकता में स्थानभेद के दिखाई पड़ने के

—बहूनि द्रव्याणि नानास्थानानि दृश्यन्ते, नानास्थानश्च सन्नेकोऽवयवी चेति। तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय इति ॥ ५२ ॥

एकमिन्द्रियम्—

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५३ ॥

कारण वह समानधर्म न होगा। क्योंकि सूत्र में एकता होने से नाना स्थान कहे हैं, न कि केवल नाना स्थान होना। और स्थानभेद तो सूत्रकार ने अनेकतामात्र में कहा है—'कि स्थानभेद में अनेकता होने से' इस प्रकार। (२) यदि अनेक स्थान होते हुए एकता तथा अनेकता के दिखाई पड़ने से संशय होता है, ऐसा संशय किया जाय तो, नाना स्थान में रहने वाला कोई द्रव्य अनेक देखा जाता है इस कारण वह समान धर्म नहीं होता। 'अवयवि के नाना अवयवरूप स्थानों में रहने से' यह सूत्र नाना स्थान होने से एकता कहता है, न कि नाना होना। और जो घटादि अनेक हैं, उनको सूत्रकार ने नाना स्थान नहीं कहा है, किन्तु स्थान का भेद ही कहा है 'स्थान के भेद में नानात्व होता है' इस सूत्र के अंश में वर्धमान उपाध्याय ने तो अश्रद्धा का बीज दूसरे प्रकार से वर्णन किया है कि सूत्र के प्रथम अक्षरों से स्थान के भेद से इन्द्रियों के नाना होने की सूचना की गई है, न कि एकता कही है, इन्द्रियों का एक होना ही संशय का बीज है, और दूसरे सूत्र के नाना स्थान में होने से भी इन्द्रिय एक है, इस अंश से भिन्न नहीं अनेक होना नहीं कहा गया है और दोनों सूत्र के हेतुओं से संशय का बीज नहीं ही कहा है। इस प्रकार भाष्यकार ने सूत्र की असंगति को जानकर हां अर्थ को ले व्याख्या की है। घट और वस्त्र के समान जब पदार्थ नाना स्थानों में रहते हैं तब वे अनेक ही होते हैं, और नाना अवयवरूप स्थान में एक ही अवयवी रहता है। इसके समान एक ही पदार्थ अनेक स्थानों में रहता है यह सिद्ध होता है, अतः जब हम अनेक शरीर के स्थानों में चक्षुरादि इन्द्रियों को देखते हैं तो हमें संदेह होता है कि यह घटपटादियों के समान भिन्न-भिन्न हैं अथवा घटादि अवयवि पदार्थ के समान एक हैं।

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—घट, वस्त्र आदि अनेक पदार्थ भिन्न २ भूत आदिकों में रहते हैं, यह दिखाई पड़ता है। तथा अनेक कपालादि अवयवरूप नाना स्थानों में रहने वाला एक ही घटरूप अवयवी पदार्थ भी देखने में आता है। इस कारण अवयवरूप नाना स्थानों के कारण इन्द्रिय अनेक हैं अथवा एक यह संदेह होता है ॥ ५२ ॥

उक्त संशय को उत्पन्न करनेवाले नाना अवयवस्थानों में एक अवयवी के समान संपूर्ण शरीर के मुख आदि स्थानों में एक ही त्वक् (स्पर्शन) नामक इन्द्रिय है ऐसे प्राचीन पूर्वपक्षि-मत से आक्षेप के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि—इन्द्रिय संपूर्ण शरीर में एक है—

पदपदार्थ—त्वक् = त्वचा नामक (एक इन्द्रिय है) अव्यतिरेकात् = त्वचा का सम्बन्ध होने से ॥ ५३ ॥

भावार्थ—शरीर में ऐसा कोई चक्षु आदि इन्द्रियों का स्थान नहीं है, जो त्वचा (चमड़ा), स्पर्शग्राहक इन्द्रिय से प्राप्त नहीं होता, जिसके बिना किसी रूपादि विषयों का ज्ञान नहीं होता, अतः संपूर्ण इन्द्रियों के स्थानों में व्याप्त होने तथा विषयों का ग्रहण करने के कारण एक त्वचा ही संपूर्ण शरीर में इन्द्रिय है यह सिद्ध होता है (अर्थात् त्वचा नामक एक इन्द्रिय है, अभेद होने से, इस अनुमानप्रमाण से एक इन्द्रिय मानना संगत है) ॥ ५३ ॥

त्वगेकमिन्द्रियमित्याह। कस्मात्? *अव्यतिरेकात्।* न त्वचाकिञ्चिदिन्द्रियाधिष्ठानं न प्राप्तम्, न चासत्यां त्वचि किञ्चिद्विषयग्रहणं भवति, यया सर्वेन्द्रियस्थानानि व्याप्तानि यस्यां च सत्यां विषयग्रहणं भवति सा त्वगेकमिन्द्रियमिति।

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः। स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि, गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे इन्द्रियान्तरार्था रूपादयो न गृह्यन्ते अन्धादिभिः। न स्पर्शग्राहकादिन्द्रियादिन्द्रियान्तरमस्तीति स्पर्शवदन्धादिभिर्गृह्येरन् रूपादयो, न च गृह्यन्ते तस्मान्नैकमिन्द्रियं त्वगिति।

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः। यथा त्वचोऽवयवविशेषः कश्चिच्चक्षुषि सन्निकृष्टो धूमस्पर्शं गृह्णाति नान्यः, एवं त्वचोऽवयवविशेषा रूपादिग्राहकास्तेषामुपघातादन्धादिभिर्न गृह्यन्ते रूपादय इति।

व्याहतत्वादहेतुः। त्वगव्यतिरेकादेकमिन्द्रियमित्युक्त्वा '*त्वगवयवविशेषेण*

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—त्वचा नामक एक ही इन्द्रिय है, ऐसा पूर्वपक्षी के सूत्र में सूत्रकार ने कहा है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—अव्यतिरेक (अभेद) होने से। क्योंकि त्वचा से कोई भी चक्षु आदि इन्द्रियों का स्थान प्राप्त नहीं है, ऐसा नहीं है। और चक्षु आदि इन्द्रियों के स्थानों में त्वचा के न रहने पर किसी रूपादि विषयों का ज्ञान भी नहीं होता। इस कारण जिस त्वचा से चक्षु आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्थान व्याप्त हैं, और जिसके रहने से विषयों का ज्ञान होता है वह एक त्वचा ही संपूर्ण प्राणियों के शरीर में इन्द्रिय है, (नकि अनेक इन्द्रिय हैं)।

(स्वतंत्ररूप से इस एक इन्द्रियवाद का भाष्यकार खण्डन करते हुए कहते हैं कि)—'दूसरे इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण न होने के कारण त्वचा ही एक संपूर्ण शरीर में इन्द्रिय है यह मत नहीं हो सकता। स्पर्श का जिससे ज्ञान होता है ऐसे लक्षणवाली त्वचा के रहने पर त्वचा इन्द्रिय से शीत, उष्ण आदि स्पर्शों का ज्ञान होने पर भी अन्धे, बहिरे, आदि प्राणियों को चक्षु, श्रोत्र आदि दूसरे इन्द्रियों के रूप, शब्द, आदि विषयों का ज्ञान नहीं होता। एक त्वचा को ही इन्द्रिय माननेवाले के मत में स्पर्श के ग्रहण करनेवाले त्वचा इन्द्रिय को छोड़कर दूसरे चक्षु आदि इन्द्रियों के न होने के कारण स्पर्शगुण के समान अंध, वधिर आदि प्राणियों को रूप, शब्द आदि गुणों का भी ज्ञान होने की आपत्ति आ जायगी। और अन्धे, बहिरे आदि प्राणियों को रूप, शब्द आदिकों का ज्ञान भी नहीं होता, इस कारण संपूर्ण शरीर में एक त्वचा ही इन्द्रिय है यह नहीं हो सकता।

यदि पूर्वपक्षी 'त्वचा इन्द्रिय के विशेष अवयव से धूम के ज्ञान के समान रूपादिकों का ज्ञान हो जायगा। अर्थात् जिस प्रकार त्वचा इन्द्रिय का कोई एक विशेष अवयव चक्षु (आंख) में ही वर्तमान है जो धूम के स्पर्श का ग्रहण करता है, दूसरा श्रोत्रस्थान में वर्तमान, ग्रहण नहीं करता, इसी प्रकार एक त्वचा इन्द्रिय के ही विशेष (भिन्न २) अवयव हैं, जो रूप, शब्द आदि विषयों का ग्रहण करते हैं, जिनके नष्ट होने से अन्ध, वधिर आदि प्राणियों को रूप तथा शब्द का ज्ञान नहीं होता है'। ऐसा कहें तो व्याघात होने से यह एक इन्द्रिय होने का हेतु नहीं हो सकता। क्योंकि अभेद होने के कारण एक त्वचा ही इन्द्रिय संपूर्ण शरीर में है

धूमोपलब्धिवद्रूपाद्युपलब्धि' रित्युच्यते। एवं च सति नानाभूतानि विषयव्यवस्थानात् तद्भावे विषयग्रहणस्य भावात्तदुपघाते चाभावात्, तथा च पूर्वो वाद उत्तरेण वादेन व्याहन्यत इति।

सन्दिग्धश्चाव्यतिरेकः। पृथिव्यादिभिरपि भूतैरिन्द्रियाधिष्ठानानि व्याप्तानि, न च तेष्वसत्सु विषयग्रहणं भवतीति। तस्मान्न त्वगन्यद्वा सर्वविषयमेकमिन्द्रियमिति ॥ ५३ ॥

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५४ ॥

आत्मा मनसा सम्बध्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं सर्वार्थैः सन्निकृष्टमिति, आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपद् ग्रहणानि स्युः। न च युगपद्रूपादयो

ऐसी प्रतिज्ञा कर, एक इन्द्रियवादी यह भी कहता है, कि त्वचा के विशेष (भिन्न-भिन्न) अवयवों से धूमज्ञान के समान रूपादि विषयों का ज्ञान होता है। ऐसा होने से रूपादि विषयों के जाननेवाले अनेक हैं, क्योंकि विषयों की व्यवस्था (नियम) है—कि चक्षुरूप त्वचा के अवयव के होने से, रूप विषय का ज्ञान होता है, और उसके नष्ट होने पर रूप का ज्ञान नहीं होता, अतः एक ही इन्द्रिय है। इसी प्रतिज्ञारूप वाद (कहना) उत्तर (आगे का) अपने २ विषयों के ज्ञान से भिन्न २ होना यह वाद (कहना) विरुद्ध है। अतः पूर्वपक्षी का एक इन्द्रियवाद असंगत है। (तथा संदिग्ध व्यतिरेकरूप असिद्ध हेतु भी है, इस आशय से भाष्यकार दूसरा दोष भी एक इन्द्रियवादी मत में होता है ऐसा दिखाते हैं कि)—इन्द्रियों का अभेद (एकता) में संदेह होने से यह संदिग्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि पृथ्वी, जल आदि भूतद्रव्यों से भी इन्द्रियों के स्थान चक्षु आदि व्याप्त हैं, और उसके न होने पर रूपादि विषयों का ज्ञान भी नहीं होता। इस कारण त्वचा अथवा दूसरा कोई ऐसा एक इन्द्रिय शरीर में नहीं है जिससे संपूर्ण रूपादि विषयों का ज्ञान हो सकता है अतः एक ही इन्द्रिय शरीर में मानना सर्वथा असंगत है ॥ ५३ ॥

इसी भाष्यकार के आशय का सूत्रकार के मत से एकइन्द्रियवाद का खण्डन करते हुए सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, युगपद् = एक काल में, अर्थानुपलब्धेः=अनेक विषयों का ज्ञान न होने के कारण ॥ ५४ ॥

भावार्थ—आत्मा का मनरूप इन्द्रिय के साथ, और मन को चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के साथ तथा बाह्येन्द्रियों को अपने २ सम्पूर्ण अर्थ (विषयों) के साथ संयोगादि रूप संनिकर्ष रूप संनिधान होते हैं—इस प्रकार आत्मा, बाह्य, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थों के संनिकर्षों रूप विषयों के रहने के कारण एक काल में विषयों के अनेक ज्ञान होने लगेंगे। किन्तु रूपादि विषयों का एक काल में ज्ञान नहीं होता, इस कारण एक ही त्वचारूप ऐसे सब बाह्यचक्षुआदि इन्द्रियों के साथ सम्पूर्ण रूपादि विषयों को जाननेवाला है यह नहीं हो सकता। और यदि एक ही साथ सम्पूर्ण विषयों के ज्ञानों का होना रूप साहचर्य माना जाय तो कोई संसार में अन्धा, तथा बधिरादि न हो सकेगा ॥ ५४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी व्याख्या में कहते हैं कि)—प्रथम जीवात्मा मन से सम्बन्ध करता है, पश्चात् मन बाह्येन्द्रिय से, और बाह्यचक्षुआदि इन्द्रिय अपने-अपने सम्पूर्ण रूपादि पदार्थों के साथ संयोगादि सम्बन्ध से संनिहित होते हैं—इस ज्ञान सामान्य के कारण आत्मा बाह्येन्द्रिय, मन तथा पदार्थों के संनिकर्षों के होने से एक काल में अनेक रूपादि विषयों का ज्ञान होने लगेगा।

गृह्णन्ते तस्मान्नैकमिन्द्रियं सर्वविषयमस्तीति । असाहचर्याच्च विषयग्रहणानां नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकं, साहचर्ये हि विषयग्रहणानामन्धाद्यनुपपत्तिरिति ॥५४॥

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५५ ॥

किन्तु रूपादि विषयों का एक काल में ज्ञान नहीं होता। इस कारण त्वचा ही एक रूपादि सम्पूर्ण विषयों का जाननेवाला इन्द्रिय है यह नहीं हो सकता। यदि एक काल में साथ ही सम्पूर्ण रूपादि विषयों के ज्ञान होते हैं, ऐसा माना जाय तो संसार में कोई अन्ध, वधिर आदि दुष्टइन्द्रियवाले न होंगे। (किन्तु भाष्यकार की इस व्याख्या को वार्तिककार नहीं मानते, क्योंकि—'जिस प्रकार त्वचारूप एक इन्द्रियवादी के मत से एक ही काल में अनेक रूप, रस, आदि विषयों के इन्द्रियों से संनिकर्ष होने के कारण एक काल में रूप, रस आदि विषयों के ज्ञान होने की आपत्ति आती है, इसी प्रकार अनेक इन्द्रियवादी के मत में भी एक ही चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों में से किसी एक से होनेवाले रूपादि विषयों के ज्ञान एक काल में होने लगेंगे, यह आपत्ति आ सकती है। इसका जो अनेक इन्द्रियवादी के मत से परिहार होगा वही एक इन्द्रियवादी के मत से भी हो सकेगा' ऐसी उन्होंने भाष्यकार के मत पर अश्रद्धा प्रगट की है)। ('वस्तुतः इस सूत्र में ज्ञानों का एक काल में न होना सूत्रकार को विवक्षित नहीं है किन्तु एक ही समय में पदार्थों का ज्ञान होना विवक्षित है' इस प्रकार परिशुद्धि में समालोचना उदयनाचार्य ने की है)। उपरोक्त भाष्यव्याख्या का खण्डन कर वार्तिककार ने सूत्र की ऐसी व्याख्या की है कि—जो एक इन्द्रिय रूपादि सम्पूर्ण विषयों को जानता है ऐसा एकेन्द्रियवादी समझता है वह एक इन्द्रिय विषय को प्राप्तकर उसको जानता है, अथवा नहीं ? यदि प्राप्तकर, तो वह क्या है ? यदि उसीको त्वचा कहो तो त्वचा से न प्राप्त किये रूपादिकों का ज्ञान न हो सकेगा। यदि बिना प्राप्ति का ही त्वचा रूप का ग्रहण करे तो स्पर्शादिकों का भी बिना प्राप्ति के ग्रहण करेगा। और यदि कुछ इन्द्रियों में विषय को प्राप्त कर जानना तथा कुछ इन्द्रियों में बिना प्राप्ति के विषय के जानना, माना जाय तो करण के धर्म का त्याग करना पड़ेगा। यदि उसका त्याग किया जाय तो क्या दोष होगा यही इस सूत्र का आशय है (अर्थात् जिस प्रकार अनेक इन्द्रियवादी के मत में एक इन्द्रिय से जानेवाले विषयों के एक काल में ज्ञान होने की आपत्ति में **'करण होने से'** यह परिहार करणधर्म को लेकर हो सकता है, वैसा एक इन्द्रियवादी के मत से नहीं हो सकता क्योंकि उस एक इन्द्रिय में हम करणधर्म से अधिकता मान सकते हैं ॥५४॥

त्वचारूप एक ही इन्द्रिय संपूर्ण शरीर में माननेवाले एकेन्द्रियवादी का मत असंगत है इसमें दूसरा हेतु सूत्र का सिद्धान्ती के मत से देते हैं—

पदपदार्थ—विप्रतिषेधात् च = व्याघातदोष होने से भी, न = नहीं हो सकती, त्वक् (त्वचा), एका = एक इन्द्रिय ॥ ५५ ॥

भावार्थ—त्वग् इन्द्रिय से रूपविषय की प्राप्ति न होकर (आँख से घटादिरूप के संयोग न होनेपर ही) रूप का ज्ञान होता है, इस प्रकार रूप प्राप्त न कर उसके ज्ञान के समान त्वचा से उष्ण आदि स्पर्शों की प्राप्ति (संयोग) न होनेपर ही उनका ज्ञान होने लगेगा। किन्तु त्वचा से उष्ण-स्पर्शादि प्राप्त होनेपर ही जाने जाते हैं, इसी प्रकार रूपादि गुणों का भी त्वचा से संबन्ध होनेपर ही (आँख से सटने पर ही) ज्ञान होने लगेगा। अतः इस विरोध के कारण त्वचा ही सम्पूर्ण शरीर में एक इन्द्रिय है यह पूर्वपक्षी का मत सर्वथा असंगत है ॥ ५५ ॥

न खलु त्वगेकमिन्द्रियं व्याघातात्। त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि गृह्यन्त इति। अप्राप्यकारित्वे स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः। स्पर्शादीनां च प्राप्तानां ग्रहणाद्रूपादीनां प्राप्तानां ग्रहणमिति प्राप्तम्।

प्राप्याप्राप्यकारित्वमिति चेत्? आवरणानुपपत्तेर्विषयमात्रस्य ग्रहणम्। अथापि मन्येत प्राप्ताः स्पर्शादयस्त्वचा गृह्यन्ते रूपाणि त्वप्राप्तानीति? एवं सति नास्त्यावरणम्, आवरणानुपपत्तेश्च रूपमात्रस्य ग्रहणं व्यवहितस्य चाव्यवहितस्य चेति। दूरान्तिकानुविधानं च रूपोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात्। अप्राप्तं त्वचा गृह्यते रूपमिति दूरे रूपस्याग्रहणमन्तिके च ग्रहणमित्येतन्न स्यादिति॥ ५५॥

एकत्वप्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते—

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—एक त्वचा नामक हीं इन्द्रिय है यह व्याघात (विरोध) आने के कारण नहीं हो सकता। क्योंकि त्वचा इन्द्रिय से (आँख से) प्राप्त न होनेपर घटादि पदार्थ तथा उनके रूपों का ज्ञान नहीं होता है, इस कारण विना विषय को प्राप्त किये ज्ञान होने से अप्राप्यकारिता इन्द्रिय से सिद्ध होती है, जिसके मानने पर त्वचा इन्द्रिय से पदार्थ का सम्बन्ध न होनेपर ही उन पदार्थों के शीत, उष्ण आदि स्पर्शों का भी ज्ञान होने लगेगा। और त्वचा इन्द्रिय से सम्बन्ध होनेपर ही घटादि पदार्थों के स्पर्श का ज्ञान होता है, इसलिये रूपादि गुणों की भी चक्षु इन्द्रिय से सम्बन्ध होने (आँख से सटने) पर ही उनका ज्ञान होगा ऐसा प्राप्त होता है, अतः इस विरोध के आने के कारण त्वचा ही एक इन्द्रिय है यह नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'इस विरोध के परिहार के लिये हम इन्द्रियों को विषयों को प्राप्तकर ग्रहण करना तथा न प्राप्तकर ग्रहण करना इस प्रकार 'प्राप्याप्राप्यकारित्व' दोनों मानेंगे' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से विषय को न प्राप्तकर ज्ञान होने के कारण पूर्वोक्त भीत आदि रूप आवरण के न बन सकने के कारण सम्पूर्ण प्राप्त तथा अप्राप्त विषयों का इन्द्रियों से ज्ञान होने लगेगा। यदि पूर्वपक्षी ऐसा मानता हो कि—'त्वचा इन्द्रिय से पदार्थ का सम्बन्ध होने पर ही उसके उष्णादि स्पर्श का ज्ञान होता है और त्वचा का सम्बन्ध न रहते पदार्थों के रूपरसादि गुणों का ज्ञान होता है' तो यह भी मानना असंगत है, क्योंकि ऐसा मानने के पक्ष में पूर्वोक्त भीत का आवरण न हो सकेगा। जिसके न होने के कारण व्यवधान तथा व्यवधान के न रहते, सम्पूर्ण पदार्थों के रूप का ज्ञान होने लगेगा। तथा पदार्थ के दूर रहते उसके रूप की उपलब्धि नहीं होती, तथा समीप रहने पर रूप का ज्ञान होता है इस प्रकार दूर तथा समीप पदार्थ का होना रूप के ज्ञान तथा अज्ञान में होने में कारण होता है यह भी न बन सकेगा। तथा त्वचा से (आँख की त्वचा से) असम्बद्ध ही पदार्थ के रूप का ज्ञान होता है। इस कारण पदार्थ के दूर रहने पर रूप का ज्ञान न होना, और समीप रहते रूप का ज्ञान होना यह भी न हो सकेगा॥ ५५॥

(इस प्रकार इन्द्रिय के एकत्वमत का खण्डन करने से ही इन्द्रिय अनेक हैं यह सिद्ध करने के पश्चात् इन्द्रिय नाना है इस पक्ष की स्थापना में भी सूत्रकार की संमति दिखाते हुए भाष्यकार अवतरण में कहते हैं कि)—उक्त प्रकार से सिद्धान्तिमत से इन्द्रिय एक है इसका खण्डन करने से ही इन्द्रिय अनेक हैं यह सिद्ध होने पर इन्द्रिय नानात्व की स्थापना करने के लिये भी साधक हेतु का ग्रहण किया जाता है—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५६ ॥

अर्थः प्रयोजनं तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनेनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं गृह्यत इति रूपग्रहणप्रयोजनं चक्षुरनुमीयते। स्पर्शरूपग्रहणे च ताभ्यामेव न गन्धो गृह्यत इति गन्धग्रहणप्रयोजनं घ्राणमनुमीयते। त्रयाणां ग्रहणे न तैरेव रसो गृह्यते इति रसग्रहणप्रयोजनं रसनमनुमीयते। चतुर्णां ग्रहणे न तैरेव शब्दः श्रूयते इति शब्दग्रहणप्रयोजनं श्रोत्रमनुमीयते। एवमिन्द्रियप्रयोजनस्यानितरेतरसाधनसाध्यत्वात्पञ्चैवेन्द्रियाणि॥ ५६॥

पदपदार्थ—इन्द्रियार्थपंचत्वात् = चक्षु आदि पाँच बाह्येन्द्रियों से जानने योग्य रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के पाँच होने के कारण॥ ५६॥

भावार्थ—सूत्र में अर्थ शब्द का प्रयोजन अर्थ मानकर चक्षु आदि इन्द्रियों के मानने में उनका प्रयोजक पाँच प्रकार का है, इसीसे त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होने पर भी उससे रूप, रस आदि गुणों का ज्ञान नहीं होता इस कारण रूपादि ज्ञान होने के लिये बाकी के चक्षु आदि चार इन्द्रियों की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है, अतः अपने-अपने विषयों का जानना रूप पाँच प्रकार का प्रयोजन होने से वे बाह्य इन्द्रिय पाँच प्रकार (अनेक) हैं यह सिद्ध होता है। क्योंकि दूसरे के विषय को दूसरा इन्द्रिय नहीं जानता। यहाँ भाष्य के उपरोक्त अवतरण में दो प्रकार से सम्बन्ध हो सकता है। (१) 'एकत्वप्रतिषेधात्' इसके पश्चात् 'नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरूपादीयते'—(२) अथवा प्रतिषेध हेतुओं से ही 'एकत्वप्रतिषेधात् एव' एकता के निषेध से ही, नानात्व सिद्ध होने पर शिष्यों को उपदेश करने के लिये इन्द्रियों के अनेकता की स्थापना के लिये हेतु सूत्र भी कहा जाता है। (यद्यपि इन्द्रियों के एकता के साधन का केवल खण्डन करने से एकता पक्ष नहीं हट सकता, तथापि जहाँ पर दूसरे के साध्य की निवृत्ति होना ही साध्य किया जाता है, वहाँ उसके विपरीतपक्ष की सिद्धि होती है। यही यहाँ भाष्यकार का आशय है। अतः एक शरीर में एक ही इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि एक काल में रूपादि अनेक विषयों के समीप रहने पर भी क्रम से विषयों का ज्ञान होता है—और जब कि त्वचा ही एक इन्द्रिय है तो अनेक विषयों के समीप रहने पर भी क्रम से ज्ञान नहीं हो सकता, जैसे चक्षुइन्द्रिय, वैसे ही यह त्वचा भी इन्द्रिय है अतः वह एक ही इन्द्रिय है यह कहना असंगत है, ऐसी परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने समालोचना की है।

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के अर्थ शब्द का अर्थ है प्रयोजन—वह प्रयोजन चक्षु आदि इन्द्रियों का पाँच प्रकार का है। क्योंकि स्पर्शन (त्वचा) इन्द्रिय से स्पर्शगुण का ज्ञान होता है किन्तु उसीसे रूपगुण का ज्ञान नहीं होना, इस कारण रूप के ज्ञान होनेरूप प्रयोजनवाले चक्षुइन्द्रिय की अनुमान से सिद्धि होती है। त्वचा से स्पर्श तथा चक्षु से रूपगुण का ज्ञान होने पर भी उन्हीं दोनों से गन्धगुण का ज्ञान नहीं होता इस कारण गन्धज्ञानरूप प्रयोजन होने से घ्राण इन्द्रिय की अनुमान से सिद्धि होती है। तथा त्वचा से स्पर्श, चक्षु से रूप एवं घ्राणइन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होने पर भी इन्हीं तीन इन्द्रियों से मधुरादि रस का ज्ञान नहीं होगा इस कारण रसके ज्ञानरूप प्रयोजन से रसन (जिह्वा) नामक इन्द्रिय की अनुमान से सिद्धि होती है। इस प्रकार स्पर्श, रूप, गन्ध तथा रस इन चार गुणों का त्वचा आदि चार बाह्येन्द्रियों से ज्ञान होने पर भी इन्हीं चार इन्द्रियों से शब्दगुण का ज्ञान नहीं होता, अर्थात् शब्द त्वचादि इन्द्रियों से नहीं सुनाई देता इस कारण शब्दज्ञानरूप प्रयोजन से श्रोत्र नामक

न, तदर्थबहुत्वात् ॥ ५७ ॥

न खल्विन्द्रियार्थपञ्चत्वात्पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्ध्यति। कस्मात्? तेषामर्थानां बहुत्वात्। बहवः खल्विमे इन्द्रियार्थाः, स्पर्शास्तावच्छीतोष्णानुष्णशीता इति। रूपाणि शुक्लहरितादीनि। गन्धा इष्टानिष्टोपेक्षणीयाः। रसाः कटुकादयः। शब्दा वर्णात्मानो ध्वनिमात्राश्च भिन्नाः। तद्यस्येन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि तस्येन्द्रियार्थबहुत्वाद्बहूनि इन्द्रियाणि प्रसज्यन्त इति ॥ ५७ ॥

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥

इन्द्रिय अनुमान से सिद्ध होता है। इस कारण उन-उन इन्द्रियों का प्रयोजन (कार्य) अपने-अपने विषयों का ज्ञान दूसरे इन्द्रियों से न होने के कारण चक्षु आदि पाँच ही इन्द्रिय अनेक हैं यह सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥

इन्द्रियों की पाँच प्रकाररूप अनेकता को न माननेवाले पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—न = ऐसी पाँच प्रकार से इन्द्रिय की अनेकता नहीं हो सकती, तदर्थबहुत्वात् = इन्द्रियों के विषय पदार्थों के अनेक (बहुत) होने से ॥ ५७ ॥

भावार्थ—उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत, आदि अनेक प्रकार के स्पर्शगुणों के, तथा शुक्ल, नील, हरित, आदि अनेक रूपगुणों के, तथा कटु, कषाय, मधुर, आदि अनेक रसों के, एवं सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि गन्धगुणों के तथा वर्णरूप एवं ध्वनिरूप अनेक शब्दगुणों के भी होने के कारण चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों के उपरोक्त बहुत से अर्थ (विषयों) के होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों की अनेकता ही सिद्ध होगी नकि पाँच प्रकार के इन्द्रिय होना सिद्ध हो सकेगा, अतः सिद्धान्ती का चक्षुरादि पाँच प्रकार के ही अनेक इन्द्रिय हैं यह कहना असंगत है ॥ ५७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—रूप, रस आदि पाँच ही विषयों का ग्रहण होने के कारण चक्षु से श्रोत तक पाँच ही इन्द्रिय हैं यह सिद्ध नहीं हो सकता। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण करनेयोग्य अर्थों के बहुत होने से। क्योंकि यह चक्षुतादि बाह्येन्द्रियों से जानने योग्य विषय (अर्थ) बहुत से हैं। जैसे शीत, एवं अनुष्णाशीत ऐसे अनेक स्पर्शगुण हैं, जिनका त्वचा से ज्ञान होता है। तथा शुक्ल, नील, हरित, आदि सात प्रकार के रूप गुण हैं, जिसका चक्षु से ज्ञान होता है। एवं सुखजनक होने से प्रियसुगन्ध, तथा दुःखजनक होने से अप्रिय दुर्गन्ध, तथा उपेक्षा करने योग्य गन्ध ऐसे अनेक गन्ध गुण हैं जिनका घ्राणेन्द्रिय से ज्ञान होता है। तथा कटु, कषाय, अम्ल, मधुर आदि छ प्रकार के रस गुण हैं जिनका रसन (जिह्वा) इन्द्रिय से स्वाद लिया जाता है। एवं आकारादि रूप वर्ण नामक तथा ध्वनि (आवाज) नामक भिन्न-भिन्न शब्दगुण हैं जिनका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है। इस कारण जिस सिद्धान्ती के मत में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, तथा शब्द ऐसे पाँच गुणरूप अर्थ चक्षु आदि पाँच बाह्येन्द्रियों से जाने जाते हैं, इस कारण पाँच बाह्येन्द्रिय हैं यह माना जाता है उसीको उपरोक्त प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रियों से जानने योग्य बहुत से अर्थ (विषय) होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रिय बहुत हैं यह भी मानना होगा ॥ ५७ ॥

(उपरोक्त आक्षेप का समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं कि)—

पदपदार्थ—गन्धत्वाद्यव्यतिरेकात् = सुगन्ध आदि अनेक गन्धादि गुणों में गन्धत्व आदि जाति

गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्थानां गन्धादीनां यानि गन्धादिग्रहणानि तान्यसमानसाधनसाध्यत्वात् ग्राहकान्तराणि न प्रयोजयन्ति । अर्थसमूहोऽनुमानमुक्तो नार्थैकदेशः । अर्थैकदेशं चाश्रित्य विषयपञ्चत्वमात्रं भवान् प्रतिषेधति तस्मादयुक्तोऽयं प्रतिषेध इति ।

कथं पुनर्गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादय इति ? स्पर्शः खल्वयं त्रिविधः शीत उष्णोऽनुष्णाशीतश्च स्पर्शत्वेन स्वसामान्येन सङ्गृहीतः । गृह्यमाणे च शीतस्पर्शे नोष्णस्यानुष्णाशीतस्य वा स्पर्शस्य ग्रहणं ग्राहकान्तरं प्रयोजयन्ति स्पर्शभेदानामेकसाधनसाध्यत्वाद् येनैव शीतस्पर्शो गृह्यते तेनैवे-

---

का अभाव न होने के कारण, गन्धादीनां = गन्ध, रूप, आदि पाँच गुणों का, अप्रतिषेधः = पाँच गुणरूप अर्थों का निषेध नहीं हो सकता ॥ ५८ ॥

भावार्थ—गन्धत्व, रूपत्व, रसत्व आदि जातियों का सम्पूर्ण बहुत से सुगन्ध आदि गुणों की व्यवस्था होने के कारण जो गन्धादि गुणों का घ्राणेन्द्रिय आदि पाँच बाह्येन्द्रियों से ज्ञान होता है वह सम्पूर्ण बहुत से गन्धादि गुणों का घ्राण आदि पाँच ही इन्द्रियों से ज्ञान होने के कारण पाँच ही विषय रूपादिक हैं और उनके ग्रहण करनेवाले पाँच ही अनेक इन्द्रिय भी हैं, यह सिद्ध होता है क्योंकि किसी भी विशेष गन्धादि गुणों के जानने के लिये घ्राणादि पाँच इन्द्रियों को छोड़कर दूसरे इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती ॥ ५८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—गन्ध आदि गुणों में रहनेवाली गन्धत्वादि रूप अपनी-अपनी जातियों से सम्पूर्ण बहुत से गन्ध आदि गुणों का ज्ञान घ्राणेन्द्रियादिकों से ही होता है, इस नियम से सम्बन्ध रखनेवाले गन्धादिकों का जो केवल घ्राणेन्द्रियादिकों से ही ज्ञान होता है, उन पाँच गन्धादि गुणों का ज्ञान एक ही इन्द्रियरूप साधन (कारण) से न होने के कारण घ्राण, चक्षु आदि पाँच इन्द्रिय पाँच रूप आदि विषयों के ज्ञान पृथक्-पृथक् होने से पाँच इन्द्रिय हैं यह सिद्ध होता है । इसमें गन्धादि गुणों का समुदाय अर्थात् सभी प्रकार के गन्धों का घ्राणेन्द्रिय से ही ज्ञान होता है यह अनुमानप्रमाण से उपरोक्त नियम से सिद्ध होता है, नकि पृथक् गन्धादिकों के ज्ञान के लिये भिन्न-भिन्न इन्द्रिय मानना । और पूर्वपक्षी के तो गन्धत्वादि जातियुक्त सुगन्ध आदि गुण से एक-एक गन्धगुण को लेकर उनके ग्रहण करनेवाले पृथक्-पृथक् इन्द्रिय बहुत से हो सकते हैं, ऐसा मानकर गन्धादि विषयों को पाँच प्रकार के होने का निषेध किया है, इस कारण यह निषेध अयुक्त है, क्योंकि गन्धत्वादि जातिवाले बहुत से गन्धादि गुणरूप अर्थ के ज्ञान के लिये पाँच घ्राणादि इन्द्रिय ही आवश्यक हैं, नकि प्रत्येक गन्ध आदि अर्थज्ञान के लिये भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की । यदि पूर्वपक्षी ऐसा प्रश्न करे कि—'गन्ध आदि गुणों की अपनी-अपनी गन्धत्वादि गुणों की जातियों से अनेक गन्ध आदि गुणों की व्यवस्था किस प्रकार है' तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे शीत, उष्ण एवं अनुष्णाशीतस्पर्शरूप तीनों गुणों में वर्तमान अपनी स्पर्शत्वजाति से तीनों प्रकार के स्पर्शगुणों का संग्रह होता है । स्पर्शन (त्वचा) इन्द्रिय से शीतस्पर्श का ज्ञान होता है वैसे ही उष्ण, एवं अनुष्णाशीतस्पर्श का भी होता है, इस कारण उष्ण एवं अनुष्णाशीतस्पर्श का ज्ञान त्वचा से भिन्न दूसरे इन्द्रियरूप ग्राहक (ग्रहण करनेवाले) की सिद्धि नहीं कर सकता । क्योंकि जितने स्पर्शगुण के विशेष भेद हैं वे सम्पूर्ण एक ही साधन (इन्द्रिय) से सिद्ध होते हैं, कारण यह कि जिस त्वचा से शीतस्पर्श का ज्ञान होता है, उसीसे दूसरे उष्ण एवं

तरावपीति। एवं गन्धत्वेन गन्धानां, रूपत्वेन रूपाणां, रसत्वेन रसानां, शब्दत्वेन शब्दानामिति। गन्धादिग्रहणानि पुनरसमानसाधनसाध्यत्वाद् ग्राहकान्तराणां प्रयोजकानि। तस्मादुपपन्नमिन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति ॥ ५८ ॥

यदि सामान्यं सङ्ग्राहकं, प्राप्तमिन्द्रियाणाम्—

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ५९ ॥

विषयत्वेन हि सामान्येन गन्धादयः सङ्गृहीता इति ॥ ५९ ॥

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥ ६० ॥

अनुष्णाशीत दोनों स्पर्शों का भी ज्ञान होता है। इसी प्रकार गन्धत्वजाति से सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि गन्धविशेषों का, तथा रूपत्वजाति से शुक्ल, नील, आदि सम्पूर्ण रूपविशेषों का एवं रसत्वजाति से मधुर, अम्ल, कटु आदि सम्पूर्ण रसविशेषों का, तथा शब्दत्व जाति से वर्ण एवं ध्वनिरूप सम्पूर्ण शब्दविशेषों का भी संग्रह हो जाता है, अतः पाँच ही विषय होने से पाँच ही बाह्येन्द्रिय हैं। किन्तु गन्ध, रूप, रस, स्पर्श तथा शब्द का ज्ञान एक प्रकार के साधन (एक ही इन्द्रिय) से नहीं होता इस कारण इन पाँच गुणों के ज्ञान होने के लिये पाँच (ग्राहक) ग्रहण करनेवाले इन्द्रियों की आवश्यकता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि रूप, रसादि पाँच बाह्य भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान होने के लिये पाँच चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय हैं ॥ ५८ ॥

सिद्धान्ती ने गन्धत्वादि जातियों को लेकर अनेक गन्धादि गुणों का संग्रह जो माना है उस पर समानरूप से आक्षेप दिखानेवाले पूर्वपक्ष सूत्र का पूर्वपक्षमत से अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'यदि गन्धत्वादि जाति अनेक गन्धादि गुणों का संग्रह करती है, तो प्राप्त होती है इन्द्रियों की'—

पदपदार्थ—विषयत्वाव्यतिरेकात = सम्पूर्ण गन्धादि विषयों में विषयत्व नामक जाति का अभाव न होने से, एकत्वम् = एक होना ॥ ५९ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती गन्धत्वादि पाँच जातियों के कारण सम्पूर्ण गन्धादि गुणों का संग्रह कर पाँच प्रकार के विषयों के कारण चक्षु आदि पाँच बाह्येन्द्रिय मानता है, तो विषयत्व नामक जाति से सम्पूर्ण गन्धादि गुणों का संग्रह होने में कारण सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करनेवाला एक त्वचा ही इन्द्रिय है ऐसा सिद्ध हो जायगा, जिससे पाँच बाह्येन्द्रिय हैं यह सिद्ध न हो सकेगा ॥ ५९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी व्याख्या करते हैं कि)—विषयत्व नामक जाति से सम्पूर्ण गन्धादि गुणों का संग्रह हो जाता है। इस कारण एक इन्द्रिय मानना युक्त होगा, नकि पाँच इन्द्रिय मानना ॥ ५९ ॥

इस प्रकार से पुनः एक इन्द्रिय मानना ही युक्त है इस आक्षेप का सूत्रकार समाधान करते हैं—

पदपदार्थ—न = एक इन्द्रिय नहीं हो सकता, बुद्धि० = बुद्धि (ज्ञान) लक्षण (रूप) अधिष्ठान (आश्रय) गति (गमन रूप क्रिया), आकार इनके लक्षणादि पाँच होने से ॥ ६० ॥

भावार्थ—विषयत्व जाति को लेकर व्यवस्था आदि होने से संसार के सम्पूर्ण विषयों की व्यवस्था को मानकर दूसरे इन्द्रिय की आवश्यकता न रखते हुए एक ही इन्द्रिय से सम्पूर्ण संसार के पदार्थों का ज्ञान होता है, ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं होता, किन्तु गन्धत्वादि पाँच जातियों को लेकर सम्पूर्ण गन्धादि पाँच विषयों के चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों से ज्ञान होने के कारण

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राहकान्तरनिपेक्षा एकसाधनग्राह्या अनुमीयन्ते, अनुमीयन्ते च पञ्च गन्धादयो गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था इन्द्रियान्तरग्राह्यास्तस्मादसम्बद्धमेतत्। अयमेव चार्थोऽनूद्यते बुद्धिलक्षणपञ्चत्वादिति। बुद्धय एव लक्षणानि विषयग्रहणलिङ्गत्वादिन्द्रियाणाम्, तदेत'दिन्द्रियार्थपञ्चत्वादि'त्येतस्मिन् सूत्रे कृतभाष्यमिति। तस्माद् बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात्पञ्चेन्द्रियाणि।

अधिष्ठानान्यपि खलु पञ्चेन्द्रियाणाम्, सर्वशरीराधिष्ठानं स्पर्शनं स्पर्शग्रहणलिङ्गं, कृष्णताराधिष्ठानं चक्षुर्बहिर्निःसृतं रूपग्रहणलिङ्गम्, नासाधिष्ठानं घ्राणम्, जिह्वाधिष्ठानं रसनम्, कर्णच्छिद्राधिष्ठानं श्रोत्रम्, गन्धरसरूपस्पर्शशब्दग्रहणलिङ्गत्वादिति।

व्यवस्था होने से ये पाँच गन्धादि गुण दूसरे-दूसरे इन्द्रियों से (पाँच इन्द्रियों से) ज्ञान होता है, इस कारण पाँच इन्द्रिय मानना ही युक्त है नकि एक इन्द्रिय मानना, इसी विषय में सूत्रकार ने सूत्र में चक्षु आदि पाँच इन्द्रिय सिद्ध करने के लिये बुद्धि (विषयज्ञान) स्वरूप १, आधार २, गतिक्रिया ३, आकार और ४ जाति इनका भेदसाधक हेतु दिया है, जिससे पाँच चक्षुरादि इन्द्रिय सिद्ध होते हैं नकि एक ही इन्द्रिय ॥ ६० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सम्पूर्ण संसार के विषयों में वर्तमान विषयत्व जाति से सम्पूर्ण संसार के विषयों का एक ही इन्द्रिय से ज्ञान होने की व्यवस्थावाले सम्पूर्ण संसार के विषय दूसरे इन्द्रियों की आवश्यकता न रखने के कारण एक ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु गन्धत्वादि पाँच विरुद्ध जातियों से अपने-अपने सम्पूर्ण गन्धादि विषयों का पृथक्-पृथक् पाँच चक्षुरादि इन्द्रियों से ज्ञान होता है ऐसी व्यवस्था के होने के कारण गन्ध, रूप, आदि पाँच विषय भिन्न-भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियों से जाने जाते हैं यही अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है, इस कारण सम्पूर्ण संसार के विषयों का एक ही इन्द्रिय से ग्रहण होता है यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत है। इसी विषय का सूत्रकार ने **'ज्ञानस्वरूप आदि के पाँच होने से'** ऐसे पाँच इन्द्रिय सिद्ध करने के लिये चक्षु सूत्र में हेतु दिये हैं। अर्थात् रूपादि विषयों के ज्ञानस्वरूप १, क्योंकि रूपादि पाँच विषयों का ज्ञान होना ही चक्षु आदि इन्द्रियों की सिद्धि का साधक होता है। वह यह विषय **'इन्द्रियार्थ पंचत्वाद्'** इन्द्रियों के विषयों के पाँच होने से, इस ५६वें सूत्र में भाष्यकार ने स्पष्ट किया है। इस कारण गन्धादि ज्ञानों का स्वरूप पाँच प्रकार का होने से चक्षु आदि पाँच बाह्येन्द्रिय हैं यह सिद्ध होता है। (२) इसी प्रकार इन्द्रियों के पाँच आधार होने से भी बाह्य इन्द्रिय पाँच हैं यह सिद्ध होता है। क्योंकि सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान तथा जिसके उष्ण आदि स्पर्श के ज्ञान से सिद्धि होती है ऐसा स्पर्शन (त्वचा) नामक इन्द्रिय का सम्पूर्ण शरीर आधार है। एवं आँख की पुतली से बाहर निकला हुआ चक्षु नामक इन्द्रिय, जिसकी रूप के ज्ञान से सिद्धि होती है वह आँख की काली पुतलीरूप आधार में रहता है। तथा गन्धज्ञान से सिद्ध हुआ घ्राण नामक इन्द्रिय नासिकारूप आधार में, और रस के ज्ञान से सिद्ध हुआ रसन नामक इन्द्रिय जिह्वारूप आधार में, एवं शब्द के सुनाई पड़ने से सिद्ध होनेवाला श्रोत्र नामक इन्द्रिय कर्ण के छिद्ररूप आधार में रहता है—इस प्रकार घ्राण आदि पाँच बाह्य इन्द्रिय हैं यह आधार के भेद से सिद्ध होता है, जिसे पाँच इन्द्रियों

गतिभेदादपीन्द्रियभेदः । कृष्णसारोपनिबद्धं चक्षुर्बहिर्निःसृत्य रूपाधिकरणानि द्रव्याणि प्राप्नोति । स्पर्शनादीनि त्विन्द्रियाणि विषया एवाश्रयोपसर्पणात्प्रत्यासीदन्ति । सन्तानवृत्त्या शब्दस्य श्रोत्रप्रत्यासत्तिरिति ।

आकृतिः खलु परिमाणमियत्ता सा पञ्चधा । स्वस्थानमात्राणि घ्राणरसनस्पर्शनानि विषयग्रहणेनानुमेयानि । चक्षुः कृष्णसाराश्रयं बहिर्निःसृतं विषयव्यापि । श्रोत्रं नान्यदाकाशात्, तच्च विभु शब्दमात्रानुभवानुमेयं पुरुषसंस्कारोपग्रहणाच्चाधिष्ठाननियमेन शब्दस्य व्यञ्जकमिति ।

जातिरिति योनिं प्रचक्षते । पञ्च खल्विन्द्रिययोनयः पृथिव्यादीनि भूतानि, तस्मात्प्रकृतिपञ्चत्वादपि पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥ ६० ॥

कथं पुनर्ज्ञायते भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति ?—

की उपरोक्त प्रकार से अपने-अपने गन्धादि पाँच विषयों के ज्ञान होने के कारण अनुमान से सिद्धि मानी है । (बुद्धि तथा आश्रय के भेद से इन्द्रियों का भेद दिखाने के पश्चात् गति (सम्बन्ध) के भेद से भी बाह्येन्द्रियों का पाँच भेद है यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—गति के भेद से भी इन्द्रियों का भेद होता है, क्योंकि कृष्णसार (आँख की पुतली) से सम्बन्ध रखनेवाला चक्षुइन्द्रिय किरण द्वारा बाहर निकल कर उद्भूतरूप के आश्रय होने से प्रत्यक्षयोग्य पृथिवी आदि द्रव्यों को प्राप्त करता है । और स्पर्शन (त्वचा), आदि इन्द्रियों में तो स्पर्श आदि विषय ही उनके आधार द्रव्यों के समीप पहुँचने से उष्णस्पर्श आदि गुणों का ज्ञान होता है, अर्थात् शीत आदि पदार्थ तो त्वचा आदि इन्द्रियों के समीप पहुँचने से स्पर्शादिकों का ज्ञान कराते हैं । और शब्द तो वाक्यों में या मुख में उत्पन्न होकर शब्द की धारा के द्वारा कर्ण के पास पहुँच कर कर्ण से सुनाई पड़ता है । (सूत्र के आकृतिपद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आकार से भी बाह्येन्द्रियों का पाँच भेद है, यह सिद्ध करते हुए आगे कहते हैं कि)—परिमाण अर्थात् इयत्ता (इतना बड़ा होना) आकार कहाता है । वह पाँचो इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न है । क्योंकि घ्राण, रसन, तथा स्पर्शन (त्वचा) में तीन इन्द्रिय केवल अपने स्थान के परिमाण के हैं जिनकी गन्ध, रस, तथा स्पर्श के ज्ञान से अनुमान द्वारा सिद्धि होती है । और चक्षुइन्द्रिय आँख की पुतली में रहता हुआ भी अपने किरणों के द्वारा बाहर निकल कर रूपादि अपने विषयों में व्याप्त हो उनका ग्रहण करता है । श्रोत्र नामक इन्द्रिय तो आकाश से भिन्न नहीं है । और वह व्यापक है, जिसकी कर्ण से सम्पूर्ण प्रकार के शब्दों के सुनाई देने से अनुमान द्वारा सिद्धि होती है, और जीवात्माओं के धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट के कारण किसी को शब्द सुनाई देता है तो, किसी (बहिरे) को नहीं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्बन्ध के कारण आकाशस्वरूप श्रोत्ररूप आश्रय के नियम से शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय ग्रहण कराता है । (आगे जाति शब्द का अर्थ दिखाते हुए भाष्यकार जातिभेद भी इन्द्रियों का भेद सिद्ध करता है यह कहते हैं कि)—सूत्र में जाति शब्द का अर्थ है योनि (कारण) । घ्राण, रसन, चक्षु, स्पर्शन, त्वचा, तथा श्रोत्र इन पाँच बाह्येन्द्रियों के क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ऐसे पाँच भूतपदार्थ कारण हैं इस कारण प्रकृति (कारणों के) पाँच होने से भी बाह्येन्द्रिय पाँच हैं यह सिद्ध होता है । अतः पूर्वपक्षी का एक इन्द्रियवाद असंगत है ॥ ६० ॥

सिद्धान्ती के मत से बाह्येन्द्रियों में भौतिकता सिद्ध करनेवाले सूत्र का अवतरण देते हुए इन्द्रियों में आहंकारिकता माननेवाले सांख्यमत से प्रश्न दिखाते हैं कि—(प्रश्न)—बाह्येन्द्रिय

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६१ ॥

दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः। वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जिकाः, तेजो रूपव्यञ्जकम्, पार्थिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्यचिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम्। अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति ॥ ६१ ॥

इति दशभिः सूत्रैरिन्द्रियनानात्वप्रकरणम् ॥ ८ ॥

अव्यक्त से (अहंकार से) उत्पन्न नहीं हैं, किन्तु पृथिवी आदि भूतद्रव्य से उत्पन्न हैं यह कैसे जाना जाता है ?—(उत्तर)—

पदपदार्थ—भूतगुणविशेषोपलब्धेः = पृथिवी आदि भूतद्रव्यों के गन्ध आदि विशेष गुणों का ज्ञान होने से, तादात्म्यम् = पृथिवी आदि द्रव्यों का घ्राण आदि इन्द्रियों से भेद नहीं है ॥ ६१ ॥

भावार्थ—वायु आदि भूतद्रव्यों का स्पर्श आदि विशेष गुणों को प्रकाशित करना ऐसा गुणविशेष को प्रगट करने का नियम देखने में आना है, इस कारण यह सिद्ध होता है कि बाह्येन्द्रिय भौतिक हैं नकि आहंकारिक ॥ ६१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—वायु, जल, आदि भूतद्रव्यों का स्पर्श आदि अपने-अपने गुणविशेषों को प्रकाशित करने का नियम देखने में आता है। क्योंकि वायु नामक द्रव्य ही उष्ण, शीत, आदि स्पर्श को ही प्रगट करता है। जल नामक द्रव्य मधुर आदि रसों को ही प्रगट करते हैं। तेज नामक द्रव्य शुक्ल नील आदि रूपों को ही प्रगट करता है। कोई पार्थिव द्रव्य ही किसी पुष्पादिक द्रव्यों के गन्ध ही को प्रगट करता है। और चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों का भी रूप आदि विशेष गुणों को जानने का ही नियम है। इस कारण उपरोक्त विशेष भूतद्रव्यों के ज्ञान होने का नियम होने से हम यह समझते हैं कि बाह्य चक्षु आदि पाँचो द्रव्य पृथिवी आदि द्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण भौतिक हैं नकि अहंकार से उत्पन्न। (अर्थात् घ्राण इन्द्रिय, पार्थिव द्रव्य है, रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्शगुणों में से नियम से गन्ध ही का ज्ञान कराता है यह नियम है। इसी प्रकार और इन्द्रियों में, अपने-अपने विषय के ज्ञान का नियम होने से वे भी भौतिक हैं यह सिद्ध होता है। इन पाँच इन्द्रियों के लक्षणों से यह भी सूचित होता है कि हस्त, पाद, पायु (गुदा) उपस्थ (शिश्न इन्द्रिय) तथा वाक् ऐसे पाँच कर्मेन्द्रिय भिन्न इन्द्रिय नहीं हैं। क्योंकि जो शरीर में संयुक्त होता हुआ संस्कार तथा दोषों से भिन्न साक्षात् ज्ञानजनक होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं ऐसा इन्द्रियों का लक्षण है, यह लक्षण हस्त आदि कर्मेन्द्रियों में नहीं है। यदि 'शरीर में रहता हुआ विशेष कार्यों को करनेवाला इन्द्रिय कहाता है' ऐसा लक्षण करो तो वह हस्तादिकों का विशेष कार्य क्या है सो पूर्वपक्षी बतलावे। यदि बोलना, लेना, चलना, फिरना, मलमूत्र त्याग. एवं विषय सुखभोग क्रम से वाणी आदिकों का विशेष कार्य कहो तो, मुख से भी हस्त के समान लेना इत्यादि हो सकने से यह उनका विशेष कार्य नहीं कहा जा सकता। तथा कण्ठ, हृदय, आमाशय, पक्वाशय इत्यादिक के भी निगलना, इत्यादि विशेष कार्य होने से ये ही इन्द्रिय कहे जायंगे। अतः पाँच ही बाह्येन्द्रिय हैं यह सिद्ध होता है ॥ ६१ ॥

गन्धादयः पृथिव्यादिगुणा इत्युद्दिष्टम् उद्देशश्च पृथिव्यादीनामेकगुणत्वे चानेकगुणत्वे समान इत्यत आह—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥ ६२ ॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६३ ॥

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः। *आकाशस्योत्तरः शब्दः स्पर्शप-*

---

(९) अर्थ के परीक्षा का प्रकरण

(क्रमप्राप्त अर्थ नामक प्रमेयपदार्थ की परीक्षा करने की इच्छा से प्रथम अध्याय के प्रथमाह्निक के **'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः'** इस १४ वें सूत्र को स्मरण कराते हुए भाष्यकार आगे के सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—(इस अर्थपदार्थ की परीक्षा का फल है इन्द्रियों के अनेकता का सिद्ध होना, तथा पृथिवी आदि द्रव्यों के लक्षणों की असिद्धि का परिहार भी होना। यदि समुच्चय मानें तो इन्द्रियों की पाँच संख्या सिद्ध न होगी।) कि पृथिवी आदि द्रव्यों के गन्ध आदि गुणों का उपरोक्त सूत्र में लक्षण कहा गया है। (उद्देश तो सम्पूर्ण षोडश पदार्थों का प्रथम सूत्र में ही किया गया है।) और उद्देश पृथिवी आदि द्रव्यों के एक-एक गंधादि गुण मानने तथा गन्ध, रूप आदि अनेक गुणों के मानने पर भी समान ही है। (अर्थात् नियोग १, विकल्प २ तथा समुदाय ३, तीनों पक्षों में समान है। उसमें से (१) नियोग (नियम) पक्ष में घ्राणादिकों में एक-एक गन्धादिकों का ही पृथिवी आदिकों में एक ही गन्ध विषय है ऐसा प्राप्त होता है। (२) दूसरे विकल्पपक्ष में किसी पृथिवी आदि का एक गन्ध विषय है, किसी के दो इत्यादि ऐसा प्राप्त होता है। (३) समुदायपक्ष में पृथिवी आदि सम्पूर्ण द्रव्यों में सम्पूर्ण गन्धादि विषय हैं ऐसा प्राप्त होता है। इस कारण उपरोक्त **'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः'** इस सूत्र के वाक्य का नियोग (नियम), विकल्प अथवा समुदाय कहता है ऐसा संशय होता है। अथवा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दों में ही गुण होने का संदेह होता है। क्योंकि कुछ गुण संपूर्ण द्रव्यों में साधारण, तथा प्रत्येक व्यक्तियों में वर्तमान विशेष भी होते हैं, यह देखने में आता है। इस संदेह के निरासार्थ सिद्धान्तिमत से नियम करने के लिये सूत्रकार दो सूत्रों में कहते हैं—

पदपदार्थ—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां = गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द गुणों में से, स्पर्शपर्यन्तः = गन्ध से लेकर स्पर्श तक, पृथिव्याः = पृथिवी द्रव्य के गुण हैं॥ अप्तेजोवायुनां = जल, तेज तथा वायुद्रव्यों के, पूर्वं पूर्वं = प्रथम-प्रथम को, अपोह्य = छोड़कर, आकाशस्य = आकाशद्रव्य का, उत्तरः = अन्तिम गुण है ॥ ६२–६३ ॥

भावार्थ—पृथिवी द्रव्य के गन्ध ले लेकर स्पर्शपर्यन्त चार गुण हैं, तथा जल, तेज और वायु नामक तीन द्रव्यों के गन्ध आदि प्रथम-प्रथम गुण को छोड़कर, (जैसे जल के रस, रूप और स्पर्श, एवं तेजद्रव्य के रूप और स्पर्श, तथा वायु का केवल स्पर्श गुण है) और आकाश द्रव्य का सबसे उत्तर (अन्तिम) शब्द नामक विशेष गुण है ऐसा नियम है यह सूत्रकार ने दो सूत्रों में सिद्ध किया है ॥ ६२–६३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्रों की व्याख्या करते हैं कि)—गन्ध इत्यादि सूत्र में **'स्पर्शपर्यन्तः'** इस प्रथमा विभक्ति पद का **'स्पर्शपर्यन्तानां'** ऐसा षष्ठी विभक्ति में विपरिणाम (बदल) करना (अर्थात् **'गन्ध'** इत्यादि प्रथम सूत्र में वर्तमान **'स्पर्शपर्यन्ताः'** इस पद में **'अप्'** इत्यादि आगे के सूत्र में ले जाना चाहिये, और उसमें **'स्पर्शपर्यन्तानां'** ऐसा षष्ठी विभक्ति

र्यन्तेभ्य इति। कथं तर्हि तरब्निर्देशः? स्वतन्त्रविनियोगसामर्थ्यात्। तेनोत्तरशब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते। उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति तन्त्रं वा स्पर्शस्य विवक्षितत्वात् स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्तदुत्तरः शब्द इति ॥ ६२–६३ ॥

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६४ ॥

नायं गुणनियोगः साधुः। कस्मात्? यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्म-

---

में प्रथमा पद को बदल देना चाहिये, जिससे स्पर्शपर्यन्त गन्धादि गुणों में गन्ध आदि पूर्व-पूर्व गुणों को छोड़कर जल, तेज, तथा वायु द्रव्यों के गुण हैं यह अर्थ होता है।) और आकाश द्रव्य का सबसे उत्तर (अन्तिम) शब्द विशेष गुण है यह दोनों सूत्रों का आशय है। (प्रश्न)—तो 'उत्तरः' इस पद में 'तरप्' प्रत्यय क्यों कहा जो न्यून का बोधक होता है? (उत्तर)—स्वतंत्र गौतम महर्षि सूत्रकार के 'तरप्' के विनियोग के सामर्थ्य से (प्रथमा विभक्ति से भी उस-उस अर्थ के बोध के सामर्थ्य से), 'वेद यद्वैदिकवचनं' इत्यादि स्मृति, तथा 'प्रत्यये बहुलं' इस व्याकरण के अनुशासन से 'तरप्' का प्रयोग करना सूत्रकार की इच्छा प्रकट करती है (इसी कारण 'सामर्थ्यात्' इस भाव के पंचमी विभक्ति का प्रयोजन दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस पंचमी विभक्ति के अन्त तक दूसरे अर्थ का लाभ होने के कारण 'उत्तर' यह शब्द 'पट' इस अर्थ को कहता है, यह जाना जाता है। क्योंकि सूत्र में गन्ध से लेकर शब्दपर्यन्त गुणों में से स्पर्श तक चार गुणों से 'पर' (आगे) शब्द गुण है, वह आकाश का गुण है। अथवा एक उक्ति से कथनरूप तंत्र ही इस विषय का साधक हो सकता है, क्योंकि स्पर्श के कहने को सूत्रकार की इच्छा है, अर्थात् स्पर्शपर्यन्त चार गुणों में जो सूत्र में कहे हैं उनमें जो भिन्न (अन्तिम) है उसके उत्तर शब्द गुण है इस कारण वह आकाश का गुण है (अर्थात् गंधादिकों से पर स्पर्श है, और स्पर्श से यह (शब्द) पर है, ऐसा कहना ही सूत्र के 'उत्तर' शब्द का अर्थ है) ॥ ६२–६३ ॥

(सिद्धान्ती का उपरोक्त कहना असंगत है, क्योंकि एक-एक पृथिव्यादि गुणों का एक-एक गन्धादि ही गुण हो सकता है) इस आशय से पूर्वपक्षिमत का सूत्र सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = सिद्धान्ती का गुण नियम युक्त नहीं है, सर्वगुणानुपलब्धेः = संपूर्ण सिद्धान्ती के माने हुए पृथिव्यादिकों के गुणों का इन्द्रियों से ज्ञान न होने के कारण ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जिस भूत पृथिवी आदि के जितने सिद्धान्ती ने गुण माने हैं उन संपूर्णों का ज्ञान उक्त भूतरूप घ्राणइन्द्रिय से नहीं होता, अर्थात् पार्थिव घ्राणइन्द्रिय से रूप, रस, तथा स्पर्शगुण का ज्ञान नहीं होता, किन्तु केवल एक गन्धगुण का ही ज्ञान होता है, इसी प्रकार और भी जलादिकों में भी स्वयं जान लेना चाहिये, अतः सिद्धान्ती का माना हुआ पृथिवी आदिकों का गुणों का नियम असंगत है ॥ ६४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उपरोक्त सिद्धान्ती का माना हुआ पृथिवी आदि पंचभूत द्रव्यों के गुणों का नियम युक्त नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—जिस पृथिवी आदि भूतद्रव्य के सिद्धान्ती के माने हुए गन्धादि गुण हैं उन सबका उस-उस पार्थिवजातीय आदि घ्राण, रसन इन्द्रियों से उन संपूर्ण गुणों का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि पार्थिव

केनेन्द्रियेण सर्वे उपलभ्यन्ते । पार्थिवेन हि घ्राणेन स्पर्शपर्यन्ता न गृह्यन्ते गन्ध एव एको गृह्यते, एवं शेषेष्वपीति ॥ ६४ ॥

कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति ?

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६५ ॥

गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं पृथिव्यादीनामेकैकस्य गुणः, अतस्तदनुपलब्धिः तेषां तयोः तस्य चानुपलब्धिः । घ्राणेन रसरूपस्पर्शानां रसनेन रूपस्पर्शयोः चक्षुषा स्पर्शस्येति । कथं तर्ह्यनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्त इति ?

घ्राणरूप इन्द्रिय से पृथिवी में माने हुए रूप, रस, तथा स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, किन्तु केवल एक गन्धगुण का ही ज्ञान होता है । इसी प्रकार जलीय रसन इन्द्रिय से जल में माने हुए रूप और स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, किन्तु केवल जल के मधुर रस नहीं ज्ञान होता है, ऐसा अवशिष्ट द्रव्यों में भी जान लेना चाहिये । (अतः सिद्धान्ती का गुण नियम संगत नहीं है) ॥ ६४ ॥

(इस प्रकार परमत की परीक्षा कर उसका खण्डन करने के लिये नैयायिक प्रश्न करता है कि)—तो उपरोक्त गुणों का विनियोग (कथन) कैसे कहना ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—एकैकश्येन = एक-एक पृथिवी आदि भूतद्रव्यों का, उत्तरोत्तरगुणसद्भावात् = एक-एक गन्धादि गुण होने के कारण, उत्तराणां = आगे-आगे के रूपादि गुणों के, तदनुपलब्धिः = घ्राणेन्द्रियादिकों से रूपादि गुणों का ज्ञान नहीं होता ॥ ६५ ॥

भावार्थ—पृथिवी, जल, आदि पाँच भूतद्रव्यों में प्रत्येक का क्रम से गन्ध, रस आदि प्रत्येक ही गुण है, इस कारण घ्राणादि इन्द्रियों से अपने-अपने गुण को छोड़कर दूसरे गुणों का ज्ञान नहीं होता, अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से पृथिवी के रूप, रस तथा स्पर्शगुणों का ज्ञान नहीं होता, तथा जिह्वा से रस को छोड़कर जल में वर्तमान रूप और स्पर्श का, एवं तेज में रूप को छोड़कर स्पर्श का ज्ञान नहीं होता ॥ ६५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—गन्ध आदि पाँच गुणों में से एक-एक गन्ध आदि गुण क्रम से पृथिवी, जल आदि पाँच भूतद्रव्यों का गुण है । इस कारण पृथिवी में रूप, रस, तथा स्पर्श इन तीनों की, तथा जल में रूप तथा गन्ध इन दो गुणों की, और तेज में स्पर्श एक गुण का ज्ञान नहीं होता । अर्थात् घ्राणइन्द्रिय से पृथिवी में रस, रूप, तथा स्पर्शगुणों का, रसन इन्द्रिय से जल में रूप और स्पर्शगुण का, तथा चक्षुइन्द्रिय से तेज के उष्णस्पर्श का ज्ञान नहीं होता । (प्रश्न सिद्धान्ती का)—यदि ऐसा है तो पृथिवी आदि द्रव्यों में गन्ध से स्पर्श तक के इसी प्रकार जल में रूप तथा स्पर्श, इत्यादि रूप से अनेक गुणवाले भूतद्रव्यों का ज्ञान क्यों होता है ? (उत्तर पूर्वपक्षी का)—केवल सम्बन्ध होने से अनेक गुणों का ज्ञान होता है । अर्थात् जलादिकों की पृथिवी आदिकों में रस आदि गुणों का ज्ञान होता है । इसी प्रकार बाकी के द्रव्यों में भी जान लेना चाहिये ॥ ६५ ॥

(इस पूर्वपक्षी के मत के साधक अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार सिद्धान्ती के मत से आपत्ति दिखाते हैं कि)—ऐसा पूर्वपक्षी का मत मानने से तो नियम नहीं प्राप्त होगा, सम्बन्ध का नियम न होने के कारण चार गुणवाली पृथिवी है, तीन गुणवाला जल है, दो गुणवाला तेज है और एक स्पर्शगुणवाला वायु है । और यह नियम तो हो सकता है । (प्रश्न) कैसे ? (उत्तर पूर्वपक्षी का)—

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् । अबादिसंसर्गाच्च पृथिव्यां रसादयो गृह्यन्ते एवं शेषेष्वपीति ॥ ६५ ॥

नियमस्तर्हि न प्राप्नोति संसर्गस्यानियमाच्चतुर्गुणा पृथिवी त्रिगुणा आपो द्विगुणं तेज एकगुणो वायुरिति ? । नियमश्चोपपद्यते, कथम् ?

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६६ ॥

पृथिव्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरेणोत्तरेण विष्टमतः संसर्गनियम इति । तच्चैतद् भूतसृष्टौ वेदितव्यं नैतर्हीति ॥ ६६ ॥

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६७ ॥

पदपदार्थ—विष्टं = सम्बद्ध है, हि = क्योंकि, अपरं = पृथिवी आदि द्रव्य, परेण = दूसरे जलादिक से ॥ ६६ ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि प्रथम-प्रथम भूतद्रव्य, उत्तर-उत्तर आगे के जलादि द्रव्यों से सम्बन्ध रखता है, इस कारण सम्बन्ध से नियम हो सकता है कि पृथिवी आदिकों में गन्ध को छोड़कर रूप, रस तथा स्पर्शगुण है यह विषय भूतद्रव्यों की सृष्टि का वर्णन करनेवाले पुराण आदि ग्रन्थों में विशेषरूप से जानना चाहिये । यहाँ पर रघूत्तमकृत भाष्यचन्द्र में की हुई इस सूत्र की व्याख्या भाष्यकार को संमत है । ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि भाष्यकार का मत तात्पर्यटीका में ऐसा लिखा है कि—'अपर' पृथिवी आदि द्रव्य 'परेण' दूसरे जलादि द्रव्यों से व्याप्त हैं क्योंकि कोई भी पार्थिव कार्य बिना जलादिकों के सम्बन्ध के नहीं होता । अतः पृथिवी कार्य में जलादि द्रव्यों में रस आदि गुणों की नियम से उपलब्धि होती है । इसी प्रकार जल कार्य में तेज आदि द्रव्य का गुण जान लेना चाहिये ॥ ६६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पृथिवी आदि पाँच भूतद्रव्यों में से प्रथम-प्रथम द्रव्य उत्तर (आगे के) जलादि द्रव्य से व्याप्त है । इस कारण सम्बन्ध होने से पृथिवी में रस, रूप तथा स्पर्श भी हैं यह नियम हो सकता है । वह यह विषय पृथिवी आदि भूतद्रव्यों की सृष्टि का वर्णन करनेवाले पुराणादि ग्रन्थों में विस्तार से देख लेना चाहिये । नकि हमारे कहने से। क्योंकि हमें उस विषय का अनुभव नहीं है ॥ ६६ ॥

उक्त पूर्वपक्ष के आशय का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, पार्थिवाप्ययोः = पार्थिव, तथा जलीयद्रव्य दोनों के, प्रत्यक्षत्वात = प्रत्यक्ष होने से ॥ ६७ ॥

भावार्थ—पार्थिव तथा जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष होने के कारण पूर्वपक्षी का नियम मानना असंगत है । क्योंकि महत्व परिमाण, सावयवता, तथा उद्भूतरूप होने से प्रत्यक्ष होता है, इस कारण पूर्वपक्षिमत से तैजसद्रव्य ही का वास्तविक रूप होने के कारण प्रत्यक्ष होगा, नकि पार्थिव अथवा जलीय द्रव्य का, क्योंकि उन दोनों में वास्तविक रूप नहीं है, किन्तु तैजसद्रव्य के समान पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का भी प्रत्यक्ष तो होता है इस कारण केवल सम्बन्ध से पृथिवी आदि भूतद्रव्यों में गन्ध, रस, रूप आदि अनेक गुणों का ग्रहण मानना अनुचित है । यदि पूर्वपक्षी के मतानुसार पार्थिव तथा जलीय दोनों द्रव्यों में तेज द्रव्य के सम्बन्ध से रूप मानकर पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष माना जाय तो वायु का भी तेज के सम्बन्ध से रूप लेकर प्रत्यक्ष होने लगेगा, और होता तो नहीं, अतः पूर्वपक्षी को नियम का कारण कहना पड़ेगा ॥ ६७ ॥

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे। कस्मात् ? *पार्थिवस्य द्रव्यस्याप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात्।* महत्त्वानेकद्रव्यत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिरिति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात् न पार्थिवमाप्यं वा रूपाभावात्। तैजसवत् *पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति।* भूतान्तररूप कृतं च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्यते, नियमे वा कारणमुच्यतामिति।

रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवो रसः षड्विधः आप्यो मधुर एव, न चैतत्संसर्गाद्भवितुमर्हति। रूपयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुगृहीतयोः, संसर्गे हि व्यञ्जकमेव रूपं न व्यङ्ग्यमस्तीति। *एकानेकविधत्वे च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् रूपयोः।* पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपमाप्यं तु शुक्लमप्रकाशकं, न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्युपलभ्यते इति। उदाहरणमात्रं चैतत्, अतः परं प्रपञ्चः।

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्ती के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के 'न' इस पद से पूर्वपक्षी के ६४ से ६६ तक के तीनों सूत्रों का खण्डन सूत्रकार करते हैं। (प्रश्न)—क्यों पूर्वपक्षी का मत नहीं हो सकता ? (उत्तर)—पार्थिव तथा जलीय दोनों द्रव्यों का प्रत्यक्ष होने के कारण। जिसमें महत्त्व परिमाण, सावयवता, एवं उद्भूत रूप होता है उसका प्रत्यक्ष होता है ऐसा नियम होने के कारण पूर्वपक्षी के मत से तैजस (प्रदीप) आदि द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष होगा, नकि पार्थिव अथवा जलीय द्रव्य का, क्योंकि उनमें अपना गुण रूप नहीं है। किन्तु तैजस द्रव्य के समान पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का भी प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है, इस कारण केवल सम्बन्ध से दूसरे के गुणों से भी अनेक गुणों का ग्रहण होना नहीं हो सकता। यदि तैजस द्रव्य के सम्बन्ध से रूप होने के कारण पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष माना जाय तो तेज के सम्बन्ध से रूप को लेकर वायु द्रव्य का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होने लगेगा, और होता तो नहीं, इस नियम में पूर्वपक्षी को कोई विशेष कारण कहना पड़ेगा। (अर्थात् तीन द्रव्यों का प्रत्यक्ष माना जाता है—पार्थिव द्रव्य का, जलीय द्रव्य का तथा तैजस द्रव्य का। पूर्वपक्षिमत से उक्त तीन में से केवल तैजस द्रव्य का ही चाक्षुषप्रत्यक्ष होगा, क्योंकि उसमें अपना रूप गुण है, पार्थिव तथा जलीय द्रव्य के रूप के न होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष न होगा। यदि रूपवाले तैजस द्रव्य के सम्बन्ध से रूप लेकर पार्थिव तथा जलीय द्रव्य को अपना रूप गुण न होने पर भी चाक्षुषप्रत्यक्ष माना जाय तो आकाश तथा वायु का भी तैजस द्रव्य के सम्बन्ध से रूप लेकर चाक्षुषप्रत्यक्ष होने लगेगा)। (सूत्र के हेतु को दूसरे प्रकार से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अथवा पृथिवी तथा जल के रसों के प्रत्यक्ष होने से पृथिवी का मधुर, अम्ल इत्यादि षट् प्रकार का रस होता है, और जल का केवल मधुर ही रस होता है। यह केवल सम्बन्ध से नहीं हो सकता। अथवा तैजस रूप की सहायता को लेकर पार्थिव तथा जलीय रूपों के प्रत्यक्ष होने से। क्योंकि केवल सम्बन्ध मानने पर रूप केवल प्रकाशक ही है नकि प्रकाश करने योग्य। तथा पार्थिवरूप अनेक प्रकार का होता है, और जल का केवल आभास्वर शुक्ल एक ही होता है, ऐसा होने पर भी पार्थिव तथा जलीयरूपों का प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि हरित (हरा) लोहित (लाल) पीत (पीला) इत्यादि सप्त प्रकार का पृथिवी का रूप होता है, और जल का दूसरे को प्रकाशित न करनेवाला एक ही शुक्लमात्र रूप होता है। यह प्रत्यक्ष एक के गुणों के सम्बन्ध मात्र से नहीं हो सकता। यह केवल उदाहरण है, और भी इसका विस्तार हो

स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्शः उष्णस्तैजसः प्रत्यक्षो, न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वायुना संसर्गेणोपपद्यत इति।

अथ वा पार्थिवाप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वात्। चतुर्गुणं पार्थिवं द्रव्यम्, त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षं, तेन तत्कारणमनुमीयते तथाभूतमिति। तस्य कार्यं लिङ्गं कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति। एवं तैजसवायव्ययोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वात् गुणव्यवस्थायाः तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थानुमानमिति।

दृष्टश्च विवेकः पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवं द्रव्यमबादिभिर्वियुक्तं प्रत्यक्षतो गृह्यते, आप्यं च पराभ्यां, तैजसं च वायुना, न चैकैकगुणं गृह्यत इति, निरनुमानं तु *'विष्टं ह्यपरं परेणे'*त्येतदिति नात्र लिङ्गमनुमापकं गृह्यत इति येनैतदेवं प्रतिपद्येमहि।

यच्चोक्तं *विष्टं ह्यपरं परेणेति भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतमिति। नियमकारणाभावादयुक्तम्।* दृष्टं च साम्प्रतमपरं परेण विष्टमिति वायुना च विष्टं तेज

सकता है। जैसे पार्थिव तथा तैजस स्पर्शों के प्रत्यक्ष होने से। पृथिवी का अनुष्णाशीत स्पर्श का और तेज से उष्णस्पर्श का स्पार्शनप्रत्यक्ष होता है। यह एक गुणवालों का अनुष्णाशीत स्पर्शवाले वायु के सम्बन्ध से नहीं हो सकता इस प्रकार। (यहाँ पर **'रसयोर्वा'** इस भाष्य से **'उपपद्यते'** यहाँ तक के भाष्य का तात्पर्यकार ने संक्षेप में ऐसा अर्थ किया है कि—पार्थिव तथा जलीय रस के क्रम से अनेक एवं एक प्रकार से प्रत्यक्ष होता है ऐसी इस सूत्र के **'पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्'** इस हेतु की दूसरी व्याख्या है)। (अन्य प्रकार से सूत्र के हेतु की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अथवा जिनके गुणों की व्यवस्था है ऐसे पार्थिव तथा जलीय दोनों द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से, क्योंकि रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शगुण वाले (पार्थिव द्रव्य) और रूप, रस, स्पर्शगुण वाले (जलीय द्रव्य) होते हैं जिनका प्रत्यक्ष होता है। जिससे उनके परमाणुरूप कारण भी उतने गुणवाले हैं यह अनुमान से सिद्ध होता है। जिसका चतुर्गुण तथा त्रिगुणरूप पार्थिव एवं जलीय द्रव्य ही साधक हेतु है, क्योंकि कारण की सत्ता से कार्य की सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार तैजस एवं वायु सम्बन्धी द्रव्यों में गुणों की व्यवस्था (नियम) के प्रत्यक्ष से सिद्ध होने के कारण उनके भी परमाणु रूप कारण द्रव्यों में भी गुणों के नियम होने की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है तथा इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण भी देखने में आता है—क्योंकि पृथक्-पृथक् पार्थिव तथा जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है, कारण यह कि जल, तेज, आदि द्रव्यों से संयोग रखनेवाले पार्थिव द्रव्य का प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है, तथा पार्थिव एवं तैजस द्रव्यों के संयोग से रहित जलीय द्रव्य का, एवं जलीय तथा वायु के सम्बन्ध से रहित तैजस द्रव्य का भी ग्रहण होता है, और एक-एक ही गुणवाले पृथिवी आदि द्रव्यों का ग्रहण नहीं होता। इस कारण **'विष्टं ह्यपरं परेण'** इस ६६ वें सूत्र में कहा हुआ पूर्वपक्षी के मत में कोई अनुमानप्रमाण नहीं है, क्योंकि एक-एक द्रव्य का एक-एक ही गुण है दूसरे गुणों का केवल सम्बन्ध होने से ही ग्रहण होता है, ऐसा मानने में कोई साधक लिङ्ग नहीं है जिससे हम ऐसा मान लें। और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि—'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध रखता है' यह भूतद्रव्यों की सृष्टि के वर्णन करनेवाले पुराणादिकों में

इति। विष्टत्वं संयोगः स च द्वयोः समानो वायुना च विष्टत्वात् स्पर्शवत्तेजो न तु तेजसा विष्टत्वाद् रूपवान्वायुरिति नियमकारणं नास्तीति। दृष्टं च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्य स्पर्शस्याभिभवादग्रहणमिति, न च तेनैव तस्याभिभव इति॥ ६७॥

तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य 'न सर्वगुणानुपलब्धे'रिति चोदितं समाधीयते—

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम्॥ ६८॥

(अर्थात् गन्ध पृथिवी में ही है इत्यादि नियम मानने में आपके मत में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसका बाध करनेवाला ही प्रमाण तुमने कहा है, अतः भूतसृष्टि का किसी प्रकार गौण व्यवहार मानना उचित है) क्योंकि सांप्रत (वर्तमान) में भी वायु से सम्बन्ध रखनेवाला तेज दीप आदि दूसरे से सम्बद्ध दूसरा देखने में आता ही है। क्योंकि संयोग को 'विष्टता' कहते हैं वह दोनों संयोगी पदार्थों का समान ही होता है, इस कारण तेजद्रव्य वायु से सम्बन्ध रखने के कारण स्पर्शगुणवाला होता है. नकि तेज से सम्बन्ध रखने के कारण वायुरूप गुण का आधार होता है ऐसा नियम मानने में पूर्वपक्षिमत में कोई प्रमाण नहीं है। और तेज के उष्णस्पर्श से तिरस्कृत होने से वायु को अपने अनुष्णाशीत स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, यह भी देखने में आता है, अपने से अपना तिरस्कार नहीं हो सकता (अर्थात् प्रत्यक्ष का बाध तो दूर रहा विकल्प से भी 'विष्टता' (संयोग) नहीं हो सकता) क्योंकि वह दोनों का समान होता है, अर्थात् दूसरे का गुण जो दूसरे में उपलब्ध होता है क्या वह केवल संयोग से अथवा व्याप्त होने से ऐसा विकल्प हो सकता है, यदि व्याप्ति से, तो अग्नि से संयुक्त लोहपिण्ड में अग्नि के गुणों का ग्रहण न होगा, क्योंकि उनका व्याप्यव्यापकभाव नहीं है। अतः अन्य पदार्थ का संयोग ही हेतु होगा, जो दोनों में समान होने के कारण तेज से सम्बन्ध रखनेवाले वायु में रूपगुण होने से वायु का भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने लगेगा)॥ ६७॥

(इस प्रकार पूर्वपक्षी की द्रव्यों के गुणों की व्यवस्था का खण्डन करने के पश्चात् सिद्धान्ती की व्यवस्था में पूर्वपक्षी के दिये दूषणों का उद्धार करनेवाले सिद्धान्ती के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकार न्याय (युक्ति) के विरुद्ध पूर्वपक्षी के द्रव्यों के गुणों की व्यवस्था के मत का खण्डन कर 'न सर्वगुणानुपलब्धेः' इस ६४ वें सूत्र में दिये हुए पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान किया जाता है—

पदपदार्थ—पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् = प्रथम-प्रथम गुण के उत्कर्ष होने से, तत्तत्प्रधानम् = उस-उस प्रधान (मुख्य) गुणवाला होता है॥ ६८॥

भावार्थ—घ्राण इत्यादि इन्द्रियों में जो पूर्व-पूर्व गन्धादि हैं उस गुण के अभिव्यक्त करने के सामर्थ्य से वह-वह घ्राणादि इन्द्रिय उस-उस गन्धादि प्रधान गुणवाला है, इस कारण पृथिवी में वर्तमान भी रूप, रस, तथा स्पर्शगुणों का उससे ग्रहण नहीं होता। (अर्थात् घ्राण नामक इन्द्रिय गन्धप्रधान तथा रसनेन्द्रिय, रसप्रधान, होने के कारण पृथिवी में वर्तमान अन्य गुणों का उनसे ज्ञान नहीं होता)। किन्तु वार्तिककार इस व्याख्या को नहीं मानते, क्योंकि यदि विषय को ग्रहण करना ही इन्द्रियों की प्रधानता हो तो सम्पूर्ण इन्द्रियों में विषय ग्राहकता होने से सभी प्रधान हो जायंगे। किन्तु जिस व्याख्या को वार्तिककार नहीं मानते वह भाष्यकार को संमत नहीं है, क्योंकि

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः घ्राणादीनां पूर्वं पूर्वं गन्धादेर्गुणस्योत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम्। का प्रधानता ? विषयग्राहकत्वम्। को गुणोत्कर्षः ? अभिव्यक्तौ समर्थत्वम्। यथा बाह्यानां पार्थिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणव्यञ्जकत्वं गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपव्यञ्जकत्वम्। एवं घ्राणरसनचक्षुषां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणग्राहकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपग्राहकत्वम्। तस्माद् घ्राणादिभिर्न सर्वेषां गुणानामुपलब्धिरिति।

यस्तु प्रतिजानीते गन्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धस्य ग्राहकमेवं रसनादिष्वपीति ? तस्य यथागुणयोगं घ्राणादिभिर्गुणग्रहणं प्रसज्यत इति ॥ ६८ ॥

'तत्तत्प्रधानम्' इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रथम-प्रथम इन्द्रिय आगे के इन्द्रिय से प्रधान है, किन्तु वह-वह गुण जिसका प्रधान है, वही पूर्व-पूर्व इन्द्रिय है, ऐसा अर्थ करना चहिये—इस व्याख्या में उपरोक्त वार्तिककार की अश्रद्धा नहीं हो सकती। घ्राणादि इन्द्रियों के पूर्व पूर्व गन्धादि गुणों के जो घ्राणेन्द्रियादिकों के गुण हैं उनके उत्कर्ष से—उत्तर रसनादि इन्द्रियों में न रहते हुए पूर्व में वर्तमान होने से उस-उस की प्रधानता है, अर्थात् उस-उस गुण से वह प्रधान है। अतः घ्राणादिक से सम्पूर्ण गुणों का ग्रहण नहीं होता, जिससे यह सिद्ध होता है कि जिसी गुण को लेकर उक्त रूप प्रधान है वह उद्‌भूत होकर उससे ग्रहण किया जाता है, नकि सम्पूर्ण, ऐसी वर्धमानोपाध्याय ने इस ग्रन्थ की समालोचना की है ॥ ६८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सम्पूर्ण गन्धादि गुणों की इस कारण पृथिवी आदि द्रव्यों में उपलब्धि (ज्ञान) नहीं होता। क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियों में जो प्रथम-प्रथम हैं उनमें गन्ध आदि गुणों के उत्कर्ष होने से घ्राणेन्द्रिय गन्धप्रधान, रसनेन्द्रिय रसप्रधान ऐसे संपूर्ण इन्द्रिय अपने-अपने गुण की अधिकता से प्रधान होते हैं। (प्रश्न)—यहाँ प्रधान होना क्या है ? (उत्तर)—अपने-अपने गुणरूप विषय को ग्रहण करना। (प्रश्न)—गुणों का उत्कर्ष क्या है ? (उत्तर)—उन-उन गन्धादि गुणों को प्रकट करने में सामर्थ्य। जिस प्रकार क्रम से चार गुण, तीन गुण, तथा दो गुणवाले पार्थिव, जलीय, तथा तैजस बाह्यविषयरूप द्रव्य सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित नहीं करते, किन्तु गन्ध, रस, तथा रूप गुण के उत्कर्ष से क्रमानुसार गन्ध, रस, तथा रूप ही के प्रकाशक होते हैं—इसी प्रकार चार, तीन, तथा दो गुणवाले घ्राण, रसन, एवं चक्षु इन्द्रिय भी सम्पूर्ण रूपादि गुणों को ग्रहण नहीं करते—किन्तु गन्ध, रस, तथा रूप के उत्कर्ष के कारण क्रम से गन्ध, रस, तथा रूप गुण को ग्रहण करते हैं, इस कारण घ्राणादि इन्द्रियों से सम्पूर्ण रूपादि गुणों की उपलब्धि (ज्ञान) नहीं होता। (अर्थात् सम्पूर्ण गुणों का सम्बन्ध होने पर भी घ्राणेन्द्रिय में गन्धगुण का ही उत्कर्ष है, इस कारण वह गन्ध को ही ग्रहण करता है। अतः प्रधानता का कहना गन्धवत्ता का निषेध करना है, नकि गन्ध का होना, गन्ध के ज्ञान होने में प्रयोजक है, किन्तु गन्ध का उत्कर्ष यह सिद्ध होता है। (आगे पूर्वपक्षिमत का अनुवाद कर भाष्यकार खण्डन करते हुए कहते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि—"गन्धगुण का आधार होने के कारण घ्राणेन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करता है, इसी प्रकार रसनादि इन्द्रियों में भी जानना" ऐसी—उसके मत में गुणों के सम्बन्ध के अनुसार घ्राणादि इन्द्रियों से गुणों के ज्ञान होने की आपत्ति आ जायगी। (अर्थात् "केवल गन्धगुण का आधार होने से, घ्राण

किङ्कृतं पुनर्व्यवस्थानं किञ्चित्पार्थिवमिन्द्रियं न सर्वाणि, कानिचिदाप्यतैजसवायव्यानि इन्द्रियाणि न सर्वाणीति ?

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६९ ॥

अर्थनिर्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितो भूयस्त्वम्। दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः, प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते। यथा पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद्विषौषधिमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्ते न सर्वं सर्वार्थमेवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निर्वर्त्यन्ते न सर्वविषयग्रहणसमर्थानीति ॥ ६९ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणि। कस्मादिति चेत् ?

इन्द्रिय गन्धगुण को ग्रहण करता है, नकि उससे गन्धगुण का उत्कर्ष होने से" ऐसी जो पूर्वपक्षी प्रतिज्ञा करता है, उसके मत में सम्पूर्ण रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ऐसे चारों गुणों का घ्राणेन्द्रिय से ज्ञान होने की आपत्ति आ जायगी) ॥ ६८ ॥

(आगे के सिद्धान्त सूत्र का अवतरण देने के लिये पूर्वपक्षिमत से प्रश्न दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—(प्रश्न)—"कोई घ्राण नामक ही इन्द्रिय पार्थिव है, सम्पूर्ण इन्द्रिय पार्थिव नहीं हैं इसको व्यवस्था का क्या कारण हैं, तथा रसन जलीय ही है, चक्षु तैजस ही है, त्वचा वायु का ही इन्द्रिय है न कि सम्पूर्ण इन्द्रिय जलीय, तैजस और वायवीय हैं, यह भी व्यवस्था क्यों है ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—तद्व्यवस्थानं तु = किन्तु इन्द्रियों के पार्थिव आदि व्यवस्था है, भूयस्त्वात् = उत्कर्ष होने के कारण ॥ ६९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न कार्य करने में समर्थ विष की औषधि, मणि, मन्त्र इत्यादि के आत्मा के संस्कार के अधीन होने से बने हैं नकि सम्पूर्ण ही सब प्रकार के कार्य करने में समर्थ होते हैं, इसी प्रकार अपने २ गन्ध रूप आदि विषयों को ग्रहण करने के लिये घ्राणादि इन्द्रिय बने हैं न कि संपूर्ण विषयों को ग्रहण करने के लिये संपूर्ण इन्द्रिय बने हैं ॥ ६९ ॥

इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में 'भूयस्त्वं' इस पद को आत्माओं' के विशेष कर्मों से किया गया हुआ कार्यों के सिद्ध करने में समर्थ प्रविभक्त (पृथक २ विभाग किये हुए पांचों प्रकार के पृथिवी आदि द्रव्यों के प्रकृति विकृति (कारण कार्य) रूप विशेष संसर्ग अर्थ है। क्योंकि इस भूयस्त्व शब्द का लोक व्यवहार में प्रकर्ष (अधिकता) रूप अर्थ में प्रयोग होता है, ऐसा देखने में आता है—कारण यह है कि अधिक विषय को ही भूयान्' प्रचुर है, ऐसा कहा जाता है। अतः आत्माओं के अदृष्ट रूप कर्म विशेष के कारण पृथक् २ कार्यों को करने में समर्थ विष, औषधि, मंत्र, मणि इत्यादि द्रव्य पदार्थ बने हैं, न कि विष आदि संपूर्ण ही द्रव्य संपूर्ण कार्यों को करने में समर्थ हैं—इसी प्रकार अपने २ गन्ध आदि भिन्न २ विषयों को जानने में समर्थ घ्राण आदि इन्द्रिय भी बने हैं, न कि सभी इन्द्रिय संपूर्ण विषयों को जानने में समर्थ बने हैं यह सिद्ध होता है ॥ ६९ ॥

अग्रिम सिद्धान्त सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से शंका दिखाते हैं कि—घ्राण आदि इन्द्रिय अपने २ गन्ध आदि गुणों को क्यों नहीं जानते ? ऐसी शंका करो तो—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७० ॥

स्वान् गन्धादीन्नोपलभन्ते घ्राणादीनि। केन कारणेनेति चेत्? स्वगुणैः सह घ्राणादीनामिन्द्रियभावात्। घ्राणं स्वेन गन्धेन समानार्थकारिणा सह बाह्यं गन्धं गृह्णाति तस्य स्वगन्धग्रहणं सहकारिवैकल्यान्न भवति, एवं शेषाणामपि॥

यदि पुनर्गन्धः सहकारी च स्याद् घ्राणस्य ग्राह्यश्चेत्यत आह—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७१ ॥

न गुणोपलब्धिरिन्द्रियाणाम्। यो ब्रूते यथा बाह्यं द्रव्यं चक्षुषा गृह्यते तथा

पदपदार्थ—सगुणानां = गन्धादि गुण वालों को, इन्द्रिय भावात = घ्राणादिकों में इन्द्रियता होने के कारण ॥ ७० ॥

भावार्थ—अपने २ गन्धादि गुणों के साथ घ्राण आदिकों को अपने २ गन्धादि गुणों के ग्रहण करने का सामर्थ्य होने के कारण समान अर्थ के करने वाले अपने गन्ध के साथ बाह्य गन्ध को ग्रहण करते हैं, अतः सहायक न होने से वह घ्राणादि इन्द्रिय अपने २ गन्धादि गुणों को नहीं जान सकते, अतः अपने २ गन्धादि गुणों का ज्ञान घ्राण आदि इन्द्रियों को क्यों नहीं होता यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता ॥ ७० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—"अपने २ गन्ध आदि गुणों को घ्राण आदि इन्द्रिय नहीं जानते—इसमें क्या कारण है"—ऐसा पूर्वपक्षी कहे, तो—अपने २ गन्धादि गुणों के साथ ही घ्राणादि इन्द्रियों को इन्द्रिय रूपता होने के कारण यह उत्तर है। क्योंकि एक ही कार्य को करने वाले अपने गन्ध गुण से घ्राण इन्द्रिय बाहरी विषय पुष्पादियों को गन्ध का ग्रहण करता है इस कारण सहायक के न होने से (अर्थात कार्य कारण भाव भेद घटित होने के कारण) घ्राण इन्द्रिय अपने गन्ध को नहीं जानता। इसी प्रकार और इन्द्रियों में भी जान लेना चाहिये, अतः पूर्वपक्षी का उपरोक्त प्रश्न असंगत है। यहां पर 'स्वगुणान्नोपलभन्ते' इत्यादि भाष्यकार के अवतरण ग्रन्थ का—घ्राणादियों के गन्धादि गुणवान होने में प्रमाण कहते हैं—ऐसा वृत्तिकार ने इस सूत्र का अवतरण दिया है ॥ ७० ॥

("अभेद में भी ग्राह्य ग्राहक भाव क्यों न हो" इस पूर्व पक्ष के खण्डन करने वाले सिद्धान्त सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्ष मत से शंका दिखाते हैं कि)—"यदि गन्धगुण घ्राणज प्रत्यक्ष में सहायक होता हुआ ग्रहण योग्य भी क्यों न होगा" इस प्रकार शंका करो तो सूत्रकार उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ—तेन एव = उसी इन्द्रिय घ्राणादिक से, तस्य = उसी का, अग्रहणात च = ग्रहण न होने से भी ॥ ७१ ॥

भावार्थ—घ्राणादि इन्द्रियों से उन्हीं के गन्धादि गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह कहना ऐसा है, जैसे कोई कहे कि चक्षु इन्द्रिय से जिस प्रकार बाह्य घटादि द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार उसी चक्षु इन्द्रिय से उसी चक्षु इन्द्रिय का भी ज्ञान होगा, क्योंकि दोनों स्थल में ज्ञान न होने का कारण समान ही है, अतः अभेद में ग्राह्य ग्राहक भाव नहीं हो सकता ॥ ७१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार साध्यपद को लेकर व्याख्या करते हैं कि)—घ्राणादि इन्द्रियों से उनके गन्धादि गुणों का ज्ञान नहीं होता। जो मनुष्य ऐसा कहे कि—"जिस प्रकार बाह्य घटादि द्रव्यों का चक्षु इन्द्रिय से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार उसी चक्षु इन्द्रिय से उसी चक्षु

तेनैव चक्षुषा तदेव चक्षुर्गृह्यतामिति, तादृगिदं, तुल्यो ह्युभयत्र प्रतिपत्तिहेत्वभाव इति ॥ ७१ ॥

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७२ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणीति एतन्न भवति। उपलभ्यते हि स्वगुणः शब्दः श्रोत्रेणेति ॥ ७२ ॥

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७३ ॥

न शब्देन गुणेन सगुणमाकाशमिन्द्रियं भवति, न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः;

इन्द्रिय का भी ज्ञान होगा" ऐसा ही यह भी कहना है, कि घ्राणेन्द्रिय से ही घ्राणेन्द्रिय के गन्धगुण का ज्ञान होगा। क्योंकि दोनों में ज्ञान के कारण भेद का होना नहीं है, यह समान ही है। किन्तु वृत्तिकार ने इस सूत्र की व्याख्या ऐसी की है कि—घ्राणादि इन्द्रियों में पूर्वोक्त प्रकार से गन्धादि गुण सिद्ध होने पर भी, उनका प्रत्यक्ष नहीं होता इस कारण उनमें अनुद्भूतता माननी होगी, इसी आशय से सूत्रकार ने इस सूत्र में यह कहा है कि—उस घ्राण इन्द्रिय से उस सगुण घ्राणेन्द्रिय के ग्रहण न होने के कारण वह उद्भूत नहीं है यह कल्पना होती है) ॥ ७१ ॥

(घ्राणेन्द्रियादिकों से उन्हीं के गन्धादि गुणों का ग्रहण नहीं होता, यह नियम नहीं हो सकता इस आशय से पूर्वपक्षि मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = ऐसा नहीं हो सकता, शब्द गुणोपलब्धे श्रोत्र रूप इन्द्रिय से अपने शब्द गुण का ज्ञान होने से ॥ ७२ ॥

भावार्थ—आकाश रूप श्रोत्र नामक इन्द्रिय से अपने शब्द रूप गुण का ज्ञान होता है, अतः घ्राणादि इन्द्रिय अपने गन्धादि गुणों को नहीं जानते यह नहीं हो सकता ॥ ७२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—"अपने गन्धादि गुणों को घ्राण आदि इन्द्रिय नहीं जानते—यह सिद्धान्ती का कहना युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रिय से अपने शब्द रूप गुण का ज्ञान होता ही है" इस कारण ॥ ७२ ॥

इस आपत्ति का खण्डन करते हुए सिद्धान्ति मत से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—तदुपलब्धिः = उस शब्द का ज्ञान होता है, इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् = परस्पर द्रव्य के गुणों के विरुद्ध धर्म वाले होने से ॥ ७३ ॥

भावार्थ—शब्द रूप गुण से गुण का आधार आकाश श्रोत्रेन्द्रिय नहीं होता, न शब्द गुण शब्द को प्रकाशित करता है। घ्राणादि इन्द्रिय अपने गन्धादि गुणों को ग्रहण करते हैं ऐसा मानने में इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान से ही यह सिद्ध हो सकता है। और प्रस्तुत में आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, और आकाश का शब्द गुण है यह भी परिशेष अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, तस्मात् श्रोत्र से अपने शब्दगुण का ज्ञान होने के दृष्टान्त से घ्राण आदि इन्द्रियों से अपने २ गन्धादि गुणों के ज्ञान होने की आपत्ति पूर्वपक्षी को नहीं हो सकती ॥ ७३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शब्द रूप गुण से गुण का आधार आकाश श्रोत्र इन्द्रिय नहीं होता। तथा शब्द शब्द गुण का प्रकाशक भी नहीं होता। (घ्राणादि इन्द्रिय अपने २ गन्धादि गुणों को जानते हैं इस विषय में प्रमाण भी नहीं है इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—घ्राणादि इन्द्रिय अपने २ गन्धादि गुणों को जानते हैं

न च घ्राणादीनां स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षं नाप्यनुमीयते, अनुमीयते तु श्रोत्रेणाकाशेन शब्दस्य ग्रहणं शब्दगुणत्वं च आकाशस्येति। परिशेषश्चानुमानं वेदितव्यम्। आत्मा तावत् श्रोता न करणम्, मनसः श्रोत्रत्वे बधिरत्वाभावः पृथिव्यादीनां घ्राणादिभावे सामर्थ्यं श्रोत्रभावे चासामर्थ्यम्। अस्ति चेदं श्रोत्रमाकाशं च शिष्यते परिशेषादाकाशं श्रोत्रमिति ॥ ७३ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैरर्थपरीक्षाप्रकरणम् ॥

ऐसा न प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है, न अनुमान प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होता है। प्रस्तुत में आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, एवं आकाश का शब्द गुण है, यह भी अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है। वह परिशेष नामक अनुमान है ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि जीवात्मा श्रोता (सुनने वाला) है, वह शब्द ज्ञान में विशेष कारण नहीं हो सकता। यदि मन को श्रोत्रेन्द्रिय माना जाय तो बधिर, अन्ध आदि न होंगे। पृथिवी जल, आदिकों को, घ्राणादि इन्द्रिय होने में सामर्थ्य है, श्रोत्रेन्द्रिय होने में सामर्थ्य नहीं है। और यह श्रोत्रेन्द्रिय तो है। आकाश ही एक अवशिष्ट द्रव्य बच जाता है, अतः परिशेषानुमान से सिद्ध होता है कि आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय है ॥ (यहां पर वार्तिककार ने ऐसी समालोचना की है कि—घ्राणादि इन्द्रिय अपने गन्धादि गुणों को नहीं जानते यह कहना असंगत है क्योंकि शब्द अपना गुण आकाश रूप श्रोत्र से जाना जाता है। सत्य है श्रोत्ररूप आकाश से शब्द का ज्ञान होता है, किन्तु वह श्रोत्र शब्द सहित होने से इन्द्रिय नहीं है, अर्थात् घ्राणादि इन्द्रिय जैसे गन्धादि गुण वाले ही इन्द्रिय होते हैं, वैसे आकाश नहीं है। क्योंकि शब्द और गुणों से विरुद्ध धर्म वाला है और आकाश भी दूसरे द्रव्यों से विरुद्ध धर्म वाला है इसी विषय को इस सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि न शब्द शब्द का व्यंजक होने से आकाश सगुण होता हुआ श्रोत्र इन्द्रिय होता है। यह श्रोत्र उपरोक्त परिशेषानुमान से आकाश ही है यह सिद्ध होता है। इत्यादि ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार वात्स्यायनमुनिकृतन्यायभाष्य में तृतीयाध्याय का
प्रथम आह्निक समाप्त हुआ।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

परीक्षितानीन्द्रियाण्यर्थाश्च, बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः, सा किमनित्या नित्या वेति ? कुतः संशयः ?

कर्माकाशसाधर्म्यात्संशयः ॥ १ ॥

अस्पर्शवत्त्वं ताभ्यां समानो धर्म उपलभ्यते बुद्धौ, विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपर्ययश्च यथास्वमनित्यनित्ययोस्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते, तेन संशय इति ॥ १ ॥

अनुपपन्नः खल्वयं संशयः सर्वशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीया अनित्या बुद्धिः सुखादिवत्। भवति च संवित्तिर्ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषमिति, न

---

(१) बुद्धि की अनित्यता का प्रकरण

(द्वादश प्रकार के प्रमेयों में से अर्थ की परीक्षा के पश्चात् क्रमप्राप्त बुद्धि रूप प्रमेय की परीक्षा का प्रारंभ करते हुए भाष्यकार बुद्धि (ज्ञान) नित्य है अथवा अनित्य है, इस प्रकार के संशय के सूत्र का अवतरण देते हैं कि—) तृतीयाध्याय के प्रथमाह्निक में इन्द्रिय तथा अर्थ रूप प्रमेय पदार्थ की भी परीक्षा कर चुके, इस कारण इस द्वितीयाह्निक में बुद्धिपदार्थ की परीक्षा क्रमप्राप्त है, अतः वह बुद्धि अनित्य है अथवा नित्य यह संशय होता है। (वाह्य प्रमेय पदार्थों की परीक्षा करने के पश्चात् शरीर के भीतर रहने वाले बुद्धि रूप प्रमेय पदार्थ की परीक्षा को आरम्भ करते हैं ऐसा परिशुद्धिकार का अवतरण है) इसमें निबन्ध प्रकाशकार ने बुद्धि एवं मन दोनों को शरीर के भीतर के प्रमेय पदार्थ कहा है अतः इस आह्निक में मन की परीक्षा भी अन्त में की गई है। (प्रश्न मध्यस्थ का)—उक्त संशय क्यों होता है : (उत्तर)—

पदपदार्थ—कर्माकाश साधर्म्यात् = क्रिया तथा आकाश के समान धर्म होने के कारण, संशयः= बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य यह संदेह होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—क्रिया एवं आकाश दोनों का स्पर्शरहित होना यह धर्म बुद्धि में भी है, और उत्पत्ति एवं नाश रूप अनित्यता धर्म और उत्पत्ति तथा नाश न होना यह नित्य का विशेष धर्म भी बुद्धि में नहीं पाया जाता इस कारण बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य यह संशय होता है ॥ १ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अनित्य क्रिया एवं नित्य आकाश इन दोनों पदार्थों का स्पर्शरहित होना यह समान धर्म बुद्धि में उपलब्ध होता है। और उत्पत्ति तथा नाश होना अनित्य पदार्थों का विशेष धर्म तथा उत्पत्ति एवं नाश न होना यह नित्य पदार्थों का विशेष धर्म उस बुद्धि पदार्थ में ज्ञात नहीं होता, इस कारण बुद्धि पदार्थ नित्य है या अनित्य है ऐसा यह संशय होता है ॥ १ ॥

(बुद्धि पदार्थ नित्य है ऐसा मानने वाले पूर्वपक्षि सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) उपरोक्त संशय असंगत है, क्योंकि प्राणिमात्र को यह अनुभव होता है कि सुखदुःख आदि गुणों के समान बुद्धि रूप आत्मा का गुण भी अनित्य है, कारण यह कि ऐसा अनुभव भी प्राणिमात्र को होता है कि मैं जानूंगा, जानता हूं, मैंने जाना था। यह भूत, भविष्य, तथा वर्तमान ऐसे तीनों कालों में बुद्धि या अनुभव बिना उसके उत्पत्ति तथा नाश मानने के नहीं हो

चोपजनापायावन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिः, ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत्सिद्धम्। प्रमाणसिद्धं चेदं शास्त्रेऽप्युक्त*मिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमि*त्येवमादि तस्मात्संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति।

दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थं तु प्रकरणम्। एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति साङ्ख्याः, पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिरिति।

साधनं च प्रचक्षते—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम् ? यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः

सकता। इस कारण उक्त त्रिकाल में ज्ञान के होने के कारण बुद्धि अनित्य है यह सिद्ध होता है। इस विषय को न्यायशास्त्र ने भी प्रमाण से सिद्ध किया है, क्योंकि इन्द्रिय एवं पदार्थों के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं—तथा 'एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का साधक लिङ्ग है' इत्यादि सूत्रों से भी बुद्धि अनित्य है यह सिद्ध है, अतः बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य है यह संशय का प्रकार नहीं हो सकता। यह बुद्धि के अनित्यता का प्रकरण केवल सांख्यमत से माने हुए यह तत्त्व रूप अन्तःकरण बुद्धि का खण्डन करने के लिये यहां उठाया गया है। (अर्थात् बुद्धि के नित्य अथवा अनित्य होने का विचार यहां प्रधान विषय नहीं है किन्तु इसके द्वारा वृत्ति से भिन्न सांख्यों का अभिमत बुद्धि तत्व का खण्डन किया जाता है। सामान्य रूप से बुद्धि पदार्थ के नित्यानित्य विचार से)। क्योंकि यदि सांख्यों का अभिमत बुद्धि तत्व से उत्पन्न होने वाली उसकी वृत्तियों से भिन्न यह तत्व अन्तःकरण हो सकेगा, तो नित्यता के साधन प्रतिसंधान (स्मरण) आदि बुद्धि के नित्यता के साधक नहीं हो सकेंगे, इस कारण उसकी वृत्तियों को ही बुद्धि मानना युक्त होगा, जिससे उन वृत्तियों से भिन्न बुद्धि तत्व सिद्ध न हो सकेगा। 'बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान ये सब भिन्न पदार्थ नहीं हैं' (१।१।१५) ऐसा बुद्धि का लक्षण कह चुके हैं। जिससे इस विचार की लक्षण में ही संगति होती है, नहीं तो प्रधान रूप से बुद्धि का नित्यानित्य विचार लक्षण में संगत न होगा।

(इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—सांख्य मतावलंबी विद्वान् ऐसी दृष्टि रखते हुए ऐसा कहते हैं कि—"आत्मा का अन्तःकरण रूप बुद्धि तत्व नित्य है"। और इसमें साधक (हेतु) भी देते हैं—

पदपदार्थ—विषय प्रत्यभिज्ञानात् = विषय की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण ॥ २ ॥

भावार्थ—'जिस विषय को मैंने पूर्वकाल में जाना था उसी को इस समय भी मैं जानता हूँ' इस प्रकार दोनों (पूर्व और सांप्रत) ज्ञानों का एक ही विषय में प्रतिसंधान करना प्रत्यभिज्ञान कहाता है यह विना बुद्धि तत्व के स्थिर (नित्य) मानने के नहीं हो सकता, क्योंकि नाना (बुद्धि) ज्ञान मानने से उनकी उत्पत्ति तथा नाश होने के कारण उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकेगी, कारण यह कि दूसरे के जाने हुए विषय की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी इस कारण बुद्धितत्व नित्य है ॥ २ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की पूर्वपक्षी के मत से व्याख्या करते हुए प्रश्न करते हैं कि)—यह सूत्र में कहा हुआ प्रत्यभिज्ञान क्या है ? (उत्तर)—पूर्वकाल में मैंने जिस पदार्थ को जाना था उसी पदार्थ को सांप्रत काल में मैं जानता हूँ, इस प्रकार पूर्व और उत्तर दोनों ज्ञानों के

समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमेतच्चावस्थितताया बुद्धेरुपपन्नम्। नानात्वे तु बुद्धिभेदेषूत्पन्नापवर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभिजानातीति ॥ २ ॥

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यमेवं प्रत्यभिज्ञानमपीति। किं कारणम्? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः। पुरुषधर्मः खल्वयं ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः

समान पदार्थ विषय में प्रतिसंधि (जोड़) ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) कहते हैं। जो यह प्रत्यभिज्ञान बुद्धि के स्थिर (नित्य) होने से ही हो सकता है। बुद्धि (ज्ञान) को अनेक मानने से उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले बुद्धिपक्ष में उपरोक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि दूसरी (पूर्व बुद्धि के) जाने हुए पदार्थ का दूसरी बुद्धि को प्रत्यभिज्ञान नहीं होता) (इस सूत्र में विषय प्रत्यभिज्ञान रूप हेतु से सांख्यमत से पूर्वपक्षी ने बुद्धी को नित्य सिद्ध किया है, क्योंकि वृत्ति (व्यापार) वाला विषय को पहिचानता हुआ अपने को भी जानता है, चेतन आत्मा वृत्तिमान् नहीं है, क्योंकि वह कूटस्थिर निर्विकार) होने से नित्य है नहीं तो पूर्वापर अवस्था का आश्रय होने के कारण वह नित्य न हो सकेगा। इस कारण परिणाम नित्य बुद्धि, उत्पत्ति तथा विनाश वाली वृत्ति (व्यापार) से युक्त हो सकती है, अतः बुद्धितत्व नित्य है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

उपरोक्त सूत्र के पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—साधन योग्य होने के समान होने के कारण, अहेतुः = पूर्वपक्षी का हेतु (दुष्ट हेतु है) ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बुद्धि में नित्यता सिद्ध करता है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी साध्य है, क्योंकि चेतन का धर्म जड करण में हो नहीं सकता। दर्शन, ज्ञान, निश्चय आदि चेतन के धर्म है चेतन ही पूर्वकाल में जाने हुए पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा करता है (पहिचानता है) अतः उसमें नित्यता मानना संगत है। यदि करणबुद्धि को चेतन मानें तो चेतन का स्वरूप कहना पड़ेगा, क्योंकि बिना स्वरूप के उस दूसरे करण से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थात् बुद्धिरूप अन्तःकरण का ज्ञान धर्म है, ऐसा मानें तो चेतन का स्वरूप तथा उसका धर्म क्या है और बुद्धि वर्तमान ज्ञान से यह चेतन क्या करता है यह पूर्वपक्षी को कहना होगा (अर्थात् पूर्वपक्षी मत से मानी हुई जो बुद्धि की वृत्ति है वह वृत्तिवाली बुद्धि से भिन्न होने के कारण उन वृत्तियों के अनित्य होने पर भी वृत्ति का आधार कूटस्थता (निर्विकारता) से रहित नहीं हो सकता, ऐसा होने से प्रत्यभिज्ञा से प्रत्यभिज्ञा का आधार आत्मा ही नित्य होगा, न कि बुद्धि नामक अन्तःकरण, क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान में प्रकाश नहीं होता) ॥ ३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार बुद्धि में नित्यता सिद्ध करना है उसी प्रकार उसमें प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध करना है। (प्रश्न)—किस कारण! (उत्तर)—चेतन का धर्म जड़ रूप बुद्धिकरण में हो नहीं सकता। यह पुरुष (आत्मा) का निश्चय से धर्म है--ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, प्रत्यय, निश्चय इत्यादि। चेतन ही पूर्वकाल में जाने हुए पदार्थ को पहिचानता है। इस कारण से उसको नित्य मानना युक्त है इसलिये। यदि जड़ बुद्धि रूपकरण को चेतन माना जाय तो पूर्वपक्षी को अपने मत से चेतन का क्या स्वरूप है यह कहना होगा। क्योंकि बिना उसके स्वरूप कहे दूसरा आत्मा है यह नहीं जाना जा सकता। यदि पूर्वपक्षी ज्ञान गुण को ज़ड़ बुद्धि रूप अन्तकरण में मानें तो अब जड से उससे भिन्न चेतन का क्या स्वरूप है,

प्रत्ययोऽध्यवसाय इति। चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानाति तस्यैतस्माद्धेतोर्नित्यत्वं युक्तमिति। *करणचैतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयं नानिर्दिष्टस्वरूपमात्मान्तरं शक्यमस्तीति प्रतिपत्तुम्*। ज्ञानं चेद् बुद्धेरन्तःकरणस्याभ्युपगम्यते चेतनस्येदानीं किं स्वरूपं को धर्मः किं तत्त्वम् ? ज्ञानेन च बुद्धौ वर्तमानेनायं चेतनः किं करोतीति ?

चेतयते इति चेत् ? न ज्ञानादर्थान्तरवचनम्। पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानातीति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते, चेतयते जानीते बुध्यते पश्यति उपलभते इत्येकोऽयमर्थ इति। *बुद्धिर्ज्ञापयतीति* चेत् ? अद्धा जानीते पुरुषो बुद्धिर्ज्ञापयतीति सत्यमेतत्। एवं चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरुषस्येति सिद्धं भवति न बुद्धेरन्तःकरणस्येति।

क्या धर्म है, क्या उसका तत्व है। और बुद्धि में वर्तमान ज्ञान से यह उससे भिन्न चेतन क्या करता है। यदि "चेतना को सिद्ध करता है" ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह चेतना ज्ञान से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। आत्मा चेताता है, बुद्धि जानती है ऐसा यह ज्ञान से [कोई दूसरा पदार्थ नहीं कहा जाता क्योंकि चेताता है, जानता है, बोध होता है, देखता है, प्राप्त करता है, यह संपूर्ण एक ही पदार्थ है, इस कारण। यदि पूर्वपक्षी कहे कि "बुद्धि ज्ञान कराती है (जनाती है)" तो अद्धा (सत्य) है, कि पुरुष (आत्मा) जानता है और बुद्धि ज्ञान कराती है (जनाती है) यह पूर्वपक्षी का कहना सत्य है किन्तु इस प्रकार मानने से तो ज्ञान आत्मा ही का गुण है यह सिद्ध होता है, न कि जडबुद्धि रूप अन्तःकरण का धर्म है यह सिद्ध होता है। (अर्थात् अपने में वर्तमान ज्ञान करनेवाला जानता है, ऐसा कहा जाता है, और दूसरे में वर्तमान ज्ञान को करानेवाला ज्ञापक कहाता है, जिससे ज्ञान (जानना) तथा ज्ञापन (जनाना) इन दोनों के भिन्न होने के कारण बुद्धि में ज्ञानधर्म नहीं है यही सिद्ध होता है। (इस प्रकार बुद्धि में ज्ञानधर्म का खण्डन करने, तथा आत्मा में ज्ञानधर्म सिद्ध करने के पश्चात् आत्मा के भेद से चेतना ज्ञान. इत्यादि क्रिया भी भिन्न-भिन्न हैं ऐसे पूर्वपक्षी के पक्ष की शंका कर खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि—प्रत्येक आत्मा के लिये दूसरे शब्दों की व्यवस्था होने की प्रतिज्ञा यदि पूर्वपक्षी करे तो एक के निषेध का कारण पूर्वपक्षी को कहना होगा) अर्थात् जो पूर्वपक्षी ऐसी प्रतिज्ञा करे कि—"कोई आत्मा चेताता है, कोई जानता है, कोई उपलब्धि करता है, कोई देखता है" इस प्रकार ये भिन्न-भिन्न आत्मा है—"चेतन, जाननेवाला, उपलब्धि करनेवाला, देखनेवाला, नकि ये सम्पूर्ण एक आत्मा के धर्म हैं" तो इस निषेध में क्या कारण है। यदि पूर्वपक्षी यह निषेध का कारण दे कि—"यहाँ अर्थ का भेद नहीं है"—तो यह समान है। अर्थात् चेताता है, जानता है, ये सब एक ही अर्थ हैं—जिससे एक ही जाननेवाले "ज्ञाता आत्मा के साथ उपलब्ध सम्बन्ध होने की व्यवस्था युक्त नहीं है"—ऐसा यदि तुम पूर्वपक्षी मानते हो तो यह आत्मा चेतता है, बुद्धि जानती है इन प्रयोगों में भी अर्थ का भेद नहीं है, जिससे दो चेतन प्राप्त होते हैं उनमें एक का चेतन होना ही सिद्ध होगा, नकि दोनों का। (अर्थात 'चेतमने बुध्यते' इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ होने के कारण एक ही ज्ञाता आत्मा के साथ इन सब का सम्बन्ध है यह संगत नहीं हो सकता। "ऐसा यदि पूर्वपक्षी का आशय हो तो वही अर्थ का भिन्न न होना उसी के पक्ष में संगत नहीं ही होगा, क्योंकि बुद्धि जानती है, आत्मा जनाता है, इन दोनों वाक्यों में ज्ञान और चेतना के एक ही पदार्थ होने से उन दोनों का सम्बन्ध

प्रतिपुरुषं च शब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिज्ञाने प्रतिषेधहेतुवचनम्। यश्च प्रतिजानीते कश्चित्पुरुषश्चेतयते कश्चिद् बुध्यते कश्चिदुपलभते कश्चित्पश्यतीति पुरुषान्तराणि खल्विमानि चेतनो बोद्धोपलब्धा द्रष्टेति नैकस्यैते धर्मा इति अत्र कः प्रतिषेधहेतुरिति ?

अर्थस्याभेद इति चेत् ? समानम्। अभिन्नार्था एते शब्दा इति तत्र व्यवस्थानुपपत्तिरित्येवं चेन्मन्यसे ? समानं भवति पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न भिद्यते तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति। यदि पुनर्बुध्यतेऽनयेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते तच्च नित्यम् अस्त्वेतदेवं, न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वम्। दृष्टं हि करणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानं 'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्'इति चक्षुर्वत्, प्रदीपवच्च प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञानमिति। तस्माज् ज्ञातुरयं नित्यत्वे हेतुरिति ॥ ३ ॥

यच्च मन्यते बुद्धेरवस्थितताया यथाविषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति तच्च—

बुद्धि और आत्मा इन दोनों चेतनों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ही में सम्बन्ध मानना लाघव से संगत होता है। (किन्तु प्राचीन तालपत्र की पुस्तकों में **'अर्थस्यभेदः'** ऐसा पाठ लिया है और वही भाष्यचन्द्रकार रघूत्तम को संमत है। जिससे चेताता है इत्यादि जो पर्याय शब्द नहीं हैं अर्थ भिन्न-भिन्न है ऐसा पूर्वपक्ष का आशय है। और अर्थभेद न मानकर **'समानं'** इत्यादि उत्तर है। क्योंकि **"बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषीमतिः। प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः ॥"** इस अमरकोष से इनमें अर्थ भिन्न नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।) (बुद्धि कर्ता नहीं है किन्तु करण है इस आशय से पूर्वपक्षि की शंका देखाकर खण्डन करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—यदि बुद्धि इस पद से **'बुध्यतेऽनया'** जिससे जाना जाता है, इस व्युत्पत्ति के बल से बोधन करने वाली बुद्धि, मन ही को कहते हैं, और वह मन नित्य है—तो यह ठीक है। किन्तु वह मन विषय की प्रत्यभिज्ञा के कारण नित्य नहीं होगा। और कारण का भेद होने पर भी ज्ञाता आत्मा के एक होने के कारण प्रत्यभिज्ञान देखने में आता है—**'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्'** बाईं आँख से देखे हुए का दाहिनी आँख से प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) होती है, चक्षुइन्द्रिय के समान तथा दूसरे दीपक से देखे हुए का उससे भिन्न दूसरे दीपक से प्रत्यभिज्ञा न होने के समान। तस्मात् यह ज्ञाता आत्मा के नित्य होने में कारण है अतः आत्मा नित्य है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

(बुद्धि के करण होने पर भी ज्ञानाश्रयता का विरोध नहीं हो सकता। इस आशय के पूर्वपक्षी के आक्षेप का खण्डन करने का सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षिमत का अनुवाद करते हैं कि)—और जो पूर्वपक्षी ऐसा मानता है कि—"स्थिर बुद्धि को अपने विषयों के अनुसार ज्ञानरूप वृत्ति निकलती है, और वह वृत्ति वृत्ति का आधार बुद्धि से भिन्न नहीं है" अर्थात् जिस प्रकार कुलाल (कोंहार) घट का कर्ता है, और दण्ड भी कर्ता अर्थात् कृति का आधार है, उसी प्रकार बुद्धि (मन) रूप करण भी ज्ञान का कर्ता (ज्ञान का आधार) भी हो जायगा ऐसा पूर्वपक्षी माने" तो यह भी—

न, युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥

वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्त इति युगपद् विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यत इति ॥ ४ ॥

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते विपर्यये च नानात्वमिति ॥ ५ ॥

अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यत इति—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, युगपदग्रहणात = एक काल में अनेक विषयों का ज्ञान न होने के कारण ॥ ४ ॥

भावार्थ—वृत्ति तथा वृत्ति के आधार का अभेद होने के कारण नित्य बुद्धिरूप वृत्ति के आधार के स्थिर होने से वृत्तियों (ज्ञानों) का भी स्थिर होने के कारण जो विषयों का क्रम से ज्ञान होता है वह न हो सकेगा, क्योंकि वह सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान स्थिर है, अतः एक ही समय विषयों का ज्ञान होने लगेगा। (अर्थात् वृत्ति के आधार बुद्धि के स्थिर होने से वृत्ति (ज्ञान) भी स्थिर (नित्य) हो जायगे ॥ ४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—वृत्ति तथा वृत्ति के आधार के अभेद मानने पर वृत्ति के आधार बुद्धि के स्थिर होने से वृत्ति (ज्ञानों) का भी स्थिर मानना होगा और ऐसा होने से जो यह विषयों के ज्ञान होते हैं वे स्थिर होंगे, इस कारण एककाल में अनेक विषयों के ज्ञान होने की आपत्ति आ जायगी ॥ ४ ॥

तथा वृत्ति और उसके आधार का अभेद मानने पर यह भी दोष होगा कि—

पदपदार्थ—अप्रत्यभिज्ञान च = प्रत्यभिज्ञान के नष्ट होने पर, विनाशप्रसङ्गः = प्रत्यभिज्ञान करनेवाले मन का नाश होने की आपत्ति आ जायगी ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रत्यभिज्ञा नामक ज्ञान (कर्त्ता) के अतीत (नष्ट) होने पर, उसके आधार वृत्तिमान् के भी नष्ट होने के कारण अन्तःकरण मन (बुद्धि) का भी नाश होने की आपत्ति आ जायगी. और इसके विपरीत वृत्तिनाश होने पर भी उसके आधार का नाश न मानें तो उन दोनों वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद मानना पड़ेगा। अर्थात वृत्तियों के नष्ट होने पर वृत्तिमान् का भी नाश हो जायगा ॥ ५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रत्यभिज्ञान के अतीत होने पर वृत्ति का आधार भी अतीत (नष्ट) होगा, जिससे बुद्धि (मन) रूप अन्तःकरण का भी नाश होने की आपत्ति आ जायगी। और वृत्ति (ज्ञान) के नष्ट होने पर भी अन्तःकरण का नाश न मानें तो वृत्ति तथा वृत्ति के आधार का भेद है यह मानना होगा अतः पूर्वपक्षी मत युक्त नहीं है ॥ ५ ॥

(इस प्रकार सांख्य पूर्वपक्षी मत का खण्डन कर नैयायिक सिद्धान्त से सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अव्यापक एक मन क्रम से (व्यापक दस) बाह्येन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है इस कारण—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ ६ ॥

इन्द्रियार्थानाम्, वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति । एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति ॥ ६ ॥

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥

अप्रत्यभिज्ञानमनुपलब्धिः अनुपलब्धिश्च कस्य चिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्ते मनस्युपपद्यते वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वादेकत्वे हि अनर्थको व्यासङ्ग इति ॥

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः—

न, गत्यभावात् ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—क्रमवृत्तित्वात् = कालभेद से व्यापार होने के कारण, अयुगपद्ग्रहणम् = एक काल में इन्द्रिय के विषयों का ज्ञान नहीं होता ॥ ६ ॥

भावार्थ—अणुपरिमाण वाला मन क्रम से बाह्येन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है इस कारण बाह्येन्द्रिय के विषयों का ज्ञान एक काल में नहीं हो तो, इसी कारण वृत्ति तथा वृत्ति के आधार भिन्न हैं यह सिद्ध होता है, एक मानने से प्रादुर्भाव तथा तिरोभाव न हो सकेगा ॥ ६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हुए सूत्र के **'अयुगपद्ग्रहणम्'** इस पद के भाष्य में सम्बन्ध देखाते हैं कि—अणुपरिमाण मन का क्रम से बाह्येन्द्रियों के साथ (वृत्ति) सम्बन्ध होने के कारण बाह्येन्द्रियों के विषयों का एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होता, अतः वृत्ति और वृत्तिमान् भिन्न हैं, यदि एक हों तो प्रादुर्भाव और तिरोभाव न होगा। (अर्थात् न्याय मत में इन्द्रिय के संनिकर्ष रूप व्यापार भिन्न-भिन्न ही हैं और सांख्यमत से एक होने से जन्म और विनाश वाली बुद्धि अनित्य हो जायगी) ॥ ६ ॥

(स्वमत में प्रत्यभिज्ञा तथा अप्रत्यभिज्ञा दोनों को सिद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—अप्रत्यभिज्ञानं च = और प्रत्यभिज्ञा का अभाव भी होगा, विषयान्तरव्यासङ्गात् = दूसरे विषय में चित्त के आसक्त होने से ॥ ७ ॥

भावार्थ—न्यायमत में वृत्ति और वृत्तिमान के भिन्न होने के कारण दूसरे विषय में मन के आसक्त होने पर किसी अर्थ का ज्ञान न होना हो सकता है, एक मानने के पक्ष में व्यासंग व्यर्थ हो जायगा ॥ ७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के अप्रत्यभिज्ञान शब्द का अर्थ है अनुपलब्धि (न जानना), दूसरे किसी विषय में मन के आसक्त होने पर दूसरे किसी पदार्थ का ज्ञान न होना, वृत्ति और वृत्तिमान् के भेद पक्ष में हो सकता है, एक मानने के पक्ष में व्यासङ्ग व्यर्थ हो जायगा ॥ ७ ॥

(अन्तःकरण बुद्धि मन को विभु (व्यापक) मानने के पक्ष में क्रम से संयोग तथा विभाग बिना क्रम के अनेक ज्ञान भी हो सकेंगे इस आशय से पूर्वपक्षिमत से अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बुद्धि अन्तःकरण का विभु (व्यापक) मानकर क्रम से बाह्येन्द्रियों के साथ संयोग होगा—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, गत्यभावात् = व्यापक में गति के न होने से ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनरूप अन्तःकरण से व्यापक होने के कारण बाह्येन्द्रिय प्राप्त ही होते हैं, अतः प्राप्ति के लिये गति क्रिया बुद्धि में नहीं हो सकती जिससे उसमें क्रमसे व्यापार न होने के कारण ज्ञानों का एक काल में न होना न बन सकेगा ॥ ८ ॥

प्राप्तानीन्द्रियाण्यन्तःकरणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावः। तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद् ग्रहणानुपपत्तिरिति। गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनोऽन्तःकरणस्यायुगपद्ग्रहणं न लिङ्गान्तरेणानुमीयते इति। यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणात्पाणिचन्द्रमसोर्व्यवधानेन प्रतीघाते सानुमीयत इति सोऽयं नान्तःकरणे विवादो न तस्य नित्यत्वे। सिद्धं हि मनोऽन्तःकरणं नित्यं चेति। क्व तर्हि विवादः? तस्य विभुत्वे, तच्च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः प्रतिषिद्धमिति। एकञ्चान्तःकरणं नाना चैता ज्ञानात्मिका वृत्तयः, चक्षुर्विज्ञानं घ्राणविज्ञानं रूपविज्ञानं गन्धविज्ञानम्। एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वेऽनुपपन्नमिति। पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति। एतेन *विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः*। विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः पुरुषस्य नान्तःकरणस्येति, केन चिदिन्द्रियेण सन्निधिः केन चिदसन्निधिरित्ययं तु व्यासङ्गोऽनुज्ञायते मनस इति ॥८॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—मनरूप अन्तःकरण व्यापक होने के कारण उससे सम्पूर्ण बाह्यइन्द्रियों के साथ संयोग रूप प्राप्ति वर्तमान ही है, इस कारण इन्द्रियों से संयोग होने के लिये उस मन में गति नहीं हो सकती। अतः उस मन में क्रम से व्यापार न होने के कारण एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना न बन सकेगा। और गति के न होने से व्यापक मनरूप अन्तःकरण एक काल में अनेक ज्ञान होने का साधक होता है यह खण्डित हो जाता है, जो इस एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना दूसरे किसी साधक हेतु से अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। जिस प्रकार चक्षुइन्द्रिय की गति का निषेध करने पर समीप तथा दूर के विषयों का समान (एक) ही काल में ज्ञान होने से, तथा हस्त से चन्द्रमा के व्यवधान होने पर चक्षु की गति की रुकावट होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय किरण द्वारा 'गति' क्रिया युक्त है यह अनुमान से सिद्ध होता है। (मन नित्य तथा करण है, इस विषय में नैयायिकों का विवाद नहीं है इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वह यह मन के अन्तःकरण होने तथा नित्य होने में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि मन अन्तःकरण तथा नित्य है यह सिद्ध हो चुका है। (प्रश्न)—तो किस विषय में विवाद है? (उत्तर)—उस मन के व्यापक होने में। और उस मन की व्यापकता उपरोक्त प्रकार से प्रमाण द्वारा व्यापकता का ज्ञान होने के कारण खण्डन कर चुके हैं। (वृत्ति तथा वृत्तिमान के अभेद में दूसरी असंगति देखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह अन्तःकरण एक है और यह उसकी ज्ञानरूप वृत्ति नाना प्रकार की है—जैसे चाक्षुष ज्ञान, घ्राणेन्द्रिय से ज्ञान, रूप का ज्ञान, गन्ध का ज्ञान इत्यादि। यह वृत्ति और वृत्तिमान की एकता में नहीं हो सकता (अर्थात् एक और अनेक ये दोनों विरुद्ध धर्म होने से उनकी एकता नहीं हो सकती।) (इस प्रकार पूर्वपक्षिमत का खण्डन कर नैयायिक मत का उपसंहार करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—आत्मा ही जानता है, अन्तःकरण नहीं जानता। (जो सांख्य मत से यह कहा गया था कि "अन्तःकरण की दूसरे विषय में आसक्ति होने पर चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्बन्ध रहते भी विषय का ज्ञान नहीं होता, इस कारण अन्तःकरण का व्यापार है ज्ञान" (उसका खण्डन देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—"पुरुष (आत्मा) जानता है अन्तःकरण नहीं" इस हेतु से अन्तःकरण का विषयान्तर में आशक्ति होना भी। खण्डित हो गया, क्योंकि जो जानता है वही दूसरे विषय में

एकमन्तःकरणं नाना वृत्तय इति सत्यभेदवृत्तेरिदमुच्यते—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

तस्यां वृत्तौ नानात्वाभिमानो यथा द्रव्यान्तरोपहिते स्फटिके अन्यत्वाभिमानो नीलो लोहित इति एवं विषयान्तरोपधानादिति।

आशक्त होता है, अन्तःकरण को जानता नहीं किन्तु आत्मा ही जानता है, इस कारण दूसरे विषयों में आशक्ति होना यह आत्मा ही को होगा, नकि अन्तःकरण को इन्द्रियों के साथ संयोग रूप तथा असंयोग जो इसी प्रकार अन्तःकरण का व्यासंग होता है उसका हम निषेध नहीं करते) ॥ ८ ॥

(८ वृत्ति तथा वृत्तिमान् का अभेद मानने पर—'अन्तःकरण एक है उसकी वृत्तियाँ नाना प्रकार हैं'—यह जो कहा जाता है—उसमें यद्यपि वृत्ति नाना प्रतीत होती हैं तथापि यह भाव है, क्योंकि एक अन्तःकरण से भेद न रखने वाली वृत्ति नाना प्रकार की नहीं हो सकती। इस कारण जिस प्रकार एक ही श्वेत स्फटिकमणि तमाल, जपा (ओढहल) आदि नील तथा रक्त पुष्पों के समीप होने पर उपाधि से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, इसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण भी इन्द्रिय नाली द्वारा उन-उन विषयों में सम्बन्ध होने से औपाधिक भेद से नाना प्रकार का है। इस आशय से पूर्वपक्षिमत के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अन्तःकरण एक ही है उसकी वृत्तियाँ नाना प्रकार की होती हैं, इसलिये वृत्तियों को वृत्तिमान् से भेद न होने के कारण यह पूर्वपक्षिमत से सूत्र में कहा जाता है—

पदपदार्थ—स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् = स्फटिकमणि के भेद के अभिमान के समान, तदन्यत्वाभिमानः = वृत्तियों में अनेक प्रकार होने का अभिमान (भ्रम) होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार लाल, पीले, नीले पुष्पों के समीप होने पर एक ही श्वेत, स्फटिकमणि में लाल, पीला, नीला स्फटिकमणि है, इत्यादि भान होता है, इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण की वृत्ति में नाना हैं ऐसा भ्रम होता है वस्तुतः वह एक ही है ॥ ९ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षी के सूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उस एक ही अन्तःकरण की वृत्ति में नाना होने का अभिमान होता है, जिस प्रकार लाल, नीले आदि पुष्प रूप दूसरे द्रव्य के उपाधि से युक्त (समीप रहने वाले) स्फटिकमणि में एक ही द्रव्य में भेद होने का अभिमान होता है—कि यह स्फटिक नील है, रक्त है इत्यादि इसी प्रकार दूसरे विषयों के उपाधि (सम्बन्ध) से एक ही वृत्ति में नाना होने का अभिमान होता है (अर्थात् यद्यपि एक ही अन्तःकरण की वृत्तियाँ नाना प्रकार की प्रतीत होती हैं तथापि यह भ्रम है, क्योंकि एक ही अन्तःकरण से भेद न रखने वाली उसकी वृत्तियाँ अनेक नहीं हो सकतीं, इस कारण जिस प्रकार एक ही श्वेत स्वच्छ स्फटिकमणि तमाल, जपा, आदि नील, रक्त आदि पुष्पों की छाया पड़ने से उस स्फटिकमणी में लाल है, नील है आदि भ्रम से अनेकता औपाधिक है, इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण का बाह्येन्द्रियरूप नाली के द्वारा उन-उन विषयों में सम्बन्ध होने के कारण नाना प्रतीत होना भी भ्रम है यह पूर्वपक्षि का आशय है। (इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार स्वतन्त्र उत्तर करते हैं कि)—नहीं ऐसा मानने में कोई हेतु नहीं है, अर्थात् स्फटिकमणि के भेदज्ञान के समान वृत्ति (ज्ञानियों) में नाना प्रकार होने का ज्ञान भ्रमरूप है, गौण (अप्रधान) है, नकि गन्धादि गुणों में भेदज्ञान के समान वास्तविक है ऐसा एक पक्ष मानने में कोई विशेष साधक नहीं है, अतः एक पक्ष का हेतु (साधक) न होने से यह पूर्वपक्षी का मत असंगत है।

न हेत्वभावात् । स्फटिकान्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमानो गौणो न पुनर्गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदिति हेतुर्नास्ति हेत्वभावादनुपपन्न इति । समानो हेत्वभाव इति चेत् ? *न ज्ञानानां क्रमेणोपजनापायदर्शनात्* । क्रमेण हीन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते चापयन्ति चेति दृश्यते । तस्माद् गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमान इति ॥ ६ ॥

इति नवभिः सूत्रैर्बुद्ध्यनित्यताप्रकरणम् ।

'स्फटिकान्यत्वाभिमानवदि' त्येतदमृष्यमाणः क्षणिकवाद्याह—

(यहाँ पर **'न हेत्वभावात्'** इस भाष्य का भाष्य चन्द्रकार रघूत्तम ने सिद्धान्तसूत्र मानकर व्याख्या की है, किन्तु वृत्तिकार ने इसे सूत्र नहीं माना है) । (अर्थात् जो यहाँ स्फटिक का दृष्टान्त दिया है उसमें ऐसा विकल्प हो सकता है कि यह स्फटिक उपाधिभेद से भिन्न है, अथवा नहीं । यदि भिन्न है तो दृष्टान्त नहीं होगा । और यदि भिन्न नहीं है तो नाना होने का अभिमान कैसे होगा । यदि उपाधि के भेद से नाना होने का अभिमान होता है—तो उपाधि ही भिन्न है यह कैसे जानते हो ? यदि ज्ञान के भेद से, तो व्याघात होगा, क्योंकि प्रत्यय (ज्ञान) का वृत्ति पर्याय ही है । और ज्ञान को अभिन्न मानो तो स्फटिक में नीलादि ज्ञान का भेद संगत न होगा) । (आपका (नैयायिक) का मत भी असंगत है इस आशय के सांख्यपूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार आगे शंका दिखाकर खण्डन करते हैं कि)—"सांख्य तथा नैयायिक दोनों के पक्ष में हेतु का न होना समान है" ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि ज्ञानों की क्रम से उत्पत्ति तथा नाश होता है यह देखने में आता है । अर्थात् बाह्यइन्द्रियों के विषयों में क्रम से ज्ञान उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं यह देखने में आता है । इस कारण गन्धादि विषयों के वास्तविक भेदज्ञान के समान यह ज्ञानों में अनेकता का ज्ञान वास्तविक है यही सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

(२) क्षणभंगप्रकरण

(इस प्रकार नैयायिकमत से सांख्यपक्ष का खण्डन कर बौद्धों ने जो सांख्य सिद्धान्त पर दोष कहा था उसका खण्डन करने के लिये प्रथम बौद्धमत को दिखाते हुए क्षणभंगप्रकरण को प्रारम्भ करते हैं । सम्पूर्ण न्यायशास्त्र के अर्थों का उपकार करने पर भी प्रधानरूप से आत्मा की सिद्धि करना ही इस प्रकरण का मुख्य प्रयोजन है । क्योंकि स्थिरता मानने से ही **'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्'** इत्यादि प्रतिसंधान के कारण विना बोध के सिद्ध हो सकेंगे । एवं गुण और गुणी का भेद सिद्ध होने पर इच्छादि गुण कहीं आश्रित हैं, कार्य होने से, अथवा गुण होने से इत्यादि भिन्न आत्मा के साधक अनुमान भी सिद्ध हो सकेंगे । किन्तु कुछ विद्वानों ने इस क्षणभंगप्रकरण को प्रथम बुध्यनित्यताप्रकरण का ही अंग मानकर व्याख्या की है । जिसकी इस प्रकरण के अन्तिम सत्रहवें सूत्र के भाष्य का **'इस प्रकार बुद्धि अनित्य है यह सिद्ध हुआ'** ऐसा आगे आनेवाला ग्रन्थ ही सिद्ध करता है । परन्तु वस्तुतः इस क्षणभंगप्रकरण का विषय एकदम भिन्न ही है । उपरोक्त भाष्यग्रंथ के केवल दोनों प्रकरणों के सम्बन्ध को ही दिखाता है) । (इसी कारण बौद्धमत से पदार्थमात्र में क्षणिकता सिद्ध करने वाले बौद्धमत से पूर्वपक्ष सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—**'स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्'** स्फटिक के भेद के भ्रमज्ञान के समान इस सांख्योक्ति को न सहन करनेवाला बौद्ध जो पदार्थमात्र को क्षणविनाशी है ऐसा मानता है- वह कहता है—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः॥ १० ॥

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदान्नानात्वाभिमान इत्ययमविद्यमान-हेतुकः पक्षः। कस्मात्? *स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः।* स्फटिकेऽपि अन्या व्यक्तय उत्पद्यन्ते अन्या निरुद्ध्यन्त इति। कथम्? *क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनाम्।* क्षणश्चाल्पीयान्कालः क्षणस्थितिकाः क्षणिकाः। कथं पुनर्गम्यते क्षणिका व्यक्तय इति? *उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु।* पक्तिनिर्वृत्तस्याहाररसस्य शरीरे रुधिरादिभावेनोपचयोऽपचयश्च प्रबन्धेन प्रवर्त्तते उपचयाद् व्यक्तीनामुत्पादः, अपचयाद् व्यक्तिनिरोधः। एवं च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरे गृह्यते इति सोऽयं व्यक्तिविशेषधर्मो व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति॥१०॥

पदपदार्थ—स्फटिक अपि = स्फटिक में भी, अपरापरोत्पत्तेः = दूसरे-दूसरे स्फटिक की उत्पत्ति होने के कारण, क्षणिकत्वात् = क्षणविनाशी होने से, व्यक्तीनां = पदार्थों के, अहेतुः = उक्त ज्ञान में भ्रमत्व सिद्ध नहीं कर सकता॥ १० ॥

भावार्थ—लाल, नीले आदि पुष्परूप उपाधि के भेद से एक ही श्वेत स्फटिक में अनेकता ज्ञान मान से होता है, ऐसा मानने से कोई पूर्वपक्षी साधक हेतु नहीं दे सकता। क्योंकि स्फटिक भी क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न उत्पन्न होता है, क्योंकि संसार की सभी व्यक्तियाँ क्षण-क्षण में नष्ट होती हैं। क्योंकि शरीरादिकों में अवयवों की वृद्धि तथा घटना सर्वदा देखने में आता है, अतः उसके समान संसार में सभी पदार्थ क्षणिक हैं यह सिद्ध होता है, जिससे बौद्ध सम्पूर्ण पदार्थमात्र जो सत् (वर्तमान) होता है वह क्षणिक होता है, जिस प्रकार शरीर, वैसा ही स्फटिक भी है। बाल के परिपाक से शरीर में स्थूलता तथा ह्रास देखने में आता है जिससे प्रतिक्षण में उसमें सूक्ष्मरूप से भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, यह अनुमान से सिद्ध होता है वह है मध्य में नाश। यद्यपि स्फटिकादिकों में स्थूलता, ह्रास आदि देखने में नहीं आते तथापि शरीर के दृष्टान्त से उसमें भी सत्तारूप ही इसे क्षणविनाशता अनुमान से सिद्ध होती है अतः स्फटिक में नाना होने का भ्रम नहीं है किन्तु वास्तविक ही स्फटिक भिन्न ही है यह क्षणभंगवाद से सिद्ध होता है॥ १० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार बौद्धपूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—एक ही स्फटिक-मणी के नील, रक्त आदि पुष्पों के समीप रहने पर पुष्परूप उपाधि के भेद से स्फटिक में नाना होने का अभिमान होता है यह पूर्वपक्षी सांख्य का पक्ष मानने में कोई साधक हेतु नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—दृष्टान्तरूप स्फटिकमणी से भी दूसरे-दूसरे स्फटिकों की उत्पत्ति होने के कारण। क्योंकि उस स्फटिकमणी में भी दूसरी-दूसरी आगे की स्फटिकमणीरूप व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, और पूर्वस्फटिकमणीरूप व्यक्तियाँ नष्ट होती हैं। (प्रश्न)—किस प्रकार? (उत्तर)—व्यक्ति संद्वर्णरूप पदार्थों के क्षणिक (क्षण-क्षण में नाश स्वभाव) होने के कारण। सबसे अल्प (छोटे) काल को क्षण कहते हैं—जो क्षणकाल तक ही स्थित (विद्यमान) होते हैं उन्हें क्षणिक कहते हैं। (प्रश्न)—सम्पूर्ण व्यक्तियाँ (पदार्थ) क्षण-क्षण में नाशस्वभाव हैं, यह कैसे जाना जाता है? (उत्तर)—शरीरादिकों में वृद्धि, तथा ह्रास के समूहों के दिखाने से (क्षणिकता जानी जाती है)। जाठराग्नि संबन्ध से विनाशरूप पाकविशेष से निर्मित खाये हुये अन्नपानादि रस का शरीर में रक्त, मांस आदि रूप से उपचय (वृद्धि) तथा अपचय (ह्रास) के समूह के वृद्धि होने के कारण। वृद्धि होने से दूसरा शरीर उत्पन्न हुआ, तथा ह्रास

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ ११ ॥

सर्वासु व्यक्तिषु उपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः कस्मात ? *हेत्वभावात्*। नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति । *तस्माद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा*। यत्र यत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते तत्र तत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरुपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते यथा शरीरादिषु। यत्र यत्र न दृश्यते तत्र तत्र प्रत्याख्यायते यथा ग्रावप्रभृतिषु । स्फटिकेऽप्युपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते तस्मादयुक्तं स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तिरिति । यथा चार्कस्य कटुकिम्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत्तादृगेतदिति ॥ ११

(घटने) से प्रथम शरीर नष्ट हुआ यह सिद्ध होता है। ऐसा होने से ही शरीर के हाथ-पैर आदि अवयवों के घटने-बढ़ने आदि परिमाण के भेद से कालान्तर में शरीर के बढ़ने तथा घटने का ज्ञान होता है। वह यह शरीररूप व्यक्तिविशेष का धर्म संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में जानना चाहिये ॥ १० ॥

(सम्पूर्ण पदार्थों में उत्पत्ति तथा नाश क्षण-क्षण में होते हैं इस नियम (व्याप्ति) को न मानने वाले सिद्धान्तमत से सूत्रकार उपरोक्त पूर्वपक्षि बौद्धमत का खण्डन करते हैं) —

पदपदार्थ—नियमहेत्वभावात = पदार्थमात्र उत्पत्ति तथा नाशस्वभाव वाले हैं ऐसा नियम मानने में कोई प्रमाण न होने से, यथादर्शनं = जैसा जिस पदार्थ में देखा जाता है वैसा, अभ्यनुज्ञा= स्वीकार किया जाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—संसार की संपूर्ण व्यक्तियों (पदार्थों) का शरीरादिकों के समान वृद्धि तथा ह्रास का हुआ और होता है, अर्थात क्षण-क्षण में पदार्थ विनाशस्वभाव ही प्रत्यन्त होते हैं ऐसा मानने में कोई प्रत्यक्ष अथवा अनुमानप्रमाण नहीं है इस कारण शरीर में वृद्धि तथा ह्रास के दिखाने के कारण प्रथम शरीर का नाश तथा द्वितीय शरीर की उत्पत्ति तो मानी जा सकती है, किन्तु जहाँ वृद्धि तथा ह्रास नहीं दीखते ऐसे पत्थर आदि पदार्थों में प्रतिक्षण में उनका नाश और उत्पत्ति नहीं दिखाई पड़ने से क्षणिकता नहीं मानी जा सकती। प्रस्तुत स्फटिक दृष्टान्त में भी घटना-बढ़ना नहीं दिखाई पड़ता इस कारण संसार के संपूर्ण पदार्थों से क्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि)—शरीर के समान संपूर्ण संसार के पदार्थों में वृद्धि तथा ह्रास के समूह होते हैं यह नियम नहीं है । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—प्रमाण न होने से। संपूर्ण संसार के पदार्थमात्र क्षण-क्षण में विनाशस्वभाव ही उत्पन्न होते हैं ऐसा मानने में न प्रत्यक्षप्रमाण है न अनुमानप्रमाण। इस कारण जिस पदार्थ में जैसा देखने में आता है वैसा स्वीकार किया जाता है। जिस जिस पदार्थ में वृद्धि तथा ह्रास का समुदाय देखने में आता है, उस-उस पदार्थ में वृद्धि तथा ह्रास के समुदाय के दिखाने से वह-वह पदार्थ क्षण-क्षण में दूसरा उत्पन्न होता है यह उपरोक्त शरीरादिकों के दृष्टान्त से मानना उचित है। और जिस-जिस पदार्थ में वृद्धि तथा ह्रास नहीं दिखाई पड़ते हैं, उन पदार्थों में क्षणिकता का निषेध ही किया जाता है। जिस प्रकार पाषाणादिकों में वृद्धि तथा ह्रास के न दिखाई पड़ने से क्षणिकता का निषेध ही किया जाता है। प्रस्तुत बौद्ध के स्फटिकरूप दृष्टान्त में भी वृद्धि तथा ह्रास का समुदाय देखने में नहीं आता। इस कारण बौद्धपूर्वपक्षी का 'स्फटिकमणि में भी दूसरे-दूसरे स्फटिक की उत्पत्ति होती है, यह कहना असंगत है। वह तो आमवृक्ष के कडुए होने से संपूर्ण संसार के वृक्ष कडुए हैं

यश्चाशेषनिरोधेनापूर्वोत्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने क्षणिकतां मन्यते तस्यै

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १२ ॥

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते अवयवोपचयो वल्मीकादीनाम्, विनाशकारणञ्चोपलभ्यते घटादीनामवयवविभागः। यस्य त्वनपचितावयवं निरुध्यते अनुपचितावयवं चोत्पद्यते तस्याशेषनिरोधे निरन्वये वाऽपूर्वोत्पादे न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यते इति ॥ १२ ॥

क्षीरविनाशे कारणनुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ॥ १३ ॥

ऐसा कहने के समान यह भी बौद्ध का कहना है कि शरीर के क्षणिक होने से संपूर्ण संसार के पदार्थ क्षणिक हैं। तस्मात् संसार के सभी सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं, यह मत सर्वथा असंगत है ॥११॥

(उक्त बौद्धमत का खण्डन करने वाले सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षिमत का अनुवाद करते हुए कहते हैं कि)—और जो बौद्ध पूर्वपक्षी संपूर्णरूप से प्रथम पदार्थ व्यक्ति नष्ट हो कर दूसरी अपूर्व (जो प्रथम नहीं थी) दूसरी पदार्थ व्यक्ति विना पूर्व तथा उत्तरपदार्थ के किसी सम्बन्ध के ही द्रव्य (पदार्थ) के समूह में क्षणिकता मानता है, उसका यह कहना—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, उत्पत्तिविनाशकारणानुपलब्धिः = उत्पत्ति तथा नाश का कारण न प्राप्त होने से ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस पदार्थ की उत्पत्ति होती है उसका उसमें कारण अवयवों का बढ़ना मिलता है जैसे वल्मीक (वामीकी मृत्तिका आदिकों के बढ़ना उनकी उत्पत्ति का कारण देखने में आता है। इसी प्रकार जिन घटादिकों को अवयवों का पृथक् होना नाश का कारण मिलता है, उनका नाश माना जाता है। और बौद्धमत तो पदार्थमात्र की विना अवयवों के घटने अथवा बढ़ने से नाश और उत्पत्ति मानता है उसके विना सम्बन्ध के दूसरे पदार्थमात्र की क्षण-क्षण में उत्पत्ति तथा क्षण-क्षण में नाश होना इन दोनों में कोई कारण (प्रमाण) नहीं मिलता, अतः पदार्थमात्र क्षणिक हैं यह बौद्धमत सर्वथा असंगत है) ॥ १२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—वल्मीक वामी की मृत्तिका के उत्पत्ति का कारण उसके अवयवों की वृद्धि देखने में आती है। तथा घटादि द्रव्यों के अवयवों का परस्पर विभाग होना रूप उनके नाश का कारण भी देखने में आता है। किन्तु जिस बौद्ध के मत में विना अवयवों के ह्रास के ही पदार्थ का नाश होता है और विना अवयवों के वृद्धि के दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति होती है—उस बौद्ध के मत में सम्पूर्णरूप से स्फटिकादि पदार्थों का क्षण-क्षण में नाश और विना किसी पूर्वपदार्थ के सम्बन्ध के अपूर्व (जो प्रथम तथा) दूसरा स्फटिकादि पदार्थ उत्पन्न होता है ऐसा माना जाता है उसके ऐसा मानने में कोई कारण (प्रमाण) नहीं मिलता। (अतः बौद्धमत से पदार्थमात्र क्षणभंगुर होते हैं ऐसा मानना असंगत हैं) ॥ १२ ॥

(इस प्रकार खण्डन किये हुए भी पूर्वपक्ष के पुनः स्थापन करने के लिये क्षणवादी के मत से सूत्रकार कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—क्षीरविनाशे = दुग्ध के नष्ट होने में, कारणानुपलब्धिवत् = कारण के उपलब्ध (प्राप्त) न होने के समान, दध्युत्पत्तिवत् च = और दही के उत्पत्ति के समान, तदुत्पत्तिः = स्फटिक की क्षण-क्षण में उत्पत्ति होगी ॥ १३ ॥

यथानुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणं चाभ्यनुज्ञायते तथा स्फटिकेऽपरापरासु व्यक्तिषु विनाशकारणमुत्पादकारणं चाभ्यनुज्ञेयमिति ॥१३॥

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १४ ॥

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिलिङ्गं दध्युत्पत्तिकारणं च गृह्यतेऽतो नानुपलब्धिः, विपर्ययस्तु स्फटिकादिषु द्रव्येषु अपरापरोत्पत्तीनां न लिङ्गमस्तीत्यनुत्पत्तिरेवेति ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दुग्ध के नाश तथा दही के उत्पन्न होने का कारण उपलब्ध (प्राप्त) न होने पर भी माना जाता है, उसी प्रकार स्फटिकमणि भी क्षण-क्षण में दूसरा उत्पन्न होता है एवं प्रथम-प्रथम नष्ट होता है इसका कारण मानना पड़ेगा ॥ १३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार दुग्ध-विनाश का कारण और दही के उत्पन्न होने का कारण न मिलने पर भी यह माना जाता है, उसी प्रकार स्फटिकमणि में भी आगे-आगे दूसरे स्फटिकमणियों की उत्पत्ति तथा प्रथम-प्रथम स्फटिकमणियों के नाश का कारण न मिलने पर भी अवश्य है ऐसा स्वीकार करना होगा। (अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होते हैं यह पूर्वपक्ष युक्त है)॥ १३ ॥

(उपरोक्त पूर्वपक्षी का दृष्टान्त असिद्ध होने के कारण संगत नहीं है इस आशय से पूर्वपक्षमत का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—लिङ्गतः = हेतु से, ग्रहणात् = क्षीर के नाश तथा दही के उत्पत्ति के कारण का ज्ञान होने के कारण, न = नहीं है, अनुपलब्धिः = अप्राप्ति ॥ १४ ॥

भावार्थ—क्षीर के अवयवों में दही का उत्पन्न होना रूप दुग्ध के विनाश का कारण, तथा दही के उत्पन्न होने का लिङ्ग और दही के उत्पन्न होने का कारण भी जाना जाता है इस कारण क्षीरनाश और दही के उत्पत्ति का कारण नहीं जाना जाता यह नहीं हो सकता, किन्तु दूसरे स्फटिकादि द्रव्यों में क्षण-क्षण में दूसरे स्फटिकादि द्रव्य उत्पन्न होते हैं इसका कोई साधक लिङ्ग नहीं है, इस कारण स्फटिक क्षण में उत्पन्न होता है, नष्ट होता है यह नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—क्षीर (दुग्ध) के अवयव क्षीर विनाश वाले हैं क्षीर के विरोधी अवयवों की उत्पत्ति होने से इस अनुमान से क्षीर के विनाश का कारण, प्रत्यक्ष दही के अनुमान किया हुआ दही के उत्पत्ति का कारण अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है, इस कारण क्षीर के नाश का कारण और दही के उत्पन्न होने का कारण नहीं उपलब्ध होता ऐसा पूर्वपक्षिमत नहीं हो सकता। प्रस्तुत स्फटिक नाम के द्रव्यों में इसका विपर्यय (उलटा) है, क्योंकि स्फटिक आदि और द्रव्यों में पूर्व-पूर्व स्फटिक का नाश, एवं उत्तर-उत्तर स्फटिकों की क्षण-क्षण में उत्पत्ति होती है ऐसा मानने में कोई साधक लिङ्ग (अनुमानप्रमाण) नहीं है, अतः स्फटिक क्षण-क्षण में दूसरे नहीं ही उत्पन्न होते। (यहाँ पर वार्तिककार ने ऐसी समालोचना की है कि—'स्फटिकादि व्यक्तियों के दूसरे-दूसरे स्फटिक उत्पन्न होने में प्रमाण नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शीत तथा उष्णस्पर्श का भेद उसमें अनेकता सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि उष्ण और शीतस्पर्श का भेद अनेक द्रव्यता का साधक है, जैसे अग्नि में उष्ण एवं जल में शीतस्पर्श दोनों के भेद का साधक हैं। स्फटिक में भी शीत एवं उष्णस्पर्श का भेद है ऐसी शंका का समाधान यह है कि नहीं, वह दूसरे कारण से होता है, वह जल तथा तेज के

अत्र कश्चित्परिहारमाह—

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १५ ॥

पयसः परिणामो न विनाश इत्येक आह। परिणामश्चावस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिरिति।

गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आह। गुणान्तरप्रादुर्भावश्च सतो द्रव्यस्य पूर्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यत इति। स खल्वेकपक्षीभाव इव ॥ १५ ॥

अत्र तु प्रतिषेधः—

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १६ ॥

अवयवों का सम्बन्ध है अतः पूर्वपक्षी की शंका अयुक्त है इत्यादि स्वयं वार्तिक में देख लेना चाहिये ॥ १४ ॥

(त्रयोदश सूत्र में किये बौद्ध के आक्षेप का परिहार करते हुए बौद्ध और नैयायिकों के विवाद में सांख्य समाधान करता है, इस आशय से सांख्य के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यहाँ कोई सांख्यमतावलंबी परिहार कहता है—

पदपदार्थ—न = नहीं, पयसः = दुग्ध के, परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् = दहीरूप परिणाम होने से दूसरे खट्टे आदि गुणों का आविर्भाव होने से ॥ १५ ॥

भावार्थ—दुग्ध का नाश नहीं होता किन्तु दहीरूप परिणाम होता है। अथवा गुणान्तर (दूसरे गुण का) प्रादुर्भाव होता है। द्रव्यरूप धर्मी के वर्तमान रहते पूर्वगुण के निवृत्त होने पर दूसरे गुण का उत्पन्न होना ही 'गुणान्तरप्रादुर्भाव' शब्द का अर्थ है ॥ १५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—दुग्ध का परिणाम होता है नाश नहीं होता—ऐसा कुछ सांख्य दार्शनिक कहते हैं। द्रव्यधर्मी के वर्तमान रहते पूर्वधर्म की निवृत्ति होकर दूसरे धर्म की उत्पत्ति होना ही परिणाम कहाता है। और दूसरे सांख्यमतावलम्बियों का कहना है कि—गुणान्तरप्रादुर्भाव शब्द का अर्थ है द्रव्यरूप धर्मी के वर्तमान रहते पूर्वगुण (मधुरता) आदि के निवृत्त होने पर खट्टा आदि रहते गुण उत्पत्ति होना। यह भी पक्ष प्रथम पूर्वपक्ष के समान ही है (अर्थात् उपरोक्त दोनों सांख्यमत एक समान ही है अर्थात् दूसरे पक्ष का द्रव्यरूप धर्मी में वर्तमान रहता ही है गुण भी वर्तमान ही रहता है, किन्तु केवल वह उद्भूत नहीं था—जो एक गुण उद्भूत होता हुआ तिरस्कृत हो जाता है, पूर्वगुण के निवृत्त होने पर अर्थात् तिरस्कृत होने पर दूसरा गुण गुण उत्पन्न होता है वह 'होता है' यह अर्थ है। किन्तु इन उपरोक्त मतों का तात्पर्य एक ही है, क्योंकि दोनों मत में द्रव्य धर्मी रहता है—एक का आविर्भाव तथा दूसरे का तिरोभाव होता है, और एक का नाश तथा प्रादुर्भाव होता है यह दोनों का आशय है ॥ १५ ॥

(उक्त सांख्यमत का खण्डन करने वाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस सांख्य के परिहार का ऐसा निषेध है—

पदपदार्थ—व्यूहान्तरात् = दूसरे अवयव संस्थानरूप व्यूह से, द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं = दूसरे द्रव्य के उत्पत्ति का देखना, पूर्वद्रव्यनिवृत्तेः = प्रथम द्रव्य के निवृत्त होने का, अनुमानं = अनुमान-प्रमाण से सिद्धि होती है ॥ १६ ॥

भावार्थ—पूर्व क्षीररूप द्रव्य के नष्ट होने के पश्चात् दहीरूप द्रव्य को उत्पन्न करनेवालों का संयोग होने पर दही उत्पन्न होता है, जिससे क्षीर के अवयवों का परस्पर विभाग होने पर

सम्मूर्च्छनलक्षणादवयवव्यूहाद् द्रव्यान्तरे दध्न्युत्पन्ने गृह्यमाणे पूर्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते, यथा मृदवयवानां व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे स्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्त्तत इति । मृद्वच्चावयवान्वयः पयोदध्नोर्नाशेषनिरोधे निरन्वयो द्रव्यान्तरोत्पादो घटत इति ॥ १६ ॥

अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं क्षीरविनाशं दध्युत्पादं च प्रतिषेध उच्यत इति—

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १७ ॥

क्षीरद्रव्य निवृत्त हो गया ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है। क्योंकि यह देखने में आता है कि मृत्तिका के गोलेरूप अवयवी के मृत्तीकारूप अवयवों से घड़ा आदि दूसरा द्रव्य उत्पन्न (तैयार) होने के पश्चात् वह मृत्तिका का गोलारूप द्रव्य नहीं रहता, अतः मृत्तिका के समान अवयवों का क्षीर तथा दही द्रव्यों में भी अवयवसम्बन्ध होता है न कि सम्पूर्ण प्रकार से पदार्थ मात्र की निरन्वय (सम्बन्धरहित) उत्पत्ति होती है यह हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी का मत परिणामवाद असंगत है ॥ १६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वव्यूह का नाश होने पर दूसरे द्रव्य का उत्पन्न होना रूप संमूर्च्छन नामक अवयवों के व्यूह से दूसरे दहीरूप द्रव्य की उत्पत्ति होती है ऐसा ज्ञान होता है, जिससे क्षीररूप प्रथम द्रव्य अपने अवयवों के विभागों के द्वारा नष्ट हो गया ऐसा अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार मृत्तिका के अवयवों के दूसरे मृत्तिकापिण्डरूप व्यूह से प्याली (हंडिया) रूप द्रव्य के उत्पन्न होने पर प्रथम मृत्तिकापिण्डरूप द्रव्य अपने अवयवों के परस्पर विभागों के कारण निवृत्त (नष्ट) हो जाता है ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है। मृत्तिका के समान क्षीर तथा दही के अवयवों का सम्बन्ध होता है, न कि सम्पूर्ण प्रकार से संसार के सम्पूर्ण द्रव्यों का बिना सम्बन्ध से दूसरी उत्पत्ति तथा नाश हो जाता है यह संगत हो सकता है, (अतः सांख्यों का परिणामवाद असंगत है। (अर्थात् दुग्ध के अवयव ही क्षीर का नाश होने पर पाकज प्रक्रिया से विलक्षण दहीरूप द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। यदि सम्पूर्ण कार्यकारण के व्यापार के पूर्व भी सांख्यमत से कारण में सत् ही हो तो, करणों का व्यापार व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि अभिव्यक्त होना भी कार्य होने से सत् ही है। यदि अभिव्यक्ति असत् हो तो जैसे वही सत् न होते हुए, की जाती है इसी प्रकार दूसरे द्रव्य भी यह भाष्यकार का गूढ आशय है। इस भाष्य का यह आशय है कि पूर्वअवस्था के सम्बन्ध को छोड़े बिना अभिव्यक्ति अथवा विनाश और प्रादुर्भाव हो सकते हैं, अतः द्रव्य के रहते उसका परिणाम होता है यह मानना असंगत है) ॥ १६ ॥

('तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से अग्रिम सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बिना कारण के दुग्ध का नाश और दही की उत्पत्ति होना मानकर भी निषेध कहा जाता है—

पदपदार्थ—क्वचित् = किसी स्थल में, विनाशकारणानुपलब्धेः = नाश का कारण उपलब्ध न होने से, क्वचित् = किसी स्थल में, उपलब्धेः = उपलब्ध होने के कारण भी, अनेकान्तः = व्यभिचारदोष होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—स्फटिकादि द्रव्यों का भी नाश तथा उत्पत्ति, दुग्ध तथा दही के समान बिना कारण के होते हैं यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई विशेष साधक हेतु नहीं है कि

क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकव्यक्तीनामिति नायमेकान्त इति। कस्मात्? हेत्वभावाद् नात्र हेतुरस्ति अकारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनां क्षीरदधिवत्, न पुनर्यथाविनाशकारणभावात् कुम्भस्य विनाश उत्पत्तिकारणभावाच्चोत्पत्तिरेवं स्फटिकादिव्यक्तीनां विनाशोत्पत्तिकारणभावाद्विनाशोत्पत्तिभाव इति।

निरधिष्ठानं च दृष्टान्तवचनम्। गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकादिषु स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्चेति तौ तु न गृह्येते तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्त इति।

अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ योऽत्र साधकस्तस्याभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः। कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादीनामित्यभ्यनुज्ञेयोऽयं दृष्टान्तः, प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। क्षीरदधिवत्तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति

दुग्ध तथा दही के समान स्फटिकादि द्रव्यों का नाश तथा उत्पत्ति बिना कारण के होते हैं, न कि जैसे विनाश का कारण रहते, कलश का नाश होता है, और उत्पत्ति का कारण रहते कलश की उत्पत्ति होती है वैसे स्फटिकादि द्रव्य व्यक्तियों का नाश तथा उत्पत्ति का नाश और उत्पत्ति का कारण रहने से होती है, ऐसा न माना जाय ॥ १७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—स्फटिकादिमणिरूप व्यक्तिओं का नाश तथा उत्पत्ति दुग्ध तथा दही के नाश और उत्पत्ति के समान बिना कारण के होते हैं यह नियम नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—साधक हेतु के न होने से—अर्थात् दुग्ध और दही के समान स्फटिकादि व्यक्तियों का नाश और उत्पत्ति बिना कारण के होती है, न कि जिस प्रकार विनाश का कारण अवयवविभागादि रहते कलश का नाश होता है, और उत्पत्ति का कारण अवयव संयोगादि रहते कलश की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार स्फटिकादि व्यक्तियों के नाश तथा उत्पत्ति का कारण रहते उनका नाश और उत्पत्ति होती है, ऐसा न माना जाय इस प्रकार दोनों पक्षों में एकपक्ष मानने में कोई विशेष साधक हेतु नहीं है। और यह बौद्ध का स्फटिकरूप दृष्टान्त निराधार भी है क्योंकि स्फटिकादि व्यक्तियों में यदि नाश और उत्पत्ति का ग्रहण हो तो यह दृष्टान्त आधारवाला होगा—कि दुग्ध के नाश के लक्षण की अनुपलब्धि के समान और दही के उत्पत्ति के समान इस प्रकार, किन्तु स्फटिकादि व्यक्तियों में नाश और उत्पत्ति का ग्रहण ही नहीं होता, इस कारण यह दृष्टान्त बिना आधार के होने से युक्त नहीं है। (अर्थात् धर्मी को लेकर ही उसके समानधर्मवाला दृष्टान्त होता है। प्रस्तुत में स्फटिक की उत्पत्ति तथा नाश धर्मी हैं, उसके समान-धर्म होने के कारण दुग्ध तथा दही के नाश और उत्पाद की दृष्टान्त होना चाहिये, किन्तु स्फटिक के उत्पाद और नाशरूप धर्मों का तो ग्रहण ही नहीं होता, इस कारण उसके समानधर्मरूप से क्षीर तथा दही के उत्पत्ति और नाश ये दोनों दृष्टान्त नहीं हो सकते, यह यहाँ पर भाष्य का आशय है। (आगे कार्य से अनुमान करनेयोग्य कारण का निषेध भी नहीं हो सकता इस आशय से भाष्यकार कहते हैं कि)—स्फटिक के उत्पत्ति तथा नाश दोनों को स्वीकार कर जो इस विनाश और उत्पत्ति में साधक है उसका स्वीकार करने के कारण उसका निषेध भी नहीं हो सकता। कलश के समान स्फटिकादि व्यक्तियों का नाश और उत्पत्ति बिना कारण के नहीं होती, यह दृष्टान्त भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि इसका निषेध नहीं हो सकता। दुग्ध तथा दधि के समान

शक्योऽयं प्रतिषेद्धुं कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात् । क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्ती पश्यता तत्कारणमनुमेयं कार्यलिङ्गं हि कारणमित्युपपन्नमनित्या बुद्धिरिति ॥१७॥

इत्यष्टभिः सूत्रैः क्षणभङ्गप्रकरणम् ।

इदं तु चिन्त्यते कस्येयं बुद्धिरात्मेन्द्रियमनोर्थानां गुण इति, प्रसिद्धोऽपि खल्वयमर्थः परीक्षाशेषं प्रवर्त्तयामीति प्रक्रियते । सोऽयं बुद्धौ सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः विशेषस्याग्रहणादिति । तत्रायं विशेषः—

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १८ ॥

स्फटिकादि वादिकों का नाश और उत्पत्ति बिना कारण के होती है यह दृष्टान्त खण्डित हो सकता है, क्योंकि कारण से उत्पत्ति और नाश देखने में आते हैं । दुग्ध और दही के नाश और उत्पत्ति को देखनेवाले को उसके कारणों का अनुमान करना होगा, क्योंकि कार्य से करण की सिद्धि होती है । अतः बुद्धि अनित्य हैं यह सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

(३) बुद्धी के आत्मा का गुण होने का प्रकरण

(क्षणभंगप्रकरण के पश्चात् बुद्धि आत्मा का गुण है यह प्रकरण प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि सांख्यमत के नित्यबुद्धितत्त्व का खण्डन होने पर ही बुद्धि आत्मा का गुण है यह सम्भावना हो सकती है, क्योंकि नित्यबुद्धि के रहते ज्ञान उसका धर्म होने के कारण आत्मा का धर्म नहीं हो सकता । इस कारण पूर्वप्रकरण उत्तरप्रकरण का हेतु तथा निर्वाह करने वाला भी है, अतः सांप्रत उसका वर्णन होना संगत है । इस प्रकरण का प्रयोजन भी शरीरादिकों से आत्मा भिन्न है यह सिद्ध करना ही है । पूर्वआत्मा के प्रकरण में स्मरणादिकों के बल से बुद्धि से आत्मा की सिद्धि कर चुके हैं, और यहाँ गुणरूप से यही विशेषता है । यदि बौद्धमत से सभी क्षणिक हो तो समवायिकारणता न होगी । जिससे आत्मा में बुद्धिगुण समवेत हैं यह सम्भावना न हो सकेगी । यद्यपि आत्मा का गुण बुद्धि है यह तृतीयाध्याय के प्रथम आह्निक के चतुर्दश सूत्र में सिद्ध कर चुके हैं, तथापि बुद्धिरूप गुण के आश्रय होने से ही आत्मा की सत्ता है यह सिद्ध किया गया है, और यहाँ तो आत्मा की गुणरूप बुद्धि सत्ता है यह सिद्ध करता है यह भी जान लेना चाहिये) । (आत्मा का ही बुद्धिविशेषगुण इन्द्रिय तथा विषयों का नहीं है इस सिद्धान्त के प्रतिपादक सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यह विचारणीय है कि—आत्मा, मन, बाह्येन्द्रिय तथा पदार्थों में से यह बुद्धि (ज्ञान) किसका विशेषगुण है । यद्यपि ३।१।१। सूत्र में इस विषय का विचार हो चुका है तथापि अवान्तरविशेष के जानने के लिये पुनः परीक्षा की जाती है । (अर्थात् परलोकगामी आत्मा की सिद्धि करते हुए बुद्धि के प्रति कर्तृक के समान शरीरादि भिन्न ही आत्मा में स्मरण, संसार तथा अनुभव का आधार आत्मा है यह सिद्ध कर चुके हैं तथापि विशेष अवान्तर धर्मों का विचार इस प्रकरण में करते हैं ।) (आगे इस प्रकरण के विषय में संशय का मूल दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बुद्धि के उत्पन्न होने में आत्मा, इन्द्रिय, और पदार्थ का सन्निकर्ष आवश्यक होता है, इस कारण इन्द्रियाँ गुण बुद्धि हो सकती है किन्तु इनमें से किसका गुण है यह संशय होता है, क्योंकि एक किसी के होने का कोई विशेष का ग्रहण नहीं है । अतः बुद्धि किसका गुण है यह सन्देह होता है । इस पर आत्मा ही का गुण बुद्धि है दूसरे का नहीं । इस पक्ष को सिद्ध करने में सूत्रकार यह विशेष हेतु देते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं है, इन्द्रियार्थयोः = इन्द्रिय तथा पदार्थ इन दोनों का, तद्विनाशेऽपि = इन दोनों के नष्ट होने पर भी, ज्ञानावस्थानात् = बुद्धि के रहने से ॥ १८ ॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानं तेषां विनाशे ज्ञानस्य भावात्। भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति। न च ज्ञातरि विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति। अन्यत् खलु वै तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं यदिन्द्रियार्थविनाशे न भवति। इदमन्यदात्ममनःसन्निकर्षजं तस्य युक्तो भाव इति। स्मृतिः खल्वियमद्राक्षमिति पूर्वदृष्टविषया न च विज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तम्, न चान्यदृष्टमन्यः स्मरति। न च मनसि ज्ञातर्यभ्युपगम्यमाने शक्यमिन्द्रियार्थयोर्ज्ञातृत्वं प्रतिपादयितुम् ॥ १८ ॥

भावार्थ—इन्द्रिय तथा पदार्थों को नष्ट होने पर भी मैंने देखा था ऐसा अन्ध आदि प्राणियों को ज्ञान होता है इस कारण ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रिय तथा पदार्थों का गुण नहीं है। अर्थात् अन्ध प्राणी को मैंने देखा था ऐसा पूर्व में देखे हुए पदार्थ का कालान्तर में स्मरण होता है, किन्तु उस समय उसकी चक्षुइन्द्रिय तथा देखा हुआ पदार्थ दोनों नहीं है, इस कारण इन्द्रिय और पदार्थ को ज्ञाता मानने से उनके नष्ट होने पर उपरोक्त ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान दूसरा है जो इन्द्रिय और अर्थ के नष्ट होने पर नहीं होता। और यह तो आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान दूसरा ही है जो इन्द्रिय और पदार्थ के नष्ट होने पर भी हो सकता है, क्योंकि मैंने देखा था ऐसा पूर्व देखे हुए विषय में स्मरण होता है, ज्ञाता के नष्ट होने पर यह स्मरण हो नहीं सकेगा, क्योंकि दूसरे के देखे हुए विषय को दूसरा स्मरण नहीं करता। मन को ज्ञाता मानने पर भी चक्षु आदि इन्द्रिय और पदार्थ, ज्ञान गुणवाले ज्ञाता नहीं हो सकते ॥ १८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—चक्षु आदि इन्द्रिय अथवा पदार्थों का ज्ञान गुण नहीं है, क्योंकि उन दोनों के नष्ट होने पर भी ज्ञान होता है। क्योंकि इन्द्रिय चक्षु आदि तथा विषय (पदार्थ) के नष्ट होने पर भी 'मैंने देखा था' ऐसा स्मरणरूप ज्ञान हुआ करता है। ज्ञाता के नष्ट होने पर ज्ञान हो नहीं सकता। ज्ञान के कई प्रकार हैं जिनमें 'यह घट है' ऐसा ज्ञान चक्षु तथा घट के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण चक्षु अथवा घट के न रहने पर नहीं होता यह ज्ञान दूसरा है और यह 'मैंने देखा था' ऐसा ज्ञान केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला दूसरा ही है, जो चक्षु तथा पदार्थ घट के नष्ट होने पर भी हो सकता है, इस ज्ञान में चक्षु तथा घट के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती। (पूर्वोक्त दोनों ज्ञानों का दूसरा भी भेद है, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—'मैंने देखा था' यह स्मरणरूप ज्ञान पूर्व में देखे विषय में होता है, जिससे अनुभव तथा स्मरण दोनों ज्ञानों के काल में रहने वाले एक देखने वाले की सत्ता की आवश्यकता होती है क्योंकि अनुभव करने वाले का नाश होने पर पूर्वकाल के अनुभव किये पदार्थ का स्मरण नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरे के देखे हुए का दूसरे को स्मरण नहीं होता यह नियम है। यदि मन को ही ज्ञाता (ज्ञानगुणवाला) मान लें तथापि चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय और पदार्थ ये दोनों ज्ञाता हो ही नहीं सकते, (अर्थात् इन्द्रिय अथवा पदार्थ दोनों का ज्ञान गुण नहीं है, यह सूत्रकार का सिद्धान्त 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से मन को आत्मा मानकर है वस्तुतः मन भी ज्ञाता नहीं ही हो सकता ॥ १८ ॥

अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम्—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ १९ ॥

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गं तत्र युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या यदनुमीयते अन्तःकरणं न तस्य गुणो ज्ञानम्। कस्य तर्हि ? ज्ञस्य वशित्वात्। वशी ज्ञाता वश्यं करणं, ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः। घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावादनुमीयते अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षिमत से मन को ही ज्ञाता क्यों न माना जाय, यह अवतरण अग्रिम सिद्धान्तसूत्र का देते हैं कि)—'यदि चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय तथा पदार्थ दोनों का ज्ञान गुण नहीं है, तो मन का ही गुण ज्ञान हो'—

पदपदार्थ—युगपत् = एक काल में, ज्ञेयानुपलब्धेः च = विषय का ज्ञान न होने से भी, न=नहीं है, मनसः = मन का गुण ॥ १९ ॥

भावार्थ—एक काल में अनेक ज्ञान न होना यह मन का साधक हेतु है, उस ऐसे मन का ज्ञान गुण नहीं है, किन्तु ज्ञाता आत्मा का ज्ञान गुण है, क्योंकि ज्ञाता स्वतन्त्र होता है और करण पराधीन होता है। यदि वह ज्ञान अकृष्ट करण ज्ञाता हो तो वह करण न हो सकेंगे। घ्राणेन्द्रियादियों की सहायता से होनेवाले ज्ञाता के गन्धादि ज्ञान होने से अनुमान किया जाता है कि अन्तःकरण की सहायता से सुखादि विषय का ज्ञान तथा स्मरण हुआ करता है। अतः जो ज्ञानगुणवाला मन है वह आत्मा, और जो सुखादि ज्ञान का साधन अन्तःकरण है वह मन है यह केवल संज्ञा (नाम) मात्र का भेद है पदार्थ में भेद नहीं है (यहाँ ज्ञान मन का गुण नहीं है इस आशय के 'युगपत्' इत्यादि सूत्र की तीन प्रकार से योजना हो सकती है (१)—एक काल में अनेक विषयों का ज्ञान न होने के कारण जिस मन का अनुमान किया जाता है, उस मन का ज्ञान गुण नहीं है, अर्थात् इस व्याख्या में 'युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः' यह मन के अनुमान में हेतु है, न कि मन का ज्ञान गुण नहीं है इसमें। (२)—जिस कारण एक काल में अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञान मन का गुण नहीं है। (३)—यदि ज्ञान का मन गुण हो तो अणु मन के द्वारा योगी को जो एककाल में अनेक विषयों का ज्ञान होता है, वह न हो सकेगा) अतः इसी अनुपपत्ति से मन का ज्ञान गुण नहीं है यह सिद्ध होता है। यह हेतु सूत्र के चकार से सूचित होता है यह भाष्यकार का कथन है ॥ १९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रथमाध्याय के 'युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिः' इसी सूत्र को स्मरण कराते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—एककाल में अनेक विषयों का ज्ञान न होना मन का साधक लिङ्ग है, अतः एककाल में अनेक ज्ञानों के न होने के कारण जिस अन्तःकरण की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है उसका ज्ञान गुण नहीं है। (प्रश्न)—तो ज्ञान किसका गुण है ? (उत्तर)—ज्ञाता आत्मा का, क्योंकि वह वशी (स्वतन्त्र) है। अर्थात् ज्ञाता आत्मा ज्ञान में स्वतन्त्र है अतः वही ज्ञान गुण का आश्रय है, और करण ज्ञाता के अधीन होता है, अतः मन को ज्ञानगुण का आश्रय माना जाय तो उसमें करणभाव (करणरूपता) न होगी। (अर्थात् कर्ता के ही स्वतन्त्र होने के कारण—कर्ता करण आदि के सांनिध्य में चेतनता कर्ता में ही देखी जाती है, करणादिको में नहीं देखी जाती) (आगे मन को करण सिद्ध करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि)—घ्राणादि बाह्येन्द्रियों की सहायता से ही प्राणी को गन्धादि विषयों का ज्ञान हुआ करता है, ऐसा संसार के व्यवहार में प्रसिद्ध होने से अनुमान किया जाता है कि

स्मृतिश्चेति तत्र यज्ज्ञानगुणं मनः स आत्मा, यत्तु सुखाद्युपलब्धिसाधनमन्तःकरणं मनस्तदिति संज्ञाभेदमात्रं नार्थभेद इति । *युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च योगिन इति वा चार्थः ।* योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान्युपलभते तच्चैतद्विभौ ज्ञातर्युपपद्यते नाणौ मनसीति । विभुत्वे वा मनसो ज्ञानस्य नात्मगुणत्वप्रतिषेधः । विभु च मनस्तदन्तःकरणभूतमिति तस्य सर्वेन्द्रियैर्युगपत् संयोगाद्युगपज्ज्ञानान्युत्पद्येरन्निति ॥ १६ ॥

मनरूप अन्तःकरण की सहायता से ही प्राणी को आन्तरिक सुखादि विषयों का ज्ञान, तथा स्मरण भी हुआ करता है । ऐसा होने से जो ज्ञान गुण का आधार मन है वही आत्मा है, और जो आन्तरिक सुखादि विषय के प्रत्यक्ष का साधन है वह अन्तःमरण मन है, ऐसा मानने में केवल दो संज्ञाओं का ही भेद है, अर्थ (विषय) में कोई भेद नहीं होता । (अर्थात् ज्ञानगुण का आधार एक ज्ञाता है, और दूसरा आन्तरिक ज्ञानों का साधन है, इस विषय में तो हमारा और आपका एक ही मत है, विशेष हमारे और आपके मत में इतना ही है कि जिस ज्ञाता को आप मन ऐसा कहते हैं, उसी को हम आत्मा कहते हैं, ऐसा भाष्यकार का आशय है) (सूत्र के **'चकार'** शब्द से सूचित दूसरा हेतु देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—एककाल में अनेक विषयों का ज्ञान योगी को नहीं होता । ऐसा सूत्र के चकार का अर्थ है । (इसी हेतु का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—योगी पुरुष योग की सम्पत्ति के प्रगट होने पर हमारे ऐसे प्राणियों के ज्ञान साधन से विलक्षण साधन वाला होने के कारण विकरणधर्मी होता है जिससे योगी को व्यवधान में, तथा दूर रहने वाले अत्यन्त सूक्ष्म भी पदार्थों का ज्ञान हुआ करता है, योगबल से विशिष्ट इन्द्रिय वाले उन-उन कार्य के विशेषों में उपयुक्त होने वाले विशेष शरीरों का निर्माण कर उन शरीरों में एक ही समय में अनेक व्यवहित, दूरस्थ, सूक्ष्म विषयों को जान लेता है, वह यह एक समय में होने वाले उक्त विषयों का ज्ञान व्यापक आत्मा ज्ञाता मानने के पक्ष में हो सकता है न कि अणुपरिमाण वाले मन को ज्ञाता (आत्मा) मानने के पक्ष में संगत हो सकता है । (अर्थात् मन अणु परिमाण है वह अनेक योगी के शरीर में नहीं रह सकता, जिससे योगी के अनेक शरीर में एक समय होनेवाले नाना ज्ञान मनरूप आत्मा को नहीं हो सकता ।) (यदि पूर्वपक्षी के कहने से मन को व्यापक माना जाय तो भी ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है यह निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि व्यापक मन ही अन्तःकरण भी है इस कारण उसकी संपूर्ण बाह्यचक्षु आदि इन्द्रियों के साथ एककाल में संयोग होने के कारण एककाल में प्राणिमात्र को अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे यह दोष आता है । अर्थात् एककाल में किसी भी प्राणी को अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता, ऐसी लोकसिद्ध प्रतीति का मन को व्यापक मानने के पक्ष में दोष आता है अतः मन को विभु नहीं माना जा सकता ॥ १९ ॥

(इस पर आत्मा को ज्ञानगुण मानने के सिद्धान्ती के मत में भी आत्मा के व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियों से सम्बन्ध होने से एककाल में अनेक ज्ञान उत्पन्न होने की आपत्ति आ सकती है, इस आशय से पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार कहते हैं)—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २० ॥

विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्त इति युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग इति ॥ २० ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥ २१ ॥

गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निर्पवदिन्द्रियमनःसन्निकर्षोऽपि कारणं तस्य चायौगपद्यमणुत्वान्मनसः । अयौगपद्यादनुत्पत्तिर्युगपज्ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति ॥ २१ ॥

यदि पुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते—

पदपदार्थ—तत् = वह (एककाल में अनेक विषय का ज्ञान होना), आत्मगुणत्वे अपि = आत्मा का गुण मानने के पक्ष में भी, तुल्यम् = समान है ॥ २० ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती ने मन को विभु मानने के पक्ष में दिया हुआ एककाल में अनेक विषय का ज्ञान होनेरूप दोष सिद्धान्ती के पक्ष में भी हो सकता है, क्योंकि उसके मत में आत्मा व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण इन्द्रियों से सम्बद्ध है, इस कारण एककाल में अनेक विषयों का ज्ञान उसके मत में भी हो सकेगा ॥ २० ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—आत्मा व्यापक है, अतः वह सम्पूर्ण इन्द्रियों से संयुक्त है इस कारण एककाल में अनेक विषयों के अनेक ज्ञान उत्पन्न होने की आपत्ति आ जायगी ॥ २० ॥

(उक्त पूर्वपक्षी मत का सिद्धान्तिमत से खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं)--

पदपदार्थ—इन्द्रियैः = बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों से, मनसः = मन का, सन्निकर्षाभावात्=सम्बन्ध न होने से, तदनुत्पत्तिः = एककाल में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते ॥ २१ ॥

भावार्थ—इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध जिस प्रकार गन्धादि ज्ञान में कारण है, इसी प्रकार घ्राणादि इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध भी कारण है, मन के अणुपरिमाण होने से वह एककाल में नहीं हो सकता, इस कारण ज्ञानों के आत्मा का गुण मानने के सिद्धातपक्ष में एककाल में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते ॥ २१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—गन्ध, रूप इत्यादि बाह्य विषयों का ज्ञान होने में जिस प्रकार घ्राण, चक्षु इत्यादि बाह्यइन्द्रिय तथा गन्धादि विषयों का संयोगादि रूप सन्निकर्ष कारण है उसी प्रकार घ्राणादि बाह्यइन्द्रियों के साथ मन का सन्निकर्ष भी कारण है। जो मन के अणुपरिमाण होने के कारण एककाल में नहीं होता। और उस मन के सन्निकर्ष के एककाल में न होने से आत्मा का गुण होने पर भी एककाल में अनेक विषय का ज्ञान एककाल में उत्पन्न नहीं होता। (अर्थात् व्यापक आत्मा का ज्ञान गुण होने पर भी मन को चक्षुरादिको के साथ सन्निकर्ष के एककाल में न होने के कारण एककाल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ २१ ।

(मन के सन्निकर्ष की ज्ञानोत्पत्ति में आवश्यकता का समर्थन करते हुए भाष्यकार अग्रिम सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में कहते हैं कि)—यदि मन के सन्निकर्ष की अपेक्षा न कर केवल आत्मा, बाह्यइन्द्रिय, तथा पदार्थों का सन्निकर्ष ही गन्धादि ज्ञान में कारण होते हैं ऐसा मत हो तो—

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २२ ॥

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते नात्रोत्पत्तिकारणमपदिश्यते येनैतत्प्रतिपद्येमहीति ॥ २२ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ २३ ॥

'तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्य' मित्येतदनेन समुच्चीयते। द्विविधो हि गुणनाशहेतुः गुणानामाश्रयाभावो विरोधी च गुणः। नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्नः पूर्वः, विरोधी च बुद्धेर्गुणो न गृह्यते तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥२३॥

पदपदार्थ—न = नहीं, उत्पत्तिकारणानपदेशात् = ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण का कथन न होने से ॥ २२ ॥

भावार्थ—ज्ञान के उत्पन्न होने में मन के सन्निकर्ष होने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहने में कोई पूर्वपक्षी प्रमाण नहीं देता है, अतः मन का सन्निकर्ष ज्ञान में कारण नहीं है, इस केवल प्रतिज्ञा से मन का सन्निकर्ष ज्ञान में कारण नहीं है यह नहीं माना जा सकता। (वार्तिककार इस सूत्र की ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—इसी केवल आत्मा, बाह्येन्द्रिय तथा पदार्थ (गन्धादि) विषयों के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें कोई पूर्वपक्षी कारण नहीं कहता है। किन्तु वृत्तिकार विश्वनाथ ने तो इस सूत्र को भी पूर्वपक्ष माना है, उनके मत से ज्ञान की उत्पत्ति में कारण के न कहने से ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, यदि आत्मा और मन का संयोग कारण माना जाय तो ज्ञान सम्पूर्ण स्थलों में होने लगेगा ॥ २२ ॥

(उक्त सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—केवल आत्मा, तथा घ्राणादि बाह्येन्द्रियों के सन्निकर्ष से ही गन्धादि विषयों का ज्ञान उत्पन्न होता है न कि मन के सन्निकर्ष की उसमें आवश्यकता है, इसमें कोई प्रमाण पूर्वपक्षी नहीं देता जिससे हम ऐसा मानें ॥२२॥

(उक्त सिद्धान्तमत में ज्ञान नित्य हो जायगा इस आशय से सूत्रकार पूर्वपक्षिमत से सूत्र में आपत्ति देते हैं कि)—

पदपदार्थ—विनाशकारणानुपलब्धेः च = और ज्ञान के नाश के कारण की उपलब्धि न होने के कारण, अवस्थाने = स्थित होने पर, तन्नित्यत्वप्रसङ्गः = वह ज्ञान नित्य हो जायगा यह आपत्ति आती है ॥ २३ ॥

भावार्थ—आत्मा के न्यायमत में नित्य होने के कारण, और उसी में ज्ञान समवायसम्बन्ध से रहता है, इस कारण आश्रयनाशादि रूप ज्ञान के नाश के कारण का सम्भव न होने से ज्ञान के सदा वर्तमान होने के कारण वह नित्य हो जायगा यह पूर्वपक्षी के सूत्र का आशय है ॥ २३ ॥

(सूत्र के चकार का अर्थ दिखलाते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में कहा हुआ पूर्वपक्षी का आक्षेप बीसवें **'तदात्मगुणत्वेपि तुल्यम्'** इस सूत्र के आक्षेप के साथ दिखाया जाता है—यह इस सूत्र से संग्रह किया जाता है (अर्थात् ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर उसके नाश का कारण उपलब्ध होने के कारण ज्ञान नित्य हो जायगा ऐसा बीसवें तथा तेईसवें सूत्र का मिलाकर पूर्वपक्षी का आक्षेप है) (दिखाई हुई ज्ञान के नाश के कारण की अनुपलब्धि को स्पष्ट करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—गुणों के नाश का कारण दो प्रकार का होता है—एक गुणों के आश्रय का अभाव (न होना) तथा दूसरा विरोधी गुण होना। आत्मा के नित्य होने से ज्ञान का नाश (प्रथम) पक्ष से नहीं हो सकता। और ज्ञान के विरोधी किसी गुण का

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २४ ॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत् । गृह्यते च बुद्धिसन्तानस्तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते यथा शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति ॥ २४ ॥

असङ्ख्येयेषु ज्ञानकारितेषु संस्कारेषु स्मृतिहेतुष्वात्मसमवेतेष्वात्ममनसोश्च सन्निकर्षे समाने स्मृतिहेतौ सति न कारणस्यायौगपद्यमस्तीति युगपत्स्मृतयः प्रादुर्भवेयुः यदि बुद्धिरात्मगुणः स्यादिति । तत्र कश्चित्सन्निकर्षस्यायौगपद्यमुपपादयिष्यन्नाह—

ग्रहण तो होता नहीं, इस कारण ज्ञान आत्मा का गुण मानने से नित्य हो जायगा, यह आपत्ति आती है। (अर्थात् जिस द्रव्य में जो गुण रहता है उस द्रव्य का नाश होने पर वह गुण नष्ट होता है, जैसे घट का नाश होने पर घट का रूप नष्ट हो जाता है, यह एक प्रथम गुणनाश का प्रकार है। और वर्तमान गुण के विरोधी दूसरे गुण की उत्पत्ति होने पर भी पूर्वगुण का नाश होता है जैसे दूसरा शब्द उत्पन्न होने पर प्रथम शब्द नष्ट हो जाता है यह गुणनाश का दूसरा प्रकार है, जिसमें आत्मा के नित्य होने के कारण प्रथमपक्ष नहीं हो सकता, और दूसरे ज्ञान के विरोधी गुण का ज्ञान न होने से दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, अतः ज्ञान के नाश के कारण का असम्भव होने से ज्ञान नित्य हो जायगा जो सर्वथा असंगत है यह पूर्वपक्षी के आक्षेप का आशय है ॥ २३ ॥

(उपरोक्त आक्षेप का परिहार करते हुए सिद्धान्तमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—अनित्यत्वग्रहात् = अनित्यता का ज्ञान होने से, बुद्धेः = ज्ञान गुण का, विनाशः = नाश होता है, शब्दवत्=शब्द के समान ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रथम शब्द का दूसरे शब्द से नाश होता है उसी प्रकार प्रथम ज्ञान का दूसरे ज्ञान से नाश होता ही है, अतः पूर्वपक्षी का अक्षेप युक्त नहीं है ॥ २४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार प्राणीमात्र के अनुभव को प्रमाण देते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—ज्ञानगुण अनित्य है यह सम्पूर्ण प्राणियों के प्रत्येक आत्मा को अनुभव होता है, क्योंकि ज्ञान की धारा को ऐसा ग्रहण हुआ करता है कि प्रथम घटादि विषयों का ज्ञान होता है पश्चात् मैं घट को जानता हूँ ऐसा उसका अनुभव होता है, जिससे वह घट का ज्ञान दूसरे उसके अनुभवरूप अनुव्यवसाय (पश्चात् ज्ञान) से नष्ट हो जाता है इससे यह अनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि विरोधी दूसरे ज्ञानरूप गुण से प्रथम ज्ञान का नाश हुआ करता है, जिस प्रकार शब्दों की धारा में प्रथम शब्द का द्वितीय शब्दरूप विरोधी गुण से नाश हुआ करता है, ऐसा प्रायः सभी प्राणी मानते हैं। अतः ज्ञान का नाशक न होने से ज्ञान नित्य हो जायगा यह पूर्वपक्षी का आक्षेप सर्वथा असंगत है ॥ २४ ॥

(इस प्रकार ज्ञान में अनित्यता को सिद्ध करने पर भी पूर्वपक्षी ज्ञान आत्मा का गुण है यह सिद्धान्त न मानकर स्मरण को लेकर दूसरे प्रकार से आपत्ति देता है इस आशय से उक्त आक्षेप का समाधान एकदेशीमत से करने वाले सूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—'पूर्व ज्ञानों से उत्पन्न हुए असंख्य (संख्यारहित), कालान्तर में स्मरण को उत्पन्न करने वाले भावना नामक संस्कारों के (जो आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहते हैं) उनके रहते, तथा आत्मा और

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥२५॥

ज्ञानसाधनः संस्कारो ज्ञानमित्युच्यते ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः पर्यायेण मनः सन्निकृष्यते। आत्ममनःसन्निकर्षात्स्मृतयोऽपि पर्यायेण भवन्तीति ॥२५॥

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २६ ॥

सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते

मन के सन्निकर्षरूप असमवायिकारण के (जो सम्पूर्ण स्मरणों में कारण हैं), समान रहते स्मरण के कारणों का (युगपत) एककाल में होने का असम्भव नहीं है, अतः ज्ञान के आत्मा का गुण मानने पर अनेक स्मरणों की एक समय में उत्पत्ति होने का कारण वर्तमानर इने से एककाल में अनेक स्मरण उत्पन्न होंगे।' इस आक्षेप का कोई दार्शनिक विद्वान् आत्मा और मन का सन्निकर्ष एक-काल में नहीं हो सकता, ऐसा समाधान करते हुए सूत्र में कहता है—

पदपदार्थ—ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षात्—एक ज्ञानजन्य संस्कार से समवेत आत्मा के प्रदेश (एकदेश) से सन्निकर्ष होने के कारण, मनसः = मन के, स्मृत्युत्पत्तेः = स्मरण की उत्पत्ति होने के कारण, न = नहीं हो सकती, युगपत = एककाल में, उत्पत्तिः = उत्पत्ति ॥ २५ ॥

भावार्थ—आत्मा के एकज्ञान से उत्पन्न हुआ भावना नामक संस्कार एक ही आत्मा के प्रदेश में सम्बद्ध होता है, और आत्मा और मन का सन्निकर्ष भी एकक्षण में एक ही आत्मा के प्रदेश से होता है। इस कारण जिस ज्ञान से उत्पन्न संस्कार जिस आत्मा के प्रदेश को लेकर रहता है, उसी प्रदेश को लेकर जिस क्षण में मन का सन्निकर्ष होता है उस क्षण में केवल उस संस्कार से उत्पन्न स्मरणज्ञान का प्रादुर्भाव हो सकता है, दूसरे स्मरण का नहीं, अतः एककाल में अनन्त स्मरणों का प्रादुर्भाव होने की आपत्ति नहीं आ सकती यह एकदेशी परिहार का आशय है ॥ २५ ॥

(इसी आशय से सूत्र के ज्ञानपद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सूत्र में ज्ञान शब्द का अर्थ है, ज्ञान कारण वाला भावना संस्कार। उक्त ज्ञान से उत्पन्न संस्कार वाले आत्मा में प्रदेशों (एकदेशों) से मन का सन्निकर्ष क्रम से होता है, न कि एककाल में। इस कारण उक्त आत्ममनः सन्निकर्षों के एककाल में न होने के कारण उनसे उत्पन्न स्मृतिज्ञान भी क्रम से ही होते हैं ॥ २५ ॥

(इस एकदेशी मत का खण्डन करते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—न = नहीं, अन्तःशरीरवृत्तित्वात = शरीर के मध्य में रहने के कारण, मनसः = अन्तःकरण के ॥ २६ ॥

भावार्थ—शरीर के भीतर मन का ज्ञान के उत्पन्न करने का व्यापार हुआ करता है, इस कारण उपरोक्त एकदेशी ने कहा हुआ स्मरण के एककाल में होने की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापक आत्मा के कुछ प्रदेश शरीर के भीतर तथा कुछ शरीर के बाहर हैं, और मन तो अणुपरिमाण होने के कारण केवल शरीर के भीतर ही रहता है, इस कारण शरीर-भिन्न आत्मा के प्रदेश को लेकर आत्मा और मन का सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु शरीर-विशिष्ट आत्मा और मन का सम्बन्ध ज्ञान का कारण अवश्य ही है, इसलिये उस शरीर को लेकर जो आक्षेपकर्ता ने अनेक स्मृतियों की एककाल में होने की आपत्ति दी थी वह ज्यों की त्यों है, अतः एकदेशीमत का समाधान असंगत है ॥ २६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार जीवित अवस्था में ही आत्मा को मन का सन्निकर्षादिक होता है;

तत्रास्य प्राक् प्रायणादन्तःशरीरे वर्तमानस्य मनसः शरीराद्बहिर्ज्ञानसंस्कृतै-रात्मप्रदेशैः संयोगो नोपपद्यत इति ॥ २६ ॥

साध्यत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

विपच्यमानकर्माशयमात्रं जीवनम् , एवं च सति साध्यमन्तःशरीरवृत्तित्वं मनस इति ॥ २७ ॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

इसलिये जीवनावस्था का वर्णन करते हुए सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शरीरसहित आत्मा का मन के साथ संयोग जो प्रारब्धकर्म के सहित वर्तमान रहता है, उसे ही 'जीवन' माना जाता है। (अर्थात् एक जन्म में सम्पूर्ण अनुभव होने में उस जन्म के प्रारब्धकर्म ही का व्यापार हुआ करता है यह सिद्धान्त है। अर्थात् सम्पूर्ण अनुभवों का कारण जो आत्मा और मन का संयोग है वही जीवन कहाता है) (इसी सिद्धान्त की प्रस्तुत में संगति दिखलाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उस जीवन में मृत्यु के पूर्व जीवित अवस्था में मन शरीर के भीतर ही रहता है, इस कारण यद्यपि शरीर के बाहर भी उस व्यापक आत्मा के प्रदेश हैं, और उन-उन ज्ञानों के संस्कार भी उन बाहर के प्रदेशों में हैं, तथापि उनके साथ मन का सम्बन्ध नहीं हो सकता, इस कारण शरीर के बाहर एककाल में अनेक स्मृतियाँ न होंगी (किन्तु शरीर के भीतर जो आत्मा के प्रदेश हैं उनमें जब नाना ज्ञानों के संस्कारों का सम्बन्ध रहता है उस समय शरीर के भीतर रहने वाले मन का उन प्रदेशों के साथ संयोग रहने से उन-उन संस्कारों से उत्पन्न अनेक स्मरण एककाल में हो सकते हैं। ऐसा होने से अनेक स्मृतियों की एककाल में उत्पन्न होने की आपत्ति का एकदेशी के मत से परिहार नहीं हो सकता) ॥ २६ ॥

(पुनः एकदेशीमत से सूत्र में शंका दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि)---

पदपदार्थ—साध्यत्वात् = सिद्ध करनेयोग्य होने से, अहेतुः = अन्तःशरीरवृत्तिता हेतु नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

भावार्थ—शरीर के बाहर मन ज्ञानादिकों को उत्पन्न नहीं करता यही अभी सिद्ध नहीं है, इस कारण मन के शरीर के भीतर वर्तमान होने से यह जो सिद्धान्ती ने हेतु कहा है, वह सिद्ध करने योग्य होने के कारण साध्यसम नामक दुष्टहेतु है। अर्थात् शरीर के बाहर मन से ज्ञानादि पुरुषार्थ नहीं होता यही अभी सिद्ध नहीं है ॥ २७ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षी सिद्धान्ती का कहा हुआ जीवन का लक्षण स्वीकार योग्य नहीं है, यह दिखाते हुए भाष्यकार की व्याख्या करते हैं कि)—केवल फल देने वाला कर्माशय ही जीवन कहाता है। (न कि उसके सहित मन का संयोग) (ऐसा होने से मन का शरीर के भीतर रहना जीवन का लक्षण नहीं है) इस कारण मन का शरीर के भीतर रहना सिद्ध न होने के कारण उसको लेकर सिद्धान्ती का किया हुआ पूर्वोक्त अनुमान दुष्ट है। ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है ॥ २७ ॥

(इस प्रकार एकदेशी के किये आक्षेप का परिहार करते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—स्मरतः = स्मरण करने वाले पुरुष का, शरीरधारणोपपत्तेः = शरीर का धारण भी होने के कारण, अप्रतिषेधः = मन के शरीर में रहने में प्रमाण नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षी का निषेध नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

सुस्मूर्षया खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि कंचिदर्थं स्मरति, स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते आत्ममनःसन्निकर्षजश्च प्रयत्नो द्विविधो धारकः प्रेरकश्च, निःसृते च शरीराद्बहिर्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावाद् गुरुत्वात्पतनं स्यात् शरीरस्य स्मरत इति ।। २८ ।।

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ २९ ॥

आशुगति मनस्तस्य बहिः शरीरात्मप्रदेशेन ज्ञानसंस्कृतेन सन्निकर्षः प्रत्यागतस्य च प्रयत्नोत्पादनमुभयं युज्यते इति, उत्पाद्य वा धारकं प्रयत्नं शरीरान्निःसरणं मनसोऽतस्तत्रोपपन्नं धारणमिति ।। २९ ।।

भावार्थ—जो मनुष्य स्मरण करता है, वह पुरुष स्मरणकाल में शरीर का धारण भी करता ही है, क्योंकि विना शरीर के आत्मा को कभी भी स्मरण नहीं होता, इस प्रकार मन के शरीर में रहने का प्रमाण होने के कारण पूर्वपक्षी का मन के शरीर में वर्तमान होने में कोई प्रमाण नहीं है यह निषेध सर्वथा असंगत है ॥ २८ ॥

(इसी आशय से स्मरण की प्रक्रिया को दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जब यह पुरुष स्मरण करने की इच्छा से प्रेरित होकर मन को स्मरण के विषय में लगाता है तो अनुभव के बहुत देर के बाद भी किसी स्मरणयोग्य विषय को स्मरण करता है। स्मरण करने वाला वह पुरुष शरीर सहित ही स्मरण करता है, न कि विना शरीर के यह देखा जाता है। (अर्थात् आत्मा, मन, आत्मा के प्रयत्नपूर्वक मन का स्मरण, विषय में प्रणिधान (लगाना) इसके पश्चात् स्मरण होना, यह सम्पूर्ण प्रक्रिया शरीर में ही होती है)। (आगे उक्त प्रणिधान के कारण आत्मा का प्रयत्न होने में शरीर की आवश्यकता दिखाते हुए भाष्यकार प्रयत्न का विभाग करते हैं कि)—आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ शरीर का धारक प्रयत्न (धारण करने वाला) (१) तथा (२) प्रेरक (प्रेरणा करने वाला) ऐसे दो प्रकार का होता है। अतः शरीर के बाहर मन के निकलने पर शरीर के धारक (धारण करने वाले) प्रयत्न न होने से गुरुत्व गुण के कारण स्मरणकाल में ही शरीर गिर जायगा। (अर्थात् उपरोक्त दोनों प्रकार का प्रयत्न आत्मा और मन के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है इस कारण यदि मन शरीर के बाहर रहे तो स्मरण समय में उपरोक्त सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रयत्न के भी शरीर के बाहर ही रहने के कारण शरीर का धारण न हो सकेगा किन्तु शरीर गिर जायगा, अतः पूर्वपक्षी के मत का शरीर के भीतर न रहने का निषेध सर्वथा असंगत है ॥ २८ ॥

(उपरोक्त सिद्धान्त पर पुनः पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, तदा = शरीर के गिरने के समय, आशुगतित्वात् = शीघ्र गतिवाले होने से, मनसः = मन के ॥ २९ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का दिया हुआ स्मरणकाल में शरीर के गिर जाने का दोष नहीं हो सकता, क्योंकि उस मन के बाहर सन्निकर्ष होने के समय में मन के अत्यंत शीघ्रगति होने के कारण पुनः शरीर में लौट जाने से शरीर के धारण का प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—मन है शीघ्रगति वाला। इस कारण उसका ज्ञान के संस्कार से युक्त शरीर के बाहर के आत्मा के प्रदेश के साथ संनिकर्ष—और पुनः शरीर में लौटकर आये हुए का प्रयत्न होना दोनों ही हो सकता है। अथवा

न स्मरणकालानियमात् ॥ ३० ॥

किञ्चित्क्षिप्रं स्मर्यते किञ्चिच्चिरेण यदा चिरेण तदा सुस्मूर्षया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्य चिदर्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति। तच्चैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यत इति। *शरीरसंयोगानपेक्षश्चात्ममनःसंयोगो न स्मृतिहेतुः शरीरस्य भोगायतनत्वात्।* उपभोगायतनं पुरुषस्य ज्ञातुः शरीरं न ततो निश्चरितस्य मनस आत्मसंयोगमात्रं ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तौ कल्पते, क्लृप्तौ वा शरीरवैयर्थ्यमिति ॥ ३० ॥

शरीर को धारण करने वाले प्रयत्न को उत्पन्न कर शरीर के बाहर मन का निकलना होता है, जिससे शरीर का धारण हो सकता है। अर्थात् मन शीघ्रगामी होने के कारण शरीर के बाहर के आत्मा के प्रदेश से उसका संनिकर्ष होकर स्मरण उत्पन्न होता है पुनः वही मन शरीर में जाकर शरीर के धारण करने का प्रयत्न भी करता है इस कारण स्मरण और शरीरधारण दोनों हो सकता है तो शरीर क्यों गिरेगा। अथवा बाहर जाने के पूर्व ही शरीर को धारण कर रखने का प्रयत्न कर मन बाहर जाता है, और पुनः अत्यन्त शीघ्र स्मृति को उत्पन्न कर शरीर में इस प्रकार लौटता है कि उसके धारण कर रखने में कोई बाधा नहीं होती ॥ २९ ॥

(उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए सूत्रकार सिद्धान्ती के मत से उत्तर देते हैं कि)—

पदपदार्थ— न=नहीं, स्मरणकालानियमात्=स्मरण होने के काल का नियम न होने से ॥३०॥

भावार्थ—उपरोक्त पूर्वपक्षी का आक्षेप संगत नहीं है, क्योंकि स्मरण के काल का कोई नियम नहीं है, अर्थात् शीघ्र ही स्मरण होता है ऐसा नियम नहीं है ॥ ३० ॥

(इसी आशय से स्मरण होने में काल का नियम नहीं है, यह दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्त-सूत्र का व्याख्या करते हैं कि)—किसी पूर्व में अनुभव किये विषय का शीघ्र स्मरण होता है किसी का विलम्ब से। जब विलम्ब से स्मरण होता है तब उसका प्रकार यह है कि प्रथम स्मरण करने की इच्छा होती है, पश्चात् मन से प्रणिधान रूप (अनेक विषयों के ज्ञान) रूप व्यापार होता है जिनमें से किसी एक ही विषय के विशेष चिह्नरूप अर्थ का स्मरण होता है, न कि संपूर्ण विषयों का। इस कारण विलम्ब से स्मरण होने में देर तक शरीर के बाहर निकले हुए मन का व्यापार होता है यह सिद्ध होने से जो पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि 'मन के शीघ्रगति होने से' यह नहीं हो सकता। (आगे शरीर की अपेक्षा करता हुआ ही मन स्मरण को उत्पन्न करता है यह सिद्ध करते हुए भाष्यकार दूसरा हेतु देते हैं कि)—शरीर के सुखदुःखानुभव रूप भोग के आधार होने के कारण भी उसके संयोग की अपेक्षा न रखने वाला आत्मा और मन को संयोगरूप असमवायि-कारण से स्मरणरूप कार्य कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञाता आत्मा के इस शरीर में ही सम्पूर्ण सुखदुःखादि अनुभव रूप भोग हुआ करते हैं, इस कारण उस शरीर से बाहर निकले हुए मन का केवल आत्मा से संयोग ज्ञान सुख आदि गुणरूप कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि शरीर के बाहर भी आत्मा और मन का संनिकर्ष आत्मा के उपभोग में समर्थ हो तो बिना शरीर के उपभोग होने से शरीर मानना व्यर्थ हो जायगा ॥ ३० ॥

(एककाल में अनेक स्मृतिज्ञान उत्पन्न होने के पूर्वपक्षी के उत्तर में २५ वें 'ज्ञानसमवेत' इस सूत्र में कहे हुए एकदेशी के मत का खण्डन करते हुए दूसरे एकदेशी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥ ३१ ॥

आत्मप्रेरणेन वा मनसो बहिः शरीरात् संयोगविशेषः स्याद् यदृच्छया वाऽऽकस्मिकतया ज्ञतया वा ? मनसः सर्वथा चानुपपत्तिः । कथम् ? स्मर्तव्यत्वादिच्छातः स्मरणज्ञानासम्भवाच्च । यदि तावदात्मा अमुष्यार्थस्य स्मृतिहेतुः संस्कारः अमुष्मिन्नात्मप्रदेशे समवेतस्तेन मनः संयुज्यतामिति मनः प्रेरयति तदा स्मृत एवासावर्थो भवति न स्मर्तव्यः । न चात्मप्रत्यक्ष आत्मप्रदेशे

पदपदार्थ—आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिः च = और आत्मा की प्रेरणा, यदृच्छा (अकस्मात्) तथा मन के ज्ञाता होने से भी, न = नहीं हो सकता, संयोगविशेषः = बाहर के प्रदेश में आत्मा का मन से विशेष संयोग ॥ ३१ ॥

भावार्थ—आत्मा का बाहर के प्रदेश में स्मरण होने के लिये मन के साथ संयोग आत्मा की प्रेरणा होने से नहीं हो सकता, क्योंकि उस आत्मा का प्रयत्न स्मरण के विषय के ज्ञानपूर्वक होने के कारण पूर्व में ही स्मृति होने लगेगी—(१) तथा यदृच्छा (अकस्मात्) भी आत्मा का बाहर के प्रदेश में मन के साथ संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि अकस्मात् कोई संयोग नहीं होता—(२) और मन के ज्ञाता होने के कारण उपरोक्त संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि मन को ज्ञाता नहीं माना गया है, इन तीनों प्रकारों को छोड़कर कोई दूसरा प्रकार नहीं है अतः आत्मा का बाहर के प्रदेश में मन का विशेष संयोग हो ही नहीं सकता, इस कारण 'ज्ञानसमवेत' इस सूत्र में कहा हुआ एककाल में अनेक स्मृतियों के न होने का उत्तर संगत नहीं है ॥ ३१ ॥

(इसी आशय से मन के बाहर के प्रदेशों में संयोग के जितने प्रकार हो सकते हैं उनको दिखाते हुए भाष्यकार दूसरे एकदेशी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—आत्मा की प्रेरणा से मन का शरीर के बाहर के प्रदेश से विशेष संयोग होगा १. अथवा यदृच्छा (आकस्मिक), २. अथवा मन के ज्ञाता होने से होगा, ३. उक्त तीनों पक्षों से उपरोक्त विशेष संयोग नहीं हो सकता । (प्रश्न)—कैसे (नहीं हो सकता) ? (उत्तर)—स्मरण योग्य होने से १ तथा स्मरणज्ञान का असंभव होने से भी २ (प्रथम आत्मा की प्रेरणा के पक्ष में उपरोक्त विशेष संयोग न होने में स्मरण योग्य होने से इस प्रथम हेतु का भाष्यकार विवरण करते हैं कि)—यदि आत्मा इस पदार्थ के स्मरण होने का कारण भावना नामक संस्कार इस अमुक आत्मा के प्रदेश में सम्बन्ध रखता है उससे मन का विशेष संयोग हो, ऐसा समझकर मन की प्रेरणा करे, तब तो उस पदार्थ का स्मरण हो ही गया है, न कि उस पदार्थ को स्मरण करना है, जिससे आत्मा की प्रेरणा का प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा । (दूसरे इच्छा से स्मरण ज्ञान का असंभव होने से इस हेतु का तात्पर्य दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—आत्मा के प्रदेश अथवा विकार का आत्मा को प्रत्यक्ष भी नहीं है, इस कारण उसमें आत्मा के प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं हो सकता (अर्थात् इस मेरे प्रदेश में यह संस्कार सम्बन्ध रखता है इस कारण इसके साथ मन का संयोग हो इस प्रकार के आत्मा के प्रयत्न होने में आत्मा को अपने प्रदेश के प्रत्यक्ष तथा अपने में रहने वाले संस्कार का प्रत्यक्ष होना भी आवश्यक है, यह दोनों ही नहीं हो सकता, तब तो आत्मा को प्रत्यक्ष से ज्ञान अथवा स्मरण होता है यह तो दूर रहा यह दूसरे हेतु का आशय है) (इस प्रकार प्रथम आत्मप्रेरणा से मन में संयोग का असंभव दिखाकर तीसरे यदृच्छा पक्ष का असंभव दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—स्मरण करने की इच्छा से यह आत्मा अपने विषय में लगाता हुआ भी बहुत देर के बाद भी किसी विषय का स्मरण करती है, अकस्मात् नहीं करता (अर्थात् प्रथम आत्मा को स्मरण की

संस्कारो वा, तत्रानुपपन्नाऽऽत्मप्रत्यक्षेण संवित्तिरिति। सुस्मूर्षया चायं मनः प्रणिदधानश्चिरादपि कञ्चिदर्थं स्मरति नाकस्मात्, ज्ञत्वं च मनसो नास्ति ज्ञानप्रतिषेधादिति ॥ ३१ ॥

एतच्च—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥ ३२ ॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः क्वचिद् देशे शर्करया कण्टकेन वा पादव्यथनमाप्नोति तदाऽऽत्ममनःसंयोगविशेष एषितव्यः। दृष्टं हि दुःखं दुःखवेदनं चेति तत्रायं समानः प्रतिषेधः। यदृच्छया तु न विशेषो नाकस्मिकी क्रिया

इच्छा होती है पश्चात् बहुत काल तक विषय में चित्त के लगाने से स्मरण होता है ऐसा स्मरण होने का प्रकार होने के कारण अकस्मात् स्मरण होता है यह सर्वथा नहीं हो सकता। (तीसरे मन की ज्ञातृतापक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—मन में ज्ञातता तो है नहीं, क्योंकि आत्मा ही ज्ञाता है, यह पूर्वग्रन्थ में सिद्ध कर चुके हैं, अतः प्रथम एकदेशी का मत सर्वथा असंगत है ॥ ३१ ॥

(उपरोक्त द्वितीय एकदेशी के मत का निराकरण **'एतच्च'** इस भाष्य को अवतरण के साथ **'व्यासक्तमनस'** इस ३२ वें सूत्र से करते हैं कि)—यह जो दूसरे एक देशी ने कहा है वह—

पदपदार्थ—व्यासक्तमनसः=एक (नृत्यादि) विषय में आसक्तमन वाले पुरुष के, पदकथनेन= पाद में अकस्मात् कांटा आदि गड़ने से व्यथा (पीड़ा) होने पर, संयोगविशेषेण = जैसे मन का संयोगविशेष होता है उसके, समानं = समान है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—अकस्मात् मन का संयोग नहीं होता यह जो द्वितीय एकदेशी ने उपरोक्त ३१ वें सूत्र में कहा था वह असंगत है क्योंकि जिस प्रकार नृत्य आदि देखने में जिस मनुष्य का चित्त आसक्त है ऐसे मनुष्य के पाद में अकस्मात् कांटा आदि गड़ने से जो पाद के साथ अकस्मात् मन का विशेष संयोग होता है, उसी प्रकार अकस्मात् और स्थलों में भी मन का संयोगविशेष हो सकता है ॥ ३२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस समय यह मनुष्य नृत्य आदि देखने के किसी विशेष देश में दत्तचित्त रहने पर अकस्मात् छोटे-छोटे कंकड़ आदि पाद में गड़ने से पाद में पीड़ा को प्राप्त होता है, उस समय मन का विशेषसंयोग पाद के साथ अवश्य मानना होगा, (क्योंकि बिना मन का संयोग हुए उस मनुष्य को पाद में कंकड़ के गड़ने के दुःख का अनुभव नहीं हो सकता) उपरोक्त दुःख और उसका अनुभव तो देखने में आता है। ऐसा होने से उसमें यह निषेध समान है (अर्थात् दूसरे एकदेशी ने जो अकस्मात् मन के संयोग के होने का निषेध कहा था, वह निषेध नृत्यदर्शन में आसक्त चित्त वाले मनुष्य के पाद में अकस्मात् पाद की कंकड़ से हुई पीड़ा को उत्पन्न करने वाले मन के संयोग में भी होगा, जो सर्वथा अनुभव के विरुद्ध है। (इस प्रकार प्रतिबंदी रूप से अनुभव का विरोध दिखाकर वास्तविक उत्तर देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यदृच्छा (अकस्मात्) तो न कोई विशेष कर्म होता है, न कोई क्रिया, न कोई संयोग भी अकस्मात् होता है (अर्थात् अकस्मात् कोई मन का संयोग नहीं होता, इस एकदेशी के कथन का तो यही वास्तविक उत्तर है कि संसार में कोई भी कार्य अकस्मात्

नाकस्मिकः संयोग इति। कर्मादृष्टमुपभोगार्थं क्रियाहेतुरिति चेत् समानम्।

कर्मादृष्टं पुरुषस्थं पुरुषोपभोगार्थं मनसि क्रियाहेतुरेवं दुःखं दुःखसंवेदनं च सिध्यतीत्येवं चेन्मन्यसे समानं स्मृतिहेतावपि संयोगविशेषो भवितुमर्हति। तत्र यदुक्त *'आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः'* इत्ययमप्रतिषेध इति। पूर्वस्तु प्रतिषेधो *'नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनस'* इति ॥ ३२ ॥

कः खल्विदानीं कारणयौगपद्यसद्भावे युगपदस्मरणस्य हेतुरिति—

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ॥ ३३ ॥

यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुरेवं प्रणिधानं लिङ्गा-

---

उत्पन्न नहीं होता)। (यदि पूर्वपक्षी कहे कि "सुखदुःख के अनुभवरूप उपभोग को धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट ही उत्पन्न करता है, वही क्रिया का कारण है आकस्मिक नहीं है" यह प्रस्तुत में भी समान है। अर्थात् आत्मा में वर्तमान पुण्य और पापरूप कर्म से उत्पन्न हुआ धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट पुरुषों को सुखदुःखानुभवरूप भोग को देने के लिये मन में क्रिया का कारण होता है, जिससे दुःख और दुःख का अनुभव सिद्ध हो जाता है ऐसा यदि आप पूर्वपक्षी मानते हैं, तो स्मरण के कारण में भी मन का विशेष संयोग हो सकता है यह समान ही है। इस कारण जो द्वितीय एकदेशी ने कहा था कि आत्मा की प्रेरणा, या अकस्मात्, अथवा मन की ज्ञतता से भी संयोग-विशेष मन से स्मरण का कारण नहीं हो सकता, '२१ वें सूत्र में कहा हुआ' ऐसा निषेध नहीं हो सकता। किन्तु मन के शरीर के भीतर रहने से ऐसा जो २६ वें सूत्र में निषेध कहा था वही सत्य है) ॥ ३२ ॥

(इस प्रकार परास्त हुआ भी पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप कर सकता है कि)—कारणों के एककाल में रहने पर भी एककाल में स्मरण नहीं होता इसका क्या कारण है? इस आक्षेप के सिद्धान्तसूत्र को भाष्यकार अवतरण से दिखाकर, सूत्र में उत्तर दिखाते हुए सूत्रकार स्मरणज्ञान के अयौगपद्य का स्वयं समर्थन करते हैं—

पदपदार्थ—प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानां=आगे ४१ वें सूत्र में कहे जाने वाले प्रणिधान (स्मरण-करने की इच्छा से मन का धारण), लिङ्गः (हेतु), आदि के ज्ञानों के (जो स्मृति के कारण हैं), अयुगपद्भावात् = एक समय में न होने के कारण, अयुगपत्स्मरणं = स्मरण एककाल में नहीं होता ॥ ३३ ॥

भावार्थ—आगे ४१ वें सूत्र में स्मरण होने के कारण प्रणिधान इत्यादि उन्नीस प्रकार के कहे जायेंगे, उनके एककाल में न होने के कारण स्मृतिज्ञान एककाल में नहीं होते, न कि केवल संस्कारसहित आत्मा और मन का संयोग ही स्मृति होने का कारण है, अतः इस संयोग के रहने पर भी प्रणिधानादि दूसरे स्मरण के कारणों के एककाल में न होने के कारण स्मृतिज्ञान एककाल में नहीं होता ॥ ३३ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार आत्मा और मन का सन्निकर्ष और भावना संस्कार स्मरण का कारण होता है उसी प्रकार उपरोक्त प्रणिधान, तथा लिङ्गादिज्ञान भी स्मरण के कारण होते हैं, और वे एककाल में नहीं होते, इसी से स्मरणरूप ज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति नहीं होती। इस पर पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि—

द्विज्ञानानि, तानि च न युगपद्भवन्ति तत्कृता स्मृतीनां युगपदनुत्पत्तिरिति। प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः।

यत्खल्विदं प्रातिभमिव ज्ञानं प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्त्तमुत्पद्यते कदाचित्तस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गो हेत्वभावात्। *सतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानः।* बह्वर्थविषये वै चिन्ताप्रबन्धे कश्चिदेवार्थः कस्य चित्स्मृतिहेतुः तस्यानुचिन्तनात् तस्य स्मृतिर्भवति, न चायं स्मर्ता सर्वं स्मृतिहेतुं संवेदयते एवं मे स्मृतिरुत्पन्नेत्यसंवेदनात्प्रातिभमिव ज्ञानमिदं स्मार्तमित्यभिमन्यते न त्वस्ति प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्तमिति। प्रातिभे कथमिति चेत् ? पुरुषकर्मविशेषादुपभोगवन्नियमः।

"प्रातिभज्ञान के समान प्रणिधानादिकों के अपेक्षा न करनेवाले स्मरणज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति होने की आपत्ती आ जायगी।" (इस प्रकार संक्षेप में कहे हुए आक्षेप का भाष्यकार अनुवाद करते हैं कि)—जो यह प्रातिभूत (प्रतिभा से उत्पन्न) ज्ञान के समान प्रणिधानादिकों की अपेक्षा न रखने वाला स्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है हेतु (कारण) के न होने से कदाचित् (किसी समय) उसकी एककाल में उत्पत्ति होने लगेगी (अर्थात् स्मरण के अनुरूप प्रातिभज्ञान भी है, और वह तो बिना प्रणिधानादिकों के भावना संस्कार सहित केवल आत्मा और मन के संयोग से ही आकस्मिक उत्पन्न होता है इसी के समान केवल आत्मा और मन के संयोग से दूसरे भी स्मरणज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं, (इनकी एककाल में उत्पत्ति हो सकती है) यह आक्षेप का आशय है)। (इस आक्षेप का भाष्यकार ऐसा उत्तर देते हैं कि)—वर्तमान होने पर भी स्मरणज्ञान के कारण का अनुभव न होने से प्रातिभज्ञान के समान अभिमान (भ्रम) होता है। (अर्थात् स्मरणादिज्ञानों में कारणों का क्रम और कारणों की उपलब्धि न होने पर भी स्मरणरूप कार्य के उत्पत्ति के क्रम से उनका अनुमान किया जाता है। ऐसा होने से प्रातिभज्ञान भी आत्मा के अदृष्टविशेष की अपेक्षा रखनेवाले आत्ममन सन्निकर्षादि कारणों से ही उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारण और क्रम के नहीं ही होता। अतः प्रातिभज्ञान में इन कारणों के वर्तमान होने पर भी उनकी उपलब्धि नहीं होती, और उनके क्रम का अनुभव नहीं होता यह नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार स्मृतियों में भी कारण और उनका क्रम नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। (आगे स्मरण के वास्तविक प्रकार को दिखाते हुए भाष्यकार एककाल में स्मरण के होने के भ्रम का मूल दिखाते हैं कि)—अनेक विषयसम्बन्धी अनुभव (ज्ञानों) के समुदाय में से कोई ही अर्थ (विषय) किसी मनुष्य के कालान्तर में स्मरण होने का कारण होता है, उसी के पश्चात् चिन्तन करने के कारण उसी विषय का उस पुरुष को स्मरण होता है, यह स्मरण करनेवाला प्राणी सम्पूर्ण विषयों के स्मरणों के कारण का अनुभव नहीं करता—कि इस प्रकार मुझे स्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ, अतः ऐसा अनुभव न होने के कारण यह स्मरणरूप ज्ञान प्रातिभज्ञान के समान है ऐसा उसे भ्रम होता है। प्रणिधानादिकों की अपेक्षा न रखनेवाला कोई स्मरणज्ञान नहीं होता। (स्मरण में ऐसा मानेंगे किन्तु प्रातिभज्ञान में तो आकस्मिकता तथा दूसरे कारण का न होना यह तो अनुभव से सिद्ध होता है इस आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी का प्रश्न दिखाते हैं कि)—'प्रातिभज्ञान में कैसे होगा ?' इसका सामान्यरूप से उत्तर भाष्यकार देते हैं कि—प्राणियों के कर्मविशेष से सुखदुःख के अनुभवरूप उपभोग के समान नियम ही

प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत् कस्मान्नोत्पद्यते ? यथोपभोगार्थं कर्म युगपदुपभोगं न करोति एवं पुरुषकर्मविशेषः प्रतिभाहेतुर्न युगपदनेकं प्रातिभं ज्ञानमुत्पादयति। हेत्वभावादयुक्तमिति चेद् न करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यात्।

'उपभोगवन्नियम' इत्यस्ति दृष्टान्तो हेतुर्नास्तीति चेन्मन्यसे ? न, करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याद् नैकस्मिन् ज्ञेये युगपदनेकं ज्ञानमुत्पद्यते। न चानेकस्मिंस्तदिदं दृष्टेन प्रत्ययपर्यायेणानुमेयं करणसामर्थ्यमित्थम्भूतमिति न

सकेगा। (अर्थात् जिस प्रकार प्राणी का धर्माधर्मरूप अदृष्ट उसके सुखदुःखानुभवरूप उपभोगों का नियामक होता है उसी प्रकार प्रातिभज्ञान का भी नियामक होता है)। उपरोक्त पूर्वपक्ष के प्रश्न के आशय को प्रकट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—"तो प्रातिभज्ञान इस समय एककाल में क्यों नहीं होता ?" (अर्थात् प्रातिभज्ञान एककाल में नहीं होते इसमें क्या कारण है ?) उपरोक्त उत्तर का आशय प्रगट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—जिस प्रकार सुखदुःख के उपभोग का साधक पुण्य तथा पापरूप कर्म एक ही समय सम्पूर्ण उपभोग को नहीं करता उसी प्रकार प्राणि का जो विशेष कर्म प्रतिभा का कारण है वह एक ही समय में प्रातिभज्ञान को भी उत्पन्न नहीं करता। "यह सिद्धान्ती का कथन साधक हेतु न होने से अयुक्त है (अर्थात् अदृष्ट से होने के कारण प्रातिभज्ञान एककाल में नहीं होता यह केवल सिद्धान्ती का कथनमात्र है क्योंकि इसमें कोई साधक हेतु सिद्धान्ती ने नहीं दिया है, केवल उपभोग दृष्टान्त ही दिया है)" इस आक्षेप का सिद्धान्ती के पक्ष से भाष्यकार उत्तर देते हैं कि—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि करणों का क्रम से ज्ञानों को उत्पन्न करने में सामर्थ्य होता है न कि एककाल में। (उपरोक्त पूर्वपक्षी के आक्षेप का भाष्यकार अनुवाद करते हैं कि)—"सुखदुःखानुभवरूप उपभोग के समान प्रातिभज्ञान में नियम है यह दृष्टान्तमात्र है न कि इसमें कोई साधक हेतु है" यदि पूर्वपक्षी ऐसा मानता हो तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के साधकविशेष कारणरूप करणों को क्रम से ज्ञानों को उत्पन्न करने का ही सामर्थ्य होता है, क्योंकि न एक ही जानने योग्य विषय अथवा अनेक जानने योग्य विषयों में एक ही समय में अनेक ज्ञान उत्पन्न होता है, यह अनुभवसिद्ध है इस अनुभवसिद्ध ज्ञानों को क्रम से और भी करणों का क्रम से ही ज्ञानों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है यह अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है (अर्थात् उपरोक्त अनुभवसिद्ध ज्ञानों की क्रमिकता से यह सिद्ध होता है कि यह ज्ञान के साधनों का ही धर्म है कि उनका क्रम से ही व्यापार होता है, अतः ज्ञान का एककाल में न होना रूप करणों के स्वभाव से ही है न कि ज्ञाता आत्मा के स्वभाव से, क्योंकि हम प्राणियों के करणों से विलक्षण करण धर्मवाले योगियों को अनेक शरीर रचना के समय एक समय अनेक ज्ञान होते हैं, यह देखने में आता है)। (अर्थात् यदि ज्ञानों का एककाल में न होना यदि ज्ञाता (आत्मा) से होता हो तो, उपरोक्त योगी को अनेक ज्ञान एक समय न होंगे। योगी पुरुष तो योग की सिद्धि प्रगट होने से अनेक लोकों में अनेक इन्द्रिय सहित शरीरों को निर्माणकर और मुक्ता· आत्माओं के मनों को लेकर मुक्ति के लिये शीघ्रता करता हुआ अपने कर्म से उपार्जन किये हुए अनेक सुखदुःखादि ज्ञानों को एक ही समय में भोगता है। इस अवस्था में योगी पुरुष को एक ही समय में अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसमें ज्ञाता योगी के एक होने पर भी करण एक नहीं है, क्योंकि उपरोक्त प्रकार से योगी के अनेक मन करण हैं, जो प्रत्येक ज्ञान में भिन्न-भिन्न हैं)। (प्रथम एकदेशी ने जो कहा था कि ज्ञान से सम्बद्ध संस्कारयुक्त आत्मा के प्रदेशभेद स्मरणज्ञान के अयौगपद्य का साधक है उस पर दूसरे एकदेशी के दिखाए हुए दूसरे

ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्यययौगपद्यादिति। अयं च द्वितीयः प्रतिषेधः, अवस्थितशरीरस्य चानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपदनेकार्थस्मरणं स्यात्। क्वचिदेवावस्थितशरीरस्य ज्ञातुरिन्द्रियार्थप्रबन्धेन ज्ञानमनेकमेकस्मिन्नात्मप्रदेशे समवैति। तेन यदा मनः संयुज्यते तदा ज्ञातपूर्वस्यानेकस्य युगपत् स्मरणं प्रसज्यते प्रदेशसंयोगपर्यायाभावादिति। आत्मप्रदेशानामद्रव्यान्तरत्वादेकार्थसमवायस्याविशेषे स्मृतियौगपद्यप्रतिषेधानुपपत्तिः।

शब्दसन्ताने तु श्रोत्राधिष्ठानप्रत्यासत्त्या शब्दश्रवणवत्संस्कारप्रत्यासत्त्या मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः। पूर्व एव तु प्रतिषेधो नानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपत् स्मृतिप्रसङ्ग इति ॥ ३३ ॥

दूषणों का खण्डन करने के लिये उसके दोषों को दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वर्तमान शरीर वाले आत्मा का अनेक ज्ञानों में समवायसम्बन्ध होने के कारण एक प्रदेश में एककाल में अनेक स्मरण होने लगेगा। (अर्थात् यदि ज्ञान से समवेत आत्मा के प्रदेश के सन्निकर्ष से ही स्मृतिज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति न होती हो तो जो एकदेश संस्कार हैं उनमें अवस्थित शरीर आत्मा का अनेक ज्ञानों में समवाय होने के कारण एकदेश में एककाल में अनेक स्मरण ज्ञान होने लगेंगे। ऐसा नहीं हो सकता। इस कारण एकदेशी ने किया हुआ खण्डन संगत नहीं है यह दूषण का आशय है)। (इस प्रकार द्वितीय एकदेशी के परिहार को दिखाकर उसका खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि')—कहीं अर्थात् जिस आत्मा के प्रदेश में आत्मा को अनेक विषयों में ज्ञात और संस्कार भी हुए हैं। उसीमें भावस्थित शरीर ज्ञाता को इन्द्रियों के अनेक विषयों में अनेक ज्ञान एक आत्मा के प्रदेश में सम्बद्ध होता है, और उसके साथ मन का जिस समय संयोग होता है, उस समय पूर्वकाल में जाने हुए अनेक विषयों का एककाल में स्मरण होने की आपत्ति आती है, क्योंकि उपरोक्त प्रदेश संयोगों में क्रम का ही है। और एक आत्मा के जो नाना प्रदेश हैं वे आत्मा इच्छा से भिन्न द्रव्य नहीं हैं इस कारण एक अर्थ में सम्बन्ध के समान होने पर भी पूर्वोक्त एककाल में अनेक स्मरणों के होने का निषेध नहीं हो सकता। (उपरोक्त दूषण का निराकरण करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—शब्दों की धारा में श्रोत्रइन्द्रिय से सम्बन्ध होने पर जिस प्रकार शब्द का श्रवण होता है उसो प्रकार आत्मा के अनेक संस्कारों का सम्बन्ध होने से मन के साथ सम्बन्ध होने के कारण स्मरण होने के कारण एककाल में अनेक स्मरणों की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं आ सकती (अर्थात् शब्दधारा में से जो शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बद्ध होता है वही सुनाई देता है, न कि उस शब्दधारा के सम्पूर्ण शब्दों का श्रवण होता है। इसी प्रकार आमा में वर्तमान नाना भावना संस्कारों में से जिस संस्कारविशेष का जिस क्षण में मन के साथ सम्बन्ध होता है, उस विशेष संस्कार से उत्पन्न भया हुआ ही स्मरण उस क्षण में उत्पन्न होता है न कि दूसरे संस्कारों से उत्पन्न स्मरणों की उत्पत्ति होती है, इस कारण एककाल में अनेक स्मरण नहीं हो सकते।) (इस प्रकार पश्चात् कहे हुए दूषण का खण्डन होने पर एकदेशी के मत की संगति क्या हो सकेगी यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—एकदेशी के मत का जो प्रतिषेध हमने २६ वें 'अन्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः' इस सूत्र में कहा था कि 'अनेक ज्ञान के सम्बन्ध से एक प्रदेश में एककाल में अनेक स्मरणज्ञान होने की आपत्ति नहीं आ सकती', वही एकदेशी मत का खण्डन करता है, तस्मात् अनेक स्मरण एककाल में नहीं हो सकते ॥ ३३ ॥

यत् पुरुषधर्मो ज्ञानमन्तःकरणस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्मा इति कस्यचिद्दर्शनं तत्प्रतिषिध्यते—

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ ३४ ॥

अयं खलु जानाति तावदिदं मे सुखसाधनमिदं मे दुःखसाधनमिति ज्ञातं स्वस्य सुखसाधनमाप्तुमिच्छति, दुःखसाधनं हातुमिच्छति, प्राप्तीच्छा-

इस प्रकार १८ वें सूत्र से यहाँ तक बुद्धि आत्मा का विशेष गुण है यह सिद्ध करने के पश्चात् वह बुद्धि इच्छादिगुणों के आधार में रहती है, अथवा नहीं। इस विचार को प्रारम्भ करते हुए इस विषय में उक्त संशय को उठाने वाली सांख्य तथा क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धमत से विवाद दिखाते हुए आगे के सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि—आत्मा का धर्म ज्ञान है और अन्तःकरण के धर्म हैं इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख इत्यादि ऐसा किसी सांख्य तथा बौद्ध का मत है—उसका खण्डन सूत्र में सूत्रकार इस प्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—ज्ञस्य = ज्ञाता आत्मा के, इच्छाद्वेषनिमित्तत्वात् = इच्छा तथा द्वेषरूप कारण से होने के कारण, आरंभनिवृत्त्योः = क्रम से प्रवृत्ति और निवृत्ति के ॥ ३४ ॥

भावार्थ—यह प्राणी यह पदार्थ (विषय) मेरे सुख का साधन है, यह विषय मेरे दुःख का साधन है ऐसा जानकर उस सुख विषय का ग्रहण, तथा दुःख विषय का त्याग करना चाहता है, पश्चात् सुख साधन विषय को ग्रहण करने का प्रयत्न, और दुःख साधन विषय का त्याग करने का प्रयत्न करता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख इन गुणों का एक ही के साथ सम्बन्ध है, और ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति इनका एक ही कर्ता है और इनका आधार भी समान है, इस कारण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख ये अचेतन के धर्म नहीं हो सकते, प्रवृत्ति और निवृत्ति अपनी आत्मा में देखे जाते हैं, जिससे दूसरे की आत्मा में भी इनकी अनुमान से सिद्धि होती है। (तात्पर्यटीकाकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पूर्वपक्षी का मत इस प्रकार दिखाया है कि आत्मा की चेतनता एक ही कूटस्थ (निर्विकार) नित्य है जो विषयाकार में परिणाम को प्राप्त बुद्धिरूपतत्व में पड़े हुए उपरोक्त आत्मा के चैतन्य के प्रतिबिंब पड़ने के कारण भ्रम से उत्पन्न हुए धर्मवाला भिन्न सा प्रतीत होनेवाला विज्ञानवृत्ति ऐसा कहा जाता है, अर्थात् वस्तुतः उत्पन्न होनेवाले इच्छादिक अन्तःकरण के ही धर्म हैं इत्यादि। इस तात्पर्यटोकाकार वाचस्पतिमिश्र के विचार का प्रयोजन परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने ऐसा लिखा है कि जबतक इच्छादि गुणों को आत्मा के ये गुण हैं यह सिद्ध न किया जाय तबतक इन्द्रिय, अर्थ, मन इनसे आत्मा भिन्न है यह सिद्ध होने पर भी ज्ञान आत्मा का गुण है यह सिद्ध नहीं हो सकता। और इच्छा अन्तःकरण का गुण है—ज्ञान इच्छा से उत्पन्न होता है—इस कारण इच्छा और ज्ञान को एक आश्रय में रहना आवश्यक होने से ज्ञान भी अन्तःकरण ही का गुण है, न कि आत्मा का गुण ऐसा वृत्तिकार ने इस पूर्वपक्षदर्शन को तात्पर्य यहाँ पर वर्णन किया है, भाष्यकार ने इसी आशय से इस पूर्वपक्षदर्शन का खण्डन 'तत्प्रतिषेधने' इस अवतरण में सूचित किया है।

सूत्रार्थ की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ज्ञानादिगुणों का सामानाधिकरण्य (एक आधार में रहना) दिखाते हैं—कि यह आत्मा प्रथम यह जानता है कि यह विषय (पदार्थ) माला आदि मेरे सुख का साधन है और यह कांटा आदि मेरे दुःख का साधन है—पश्चात् ऐसा जानकर ही अपने सुख के साधन माला, स्त्री आदि पदार्थों को प्राप्त करने की तथा दुःख के कारण कांटा, सर्प आदि पदार्थों को त्याग करने की इच्छा करता है। इस प्रकार सुख साधन के प्राप्त होने की

प्रयुक्तस्यास्य सुखसाधनावाप्तये समीहाविशेष आरम्भः, जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं निवृत्तिः, एवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नद्वेषसुखदुःखानामेकेनाभिसम्बन्धः। एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वं च। तस्माज् ज्ञस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्मा नाचेतनस्येति। आरम्भनिवृत्त्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परत्रानुमानं वेदितव्यमिति ॥ ३४ ॥

अत्र भूतचैतनिक आह—

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ ३५ ॥

आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति यस्यारम्भनिवृत्ती तस्येच्छाद्वेषौ तस्य

इच्छा से प्रेरित होकर सुख के साधनों (माला आदिकों के) प्राप्त करने के लिये उसकी प्रयत्नरूप प्रवृत्ति होती है। तथा दुख के साधनों की त्याग करने की इच्छा से प्रेरित होकर दुःख के साधनों में (कांटा सर्प) आदिकों को त्याग करना रूप उसकी उक्त दुःख साधनों से निवृत्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न सुख तथा दुःख इन गुणों का एक ही के साथ सम्बन्ध होता है तथा ज्ञान, इच्छा तथा प्रवृत्ति का एक ही कर्ता है, और ये एक ही आधार में रहते हैं। इस कारण ज्ञाता आत्मा के ही इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख ये धर्म हैं, न कि अचेतन बुद्धितत्व के। (उपरोक्त में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि) प्रत्यक्ष से ही अपनी आत्मा में सुख साधन में प्रवृत्ति तथा दुःख साधन से निवृत्ति देखने में आती है, जिससे दूसरे की आत्मा में भी उन दोनों को अनुमान द्वारा सिद्धि जान लेनी चाहिये (अर्थात् अपनी इच्छा, द्वेष आदिकों का अपनी आत्मा के साथ एकाश्रयता (एक आधार) के उपलब्ध होने से दूसरों की इच्छादिकों का दूसरे को प्रत्यक्ष न होने के कारण अनुमान से दूसरे की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति इच्छाद्वेषपूर्वक होती है यह सिद्ध होता है। यदि दूसरे की इच्छादिकों का दूसरे को प्रत्यक्ष होने में मैत्र नामक पुरुष की इच्छादिकों का चैत्र नामक पुरुष को ज्ञान होने लगेगा, अणु परिमाण वाला अन्तःकरण में वर्तमान दूसरे गुणों के प्रत्यक्ष न होने की आपत्ति आने के कारण यह परिमाण आत्मा के ही इच्छादि गुण हैं, न कि अन्तःकरण के यह सिद्ध होता है) ॥ ३४ ॥

ज्ञान इच्छा आदि गुणों का एक ही आश्रय मानेंगे, किन्तु यह पृथिवी भूत से उत्पन्न शरीर ही एक आश्रय उक्त गुणों का है ऐसा क्यों न माना जाय, इसका आशय से भूतचेतनवादी चार्वाक की शंका से पूर्वपक्षसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—(यहां पर इस उक्त सिद्धान्त पर) भूतपदार्थों को चेतन मानने वाला चार्वाक पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—तल्लिङ्गत्वात = प्रवृत्ति और निवृत्ति का साधक होने से, इच्छाद्वेषणोः = इच्छा तथा द्वेषगुण के, पार्थिवाद्येषु = पार्थिवादि शरीरों में, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

भावार्थ—इच्छा तथा द्वेष के प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के साधक होने के कारण जिसकी प्रवृत्ति, तथा निवृत्ति होती है उसे ही इच्छा तथा द्वेष होते हैं, और उसी को ज्ञान होता है, ऐसा सिद्ध होने से पार्थिवादि शरीरों में ही प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई पड़ने से कारण उन्हीं के इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान का सम्बन्ध होने से भौतिक शरीर ही चेतन आत्मा है यह सिद्ध होता है ॥

इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी चार्वाकमत के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि—जिस कारण इच्छा विषय में (अनुराग), तथा द्वेष होना ही सुखसाधन में प्रवृत्ति तथा दुःखसाधन में

ज्ञानमिति प्राप्तं पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति चैतन्यम् ॥ ३५ ॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३६ ॥

शरीरे चैतन्यनिवृत्तिः। आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्यारम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चैतन्यमिति। अथ शरीरस्येच्छादिभिर्योगः, परश्वादेस्तु करणस्यारम्भनिवृत्ती व्यभिचरतः? न तर्ह्ययं हेतुः '*पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग*' इति।

अयं तर्ह्यन्योऽर्थस्त*ल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः*। पृथिव्यादीनां

निवृत्ति के साधक हैं, इस कारण जिसकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है, उसी को इच्छा तथा द्वेष होते हैं और उसे ही ज्ञान होता है, ऐसा होने से पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय शरीरों में ही सुखसाधन में प्रवृत्ति तथा दुःखसाधन में निवृत्ति होना प्रत्यक्ष से दिखाई देने के कारण पार्थिव आदि शरीरों में ही इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान गुणों का सम्बन्ध सिद्ध होने से शरीर ही चेतन आत्मा है यह सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

उपरोक्त चार्वाक के पक्ष का समाधान करने की इच्छा से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—परश्वादिषु = फरसा आदि छेदनक्रिया के साधनों में, आरंभनिवृत्तिदर्शनात् = प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई देने से ॥ ३६ ॥

भावार्थ—यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति के आधार होने से ही शरीर ज्ञान, सुख आदि गुणों का आश्रय है ऐसा माना जाय, तो परशु (फरसा) आदिकों में भी उठना और लकड़ी पर गिरना आदि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई देने से उनमें भी ज्ञान, सुख आदि रहते हैं ऐसा मानना होगा। इससे यह सिद्ध होता है 'पार्थिवादि शरीरों में निषेध नहीं हो सकता' ऐसा चार्वाक कहना व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण चार्वाकमत असंगत है ॥ ३६ ॥

(उक्त सूत्र के 'परशुआदिकों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई देने से इस हेतु का निगमन अवयव को पूर्ण करते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'परशु आदि में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई पड़ने से' शरीर में चेतनता की निवृत्ति होती है। (इसी का स्पष्ट अर्थ दिखाते हैं कि) यदि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई पड़ने से इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान इन गुणों का सम्बन्ध सिद्ध होता है पूर्वपक्षिमत से ऐसा माना जाय तो यह भी सिद्ध हो सकता है कि परशु आदि छेदनक्रिया के करणों में उपरोक्त प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई पड़ने से उनको भी चेतन मानना पड़ेगा। (यदि शरीर में हमें प्रत्यक्ष ही ज्ञान, इच्छादिगुणों का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है परशु आदि में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता इस कारण उनमें ज्ञानादि गुणों की आधारता से चेतनता नहीं हो सकती, इस कारण व्यभिचारदोष नहीं आता है' ऐसा चार्वाक कहे तो '**तल्लिंगत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः**' इस सूत्र में कहा हुआ चार्वाक का हेतु व्यभिचारदोषग्रस्त हो जाता है, अर्थात् पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय शरीरों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दिखाई पड़ने से इच्छा, द्वेष तथा ज्ञानगुणों से सम्बन्ध होता है—यह चार्वाक का हेतु नहीं हो सकता। (इस प्रकार भूतचेतनवादी का सिद्धान्ती ने खण्डन करने पर वह अपने '**तल्लिंगत्वात्**' इस कहे हुए हेतु की दूसरे प्रकार से व्याख्या करता है कि—यदि ऐसा है तो '**तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः**' इसका ऐसा अर्थ करेंगे कि—पृथिवी आदिकों की प्रवृत्ति अस्थिर कृमि

भूतानामारम्भस्तावत् त्रसस्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषः, लोष्टादिषु च लिङ्गाभावात् प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः, आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति, पार्थिवाद्येष्वणुषु तद्दर्शनादिच्छाद्वेषयोगस्तद्योगाज् ज्ञानयोग इति सिद्धं भूतचैतन्यमिति—

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ।

कुम्भादिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेष आरम्भः, सिकतादिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः । न च मृत्सिकतानामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानैर्योगः, तस्मात् "तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयो" रित्यहेतुरिति ॥ ३६ ॥

(कीड़े-मकोड़े) आदिकों के तथा स्थावर देवता मनुष्य आदिकों के शरीरों में अवयवों के (व्यूह) रचनाओं में भेद दिखाई पड़ने के कारण उक्त शरीरों के उत्पन्न करनेवाले परमाणुओं के आरम्भरूप प्रवृत्तिविशेष का अनुमान किया जाता है, और उस प्रवृत्तिविशेष से उनके इच्छा और द्वेष का अनुमान होता है और उससे उनमें चेतनता की अनुमान से सिद्धि होती है। (शरीरभिन्न जड़पदार्थों में इसके विपरीत भाव का वर्णन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—लोष्ट (मट्टी के ढेले) आदिकों में तो उपरोक्त अवयवव्यूहलिङ्ग के न होने से उससे सिद्ध होनेवाली प्रवृत्ति का अभाव है जिससे प्रवृत्ति की अभावरूप निवृत्ति सिद्ध होती है। जिस कारण इच्छा तथा द्वेष प्रवृत्ति और निवृत्ति के साधक हैं इस कारण पार्थिवादी परमाणुओं में प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपरोक्त प्रकार से दिखाई देने के कारण उनमें इच्छा और द्वेष का सम्बन्ध, और उनके सम्बन्ध से उनमें ज्ञान का भी सम्बन्ध सिद्ध होने के कारण भूतचेतनतावाद संगत है (अर्थात् उपरोक्त कथन से जीवों के शरीरों में प्रवृत्ति होना उनमें इच्छा को अनुमान द्वारा सिद्ध करता है, और लोष्टादिकों में निवृत्ति उनमें द्वेष की सिद्धि करती है इस कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों के शरीर तथा लोष्ट आदिकों को उत्पन्न करने वाले पार्थिवादि परमाणुओं में ही दिखाई पड़ने के कारण ज्ञान भी इन्हीं में रहता है यह चार्वाकमत से सिद्ध होता है यह पूर्वपक्ष का गूढ़ आशय है। (इस भूत को जनवादि के इस द्वितीय हेतु का भी खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—कलश आदि पार्थिव द्रव्यों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के रहने पर भी इच्छादिगुणों की उपलब्धि न होने के कारण 'इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के साधक होने से' यह पूर्वपक्षी का हेतु नहीं हो सकता। (आगे स्वयं इस भाष्य का भाष्यकार आशय प्रकट करते हैं कि)—कलश आदि मृत्तिका के अवयवों की अवयव व्यूह (रचना) रूप कार्यविशेष प्रवृत्ति (आरंभ) मृत्तिका कलश आदि द्रव्यों में दिखाई पड़ती है, और अवयव व्यूह रचनारूप प्रवृत्ति के अभावरूप निवृत्ति बालू (सिकता) आदि द्रव्यों में देखने में आती है। किन्तु मृत्तिका, बालू आदि पार्थिव द्रव्यों में इस प्रकार आरंभ (प्रवृत्ति) और निवृत्ति के दिखाई पड़ने पर भी उनमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञान इन गुणों का सम्बन्ध नहीं है, इस कारण पूर्वपक्षी का 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः' यह हेतु पार्थिव परमाणुओं में चेतनता को सिद्ध नहीं कर सकता। (अर्थात् उपरोक्त कलशादि परमाणुपुंजों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के रहने पर भी उनमें इच्छादिगुणों की उपलब्धि न होने के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति इच्छा और द्वेष को सिद्ध नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

इस प्रकार भूतचेतनवाद का खण्डन कर उनसे भिन्न चेतन को सिद्ध करने के लिये सिद्धान्ति-मत से सूत्रकार कहते हैं—

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ३७ ॥

तयोरिच्छाद्वेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ भेदकौ ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती, न स्वाश्रये। किं तर्हि ? प्रयोज्याश्रये। तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः न सर्वेष्वित्यनियमोपपत्तिः।

यस्य तु ज्ञत्वाद् भूतानामिच्छाद्वेषनिमित्ते आरम्भनिवृत्ती स्वाश्रये तस्य नियमः स्यात्, यथा भूतानां गुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिर्गुणप्रतिबन्धाच्च निवृत्तिर्भूतमात्रे भवति नियमेनैवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वाश्रये स्यातां, न तु भवतः तस्मात् प्रयोजकाश्रिता ज्ञानेच्छाद्वेषयत्नाः, प्रयोज्याश्रये तु प्रवृत्तिनिवृत्ती इति सिद्धम्।

पदपदार्थ—नियमानियमौ = इच्छा और द्वेष के नियम तथा अनियम, तु=किन्तु, तद्विशेषकौ= उस आत्मा के भेदसाधक हैं ॥ ३७।

भावार्थ—भूतपदार्थों को छोड़कर उनसे भिन्न नित्य आत्मा के इच्छा तथा द्वेष गुण हैं इस व्यवस्था को करने वाले, विवक्ष्य के भेद से उनका कहीं ही रहना, अथवा सर्वत्र रहना रूप नियम तथा उसका विपर्यय रूप अनियम ही है। जिससे इच्छादिकों को पृथिव्यादि भूतद्रव्यों का गुण मानने से उपरोक्त प्रकार से उनके एकदेश में रहना न बन सकेगा—किन्तु सम्पूर्ण पृथिव्यादि द्रव्यों में वे रहने लगेंगे यह सिद्धान्तसूत्र का आशय है। अर्थात् इच्छा तथा द्वेष इन दोनों का यह विशेष है कि इन दोनों में भूतपदार्थों की आधारता को हटाकर उनसे भिन्न चेतन आत्मा में आधारता की व्यवस्था होती है ॥ ३७ ॥

(भाष्यकार सूत्र को अक्षरों के अर्थ का वर्णन करते हैं कि)—उन दोनों इच्छा तथा द्वेष के नियम (कहीं रहना वा सर्वत्र रहना) तथा इनके विपर्ययरूप अनियम, विशेषक अर्थात् भेद सिद्ध करने वाले हैं। (इस विषय में सर्वजनसिद्ध अनुभव को दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—लोकव्यवहार में ज्ञाता आत्मा की जो इच्छा तथा द्वेष के कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती हैं, वह अपने आत्मारूप आश्रय में उपलब्ध नहीं होती। (प्रश्न)—तो किसमें उपलब्ध होती हैं ? (उत्तर)—उस आत्मा से प्रयोज्य (प्रेरणा किये हुए) शरीररूप आश्रय में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उपलब्ध होती हैं। उन प्रेरणा किये हुए ही शरीरादि भूतपदार्थों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों होती हैं, न कि सम्पूर्ण शरीरादिकों में इस कारण सम्पूर्ण शरीरादिकों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का न होना रूप अनियम बन सकता है। (इससे शरीर इच्छादिगुणों का आश्रय नहीं है, इच्छादिकों से उत्पन्न क्रिया का आधार होने से, परशु आदि के समान, यह अनुमान शरीर में इच्छादिगुणों के अचेतनता में प्रमाण है यह सूचित होता है)। (आगे भेद करने वाले अनियम की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) जिस भूतचेतनवादी के मत में भूतपदार्थों के ज्ञाता आत्मा होने के कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, इच्छा तथा द्वेष के कारण होते हैं उसके मत में यह नियम होगा कि जिस प्रकार भौतिक वृक्ष के फल आदि पदार्थों में गुरुत्वरूप दूसरे एक गुण के निमित्त से भूमि पर पतन (गिरना) रूप प्रवृत्ति, तथा उसी गुरुत्व गुण के आधारद्रव्य के संयोगरूप प्रतिबन्धक के कारण निवृत्ति (न गिरना) होता है, जो सम्पूर्ण भूतद्रव्यों में नियम में समान देखने में आता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण भूतद्रव्यों में उनके गुणरूप ज्ञान, इच्छा तथा द्वेष के कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति अपने आधार में नियम से होने लगेगी, किन्तु होती नहीं। इस कारण

एकशरीरे तु ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानम् । भूतचैतनिकस्यैकशरीरे बहूनि भूतानि ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नगुणानीति ज्ञातृबहुत्वं प्राप्तम् । ओमिति ब्रुवतः प्रमाणं नास्ति, यथा नानाशरीरेषु नानाज्ञातारो बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानात्, एवमेकशरीरेऽपि बुद्ध्यादिव्यवस्थानुमानं स्याज् ज्ञातृबहुत्वस्येति ।

प्रयोजक (प्रेरणा करने वाले) से भिन्न नित्य आत्मा में ही ज्ञान, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण रहते हैं, किन्तु प्रेरणा किये जानेवाले शरीरों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रहती है यह सिद्ध होता है। अर्थात जो-जो पृथिव्यादिकों के गुण होते हैं वे सम्पूर्ण पृथिव्यादिकों में (गुरुत्वादिगुणों के समान) देखने में आते हैं, यदि ज्ञान, इच्छा आदि भी पृथिव्यादिकों के गुण हों तो वे भी सम्पूर्ण पृथिव्यादिकों में होने लगेंगे, किन्तु घट-पट आदिकों में वे नहीं दिखाई पड़ते हैं, इस कारण ज्ञान आदि गुण पृथिव्यादि भूतद्रव्यों के नहीं हैं यह सिद्ध होता है। यहाँ पर मदशक्ति को लेकर सिद्धान्ती के दिये नियम में व्यभिचारदोष दिखाते हुए चार्वाक ऐसा कहता है कि जिस प्रकार परिमाणविशेष वाले मादक द्रव्य के सिद्ध करनेवाले पदार्थ मदिरारूप को प्राप्त होकर मद को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार कार्य के आकार में परिणाम को प्राप्त हुए पृथिवी आदि भूतपदार्थ भी चेतना को प्राप्त होते हैं, दूसरे प्रकार से नहीं, इस कारण ही घटादि पदार्थों में चेतनता नहीं होती। ऐसा माननेवाले चार्वाक के पूर्वपक्ष का खंडन करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—एक शरीर में अनेक ज्ञाताओं को मानने में कोई अनुमानप्रमाण नहीं है (इस संक्षेप में चार्वाक के उत्तर को स्पष्ट करते हुए आगे भाष्यकार करते हैं कि)—भूतचेतनवादी के मत में एक शरीर में अनेक पार्थिव परमाणु द्रव्यों के ज्ञान, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण होने के कारण अनेक ज्ञाता आत्मा सिद्ध होंगे यह आपत्ति आ जायगी अर्थात मदिरा के प्रत्येक अवयवों में मदशक्ति होती है न कि केवल समुदाय में—इसी प्रकार प्रत्येक शरीर के अवयवों में चेतनता होने के कारण एक ही शरीर में ज्ञानादि गुण के अनेक चेतन आत्मा मानने पड़ेंगे, यह भूतचेतनवादी के मत में दोष आवेगा। (यदि 'ऐसा मान लेंगे' ऐसा चार्वाक कहे तो ऐसा एक शरीर में अनेक आत्माओं को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—जिस प्रकार अनेक शरीरों में एक ही काल में भिन्न २ प्रकार के ज्ञान, इच्छा इत्यादि गुणों की व्यवस्था को देखकर अनेक भिन्न-भिन्न ज्ञाता आत्मा हैं ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है इसी प्रकार एक ही शरीर में भी ज्ञानादि गुणों की व्यवस्था से अनेक ज्ञाता आत्मा है वह भी अनुमानप्रमाण से सिद्ध हो जायगा अर्थात एक भी शरीर में यदि नाना ज्ञाता आत्मा रहे तो उस एक ही शरीर में एककाल में ज्ञान, इच्छा आदि गुण माने जाने के कारण नाना ज्ञाता आत्मा माने जाएँगे यह असमंजस (असंगत) मानना होगा। तात्पर्यटीकाकार ने इस विषय में ऐसी समालोचना की है कि—एक ही शरीर में प्रत्येक अवयवों को चेतन आत्मा मानने से एक शरीर में अनेक चेतन आत्मा होने पर प्रत्येक आत्मा का विरुद्ध आशय भिन्न-भिन्न होने के कारण संसार के कोई कार्य न बन सकेंगे, क्योंकि बहुतों के एक आशय होने का कहीं नियम नहीं देखने में आता। **'काकतालीयन्याय** से यदि अनेकों का एक आशय हो भी जाय तो भी उसका नियम कहीं नहीं दिखई पड़ता। इसी आशय से वार्तिककार ने इस दोष की उपेक्षा कर ज्ञान की व्यवस्था का अनुभव न होगा यह दोष दिया है। अर्थात एक शरीर में ज्ञानों का यह परस्पर अनुसंधान देखने में आता है, दूसरे शरीर में नहीं यह ऐसी व्यवस्था होती है, वह यह व्यवस्था यदि एक शरीर में एक आत्मा माना जायगा, न कि दूसरे शरीर में तो बन सकेगी, अन्यथा न बन सकेगी।

दृष्टश्चान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषो भूतानां सोऽनुमानमन्यत्रापि। दृष्टः करणलक्षणेषु भूतेषु परश्वादिषु उपादानलक्षणेषु च मृत्प्रभृतिष्वन्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषः सोऽनुमानमन्यत्रापि स त्रसस्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषो भूतानामन्यगुणनिमित्त इति। स च गुणः प्रयत्नसमानाश्रयः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातः सर्वार्थः पुरुषार्थाराधनाय प्रयोजको भूतानां प्रयत्नवदिति आत्मास्तित्वहेतुभिरात्मनित्यत्वहेतुभिश्च भूतचैतन्यप्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः। 'नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थाना'दिति च समानः

(पूर्व सूत्र में जो नियमानियमौ ऐसा कहा था उसमें अनुमानप्रयोग में सूचित करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—भूतद्रव्यों में दूसरे के गुणों के कारण होने वाली विशेष प्रवृत्ति देखने में आती है उसी से दूसरे में भी अनुमान से उसकी सिद्धि होती है। इस संक्षेप में कहे हुए विषय का स्वयं स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—परशु (फरसा) आदि छिद्रक्रिया के विशेष कारणों (निमित्त कारणों) में, तथा घटादि कार्य के समवायिकारण मृत्तिकादिकों में जो विशेष प्रवृत्ति होती है वह दूसरे काटने वाले, बनाने वाले के गुण से होती है यह देखने में आता है, उसी से दूसरे पूर्वोक्त त्रसत् कृमि आदिकों के शरीर, तथा स्थावर देवता मनुष्यादि शरीरों में भी विशेष प्रवृत्ति जिसमें उनके अवयवों की व्यूह (रचना) साधक है, वह भी भूत-पदार्थों में दूसरे आत्मा के अदृष्टरूप गुण के कारण ही होती है ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है। (अर्थात् कृमि तथा मनुष्यादि शरीरों में प्रवृत्ति, शरीर से भिन्न में रहनेवाले गुणों के कारण हुई है, विशेष प्रवृत्ति होने से, परशु आदि के प्रवृत्ति के समान यह इस अनुमान से शरीर भिन्न आत्मा का गुण शरीर के प्रवृत्ति में कारण है यह सिद्ध करता है) वह कौन सा किसमें रहनेवाला गुण है जिससे शरीर में विशेष प्रवृत्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में आगे भाष्यकार कहते हैं कि—वह उपरोक्त गुण प्रयत्न के आश्रय में रहनेवाला धर्म तथा अधर्म अदृष्टविशेष नामक संस्कार है जो आत्मा के संपूर्ण कार्यों को सिद्ध करता है, और इसी कारण आत्मा के दृष्ट विषयों के संपादन के लिये उस आत्मा के शरीर को उत्पन्न करनेवालों को प्रयत्न के समान प्रवृत्त कराता है। (अर्थात् जिस प्रकार उस आत्मा का यत्न होने से उसके संपूर्ण कार्य होते हैं उसी प्रकार उसके अदृष्टरूप संस्कार से भी संपूर्ण कार्य होते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रयत्न के समान अदृष्ट भी शरीर रूप भूतपदार्थों का प्रेरणा करता है)। (आगे भूतचेतनावाद के और भी खण्डन करने वाले दूसरे हेतुओं को भाष्यकार अभेदों द्वारा सूचित करते हुए कहते हैं कि)—पूर्वोक्त शरीरादि भिन्न आत्मा के सद्भाव के साधन हेतु, तथा आत्मा की नित्यता के साधक हेतुओं से भूतचेतनतावाद का खण्डन जान लेना चाहिये। तथा 'इन्द्रिय और अर्थ के नष्ट होने पर भी ज्ञान बना रहता है' इस आशय के **'नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेपि ज्ञानावस्थानात्'** इस सूत्र (३।२।१८) में कहा हुआ निषेध भी भूतों में चेतनता नहीं है इस विषय का समर्थन करने से समान ही है। (३–२–२३ वें सूत्र **'तल्लिङ्गत्वात्'** इत्यादिक में दिखलाए हुए पूर्वपक्षी के आक्षेप का दूसरा समाधान करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—केवल क्रिया को प्रवृत्ति, तथा केवल क्रिया के समाप्ति को निवृत्ति कहते हैं इस आशय से पूर्वपक्षी ने कहा था कि—**'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः'** (३–२–३४) सूत्र में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही इच्छा तथा द्वेष की साधक होने से पार्थिवादि द्रव्यों में उनका निषेध नहीं हो सकता किन्तु (३–२–३४) **'तस्येच्छा'** इस सूत्र में आरंभ और निवृत्ति शब्द

प्रतिषेध इति। क्रियामात्रं क्रियोपरममात्रं चारम्भनिवृत्ती इत्यभिप्रेत्योक्तम् *'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः'*। अन्यथा त्विमे आरम्भनिवृत्ती आख्याते, न च तथाविधे पृथिव्यादिषु दृश्येते, तस्मादयुक्तम् *'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेध'* इति ॥ ३७ ॥

भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधो, मनस्तूदाहरणमात्रम्—

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ३८ ॥

*'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्ग'*मित्यतः प्रभृति यथोक्तं

से केवल प्रवृत्ति तथा निवृत्ति यह अर्थ नहीं लिया जाता, किन्तु हित की प्राप्ति और अहित के परिहार रूप व्यापार (चेष्टा) को विषय करने वाले व्यापार को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कहते हैं, पृथिवी आदिकों में ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं दिखाई देती। इस कारण—**'तल्लिङ्गत्वात्'** इस सूत्र में कहा हुआ चार्वाकपूर्वपक्षी का पार्थिवों में प्रवृत्ति और निवृत्ति को सिद्ध करना असंगत है। उपरोक्त हिताहितप्राप्ति परिहाररूप प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को न जानकर सामान्यरूप से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मानकर पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया था, इस कारण उसे 'अप्रतिपत्ति' (अज्ञान) नामक निग्रहस्थान प्राप्त होता है जिससे वह पराजित हुआ यह सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

(इस प्रकार बुद्धि शरीर का गुण है इस मत का खण्डन कर, वह भूत, इन्द्रिय तथा मन का भी गुण नहीं है यह कहने के लिये हेतु का उपन्यास करते हुए, उसमें मन का ही सूत्रकार ने अग्रिम वर्तमानसूत्र में ग्रहण क्यों किया, भूत और बाह्येन्द्रियों का ग्रहण क्यों नहीं किया? इस पूर्वपक्षी के प्रश्न पर समाधान करते हुए भाष्यकार अवतरण देते हुए कहते हैं कि)—भूत, बाह्येन्द्रिय इसमें भी बुद्धिगुण नहीं होता यह निषेध समान ही है सूत्र में मन तो उदाहरण मात्र है—

पदपदार्थ—यथोक्तहेतुत्वात् = 'इच्छोद्वयप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्यात्मकोलिङ्गम्' इस सूत्र से लेकर जितने नित्य आत्मसाधक हेतु कहे हैं उनसे, पारतंत्र्यात् = इन्द्रियादिकों के पराधीन होने से, अकृताभ्यागमाच्च = और न किये कर्म के फलभोग की प्राप्ति होने के कारण भी होने से, न = नहीं है, मनसः = मन का गुण बुद्धि ॥ ३८ ॥

भावार्थ—पूर्वग्रन्थ में जिन हेतुओं को कहा गया है वह सम्पूर्ण हेतु बुद्धि भूतपदार्थों का, बाह्येन्द्रियों का तथा मन का गुण नहीं है यह कहने में यद्यपि समान ही है, तथापि केवल इस सूत्र में सूत्रकार ने मन को उदाहरण दिया है। क्योंकि भूत, बाह्येन्द्रिय तथा मन इन तीनों में से भूत, और बाह्येन्द्रियों के भौतिक तथा मन के अभौतिक होने के कारण आत्मा के साथ अभौतिक मन की ही समानता हो सकती है, अतः बुद्धि मन का गुण नहीं है, ऐसा निषेध करने से भौतिक भूतपदार्थ तथा बाह्येन्द्रियों का निषेध तो स्वयं सिद्ध हो जायगा, यह सूत्रकार का गूढ आशय है। इस सूत्र में सूत्रकार ने बुद्धि मन का गुण नहीं है यह सिद्ध करने के लिये—१. **यथोक्तहेतुत्वात्**, २. **पारतंत्र्यात्**, तथा **अकृताभ्यगमात्**, ऐसे तीन हेतु दिये हैं। और वार्तिककार ने **'स्वकृताभ्यागमात्'** ऐसा पाठ तृतीय हेतु का रक्खा है, जिसका आत्मा को चेतन कर्ता मानने से उसे अपने किये कर्मों का फल प्राप्त होता है यह अर्थ दिखाया है ॥ ३८ ॥

(**यथोक्तहेतुत्वात्** इस पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस सूत्र में सूत्रकार ने हेतु पद से प्रथमाध्याय के (१।१।१०) **'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो-लिङ्गम्'** इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख तथा ज्ञान आत्मा के साधक हेतु हैं, इत्यादि सूत्रों में कथित

संगृह्यते तेन भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यप्रतिषेधः। *पारतन्त्र्यात्* परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात्प्रवर्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युरिति। *अकृताभ्यागमाच्च*। *'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ'* इति चैतन्ये भूतेन्द्रियमनसां परकृतं कर्म पुरुषेणोपभुज्यत इति स्यात्, अचैतन्ये तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोगः पुरुषस्येत्युपपद्यत इति ॥ ३८ ॥

अथायं सिद्धोपसङ्ग्रहः—

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

हेतुओं से भूत, इन्द्रिय तथा मन इनमें चेतनता नहीं है यह सिद्ध करने वाले सम्पूर्ण हेतुओं का संग्रह किया है। जिससे भूत, बाह्येन्द्रिय तथा मन में चेतनता का निषेध सिद्ध होता है। (दूसरे हेतु 'पारतन्त्र्यात्' का यह अर्थ है कि)—पराधीन होने से, अर्थात् भूतपदार्थ, बाह्येन्द्रिय और मन धारण करना, प्रेरणा करना तथा व्यूहन (रचना) करना इन अपनी-अपनी क्रियाओं में, आत्मा के प्रयत्न से प्रवृत्त होते हैं। यदि यह चेतन हों तो स्वतन्त्र हो जांयगे। (इससे शरीर और बाह्येन्द्रिय, धारणादि क्रियाओं में पराधीन हैं, भौतिक होने से, घटादिकों के समान १. मन, पराधीन है, करण होने से, कुल्हाड़ी आदि के समान २. ये दोनों अनुमान भाष्यकार ने सूचित किये हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि किसी दूसरे के प्रयत्न से ये अपना-अपना कार्य करते हैं) ('अकृताभ्यागमात्' इस तीसरे सूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक के सत्रहवें सूत्र 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है, यह कहकर वहां द्वितीय सूत्र के भाष्य में धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं यह भी कह चुके हैं। ऐसा रहते यदि शरीरादिकों को चेतन माना जाय तो उनके स्वतंत्र होने के कारण वे ही कर्म करने वाले होते हैं यह मानना होगा, जिससे आत्मा को दूसरे के किये कर्म का फल भोगना होता है यह मानना होगा। और यदि भूत, इन्द्रिय, मन इन्हें अचेतन मानते हैं तो उक्त साधनों से होने वाले अपने ही किये कर्मों के फलों का आत्मा को भोग होता है यह संगत हो सकता है (अर्थात् शरीर भूत इन्द्रियादिक को स्वतन्त्र कर्ता मानने से मरने के पश्चात् भस्म हुये उनको परलोक में फल भोगना होगा, अतः दोनों लोक में सम्बन्ध रखने वाले आत्मा को ही फल का भोग होना है यह मानना उचित है। किन्तु भूत इन्द्रिओं को चेतन मानने वाले के पक्ष में शरीरादियों से किया हुआ कर्म को फल न करनेवाले आत्मा को भोगना पड़ता है यह आपत्ति आ जायगी जिससे शास्त्रविरुद्ध अकृताभ्यागम रूप दोष आ जायगा यह तृतीय हेतु का तात्पर्य है ॥ ३८ ॥

(अग्रिम सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस कारण यह सिद्धान्त का उपसंहार है—

पदपदार्थ—परिशेषात् = परिशेषानुमान से, यथोक्तहेतूपपत्तेः च = और पूर्वोक्त हेतुओं के युक्त होने से भी ॥ ३९ ॥

भावार्थ—पृथिवी शरीर बाह्येन्द्रिय, मन आदिकों में बुद्धि गुण की आधार ज्ञान बन सकने के कारण उनसे भिन्न नित्य आत्मा में बुद्धि आदि गुण में की सिद्धि होने से परिशेषानुमान तथा **'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्'** जिसे मैंने देखा था वही मैं स्पर्श करता हूँ, इन दोनों ज्ञानों के एक आधार नित्य आत्मा के ज्ञान होने से इत्यादि पूर्वोक्त हेतुओं से भी ज्ञानादि गुण शरीरादि भिन्न आत्मा के हैं यह सिद्धान्त का रहस्य है ॥ ३९ ॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम् । परिशेषो नाम *'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः'* भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते शिष्यते चात्मा तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते । *यथोक्तहेतूपपत्तेश्चेति* । *'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणा'* दित्येवमादीनामात्मप्रतिपत्तिहेतूनामप्रतिषेधादिति । परिशेषज्ञापनार्थं प्रकृतस्थापनादिज्ञानार्थं च यथोक्तहेतूपपत्तिवचनमिति ।

अथ वोपपत्तेश्चेति हेत्वन्तरमेवेदं नित्यः खल्वयमात्मा यस्मादेकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायस्य भेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते, अधर्मं चरित्वा देह-

---

(सूत्र के वाक्य को पूरा करते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—परिशेषानुमान तथा पूर्वोक्त हेतु के होने से भी ज्ञानगुण आत्मा का है यह प्रस्तुत सिद्ध होता है, जिससे प्रसक्त (प्राप्तों) का निषेध करने पर उन प्रसक्त दूसरों से प्राप्ति न होने के कारण जो बचा हुआ है इससे ज्ञान होना परिशेष कहाता है । मूल, बाह्येन्द्रिय तथा मन में ज्ञान गुण नहीं होता ऐसा निषेध करने पर दूसरे द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती, और आत्मा ही अवशिष्ट बच जाता है, जिससे उस आत्मा का गुण ज्ञान है, यह जाना जाता है । (इस परिशेष के स्वरूप की व्याख्या प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक के पांचवें सूत्र में कर चुके हैं, उसी को भाष्यकार ने पुनः प्रसंग होने से दिखाया है) । (आगे दूसरे सूत्र में दिये हुए हेतु की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—**'यथोक्तहेतूपपत्तेश्च'** इस सूत्र का यह अर्थ है कि **'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्'** इस तृतीयाध्याय के सूत्र में जो आत्मा की सत्ता के साधक हेतु दिये हैं उन संपूर्ण आत्मा का ज्ञान गुण है यह सिद्ध करने वाले हेतुओं का अभी तक कोई खण्डन नहीं हो सका (इस कारण सूत्रकार ने इस सूत्र में उनका अतिदेश किया है) । परिशेष को जमाने के लिये, तथा प्रस्तुत के ज्ञान के लिये भी सूत्र में **'यथोक्तहेतूपपत्तेश्च'** ऐसा सूत्र में हेतु कहा गया है यह भी दूसरे इस हेतु की व्याख्या हो सकती है (अर्थात् **'परिशेषात्'** इसी हेतु की पुष्टि **'यथोक्तहेतूपपत्तेः'** इस वाक्य से होती है, जिससे आत्मा अवशिष्ट रह जाता है यह जो कहा गया है उसीके पूर्वोक्त हेतु साधक हैं यह आशय निकलता है । और प्रस्तुत बुद्धि के आत्मा की गुणत्व की स्थापना के लिये ही, **'उपपत्ते'** यह कहा गया है, इससे बुद्धि को आत्मा का गुण है यह सिद्ध करने में इन हेतुओं का खण्डन नहीं हो सकता, यह तात्पर्य सिद्ध होता है) । (आगे इस सूत्र में दिये हुए **'यथोक्तहेतूपपत्तेश्च'** इस हेतु की दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—**'उपपत्तेश्च'** यह तृतीयाध्याय में कहे हुए हेतुओं से भिन्न उपपत्ति (हेतुओं) को सूचित करने वाला दूसरा हेतु है, जिससे बुद्धि आदि आत्मा का गुण है यह सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु भी है यह सूचित होता है । (उसी दूसरे हेतु का विवरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यह आत्मा निश्चय से नित्य है, क्योंकि एक शरीर में धर्मसंपादकरूप पुण्यकर्म करने के पश्चात् प्रथम शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर को ग्रहण कर स्वर्ग में देवरूप उत्पन्न होता है, तथा अधर्म-संपादक पापकर्म करने के पश्चात् प्रथम शरीर का नाश होने पर दूसरे शरीर को ग्रहण कर नरक में (उपपन्न होता है, उत्पन्न होता है) । यहाँ पर दूसरे शरीर की प्राप्तिरूप जो उपपत्ति (होना) है वह नित्य एक शरीरादिकों से भिन्न सत्व (आत्मा) के मानने से आधार युक्त हो सकती है (संगत हो सकता है) । (यदि यहाँ पर क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध ऐसा कहे कि)—क्षणिक ज्ञानधारा ही उपरोक्त पुण्य तथा पापकर्मों को करती और एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती

भेदाद् नरकेषूपपद्यते इति। उपपत्तिः शरीरान्तरप्राप्तिलक्षणा, सा सति सत्त्वे नित्ये चाश्रयवती, बुद्धिप्रबन्धमात्रे तु निरात्मके निराश्रया नोपपद्यत इति। एकसत्त्वाधिष्ठानश्चानेकशरीरयोगः संसार उपपद्यते, शरीरप्रबन्धोच्छेदश्चापवर्गो मुक्तिरित्युपपद्यते। बुद्धिसन्ततिमात्रे त्वेकसत्त्वानुपपत्तेर्न कश्चिद्दीर्घमध्वानं सन्धावति न कश्चिच्छरीरप्रबन्धाद्विमुच्यत इति संसारापवर्गानुपपत्तिरिति। बुद्धिसन्ततिमात्रे च सत्त्वभेदात्सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहितमव्यावृत्तमपरिनिष्ठितं च स्यात्। ततः स्मरणाभावो नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। स्मरणं च खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणमज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयमिति, सोऽयमेको ज्ञाता पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति, तद् बुद्धिप्रबन्धमात्रे निरात्मके नोपपद्यते ॥ ३६ ॥

है, ऐसा मानने से काम चल जाता है तो व्यर्थ एक नित्य तथा ज्ञानादि गुण का आधार आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? तो इस शंका का समाधान करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—यदि नित्य आत्मा से रहित केवल क्षणिक विज्ञानधारा ही बौद्धमत से मानी जाय तो विना आधार के उपरोक्त शरीरान्तर की प्राप्तिरूप उपपत्ति नहीं बन सकेगी (अर्थात् यदि बुद्धि आदि गुणों का नित्य आश्रय आत्मा न माने तो शरीरान्तर की प्राप्ति का कोई आधार न होगा, अर्थात् इस शरीर में जाने वाला कोई आत्मा न बन सकेगा, क्योंकि बौद्धमत में क्षणिक विज्ञानरूप विनाश स्वभाव माना गया है। (नित्य आत्मा के न मानने पर अनेक शरीरों की प्राप्तिरूप संसार ही न बन सकेगा यही एक दोष नहीं आता, किन्तु संपूर्ण शरीरों के सम्बन्ध के अत्यन्त विनाशरूप मोक्ष भी न बन सकेगा, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—एक नित्य आत्मा के होने से अनेक शरीर सम्बन्धरूप संसार तथा अनेक शरीर समुदाय के सम्बन्ध के विच्छेद (नाश) रूप अपवर्ग भी हो सकता है। यदि बौद्धमत से क्षणिक विज्ञानधारा मात्र को आत्मा माना जाय तो एक आत्मा के न होने से कोई भी इस दीर्घ (लम्बे) संसारमार्ग में दौड़ता नहीं रहेगा, तथा न कोई शरीर सम्बन्धों से मुक्त होगा इस कारण बौद्धमत से संसार-बंधन तथा उससे अपवर्ग (छुटकारा) न बन सकेगा। तथा क्षणिक ज्ञानधारा मात्र को आत्मा मानने के पक्ष में आत्मा क्षणिक होने के कारण भिन्न-भिन्न होने से संसार के प्राणियों के संपूर्ण व्यवहार विना स्मरणादिकों के प्रतिसंधान के भिन्न-भिन्न स्थिर न हो सकेंगे। क्योंकि पूर्व विज्ञानरूप आत्मा के नष्ट होने के कारण कालान्तर में जिस स्मरण के कारण जो प्राणी कार्य करते हैं वह स्मरण ही न होगा, क्योंकि दूसरे के देखे हुए का दूसरे को स्मरण नहीं होता। कारण यह कि इस जानने योग्य विषय को पूर्वकाल में मैंने जाना था, इस प्रकार पूर्व में जाने हुए विषय को ज्ञाता ही को कालान्तर में स्मरण होता है। वह यह एक ही ज्ञाता (आत्मा) पूर्वकाल में जाने हुए विषय को जो पुनः ग्रहण करता है, वह ग्रहण करना ही स्मरण कहाता है। अतः एक ही ज्ञाता को होने वाला स्मरण क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने वाले बौद्ध के पक्ष में नित्य आत्मा के न होने के कारण नहीं बन सकता। अर्थात् कालान्तर में होने वाली स्मरणज्ञान की सिद्धि के लिये नित्य आत्मा मानना आवश्यक है जो बुद्ध्यादि गुणों का आश्रय है यह सिद्ध होता है ॥ ३९ ॥

नित्य शरीरादि भिन्न आत्मा के मानने के पक्ष में स्मरणज्ञान हो सकता है इस आशय से सिद्धान्तमत को लेकर सूत्रकार कहते हैं—

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४० ॥

उपपद्यते इति, आत्मन एव स्मरणं न बुद्धिसन्ततिमात्रस्येति । तुशब्दोऽवधारणे । कथम् ? *ज्ञस्वभावत्वात् ।* ज्ञ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्मः, अयं खलु ज्ञास्यति जानाति अज्ञासीदिति त्रिकालविषयेणानेकेन ज्ञानेन सम्बध्यते, तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयं ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषमिति वर्त्तते, तद्यस्यायं स्वो धर्मस्तस्य स्मरणं न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति ॥ ४० ॥

स्मृतिहेतूनामयौगपद्यायुगपदस्मरणमित्युक्तम् । अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यत इति ? स्मृतिः खलु—

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धा

पदपदार्थ—स्मरणं तु = किन्तु स्मरणज्ञान, आत्मनः = आत्मा को होता है, ज्ञस्वाभाव्यात् = क्योंकि उसका ज्ञाता होना यह स्वाभाव है ॥ ४० ॥

भावार्थ—नित्य आत्मा ही को कालान्तर में स्मरण हो सकता है न कि क्षणिक विज्ञानों को, क्योंकि चिद्रात्म से आत्मा ही का ज्ञान होना यह स्वाभाविक धर्म है, इस कारण स्मरण होना यह आत्मा का ही धर्म है ताकि नित्य आत्मा से भिन्न क्षणिक ज्ञानसन्तानधारा का यह सूत्र का आशय है ॥ ४० ॥

(सूत्र के वाक्य को पूर्ण कर भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—आत्मा ही को कालान्तर में निश्चय से स्मरण होता है न कि केवल क्षणिक विज्ञान के समुदाय को । सूत्र में तु शब्द का अर्थ है अवधारण (निश्चय से नित्य आत्मा ही को स्मरण होना) प्रश्न—कैसे ? उत्तर—ज्ञाता होना उसका स्वभाव होने के कारण । जानकार होना यह इस आत्मत्व (अपना) भावधर्म है । क्योंकि यह शरीरादि भिन्न नित्य आत्मा ही भविष्यकाल में जानेगा, वर्तमानकाल में जानता है, भूतकाल में जाना था—इस प्रकार तीनों कालों को विषय करने वाले एक ज्ञानरूप गुण से सम्बन्ध रखता है । उस इस आत्मा को तीनों कालों को विषय करने वाला ज्ञानगुण का प्रत्येक जीवात्मा को अनुभव होता है कि मैं भविष्य में जानूँगा, जानता हूँ तथा मैंने जाना था । इस कारण जिसका यह अपना धर्म है उसी को स्मरण हो सकता है न कि नित्य आत्मा न मानने वाले क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध के मत में हो सकता है ॥ ४० ॥

('स्मृतिज्ञान के कारणों के एककाल में न होने से' इस पूर्वोक्त ग्रन्थ को स्मरण दिलाकर स्मरण ज्ञान के कारणों को स्मरण कराते हुए भाष्यकार अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हुये प्रश्न करते हैं कि)—पूर्वग्रन्थ में 'स्मरणज्ञानों के एककाल में न होने से' एककाल में स्मरण नहीं होता, ऐसा सिद्धान्तिमत से कह चुके हैं, पर यहाँ यह प्रश्न है कि किन हेतुओं से स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है ? (इसके उत्तर में पचीस प्रकार के स्मृति के हेतुओं का निरूपण करने वाले सूत्र के अवतरण में भाष्यकार आगे कहते हैं कि—स्मृतिज्ञान निश्चय से होता है—

पदपदार्थ—प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बधानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः = १ प्रणिधान हेतु का चिन्तन, २ निबन्ध (एक ग्रन्थ में कहना), ३ अभ्यास (आवृत्ति), ४ लिङ्ग (साधक),

नन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४१ ॥

सुस्मूर्षया मनसो धारणं *प्रणिधानं* सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चार्थस्मृतिकारणम्। निबन्धः खल्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम्, एकग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योन्यस्मृतिहेतव आनुपूर्व्येणेतरथा वा भवन्तीति। धारणाशास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्तव्यानामुपनिःक्षेपो निबन्ध इति। *अभ्यासस्तु* समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिः, अभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोऽभ्यासशब्देनोच्यते, स च स्मृतिहेतुः समान इति। लिङ्गं पुनः संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि चेति। (संयोगि) यथा धूमोऽग्नेः, गोर्विषाणम्, पाणिः

---

५ लक्षण, ६ सादृश्य (समानता), ७ परिग्रह (स्वीकार), ८ आश्रय (आधार), ९ आश्रित (आधार की अधीनता), १० सम्बन्ध, ११ आनन्तर्य (पश्चात् होना), १२ वियोग (विरह), १३ एक कार्य, १४ विरोध, १५ अतिशय (अधिकता), १६ प्राप्ति, १७ व्यवधान, १८ सुख-दुःख, १९ इच्छा-द्वेष, २० भय (भीति), २१ आर्थता (याचना), २२ क्रिया, २३ राग (अनुराग), २४ धर्म, २५ अधर्म। ऐसे २६ निमित्तों से कालान्तर में स्मरण होता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—ऊपर सूत्र में कहे हुए २५ प्रणिधान आदि कारणों से स्मृति हुआ करती है ॥ ४१ ॥

उदाहरणसहित सूत्र में कहे हुए २५ स्मृतिज्ञान के कारणों की क्रम से व्याख्या करते हैं कि—१ स्मरण की इच्छा से मन की धारणा (स्मरण के विषय में लगाने) को प्रणिधान कहते हैं—जो स्मरण की इच्छा के विषय के साधक का चिन्तन कहाता है, वह पदार्थ के स्मरण का कारण होता है। (२) एक ग्रन्थ में पदार्थों के निबन्धन (कहने) को निबन्ध कहते हैं। क्योंकि एक ही ग्रन्थ में उपयत (निबद्ध—कहे हुए) पदार्थ निश्चय से परस्पर की स्मृति के कारण होते हैं, जो क्रम से अथवा अक्रम से कहे गये हों (जैसे इसी शास्त्र में कहे हुए प्रमाणादि पदार्थ परस्पर स्मरण कराते हैं) अथवा जैसे जैगीषव्यादि महर्षियों ने कहे हुए धारणाशास्त्र में नाड़ीचक्र, हृदयकमल आदिकों में स्मरण करने योग्य बीजस्थान के भूषणरूप देवताओं का उपनिक्षेप (आरोप करना) निबन्ध कहाता है (जिससे उस २ उपरोक्त स्थानों में देवताओं का आरोप होने से उन २ के अवयवों के ग्रहण से स्मरण होता है। ऐसा तात्पर्यटीकाकार ने तात्पर्य यहां दिखाया है। (३) एक ही विषय में ज्ञानों की बारंबार आवृत्तिरूप अभ्यास भी तीसरा स्मरण में कारण होता है। यहां पर अभ्यास करने से उत्पन्न आत्मा का संस्कार नामक गुण अभ्यास कहाता है वह समान विषय में स्मरण का कारण होता है। इसी कारण परीक्षा के लिये अभ्यास करने वाले ही छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, क्योंकि उन्हें परीक्षा के समय अभ्यास किये विषय उपस्थित न होते हैं जो अभ्यास नहीं करते उन्हें विषय उपस्थित न होने के कारण परीक्षा देने में सफलता नहीं होती, (अर्थात् वे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं)। (४) लिङ्ग अनुमान में साधक हेतु जिसके संयोगि १, समवायि २, एकार्थसमवायि ३, तथा विरोधि ४, ऐसे चार भेद होते हैं। जिस प्रकार धूम से अग्नि की सिद्धि १, शृङ्ग के विशेषता से गौ की सिद्धि २, हस्त से पाद की सिद्धि तथा रूप से एक ही में समवेत स्पर्शगुण की सिद्धि ३ और अविद्यमान वर्षा से विद्यमान उसके विरोधी वायु तथा मेघ के संयोग की सिद्धि होना ये जिसके चार उदाहरण 'संयोगी' इत्यादि

पादस्य, रूपं स्पर्शस्य, अभूतं भूतस्येति। *लक्षणं* पश्ववयवस्थं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः, बिदानामिदं गर्गाणामिदमिति। *सादृश्यं* चित्रगतं प्रतिरूपकं देवदत्तस्येत्येवमादि। *परिग्रहात्* स्वेन वा स्वामी स्वामिना वा स्वं स्मर्यते। *आश्रयाद्* ग्रामण्या तदधीनं संस्मरति। *आश्रितात्* तदधीनेन ग्रामण्यमिति। *सम्बन्धाद्* अन्तेवासिना युक्तं गुरुं स्मरति ऋत्विजा याज्यमिति। *आनन्तर्यादिति* करणीयेष्वर्थेषु। *वियोगाद्*, येन विप्रयुज्यते तद्वियोगप्रतिसंवेदी भृशं स्मरति। *एककार्यात्* कर्त्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः। *विरोधात्*, विजिगीषमाणयोरन्यतरदर्शनादन्यतरः स्मर्यते। *अतिशयाद्* येनातिशय उत्पादितः। *प्राप्तेः* यतोऽनेन किंचित्प्राप्तव्यं वा भवति तमभीक्ष्णं स्मरति। *व्यवधानात्* कोशादिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते, *सुखदुःखाभ्यां* तद्धेतुः स्मर्यते। *इच्छाद्वेषाभ्यां* यमिच्छति यं च द्वेष्टि तं स्मरति। *भयाद्* यतो बिभेति। *अर्थित्वाद्* येनार्थी भोजनेना-

---

सूत्र में पहले कह चुके हैं अतः चारों प्रकार के लिंग साध्य का स्मरण कराते हैं। (५) प्राणी के अवयवों में रहने वाला लक्षण गोत्र (वंश) को स्मरण कराना है, जैसे यह विद नामक ब्राह्मणों का गोत्र है, यह गर्ग नामक ब्राह्मणों का गोत्र है इत्यादि (लिङ्ग स्वाभाविक व्याप्ति से युक्त होता है, लक्षण केवल संकेत से गृहीत होता है ऐसा लिङ्ग तथा लक्षण दोनों का भेद है)। (६) चित्र (फोटो) में रहने वाला प्रतिरूपक (प्रतिविम्ब)-जैसे यह देवदत्त का चित्र (फोटो) है इत्यादि देवदत्त को स्मरण कराता है। (७) परिग्रह (स्वीकार) से-जैसे भृत्य से स्वामी का, अथवा स्वामी से भृत्य (नौकर) का स्मरण होता है। (८) आश्रय से-जैसे ग्राम के स्वामी (ग्रामणी) से उसके अधीन ग्राम तथा ग्रामवासियों का स्मरण होता है। (९) आश्रित (जमींदार के आधार से रहने वाले) मनुष्यों से—उनके आधार जमींदार का स्मरण होता है। (१०) सम्बन्ध से—जैसे शिष्य से गुरु अथवा ऋत्विक् (यज्ञकर्म करने वाले) ब्राह्मण से यज्ञ कराने योग्य याज्य (यजमान) का स्मरण होता है। यद्यपि पूर्वोक्त प्रणिधानादि स्मृतिकारणों में भी कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है, तथापि सम्बन्ध को अलग कहने से उन प्रणिधानादि सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध यहाँ पर लेना चाहिये यह सूचित होता है। (११)—आनन्तर्य (पश्चात् होना) इससे इसके बाद यह करना है यह स्मरण होता है। (१२) वियोग से (विरह से)—जिससे इस प्राणी का वियोग (बिछुड़) होता है उस वियोग का उसके अनुभव करने वाला प्राणी उससे अत्यन्त स्मरण किया जाता है। (१३) एक कार्य से—जैसे किसी कार्य के एककर्ता के देखने से उसी कार्य के दूसरे कर्ता का स्मरण होता है। (१४) विरोध से—जैसे दो जय की परस्पर इच्छा करने वालों में एक किसी को देख कर दूसरे का स्मरण होता है। (१५) अतिशय-(विशेषता) से, जैसे किसी पदार्थ में जिसने विशेषता की है उसका स्मरण होता है। अर्थात् जैसे उपनयन (यज्ञोपवीतादि) रूप अतिशय (संस्कार) आचार्य को स्मरण कराता है। (१६) प्राप्ति से—जैसे प्राणी को जिस मनुष्य से कुछ प्राप्त हो चुका है अथवा प्राप्त करना है, उसे वह अत्यन्त स्मरण करता है। (१७) व्यवधान (ढका रहना) से, जैसे म्यान में तलवार छिपी होने से तलवार का स्मरण होता है। (१८) सुख और दुःख से सुख तथा दुःख होने के कारणों को स्मरण करता है। (१९) इच्छा तथा द्वेष से—जिसकी इच्छा तथा द्वेष करता है उसका स्मरण होता है। (२०) भय से—जिस (सिंहादिकों) से भय होता है उसे स्मरण करता है। (२१)

च्छादनेन वा। *क्रियया* रथेन रथकारं स्मरति। *रागाद्* यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति। *धर्माज्जात्यन्तरस्मरणमिह* चाधीतश्रुतावधारणमिति। *अधर्मात्* प्रागनुभूतदुःखसाधनं स्मरति। न चैतेषु निमित्तेषु युगपत्संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति। निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनां न परिसङ्ख्यानमिति ॥ ४१ ॥

इति चतुर्विंशत्या सूत्रैर्बुद्धेरात्मगुणत्वप्रकरणम्।

अनित्यायां च बुद्धौ उत्पन्नापवर्गित्वात् कालान्तरावस्थानाच्चानित्यानां

अर्थिता (चाहना) से—जिस भोजन अथवा वस्त्र की प्राप्ति की इच्छा रखता है उस भोजन, वा वस्त्र को स्मरण करता है। (२२) क्रिया (बनना) से, जैसे रथ को देख कर रथ बनाने वाले को स्मरण करता है। (२३) राग (अनुराग) से, जैसे जिस स्त्री में अनुराग होता है उस स्त्री को अत्यन्त स्मरण करता है। (२४) धर्म से—दूसरे जाति का स्मरण होता है, और इस लोक में ही पढ़े हुए तथा सुने हुए विषय का स्मरण होता है। अर्थात् वेदार्थियों को अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कार से ब्राह्मणादि रूप जाति का स्मरण होता है। अथवा दूसरे जन्म में अनुभव किये सुख तथा दुःख के साधन एवं पूर्वकाल में अनुभव किये सुख दुःखादिकों का स्मरण होना भी भाष्यकार ने सूचित किया है। (२५) अधर्म से—पूर्वकाल में अनुभव किये दुःखों के साधनों को स्मरण करता है। इन पचीस प्रकार के स्मरण के कारणों के रहते एककाल में अनुभव नहीं होते, इस कारण एककाल में स्मृतिज्ञान नहीं हो सकते। यह केवल पचीस प्रकार के स्मृति के कारण उदाहरण हैं न कि वास्तविक पचीस ही स्मृति के कारण हैं, ऐसा नियम है। अर्थात् उन्माद आदिक भी स्मरण के कारण हो सकता हैं। अतः सूत्रोक्त पचीस स्मृति के कारणों को सूत्र में दिखाना यह केवल उदाहरण के लिये है पूरी स्मृति कारणों की संख्या कही है ॥ ४१ ॥

(४) बुद्धिगुण उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है इसका प्रकरण

ज्ञान आत्मा का गुण है यह सिद्ध कर वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है यह आगे निरूपण करेंगे, और ज्ञानों के एककाल में होने का निराकरण करने के प्रसंग से स्मृति का क्रम होता है यह भी विचार करेंगे। ज्ञान इच्छादिकों के आश्रय में रहता है इस प्रसंग से उसके पुष्टि के लिये स्मरण आत्मा को ही होता है, ज्ञाता स्वभाव होने से ऐसा ४० वें सूत्र में पीछे कह आये हैं। वह यह सब स्मरण होने से ही होगा, और वह स्मरण भावना संस्कार के होने से ही होगा, जो संस्कार ज्ञानगुण को शीघ्र विनाशी मानने से ही हो सकेगा अत्यन्त स्थिर मानने से न होगा इसी का अब विचार किया जाता है। इसी कारण तृतीय अध्याय के कहे गये हुए ज्ञान के अनित्यता साधक प्रकरण में ज्ञान उत्पादविनाशशाली है यह नहीं कहा गया है, क्योंकि इसका वहाँ कोई प्रयोजन नहीं था। किन्तु बुद्धि के सामान्य रूप से अनित्यता सिद्ध करने का वह आत्मा का गुण है यही प्रयोजन था। और वह ज्ञान का आत्मा का गुण होना धर्म, तथा अधर्म के समान दूसरे काल तक रहने पर ही हो सकता है इस कारण सामान्यरूप से विचार किये ज्ञान के अनित्यता का विशेषरूप से अत्यन्त शीघ्र ज्ञान नष्ट हो जाता है यह विचार साम्प्रत किया जाता है। (जिसमें विप्रतिपत्ति के कारण विचार के संशय को दिखाते हुए भाष्यकार संशय के सिद्धान्त के दिखाने वाले सूत्र का ऐसा अवतरण देते हैं कि)—पूर्वग्रन्थ से बुद्धि के अनित्यता सिद्ध होने के कारण उस अनित्य बुद्धि में उत्पन्न होकर नष्ट होने, तथा दूसरे काल तक स्थिर होने के कारण

संशयः किमुत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः शब्दवदाहोस्वित्कालान्तरावस्थायिनी कुम्भवदिति ? उत्पन्नापवर्गिणीति पक्षः परिगृह्यते । कस्मात् ?—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४२ ॥

कर्मणोऽनवस्थायिनो ग्रहणादिति, क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासन्तानो गृह्यते प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवद् बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति । *अवस्थितग्रहणे च व्यवधीयमानस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः।* अवस्थिते च कुम्भे गृह्यमाणे सन्तानेनैव बुद्धिर्वर्त्तते प्राग् व्यवधानात् तेन व्यवहिते प्रत्यक्षं ज्ञानं निवर्तते,

---

भी क्या बुद्धि (ज्ञान) शब्द गुण के समान उत्पन्न होकर तृतीय क्षण में नष्ट हो जाती है अथवा कलश के समान चिरकाल वर्तमान रहती है। (अर्थात् बुद्धि अनित्य है यह सिद्ध हो चुका है। जिसमें अनित्य दो प्रकार के होते हैं (१) जैसे प्रथमादि शब्द उत्पन्न होकर तृतीय क्षण में द्वितीयादि शब्द से नष्ट हो जाते हैं। (२) और कोई अनित्य घटादिकों के समान चिरकाल तक रहते हैं, ऐसा दोनों अनित्यों का स्वभाव दिखाने से अनित्य बुद्धि भी तृतीय क्षण में शीघ्र नष्ट हो जाती है, या कुछ काल तक रहती है यह संशय होता है। (इस संदेह पर सिद्धान्त-पक्ष से ही भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—बुद्धि शीघ्र विनाश वाली है यह सिद्धान्तपक्ष लिया जाता है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—कर्मानवस्थायिग्रहणात् = अस्थिर क्रिया का ग्रहण होने से ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार जिस समय धनुष से बाण फेंका जाता है, वह बाण जिस समय तक भूमि पर नहीं गिरता, उस समय तक उस बाण में गमनरूप क्रिया के समुदाय में अनेक गति-रूप क्रिया होती हैं यह देखा जाता है, उसी प्रकार एक-एक बुद्धि में अपने-अपने विषय में नियत होने के कारण प्रतिक्षण में ज्ञानों का सन्ताप अपने-अपने विषय में हुआ करता है, अर्थात् बुद्धि हर एक क्षण में पदार्थों को अनेक बुद्धिधारा द्वारा प्रकाशित करती है, इस कारण वह शीघ्र नष्ट होने वाली है यह सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

(सूत्र के अक्षरों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—क्रिया पदार्थ के अस्थिरता का ग्रहण होने के कारण (बुद्धि शीघ्रनाशी है) फेंके हुए बाण से भूमि पर गिरने पर्यन्त पतन-रूप क्रिया के सन्तान का ग्रहण होता है। ज्ञानों के भी अपने-अपने विषय में होने का नियम होने के कारण इनके क्रियाओं का सन्तान सिद्ध होता है।

(इस प्रकार अस्थिर बाणादि क्रियाओं के दृष्टान्त में अपना पक्ष स्थिर कर स्थिर पदार्थों के दृष्टान्त देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—कुछ कालपर्यन्त स्थिर रहने वाले अनित्य घट आदि पदार्थों के ज्ञान होने में व्यवधान रहने पर प्रत्यक्ष नहीं होने से। (अर्थात् स्थिर तथा अनित्य घटादि पदार्थों का किसी दूसरे से जब तक व्यवधान नहीं होता तभी तक उनका प्रत्यक्ष होता है व्यवधान रहते नहीं होता। इससे भी यह सिद्ध होता है कि शीघ्र (तृतीय क्षण में) नष्ट होने वाले अनेक ज्ञान धारारूप से हुआ करते हैं (इसी आशय को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अनित्य एवं स्थिर घट के प्रत्यक्ष से ज्ञान होने में धारावाही ही ज्ञान हुआ करता है, जब तक वह घट दूसरे किसी पदार्थ से व्यवधान युक्त न हो। और व्यवधान करने वाले वस्त्र (परदा) आदि से व्यवधान होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। यदि चिरकाल तक ज्ञान की स्थिति मानी जाय तो दिखाई पड़ने वाले घट का वस्त्रादिकों से व्यवधान होने पर भी घट का

कालान्तरावस्थाने तु बुद्धेर्दृश्यव्यवधानेऽपि प्रत्यक्षमवतिष्ठेतेति। *स्मृतिश्चालिङ्गं बुद्ध्यवस्थाने संस्कारस्य बुद्धिजस्य स्मृतिहेतुत्वात्।*

यश्च मन्येतावतिष्ठते बुद्धिः दृष्टा हि बुद्धिविषये स्मृतिः सा च बुद्धावनित्यायां कारणाभावान्न स्यादिति। तदियमलिङ्गं, कस्मात्? बुद्धिजो हि संस्कारो गुणान्तरं स्मृतिहेतुर्न बुद्धिरिति।

हेत्वभावादयुक्तमिति चेत्? बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः।

यावदवतिष्ठते बुद्धिस्तावदसौ बोद्धव्यार्थः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षे च स्मृतिरनुपपन्नेति ॥ ४२ ॥

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्षज्ञान होता रहेगा (अर्थात् यदि घट का प्रत्यक्षज्ञान से ग्रहण दूसरे काल तक वर्तमान रहेगा, तो घट का व्यवधान होने पर भी उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता रहेगा, और होता तो नहीं इस कारण उस घट का ज्ञान दूसरे काल तक स्थिर नहीं रहता यह भाष्यकार का आशय है)। (यदि आज प्रत्यक्ष से देखे हुए घट का दूसरे दिन स्मरण होता है, यह स्मरण घट के प्रत्यक्ष ज्ञान में स्थिरता की सिद्धि कर सकेगा ऐसा पूर्वपक्षी कहे, तो इसके उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह इस प्रकार से स्मरणज्ञान, ज्ञान की स्थिरता को सिद्ध करने में साधक नहीं हो सकता—क्योंकि ज्ञान से उत्पन्न हुआ भावना नामक संस्कार कालान्तर में स्मरण को उत्पन्न करता है। (उपरोक्त पूर्वपक्ष तथा उत्तर को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ऐसा माने कि—'बुद्धि कालान्तर तक स्थिर रहती है, क्योंकि प्रत्यक्षादिकों से अनुभव किये हुए विषयों में स्मरण होता है, और वह उस अनित्य बुद्धि में कारण के न होने से स्मरण न हो सकेगा'—ऐसा यह पूर्वपक्षी का कहना बुद्धि को स्थिर सिद्ध नहीं कर सकता। (प्रश्न)-क्यों ? (उत्तर)—बुद्धि (विषय के ज्ञान) से उत्पन्न हुआ भावना नामक संस्कार ही एक दूसरा गुण है जो कालान्तर में स्मरण कराता है बुद्धि नहीं कराती। यदि इस पर पुनः पूर्वपक्षी ऐसी आपत्ति दे कि 'सिद्धान्ती ने जो समाधान दिया वह संगत नहीं है क्योंकि इसमें सिद्धान्ती ने कोई हेतु नहीं दिया है' तो सिद्धान्ती के पक्ष से भाष्यकार उत्तर देते हैं कि)—बुद्धिगुण के कुछ काल तक स्थिर होने के कारण जबतक विषय का प्रत्यक्ष होता है तबतक स्मरण नहीं हो सकता (इसी उत्तर का आगे स्पष्टीकरण भाष्यकार करते हैं कि)—जबतक प्रत्यक्षज्ञान विषय का होता रहता है तबतक उस जानने योग्य पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, और जबतक प्रत्यक्ष होता है तबतक स्मरण नहीं हो सकता (अर्थात् यदि ज्ञान ही दूसरे काल तक स्थिर रहे तो उसके स्थिर होने के कारण इन्द्रिय संनिकर्ष के निवृत्त होने पर भी वह स्थिर ही रहेगा—इस कारण बहुत काल तक प्रत्यक्ष ज्ञान के ही स्थिर होने से स्मरण होने का अवसर ही नहीं आवेगा यह भाष्यकार का आशय है ॥ ४२ ॥

पूर्वपक्षी के मत से पुनः आक्षेप दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अव्यक्तग्रहणं = अस्पष्ट ज्ञान होता हुआ, नवस्थायित्वात = अस्थायी (क्षणिक) होने के कारण, विद्युत्संपाते = विद्युत् के प्रकाश में, रूपाव्यक्तग्रहणवत् = रूप के अस्पष्ट ज्ञान होने के समान ॥ ४३ ॥

अर्थात् यदि ज्ञान अस्थिर होता तो वह सर्वदा अस्पष्ट ही होगा—जिस प्रकार अकस्मात्

यद्युत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः प्राप्तमव्यक्तं बोद्धव्यस्य ग्रहणं यथा विद्युत्सम्पाते वैद्युतस्य प्रकाशस्यानवस्थानादव्यक्तं रूपग्रहणमिति, व्यक्तं तु द्रव्याणां ग्रहणं तस्मादयुक्तमेतदिति ॥ ४३ ॥

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥ ४४ ॥

उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति प्रतिषेद्धव्यं तदेवाभ्यनुज्ञायते *विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवदिति* । यत्राव्यक्तग्रहणं तत्रोत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति ।

ग्रहणे हेतुविकल्पाद् ग्रहणविकल्पो न बुद्धिविकल्पात् ।

यदिदं क्वचिदव्यक्तं क्वचिद्व्यक्तं ग्रहणमयं विकल्पो ग्रहणहेतुविकल्पात्,

---

विद्युत् के चमकने पर जो रूपक ज्ञान होता है वह क्षणिक होता हुआ अस्पष्ट ही होता है यह सूत्र में पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ४३ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि बुद्धि उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है तो जानने योग्य विषय का ज्ञान अस्पष्ट होता है ऐसा मानना होगा—जिस प्रकार अकस्मात् विद्युत् के संपात होने (चमकने) पर उस विद्युत् के प्रकाश के स्थिर न रहने के कारण घटादि पदार्थों के रूप का अस्पष्ट ज्ञान होता है। किन्तु पृथिवी आदि द्रव्य पदार्थों का ज्ञान स्पष्ट हुआ करता है इस कारण ज्ञान का दूसरे काल तक स्थिर न होने का सिद्धान्ती का पक्ष असंगत है। (अर्थात् विद्युत्प्रकाश के अस्थिर होने के कारण जिस प्रकार विद्युत् के चमकने पर द्रव्यों के रूप का ज्ञान क्षणिक होता है उसी प्रकार यदि ज्ञान क्षणिक हो तो वह अस्पष्ट ही सदा हुआ करेगा, किन्तु ऐसा नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि प्रायः सभी द्रव्यों का स्पष्ट ही ज्ञान होता है, अतः नैयायिकों का ज्ञान के दूसरे काल तक न रहने का पक्ष असंगत है ॥ ४३ ॥

उपरोक्त आक्षेप का सूत्रकार सिद्धान्तिमत से खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—हेतुपादानात्—हेतु के स्वीकार करने के कारण, प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा-प्रतिषेध करनेयोग्य सिद्धान्तिमत का स्वीकार हो जाता है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—बुद्धि उत्पादविनाशशाली है इस जिस सिद्धान्तिमत का पूर्वपक्षी को खण्डन करना है उसी को विद्युत् के चमकन पर द्रव्यों कि अस्पष्ट ज्ञान के समान इस दृष्टान्त से पूर्वपक्षी ने स्वीकार कर लिया। क्योंकि जिस स्थल में अस्पष्ट ज्ञान होता है उस स्थल में वह ज्ञान भी उत्पादविनाश वाला होता है यह सिद्ध हो जाता है, (अर्थात् पूर्वपक्षी ने जो हेतु सिद्धान्तिमत के खण्डन के लिये दिया है उसी में खण्डन करनेयोग्य सिद्धान्ती के पक्ष को वह स्वीकार करता है ॥ ४४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्ती के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी को बुद्धि उत्पादनाश वाली है इस सिद्धान्ती के मत का खण्डन करना है, किन्तु विद्युत् के चमकने पर रूप का अस्पष्ट ज्ञान होने के समान इस दृष्टान्त से वह उसी सिद्धान्तिमत का स्वीकार करता है; क्योंकि जिस स्थल में अस्पष्ट ज्ञान होता है वहाँ वही ज्ञान के उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। (इस प्रकार प्रौढिवाद से पूर्वपक्ष को खण्डन कर वास्तविक खण्डन दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ग्रहण के हेतु के विकल्प होने से ग्रहण होने में विकल्प होता है न कि बुद्धि के विकल्प से। (इस संक्षेप में कहे उत्तर का आशय दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—जो यह किसी स्थल में पदार्थों का अस्पष्ट ग्रहण, तथा किसी स्थल में स्पष्ट ग्रहण (अनुभव)

यत्रानवस्थितो ग्रहणहेतुः तत्राव्यक्तं ग्रहणं यत्रावस्थितस्तत्र व्यक्तं, न तु बुद्धेरवस्थानानवस्थानाभ्यामिति। कस्मात्? *अर्थग्रहणं हि बुद्धिर्यत्* तदर्थग्रहणमव्यक्तं व्यक्तं वा बुद्धिः सेति। *विशेषाग्रहणे च सामान्यग्रहणमात्रमव्यक्तग्रहणं तत्र विषयान्तरे बुद्ध्यन्तरानुत्पत्तिर्निमित्ताभावात्।* *यत्र समानधर्मयुक्तश्च धर्मी गृह्यते विशेषधर्मयुक्तश्च तद्व्यक्तं ग्रहणं,* यत्र तु विशेषेऽगृह्यमाणे सामान्यग्रहणमात्रं तदव्यक्तं ग्रहणम्। समानधर्मयोगाच्च विशिष्टधर्मयोगो विषयान्तरं, तत्र यत्तु ग्रहणं न भवति तद्ग्रहणनिमित्ताभावाद् न बुद्धेरनवस्थानादिति।

यथा विषयं च ग्रहणं व्यक्तमेव प्रत्यर्थनियतत्वाच्च बुद्धीनाम्। सामान्यविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्तं विशेषविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्त प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः, तदिदमव्यक्तग्रहणं देशितं क विषये बुद्ध्यनवस्थानकारितं स्यादिति।

होता है, यह ग्रहण का विकल्प ग्रहण के कारण के विकल्प से होता है, अर्थात् जिस स्थल में ग्रहण का कारण अस्थिर होता है उस स्थल में अस्पष्ट ग्रहण होता है, और जिस स्थल में ग्रहण का कारण स्थिर होता है उस स्थल में स्पष्ट पदार्थ का ग्रहण होता है, न कि बुद्धि के स्थिर तथा अस्थिर होने के कारण (प्रश्न)–क्यों? (उत्तर)–जिस कारण पदार्थ का ग्रहण ही बुद्धि कहलाती है। जो विषय का स्पष्ट और अस्पष्ट ग्रहण (अनुभव) होता है बुद्धि वही कहाती है इसलिये। (अर्थात् विषय का ग्रहण ही बुद्धि है, न कि बुद्धि में स्पष्टता अथवा अस्पष्टता में नियामक है)। (आगे स्पष्टता तथा अस्पष्टता का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पदार्थ का विशेषरूप से ज्ञान न रहते केवल सामान्यरूप से ज्ञान होना ही अव्यक्त (अस्पष्ट) ज्ञान कहाता है, उसके दूसरे विशेषरूप विषय के ज्ञान होने का कारण न रहने से उस पदार्थ का विशेषरूप से ज्ञान नहीं होता। और जिस पदार्थ में समानधर्म युक्तधर्मी का ज्ञान होता है और विशेषधर्म से युक्त का भी उस ज्ञान को स्पष्टज्ञान कहते हैं। और जिस पदार्थ के विशेषधर्म का ग्रहण न होकर केवल समानधर्म का ज्ञान होता है वह अव्यक्त (अस्पष्ट) ज्ञान कहाता है। पदार्थ में समानधर्म के सम्बन्ध से विशेषधर्म का सम्बन्ध होना यह एक दूसरा विषय है। इन दोनों में से जिसका निमित्त नहीं रहता उसका ज्ञान नहीं होता यही अव्यक्त ग्रहण है यह बुद्धि के अस्थिरता के कारण नहीं होता। अपने-अपने योग्य विषय में ज्ञान होना स्पष्टज्ञान ही होता है तथा बुद्धियों के अपने-अपने विषयों में नियत होने से भी सामान्यरूप से पदार्थ का ज्ञान होना अपने विषय में व्यक्त (स्पष्ट) ही होता है, इसी प्रकार विशेषरूप से पदार्थ का ज्ञान होना भी अपने विषय में व्यक्त (स्पष्ट) ही होता है। क्योंकि ज्ञान अपने-अपने विषयों में नियत होते हैं। (उपरोक्त विषय को पूर्वपक्षी के आक्षेप में संगत करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह जो पूर्वपक्षी ने अस्पष्ट ज्ञान होने का आक्षेप कहा था, वह किस विषय में ज्ञानों के स्थिर न होने से होने वाला होगा। अर्थात् 'यदि बुद्धि उत्पादविनाशशाली होगी तो अस्पष्ट ही ज्ञान होगा' ऐसा पूर्वपक्षी का आक्षेप है। उस पर भाष्यकार ने ज्ञान का अस्पष्ट होना ही अप्रसिद्ध है ऐसा दिखाया है, जिससे आक्षेप का मूल ही हटा दिया यह भाष्य का गूढ आशय है। (तो क्या ज्ञान का अस्पष्ट होना सर्वथा अप्रसिद्ध ही है? इस प्रश्न के उत्तर में अस्पष्ट ज्ञान होने में दूसरी युक्ति दिखाते हुए

धर्मिणस्तु धर्मभेदे बुद्धिनानात्वस्य भावाभावाभ्यां तदुपपत्तिः ।

धर्मिणः खल्वर्थस्य समानाश्च धर्मा विशिष्टाश्च, तेषु प्रत्यर्थनियता नानाबुद्धयः, ता उभय्यो यदि धर्मिणि वर्तन्ते तदा व्यक्तं ग्रहणं धर्मिणमभिप्रेत्य । यदा तु सामान्यग्रहणमात्रं तदाऽव्यक्तं ग्रहणमिति एवं धर्मिणमभिप्रेत्य व्यक्ताव्यक्तयोर्ग्रहणयोरुपपत्तिरिति, न चेदमव्यक्तं ग्रहणं बुद्धेर्बोद्धव्यस्य वाऽनवस्थायित्वादुपपद्यत इति ॥ ४४ ॥

इदं हि न—

प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४५ ॥

अनवस्थायित्वेऽपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्तव्यम् । कथम् ? प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् । प्रदीपार्चिषां सन्तत्या वर्त्तमानानां

भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—किसी धर्म के धर्मों का भेद होने पर अनेक ज्ञानों के होने तथा न होने से स्पष्टता तथा अस्पष्टता ज्ञानों में हो सकती है । (इसी संक्षेप में कहे विषय को आगे भाष्यकार स्पष्टरूप से कहते हैं कि)—निश्चय से एकधर्मीरूप पदार्थ के समान और विशेष ऐसे में दो प्रकार के धर्म होते हैं । उनमें अनेक ज्ञान अपने-अपने विषयों में नियमित होते हैं । वह समान तथा विशेष धर्मों को विषय करने वाली दोनों प्रकार की अनेक बुद्धि यदि धर्मी पदार्थ में होती हो तो उस समय धर्मी के अभिप्राय से स्पष्ट ज्ञान ही होता है । और जिस समय केवल सामान्यधर्म ही का ज्ञान होता है, इस समय वह अस्पष्टज्ञान कहाता है । इस प्रकार धर्मी पदार्थ के अभिप्राय से स्पष्ट तथा अस्पष्ट दोनों प्रकार के ज्ञान हो सकते हैं (अर्थात् ज्ञान में जो स्पष्टता या अस्पष्टता है वह ज्ञान के स्थिर अथवा अस्थिर होने के कारण नहीं होती किन्तु जाने हुए विषय (अर्थ) के स्वरूप से होती है, यह प्रस्तुत विषय का आशय है, जिससे आक्षेप मूल के साथ खण्डित हो जाता है ॥ ४४ ॥

(इस दूसरे परिहार को भी केवल प्रौढिवाद समझकर पुनः दूसरे प्रकार से परिहार करने के लिये सिद्धान्तिमत के सूत्र का अवतरण भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—यह अस्पष्टज्ञान बुद्धि अथवा उससे जाननेयोग्य विषय की अस्थिरता से नहीं हो सकता, (अर्थात् ज्ञान में अस्पष्टता ज्ञान की अस्थिरता के कारण नहीं होती किन्तु ज्ञान के विषय के स्वरूप से होती है, यह कह चुके हैं । वस्तुतः ज्ञान में वर्तमान अस्पष्टता न ज्ञान के अस्थिरता के कारण होती है, अथवा ज्ञान के विषय के अस्थिरता के कारण यह सिद्धान्त है) । (यदि ऐसा है तो ४३ वें सूत्र में दिखाये हुए पूर्वपक्षी के आक्षेप का क्या उत्तर है ? इस प्रश्न के उत्तर को देने वाले सिद्धान्त सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह पूर्वपक्षी का आक्षेप नहीं हो सकता—

पदपदार्थ—प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् = दीपक की ज्वालाओं के समुदाय के स्पष्टज्ञान के समान, तद्ग्रहणम् = द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होता है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—दीपक के ज्वालाओं के समूहों के स्पष्टज्ञान होने के समान, बुद्धि के उत्पादविनाशस्वभाव होने पर भी उन द्रव्यों का ज्ञान स्पष्टरूप से होता है यह मानना उचित है ॥ ४५ ॥

(सिद्धान्ती के मत से सूत्र का अर्थ भाष्यकार करते हैं कि)—बुद्धि के उत्पादविनाशस्वभाव होने पर भी उन द्रव्यों का ज्ञान स्पष्ट होता है, यह मानना होगा । (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—

ग्रहणानवस्थानं ग्राह्यानवस्थानं च प्रत्यर्थनियतत्वाद् बुद्धीनां, यावन्ति प्रदीपार्चींषि तावत्यो बुद्धय इति । दृश्यते चात्र व्यक्तं प्रदीपार्चिषां ग्रहणमिति ४५

इति चतुर्भिः सूत्रैर्बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वप्रकरणम् ।

चेतना शरीरगुणः सति शरीरे भावादसति चाभावादिति—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४६ ॥

सांशयिकः सति भावः स्वगुणोऽप्सु द्रवत्वमुपलभ्यते, परगुणश्चोष्णता,

---

प्रदीप के ज्वाला के समुदाय के स्पष्टज्ञान के समान । उक्त सन्तानरूप से वर्तमान रहने वाली दीपक की ज्वालाओं का ज्ञान तथा विषय दोनों ही अस्थिर हैं क्योंकि ज्ञान अपने-अपने विषय में नियत होते हैं—जितनी दीपक की ज्वाला है उतने उनके ज्ञान हैं । (अर्थात् जिस समय दीप की ज्वाला दिखाई पड़ती है, उस समय वह दीपक की ज्वाला एक नहीं है किन्तु क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली अनेक ज्वालाओं के सन्तान का ही ग्रहण होता है ऐसा सभी प्राणी मानते हैं, उन दीपक ज्वाला व्यक्तियों के क्षणविनाशी होने के कारण उनका ज्ञान भी क्षणमात्र ही रहता है) (इससे सिद्धान्ती का क्या तात्पर्य है वह भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यहाँ पर दीपक की ज्वालाओं का स्पष्टज्ञान होता है यह दिखाई पड़ता है अर्थात् यद्यपि दीप ज्वालाओं का ज्ञान अस्थिर है तथापि वे स्पष्ट ही हैं, इस कारण ज्ञान के अस्थिर होने के कारण उनकी अस्पष्टता है यह नहीं सिद्ध हो सकता, यह सूत्रकार का आशय है ॥ ४५ ॥

(५) बुद्धि के शरीर का गुण न होने का प्रकरण

इस प्रकार बुद्धि में उत्पादविनाशस्वभावता को सिद्ध कर साम्प्रत वह बुद्धि शरीर का गुण नहीं है यह प्रकरण प्रारंभ करना है, क्योंकि उत्पादविनाशस्वभावता बुद्धि में सिद्ध होने पर ही आगे दिये जाने वाले बुद्धि के शरीरगुण न होने के साधक हेतु संगत हो सकेंगे, इस कारण बुद्धि के तृतीय क्षणनाशता के प्रकरण के पश्चात् इस प्रकरण का आरंभ किया जाता है । पूर्व-ग्रंथ में बुद्धि भूत, इन्द्रिय तथा मन का गुण नहीं है ऐसा यद्यपि निषेध कर चुके हैं तथापि इस प्रकरण में विशेषरूप से बुद्धि शरीर का गुण नहीं है, इससे विशेष हेतु दिये जांयगे । इन विशेष हेतुओं का वर्णन बुद्धिगुण के अस्थिर होने के अधीन होने के कारण ही उसका प्रकरण मध्य में रक्खा गया है । (इस प्रकरण को प्रारंभ करते हुए सूत्र को न लेकर ही पूर्वपक्ष को उठाते हुए संशयबोधक सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—शरीर के रहते ज्ञान होता है न रहते नहीं होता इस अन्वय तथा व्यतिरेक के होने के कारण ज्ञान (चेतना) शरीर का गुण है । (इस पूर्वपक्ष का संशय से ग्रसित होने के कारण सूत्रकार निराकरण करते हैं)—

पदपदार्थ—द्रव्ये = किसी द्रव्य में, स्वगुणपरगुणोपलब्धेः = अपने तथा दूसरे के गुण की प्राप्ति होने के कारण, संशयः = संशय होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जलरूप द्रव्य में अपना स्वाभाविक द्रवत्व, दूसरे तेज द्रव्य का गुण उष्णता भी मिलती है, इस कारण शरीर में भी शरीर के ही गुण ज्ञान की उपलब्धि होती है, अथवा दूसरे आत्मारूप द्रव्य का गुण है ऐसा संशय ही हो सकता है ॥ ४६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—शरीर के रहते ज्ञान का होना यह पूर्वपक्षी का अन्वय संशयग्रस्त है । क्योंकि जलरूप द्रव्य में अपना स्वाभाविक द्रवत्वरूप गुण, तथा दूसरे तेज (अग्नि आदि) का गुण उष्णता भी मिलती है । इस कारण यह संशय होता है

तेनायं संशयः किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे गृह्यते अथ द्रव्यान्तरगुण इति ? ॥ ४६ ॥

न शरीरगुणश्चेतना, कस्मात् ?—

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ४७ ॥

न रूपादिहीन शरीरं गृह्यते चेतनाहीनं तु गृह्यते यथोष्णताहीना आपः तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति । संस्कारवदिति चेद् न करणानुच्छेदात् ।

यथाविधे द्रव्ये संस्कारः तथाविध एवोपरमो न तत्र कारणोच्छेदादत्यन्तं

कि—क्या शरीर के ही गुण ज्ञान की शरीर में उपलब्धि होती है, अथवा शरीर से भिन्न दूसरे आत्मारूप द्रव्य का गुण उपलब्ध होता है। अर्थात् द्रव्य में अपने तथा दूसरे के गुणों के उपलब्ध होने के कारण यद्यपि शरीर में ज्ञान की उपलब्धि होती है इस कारण हमें बुद्धि शरीर ही का गुण है, अथवा उसमें रहने वाला दूसरे आत्मा द्रव्य का गुण है यह निश्चय नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

(इस प्रकार पूर्वपक्ष संशय का कारण है इस आशय से पूर्वपक्ष का खंडन कर सिद्धान्तपक्ष के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—ज्ञान (चेतना) शरीर का गुण नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—यावच्छरीरभावित्वात्=जिस काल तक शरीर है उस काल तक होने के कारण, रूपादीनाम् = रूप आदि गुणों के ॥ ४७ ॥

भावार्थ—रूपादि गुणरहित शरीर नहीं मिलता, किन्तु ज्ञान से रहित शरीर मिलता है जैसे उष्णतारहित जल पाया जाता है, इस कारण ज्ञान, शरीर का गुण नहीं हो सकता, इस प्रकार यह वैधर्म्य दृष्टान्त को बतलाता है। क्योंकि शरीर का अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों रूपादि गुणों में ही हैं। अर्थात् रूपादिक ही यावच्छरीर रहते हैं न कि ज्ञान ॥ ४७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्त सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शरीर विना रूपादिकों के नहीं पाया जाता, किन्तु विना उष्णता के शीत जल के समान ज्ञानरहित मूर्च्छितादि शरीर पाया जाता है, इस कारण चेतना शरीर का गुण नहीं है। यहाँ पर चेतना शरीर गुण नहीं है, मृत शरीर में भी उसकी उपलब्धि न होने के कारण, जल की उष्णता के समान, ऐसा अनुमानप्रयोग जान लेना चाहिये। (यदि बुद्धि आदि गुण शरीर के हों तो जबतक शरीर है तबतक शरीर के रूपादि गुणों के समान होंगे ऐसा परिशुद्धिकार उदयनाचार्य ने इस सूत्र में तर्क लिया है और वृत्तिकार ने उपरोक्त अनुमान ही इस सूत्र से लिया है)। (यहाँ पर पूर्वपक्षी अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिये 'जिस प्रकार संस्कार शरीर का गुण होने पर भी जबतक शरीर रहता है तबतक उसमें नहीं रहता, इसी प्रकार चेतना भी नहीं रहेगी' ऐसा कहे तो सिद्धान्तिमत से भाष्यकार उत्तर देते हैं कि—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि कारण का नाश नहीं हुआ है। (इस उत्तर को स्वयं भाष्यकर स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं)—जिस प्रकार के द्रव्य में संस्कार होता है उसी प्रकार के द्रव्य में उसका (अपाय) नाश भी होता है, यह नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से उसमें कारण के नाश से अत्यन्य ही संस्कार की उपपत्ति नहीं होती। और जिस अवस्था वाले शरीर में चेतना का ग्रहण होता है, इसी अवस्था वाले शरीर में चेतना का नाश भी गृहीत होता है, इस कारण पूर्वपक्षी का संस्कार के समान यह समाधान संगत नहीं है (अर्थात् संस्कार

संस्कारानुपपत्तिर्भवति, यथाविधे शरीरे चेतना गृह्यते तथाविध एवात्यन्तोपरमश्चेतनाया गृह्यते तस्मात् *संस्कारवदित्यसमः समाधिः* ।

अथापि शरीरस्थं चेतनोत्पत्तिकारणं स्याद् ? द्रव्यान्तरस्थं वा ? उभयस्थं वा ? तन्न, *नियमहेत्वभावात्* । शरीरस्थेन कदाचिच्चेतनोत्पद्यते कदाचिन्नेति नियमे हेतुर्नास्तीति । द्रव्यान्तरस्थेन च शरीर एव चेतनोत्पद्यते न लोष्टादिष्वित्यत्र न नियमहेतुरस्तीति । उभयस्य निमित्तत्वे शरीरसमानजातीयद्रव्ये

के विषय में यह स्पष्ट देखने में आता है कि जिस अवस्था वाले द्रव्य में वह संस्कार मिलता है, उसी अवस्था वाले द्रव्य में संस्कार अत्यन्त नष्ट भी होता है, जिस प्रकार बाण की जिस अवस्था में उसमें वेगसंस्कार उत्पन्न होता है उसी अवस्था में नोदनादि संयोगरूप उस वेग के कारणों का नाश होने पर वाण का वेग नष्ट हो जाता है। शरीर के चेतन होने के विषय में ऐसा नहीं है, क्योंकि जीवित अवस्था में शरीर में चेतनता मिलती है, किन्तु मृतावस्था में चेतनता का नाश होता है। आप पूर्वपक्षी के मत में उस शरीर में चेतनता के कारण का नाश हो सकता है क्योंकि केवल शरीर ही उसका कारण है जो मृत अवस्था में भी नष्ट नहीं हुआ है, अतः संस्कार तथा चेतनता में कोई समानता का कारण न होने से संस्कार के समान यह पूर्वपक्षी का दृष्टान्त संगत नहीं है, यह सिद्धान्ती का आशय है। यदि उपरोक्त विषमता के परिहार के लिये पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि 'तथापि शरीर में वर्तमान ही चेतनता के उत्पत्ति का कारण होगा, अथवा दूसरे द्रव्य में वर्तमान, अथवा उक्त दोनों में रहने वाला होगा' (अर्थात् जिस प्रकार संस्कार का कारण उसके आधार द्रव्य से भिन्न नोदनादि संयोग ही होता है, जिसके रहने से वेगादि संस्कार उत्पन्न होता है, तथा जिसके उपरम से उस वेग का उपरम (नाश) हो जाता है, इसी प्रकार शरीर में रहने वाले चेतनता का केवल शरीर ही कारण नहीं होता, किन्तु और ही कोई दूसरा उसके समीप रहने वाला होगा तो भाष्यकार इस पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिये विकल्प दिखाते हुए कहते हैं कि—

वह शरीर में चेतनता के उत्पत्ति का कारण क्या शरीर में है, अथवा दूसरे द्रव्य में है अथवा दोनों में है (इनमें से कोई भी पक्ष नहीं हो सकता, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—नियम का कारण न होने से पूर्वपक्षी का कथन नहीं हो सकता। क्योंकि शरीर में वर्तमान चेतनता के कारण पक्ष में शरीर में वर्तमान कारण से जो विभावस्था में चेतनता रहती है मृतावस्था में नहीं इस नियम के मानने में कोई कारण नहीं है। और दूसरे द्रव्यान्तर में रहने वाले चेतनता के कारण मानने के पक्ष में उस कारण से शरीर में ही चेतनता उत्पन्न होती है, मृत्तिका के ढेले में चेतनता नहीं होती इस नियम में कोई कारण नहीं हो सकता। और तीसरे दोनों में चेतनता का कारण मानने के पक्ष में शरीर के समान जाति वाले द्रव्यों में चेतनता नहीं होती, और केवल शरीर ही में होती है, इस नियम में भी कोई कारण नहीं है। यहाँ पर शरीर में चेतना उत्पन्न होने का कारण क्या शरीर में रहता है अथवा दूसरे द्रव्य में ? शरीर में भी जब तक शरीर रहता है तबतक वह रहता है अथवा निमित्त से उत्पन्न होता है। प्रथमपक्ष में शरीर कभी चेतनता से रहित न मिलेगा, जैसे रूपादि हीन नहीं मिलता क्योंकि कारण वहाँ समीप में है। यदि निमित्तिक मानें तो जो शरीर में चेतना के उत्पत्ति का कारण है उसमें वही आपत्ति आवेगी। यदि दूसरे द्रव्य में रहने वाला शरीर की चेतनता कारण हो तो शरीर में उससे चेतना होती

चेतना नोत्पद्यते शरीर एव चोत्पद्यते इति नियमे हेतुर्नास्तीति ॥ ४७ ॥

यच्च मन्येत सति श्यामादिगुणे द्रव्ये श्यामाद्युपरमो दृष्टः एवं चेतनोपरमः स्यादिति—

न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ४८ ॥

नात्यन्तं रूपोपरमो द्रव्यस्य श्यामरूपे निवृत्ते पाकजं गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते, शरीरे तु चेतनामात्रोपरमोऽत्यन्तमिति ॥ ४८ ॥

है दूसरे द्रव्यों में नहीं होती, इसमें भी नियम का कारण कहना होगा। और वह दूसरे द्रव्य में रहने वाला चेतना का कारण नित्य है, अथवा अनित्य? अनित्यपक्ष में भी वह प्रतिक्षण में नष्ट होता है अथवा दूसरे काल तक रहता है? ऐसे विकल्प होने से वही दोष आ जायगा—ऐसी वार्तिककार ने समालोचना की है ॥ ४७ ॥

(पूर्वपक्षी के पक्ष की सिद्धि करने वाले दूसरे दृष्टान्त का अनुवाद करते हुए अग्रिम सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—यदि पूर्वपक्षी के मत से ऐसा माना जाय कि—'श्यामगुण वाले श्याम घट के रहते जिस प्रकार श्यामादि रूप की निवृत्ति देखने में आती है, इसी प्रकार शरीर में रहते उसकी चेतना की भी निवृत्ति हो जायगी' अर्थात् यद्यपि श्यामता घट का गुण है, तथापि घट रहते भी उसमें नैयायिकों के मत से पाक होने के पश्चात् श्यामरूप नहीं रहता, इसी प्रकार शरीर का गुण होने पर भी मृतावस्था में शरीर के रहते चेतनता न रहेगी यह भी हो सकता है—

पदपदार्थ—न = नहीं, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः = पाक से उत्पन्न दूसरे गुण की उत्पत्ति होने से ॥ ४८ ॥

भावार्थ—पाकजस्थल में घटादि द्रव्य के रूप का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता—क्योंकि श्यामरूप के निवृत्त होने पर तेजसंयोग रूप पाक से दूसरा रक्तरूप गुण उत्पन्न होता है, किन्तु शरीर में केवल चेतनता का अत्यन्त उपरम (निवृत्ति) होती है, इस कारण पाकस्वरूप के दृष्टान्त से शरीर का गुण चेतनता मानने पर मृत शरीर में चेतनता नहीं रहती—यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत है ॥ ४८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—घटादि द्रव्यों के रूपगुण का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता—क्योंकि श्यामरूप के निवृत्त होने पर तेजसंयोगरूप पाक से उत्पन्न हुआ दूसरा रक्तरूप उस घट में उत्पन्न होता है। किन्तु शरीर में तो केवल चेतनता का ही अत्यन्त उच्छेद होता है। (अर्थात् किसी भी द्रव्य में उसके गुण का अत्यन्त उच्छेद देखने में नहीं आता, और मृतावस्था के शरीर में तो चेतनता का अत्यन्त उच्छेद देखा जाता है, इस कारण दृष्टान्त और प्रस्तुत में आत्यन्तिकता और अनात्यन्तिकता रूप वैधर्म्य होने के कारण पूर्वपक्षी का कथन असंगत है यह सूत्रकार का गूढ आशय है।) और वृत्तिकार ने इस सूत्र को पूर्वपक्षी का माना है, जिसका 'घटादि द्रव्य के रहते ही उसमें पाक के पश्चात् दूसरे गुण की उत्पत्ति होने के कारण सिद्धान्ती का कथन संगत नहीं है' ऐसा अर्थ किया है। इस कारण वृत्तिकार के मत से आगे के सूत्र में सिद्धान्ती के पक्ष से परिहार जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथापि—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ४९ ॥

यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिद्वन्द्विसिद्धिस्तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात्। न च शरीरे चेतनाप्रतिद्वन्द्विसिद्धौ सहानवस्थायि गुणान्तरं गृह्यते येनानुमीयेत तेन चेतनाया विरोधः। तस्मादप्रतिषिद्धा चेतना यावच्छरीरं वर्तेत न तु वर्त्तते, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतना इति ॥ ४९ ॥

(इस प्रकार आत्यन्तिकता तथा अनात्यन्तिकतारूप दृष्टान्त और प्रस्तुत में वैधर्म्य दिखाकर सप्रतिद्वन्द्विता (विरोधी का होना) तथा असप्रतिद्वन्द्विता (विरोधी का न होना) इस विरुद्धधर्म को भी दिखाते हुए सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—और भी—

पदपदार्थ—प्रतिद्वंद्विसिद्धेः = विरोधी के सिद्धि से, पाकजानां = पाक से बदलने वाले गुणों का, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जितने घट-फल आदि द्रव्यों में पूर्वगुण के विरोधि गुणों की सिद्धि होती है उतने द्रव्यों में पाकज (पाक से उत्पन्न) की उत्पत्ति दिखाई देती है, क्योंकि पूर्व श्यामादि रूपों के साथ पाक से उत्पन्न रक्तादि गुणों का ग्रहण नहीं होता। किन्तु शरीर में चेतना के विरोधी की सिद्धि होने पर साथ रहने वाला दूसरा गुण गृहीत नहीं होता, जिससे अनुमान द्वारा उस दूसरे गुण का चेतना में विरोध का ज्ञान हो सके। इस कारण चेतना यदि शरीर का गुण हो तो जब तक शरीर रहता है, तब तक उसमें चेतनता रहेगी, और रहती तो नहीं, इस कारण चेतना शरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ४९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जितने घट-फल आदि द्रव्यों में पूर्वगुण के विरोधियों की सिद्धि होती हैं, उतने द्रव्यों में तेजसंयोगरूप पाक से उत्पन्न होनेवाले गुणों की उत्पत्ति दिखाई देती है, क्योंकि पूर्व के श्यामादि गुणों के साथ पाक से बदलने वाले रक्तरूप आदि गुण नहीं रहते। प्रस्तुत विषय शरीर में चेतनता के विरोधी की सिद्धि होने पर दूसरे किसी साथ में न रहने वाले गुण का ग्रहण नहीं होता, जिससे उसके साथ चेतनता के विरोध की अनुमानप्रमाण से सिद्धि हो, इस कारण यदि चेतनता का शरीर में निषेध न किया जाय तो वह जब तक शरीर है तब तक उसमें रहेगी, और रहती तो नहीं, इस कारण चेतना शरीर का गुण नहीं है। अर्थात् घटादिकों के समान शरीर में ऐसा कोई दूसरा गुण नहीं दिखाई पड़ता जिसका शरीर को चेतनता के साथ विरोध माना जाय। 'शरीर में अचेतनता ही चेतनता का विरोधी गुण मानेंगे', ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि उसके स्वरूप का कथन ही नहीं हो सकता, इस कारण कि वह अचेतनता क्योंकि चेतनता का विरोधी दूसरा गुण है, अथवा चेतनता का केवल निषेध (अभाव) है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। यदि वह अचेतनता चेतनता का विरोधी गुण होता तो उसका भी चेतनता के समान अनुभव होता इस तर्क से अचेतनता कोई चेतनता के विरुद्ध दूसरा गुण नहीं है, किन्तु चेतनता का निषेधमात्र है यह सिद्ध होता है, अतः जब वह केवल चेतनता का अभावमात्र है तो वह चेतनता के विरुद्ध दूसरा गुण नहीं हो सकता, इससे यह सिद्ध होता है कि चेतना शरीर का अपना गुण नहीं है ॥ ४९ ॥

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना—

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५० ॥

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वे चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता इति न कचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः, शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनबहुत्वं, तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वे सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्था लिङ्गमेवमेकशरीरेऽपि स्याद्, न तु भवति, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ॥ ५० ॥

यदुक्तं न कचिच्छरीरावयवे चेतनाया अनुत्पत्तिरिति सा न—

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५१ ॥

(इस प्रकार जब तक शरीर है तब तक चेतना का उसमें न होना इस हेतु से चेतना शरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध कर दूसरे भी हेतु से इसी विषय को सिद्ध करने वाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस हेतु से भी चेतना शरीर का गुण नहीं है—

पदपदार्थ—शरीरव्यापित्वात = शरीर में व्याप्त होने के कारण ॥ ५० ॥

भावार्थ—शरीर तथा उसके सम्पूर्ण हस्त-पाद आदि अवयव में भी चेतना की उत्पत्ति से व्याप्त होने के कारण एक प्राणि के एक ही शरीर में अनेक चेतन आत्मा हैं ऐसा मानना पड़ेगा, ऐसा होने से जिस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में ज्ञानी, मूर्ख, सुखी तथा दुःखी इत्यादि भिन्न-भिन्न आत्मा की सिद्धि होने में व्यवस्था होती है उसी प्रकार एक ही शरीर में भी अनेक आत्मा की सिद्धि होने लगेगी, जो सर्वथा असंगत है इस कारण चेतना शरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार द्वितीय हेतु के साधक सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी के मत से शरीर तथा उसके सम्पूर्ण हस्त-पाद इत्यादि अवयव भी चेतनता की उत्पत्ति से व्याप्त होने के कारण किसी अवयव में चेतनता नहीं है यह नहीं हो सकता। अतः शरीर के समान शरीर के अवयव भी चेतन होने के कारण एक ही शरीर में चेतन (आत्मा) अनेक हैं यह मानना होगा। उसमें जिस प्रकार प्रत्येक शरीर में, कोई सुखी है कोई दुःखी है इत्यादि अनेक भिन्न-भिन्न आत्माओं की व्यवस्था के कारण अनेक आत्मा हैं यह माना जाता है, उसी प्रकार एक ही शरीर में उपरोक्त व्यवस्था मानने से अनेक आत्मा मानने होंगे जो सर्वथा असंगत है अतः चेतना शरीर का गुण नहीं है यह इस शरीरव्यापिता हेतु से भी सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

(आगे आक्षेपसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार सिद्धान्ती के कहे हुए विषय का पूर्वपक्षी के मत से अनुवाद करते हैं कि)—'जो सिद्धान्ती ने कहा था कि किसी शरीर के अवयव में चेतना की उत्पत्ति नहीं होती'—अर्थात् 'एक ही शरीर में प्रति अवयव में चेतनता हो जायगी' ऐसा जो कहा था वह संगत नहीं है (ऐसा सूत्र के न के साथ सम्बन्ध करना) क्योंकि—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, केशनखादिषु = केश और नख आदिकों में, अनुपलब्धेः = चेतनता की उपलब्धि नहीं होती ॥ ५१ ॥

भावार्थ—केश, नखादिकों में चेतना की उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण सिद्धान्ती का यह कहना कि शरीर में चेतना की व्याप्ति है यह नहीं हो सकता। (अर्थात् यह पूर्वपक्षी का दृष्टान्तसूत्र है कि हस्त, चरणादिक चेतन नहीं हैं शरीर का अवयव होने से केश-नखादिकों के समान) ॥ ५१ ॥

केशेषु नखादिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति अनुपपन्नं शरीरव्यापित्वमिति ॥

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५२ ॥

इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणं त्वक्पर्यन्तं जीवमनःसुखदुःखसंवित्त्यायतनभूतं शरीरं, तस्मान्न केशादिषु चेतनोत्पद्यते। अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः केशादीनामिति ॥ ५२ ॥

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षिसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—केश और नख आदिकों में चेतना की उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण चेतना का सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होना असंगत है। (अर्थात् सिद्धान्ती का कहा हुआ प्रत्येक शरीर के अवयवों में चेतनता होना प्रत्यक्ष विरुद्ध है यह पूर्वपक्षी का आशय है) ॥ ५१ ॥

(इस पूर्वपक्ष का परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि)—

पदपदार्थ—त्वक्पर्यन्तत्वात् = त्वचा (शरीर के चमड़े) तक होने से, शरीरस्य = शरीर के, केशनखादिषु = केश तथा नखों में, अप्रसङ्गः = आपत्ति नहीं हो सकती ॥ ५२ ॥

भावार्थ—इन्द्रियों का आधार होना ही शरीर का लक्षण होने से जीव, मन, सुख तथा दुःखों के अनुभव का स्थान त्वचा तक ही शरीर कहाता है, इस कारण केश, नख आदिकों में चेतना उत्पन्न नहीं होती, केश-नख इत्यादिकों का शरीर में सम्बन्ध होना केवल शरीर के भीतर रहने वाले रक्त, मज्जा इत्यादि धातुओं के व्यापार से उत्पन्न हुआ है, न कि वह शरीर में माना जाता है ॥ ५२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' इस शरीर के लक्षण में इन्द्रियों का आधार होना शरीर का लक्षण पूर्वग्रन्थ में कह चुके हैं। इस कारण जो जीव, मन तथा सुख और दुःख के अनुभव का आधार है उसी को शरीर कहते हैं यह सिद्धान्त है। इस कारण ही त्वचापर्यन्त शरीर के अवयवों में ही ज्ञानादि गुणों के आधार होने का अनुभव होता है न कि केश तथा नखादि अवयवों में, अतः नखादि शरीर के अवयव नहीं हैं इसलिये उनमें चेतना की उत्पत्ति नहीं होती। केश, नख आदि तो केवल शरीर में संयुक्त दूसरा द्रव्य है न कि शरीर के अवयव, वह संयोग केवल शरीर में रहने वाले रक्त, मज्जा (चरबी) आदि धातुओं के व्यापार से उत्पन्न होता है, इस कारण पूर्वपक्ष सर्वथा असंगत होने के कारण शरीर व्यापितारूप दूसरे हेतु से भी चेतना शरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध होता है ॥५२॥

(इसी प्रकार शरीर में चेतनता नहीं रहती इस विषय को सिद्ध करने के लिये तीसरा हेतु देनेवाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस हेतु से भी चेतना शरीर का गुण नहीं है—

पदपदार्थ—शरीरगुणवैधर्म्यात्—शरीर के गुणों के विरुद्ध धर्मवाले होने से ॥ ५३ ॥

भावार्थ—शरीर के कोई गुण कोई प्रत्यक्ष नहीं होते जैसे गुरुत्व, और कोई प्रत्यक्ष से देखे जाते हैं जैसे रूप आदि। ऐसे दो प्रकार के शरीर के गुण होते हैं किन्तु इन दोनों प्रकार के गुणों से चेतना भिन्नरूप है, क्योंकि स्वयं अनुभव योग्य होने से यह अप्रत्यक्ष नहीं हो सकती तथा केवल मन से गृहीत होने के कारण इन्द्रियों से भी उसका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, इस कारण वह शरीर से

द्विविधः शरीरगुणोऽप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम्, इन्द्रियग्राह्यश्च रूपादिः, विधान्तरं तु चेतना, नाप्रत्यक्षा संवेद्यत्वात्, नेन्द्रियग्राह्या मनोविषयत्वात् तस्माद् द्रव्यान्तरगुण इति ॥ ५३ ॥

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५४ ॥

यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न शरीरगुणत्वं जहत्येवं रूपादिवैधर्म्याच्चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यतीति ॥ ५४ ॥

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

भिन्न दूसरे आत्मा द्रव्य का गुण है। किन्तु इस व्याख्या में मनमात्र से चेतना का ग्रहण होने के कारण मन इन्द्रिय नहीं है ऐसा मानना होगा, यह दोष समझकर वार्तिककार ने इस वाक्य की ऐसी व्याख्या की है कि चेतना का बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि अनुभव से ही वह सिद्ध होती है तथा अप्रत्यक्ष भी नहीं है क्योंकि उसका मन से ज्ञान होता है ॥ ५३ ॥

(सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या भाष्यकार ऐसी करते हैं कि)—शरीर के गुण दो प्रकार के होते हैं—(१) अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष न होने वाले) जैसे शरीर का गुरुत्व (भारीपन), (२) इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले जैसे शरीर का रूप। किन्तु शरीर में उपलब्ध होनेवाली चेतना का दूसरा ही प्रकार है—क्योंकि स्वयं अनुभव से सिद्ध होने के कारण वह अप्रत्यक्ष नहीं है, और केवल मन से गृहीत होने के कारण वह इन्द्रियों से ग्राह्य भी नहीं है, इस कारण शरीर से भिन्न दूसरे आत्मारूप द्रव्य का गुण है यह सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

(उक्त प्रकार से केवल शरीर के गुणों के विरुद्धधर्म होने के कारण चेतना शरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध नहीं हो सकता, इस आशय से पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—न = नहीं, रूपादीनां = रूपादि गुणों के, इतरेतदवैधर्म्यात् = परस्पर में विरुद्धधर्म होने के कारण ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रूप आदि गुण परस्पर में विरुद्धधर्म के आधार होने पर भी शरीर के गुण होते हैं, इसी प्रकार रूपादि गुणों के विरुद्ध धर्म वाली चेतनता भी शरीर का गुण हो सकती है ॥ ५४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षिसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार चक्षु से गृहीत होना आदि विरुद्धधर्म वाले रूपादिगुण शरीर के गुण होने का त्याग नहीं करते, इसी प्रकार रूपादि गुणों के इन्द्रियग्राह्य न होने रूप विरुद्धधर्म होने से चेतना भी शरीर के गुण होने का त्याग न करेगी। अर्थात् शरीर के गुणों के वैधर्म्य से ही शरीर में न रहना माना जाय, तो शरीर का रूप भी शरीर में न रहेगा, किन्तु रूप शरीर में रहता है यह सभी मानते हैं, अतः शरीर गुण विरुद्धधर्म होने से चेतना शरीर का गुण नहीं है यह सिद्धान्त असंगत है ॥ ५४ ॥

(उक्त पूर्वपक्ष का सूत्रकार समाधान करते हैं)—

पदपदार्थ—ऐन्द्रियकत्वात् = इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण, रूपादीनां = रूप आदि गुणों का, अप्रतिषेधः—निषेध नहीं हो सकता। अर्थात् शरीर में वर्तमान रूप आदि गुण परस्पर में विरुद्धधर्म वाले होने पर भी इन्द्रियग्राह्यतारूप मुख्य अंश में वे समानधर्म ही हैं, अतः उनका शरीराधारता का निषेध नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति। यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न द्वैविध्यमतिवर्तन्ते तथा रूपादिवैधर्म्याच्चेतना न द्वैविध्यमतिवर्त्तेत यदि शरीरगुणः स्यादिति, अतिवर्तते तु, तस्मान्न शरीरगुण इति।

भूतेन्द्रियमनसां ज्ञानप्रतिषेधात् सिद्धे सत्यारम्भो विशेषज्ञापनार्थः। बहुधा परीक्ष्यमाणं तत्त्वं सुनिश्चिततरं भवतीति ॥ ५५ ॥

इति दशभिः सूत्रैर्बुद्धेः शरीरगुणत्वाभावप्रकरणम्।

परीक्षिता बुद्धिः, मनस इदानीं परीक्षाक्रमः, तत् किं प्रतिशरीरमेकमनेकमिति विचारे—

(सिद्धान्तिसूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—सूत्र में 'ऐन्द्रियकत्वात्' इस हेतु के साथ 'अप्रत्यक्षत्वात्' यह भी देना चाहिये। जिससे परस्पर विरुद्धधर्म वाले भी रूप गुरुत्व आदि गुण इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना, और न होना इस पूर्वदर्शित दो प्रकार को नहीं छोड़ते, इसी प्रकार रूपादि गुणों के विरुद्धधर्म की आधार होने के कारण चेतना भी उक्त दो प्रकारों का त्याग न करेगी यदि शरीर का वह गुण हो—किन्तु चेतना ऐन्द्रियकता और अतीन्द्रियता इन उक्त दो प्रकारों में से नहीं है अतः वह शरीर का गुण नहीं हो सकती। ('यथोक्तहेतुत्वात्' इस ३८ वें सूत्र में कहे हुए ज्ञान, भूत, इन्द्रिय तथा मन का गुण नहीं है इसी से चेतना का शरीर गुण होने का निषेध सिद्ध हो सकता है, अतः इन हेतुओं से शरीर के गुणों का खण्डन करने से पुनरुक्ति दोष आ जायगा। ऐसी शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पूर्वसूत्र ३८ में भूत, इन्द्रिय तथा मन का ज्ञान गुण नहीं हो सकता इस कथन से शरीर का गुण चेतना नहीं है यह सिद्ध होने पर भी पुनः इन हेतुओं से चेतना का शरीर गुण होने का निषेध करने का प्रारम्भ करना इस विषय में शिष्यों को विशेषज्ञान कराने के लिये सूत्रकार ने किया है, क्योंकि अनेक प्रकार से परीक्षा किया हुआ विषय दृढ़रूप से निश्चित हो जाता है। यह समाधान इस प्रकार के प्रारम्भ में ४६ वें सूत्र की व्याख्या में दिखा चुके हैं ॥ ५५ ॥

(६) मन की परीक्षा का प्रकरण

(एककाल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लक्षण कह चुके हैं, किन्तु यह लक्षण एक शरीर में अनेक मन मानने से गमनशील न होने से अथवा व्यापकता से हो सकेगा। ऐसा होने के कारण इस विचार के संसार सम्बन्धी व्यवहार के विरोध होने से धारणा में मन की एकाग्रता सिद्धि होना ही प्रयोजन होगा, अन्यथा एक मन के विषयों से हटाने पर भी दूसरे मन में विक्षेप होने के कारण असंचारिता (आगमन), अथवा व्यापकता पक्ष में विषयों से प्रत्याहार के न होने के कारण योगशास्त्र में कहे हुए प्रत्याहार इत्यादि योग के अंगों की सिद्धि न होगी जिससे आगे निदिध्यासनादिकों के सिद्ध न होने के कारण मनन करने में उपयोगी प्रस्तुत न्यायशास्त्र व्यर्थ हो जायगा। इसी कारण प्रत्येक शरीर में मन एक है अथवा अनेक यह विचार करना आवश्यक है जिस मन की परीक्षा का नाम दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्त सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—बुद्धिरूप प्रमेय पदार्थ की परीक्षा हो चुकी, अतः क्रमप्राप्त मनरूप प्रमेय पदार्थ की परीक्षा करने का यह अवसर है (अर्थात प्रथमाध्याय के नवमसूत्र में बुद्धि के पश्चात मन का ही पाठ किया है, इस कारण बुद्धि की परीक्षा के पश्चात मन की परीक्षा का यह अवसर आया है) (जिस विचार विषय का प्रस्ताव करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वह पूर्वोक्त मन क्या प्रति शरीर में एक ही है, अथवा अनेक, इस विचार में—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५६ ॥

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियेस्य यथाविषयम्, करणस्यैकप्रत्ययनिर्वृत्तौ सामर्थ्यान्न तदेकत्वे मनसो लिङ्गम्, यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम्। कस्मात्? सम्भवति खलु वै बहुषु मनःस्विन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात् न तु भवति, तस्माद्विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः ॥ ५६ ॥

पदपदार्थ—ज्ञानायौगपद्यात = अनेक ज्ञानों के एककाल में न होने के कारण, एकं = एक ही है, मनः = मनरूप प्रमेय पदार्थ ॥ ५६ ॥

भावार्थ—करणों के एक ज्ञान को उत्पन्न करने में सामर्थ्य होने के कारण एक-एक इन्द्रिय का अपने-अपने विषयों में ज्ञानों का एककाल में न होना माना जाता है। किन्तु मन के एक होने का साधक नहीं है। और जो दूसरे-दूसरे इन्द्रियों का दूसरे-दूसरे विषयों में ज्ञानों का एककाल में न होना है, वही मन को प्रत्येक शरीर में एक मानने का साधक है, क्योंकि अनेक मतों में वाह्यइन्द्रिय और मन के संयोग एककाल में हो सकते हैं, इस कारण ज्ञान एककाल में होने लगेंगे और होता तो नहीं, इस कारण विषयों में ज्ञान का क्रम होने के कारण मन एक है यह सिद्ध होता है अर्थात विषयों में अनेक ज्ञान एककाल में उत्पन्न नहीं होते इस कारण मन प्रत्येक शरीर में एक ही है नकि अनेक यह सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥

(इसी आशय से सूत्र की सिद्धान्तिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हुए यहाँ पर ज्ञानायौगपद्य शब्द का क्या अर्थ है जो मन को एक मानने का साधक है यह निश्चय करने के लिये दो प्रकार से ज्ञानायौगपद्य का विभाग दिखाते हैं कि)—एक इन्द्रिय जिनमें करण हो ऐसे अनेक ज्ञानों का अपने-अपने विषय में एक काल में न होना यह प्रथम ज्ञानायौगपद्य है, क्योंकि करण एक ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, यह उनमें सामर्थ्य होने का स्वभाव है (अर्थात एक इन्द्रिय एक विषय में ज्ञान को उत्पन्न कर उस ज्ञान के निवृत्त होने पर ही द्वितीय ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। (किन्तु यह ज्ञानों का एककाल में उत्पन्न न होना प्रतिशरीर में एक मन होने का साधक नहीं है, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह उपरोक्त प्रथम प्रकार का ज्ञानायौगपद्य मन के होने में साधक नहीं है। (अर्थात एक ही इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले विषयों में जो अनेक ज्ञान एककाल में नहीं होते, यह मन एक है यह सिद्ध नहीं करता) (तो कौन सा? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जो अनेक दूसरे-दूसरे इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न अनेक विषयों में अनेक ज्ञान एककाल में नहीं होते, यह दूसरे प्रकार का ज्ञानायौगपद्य है वही प्रतिशरीर में एक मन मानने का साधक है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—अनेक मतों के रहने पर इन्द्रिय और मन का सन्निकर्ष (संयोग) एककाल में हो सकता है जिससे अनेक ज्ञान एककाल में हो जायगें, और होता तो नहीं, इस कारण विषय में ज्ञान का क्रम होने के कारण प्रतिशरीर में एक ही मन है। अर्थात यदि प्रतिशरीर में अनेक मन हों तो प्रत्येक चक्षुरादि इन्द्रियों में एककाल में भी मन का संयोग होने के कारण एककाल में अनेक विषयों के साथ सम्बन्ध होने से एककाल में अनेक ज्ञान होने लगेंगे, ऐसा होने का अनुभव न होने के कारण ज्ञानों के क्रम से मन प्रत्येक शरीर में एक ही है यह सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ५७ ॥

अयं खल्वध्यापकोऽधीते व्रजति कमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यारण्यजान् शब्दान् बिभेति व्याललिङ्गानि बुभुत्सते स्मरति च गन्तव्यं स्त्यानीयमिति क्रमस्याग्रहणाद्युगपदेताः क्रिया इति प्राप्तं मनसो बहुत्वमिति ॥

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ५८ ॥

आशुसञ्चारादलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवद्बुद्धिर्भवतीति। तथा बुद्धीनां क्रियाणां चाशुवृत्तित्वाद्विद्यमानः क्रमो न गृह्यते क्रमस्याग्रहणाद्युगपत् क्रिया भवन्तीति अभिमानो भवति।

(पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं कि)—

पदपदार्थ—न = नहीं, युगपत् = एककाल में, अनेकक्रियोपलब्धेः = अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से ॥ ५७ ॥

भावार्थ—यह अध्यापक पढ़ता है, जाता है, कमण्डल को धारण करता है, इत्यादि एक ही प्राणी में अनेक क्रियाओं में क्रम का ग्रहण न होने के कारण यह उपरोक्त क्रियाएँ एक ही काल में उत्पन्न होती हैं, इस कारण अनेक मन प्रत्येक शरीर में मनना होगा, अतः सिद्धान्ती का कहा हुआ ज्ञानों का एककाल में न होना संगत नहीं है ॥ ५७ ॥

(भाष्यकार पूर्वपक्षीसूत्र की व्याख्या करते हुए एक ही प्राणी में एककाल में नाना क्रिया होती हैं, इस विषय का उदाहरण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि)—यह अध्यापक, अध्ययन कर रहा है, जा रहा है, कमण्डल को धारण कर रहा है, मार्ग को देख रहा है, अरण्य के प्राणियों के शब्दों को सुन रहा है, घातुक (बाघ) आदि प्राणियों से भय कर रहा है, जिससे वह घातुक व्याघ्र, सर्प) आदि जीवों के सिद्ध करने वाले लिङ्ग (निशानों) को जानना चाहता है, जिससे अपने पहुँचने योग्य स्थान को शीघ्र पहुँचने के लिये स्मरण कर रहा है, इस प्रकार की क्रियाओं में क्रम का ज्ञान होने के कारण एक ही काल में यह सब क्रिया होती हैं, इस कारण मन प्रत्येक शरीर में अनेक है यह सिद्ध होता है ॥ ५७ ॥

(उपरोक्त पूर्वपक्षी के आक्षेप का सूत्रकार परिहार करते हैं)—

पदपदार्थ—अलातचक्रदर्शनवत् = घूमने वाले अलातचक्र के दर्शन के समान, तदुपलब्धिः = उपरोक्त अध्ययनादि क्रियाओं का ज्ञान होता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ—अतिशीघ्र घूमने के कारण अलातचक्र (लोहे के जलते हुए चक्कर) के घूमने में क्रम रहते हुए भी उसका ज्ञान होने के समान उपरोक्त अध्ययनादि क्रियाओं में अतिशीघ्र होने के कारण क्रम रहने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता इस कारण उक्त क्रिया एक ही रूप में होती है यह भ्रमरूप ज्ञान होता है, अतः उक्त क्रियाओं में भी अयौगपद्य वर्तमान है यह सिद्धान्तसूत्र का आशय है ॥ ४८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अतिशीघ्रता से चारों तरफ घूमने के कारण अलातचक्र के घूमने में क्रम होने पर भी उसका दश दिशाओं में होनेवाले संयोग के क्रम का ग्रहण नहीं होता। जिस क्रम के ग्रहण न होने के कारण विच्छेद (टूटने) का ज्ञान न होने से चक्र के समान बुद्धि होती है। इसी प्रकार ज्ञान तथा अध्ययनादि क्रियाओं के भी

किं पुनः क्रमस्याग्रहणाद् युगपत् क्रियाभिमानः अथ युगपद्भावादेव युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति ? नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते इति, उक्तमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण बुद्धयो भवन्तीति तच्चाप्रत्याख्येयमात्मप्रत्यक्षत्वात्। अथापि दृष्टश्रुतानर्थान् चिन्तयतः क्रमेण बुद्धयो वर्तन्ते न युगपदनेनानुमातव्यमिति। वर्णपदवाक्यबुद्धीनां तदर्थबुद्धीनां चाशुवृत्तित्वात् क्रमस्याग्रहणम्। कथम्? वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति, श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन स प्रतिसन्धत्ते, प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति, पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति, सम्बद्धाँश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते। न चासां

अतिशीघ्र होने के कारण उनका क्रम होने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता, किन्तु क्रम का ज्ञान न होने से एककाल में क्रिया होती है ऐसा अभिमान (भ्रम) होता है। (इस सिद्धान्ती के परिहार का संशयरूप होने से निराकरण करने वाले पूर्वपक्षी के मत से भाष्यकार कहते हैं कि)—"क्या क्रिया के क्रम का ज्ञान न होने से एककाल में क्रिया होने का भ्रम होता है, अथवा एककाल में होने से ही एककाल में अनेक क्रियाओं का ज्ञान होता है, इन दोनों पक्षों में एक ही पक्ष के साधक की ज्ञान होने का कोई कारण सिद्धान्ती ने नहीं कहा है" (ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप करे तो इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—हम कह चुके हैं—कि नाना विषयों में ज्ञान क्रम से होते हैं—ऐसा। (अतः नाना विषयों के नाना ज्ञान क्रम से ही होते हैं, ऐसा पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों को सम्मत होने के कारण, प्रत्येक आत्मा को अनुभव होने से उसका निराकरण नहीं हो सकता इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस अनेक ज्ञानों का क्रम से होने का प्रत्येक आत्मा को प्रत्यक्ष होने के कारण खण्डन नहीं हो सकता। (इसी विषय को दृढ करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पूर्वकाल में प्रत्यक्ष तथा आगम से अनुभव किये हुए पदार्थों का चिन्तन करने वाले पुरुष को क्रम से ही ज्ञान होते हैं न कि एक ही काल में (अर्थात् पूर्वकाल में अनुभव किये ज्ञानों का भी विचार किया जाय तो उनमें भी क्रम ही दिखाई पड़ता है) इसी से अनुमान करना होगा कि घट के अनेक ज्ञान, क्रम से होते हैं, ज्ञान होने से घट, पट, मट इत्यादि अनेक विषयों के ज्ञानों के समान—इत्यादि अर्थात् नाना विषयों के ज्ञानों में क्रम दिखाने से एक पदार्थ के अनेक ज्ञानों में भी क्रम है यह उक्त अनुमान से सिद्ध होता है। ("पद में पड़े हुए अनेक वर्णों के, तथा वाक्य में रहने वाले अनेक पदों में अथवा निबन्ध में रहने वाले अनेक वाक्यों के भी अनेक ज्ञान युगपत् (एककाल) में होते हैं, नहीं तो उनके अर्थ का ज्ञान न होगा, ऐसा होने के कारण सम्पूर्ण स्थल में ज्ञान एककाल में नहीं होता" ऐसा नहीं कह सकते (विद्वानों के मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वर्ण, पद तथा कुछ वाक्यों में ज्ञानों के भी शीघ्र होने के कारण क्रम के रहने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता। (प्रश्न)—कैसे? (उत्तर)—वाक्य तथा पद में रहने वाले वर्णों का उच्चारण होने के समय प्रत्येक वर्ण का ग्रहण होता है। सुने हुए एक या अनेक वर्णों को यह पद है ऐसा अनुसन्धान करने के पश्चात् यह वर्ण समूहरूप पद है ऐसा निश्चय होता है, पदज्ञान से उसके अर्थ का स्मरण कर पद के अर्थ को जाना जाता है। पदों के समुदाय का अनुसन्धान करने से यह पद समुदायरूप वाक्य है ऐसा निश्चय होता है। और उस वाक्य में परस्पर सम्बन्ध रखने वाले पद के अर्थों को जानने के पश्चात् वाक्य के अर्थ का निश्चय होता है। इस क्रम से होनेवाले ज्ञानों के अतिशीघ्र होने के कारण

क्रमेण वर्तमानानां बुद्धीनामाशुवृत्तित्वात् क्रमो गृह्यते, तदेतदनुमानमन्यत्र बुद्धिक्रियायौगपद्याभिमानस्येति। न चास्ति मुक्तसंशयायुगपदुत्पत्तिर्बुद्धीनां यया मनसां बहुत्वमेकशरीरेऽनुमीयेत इति ॥ ५८ ॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ५९ ॥

अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयो ज्ञानायौगपद्यात्। महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद्युगपद्विषयग्रहणं स्यादिति ॥ ५९ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैर्मनःपरीक्षाप्रकरणम्।

मनसः खलु भोः सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्। ज्ञातुश्च पुरुषस्य शरीरायतना बुद्ध्यादयो विषयोपभोगो जिहासितहानमीप्सितावाप्तिश्च सर्वे च शरीराश्रया व्यवहाराः। तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः किमयं पुरुषकर्मनिमित्तः शरीरसर्गः? आहो स्विद् भूतमात्रादकर्मनिमित्त इति? श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति।

क्रम के रहने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता। इसीसे उक्त ज्ञानों के क्रम के दिखाने से पूर्वपक्षी के कहे हुए अलातचक्र में एककाल में ज्ञान के युगपत् (एककाल में होना) भ्रम है यह सिद्ध होता है। अतः अनेक ज्ञान एककाल में नहीं होते यह निःसन्देह (बिना सन्देह के) मानना होगा जिससे (एककाल में अनेक ज्ञान होने से) प्रतिशरीर में अनेक मन होने की अनुमानप्रमाण से सिद्धि हो सकेगी। अतः पूर्वपक्षी का मत अयुक्त होने के कारण प्रतिशरीर में अनेक मन मानना सर्वथा असंगत है ॥ ५८ ॥

इस प्रकार मन के प्रतिशरीर में एकता को सिद्ध कर उसके धर्मान्तर (दूसरे धर्म) का संग्रह करते हुए सूत्रकार सिद्धान्तमत से कहते हैं—

पदपदार्थ—यथोक्तहेतुत्वात् च=और पूर्वोक्त हेतु होने से भी, अणु=मन अणु परिमाण है ॥५९॥

भावार्थ—ज्ञान के पूर्वोक्त एककाल में ज्ञानों की उत्पत्ति न होने के कारण मन में अणुपरिमाण तथा एकत्व सिद्ध होता है ॥ ५९ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—मन, अणुपरिमाण वाला, तथा प्रतिशरीर में एक है इस प्रकार दो धर्मों का अनेक ज्ञानों के एककाल में उत्पन्न न होने के कारण सूत्रकार ने किया है। क्योंकि यदि मन महत् परिमाण का आधार हो तो मन का सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियों का संयोग होने से एककाल में रूपादि विषयों का ज्ञान होने लगेगा, इस कारण मन अणुपरिमाण का ही आधार है यह सिद्ध होता है ॥ ५९ ॥

(७) शरीर के धर्माधर्मरूप अदृष्ट से उत्पन्न होने का प्रकरण

(इस आगे के प्रकरण का पूर्वापर सम्बन्ध दिखाते हुए सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—बाह्येन्द्रियों के समान मन का शरीर में ही व्यापार होता है, क्योंकि शरीर में छोड़कर मन तथा बाह्येन्द्रियों का कोई व्यापार नहीं होता। और ज्ञाता आत्मा को शरीररूप घर में ही ज्ञान, सुख तथा दुःख इत्यादि होते हैं, तथा विषयों का सुख-दुःखानुभवरूप उपभोग, त्याग करने की इच्छा के विषय का त्याग तथा प्राप्त करने की इच्छा के विषय की प्राप्ति भी होती है, तथा सम्पूर्ण संसार के व्यवहार भी शरीर के आधार से ही होते हैं। उसमें विप्रतिपत्ति

तत्रेदं तत्त्वम्—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ६० ॥

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा *तत्पूर्वकृतं* कर्मोक्तं, तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानं, तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति। यदधिष्ठानोऽयमात्माऽयमहमिति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोगतृष्णया विषयानुपलभ-

---

(विनाश) होने के कारण संशय होता है—कि क्या यह शरीर की रचना आत्मा के कर्म से हुई है, अथवा बिना कर्मनिमित्त केवल पृथिव्यादि भूतपदार्थों से हुई है ? क्योंकि इसमें दर्शनशास्त्रों में उक्त दोनों पक्ष का विवाद सुनने में आता है। इस विषय में यह तत्व (सिद्धान्त) है—

पदपदार्थ—पूर्वकृतफलानुबन्धात् = पूर्वजन्म में किये पाप-पुण्यरूप कर्म के अनुसार से, तदुत्पत्तिः = शरीर की उत्पत्ति होती है ॥ ६० ॥

भावार्थ—पूर्वशरीर में जो वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक दस प्रकार की पुण्य तथा पापरूप प्रवृत्ति हुई थी उस रूप कर्म का जो धर्म तथा अधर्मरूप (अदृष्ट) फल होता है उसके आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण, उससे प्रेरणा किये पृथिव्यादि भूतों से दूसरे शरीर की उत्पत्ति होती है, स्वतन्त्र भूतपदार्थों से नहीं होती। जिस शरीर में नाना प्रकार के भोगों की लालसा से वारम्वार पुण्य तथा पापकर्मों को करता हुआ आत्मा उससे उत्पन्न धर्म तथा अधर्म के द्वारा पुनः-पुनः शरीर का ग्रहण करता है, इस कारण आत्मा के कर्मों की अपेक्षा करने वाले ही पृथिव्यादि भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध होता है ॥ ६० ॥

(सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार शरीर के उत्पत्ति होने के कारण का वर्णन करते हैं कि)—पूर्वजन्म के शरीर में जो वाचिक, मानसिक तथा शारीरिकरूप प्रवृत्ति हुई थी वही सूत्र में **पूर्वकृतकर्म** शब्द से सूत्रकार ने कही है। उस प्रवृत्ति से उत्पन्न जो धर्म तथा अधर्म, उसका आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहना ही सूत्र के **अनुबन्ध** शब्द का अर्थ है। उससे प्रेरणा किये हुए पृथिवी आदि भूतपदार्थों से शरीर उत्पन्न होता है न कि स्वतन्त्र (कर्म की अपेक्षा न करने वाले) भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति होती है। (अर्थात् पूर्वजन्म में किये कर्मों की अपेक्षा से ही शरीर के परमाणुओं से दूसरा शरीर उत्पन्न होता है।) (इसी विषय को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आत्मा का विशेष शरीर के साथ सम्बन्ध होता है, यह दिखाते हैं कि)—जिस शरीररूप आधार में यह आत्मा यह मैं हूँ ऐसा मानता हुआ और उसी में अभियोग आग्रह करता हुआ (सम्बद्ध होता हुआ) जिस शरीररूप आधार में अनेक प्रकार के सांसारिक सुखादि भोग करने की आशा से सुखादि साधनों को प्राप्तकर अपने किये कर्मों के धर्म तथा अधर्म को उत्पन्न कर उनसे अपने स्वरूप का संस्कार करता है, वह उसका शरीर कहाता है। (धर्म तथा अधर्मरूप तथा भूत सहित), उस संस्कार से इस शरीर के गिरने के पश्चात् आगे का शरीर तैयार होता है। इस उत्पन्न हुए दूसरे शरीर की भी प्रथम शरीर के समान इस आत्मा की सुख-दुःख भोगादि रूप पुरुषार्थ क्रिया होती है, तथा आत्मा की पूर्वशरीर के समान पुण्य-पापात्मक कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्ति होती है। यह उपरोक्त सम्पूर्ण प्रकार आत्मा के कर्म की अपेक्षा रखने वाले पृथिव्यादि भूतों से शरीर की रचना मानने से ही हो सकता है। (इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिस प्रकार रूप आदि भौतिक पदार्थ जो पुरुष आत्मा के रथ पर बैठकर घूमना आदि पुरुषार्थ के संपादक होते हैं। रथको बनाने

मानो धर्माधर्मौ संस्करोति तदस्य शरीरं तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहिते पतितेऽस्मिन् शरीरे उत्तरं निष्पद्यते, निष्पन्नस्य चास्य पूर्वशरीरवत्पुरुषार्थक्रिया, पुरुषस्य च पूर्वशरीरवत् प्रवृत्तिरिति कर्मापेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरसर्गे सत्येतदुपपद्यते इति। दृष्टा च पुरुषगुणेन प्रयत्नेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यः पुरुषार्थक्रियासमर्थानां द्रव्याणां रथप्रभृतीनामुत्पत्तिः तथाऽनुमातव्यं शरीरमपि पुरुषार्थक्रियासमर्थमुत्पद्यमानं पुरुषस्य गुणान्तरापेक्षेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यत इति ॥ ६० ॥

अत्र नास्तिक आह—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् ॥ ६१ ॥

वाले के प्रयास से प्रेरणा किये हुए काष्ठादिरूप भूतपदार्थों से बनते हैं न कि केवल काष्ठों के रहने से रथादि तैयार होते हैं, उसी प्रकार अनुमान करना चाहिये कि आत्मा के सुख-दुःखादि अनुभवरूप उपभोग का साधक यह शरीर भी किसी आत्मा के गुण से ही प्रेरणा किये भूत पृथिव्यादि (परमाणु) पदार्थों से ही तैयार होता है (जो आत्मा का गुण, धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट कहाता है) इस कारण शरीर, आत्मा के विशेष गुण से प्रेरणा किये पृथिव्यादि परमाणुरूप भूतपदार्थ से बना है, कार्य होकर आत्मा के भोग का साधक होने से, जो-जो आत्मा के भोग का साधक होता है वह-वह आत्मा के विशेषगुण से प्रेरित भूतपदार्थों से तैयार होता है, जैसे उपरोक्त रथ इत्यादि ऐसा यहाँ अनुमान का प्रयोग जान लेना चाहिये। (इस सूत्र के अवतरण में 'मनसः खलु' इस पद से यह सूचित किया है कि मन का आधार शरीर होने की परीक्षा यह शरीर की परीक्षा भी मन ही की परीक्षा है। और परिशुद्धिकार उदयनाचार्य ने इस प्रकरण का प्रयोजन-शरीर की, तथा संसार और मोक्ष की एवं मरण की व्यवस्था बतलाई है। शरीर तथा उसमें आत्मा के संपूर्ण पुरुषार्थों में अदृष्ट के निमित्त होने से ही वर्णाश्रम धर्म तथा उनके वर्णन करने वाले शास्त्र भी सार्थक हो सकते हैं, अन्यथा यह सब व्यर्थ हो जायंगे। जिससे यह सूचित होता है कि इस प्रकरण से पूर्व के सम्पूर्ण प्रकरण तथा अग्रिम चतुर्थाध्याय का उपकार होता है, क्योंकि शरीर ही कर्मों के अनुसार विचित्र भोगों को देता है, तथा बाह्येन्द्रियों के समान मन भी शरीर ही में रहता है, यह दोनों शरीर को आत्मा के अदृष्टानुसार उत्पत्ति मानने से ही हो सकता है। इसी कारण शरीर अदृष्ट से बनता है, इस प्रकरण के वर्णन की आवश्यकता होने के कारण ही शरीर की परीक्षा के पश्चात् इस प्रकरण का यहाँ प्रारम्भ किया गया है। ऐसी खद्योतकार ने यहाँ समालोचना की है और भाष्यकार ने जो नाना विद्वानों की इस विषय में विप्रतिपत्ति (विवाद) कहा है उसमें तीन प्रकार की निषेधकोटि सूचित होती है—(१) अदृष्ट के न होने से, (२) उसके शरीर में कारण न होने से तथा (३) अदृष्ट के आत्मा में सम्बद्ध न होने से। जिसमें सिद्धान्त को प्रारम्भ करते हुए इस 'पूर्वकृत' सूत्र में प्रथम विवादकोटि का (पक्ष का) खण्डन अदृष्ट सिद्ध कर किया है। क्योंकि सूत्रकार ने इस सूत्र से धर्माधर्मरूप अदृष्ट से प्रेरित ही भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध किया है। अवशिष्ट उपरोक्त दो विवादपक्षों का खण्डन आगे करेंगे ॥ ६० ॥

(इस पर पूर्वपक्षी के आक्षेप के आग्रिम सूत्र का प्रस्ताव करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यहाँ पर परलोक तथा धर्माधर्मरूप अदृष्ट को न मानने वाला नास्तिक ऐसा कहता है—

पदपदार्थ—भूतेभ्यः = कर्म की अपेक्षा न करने वाले पृथिवी आदि परमाणुओं से, मूर्त्युपा-

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वादुपादीयते इति ॥ ६१ ॥

न साध्यसमत्वात् ॥ ६२ ॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या तथा सिकताशर्करापाषाणगैरिका-

---

दानवत = मूर्त बालू आदि पदार्थों के उत्पत्ति के समान, तदुपादानम् = कर्मनिरपेक्षभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है ॥ ६१ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती ने जो शरीर आत्मा के अदृष्ट से उत्पन्न हुआ है, आत्मा के भोग का साधक होने के कारण ऐसा अनुमान किया था उस अनुमान के हेतु में व्यभिचार दोष दिखाने के लिये यह नास्तिक का सूत्र है कि जिस प्रकार आत्मा के अदृष्ट की आवश्यकता न करने वाले पृथिवी आदि परमाणुभूतों से पुरुषार्थ के सम्पादक सिकता (बालू, कंकड़, पत्थर) आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अदृष्ट की अपेक्षा न करने वाले भूतपरमाणुओं से ही शरीर की भी उत्पत्ति होती है, और वह आत्मा को शरीर में नाना प्रकार के भोगों को देता है, इस कारण शरीर अदृष्ट की अपेक्षा से ही भूतपरमाणुओं से बनती है यह कहना असंगत है ॥ ६१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार नास्तिक के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार आत्मा के कर्म की अपेक्षा न करने वाले पृथिवी आदि परमाणुरूप भूतों से बने हुए मूर्तिवाले सिकता, (बालू), शर्करा (कंकड़), पाषाण (पत्थर), गैरिका (गेरु), अंजन (काजल) इत्यादि पदार्थ आत्मा के सांसारिक व्यवहार में उपकारी होते हैं उसी प्रकार आत्मा के अदृष्ट की अपेक्षा न रखने वाले ही पृथिव्यादि परमाणुरूप भूतपदार्थों से उत्पन्न हुआ शरीर आत्मा के सुख-दुःखानुभवरूप भोग में उपकारी होने से ग्रहण किया जाता है, इस कारण शरीर अदृष्ट से उत्पन्न हुआ है यह सिद्धान्त सर्वथा असंगत है। अर्थात् लोकव्यवहार में प्राणी गृहादि निर्माण कराने के लिये ईंटा, बालू, सिलमिट इत्यादि मंगवाते हैं, वह बालू इत्यादि पदार्थ उस बनाने वाले के अदृष्ट की अपेक्षा करने वाले पार्थिव परमाणुओं से तैयार नहीं हुए हैं, इसी प्रकार आत्मा के सुखादि भोग का साधन अदृष्ट की अपेक्षा न करने वाले शरीर को भी आत्मा ग्रहण करेगा, इसलिये आत्मा के अदृष्ट की अपेक्षा न करने वाले ही भूत परमाणु आदिकों से शरीर भी उत्पन्न हो जायगा, इस कारण अदृष्ट से शरीर उत्पन्न होता है यह सिद्धान्ती का मानना व्यर्थ है ॥ ६१ ॥

उपरोक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए सूत्रकार सिद्धान्तिमत से कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, साध्यसमत्वात = साधन करने योग्य होने के कारण ॥ ६२ ॥

भावार्थ—उक्त पूर्वपक्षिसूत्र में जो आक्षेप किया था वह केवल दृष्टान्तया होने से साधक नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रकार शरीर को कर्म से उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध करने योग्य है। उसी प्रकार बालू, कंकड़, पत्थर आदि पदार्थों में भी कर्म के कारण उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती यह भी सिद्ध करने योग्य है। (अर्थात् बिना कर्म की अपेक्षा के पृथिव्यादि भूत परमाणुओं से शरीर उत्पन्न होते हैं, भोगसाधक होने के कारण, बालू आदिकों के समान ऐसा अनुमान पूर्वपक्षी को यहाँ अभिप्रेत है, उसमें हेतु (सद्धेतु) नहीं है, अर्थात् अभी तक हेतु असिद्ध होने के कारण दुष्टहेतु है) ॥ ६२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की सिद्धान्तिमत से व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार

ञ्जनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः साध्यसमत्वादसाधनमिति । भूतेभ्यो मूर्त्युत्पादनवदिति चानेन साध्यम् ॥ ६२ ॥

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६३ ॥

विषमश्चायमुपन्यासः । कस्मात् ? निर्बीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः । मातापितृशब्देन लोहितरेतसी बीजभूते गृह्येते तत्र सत्त्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाशये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीत्युपपन्नं बीजानुविधानमिति ॥ ६३ ॥

शरीर की उत्पत्ति आत्मा के पुण्य तथा पापरूप कर्म से उत्पन्न धर्माधर्मरूप अदृष्ट से नहीं होती यह सिद्ध करने योग्य है अर्थात् दोनों पक्षों का सहमत नहीं है उसी प्रकार बालू, कंकड़, पत्थर, गेरू, काजल इत्यादिकों में भी आत्मा का कर्म कारण नहीं है यह भी दोनों पक्षों के सहमत न होने के कारण असिद्ध ही है, इस कारण साधन योग्य होने से यह दृष्टान्त पूर्वपक्षी के मत का साधक नहीं हो सकता क्योंकि दोनों पक्षों को अभिमत ही दृष्टान्त होता है। (अर्थात् सिद्धान्ती के मत में बालू आदि पदार्थ भी आत्मा के कर्म से बनते हैं इस कारण यह दोनों पक्षों को अभिमत दृष्टान्त नहीं हो सकता अतः दोनों पक्षों को सहमत पूर्वोक्त रथादिक ही दृष्टान्त लेना पड़ेगा जिसमें आत्मा के गुणविशेष प्रयत्न कारण होता है यह दिखाई पड़ने से युक्त है, और बिना कर्म के सृष्टि किसी पदार्थ की होती है ऐसा कोई दृष्टान्त दोनों पक्षों को सहमत नहीं दिखाई पड़ता, अतः पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है) ॥ ६२ ॥

(इस प्रकार पूर्वपक्षी के दिये दृष्टान्त का असिद्ध होने के कारण, खण्डन करने के पश्चात् प्रस्तुत विषय में वह दृष्टान्त ही नहीं हो सकता इस आशय से अग्रिम सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—कर्मनिरपेक्ष भूतपदार्थों से बने हुए सिकता (बालू) आदि द्रव्यों के समान यह दृष्टान्त प्रस्तुत शरीर की सृष्टि के विषय में समानता नहीं रखता (ऐसा सूत्र के 'न' कार के साथ सम्बन्ध रखकर व्याख्या करना चाहिये)—

पदपदार्थ—न = नहीं, उत्पत्तिनिमित्त्वात् = शरीर के उत्पत्ति का कारण होने से, मातापित्रोः= माता और पिता के ॥ ६३ ॥

भावार्थ—सिकता आदि पदार्थ का दृष्टान्त प्रस्तुत शरीर की उत्पत्ति के विषय में विषम भी है क्योंकि सिकतादि पदार्थों की उत्पत्ति होने से माता-पिता का रक्त तथा वीर्य कारण नहीं होता और शरीर की उत्पत्ति होने में माता-पिता का वीर्य तथा रक्त कारण होते हैं। उसमें गर्भावस्था में अनुभव करने योग्य उस बालक की आत्मा का पूर्वजन्म का कर्म, तथा माता-पिता को पुत्र के सुख देनेवाले कर्म माता के उदर में बालक के आत्मा के शरीर की उत्पत्ति होने में कारण है, इस कारण शरीर की उत्पत्ति होने में उपरोक्त बीज भी कारण है नकि बालू आदि की उत्पत्ति होने में, इस कारण पूर्वपक्षी का दृष्टान्त प्रस्तुत विषय में असंगत है यह सिद्ध होता है। अर्थात् शरीर की उत्पत्ति में माता पिता भी कारण हैं, बालू आदि की उत्पत्ति में नहीं यह बड़ी भारी दोनों में विलक्षणता है ॥ ६३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यह बालू आदिकों की उत्पत्ति का दृष्टान्त प्रस्तुत शरीर की उत्पत्ति होने में विषम (विरुद्ध) भी है। (प्रश्न)—किस कारण ? (उत्तर)—यह सिकता, कंकड़, पत्थर इत्यादि मूर्तद्रव्य बिना बीज के उत्पन्न होते हैं,

तथाऽऽहारस्य ॥ ६४ ॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम्। भुक्तं पीतमाहारस्तस्य पक्तिनिर्वृत्तं रसद्रव्यं मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसमानपाकं, मात्रया चोपचयो बीजे यावद्व्यूहसमर्थः सञ्चय इति। सञ्चितं चार्बुदमांसपेशीकललकण्डरशिरःपाण्यादिना च व्यूहेनेन्द्रियाधिष्ठानभेदेन व्यूह्यते, व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमुपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति। न चायमन्नपानस्य स्थाल्यादिगतस्य कल्पत इति। एतस्मात्कारणात्कर्मनिमित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायते इति ॥ ६४ ॥

किन्तु शरीर की उत्पत्ति बीजपूर्वक ही होती है। इस सूत्र में माता-पिता इन दोनों शब्दों से उनके रक्त तथा वीर्य का ग्रहण होता है। (प्रस्तुत विषय में योजना करते हुए भाष्यकार शरीर की उत्पत्ति के प्रकार का वर्णन करते हुए उसमें आत्मा के कर्म की अपेक्षा को दिखाते हैं कि)— उस शरीर की उत्पत्ति में बालक की आत्मा का गर्भावस्था में अनुभव करने योग्य पूर्वजन्म में किया कर्म, और माता-पिता के पुत्रसुखरूप फल के अनुभव करने योग्य दोनों के कर्म भी माता के गर्भ में रहने वाले बालक आत्मा के दूसरे शरीर की उत्पत्ति होने में पृथिव्यादि परमाणुरूप भूतद्रव्यों के प्रयोजक (निमित्त) होते हैं, इस कारण शरीर की उत्पत्ति होने में माता-पितारूप बीज का अनुसरण हो सकता है। जो वालू इत्यादिक कोई वर्ग में नहीं होता, अतः पूर्वपक्षी का दृष्टान्त सर्वथा असंगत है। (अर्थात् उक्त प्रकार से यह सिद्ध होता है कि शरीर की उत्पत्ति में रक्त और वीर्यरूप बीज ही साक्षात् कारण है—और आत्मा का कर्म तो उस कारण का प्रयोजक होने से निमित्तमात्र है) ॥ ६३ ॥

(शरीर की उत्पत्ति होने में दूसरा कारण भी सूत्रकार सिद्धान्तिमत से दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—तथा = उसी प्रकार, आहारस्य = भोजन के ॥ ६४ ॥

भावार्थ—माता ने खाया-पीया हुआ अन्नादि पदार्थों का परिपाक होकर वह गर्भस्थान में रसादिकों को उत्पन्न करता हुआ गर्भ को पुष्ट करता हुआ अर्बुदमांस की पेशी (पोटली), आदि शरीर के अवयव हस्त-पादादिकों को न पार करता हुआ इन्द्रियों को भी बनाता हुआ गर्भ शरीररूप से बनता है। और गर्भ की नाड़ियों के द्वारा अन्नादिक भी उसमें जाकर उस गर्भ के शरीर को पुष्ट करता है, जब तक वह उदर के बाहर नहीं आता। यह सम्पूर्ण शरीर के उत्पत्ति का प्रकार थाली आदिकों में रक्खे हुए अन्न-जल से नहीं होता, इस कारण शरीर की उत्पत्ति कर्म-निमित्त होती है यह सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

(सिद्धान्तसूत्र के वाक्य को पूरा करते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—आहार के शरीर की उत्पत्ति होने में यह इस सूत्र में प्रकृत (प्रस्तुत) है। (अर्थात् आहार के शरीर की उत्पत्ति में कारण होने से यह सूत्रार्थ का स्वरूप है)। (आहार शब्द का अर्थ दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—खाया हुआ अन्न तथा पीया हुआ जल युक्त (भोजन किया हुआ) कहाता है, उस युक्त के परिपाक (पाचन होने) से रसवाले द्रव्य माता के शरीर में बढ़े हुए गर्भाशय में रहने वाले वीर्य तथा रक्तरूप बीज के अनुसार परिपक्व होते हैं, और उस बीज में तब तक उतनी मात्रा से वृद्धि होती है, जब तक उसका संचय (एकट्ठा होना) गर्भ में आये हुए बालक के शरीर को पूर्ण बनाने में वह समर्थ होता है। और वह संचित बढ़ता हुआ रसद्रव्य, अर्बुद (फुंसी)

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६५ ॥

न सर्वो दम्पत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते तत्रासति कर्मणि न भवति सति च भवतीत्यनुपपन्नो नियमाभाव इति, कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्तिहेतुषु नियमः स्यात् न ह्यत्र कारणाभाव इति ॥ ६५ ॥

मांस की पेशी (पुटली), कलल, कण्डर, सिर, हस्त इत्यादिकों की रचना, तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के स्थानों के भेद से शरीररूप अवयवी तैयार होता है। अर्थात् आहार के पचने से रसद्रव्य बनकर माता के शरीर में बढ़ता है जिससे उपरोक्त कलल आदि रूप से बढ़ता हुआ वह संतान का शरीर अपनी आत्मा के अदृष्ट की अपेक्षा रखने वाले पृथिव्यादि भूतपरमाणुओं से हस्त आदि अवयवों का रूप प्राप्त करता है। इसमें कललादि बच्चे के शरीर के उत्पन्न करने वाले मूलकारण माता-पिता का वीर्य तथा रक्त ये सब क्रम से परिणाम को प्राप्त होते हैं। (उपरोक्त संचय के पश्चात् होनेवाले अवस्था का वर्णन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उस व्यूह (गर्भशरीर) में गर्भ की नाडियों द्वारा उतरा हुआ रसद्रव्य उस समय तक वृद्धि को प्राप्त होता है, जिस समय तक उसका प्रसव नहीं होता। अर्थात् माता का भोजन का रस प्रसव होने तक उस भावी सन्तान के शरीर को पुष्ट करता जाता है। इस प्रक्रिया से प्रस्तुत में सन्तान का शरीर अदृष्ट से उत्पन्न होता है क्योंकि माता के शरीर के बाहर थाली, इत्यादिकों में आहार के पदार्थों को रखने पर ऐसा उपरोक्त प्रकार नहीं होता, इस कारण प्राणीमात्र माता-पिता के पाप-पुण्य से उत्पन्न हुआ बालक यह शरीर उसके अदृष्ट द्वारा ही रचा जाता है यह सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

('आहार सन्तान के शरीर को उत्पन्न करने में माता-पिता के अदृष्ट की अपेक्षा नहीं करता' ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो सूत्रकार इसमें बाध दिखाते हैं कि)—

पदपदार्थ—प्राप्तौ च = स्त्री-पुरुष के संयोग होने पर भी, अनियमात् = सन्तान के शरीर के उत्पन्न होने में नियमन होने के कारण ॥ ६५ ॥

भावार्थ—यदि सन्तान के शरीर की उत्पत्ति होने में केवल माता-पिता का संयोग (भोग) ही कारण हो तो सदा नियम से संयोग से सन्तान उत्पन्न होने लगेगी, किन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् नियमन है अतः अदृष्ट भी सन्तान की उत्पत्ति होने में कारण है यह सिद्ध होता है, इस कारण पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है ॥ ६५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—स्त्री-पुरुष के सम्पूर्ण संयोग गर्भाधान (गर्भ के स्थापन) में कारण होते हैं ऐसा देखने में नहीं आता। (संयोग की निष्फलता में हेतु दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—उसमें अदृष्ट के न रहने पर गर्भाधान नहीं होता, और रहने पर गर्भस्थापन होता है, इस कारण नियम का न होना संगत नहीं हो सकता। (अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोग के होने पर गर्भशरीर उत्पन्न होता है इस नियम के न होने में यही कारण है कि माता-पिता अथवा उस उत्पन्न होने वाले सन्तान का अदृष्ट नहीं होता तो सन्तान का शरीर उत्पन्न नहीं होता, और जब अदृष्ट होता है तो सन्तान होता है।) (यदि ऐसा न माना जाय तो अदृष्ट की अपेक्षा न होने के कारण स्त्री-पुरुष के केवल संयोग से उनके रक्त, तथा वीर्यरूप पार्थिव परमाणुओं से सन्तान के शरीर के उत्पन्न होने का नियम हो जायगा, क्योंकि उस सन्तान शरीर का कारण नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता।) अर्थात् अदृष्ट को न मानने वाले पूर्वपक्षी के मत में सन्तान शरीर के न होने में कारण नहीं बन सकता, और सिद्धान्ति-

अथापि—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ६६ ॥

यथा खल्विदं शरीरं धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां शुक्रान्तानां धातूनां च स्नायुत्वगस्थिशिरापेशीकललकण्डराणां च शिरोबाहूदराणां सक्थ्नां च कोष्ठगानां वातपित्तकफानां च मुखहृदयामाशयपक्वाशयाधःस्रोतसां च परम-दुःखसम्पादनीयेन कण्ठसन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षै-

---

मत में माता-पिता के संयोग के समान अदृष्ट का व्यापार भी अपेक्षित होने के कारण, उसके न रहने से कारण सामग्री के न होने से सन्तान उत्पन्न नहीं होता यह संगत हो सकता है ॥ ६५ ॥

('आत्माओं के व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण शरीरों के साथ सम्बन्ध होने से यह शरीर इसी आत्मा का है इसमें क्या नियामक है' ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो इसके उत्तर में सूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—और भी—

पदपदार्थ—शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् = शरीर की उत्पत्ति होने में कारण के समान, संयोगो-त्पत्तिनिमित्तं = शरीर विशेष के साथ सम्बन्ध होने का कारण है, कर्म = अदृष्ट ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रत्येक आत्मा के शरीर की उत्पत्ति होने में उन-उन आत्माओं का अदृष्ट कारण होता है, उसी प्रकार उन-उन आत्माओं का अपने-अपने शरीर के साथ संयोग-सम्बन्ध होने का भी अदृष्ट ही निमित्त कारण है। (कुछ विद्वानों ने इस प्रकार इस सूत्र की व्याख्या की है कि)—'प्रत्येक आत्मा के शरीर की उत्पत्ति होने में अदृष्ट निमित्त है, किन्तु माता-पिता के संयोग होने में क्या निमित्त है' इस शंका के समाधान में यह 'शरीरोत्पत्ति' इत्यादि सूत्र सिद्धान्तिमत से सूत्रकार ने किया है—जिसका जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति होने में अदृष्ट कारण है उसी प्रकार माता-पिता का संयोग होने में भी अदृष्ट ही निमित्त है ऐसा सूत्र का उनके मत से अर्थ है ॥ ६६ ॥

(सूत्र के अर्थ की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस प्रकार यह पार्थिवादि शरीर धातु तथा प्राणवायु को ढोनेवाली नाड़ियाँ तथा शुक्र पर्यन्त धातुओं के एवं, स्नायु (चरबी), त्वचा, अस्थि (हड्डी), शिराएं, पेशी (मांस की पुटली), कलल, कण्डर, इनके एवं शिर, भुज, उदर (पेट), सक्थों के, तथा उदर में वर्तमान वात, पित्त और कफ इन तीनों के, एवं शरीर में वर्तमान कण्ठ, हृदय (वक्षःस्थल), और आमाशय (कच्चे आहार के स्थान), पक्वाशय (परिपक्व आहार के स्थान), एवं अधःस्रोत (नीचे के भाग में आहार ले जानेवाले स्रोतों (स्थानों) के भी अत्यन्त कष्ट से सम्पादन (बनाने) योग्य, सन्निवेश (रचनाविशेष) से व्यूहन (शरीर की रचना), अदृष्ट की अपेक्षा न करने वाले पृथिव्यादि परमाणुरूप भूतपदार्थों से ऐसा विचित्र गर्भ शरीर की रचना होना असंभव है, इस कारण अदृष्ट के बल से ही पृथिव्यादि भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति होती है यह जाना जाता है। अर्थात् गर्भस्थ सन्तान के शरीररूप कार्य अत्यन्त सूक्ष्म अवयवों से उत्पन्न होने के कारण वह केवल जडभूतपदार्थों से बना है, यह नहीं हो सकता, जो इन अनन्त पृथिव्यादि परमाणु आदि अवयवों का उस गर्भ के शरीर में एकत्र होना अत्यन्त कष्ट से हो सकता है, केवल कष्ट से ही सिद्ध होता है इतना ही नहीं किन्तु केवल पृथिव्यादि स्थूल भूतपदार्थों के व्यापार से हो भी नहीं सकता, अतः अदृष्टरूप की दूसरे कारण के भी शरीर की उत्पत्ति में अपेक्षा है, यह सिद्ध होता है। अर्थात् आत्मा के अदृष्ट की प्रेरणा से ही पृथिव्यादि भूतपदार्थ शरीर को बनाते हैं।

रुत्पादयितुमिति कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति विज्ञायते। एवं च प्रत्यात्मनियतस्य निमित्तस्याभावान्निरतिशयैरात्मभिः सम्बन्धात्सर्वात्मनां च समानः पृथिव्यादिभिरुत्पादितं शरीरं पृथिव्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्वात्मनां सुखदुःखसंवित्त्यायतनं समानं प्राप्तम्। यत्तु प्रत्यात्म व्यवतिष्ठते तत्र शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म व्यवस्थाहेतुरिति विज्ञायते। परिपच्यमानो हि प्रत्यात्मनियतः कर्माशयो यस्मिन्नात्मनि वर्तते तस्यैवोपभोगायतनं शरीरमुत्पाद्य व्यवस्थापयति। तदेवं '*शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगनिमित्तं कर्मे*'ति विज्ञायते। प्रत्यात्मव्यवस्थानं तु शरीरस्यात्मना संयोगं प्रचक्ष्महे इति॥ ६६॥

(इस प्रकार उपरोक्त सिद्धान्त का अनुवाद करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के दिये दोष का अनुवाद करते हैं कि)—ऐसा होने से ही—'प्रत्येक व्यापक आत्मा में नियत (स्थित) निमित्त कारण के न होने के कारण निरतिशय (विशेषता से रहित) सम्पूर्ण आत्माओं के साथ सम्पूर्ण शरीरों का सम्बन्ध होने के कारण सम्पूर्ण आत्माओं के लिये समान पृथिव्यादि भूतपदार्थों से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण शरीर, उन कारणरूप पृथिवी आदिकों में भी यह इसी आत्मा के हैं दूसरे के नहीं इस नियम में कोई कारण न होने से संसार के सम्पूर्ण आत्माओं के सुख तथा दुःख के अनुभवरूप भोग के साधारण स्थान हैं ऐसा मानना होगा' यह पूर्वपक्षी के मत से प्राप्त होता है। अर्थात् उपरोक्त प्रकार से कोई नियामक न होने के कारण एक ही शरीर सम्पूर्ण संसारी जीवों के उपभोग का आधार है, ऐसा पूर्वपक्षी के मत से अदृष्ट की अपेक्षा न करने पर प्राप्त होता है। (इस प्रकार पूर्वपक्षी के आक्षेप का अनुवाद कर उसके खण्डन को दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—और जो प्रत्येक आत्मा के साथ एक ही शरीर का सम्बन्ध है ऐसी व्यवस्था देखने में आती है, इस व्यवस्था में शरीर की उत्पत्ति होने में उन-उन आत्माओं का अदृष्ट ही कारण है यह जाना जाता है। क्योंकि सुखादुःखानुभवरूप फल देनेवाला प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न नियम से स्थित कर्माशय (कर्मसमूह) जिस-जिस आत्मा में जैसा-जैसा रहता है उसी-उसी आत्मा के भोग के स्थान भिन्न-भिन्न शरीर को उत्पन्न कर व्यवस्था कराता है। अर्थात् जिस-जिस प्रकार का भोग जिस जन्म में आत्मा को पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार होता है, उस जन्म में उसके भोग के अनुसार उसके उत्पन्न शरीर से ही उसका सम्बन्ध होता है न कि दूसरे शरीर से, इस व्यवस्था में अदृष्ट ही कारण है, न कि केवल भूतपदार्थों से शरीर का बनना। (सिद्धान्त का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—ऐसा होने से जाना जाता है कि शरीर के उत्पत्ति के समान संयोग की उत्पत्ति में भी पूर्वजन्म में किये पुण्य-पापरूप कर्म से उत्पन्न धर्माधर्मरूप अदृष्ट ही कारण है। आत्मा का शरीर के साथ संयोगसम्बन्ध को हम प्रत्येक आत्मा के उपरोक्त व्यवस्था का कारण कहते हैं। अर्थात् सूत्र के संयोग पद का अर्थ यही है कि प्रत्येक आत्मा का अपने-अपने शरीर के साथ सम्बन्ध के होने का नियम है, अतः (अदृष्ट के संयोग में भी कारण होने से) पूर्वपक्षिमत का दोष नहीं हो सकता॥ ६६॥

(इस प्रकार शरीर की रचना आत्मा के अदृष्टरूप गुण के कारण होती है, यह दिखाकर, सांख्यवादियों का मत खण्डन करने के लिये सूत्रकार सिद्धान्तमत से आगे सूत्र करते हैं कि सांख्यदर्शनवादी जो ऐसा कहते हैं कि)—'यह उपरोक्त शरीर की रचना आत्मा के अदृष्ट के कारण नहीं होती किन्तु प्रकृति, महत्तत्त्व आदिकों से होती है, क्योंकि सत्त्व, रज तथा तमोगुणरूप

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥ ६७ ॥

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे सत्यनियम इत्युच्यते, अयं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेनानियमः प्रत्युक्तः। कस्तावदयं नियमः? यथैकस्यात्मनः शरीरं तथा सर्वेषामिति नियमः। *अन्यस्यान्यथाऽन्यस्यान्यथेत्यनियमो भेदो* व्यावृत्तिर्विशेष इति। दृष्टा च जन्मव्यावृत्तिरुच्चाभिजनो निकृष्टाभिजन इति, प्रशस्तं निन्दितमिति, व्याधिबहुलमरोगमिति, समग्रं विकलमिति, पीडाबहुलं सुखबहुलमिति, पुरुषातिशयलक्षणोपपन्नं विपरीतमिति, प्रशस्तलक्षणं निन्दितलक्षणमिति, पटिवन्द्रियं मृद्विन्द्रियमिति। सूक्ष्मश्च

प्रकृति स्वयं ही धर्म तथा अधर्मरूप निमित्तकारण की अपेक्षा न कर अपने विकार (कार्य) को उत्पन्न करती है, केवल प्रतिबन्ध के निवारण के लिये उसको धर्माधर्म की आवश्यकता होती है' जिसका ऐसा उत्तर है कि—

पदपदार्थ—एतेन = कर्म के अपेक्षा से ही भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति होती है इस कथन से, अनियमः = नियम न होना, प्रत्युक्तः = खण्डित हुआ ॥ ६७ ॥

भावार्थ—सिद्धान्तिमत से जो आत्मा के अदृष्ट की अपेक्षा से हो शरीर की रचना होती है ऐसा सिद्धान्त किया है, उससे प्रत्येक आत्मा का शरीर भिन्न-भिन्न है, किसी आत्मा का कोई ही शरीर होता है, किसी का दूसरा ही ऐसा अनियम, व्यतिरेक के द्वारा सांख्यमत में नहीं हो सकता, यह सूत्रकार ने इस सूत्र में दिखाया है। (यही सूत्र की व्याख्या भाष्य, वार्तिक तथा तात्पर्यटीकाकार को अभिमत है। किन्तु कुछ विद्वान् (एतेन) 'शरीर की उत्पत्ति के आत्मा के अदृष्ट से होने के कारण, (अनियम) ऐसा सम्पूर्ण आत्माओं के सम्पूर्ण शरीर हो सकते हैं, सांख्य ने दिखाया हुआ खण्डित हो जाता है' ऐसी व्याख्या इस सूत्र की करते हैं ॥ ६७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तिमत से सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जो यह कर्म को शरीर की रचना में कारण न मानने के मत में किसी आत्मा का दूसरे प्रकार का शरीर होता है, किसी का उससे विलक्षण इस नियम का न होना अनियम कहा जाता है। किन्तु इस अनियम का—शरीर की उत्पत्ति होने में आत्मा का अदृष्ट जिस प्रकार कारण है, उसी प्रकार शरीर का सम्बन्ध होने में भी आत्मा का अदृष्ट कारण है ऐसा मानने से खण्डित हो जाता है। (प्रश्न)—यह नियम क्या है ? (उत्तर)—जिस प्रकार एक आत्मा का शरीर होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण आत्माओं का यह नियम है। और दूसरे भिन्न आत्मा का शरीर दूसरे प्रकार का होता है, तथा उससे भिन्न दूसरे आत्मा का शरीर दूसरे प्रकार का होता है यह अनियम है अर्थात् भेद है, अथवा व्यावृत्ति (अलग होना) है, अथवा यह सम्पूर्ण आत्माओं के शरीरों में विशेषता है। (यह प्रत्येक आत्मा के शरीर का भेद संपूर्ण प्राणीमात्र के अनुभव से सिद्ध है यह दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रत्येक आत्मा के शरीर में जन्म से विशेष होता है क्योंकि कोई आत्मा अपने कर्म के अनुसार उत्तम कुल में और कोई निकृष्ट (नीच) कुल में उत्पन्न होता है (यह एक विशेषता है)। तथा किसी आत्मा का वंश प्रशंसा करने योग्य एवं किसी का निन्दा करने योग्य होता है (यह दूसरी विशेषता है) एवं किसी आत्मा का शरीर रोगी तथा किसी का आरोग्य (रोगरहित) होता है (यह तीसरी विशेषता है) तथा किसी का शरीर पूर्ण हस्तपादादि अवयवों से युक्त, और किसी का विकल (कुछ कम अंग वाला) होता है (यह भी

भेदोऽपरिमेयः, सोऽयं जन्मभेदः प्रत्यात्मनियतात्कर्मभेदादुपपद्यते, असति कर्मभेदे प्रत्यात्मनियते निरतिशयित्वादात्मनां समानत्वाच्च पृथिव्यादीनां पृथिव्यादिगतस्य नियमहेतोरभावात्सर्वं प्रसज्येत, न त्विदमित्थम्भूतं जन्म, तस्मान्नाकर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः। कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणात्मनो वियोग उपपन्नः। कस्मात्? *कर्मक्षयोपपत्तेः।* उपपद्यते खलु कर्मक्षयः सम्यग्दर्शनात् प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतु कर्म कायवाङ्मनोभिर्न करोति इत्युत्तरस्यानुपचयः पूर्वोपचितस्य विपाकप्रतिसंवेदनात्प्रक्षयः। एवं प्रसवहेतो-

---

तीसरी ही विशेषता है) तथा किसी आत्मा का शरीर सुखी तथा किसी का दुःखी होता है (यह चतुर्थ विशेषता है) और किसी के शरीर में तत्पुरुष के अच्छे लक्षण होते हैं और किसी के शरीर में बुरे लक्षण होते हैं (यह पांचवीं विशेषता है) एक शरीर अच्छे लक्षण वाला तथा दूसरा शरीर बुरे लक्षण वाला होता है (यह छठवीं शरीर में विशेषता होती है) तथा किसी शरीर में संपूर्ण इन्द्रिय के विषयों का ग्रहण करने में पटुता (सामर्थ्य) तथा किसी में असामर्थ्य इन्द्रियों का होता है (यह सातवीं शरीर में विशेषता है) इसी प्रकार प्राणिमात्र को दिखाने वाले स्थूल विशेषों के समान शरीर में सूक्ष्म (साधारणरूप से न दिखाई पड़ने वाले) भी बहुत से भेद होते हैं जिनकी गणना नहीं हो सकती। वह इस प्रकार से जन्म का भेद प्रत्येक आत्मा के अपने-अपने नियत कर्मों के भेदों के विना नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार प्राणियों का भिन्न-भिन्न कर्म न माना जाय, तो आत्माओं में कोई अतिशय (विशेष) न होने के कारण, तथा पृथिवी आदि शरीर को उत्पन्न करने वाले भूतपदार्थों के संपूर्ण आत्माओं के लिये समान होने के कारण भी और शरीर को उत्पन्न करने वाले पृथिवी आदि भूतपदार्थों में कोई नियम का कारण न होने से संपूर्ण संसार के शरीर संसार के संपूर्ण प्राणियों की आत्माओं के हैं यह दोष आ जायगा। किन्तु प्राणियों का जन्म ऐसा नहीं है, इस कारण विना आत्मा के कर्मों के कारण माने बिना शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (आगे शरीर की उत्पत्ति आत्मा के अदृष्ट से होती है, इस विषय में दूसरा कारण दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उन जन्म के कारण कर्मों का नाश होने से शरीर का वियोगरूप मरण भी हो सकता है, क्योंकि आत्मा के कर्म के अनुसार उसके शरीर में उत्पत्ति होने के कारण ही उस शरीर के साथ आत्मा का वियोग (बिछुड़ना) हो सकता है। (प्रश्न)—क्यों? किस कारण? (उत्तर)—उस शरीर के कारणरूप कर्मों का क्षय होने के कारण। क्योंकि उन कर्मों का नाश हो सकता है। कारण यह कि शास्त्र के अध्ययन से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान न्यायशास्त्र में कहे हुए प्रमाणादि षोडश पदार्थों के (वास्तविक ज्ञान) से मोह (मिथ्या ज्ञान) के नष्ट होने पर विषयों में दोषदर्शन होने के कारण वीतराग (सांसारिक विषयों में विरक्त) होने के कारण ज्ञानी पुरुष पुनः संसार में जन्म होने के कारण पुण्य तथा पापरूप कर्मों को शरीर, वाणी तथा मन से नहीं करता, इस कारण आगे शरीरों की वृद्धि नहीं होती और पूर्व में संचित किये पुण्य तथा पापकर्मों के सुख, तथा दुःखरूप फल भोग का प्रारब्ध शरीर में भुगत जाने के कारण संचित कर्मों का नाश हो जाता है। इस प्रकार पुनः (प्रसव) जन्म होने का कारण न रहने से वर्तमान प्रारब्ध इस शरीर के गिरने

रभावात् पतितेऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेरप्रतिसन्धिः। अकर्मनिमित्ते तु शरीरसर्गे भूतक्षयानुपपत्तेस्तद्वियोगानुपपत्तिरिति ॥ ६७ ॥

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ६८ ॥

अदर्शनं खल्वदृष्टमित्युच्यते अदृष्टकारिता भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिः। न जात्वनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरायतनो दृश्यं पश्यति, तच्चास्य दृश्यं द्विविधं विषयश्च

(मरने) पर पुनः दूसरे शरीरों का आगे सम्बन्ध न होने के कारण अप्रतिसंधी (बंधन का अभाव) हो जाता है। अर्थात् संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है। यदि पूर्वपक्षी के मत से बिना कर्म के ही शरीर की रचना मानी जाय तो शरीर के कारण पृथिव्यादि भूतपदार्थों का नाश न होने के कारण शरीर का वियोग (बिछुड़ना) नहीं हो सकेगा। अर्थात् सांख्यमत से आत्मा के अदृष्ट की आवश्यकता न रखने वाली, सत्व, रज तथा तमगुणरूप जड़ प्रकृति से ही शरीर की रचना मानने पर उस प्रकृति के नष्ट न होने के कारण शरीर के बंधन से मोक्ष न हो सकेगा यह सिद्धान्ती का आशय है ॥ ६७ ॥

(इस प्रकार सांख्यमत का खंडन करने पर भी पुनः सांख्यमत से पूर्वपक्ष को दिखाते हुए सूत्रकार एक ही सूत्र में सांख्य से दिखलाये हुए शरीर के वियोग की होने की युक्ति को दिखाकर उसका खण्डन सिद्धान्तिमत से इस प्रकार करते हैं)—

पदपदार्थ—तत् = वह (शरीर), अदृष्टकारितं = अदर्शन (न दिखाई पड़ने) के कारण होता है, इति चेत् = ऐसा कहोगे, पुनः = फिर, तत्प्रसंगः = उस शरीर प्राप्ति की आपत्ति आ जायगी, अपवर्गे = मोक्षावस्था में ॥ ६८ ॥

भावार्थ—सूत्र में अदृष्ट शब्द का अदर्शन ऐसा अर्थ कर, जो उपभोग के योग्य शब्दादि विषय तथा प्रकृति और पुरुष का परस्पर भेद का ज्ञान, सांख्यमत से लिया है, उन्हीं दोनों अदर्शन से ही शरीर का आत्मा को वियोग होता है ऐसा यदि पूर्वपक्षी सांख्यमत से कहे तो, इस दो प्रकार के अदर्शन के मोक्ष अवस्था में भी रहने के कारण पुनः शरीर का ग्रहण आत्मा में करना पड़ेगा, यह सांख्यमत में आपत्ति आ जायगी, अतः अदर्शन के कारण शरीर का वियोग होता है ऐसा सांख्यमत संगत नहीं है ॥ ६८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार दोनों पक्ष से सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रथम सांख्यमत दिखाते हैं कि)—इस सूत्र में अदृष्ट शब्द का अर्थ है अदर्शन (न दिखाई पड़ना)। इस अदर्शन के कारण ही पृथिव्यादि भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति होती है, और जबतक शरीर की उत्पत्ति नहीं होती तबतक बिना आधार के दिखाई पड़ने वाला आत्मा दिखाई पड़ने वाले पदार्थों को देख नहीं सकता और वह इस आत्मा के दृश्य (दिखाई देने वाले पदार्थ) दो प्रकार के हैं—एक शब्दादियों के उपभोगरूप विषय, तथा व्यक्त (जगत् कार्य) अव्यक्त (प्रकृति) तथा आत्मा का भेद उसी के लिये शरीर की रचना होती है अर्थात् अदृष्ट से शरीर की उत्पत्ति होती है इसका यही अर्थ है। (इस कथन का प्रस्तुत शरीर के वियोग विषय में क्या सम्बन्ध है इस आशय से भाष्यकार सांख्यमत से आगे कहते हैं कि)—उसे शब्दादि विषयों का भोग, एवं काल, अव्यक्त तथा आत्मा का सांख्यशास्त्रोक्त रीति से यथार्थ ज्ञान के होनेपर शरीर को उत्पन्न करने वाले भूतपदार्थों का प्रयोजन हो जाने के कारण पुनः वे शरीर को उत्पन्न नहीं करते इस कारण शरीर का वियोग हो सकता है, अतः ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है कि–'द्रष्टा (देखो), मया (मैंने), कहा

नानात्वं चाव्यक्तात्मनोस्तदर्थः शरीरसर्गः, तस्मिन्नवसिते चरितार्थानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्तीत्युपपन्नः शरीरवियोग इति, *एवं चेन्मन्यसे ? पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे।* पुनः शरीरोत्पत्तिः प्रसज्यते इति। या चानुत्पन्ने शरीरे दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनाभिमता या चापवर्गे शरीरनिवृत्तौ दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनभूता नैतयोरदर्शनयोः क चिद्विशेष इत्यदर्शनस्यानिवृत्तेरपवर्गे पुनः शरीरोत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

चरितार्थता विशेष इति चेत् ?

न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्। चरितार्थानि भूतानि दर्शनावसानान्न शरीरान्तरमारभन्ते इत्ययं विशेष एवं चेदुच्यते ? न, *करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्।* चरितार्थानां भूतानां विषयोपलब्धिकरणात्पुनः पुनः शरीरारम्भो दृश्यते प्रकृतिपुरुषयोर्नानात्वदर्शनस्याकरणान्निरर्थकः पुनः पुनर्दृश्यते।

इति (ऐसा समझकर), उपेक्षकः (उपेक्षा करता है), एकः (एक आत्मा), द्रष्टा (देखी गई), अहं (मैं), इति (ऐसा समझकर), उपरमति (हट जाती है), अन्या (दूसरी प्रकृति), सति (होने पर), संयोगे (सम्बन्ध के), भी = उन प्रकृति तथा आत्मा का) अपर भा प्रयोजनं (फल) न अस्ति (नहीं है), सर्गस्य (सृष्टी का) अर्थात् शरीर वियोग का यही अर्थ है (इस प्रकार सांख्यमत दिखाकर उसका खण्डन भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—यदि आप ऐसा मानते हैं, तो पुनः अपवर्ग (मोक्ष) में शरीरग्रहण होने की आपत्ति आवेगी अर्थात् पुनः शरीर के उत्पत्ति की आपत्ति आवेगी। क्योंकि शरीर के उत्पन्न न होने पर अदर्शन शब्द से कहा हुआ उपरोक्त दोनों दर्शनों का न होना है—तथा मुक्ति की अवस्थायें भी शरीर के वियोग होने पर भी उक्त दोनों (भोग तथा तत्वज्ञान) प्रकार में दर्शनों का उत्पन्न न होना है—इन दोनों अदर्शनों में कोई विशेषता नहीं है, इस कारण आदर्शन के निवृत्ति न होने के कारण मोक्षावस्था में पुनः शरीर की आत्मा को ग्रहण करने का दोष आ जायगा इस कारण अदर्शनरूप अदृष्ट को शरीर की उत्पत्ति में कारण मानना सांख्य का असंगत है। (शरीर की उत्पत्ति होने के पूर्व में वर्तमान तथा मोक्षावस्था में वर्तमान उक्त दोनों प्रकार के अदर्शनों में महान भेद है, इस कारण अपवर्ग होने के पश्चात् शरीर के उत्पन्न होने की आपत्ति नहीं आ सकती इस आशय से भाष्यकार सांख्यपक्ष से दोनों अदर्शनों के भेद को प्रगट कर उसका खण्डन करते हैं कि)—'चरितार्थता (सार्थक हो जाना) विशेष मोक्षावस्था के अदर्शन में भेद है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो, करण तथा अकरण दोनों में आरंभ दिखाई पड़ने के कारण ऐसा नहीं हो सकता। (पूर्वपक्ष का आशय स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पृथिवी आदि भूतपदार्थों की भोग तथा ज्ञान दोनों रूप प्रयोजन हो जाने के कारण पुनः मोक्ष हो जाने पर दूसरे शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। यह मोक्षावस्था तथा सृष्टि की पूर्वावस्था में शरीरोत्पत्ति होने में विशेषता है अतः सिद्धान्ती का दिया दोष नहीं हो सकता कि मोक्ष के पश्चात् भी शरीर की उत्पत्ति होने लगेगी। (इस प्रकार पूर्वपक्षी के दोनों आदर्शनों का भेद दिखाकर उसके खण्डन का आशय प्रगट करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यद्यपि एकबार विषयों के भोग कर लेने के कारण

तस्मादकर्मनिमित्तायां भूतसृष्टौ न दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिर्युक्ता, युक्ता तु कर्मनिमित्ते सर्गे दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिः । कर्मविपाकसंवेदनं दर्शनमिति ।

तददृष्टकारितमिति चेत् ? कस्य चिद्दर्शनमदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुस्तेन प्रेरिताः परमाणवः सम्मूर्च्छिताः शरीरमुत्पादयन्तीति तत्र मनः समाविशति स्वगुणेनादृष्टेन प्रेरितं समनस्के शरीरे द्रष्टुरुपलब्धिर्भवतीति ।

एतस्मिन् वै दर्शने *गुणानुच्छेदात्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ।* अपवर्गे शरीरोत्पत्तिः परमाणुगुणस्यादृष्टस्यानुच्छेद्यत्वादिति ॥ ६८ ॥

कृतार्थ हुए भूतपदार्थों से पुनः शरीर की उत्पत्ति होती है, ऐसा देखने में आता है तथापि प्रकृति तथा आत्मा के भेदज्ञान के अर्थात् तत्वज्ञान के न होने से कृतार्थ न हुए भी भूतपदार्थों से निरर्थक दूसरे-दूसरे शरीरों की उत्पत्ति भी बार-बार देखने में आती है इस कारण भूतपदार्थों की रचना बिना कर्म के मानने के पक्ष में शरीर की उत्पत्ति दर्शन के लिये होती है यह संगत नहीं हो सकता। किन्तु आत्मा के अदृष्टानुसार शरीर की उत्पत्ति होती है इस सिद्धान्तिमत से शरीर की उत्पत्ति उपरोक्त दोनों प्रकार के भोग एवं तत्वज्ञानरूप दर्शन के लिये संगत हो सकती है। क्योंकि इस सिद्धान्तिमत में प्रत्येक आत्मा का अदृष्ट भिन्न-भिन्न होने के कारण किसी ही आत्मा को किस ही समय दोनों प्रकार का कर्मफलरूप दर्शन (संवेदन) हो सकता है जो विषयों का भोग तथा मोक्ष का कारण पूर्वोक्त व्यक्त, अव्यक्त तथा आत्मा का ज्ञान ऐसा दो प्रकार का है, और यह कर्मों के फल से ही होता है अर्थात् सांख्यमत से प्रकृति से शरीर की उत्पत्ति होने के दो फल हैं, एक विषयों का भोग और दूसरा व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञान (आत्मा का ज्ञान)। उसमें जो युक्त नहीं हैं ऐसे आत्माओं ने यद्यपि विषयभोग बहुत किया है इस कारण उनके शरीर के उत्पादक भूतपदार्थ कृतार्थ हैं, तथापि दूसरा तत्वज्ञान न होने के कारण कृतार्थ न होने वाले भी भूतों से पुनः दूसरे शरीरों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अनेक शरीर लेते लेते कदाचित् ही मोक्ष होता है। अतः प्रथम शरीर में ही विषयभोग हो जाने के कारण आगे के दूसरे शरीर में भी अनंत शरीर लेकर विवेकज्ञानपूर्वक मोक्ष होने के कालतक केवल भोग ही के करने से बीच के संपूर्ण शरीरों की उत्पत्ति सांख्यमत में व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि दूसरे या तीसरे शरीर में विवेकज्ञान ही होगा यह नियम नहीं है। अतः दूसरे आदि शरीरों की रचना वृथा माननी पड़ेगी। (जैनमत के खण्डन को इस सूत्र से दिखाते हुए भाष्यकार जैनियों का मत दिखाते हैं कि)—'वह शरीर अदृष्ट से उत्पन्न किया जाता है' ऐसा कहो, अर्थात् किसी जैनमतावलम्बी का ऐसा मत हो—'परमाणुओं का उनमें क्रिया होने का कारण एक विशेष गुण है जो अदृष्ट कहाता है। उससे प्रेरणा किये हुए पृथिव्यादि परमाणु परस्पर संयुक्त होकर शरीर को उत्पन्न करते हैं—और मन अपने गुण से (अदृष्ट से) प्रेरित होकर शरीर में प्रवेश करता है और मनसहित शरीर में आत्मा को उपलब्धि सुख तथा दुःख न भोग होता है' 'ऐसा जैनमत दिखाकर उसका खण्डन करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इस जैनदर्शन में परमाणुओं के नित्य अदृष्टरूप गुण का नाश न होने के कारण पुनः मोक्षावस्था के पश्चात् भी उसके विद्यमान होने से शरीर की उत्पत्ति होने लगेगी। अतः जैन मत से भी यह सूत्र संगत नहीं हो सकता ॥ ६८ ॥

(जैनमत से दूसरा दोष दिखाते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं कि)—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ६९ ॥

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगव्युच्छेदो न स्यात्, तत्र किंकृतं शरीरादपसर्पणं मनस इति ? कर्माशयक्षये तु कर्माशयान्तराद्विपच्यमानादपसर्पणोपपत्तिरिति । *अदृष्टादेवापसर्पणमिति चेत् ?* योऽदृष्टः शरीरोपसर्पणहेतुः स एवापसर्पणहेतुरपीति । न, *एकस्य जीवनप्रायणहेतुत्वानुपपत्तेः ।* एवं च सति एकमदृष्टं जीवनप्रायणयोर्हेतुरिति प्राप्तं, नैतदुपपद्यते ॥ ६९ ॥

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७० ॥

पदपदार्थ—मनःकर्मनिमित्तत्वात् च = और मन के अदृष्ट के कारण होने से भी, संयोगानुच्छेदः = शरीर सम्बन्ध का आत्मा (पुद्गल) को वियोग न होगा ॥ ६९ ॥

भावार्थ—यदि पुद्गल आत्मा को मन के अदृष्ट के कारण शरीर होता तो मन का शरीर के सम्बन्ध से नाश ही न होगा, जिससे मरण न होगा, यह आपत्ति आ जायगी । अदृष्ट मन का गुण ही नहीं हो सकता ऐसी वृत्तिकार ने इस सूत्र की व्याख्या की है ॥ ६९ ॥

(सिद्धान्तमत से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—मन के अदृष्ट नामक गुण से मन का समावेश होने के कारण शरीर के सम्बन्ध का उच्छेद (नाश) न होगा । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—उस जैनमत में शरीर से मन का अपसर्पण (निकलना) किस कारण से होगा । सिद्धान्ती के मत में तो वर्तमान शरीर के उत्पन्न करने वाले कर्माशय का नाश होने पर आगे के शरीर को उत्पन्न करने वाले दूसरे कर्माशय के फलरूप से मन पूर्व शरीर से निकल सकेगा, इस कारण सिद्धान्ति के मत से मरण हो सकेगा । यदि 'जिस अदृष्ट से मत का शरीर में समावेश (प्रवेश) हुआ था उसी अदृष्ट से शरीर से निकलने के कारण पूर्वपक्षिमत से भी मरण हो सकता है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो अर्थात् जो अदृष्ट मन के शरीर में जाने का कारण है वही शरीर से निकलने का भी भरण है, 'जिससे मरण हो सकेगा' ऐसा कहे तो वह नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही अदृष्ट प्राणियों के जीवन तथा मरण का कारण होना असंगत है । अर्थात् ऐसा मानने से एक ही अदृष्ट जीवन तथा मरण दोनों का कारण है ऐसा पूर्वपक्षी के मत से आता है, किन्तु यह एक ही अदृष्ट से जीवन तथा मरण दोनों मानना सर्वथा असंगत है ॥ ६९ ॥

(यदि पूर्वसूत्र में कहा हुआ शरीर सम्बन्ध का नाश होना सिद्धान्ती ने दिखाया था वह अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि जो सत् तथा करणरहित देखने में आता है वही नित्य देखा जाता है—शरीर तो सत होने पर भी करण वाला है, तो वह नित्य कैसे हो सकता है ऐसे पूर्वपक्षी के आक्षेप का सूत्रकार सिद्धान्तमत से समाधान करते हैं कि)—

पदपदार्थ—नित्यत्वप्रसङ्गः च=और शरीर में नित्यता की भी आपत्ति होगी, प्रायणानुपपत्तेः= मरण के न हो सकने से ॥ ७० ॥

भावार्थ—सुख तथा दुःखभोगरूप फल के अनुभव से कर्माशय का नाश होने पर शरीर के नष्ट होने को मरण तथा दूसरे कर्माशयों से पुनः शरीर के सम्बन्ध को जन्म कहते हैं, अतः यदि अदृष्ट की अपेक्षा न करने वाले भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति मानी जाय तो किसके नाश से मरण होगा, जिससे शरीर नित्य हो जायगा यह दोष आयेगा ॥ ७० ॥

विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः प्रायणम्, कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म। भूतमात्रात्तु कर्मनिरपेक्षाच्छरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयाच्छरीरपातः प्रायणमिति प्रायणानुपपत्तेः खलु वै नित्यत्वप्रसङ्गं विद्मः यादृच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदानुपपत्तिरिति ॥ ७० ॥

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्ग इत्येतत्समाधित्सुराह—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥ ७१ ॥

यथा अणोः श्यामता नित्या अग्निसंयोगेन प्रतिविद्धा न पुनरुत्पद्यते एवमदृष्टकारितं शरीरमपवर्गे पुनर्नोत्पद्यत इति ॥ ७१ ॥

(सिद्धान्तमत से सूत्र की व्याख्या के आरम्भ में शरीर के अनित्य होने का मूल स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—विपाक (कर्म के फल) के संवेदन (भोग) से कर्माशय (प्रारब्धकर्म) का नाश होने पर जो शरीर गिर जाता है उसे 'प्रायण' मरण कहते हैं। दूसरे कर्माशय (प्रारब्ध से बचे हुए संचित कर्म) के कारण दूसरा शरीर ग्रहण करना रूप पुनः जन्म आत्मा को लेना पड़ता है। किन्तु यह सब अदृष्ट की अपेक्षा न करने वाले केवल पृथिव्यादि भूतपदार्थों से शरीर की उत्पत्ति मानने पर किसके क्षय से शरीर का गिरनारूप मरण होगा, और मरण के न होने से शरीर नित्य मानना पड़ेगा ऐसा हम समझते हैं और यदि मरण अकस्मात् (बिना कारण) माना जाय तो प्राणियों के मृत्यु होने में भेद न होगा, अर्थात् सब प्राणियों का मरण एक ही प्रकार से होने लगेगा। अर्थात् शरीर के बनाने वाले पृथिव्यादि भूतपदार्थों के स्थित होने के कारण शरीर के न गिरने से मरण न होगा, जिससे शरीर नित्य है यह आपत्ति आ जायगी। यदि शरीर के गिरने (मरने) में कोई कारण न हो तो सब प्राणियों की मृत्यु एक ही प्रकार से होने लगेगी। जिससे कोई गर्भ ही में मर जाता है, कोई उत्पन्न होते ही मर जाता है, कोई बाल्यावस्था में इत्यादि मरण के प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार न हो सकेंगे। तथा बिना कारण मरण माना जाय, तो सदा मरण होगा या नहीं ही होगा, आकाश तथा आकाशपुष्प के समान यह भी दोष आ जायगा तस्मात् बिना कर्म के शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ ७० ॥

(सिद्धान्ती ने मोक्षावस्था में भी पुनः शरीर की उत्पत्ति होने का जो दोष दिया था, उसका पूर्वपक्षिमत से किये समाधान के आशय वाले पूर्वपक्ष सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अपवर्ग (मोक्ष) में पुनः शरीरग्रहण की आपत्ति होगी, ऐसा जो सिद्धान्ति ने कहा था उसका समाधान करने की इच्छा से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अणुश्यामतानित्यत्ववत् = पार्थिव परमाणुओं के श्याम रूप की नित्यता के समान, एतत् = यह (मोक्ष में शरीर का न होना), स्यात् = होगा ॥ ७१ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पार्थिव परमाणुओं के नित्य होने पर भी उनके श्यामरूप आदि गुण अनित्य ही होते हैं उसी प्रकार उनका अदृष्टरूप गुण भी अनित्य होता है, अतः मोक्षावस्था के पश्चात् उस अदृष्ट में न होने से पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ ७१ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार पार्थिव परमाणु का श्यामरूप गुण नित्य होने पर भी अग्निसंयोग से नष्ट होने पर पुनः श्यामरूप की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा के अदृष्ट से उत्पन्न हुआ शरीर पुनः मोक्षावस्था में उत्पन्न

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७२ ॥

नायमस्ति दृष्टान्तः, कस्मात् ? *अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्।* अकृतं प्रमाणतोऽनुपपन्नं तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः एतच्छ्रद्दधानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम्। तस्मान्नायं दृष्टान्तो न प्रत्यक्षं न चानुमानं किंचिदुच्यत इति। तदिदं दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वमभिधीयत इति।

अथ वा *नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्।* अणुश्यामतादृष्टान्तेनाकर्मनिमित्तां

नहीं होता, इस कारण सिद्धान्ती का मोक्षावस्था में पुनः शरीर के उत्पत्ति की आपत्ति देना असंगत है ॥ ७१ ॥

पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान सिद्धान्तिमत से करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् = न किये हुए कर्मों के फलों की प्राप्ति होने की आपत्ति आपका प्रमाण के अविषय (विरुद्ध) के भी मानने की आपत्ति आने से ॥ ७२ ॥

भावार्थ—उपरोक्त अणुश्यामता का दृष्टान्त लेकर यदि अपवर्ग में अदृष्ट के अनित्य होने के कारण शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसा माना जाय तो प्रमाण के विरुद्ध मानने की आपत्ति आवेगी, क्योंकि इस विषय का साधक न कोई प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमानप्रमाण पूर्वपक्षी ने दिया हैं, अतः यह दृष्टान्त ही पूर्व में सिद्ध करने योग्य होने के कारण दृष्टान्ताभास है, अथवा इस दृष्टान्त से कर्म निमित्त शरीर की उत्पत्ति न मानने पर आत्मा न किये हुए सुख-दुःख के कारण कर्मों का आत्मा से सुख-दुःखरूप फल मिलता है, यह आपत्ति आ जायगी, अतः पूर्वपक्षी का मत सर्वथा संगत नहीं है ॥ ७२ ॥

(सिद्धान्तिसूत्र की पूर्वपक्षी के उपरोक्त दृष्टान्त से कर्मनिमित्त शरीर नहीं होता इस आक्षेप का खण्डन करते हुए दो प्रकार से भाष्यकार व्याख्या करते हैं—जिसमें प्रथम व्याख्या ऐसी हैं कि)—यह पूर्वपक्षी ने दिया हुआ अणुश्यामता का दृष्टान्त शरीर में कर्म कारण नहीं है यह सिद्ध नहीं कर सकता। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—अकृत के स्वीकार करने की आपत्ति आने से। यहाँ सूत्र में अकृत शब्द का अर्थ है प्रमाण से सिद्ध न होना—उसका अभ्यागम—(अनुपपत्ति) स्वीकार करना, अर्थात् (व्यवसाय) निश्चय होना। क्योंकि इस दृष्टान्त से शरीर में कर्मनिमित्त नहीं है ऐसा श्रद्धा (विश्वास) करने वाले को प्रत्यक्षादि प्रमाण के विरुद्ध मानना होगा। इस कारण यह अणुश्यामता का दृष्टान्त नहीं है। क्योंकि इस दृष्टान्त से शरीर को बिना कर्म की उत्पत्ति होने में पूर्वपक्षी ने न कोई प्रत्यक्षप्रमाण कहा है, न कोई अनुमानप्रमाण। इस कारण यह दृष्टान्त में ही साध्यसमत्व (सिद्ध करने योग्य) है यह कहा जाता है अर्थात् दृष्टान्त ही असिद्ध है यह उत्तर का तात्पर्य है। अर्थात् परमाणुरूप श्यामता की जो पूर्वपक्षी ने नित्यता मानी है, उसके विरुद्ध ही पार्थिव परमाणुओं का श्यामरूप, अकारण (कारण से रहित) नहीं है, पार्थिवरूप होने से, रक्तादिरूप के समान ऐसा अनुमान हो सकता है। (दूसरी सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ऐसी करते हैं कि)—अणुश्यामता के दृष्टान्त से यदि शरीर की उत्पत्ति कर्म के कारण नहीं होती ऐसा पूर्वपक्षी समाधान करे, तो अकृत के स्वीकार की आपत्ति आ जायगी। क्योंकि भविष्य सुख-दुःखरूपफल के कारण पुण्य तथा पापरूप कर्म के न करने पर भी आत्मा को सुख

शरीरोत्पत्तिं समादधानस्याकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अकृते सुखदुःखहेतौ कर्मणि पुरुषस्य सुखं दुःखमभ्यागच्छतीति प्रसज्येत। ओमिति ब्रुवतः *प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः*।

*प्रत्यक्षविरोधस्ता*वद्भिन्नमिदं सुखदुःखं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् प्रत्यक्षं सर्वशरीरिणाम। को *भेदः ?* तीव्रं मन्दं चिरमाशु नानाप्रकारमेकप्रकारमिति एवमादिर्विशेषः। न चास्ति प्रत्यात्मनियतः सुखदुःखहेतुविशेषः, न चासति हेतुविशेषे फलविशेषो दृश्यते। कर्मनिमित्ते तु सुखदुःखयोगे कर्मणां तीव्रमन्दतोपपत्तेः कर्मसञ्चयानां चोत्कर्षापकर्षभावान्नानाविधैकविधभावाच्च कर्मणां सुखदुःखभेदोपपत्तिः। सोऽयं हेतुभेदाभावाद् दृष्टः सुखदुःखभेदो न स्यादिति प्रत्यक्षविरोधः।

तथा *ऽनुमानविरोधः* दृष्टं हि पुरुषगुणव्यवस्थानात्सुखदुःखव्यवस्थानम्। यः खलु चेतनावान् साधननिर्वर्तनीयं सुखं बुद्ध्वा तदीप्सन् साधनावाप्तये

तथा दुःखभोग की होने की आपत्ति आ जायगी। यदि इस प्रकार न किये कर्म का फल माना जाय तो यह मानना प्रत्यक्ष अनुमान आदि सम्पूर्ण प्रमाणों से विरुद्ध होगा। जिसमें से प्रत्यक्ष का विरोध इस प्रकार से आता है कि—सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणियों को यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि प्राणिमात्र के सुख तथा दुःख भिन्न-भिन्न हैं न कि एक ही प्रकार के, ऐसा प्रत्येक प्राणियों के आत्माओं के अनुभव से सिद्ध होता है। (प्रश्न)—प्राणियों के सुख तथा दुःखों का भेद क्या है ? (उत्तर)—तीव्र (तीखा), मन्द (मन्दा), चिर (देर से होने वाला), आशु (शीघ्र होने वाला), अनेक प्रकार का तथा एक प्रकार का। इस प्रकार प्राणियों के सुख तथा दुःखों में विशेष है। किन्तु पूर्वपक्षी के मत में प्रत्येक आत्मा में नियम के कारण वर्तमान भिन्न-भिन्न सुख तथा दुःख का कारण कोई भी विशेष नहीं है। और बिना विशेष कारण के सुख तथा दुःखभोगरूप फल का विशेष देखने में नहीं आता। और सिद्धान्ती के मत में तो आत्माओं के किये कर्म के अनुसार सुख तथा दुःख का सम्बन्ध मानने से, किये कर्मों की तीव्रता, मन्दता होने के कारण, तथा संचित (बटुरे हुए) कर्मों के उत्कृष्ट (अच्छे) तथा अपकृष्ट (खराब होने) के कारण भी, तथा उन कर्मों के अनेक प्रकार एवं एक प्रकार के होने के कारण भी, कर्मों की विशेषता से उसके सुख-दुःखभोगरूप फलों में भेद हो सकता है। इस प्रकार यह पूर्वपक्षी के मत में कारण का भेद न होने के कारण प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला सुख तथा दुःखरूप फल का भेद नहीं हो सकेगा—इस कारण शरीर की उत्पत्ति में कर्म का कारण न मानने के पक्ष में प्रत्यक्षप्रमाण का विरोध होता है। (इसी प्रकार अनुमानप्रमाण का भी विरोध आता है—क्योंकि आत्मा के गुण की कमी अदृष्टरूप व्यवस्था के अनुसार ही उसे सुख-दुःख आदि उत्पन्न होते हैं, यह व्यवस्था देखने में आती है। (इसी संक्षिप्त अनुमानविरोध को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो चेतना वाला (जानने वाला) प्राणी सुख के साधनों से सुख उत्पन्न होता है यह जानकर उस सुख की इच्छा करता हुआ सुख के साधनों की प्राप्ति होने के लिये प्रयत्न करता है वह प्राणी सुख को प्राप्त करता है, और जो इससे विपरीत होता है, अर्थात् सुखसाधन की प्राप्ति के

प्रयतते स सुखेन युज्यते न विपरीतः। यश्च साधननिर्वर्तनीयं दुःखं बुद्ध्वा तज्जिहासुः साधनपरिवर्जनाय यतते स च दुःखेन त्यज्यते न विपरीतः। अस्ति चेदं यत्नमन्तरेण चेतनानां सुखदुःखव्यवस्थानं तेनापि चेतनगुणान्तरव्यवस्थाकृतेन भवितव्यमित्यनुमानम्। तदेतदकर्मनिमित्ते सुखदुःखयोगे विरुध्यते इति। तच्च गुणान्तरमसंवेद्यत्वाददृष्टं विपाककालानियमाच्चाव्यवस्थितम्। बुद्ध्यादयस्तु संवेद्याश्चापवर्गिणश्चेति।

अथागमविरोधः। बहु खल्विदमार्षमृषीणामुपदेशजातमनुष्ठानपरिवर्जनाश्रयमुपदेशफलं च शरीरिणां वर्णाश्रमविभागेनानुष्ठानलक्षणा प्रवृत्तिः परिवर्जनलक्षणा निवृत्तिः तच्चोभयमेतस्यां दृष्टौ नास्ति कर्म सुचरितं दुश्चरितं वा

लिये प्रयास नहीं करता है वह सुखी नहीं होता। और जो प्राणी दुःख के साधनों से दुःखी होता है यह जानकर उस दुःख के त्याग करने की इच्छा करता हुआ दुःख होने के कारणों के त्याग करने के लिये प्रयत्न करता है, वह दुःखी नहीं होता, और इसके विपरीत होता है अर्थात् दुःखसाधनों के त्याग का उपाय नहीं करता वह दुःखी होता है। किन्तु कभी-कभी बिना प्रयत्न के भी प्राणियों को सुख तथा दुःख का भोग भोगना पड़ता है ऐसा देखने में आता है, जो अवश्य प्राणियों के किसी विशेष गुणों के व्यवस्था से ही होता है ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है। किन्तु यह सम्पूर्ण प्रकार सिद्धान्ती के मत से कर्म के कारण शरीर की उत्पत्ति मानने के पक्ष में ही हो सकता है, न कि जो पूर्वपक्षी कर्म से शरीर की उत्पत्ति नहीं मानता उसके पक्ष में, क्योंकि प्राणी सुख तथा दुःख होने में उसके मन में कोई कारण नहीं है अतः विरोध आ जायगा। (वह यह उस इस दूसरे अदृष्टरूप गुण का न प्रत्यक्ष होता है, न क्षणिक है इस कारण ज्ञानादिरूप आत्मा के गुणों से विलक्षण है, जो अतीन्द्रिय धर्म तथा अधर्मरूप होने के कारण अदृष्ट कहलाता है, इसी आशा से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वह दूसरा गुण प्रत्यक्ष न होने के कारण अदृष्ट है, और विपाक (फलभोगकाल) का नियम न होने से व्यवस्थित है। किन्तु बुद्धि आदि गुण में आत्मा से जाने जाते हैं तथा उत्पत्ति विनाश वाले हैं। (पूर्वपक्षी के मत में आगम का विरोध भी आता है, इस आशय से भाष्यकार कहते हैं कि)—यह अनेक प्रकार का प्राचीन महर्षियों का उपदेशसमूह है जिसमें सत्कर्म करना तथा निंदित कर्मों को छोड़ना आधार है, जिससे प्राणीमात्र को उस उपदेश का अभीष्ट फल मिलता है। अर्थात् धर्मशास्त्रों में विधान किये ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्ण तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के पृथक्-पृथक् विधि के कारण उपदेशानुसार चलने वाले प्राणियों की अपने अपने सत्कर्मों में प्रवृत्ति तथा निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों शरीर की सृष्टि कर्मनिमित्त न मानने वाले पूर्वपक्षी के मत में नहीं हो सकती, क्योंकि उसके मत में सुकृत (पुण्यकर्म), अथवा दुश्चरित (निषिद्धकर्म) भी नहीं है। जिससे प्राणियों की आत्माओं को अदृष्टानुसार सुख तथा दुःख का सम्बन्ध हो सकता है, इस लोकसिद्ध अनुभव में विरोध आ जायगा। अर्थात् यदि कर्म के कारण शरीर की रचना तथा सुख दुःखादि भोग होता हो तो धर्मशास्त्रों में कहे हुए वर्णाश्रमधर्मों को करने से सुख, और शास्त्र में निषेध किये विरुद्ध पापकर्मों को करने से अधर्म द्वारा दुःख होता है यह व्यवस्था न हो सकेगी, इस व्यवस्था का न होना सम्पूर्ण आगमों से विरुद्ध ही है। (पूर्वपक्षिमत में दिये दोषों की समाप्ति करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस कारण बिना कर्म के शरीर की रचना होती है तथा बिना

कर्मनिमित्तः पुरुषाणां सुखदुःखयोग इति विरुध्यते। सेयं पापिष्ठानां मिथ्यादृष्टिरकर्मनिमित्ता शरीरसृष्टिरकर्मनिमित्तः सुखदुःखयोग इति ॥ ७२ ॥

इति त्रयोदशभिः सूत्रैः शरीरस्यादृष्टनिष्पाद्यताप्रकरणम्।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।
समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

पुण्य-पापरूप कर्मों के ही प्राणिमात्र को सुख एवं दुःख प्राप्त होते हैं, ऐसा मानना अतिपापी नास्तिक पूर्वपक्षियों का मिथ्याज्ञान है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ७२ ॥

इस प्रकार वात्स्यायन महर्षि के किये हुए न्यायभाष्य में
तृतीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

मनसोऽनन्तरा प्रवृत्तिः परीक्षितव्या तत्र खलु यावद्धर्माधर्माश्रयशरीरादि परीक्षितं सर्वा सा प्रवृत्तेः परीक्षेत्याह—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥

तथा परीक्षितेति ॥ १ ॥

---

(१) प्रवृत्ति और दोषसामान्य के परीक्षा का प्रकरण

(चतुर्थाध्याय में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि तथा मन नामक कारणरूप छ प्रमेय-पदार्थों की क्रमप्राप्त होने के कारण परीक्षा की जाती है। यही इस चतुर्थ अध्याय का विषय है। उसमें भी प्रथम आह्निक में विरुद्ध धर्म वाले प्रवृत्ति आदि विषयों का विचार करना है, और द्वितीय आह्निक में अवसरप्राप्त संपूर्ण आत्मादि प्रमेयपदार्थों को तत्वज्ञानरूप विषयी धर्म का निरूपण किया जायगा। जिससे इस प्रवृत्ति और दोषपदार्थों के सामान्य परीक्षारूप प्रथम प्रकरण में प्रथम सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में भाष्यकार अध्याय के क्रम का निरूपण करते हैं कि)—मनरूप प्रमेयपदार्थ की परीक्षा के पश्चात् क्रमप्राप्त प्रवृत्तिपदार्थ की परीक्षा करना है। अर्थात् प्रथमाध्याय के '**आत्मशरीर**' इत्यादि प्रमेयपदार्थों के उद्देश सूत्र में मन के पश्चात् प्रवृत्ति का ही उद्देश (नामग्रहण) होने के कारण मन के परीक्षा के पश्चात् प्रवृत्तिरूप प्रमेयपदार्थ के ही परीक्षा का अवसर है। (इस प्रकार पूर्व में की गई मन की परीक्षा की सूचना कर इस सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—उसमें जितने धर्म तथा अधर्म आदि के आधार शरीर इत्यादिकों की परीक्षा पूर्व में की है, वह संपूर्ण प्रवृत्तिरूप प्रमेयपदार्थ की ही परीक्षा है अर्थात् संपूर्ण प्राणीमात्र की प्रवृत्ति धर्म के अन्तर्गत होने के कारण उसकी परीक्षा में प्रवृत्ति की भी परीक्षा हो जाती है, यह समझ लेना चाहिये। इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति नामक प्रमेयपदार्थ, यथा = जिस प्रकार, उक्ता = कही गई है ॥१॥

भावार्थ—अर्थात् प्रवृत्ति का जिस प्रकार लक्षण किया था उस प्रकार परीक्षा भी उसकी हो गई क्योंकि प्रवृत्ति लक्षण से ही उसकी परीक्षा भी हो ही गई है। (किन्तु वृत्तिकार को यह सूत्र की पूर्ति करना अभिमत नहीं है, इसी कारण उन्होंने कहा है कि)—इस सूत्र में '**तथैव**' इस प्रकार अवशिष्ट भाग की पूर्ति करनी चाहिये। किन्तु यह वृत्तिकार का मत संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार शेष पूरण करने से ऐसी सूत्र में आकांक्षा (जिज्ञासा) के शान्त होने के कारण आगे के '**तथादोषा**' इस सूत्र के तथा शब्द में भी '**यथा**' इस दूसरे शब्द की पूर्ति करने के कारण यह '**प्रवृत्तिदोषसामान्य प्रकरण**' एक प्रकरण नहीं हो सकेगा, इस कारण आगे के सूत्र में शब्द के साथ अन्वय करना ही युक्त है। जिससे जिस प्रकार कहे हुए लक्षण वाली प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उद्देश प्रकरण में कहे हुए लक्षण वाले राग-द्वेषादि दोष भी यह दोनों सूत्रों का मिलित अर्थ होता है यह सूत्रकार का आशय है ॥ १ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हुए उसमें अवशिष्ट आकांक्षित भाग की पूर्ति करते हैं कि)—तथा (उस प्रकार) उस प्रवृत्ति की परीक्षा भी कही गई ॥ १ ॥

प्रवृत्त्यनन्तरास्तर्हि दोषाः परीक्ष्यन्तामित्यत आह—

तथा दोषाः ॥ २ ॥

परीक्षिता इति। बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः, प्रवृत्तिहेतुत्वात् पुनर्भवप्रतिसन्धानसामर्थ्याच्च संसारहेतवः, संसारस्यानादित्वादनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते, मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्ग इति। प्रादुर्भावतिरोधानधर्मका इत्येवमाद्युक्तं दोषाणामिति ॥ २ ॥

प्रवर्तनालक्षणा दोषा इत्युक्तं तथा चेमे मानेर्ष्यासूयाविचिकित्सामत्सरादयः ते कस्मान्नोपसङ्ख्यायन्ते इत्यत आह—

(आगे के सिद्धान्त सूत्र के अवतरण में पूर्वपक्षी का आक्षेप दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—'यदि प्रवृत्तिरूप प्रमेयपदार्थ की परीक्षा उसके पूर्वोक्त लक्षण के करने से ही हो गई तो उसके पश्चात् कहे हुए दोषरूप प्रमेयपदार्थों की ही परीक्षा सूत्रकार को करनी चाहिये' इस आक्षेप के समाधान के लिये सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—तथा = उस प्रकार, दोषाः = रागद्वेषादि दोष भी (परीक्षा किये गये) ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रवृत्ति के समान होने से प्रवृत्ति की परीक्षा करने से ही रागद्वेषादि दोषों के सत्ता की परीक्षा कही गई ही है ॥ २ ॥

(सूत्र के शेषभाग की पूर्ति करते हुए भाष्यकार सिद्धान्त सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रवृत्ति के समान होने के कारण रागद्वेषादि दोषों की भी परीक्षा हो गई। (उपरोक्त विषय का समर्थन करने के लिये रागादि दोषों में कार्यरूप प्रवृत्ति की समानता दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बुद्धि के आधार में ही रहने वाले होने से आत्मा के संपूर्ण गुण पूर्वोक्त कायिक, मानसिक, वाचिक ऐसी तीनों प्रकार की प्रवृत्ति के कारण होने से, तथा पुनः जन्म लेने के सामर्थ्य के होने से भी संसार के कारण होते हैं, जिस संसार के अनादि होने के कारण संपूर्ण आत्मा के गुण अनादि प्रबन्ध (प्रवाह) से प्रवृत्त हुआ करते हैं। जिसमें से तत्वज्ञानरूप आत्मा के गुण से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, और उसके निवृत्त होने से राग, द्वेष, मोह इन तीनों दोषों के सन्तान का नाश होने पर अपवर्ग (मोक्ष) होता है। इस प्रकार सन्तानरूप से प्रवृत्त होने के कारण रागादि दोष उत्पत्ति तथा नाशधर्म वाले हैं, इत्यादि (१।१।२, १।१।१८, ३।१।२५) सूत्र में प्रसंग से जो कहा गया है वही उनकी परीक्षा भी की गई है। यह जानना चाहिये। अर्थात् प्रिय तथा अप्रिय विषयों के चिन्तन से उत्पन्न हुए रागादि दोष, विषयों की चिन्ता करने वाली बुद्धि के आधार को छोड़कर नहीं रह सकते, क्योंकि चैत्र को विषय का चिन्तन हो और मैत्र को रागादि दोष हों ऐसा नहीं होता, इस कारण बुद्धि के समान आश्रय होने से, और बुद्धि के आत्मा में ही रहने से दोष भी आत्मा के ही गुण होते हैं ऐसा मानना आवश्यक है। और आत्मा के गुण होने से उसके कार्य प्रवृत्ति के समान होने के कारण प्रवृत्ति की परीक्षा से ही दोषों की भी परीक्षा भी हो गई यह सूत्रकार का आशय है। इसी विषय का भाष्यकार ने उपरोक्त प्रकार से व्याख्या में स्पष्टीकरण किया है, अतः प्रवृत्ति तथा दोषों की पृथक् परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है ॥ २ ॥

(२) दोषों के त्रैराश्य का प्रकरण

इस पृथक् प्रकरण के विषय में कुछ नवीन विद्वानों का विवाद है कि प्रथम सूत्र का एक ही

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

तेषां दोषाणां त्रयो राशयस्त्रयः पक्षाः। *रागपक्षः* कामो मत्सरः स्पृहा तृष्णा लोभ इति। *द्वेषपक्षः* क्रोध ईर्ष्याऽसूया द्रोहोऽमर्ष इति। *मोहपक्षो* मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः प्रमाद इति त्रैराश्यान्नोपसङ्ख्यायन्ते इति।

प्रकृति की परीक्षा का प्रकरण है—और द्वितीय सूत्र से नवम सूत्र तक दोषों की परीक्षा का एक ही प्रकरण है ऐसा प्रकरणों का विभाग संगत है ऐसा उन विद्वानों का मत है। जिसका समाधान यह हो सकता है कि ऐसा मानने से प्रथम प्रकरण एक ही सूत्ररूप होगा, किन्तु यह असंगत है क्योंकि अनेक सूत्र समुदाय ही को प्रकरण कहते हैं। अतः प्राचीन ही प्रकरणों का विभाग युक्त है, जिससे प्रथम दो सूत्रों का एक प्रकरण होता है जिसमें प्रवृत्ति तथा दोष दोनों की सामान्यरूप से परीक्षा की गई है, और दूसरा तृतीय सूत्र से प्रारम्भ कर नवम सूत्र तक दोषों के विशेषों की परीक्षा की गई है ऐसी यहाँ वर्धमान उपाध्याय ने समालोचना की है। (इस प्रकार दोषों की अनेक प्रकार से परीक्षा करने के पश्चात् जिस विषय में दोषों की परीक्षा नहीं हुई है उस विषय की परीक्षा करने के लिये प्रश्न द्वारा प्रारम्भ करते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—प्रश्न है कि पूर्व में 'प्रवृत्ति करने के स्वभाव वाले दोष होते हैं' ऐसा दोषों का लक्षण कहा गया है। उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के समान, मान (अहंकार) ईर्ष्यादि (डाह), असूया (स्पर्धा), विचिकित्सा (संशय), मत्सर (मात्सर्य) इत्यादिक भी दोष हैं, जो प्रवृत्ति कराते हैं उनको सूत्रकार ने दोषों में गणना क्यों नहीं की ? जिसके समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्रैराश्यं = उन दोषों के तीन राशि (समुदाय) हैं, रागद्वेष मोहार्थान्तरभावात = राग, द्वेष तथा मोह इस भेद से ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रश्न करने में कहे हुए मान, ईर्ष्या, इत्यादि दोष, इन तीन राग, द्वेष तथा मोह के ही अन्तर्गत हैं, इस कारण उस सब का इन तीनों में ही यथायोग्य विभाग (बँटे) हैं, इसलिये मान आदिकों को पृथक् कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उन पूर्वग्रन्थ में कहे हुए दोषपदार्थों के तीन राशि (समुदाय) हैं अर्थात् तीन पक्ष हैं। जिनमें से—(१) स्त्री सम्बन्धी अभिलाषारूप काम, (२) नष्ट होने वाले पदार्थ के त्याग न करने की इच्छारूप मत्सर, (३) जिस पदार्थ में अपनी सत्ता नहीं हो ऐसे दूसरे को पदार्थ के लेने की इच्छारूप स्पृहा, (४) जन्मान्तर के कारणरूप आशा नामक तृष्णा, (५) अन्याय से दूसरे के धन के अपहरण की इच्छारूप लोभ ये पाँच रागपक्ष के दोष हैं। (१) शरीर तथा इन्द्रियों में विकार होने के कारणरूप क्रोध, (२) सर्वसाधारण पदार्थ को लेने की इच्छा करने वाले को रोकनारूप ईर्ष्या, (३) दूसरे के गुणों को सहन न करनारूप असूया, (४) दूसरे का अपकार करने की इच्छारूप द्रोह, (५) अपकार करने का सामर्थ्य न होनारूप अमर्ष ये पाँच द्वेष नामक दोष के पक्ष में अन्तर्गत हैं। (१) मिथ्या (झूठा) ज्ञान, (२) विचिकित्सा (संशय), (३) न रहने वाले या रहने वाले गुणों को आरोपकर (अपने में मानकर) (४) अपना संसार में उत्कर्ष प्रसिद्ध करना रूप मान (५) कर्तव्यकर्म को न करनारूप प्रमाण ये पाँच तृतीय मोह दोषपक्ष के हैं। इस कारण उनको पृथक् नहीं कहा गया है। "सिद्धान्ती का दोषों का तीन हैं यह कहना भी असंगत है, क्योंकि राग, द्वेष तथा मोह में प्रवृत्ति को उत्पन्न करना यह एक ही दोषों का सामान्य लक्षण होने के कारण दोष एक ही प्रकार का होने के कारण उपरोक्त त्रैराश्य नहीं हो सकता"

लक्षणस्य तर्ह्यभेदात्त्रित्वमनुपपन्नम् ? *रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्* नानुपपन्नम्, आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोह इति। *एतत्प्रत्यात्मवेदनीयं सर्वशरीरिणाम्*, विजानात्ययं शरीरी रागमुत्पन्नमस्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति। विरागं च विजानाति नास्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति एवमितरयोरपीति। मानेर्ष्यासूयाप्रभृतयस्तु त्रैराश्यमनुपतिता इति नोपसङ्ख्यायन्ते ॥ ३ ॥

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥

नार्थान्तरं रागादयः, कस्मात् ? *एकप्रत्यनीकभावात्*। तत्त्वज्ञानं सम्यङ्मतिरार्यप्रज्ञा सम्बोध इत्येकमिदं प्रत्यनीकं त्रयाणामिति ॥ ४ ॥

(ऐसी पूर्वपक्षी की शंका दिखाकर भाष्यकार समाधान करते हैं कि)—दोषों का तीन राशियों में होना सिद्धान्तिमत से असंगत नहीं है—क्योंकि राग, द्वेष तथा मोह इनका परस्पर में भेद है अर्थात् प्रवर्तनारूप एक ही सामान्य लक्षण तीनों में होने पर भी राग, द्वेष तथा मोह में परस्पर विलक्षणता भेद है ऐसा प्राणिमात्र को अनुभव होता है। (इसी विलक्षणता को दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—अपने-अपने प्रिय हितकर पदार्थों में चित्त की आसक्ति होना यह राग कहाता है (जो द्वेष तथा मोह में नहीं होती) इसी प्रकार अप्रिय अहितकर पदार्थ की प्राप्ति को न सहन करनारूप द्वेष होता है (जो राग और मोह में नहीं होता) तथा नाना प्रकार के मोह में मिथ्याज्ञान सर्वत्र सम्बद्ध होता है (जो राग और द्वेष में नहीं होता) ऐसा संसार के सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणियों को प्रत्येक आत्मा में अनुभव से सिद्ध है। क्योंकि यह शरीरधारी प्राणी चित्त में उत्पन्न हुये राग (चित्त की आसक्ति) जो जानता है, कि मेरी आत्मा में इस मेरे हितकर विषय में मुझे अनुरागरूप है। और उसके उलटे मेरी आत्मा में इस विषय की आसक्ति नहीं है ऐसा विराग (आसक्ति के अभाव) को भी जानता है। इसी द्वेष तथा मोह सम्बन्ध में भी उसे ज्ञान होता है। इस कारण संसार के सम्पूर्ण दोष तीन ही पक्ष में बँटे होने के कारण मान, ईर्ष्या, असूया इत्यादि दोषों की सूत्रकार ने पृथक् गणना नहीं की है। अर्थात् रागादि तीन दोषों के पक्ष में ही मानादि सम्पूर्ण दोषों का अन्तर्भाव होने से उनके पृथक् वर्णन की सूत्रकार ने आवश्यकता नहीं समझी है ॥ ३ ॥

इस सिद्धान्त पर पुनः पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार आक्षेप करते हैं कि—

पदपदार्थ—न = नहीं युक्त है, एकप्रत्यनीकभावात् = तीनों का एक ही नाशक (विरोधी) होने से ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह जो सिद्धान्ती ने कहा कि दोष तीन पक्षों के होते हैं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि राग, द्वेष तथा मोह इन तीनों का एक ही तत्वज्ञान से नाश होता है ॥ ४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—राग, द्वेष तथा मोह भिन्न नहीं हैं ? (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—तीनों का एक ही विरोधी नाशक होने से, क्योंकि एक ही यथार्थ ज्ञान राग, द्वेष तथा मोह को नष्ट कर देता है। जिस यथार्थ ज्ञान को तत्वज्ञान, सम्यक् बुद्धि, आर्यप्रज्ञा (वास्तविक पदार्थों के समीप पहुँचने वाली बुद्धि, अथवा सम्यक् बोध कहते हैं, यह एक ही अनेक पदार्थों से कहा गया यथार्थज्ञान राग, द्वेष तथा मोह इन तीनों

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥

एकप्रत्यनीकाः पृथिव्यां श्यामादयोऽग्निसंयोगेनैकेन, एकयोनयश्च पाकजा इति ॥ ५ ॥

सति चार्थान्तरभावे—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥

मोहः पापः, पापतरो वा द्वावभिप्रेत्योक्तम्, कस्मात ? *नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।*

दोषों का विरोधी है, (अतः एक ही से नष्ट होने के कारण दोष एक ही है ऐसा मानना उचित है न कि तीन मानना) ॥ ४ ॥

उक्त आक्षेप का समाधान सूत्रकार सिद्धान्ती के मत से देते हैं—

पदपदार्थ—व्यभिचारात = व्यभिचारदोष आने के कारण, अहेतुः = एक विरोधी से नष्ट होना यह पूर्वपक्षी का हेतु नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी ने जो एक तत्वज्ञान से तीनों दोषों का नष्ट होना यह दोषों के एक होने में हेतु दिया था वह व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण दुष्ट हेतु है ॥ ५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तमत से सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—एक ही अग्नि के संयोग से पृथिवी परमाणु के श्यामादिरूप रस आदि नष्ट होते हैं, तथा एक ही अग्नि संयोगरूप पाक से उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण एक नहीं हैं। अर्थात पृथिवी के श्यामरूप, रस आदि गुण एक ही अग्निसंयोग से नष्ट होते हैं किन्तु ये भिन्न-भिन्न हैं एक नहीं हैं। (शब्द के समान एक ही पाकरूप कारण से उत्पन्न होने के कारण भी रागादि दोष एक नहीं हो सकते, क्योंकि पाकज रूपादि गुणों की एक कारण से उत्पत्ति होने पर भी वे भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः व्यभिचारदोष के कारण एक के नाशक या उत्पादक होने से दोष एक ही हैं, यह पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असंगत है ॥ ५ ॥

अग्रिम सिद्धान्तसूत्र का जिसमें मोह को दोषों में सूत्रकार ने प्रधानता दिखाई है, भाष्यकार अवतरण देते हैं कि इस प्रकार राग, द्वेष तथा मोह इन तीनों दोषों के भिन्न-भिन्न होने पर—

पदपदार्थ—तेषां = उन तीन दोषों में से, मोहः = मोह नामक दोष, पापीयान् = अनर्थ का कारण होने के कारण अत्यन्त पापयुक्त है, न = नहीं होती, अमूढस्य = मोहरहित प्राणी को, इतरोत्पत्तेः = दूसरे राग और द्वेष की उत्पत्ति ॥ ६ ॥

भावार्थ—दोषों के नाश की विधि को कहने की इच्छा से सूत्रकार ने कारण का नाश होने से कार्य का नाश होता है यह समझकर मोह (मिथ्याज्ञान) ही सम्पूर्ण दोषों का मूल है यह दिखाते हुए रागादि दोषों में अधिकता-न्यूनतारूप तरतमभाव दिखाते हुए इस सूत्र में यह कहते हैं कि राग, द्वेष तथा मोह इन तीनों में से अन्तिम मोह दोष ही सम्पूर्ण सांसारिक अनर्थों की प्राप्ति होने में कारण होने से अत्यन्त पापी है, क्योंकि मोहरहित ज्ञानी पुरुष को राग तथा द्वेष दोष नहीं होते ॥ ६ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पापरूप है अत्यन्त पाप वाला (पापतर) है ऐसा सूत्रकार ने राग, द्वेष इन दोनों के अपेक्षा से मोह पापीयान् है ऐसा कहा है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—मोहरहित प्राणियों को दूसरों की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात मोह मिथ्याज्ञानरहित प्राणी को विषयासक्ति तथा द्वेष ये दोनों दोष उत्पन्न नहीं

अमूढस्य रागद्वेषा नोत्पद्यन्ते मूढस्य तु *यथासङ्कल्पमुत्पत्तिः*. विषयेषु रञ्जनीयाः सङ्कल्पा रागहेतवः, कोपनीयाः सङ्कल्पा द्वेषहेतवः, उभये च सङ्कल्पा न मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणत्वान्मोहादन्ये, ताविमौ मोहयोनी रागद्वेषाविति। तत्त्वज्ञानाच्च मोहनिवृत्तौ रागद्वेषानुत्पत्तिरित्येकप्रत्यनीकभावोपपत्तिः। एवं च कृत्वा तत्त्वज्ञानाद् *"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग"* इति व्याख्यातमिति ॥ ६ ॥

प्राप्तस्तर्हि—

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥

अन्यद्धि निमित्तमन्यच्च नैमित्तिकमिति दोषनिमित्तत्वाददोषो मोह इति ७

होते। अर्थात् मोह (मिथ्याज्ञान) से रहित प्राणी का हित विषयों में आसक्तिरूप राग और अहित विषयों में द्वेष ये दोनों उत्पन्न नहीं होते और मिथ्याज्ञान वाले मूढ प्राणी को उसके इच्छा (संकल्प) के अनुसार हितविषयों में राग तथा अहित विषयों में द्वेष ये दोनों दोष सर्वदा हुआ करते हैं। (आगे संकल्प शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—हितकर विषयों में अनुराग उत्पन्न करने वाले संकल्प (इच्छाएँ) होती हैं जो राग-द्वेष के कारण हैं तथा अहितकर विषयों में क्रोध कराने वाले संकल्प द्वेषदोष के कारण होते हैं। इस प्रकार राग तथा द्वेष दोनों के कारण ये संकल्प मिथ्याज्ञानरूप लक्षण होने के कारण मोह से भिन्न नहीं हैं अर्थात् उपरोक्त दोनों प्रकार के संकल्प मिथ्याज्ञानरूप होने के कारण मोहस्वरूप ही हैं; इसी कारण ये दोनों राग तथा द्वेषरूप दोनों दोष मोह (यानि) मोह से उत्पन्न होते हैं अतः मिथ्याज्ञान के विरुद्ध तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होने पर राग तथा द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं, इस कारण इन तीनों का एक तत्वज्ञान (प्रत्यनीक) विरोधी है यह सिद्ध होता है, किन्तु इससे वे तीनों दोष एक नहीं हो सकते, क्योंकि व्यभिचारदोष पूर्व में कह आये हैं। (उपरोक्त विषय को दृढ़ करने के लिये न्यायसूत्र के प्रारंभ में कहे हुए विषय को स्मरण कराते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ऐसा, करने से (होने से) तत्वज्ञान से 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में से उत्तर-उत्तर मिथ्याज्ञानादिकों का नाश होने पर उसके पूर्व-पूर्व का नाश होने से अपवर्ग (मोक्ष) होता है' ऐसा जो सिद्धान्त कर आये हैं उसकी व्याख्या हो जाती है अर्थात् यह सिद्धान्त दृढ़ हो जाता है ॥ ६ ॥

पुनः पूर्वपक्षिमत से आक्षेप दिखाने वाले सूत्र की अवतरणिका देते हुए भाष्यकार कहते हैं, जिसका सूत्र के अन्त तक सम्बन्ध है कि—ऐसा सिद्धान्ती का कथन मानने से तो प्राप्त होता है—

पदपदार्थ—निमित्तनैमित्तिकभावात् = कारणकार्यभाव होने के कारण, अर्थान्तरभावः=भेद, दोषेभ्यः = राग द्वेष दोषों से ॥ ७ ॥

भावार्थ—कारण तथा कार्य का भेद होना सर्वसंमत होने के कारण मोह के राग तथा द्वेष दोषों का कारण होने से उनसे मोह को भिन्न मानना उचित है, न कि उसे दोष मानना उचित है ॥ ७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'कारण कार्य से भिन्न होता है और कार्य कारण से भिन्न होता है, अतः राग तथा द्वेषरूप दोनों दोषों का कारण होने के कारण मोह दोष नहीं है ऐसा मानना उचित है' ॥ ७ ॥

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते दोषेषु मोह इति ॥८॥

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

द्रव्याणां गुणानां वाऽनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति ॥ ९ ॥

इति नवभिः सूत्रैः प्रवृत्तिदोषयोः परीक्षाप्रकरणम् ।

दोषानन्तरं प्रेत्यभावस्तस्यासिद्धिः । आत्मनो नित्यत्वात् । न खलु नित्यं किञ्चिज्जायते म्रियते वा इति, जन्ममरणयोर्नित्यत्वादात्मनो ऽनुपपत्तिः, उभयं च प्रेत्यभाव इति, तत्रायं सिद्धानुवादः—

रूपादिकों के समान मोह दोषों का निमित्त होने के कारण दोष नहीं है, इस पूर्वपक्षी के हेतु में अप्रयोजकत्व (व्यभिचार) दिखाते हुए आक्षेप का परिहार सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, लक्षणावरोधात् = लक्षण में संग्रह होने से, मोहस्य = मोह के ॥ ८ ॥

भावार्थ—राग तथा द्वेष दोषों का कारण होने पर भी मोह में 'प्रवृत्ति की उत्पत्ति करना रूप' दोषों का सामान्य लक्षण होने के कारण वह दोष ही है यह सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्व में कहे हुए 'प्रवर्तनास्वरूप दोष होते हैं', इस दोषों के सामान्य लक्षण से दोषों में मोह का भी संग्रह हो जाता है ॥ ८ ॥

पूर्वपक्षी ने दिया हुआ दोषों का कारण होने से मोह दोष नहीं है यह हेतु व्यभिचारदोषग्रस्त है यह दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः च = और कारणकार्यभाव होने से भी, तुल्यजातीयानां = समान जाति वालों का, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का कारण होता है और वे दोनों एक ही जाति के होते हैं, उसी प्रकार तुरी आदि परद्रव्य के कारण एक ही पृथिवी जाति के हैं, ऐसा देखने में आता है, अतः एक जाति वालों में कारणकार्यभाव नहीं होता यह पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है ॥९॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—एक ही जाति के द्रव्य अथवा गुण पदार्थों का कारणकार्यभाव होने में अनेक प्रकार का विकल्प देखने में आता है (अतः एक जाति के पदार्थों में कारणकार्यभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उपरोक्त प्रकार से ज्ञानादि गुण तुरी पट आदि द्रव्यों में एक जाति के होने पर भी कारणकार्यभाव देखा जाता है, अतः मोह के दोष जाति के न होने में जो पूर्वपक्षी ने कारणकार्यभाव हेतु दिया था वह व्यभिचारी दुष्ट हेतु है, जिससे पूर्वपक्षी के एक न होनेरूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः राग, द्वेष तथा मोह ये तीनों दोष सामान्य लक्षण में आने से दोष ही हैं। जिनमें मोह सब में प्रधान है यह इस प्रकरण में सिद्ध होने के कारण दोषों का त्रिराशीय तीन पक्षों में होना सिद्ध हो जाता है ॥ ९ ॥

(३) प्रेत्यभाव की परीक्षा का प्रकरण

(क्रम से प्राप्त प्रेत्यभाव नामक प्रमेयपदार्थ की परीक्षा को प्रारंभ करते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में क्रम दिखाते हैं कि)—दोष नामक प्रमेयपदार्थ के पश्चात् प्रेत्यभाव नामक प्रमेयपदार्थ आता है। अर्थात् दोषों के पश्चात् प्रेत्यभाव की परीक्षा की जाती है। यहाँ पर

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

नित्योऽयमात्मा प्रैति पूर्वशरीरं जहाति म्रियते इति प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्तरमुपादत्त इति तच्चैतदुभयं 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (इत्यत्रोक्तं पूर्वशरीरं हित्वा शरीरान्तरोपादानं प्रेत्यभावः) इति तच्चै-

---

'प्रेत्यभाव' इस पद में 'ल्यप्' प्रत्यय से 'मुख को खोलकर सोता है' इसके समान होने से होकर मरना ऐसी प्रतीति होने के कारण उत्पन्न होने वाला और मरने वाला एक ही होता है, यह सूचित होता है। किन्तु इस विषय में तात्पर्यटीका में ऐसा संशय दिखाया है कि यह प्रेत्यभाव शरीर को होता है अथवा आत्मा को जिस पर कुछ विद्वान् लोग ऐसा आक्षेप करते हैं कि 'पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभावः' (१।१।१९) इस सूत्र में यह प्रेत्यभाव नित्य आत्मा ही को होता है यह सिद्ध हो चुका है अतः संशय होने का अवसर नहीं है। जिसका वाचस्पति मिश्र ऐसा परिहार करते हैं कि उत्पत्ति-नाशरूप प्रेत्यभाव नित्य आत्मा में नहीं हो सकता, अतः उपरोक्त संशय हो सकता है, इस कारण इस संशय के परीक्षा का अवसर ही प्रेत्यभाव के परीक्षा का अवसर है। (सिद्धान्ति ने उत्पत्तिनाशरूप प्रेत्यभाव माना है ऐसा समझ कर उपरोक्त प्रकार से कुछ विद्वानों के संशय को दिखाने के पश्चात आत्मा के पक्ष में दोष को दिखाते हुए आगे भाष्यकार बौद्धमत से आक्षेप दिखाते हैं कि)—उस प्रेत्यभाव की न्यायमत में किसी प्रकार से सिद्धि नहीं हो सकती—क्योंकि उनका आत्मा नित्य है अतः कोई भी नित्यपदार्थ न उत्पन्न होता है, न मरता है, इस कारण जन्म तथा मरणरूप प्रेत्यभाव के नित्य होने के कारण वह आत्मा में नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पन्न होना और मरना ही तो प्रेत्यभाव कहा जाता है अर्थात उत्पत्ति तथा नाश ही तो प्रेत्यभाव कहाता है वह नैयायिकों के मत में नित्य होने के कारण उत्पत्ति तथा नाशरहित आत्मा को नहीं हो सकता, और क्षणिकविज्ञानरूप आत्मा मानने वाले बौद्धों के मत में नित्य आत्मा के न होने से क्षणिकविज्ञानरूप आत्मा के उत्पत्ति तथा नाश-स्वभाव होने के कारण बौद्धमत में प्रेत्यभाव हो सकता है (उक्त आक्षेप का परिहार करने के लिये सिद्धान्त का प्रारंभ करते हुए भाष्यकार आगे अवतरण में कहते हैं कि)—इस विषय में यह जो पूर्व में सिद्ध हो चुका है उस सिद्धान्त का अनुवाद (वर्णन) किया जाता है—

पदपदार्थ—आत्मनित्यत्वे = आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में, प्रेत्यभावसिद्धिः = वारंवार जन्ममरणरूप प्रेत्यभाव सिद्ध होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—नित्य ही आत्मा पूर्वशरीर को छोड़ता है (मरता है) तथा पूर्वशरीर को त्याग कर पुनः दूसरा शरीर लेता है (उत्पन्न होता है) यही पूर्वग्रन्थ में प्रेत्यभाव कहा गया है, यह व्यवस्था आत्मा के नित्य मानने के पक्ष में हो सकती है, न कि क्षणिक विनाश स्वभाव आत्मा मानने वाले बौद्ध के पक्ष में। उसके पक्ष में पूर्व में कहा हुआ कृतकर्म का नाश तथा न किये कर्म-फल की प्राप्ति में दोनों दोष आते हैं, अतः ऐसा होने के कारण स्वर्गादि रूप अभ्युदय तथा मोक्ष के लिये प्राणियों की प्रवृत्ति न होगी, जिससे महर्षियों के उपदेशरूप शास्त्र भी व्यर्थ हो जायेंगे, यह विनाशशील आत्मा मानने में दोष आ जायगा ॥ १० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तपक्ष के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शरीरादि भिन्न नित्य यह आत्मा प्रति—पूर्वशरीर को छोड़ता है—(मरण को प्राप्त होता है) तथा प्रेत्य च पूर्वशरीर को छोड़कर होता है (उत्पन्न होता है) अर्थात दूसरे शरीर को ग्रहण करता है, इस प्रकार यही मरना और मरने के पश्चात् पुनः जन्म लेना प्रथमाध्याय के प्रमेय उद्देशप्रकरण में

तन्नित्यत्वे सम्भवतीति। यस्य तु सत्त्वोत्पादः सत्त्वनिरोधः प्रेत्यभावः तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोषः। उच्छेदहेतुवादे ऋष्युपदेशाश्चानर्थका इति ॥१०॥

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

कथमुत्पत्तिरिति चेत्? केन प्रकारेण किन्धर्मकात् कारणाद्व्यक्तं शरीराद्युत्पद्यत इति?

'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' इस सूत्र में वर्णन किया गया है कि—पूर्वशरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को लेना प्रेत्यभाव कहाता है। वह यह बारम्बार पूर्वशरीर का त्याग तथा उत्तरशरीरों का ग्रहणरूप परम्परा उसी पक्ष से हो सकती है, जिस पक्ष में सम्पूर्ण उस परम्परा में व्यापक नित्य कोई हो वही हमारे नैयायिकों का आत्मा है। (ऐसा न मानने के पक्ष में बाधक दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस नास्तिक (बौद्धों के मत में जो आत्मा का मरने पर अत्यन्त उच्छेद (नाश) हो जाता है, और जन्म लेने पर पुनः आत्मा (सत्त्व) की उत्पत्ति होती है इस प्रकार का प्रेत्यभाव माना गया है—उनके मत में मरने पर पूर्व आत्मा के नष्ट हो जाने के कारण तथा उत्पन्न होने (जन्म) लेने के कारण दोनों का भेद होने से उत्तरशरीर में जो आत्मा को सुख-दुःखभोगरूप फल का भोग होता है वह उसके कर्म का फल नहीं है, और उस आत्मा ने जो पूर्वशरीर में अपने कर्म किये हैं उनका उसको उत्तरशरीरो में अंगरूप फल नहीं होगा इस प्रकार पूर्वकथित कृत की हानि एवं अकृताभ्यागम यह दोष आ जाता है। तथा जिनके मत में आत्मा उत्पाद विनाशस्वभाव है उसके मत में जिस शिष्य को आत्मा को गुरु ने उपदेश दिया उसका उत्तरक्षण में नाश होने के कारण वह शिष्य गुरु के उपदेशानुसार आचरण न कर सकेगा जिससे महर्षियों के उपदेशरूप शास्त्र भी व्यर्थ हो जांयगें। (और सिद्धान्ती के मत में तो अपने-अपने शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि संवेदनाओं के सम्बन्ध की उत्पत्ति और विनाशरूप क्रम से जन्म और मरण नित्य आत्मा को हो सकेंगे—इस कारण प्रेत्यभाव भी बन जायगा यह नैयायिकों का सिद्धान्त है) ॥ १० ॥

(उपरोक्त प्रेत्यभाव उत्पत्ति से कहा गया है, और आत्मा के नित्य होने के कारण वह आत्मा समान अथवा असमान जाति के कारणों से तो उत्पन्न हो नहीं सकता, इस कारण इसका प्रेत्यभाव अप्रसिद्ध है, इस कारण प्रसंग से उत्पत्ति का प्रकार दिखाने के लिये भाष्यकार सूत्र के अवतरण में पूर्वपक्षिमत से प्रश्न को उठाते हैं कि)—यह उत्पत्ति कैसे होती है? ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो—

पदपदार्थ—व्यक्तात् = रूपादि गुणयुक्त सूक्ष्म पृथिव्यादि परमाणु से, व्यक्तानां = शरीरादिकों को आधार स्थूल पृथिव्यादिकों की (उत्पत्ति होती है), प्रत्यक्षप्रामाण्यात् = प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो पार्थिवादि पदार्थ प्रत्यक्ष से दिखाई पड़ते हैं, उन व्यक्त रूपादि गुणवाले पदार्थों की उत्पत्ति रूपादि गुणवाले पृथिव्यादि परमाणुरूप व्यक्त पदार्थों से होती है। (यहाँ पर यद्यपि परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि रूपवत्ता आदि सादृश्य के धारण परमाणु भी व्यक्त कहे गये हैं जो स्थूल पृथिव्यादिकों के कारण हैं यह जान लेना चाहिये) ॥ ११ ॥

(सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या के पूर्व पूर्वपक्षी के प्रश्न का अनुवाद भाष्यकार करते हैं कि)—'किस प्रकार से किस धर्मवाले कारण से व्यक्त (स्पष्ट) शरीरादि कार्य उत्पन्न होता है'? (इस प्रश्न का सूत्रकार के मत से उत्तर दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—रूपादि गुणों से युक्त भूतसूक्ष्म पृथिव्यादि परमाणुरूप नित्य व्यक्त पदार्थों से शरीर, इन्द्रिय तथा विषयों और

व्यक्ताद् भूतसमाख्यातात्पृथिव्यादितः परमसूक्ष्मान्नित्याद्व्यक्तं शरीरेन्द्रियविषयोपकरणाधारं प्रज्ञातं द्रव्यमुत्पद्यते। व्यक्तं च खल्विन्द्रियग्राह्यं तत्सामान्यात्कारणमपि व्यक्तम्। किं सामान्यम्। *रूपादिगुणयोगः*। रूपादिगुणयुक्तेभ्यः पृथिव्यादिभ्यो नित्येभ्यो रूपादिगुणयुक्तं शरीराद्युत्पद्यते। *प्रत्यक्षप्रामाण्यात्*। दृष्टो हि रूपादिगुणयुक्तेभ्यो मृत्प्रभृतिभ्यस्तथाभूतस्य द्रव्यस्योत्पादः, तेन चादृष्टस्यानुमानमिति। रूपादीनामन्वयदर्शनात् प्रकृतिविकारयोः, पृथिव्यादीनां नित्यानामतीन्द्रियाणां कारणभावोऽनुमीयत इति ॥ ११ ॥

न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥

इदमपि प्रत्यक्षं, न खलु व्यक्ताद् घटाद्व्यक्तो घट उत्पद्यमानो दृश्यते इति व्यक्ताद् व्यक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनान्न व्यक्तं कारणमिति ॥ १२ ॥

उपकरण (योगसाधनों का आश्रयरूप) (प्रज्ञात) व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होता है। यह कार्यरूप व्यक्त बाह्यइन्द्रियों से गृहीत होता है, अतः व्यक्त कहाता है, उसके समान धर्मवाला होने के कारण भूतसूक्ष्मरूप पृथिव्यादि परमाणुरूप कारण द्रव्य भी व्यक्त कहाता है। (प्रश्न)—वह परमाणु तथा शरीर इन दोनों का सादृश्य (समान धर्म) क्या है, जिसके कारण परमाणु तथा शरीर दोनों का यह 'व्यक्त' साधारण नाम है ? (उत्तर)—रूप, रस इत्यादि गुणों का सम्बन्ध ही दोनों का सादृश्य है। क्योंकि रूपादिगुण के आधार भूतसूक्ष्म पृथिव्यादि परमाणुरूप नित्य कारणों से रूपादि गुणवाले शरीरादि अनित्य कार्य उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार व्यक्तद्रव्यों से ही व्यक्तद्रव्यों की उत्पत्ति होती है इसमें क्या प्रमाण है ? (इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार सूत्रोक्त हेतु देते हैं कि)—प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण। क्योंकि रूपादि गुणों से युक्त मृत्तिका, तन्तु आदि द्रव्यों से रूपादि गुणयुक्त घट, पट आदि पार्थिवादि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। जिससे न दीखने वाले नित्य अतीन्द्रिय परमाणु पदार्थों में भी अनुमान किया जाता है कि (सदृशगुणों के सम्बन्ध से ही वे शरीरादि कार्यों के कारण हैं) अर्थात् कारण (प्रकृति) और (विकार) कार्य इन दोनों में रूपादि गुणों का सम्बन्ध देखने में आता है। शरीरादिरूप पार्थिव कार्य द्रव्यों के रूपादि गुण वाले ही नित्य तथा अतीन्द्रिय (न दिखाई पड़ने वाले) पृथिव्यादि परमाणु कारण हैं, ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

(सिद्धान्ती के आशय को न समझकर पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—न = ऐसा नहीं हो सकता, घटात् = एक घट से, घटानिष्पत्तेः = दूसरे घट की उत्पत्ति न होने से ॥ १२ ॥

भावार्थ—व्यक्त द्रव्यों से व्यक्त द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, ऐसा सिद्धान्ती का मत असंगत है, क्योंकि एक व्यक्त घट से दूसरे व्यक्त घट की उत्पत्ति न होने के कारण व्यभिचार दोष आता है, अतः शरीरादि व्यक्त कार्यद्रव्यों को भी पार्थिवादि परमाणुरूप व्यक्तद्रव्य कारण नहीं हो सकते ॥१२॥

(पूर्वपक्षिमत से सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यह भी प्रत्यक्ष से देखने में आता है कि एक व्यक्त घटद्रव्य से दूसरे व्यक्त घट की उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण व्यक्त द्रव्य से व्यक्त द्रव्य की उत्पत्ति नहीं दिखाई पड़ती, इस कारण व्यक्त पार्थिवादि परमाणु व्यक्त शरीरादि कार्यों के कारण नहीं हो सकते, अतः सिद्धान्ती का व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति मानना सर्वथा असंगत है ॥ १२ ॥

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

न ब्रूमः सर्वं सर्वस्य कारणमिति, किन्तु यदुत्पद्यते व्यक्तं द्रव्यं तत्तथाभूतादेवोत्पद्यते इति । व्यक्तं च तन्मृद्द्रव्यं कपालसंज्ञकं यतो घट उत्पद्यते । न चैतन्निह्नुवानः कश्चिदभ्यनुज्ञां लब्धुमर्हतीति । तदेतत्तत्त्वम् ॥ १३ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम् ।

अतः परं प्रावादुकानां दृष्टयः प्रदर्श्यन्ते—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥

असतः सदुत्पद्यते इत्ययं पक्षः, कस्मात् ? *उपमृद्य प्रादुर्भावात्* । उपमृद्य

उक्त पूर्वपक्ष का सूत्रकार उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ—व्यक्तात् = व्यक्तमृत्तिकादिकों से, घटनिष्पत्ते = व्यक्त घट की उत्पत्ति होने के कारण, अप्रतिषेधः = व्यक्त कारण होने का निषेध नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

भावार्थ—यद्यपि एक घट दूसरे घट से उत्पन्न नहीं होता, तथापि वह घटरूप व्यक्तद्रव्य भी व्यक्त ही मृत्तिका के पिण्ड (ढेले) से उत्पन्न होता है, इस कारण व्यक्त कारणता का पूर्वपक्षी का खण्डन करना असंगत है, अतः व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती ही है, यह सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तिमत से सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—हम यह नहीं कहते कि सम्पूर्ण ही कार्यों के सम्पूर्ण पदार्थ कारण होते हैं, किन्तु जो कार्य व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होता है वह व्यक्त ही कारण द्रव्य से उत्पन्न होता है ऐसा कहते हैं । वह घट का कारण कपाल नाम का मृत्तिकारूप द्रव्य व्यक्त (रूपादि गुणयुक्त) है जिससे घटरूप व्यक्त द्रव्य की उत्पत्ति होती है । इस स्पष्ट प्रत्यक्ष दिखने वाले कार्यकारणभाव को न मानकर किसी स्थल में पूर्वपक्षी सिद्धान्त नहीं कर सकता, अर्थात यदि प्रत्यक्ष सिद्ध इस कार्यकारणभाव को पूर्वपक्षी न माने तो बुद्धिमान् लोग उसकी उपेक्षा करेंगे । वह यह वास्तविक स्थिति है ॥ १३ ॥

(४) शून्यकारणवाद के खण्डन का प्रकरण

(व्यक्त ही कारण से व्यक्त कार्य की उत्पत्ति होती है इस सिद्धान्त को दृढ करने के लिये पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों ने जो मत अन्य दर्शनशास्त्रों में कहे हैं, उनका खण्डन करने के लिये आगे आठ प्रकरण कहे जायँगे । जिनमें से प्रथम शून्य कारण मानने के खण्डन का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है । जिसके पूर्वपक्षसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति के वर्णन के पश्चात् आगे प्रावादुक (दार्शनिकों) की दृष्टि (मत) दिखाये जाते हैं—

पदपदार्थ—अभावात = शून्य कारण से, भावोत्पत्तिः = सत्कार्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है, न = नहीं, अनुपमृद्य=बीज को नष्ट न कर, प्रादुर्भावात=अंकुरादि कार्यों की उत्पत्ति न होने से ॥१४॥

भावार्थ—बीज के विना नाश के उससे अंकुररूप कार्य प्रकट नहीं होता इस कारण असत (अभाव) रूप कारण से ही सत्तावाले जगत के सम्पूर्ण कार्य उत्पन्न होते हैं, यदि बीज का नाश अंकुर की उत्पत्ति में कारण न हो तो विना बीज के नष्ट हुये ही अंकुर कार्य उत्पन्न हो जायगा, अतः बीज का नाशरूप अभाव ही अंकुर कार्य को उत्पन्न करता है यह सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—असत (अभाव) से सत (सत्तावाला) कार्य संसार में उत्पन्न होता है, ऐसा यह शून्य कारण को मानने वाले का पक्ष है ।

बीजमङ्कुर उत्पद्यते नानुपमृद्य, न चेद्बीजोपमर्दोऽङ्कुरकारणम् अनुपमर्देऽपि बीजस्याङ्कुरोत्पत्तिः स्यादिति ॥ १४ ॥

अत्राभिधीयते—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

उपमृद्य प्रादुर्भावादित्ययुक्तः प्रयोगो व्याघातात्। यदुपमृद्नाति न तदुपमृद्य प्रादुर्भवितुमर्हति विद्यमानत्वात्। यच्च प्रादुर्भवति न तेनाप्रादुर्भूतेनाविद्यमानेनोपमर्द इति ॥ १५ ॥

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥

(प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—उपमृद्य (कारण को नष्टकर), कार्य के प्रगट होने से। क्योंकि बीज को नष्ट कर अंकुर कार्य उत्पन्न होता है, नकि बिना बीज को नष्ट किये अंकुररूप कार्य उत्पन्न होता है। यदि बीज कारण का नाश अंकुर कार्य की उत्पत्ति में कारण न हो तो, बीज के बिना नष्ट हुए ही अंकुर कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी। अर्थात् क्षेत्र में बीज पड़ते ही अंकुर उत्पन्न होने लगेगा, नकि उनके सड़ने (नष्ट होने) की आवश्यकता होगी। अतः बीज के दृष्टान्त से सम्पूर्ण कारणों का नाश ही जगत् के सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति में कारण है, यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥१४॥

(इस प्रकार के शून्यकारणता मानने वाले बौद्ध दार्शनिकों के मत का खण्डन करने वाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस शून्य कारण मानने के विषय में यह सूत्रकार से उत्तर कहा जाता है—

पदपदार्थ—व्याघातात् = विरोध आने से, अप्रयोगः = पूर्वपक्षी के मत का प्रयोग नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

भावार्थ—अभावकारणतावादी का यह कहना कि बीज को नष्ट कर अंकुर का प्रादुर्भाव होता है असंगत है, क्योंकि जो अंकुर नष्ट करता है वह बीज को नष्ट कर प्रगट होता है यह नहीं हो सकता क्योंकि बिना विद्यमान हुए वह बीज को नष्ट कैसे कर सकता है, कारण यह कि जो प्रगट होता है उस अंकुर की अप्रगटता तथा अविद्यमानता में बीज का नाश करना नहीं बन सकता ॥१५॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी का बीजादि कारणों को नष्ट कर अंकुरादि कार्यों का प्रगट होना, ऐसा प्रयोग (कहना) असंगत है, क्योंकि व्याघात (विरोध) दोष आता है। कारण यह कि जो कारण को नष्ट करता है, वह नष्ट करने के पश्चात् प्रगट नहीं हो सकता—विद्यमान होने के कारण और जो प्रगट होता है, उस प्रगट न भये अविद्यमान कार्य से कारण का नाश नहीं हो सकता अर्थात् जो नष्ट करने वाला है वह वर्तमान है यह मानना ही पड़ेगा, क्योंकि स्वरूप से न रहने वाला नाश का कारण नहीं हो सकता, और जो प्रगट होता है वह नहीं है—जो सत् है वह सत्ता होने के कारण उत्पत्ति की आवश्यकता नहीं रखता—'वह यह नष्ट करता है' और 'प्रगट होता है' यह दोनों परस्पर में विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि जो प्रगट प्रगट होता है वह प्रगट होने के पूर्व में अविद्यमान ही है और अविद्यमान हो है यह नाश कैसे करेगा, अतः अभावकारणतावाद असंगत है ॥ १५ ॥

सिद्धान्ती के आशय को न समझकर पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप दिखाते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, अतीतानागतयोः = भूत तथा भविष्य पदार्थों में, कारकशब्दप्रयोगात् = कारक शब्दों का प्रयोग होने से ॥ १६ ॥

अतीते चानागते चाविद्यमाने कारकशब्दाः प्रयुज्यन्ते। पुत्रो जनिष्यते, जनिष्यमाणं पुत्रमभिनन्दति, पुत्रस्य जनिष्यमाणस्य नाम करोति, अभूत्कुम्भो, भिन्नं कुम्भमनुशोचति, भिन्नस्य कुम्भस्य कपालानि, अजाताः पुत्राः पितरं तापयन्तीति बहुलं भाक्ताः प्रयोगा दृश्यन्ते। का पुनरियं भक्तिः ? आनन्तर्यं भक्तिः, आनन्तर्यसामर्थ्यादुपमृद्य प्रादुर्भावार्थः प्रादुर्भविष्यन्नङ्कुर उपमृद्नातीति भाक्तं कर्तृत्वमिति ॥ १६ ॥

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का कहना असंगत है, क्योंकि विद्यमान न रहने वाले, भूत तथा भविष्य पदार्थों में भी कारक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जैसे पुत्र होगा, यहाँ कलश था ऐसे अनेक प्रकार के गौण प्रयोग हुआ करते हैं, इसी प्रकार आगे प्रगट होनेवाला अंकुर बीज कारण को नष्ट करता है इस प्रकार गौण नाश करने का अंकुर में व्यवहार किया जा सकता है, अतः सिद्धान्ती का व्याघात दोष असंगत है ॥ १६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—विद्यमान न रहने वाले भूत तथा भविष्य विषयों में भी कारक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—पुत्र उत्पन्न होगा, आगे उत्पन्न होने वाले पुत्र को आशिर्वाद देता है—आगे होनेवाले पुत्र का नाम करता है (ऐसे भविष्य पुत्र विषय के तीन उदाहरणों में जो अविद्यमान है क्रम से कर्ता, कर्म, तथा सम्बन्ध-कारक शब्दों का प्रयोग भाष्यकार ने किया है)। (आगे भूतविषय में कारक शब्द का प्रयोग भाष्यकार दिखाते हैं कि)—'कलश यहाँ था'—फूटे हुए कलश के लिये शोक करता है—'फूटे कलश के ये कपाल अवयव हैं।' इस प्रकार भूतविषय में, तथा पुत्र न होने के कारण पिता को दुःख होता है—इत्यादि अविद्यमान विषयों में भी अनेक प्रकार के बहुत से गौण प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। (इनमें से भूत घट (कलश) में कर्ता, कर्म, तथा सम्बन्ध के कारण शब्दों का तथा अविद्यमान पुत्र के विषय में दुःख होने में भी गौण ही प्रयोग देखने में आता है। यद्यपि पुत्र का नाम करता है, फूटे हुए कलश के ये कपाल अवयव हैं इन दोनों उदाहरणों में साक्षात् कारण शब्द नहीं है, तथापि षष्ठी विभक्ति से सम्बन्ध कहे जाने के कारण उसके क्रिया घटित होने से, ३ भेद क्रिया तथा कारक को व्याप्ति होने के कारण परम्परा सम्बन्ध से कारक शब्द हैं, यह जानना चाहिये। अतः इन उदाहरणों में अविद्यमान ही पदार्थों में जैसे कारक शब्दों का प्रयोग होता है उसी प्रकार प्रगट होने के पूर्व अविद्यमान भी आगे उत्पन्न होनेवाला ही अंकुर बीज को नष्ट करता है ऐसा गौण प्रयोग हो सकता है, अतः सिद्धान्ती का व्याघात दोष नहीं हो सकता)। आगे भाक्त (गौण) शब्द में भक्ति क्या है, यह वर्णन करते हुए भाष्यकार प्रश्न दिखाते हैं—यह भक्ति क्या है ? (उत्तर)—भक्ति शब्द का अर्थ है आनन्तर्य (पश्चात् होना)। इस आनन्तर्य के सामर्थ्य से 'नष्टकर प्रगट होता है' इसका यह अर्थ है कि आगे प्रगट होनेवाला अंकुर बीज को नष्ट करता है, इस प्रकार अंकुर में नाशक्रिया की कर्ता होना गौण है ॥ १६ ॥

उपरोक्त पूर्वपक्षी के आक्षेप का परिहार सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, विनष्टेभ्यः = नष्ट हुए बीज से, अनिष्पत्तेः = अंकुर नहीं होता ॥ १७ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि अभाव से भावपदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह असंगत है, क्योंकि नष्ट हुए बीजों से अर्थात् बीज के अभाव से अंकुर उत्पन्न नहीं ही होता ॥ १७ ॥

न विनष्टाद्बीजादङ्कुर उत्पद्यते इति तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति ॥ १७ ॥

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

उपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः स खल्वभावाद्भावोत्पत्तेर्हेतुर्निर्दिश्यते स च न प्रतिषिध्यते इति। *व्याहतव्यूहानामवयवानां पूर्वव्यूहनिवृत्तौ व्यूहान्तराद् द्रव्यनिष्पत्तिर्नाभावात्* । बीजावयवाः कुतश्चिन्निमित्तात्प्रादुर्भूतक्रियाः पूर्वव्यूहं जहति व्यूहान्तरं चापद्यन्ते व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते। दृश्यन्ते खलु अवयवास्तत्संयोगाश्चाङ्कुरोत्पत्तिहेतवः। न चानिवृत्ते पूर्वव्यूहे बीजावयवाना शक्यं व्यूहान्तरेण भवितुमित्युपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः, तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति। न चान्यद्बीजावयवेभ्योऽङ्कुरोत्पत्तिकारणमित्युपपद्यते बीजोपादाननियम इति ॥ १८ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः शून्यतोपादाननिराकरणप्रकरणम्।

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—नष्ट हुए बीजों से अंकुर उत्पन्न नहीं होते इस कारण पूर्वपक्षमत अयुक्त है कि अभाव से भावपदार्थ की उत्पत्ति होती है ॥१७॥

पूर्वपक्षी के कहने में जितना मानने योग्य है, उसको मानते हुए सिद्धान्तमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—क्रमनिर्देशात = बीज से अंकुर उत्पन्न होने के क्रम को कहने के कारण, अप्रतिषेधः= उतने का जो पूर्वपक्षी ने कहा है निषेध नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

भावार्थ—बीजनाश तथा अंकुर की उत्पत्ति का पूर्वापरभाव (पूर्वपश्चात होने) के नियमरूप क्रम के कहने के कारण उस क्रम का हम. निषेध नहीं करते, किन्तु इससे बीज के नाश से अंकुर उत्पन्न होता है यह सिद्ध नहीं हो सकता ऐसा कहते हैं ॥ १८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के क्रम शब्द का अर्थ है उपमर्द (कारण का नाश) तथा प्रादुर्भाव (कार्य का प्रगट होना)। इनका पूर्वापरभाव (पूर्वकाल तथा उत्तरकाल में होने का नियम) वही नियम अभावरूप कारण से भावरूप कार्य की उत्पत्ति का कारण अभाववादी से कहा जाता है। और उसका सिद्धान्ती निषेध नहीं करता है। (यदि इस क्रम का सिद्धान्ती निषेध नहीं करता, जिसको हमने अभाव से भावकार्य की उत्पत्ति होने में साधक माना है, तो साधन को मानकर साध्य को क्यों सिद्धान्ती नहीं मानता ? इस आक्षेप का कारण कहते हुए सिद्धान्तिमत से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिन बीजरूप कारणों के पूर्व अवयवों का नाश होकर उनके दूसरे अवयव उत्पन्न होते हैं ऐसे बीज के अवयवों से ही अंकुर कार्य उत्पन्न होता है, नकि बीज के नाश से अंकुर की उत्पत्ति होती है। (आगे बीज से अंकुर के उत्पत्ति का प्रकार दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—बीजों के अवयवों में प्राणियों के अदृष्टरूप किसी कारण से क्रिया उत्पन्न होने से वे बीजों के अवयव पूर्वव्यूहरूप को छोडकर दूसरे व्यूहस्वरूप को प्राप्त होते हैं। जिन दूसरे बीजावयव व्यूहों से अंकुर की उत्पत्ति होती है। क्योंकि बीजों के अवयव तथा उनके परस्पर संयोगों से अंकुरों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। जब तक बीजों के पूर्व अवयवों का व्यूहस्वरूप नष्ट नहीं होता तब तक दूसरे बीजावयवों की व्यूह बन नहीं सकता, इस प्रकार यह बीज का नाश और अंकुर की उत्पत्ति में पूर्वकाल तथा उत्तरकाल में होने का नियम ही क्रम कहा जाता है, इस कारण बीजादिओं के अभावरूप कारणों से भावरूप

अथापर आह—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥

अंकुरादि कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। और उन बीजादिकों के अवयवों को छोड़कर दूसरा अंकुरादि कार्यों की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता, इस प्रकार बीजादिकों का अंकुरादिकों में कारण होने का किसी प्रकार खण्डन न होने के कारण भावरूप बीजादिकों का अंकुरादि भाव कार्यों में कारण होने का नियम सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

(५) ईश्वर की उपादानकारणता का प्रकरण

इस ५ वें प्रकरण के विषय में वार्तिक, तथा तात्पर्यटीका में मतभेद दिखाई पड़ता है, क्योंकि वार्तिककार ने जगत् कार्य भी ईश्वर कर्ता है यह इस प्रकरण में सिद्ध किया है और तात्पर्यटीका में वेदान्तियों के अभिमत 'ईश्वर जगत् कार्य का उपादान कारण है' इस मत का खण्डन किया है। जिसमें प्रावादुक (वाद करने वालों) के दर्शन (मत) दिखाये जाते हैं ऐसा भाष्य का अवतरण मन में रखने से तात्पर्यटीकाकार की व्याख्या ही संगत प्रतीत होती है, क्योंकि न्यायदर्शन के प्राण के समान मुख्य ईश्वरकर्तृकता को प्रावादुकों का दर्शन कहना असंभव है। किन्तु सूत्रकार ने कहीं भी जगत् कार्य का ईश्वर कर्ता होता है ऐसा नहीं कहा है, यही समझकर वार्तिककार ने उपरोक्त भाष्य के अवतरण के व्याख्या के समय कहा है कि इस प्रकरण में कुछ दार्शनिक मतों का खण्डन किया जाता है, और कुछ दार्शनिक मतों का स्वीकार किया जाता है। किन्तु उनके मत से वही ईश्वरकर्तृकता का दर्शन स्वीकार किया जाता है, यह विचारणीय है। ईश्वर का कर्ता होना न्यायदर्शन का प्राणरूप होने के कारण वार्तिककार की व्याख्या ही यहाँ पर प्रधानरूप से कही गई है, किन्तु तात्पर्यटीकाकार की व्याख्या ही सूत्र तथा भाष्य के अनुसार है इस कारण उसकी उपेक्षा करना संगत नहीं है, इस कारण उसे भी लिखा जाता है। ऐसा होने से **'ईश्वरः कारणं'** इस १९ वें सूत्र में सिद्धान्त ही का प्रारम्भ किया गया है—जिस पर २० वें **'न पुरुषकर्म'** इस सूत्र में आक्षेप है, और **'तत्कारितत्वात्'** इस २१ वें सूत्र में उसका परिहार है ऐसी वार्तिककार की व्याख्या है। **'ईश्वरः कारणम्'** इस १९ वें सूत्र में वेदान्ती के किये ईश्वर की उपादान-कारणता का पूर्वपक्ष है—**'न पुरुषकर्म'** इस २० वें सूत्र में पूर्वपक्षस्वरूप वेदान्ती को अभिमत उपादानकारणता की अपेक्षा न रखने वाली केवल निमित्त कारण मानने का खण्डन है, और **'तत्कारितत्वात्'** इस २१ वें सूत्र में ईश्वर केवल निमित्त कारण ही है इस सिद्धान्त को कहा है ऐसी तात्पर्यटीकाकार की व्याख्या है यह समझ लेना चाहिये। इस प्रसंग में ईश्वर जगत् कार्य का निमित्त कारण है, यह ऐसा प्राचीन नैयायिकों को संमत है या नहीं यह भी विचारयोग्य विषय है। तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक के ६६ वें सूत्र के वार्तिक में 'सृष्टि आदि के न मानने से' ऐसा कहा है वही यहाँ के २१ वें सूत्र के वार्तिक में भी कहा गया है इस प्रकार सृष्टि के न मानने के कारण जगत् सृष्टि के निमित्त कारण कहने का कहाँ उपयोग होगा। इसलिये ईश्वर का नाम जगत् में नियन्ता (शासक) है यही नैयायिकों का मत प्रतीत होता है। भाष्यकार ने भी आगे ईश्वर को देखने वाले (द्रष्टा) तथा बोद्धा (जानने वाले) एवं सर्वज्ञाता हैं ऐसा कहा है न कि ईश्वर जगत् के कर्ता अथवा रचना करने वाले हैं ऐसा कहा है। ऐसी यहाँ खद्योतकार ने समालोचना की है। (जिसमें ईश्वर जगत् कार्य का कर्ता है, इस सिद्धान्तमत से भाष्यकार सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—यहाँ पर वार्तिकमत से अपना साथी दूसरा नैयायिक और तात्पर्यमत से वेदान्ती ऐसा कहता है कि—

पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति, यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति॥

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥

ईश्वराधीना चेत्फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति ॥ २० ॥

पदपदार्थ—ईश्वरः = ईश्वर, कारणं = निमित्त कारण है, पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् = जीवात्माओं के किये कर्म (प्रयत्नों) के प्रायः निष्फल दिखाई देने से (यह नैयायिकों का सिद्धान्त है) ॥१९॥

भावार्थ—संसार के प्राणियों को इष्ट विषय में प्रयत्न करने पर भी उनकी कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती, जिससे अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि प्राणियों के किये कर्मों का फल प्राप्त होना दूसरे के अधीन है, जिसके अधीन है वही ईश्वर है, जो सम्पूर्ण जगत् के कार्यों का निमित्त कारण है ॥ १९ ॥

(सिद्धान्तिमत से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—संसार में सुख की इच्छा करने वाले प्राणी इष्टसुखफल को अवश्य प्राप्त करते हैं ऐसा देखने में नहीं आता। जिससे अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि प्राणिमात्र के किये कर्मों के फलों की प्राप्ति होना दूसरे किसी के अधीन है, जिसके अधीन है वही ईश्वर है। इस कारण ईश्वर निमित्त कारण है ऐसा सिद्ध होता है। (तात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाशकार के मत में तो इस सूत्र में वेदान्तियों को अभिमत पूर्वपक्ष ही कहा गया है। वह इस प्रकार है कि—यह संसाररूप भाव कार्य प्रपञ्च बौद्धमत से अभाव कारण वाला न हो तो भी वेदान्तिमत से ब्रह्म उपादानकारण वाला हो सकता है, अर्थात् मिट्टी के भी जिस प्रकार घड़ा, कसोरा आदि परिणाम होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् कार्यरूप से परिणाम को प्राप्त होता है। परिणाम होने पर उस ब्रह्म का नाश नहीं होता इस कारण वह नित्य ही है। ऐसा एक परिणामवादियों का मत है। और दूसरा विवर्तवादी वेदान्तियों का, वह ऐसा है कि ब्रह्म ही अनादि अविद्यारूप उपाधि के भेद से अनेक नाम रूप प्रपञ्च (संसार) रूप से प्रतीत होता है, जिस प्रकार एक ही मनुष्य का मुख अनेक अपने, तलवार, मणि इत्यादिकों के भेद से अनेक प्रतिबिम्बरूप प्रतीत होता है। यह दोनों मत इस सूत्र में दिखाए हैं। ब्रह्मरूप ईश्वर जो चेतना शक्ति (क्रियाशक्ति) का आधार है वही जगत् कार्य का कारण है न कि बौद्धमत से अभाव अथवा सांख्यमत से प्रकृति या न्यायमत से परमाणु। जीवरूप चेतनों के कर्म के कारण यह संसार नहीं हो सकता, क्योंकि, उनके सुख प्राप्ति के लिये कर्म निष्फल हो जाते हैं यह देखने में आता है, इस कारण ईश्वर ही उपादान कारण जगत् कार्य का है यह ऐसा पूर्वपक्ष है ॥ १९ ॥

वार्तिककार की व्याख्या के अनुसार सिद्धान्त पर आक्षेप दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, पुरुषकर्माभावे = प्राणियों के कर्मों के न रहने पर, फलानिष्पत्तेः = कर्मों का फल नहीं होने से ॥ २० ॥

भावार्थ—पुरुषों (प्राणियों) का प्रयास न होने पर कोई भी कर्मों का फल नहीं होता, इस कारण ईश्वर निमित्त कारण नहीं हो सकता, अर्थात् ईश्वर के अधीन कर्मों का फल होता है, ऐसा माना जाय तो प्राणियों को प्रयत्न के बिना भी कर्मों का फल प्राप्त होने लगेगा ॥ २० ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि कर्मों के फल की सिद्धि होना ईश्वर के अधीन हो तो प्राणियों को समीहा (प्रयत्न) के बिना ही कर्मों का फल

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥

पुरुषकारमोश्वरोऽनुगृह्णाति, फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति। यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति। तस्मादीश्वरकारितत्वादहेतुः *पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति।*

प्राप्त होने लगेगा। अर्थात् यदि किसी की अपेक्षा न करता हुआ ईश्वर कारण हो तो प्राणियों को बिना प्रयास के कर्मों का फल प्राप्त होने लगेगा, जिससे कर्मों का लोप हो जायगा, और मुक्ति भी न हो सकेगी, क्योंकि एकरूप ईश्वर की एकरूप ही क्रिया हो सकती है। यदि ईश्वर कारणों के भेद के अनुसार कार्य करता है, ऐसा माना जाय, तो जिसकी अपेक्षा से ईश्वर करता है, उसे ईश्वर नहीं बनाता ऐसा मानना होगा। इस प्रकार प्राणिकर्म की अपेक्षा से यदि जगत् की उत्पत्ति होती हो तो कर्म का ईश्वर बनाने वाला नहीं है यह मानना पड़ेगा, यह पूर्वपक्ष का आशय है। (तात्पर्यटीकाकार के मत से इस सूत्र की ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—मृत्तिका के समान नामरूप संसार के स्वरूप में ब्रह्म का परिणाम वेदान्तिमत से नहीं माना जा सकता। क्योंकि ब्रह्म का सम्पूर्ण रूप से परिणाम मानने से वह अनित्य हो जायगा। यदि एकदेश से ब्रह्म का परिणाम माना जाय तो उसके अवयव होने के कारण भी उसमें अनित्यता आ जायगी। इस कारण ब्रह्म (ईश्वर) जगद्रूप से परिणाम को प्राप्त होता है, अथवा विवर्त को प्राप्त होता है यह मानना असंगत है। अतः ईश्वर उपादान कारण नहीं हो सकता, किन्तु निमित्त कारण जगत् कार्य का हो सकता है। और वह ईश्वर यदि किसी की अपेक्षा न करता हुआ जगत् कार्य का कारण है, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उसके उत्तर में यह सूत्र उपस्थित होता है कि—"न पुरुष कर्माभावे फलानिष्पत्तेः" ॥

वार्तिक की व्याख्या के अनुसार आक्षेप का परिहार करते हैं, और तात्पर्यटीका के अनुसार ईश्वर की उपादानकारणता, तथा ब्रह्म का विवर्त होना, और निरपेक्ष निमित्त कारणता का भी खण्डन कर अभिमत पक्ष का ग्रहण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तत्कारितत्वात् = ईश्वर से कराये होने से ॥ २१ ॥

भावार्थ—यह सूत्र सिद्धान्त का वर्णन करता है इस विषय में सबकी संगति है। प्राणियों में प्रयास ईश्वर से कराये जाते हैं इस कारण प्राणि कर्मों की सहायता से ही जगत् कार्य का ईश्वर निमित्त कारण है—इस पक्ष का खण्डन करने के लिये 'पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः' यह हेतु साध्य या साधक नहीं हो ऐसा यहाँ सिद्धान्तसूत्र का आशय है ॥ २१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्राणियों के प्रयास को ईश्वर अनुग्रह करता है—अर्थात् जिस प्राणि का जैसा कर्म होता है और उसका जब फल का समय आता है उसकी वैसी ही सहायता ईश्वर करते हैं।

(इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—सुखादि भोगरूप फल प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले प्राणियों के उस फलों को ईश्वर संपादन कर देते हैं अर्थात् देते हैं। और जब नहीं देते उस समय प्राणियों का कर्म निष्फल हो जाता है। इस कारण ईश्वर के अनुग्रह से कराये जाने के कारण 'प्राणियों का कर्म न होने पर कर्मों का फल नहीं होता' यह हेतु नहीं हो सकता। अर्थात् पृथिवी आदि परमाणुओं से उत्पन्न हुए जगत् का प्राणि कर्मों की अपेक्षा रखता हुआ ही ईश्वर निमित्त कारण है। और उस अपेक्षायोग्य प्राणियों के कर्म में भी ईश्वर ही निमित्त कारण है, क्योंकि जो जिस कार्य में अपेक्षित होता है वह उस कार्य में निमित्त नहीं है, यह नहीं हो सकता, कुल्हाड़ी बढ़ई के कार्य में सहायता देनेवाले आदि होनेवाले कार्य में बढ़ई ही निमित्त कारण होता है,

गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्। सङ्कल्पानुविधायी चास्य

यह देखने में आता है। इस कारण प्राणियों के प्रयत्न ईश्वर से कराये जाते हैं इस कारण उनकी सहायता से ही ईश्वर जगत् कार्य का निमित्त कारण है इस सिद्धान्त का खण्डन करने में 'पुरुष कर्म के न होने पर फल नहीं होता' यह हेतु युक्त नहीं है—किन्तु बिना कर्म की अपेक्षा के ईश्वर को निमित्त कारण मानने का खण्डन करने में ही यह हेतु हो सकता है यह सूत्र का गूढ़ आशय है। (इस प्रकार जगत् के सम्पूर्ण कार्यों का जो ईश्वर निमित्त कारण है उनका क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार ईश्वर का लक्षण करते हैं कि)—गुणविशिष्ट (विशेष गुणों से युक्त) दूसरे आत्मा ही को ईश्वर कहते हैं। (यहाँ पर संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, तथा ज्ञान गुण लेना चाहिये ऐसा वार्तिककार का मत है। जिस पर ज्ञान के समान इच्छा तथा प्रयत्न भी इस ईश्वर के नित्यगुण हैं (जिनकी ईश्वर के जगत् कार्य के कर्ता होने में साधनता है)—क्योंकि ज्ञान, चिकीर्षा, प्रयत्न इनके समवायसम्बन्ध का होना ही कर्तृता का स्वरूप माना गया है, (यदि पूर्वपक्षी कहे कि—सम्पूर्ण संसार के आत्मा तो अनित्य ज्ञान वाले ही हैं यह देखने में आता है, तो उससे विलक्षण नित्यज्ञान वाला परमेश्वर आत्मा की जाति वालों में कैसे माना जायगा—तो इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उस ईश्वर में जीव आत्माओं के प्रकार से दूसरा कोई भी उसकी सिद्धि नहीं कर सकता। अर्थात् यद्यपि ईश्वर को छोड़कर दूसरे जीवात्मा अनित्यज्ञान के आश्रय हैं और ईश्वर नित्यज्ञान का आश्रय है, तथापि ज्ञानादि गुणों का आधार होने के कारण वह आत्मा के जाति का ही है, नहीं तो जलादिकों के परमाणु भी जलजाति के नहीं हैं यह आपत्ति आ जायगी, क्योंकि जल के परमाणुओं में नित्यरूप होता है। (यदि "इस ईश्वर को सामान्यरूप से जीवात्माओं के समान न मानकर उसे जीवात्माओं से भिन्न आत्मा क्यों कहते हैं।" ऐसा पूर्वपक्षी प्रश्न करे तो इसके उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जीवात्माओं के समान उस ईश्वर में अधर्म, प्रमाद इत्यादि नहीं हैं, बल्कि उसके विपरीत धर्म, ज्ञान, समाधि इत्यादि गुणों की सम्पत्ति है, जिस कारण इन जीवात्माओं से भिन्न रहने वाले (विलक्षण) विशेषगुणों से विशिष्ट आत्मा के जाति ही का दूसरा विशेष आत्मा ही ईश्वर है यह सिद्ध होता है। क्योंकि इसी कारण ऐसे ईश्वरात्मा में उपरोक्त धर्म तथा समाधि का पुत्र **'अणिमा'** (अत्यन्त अणु होना) १, **'महिमा'** (सबसे महान् होना) २, **लघिमा** (सबसे लघु रहता था) ३, होना **गरिमा** (सबसे भारी होना) ४, **प्राकाम्यं** (इच्छा का नष्ट न होना) ५, **ईशित्व** (शासन करना) ६, **प्राप्ति** (इष्ट विषय का प्राप्त होना) ७, तथा **वशित्व** (जिसके सब अधीन हों) ८, ऐसे आठ प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं। और जीवात्माओं में नहीं होते। भाष्यकार ने यहाँ पर ईश्वर में धर्ममात्र कर आठ प्रकार के ऐश्वर्य हैं ऐसा कहा है, परन्तु वस्तुतः ईश्वर में धर्म है इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि बिना ज्ञान तथा क्रियाशक्ति इन दोनों से ही सम्पूर्ण ईश्वर के कार्य हो सकते हैं, ऐसी यहाँ वार्तिक तथा तात्पर्यटीकाकार ने समालोचना की है। (यदि ईश्वर किसी कर्म का जब अनुष्ठान नहीं करता तो उसका फल धर्म ईश्वर में कैसे माना जायगा, जिससे उपरोक्त आठ प्रकार का ऐश्वर्यरूप कार्य ईश्वर को बिना कर्म के होने से **'अकृताभ्यागम'** (न किये की प्राप्ति) रूप दोष आ जायगा, इस शंका के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—संकल्प (इच्छा) के अनुसार इस ईश्वर का धर्म होता है, जिससे यह ईश्वर प्रत्येक जीवात्माओं में वर्तमान धर्म तथा

धर्मः। प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। एवं च स्वकृताभ्यागमस्यालोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्। *आप्तकल्पश्चायम्*। यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्। न चात्मकल्पादन्यः कल्पः सम्भवति। न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम्। आगमाच्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर इति। बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम्। स्वकृताभ्यागमलोपेन च प्रवर्तमानस्यास्य यदुक्तं प्रतिषेधजातमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे, तत्सर्वं प्रसज्यते इति ॥ २१ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरीश्वरमात्रकारणतानिराकरणप्रकरणम्।

अधर्म के समुदाय, और पृथिवी आदि भूत परमाणुरूप द्रव्यों को भी प्रवृत्तियुक्त करता है। अर्थात् ईश्वर में बाह्यकर्मानुष्ठान न रहने पर भी संकल्प (इच्छा) रूप तथा जीवात्मा और पृथिव्यादि परमाणुओं में प्रवृत्ति को उत्पन्न करना रूप कर्मानुष्ठान भी वर्तमान होने के कारण उससे उत्पन्न हुए धर्म ही का उसे उपरोक्त आठ प्रकार का ऐश्वर्य हो सकता है, जिससे उपरोक्त पूर्वपक्षी ने दिया हुआ 'अकृताभ्यागम्' (न किये की प्राप्तिरूप दोष नहीं आ सकता)। (इससे ईश्वर जगत् का कर्ता है इस प्रस्तुत विषय में क्या सम्बन्ध है? (इस प्रश्न के समाधान में आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकार अपने किये कर्म के फल की प्राप्ति ही ईश्वर को होती है इसका निषेध न हो सकने से ईश्वर में जगत् की सृष्टि का सामर्थ्य भी उसके धर्म ही का फल है, जो उसके किये कर्मों का फल है, यह जान लेना चाहिये। यहाँ भाष्यकार ने ईश्वर की ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियाँ नित्य होने पर भी अणिमादि, आठ प्रकार का ऐश्वर्य अनित्य ही है इस आशय से उनको धर्म का फल कहा है। इसीसे ऐश्वर्य को नित्य मानने पर धर्म वृथा हो जायगा, यदि अनित्य माने तो उसके कारण की कल्पना करनी पड़ेगी इस प्रकार अनवस्था दोष होगा यह आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक जीवात्माओं में वर्तमान धर्म तथा अधर्म के समुदाय का आश्रय होना, इस संकल्प (इच्छा) के अनुसार होनेवाले ईश्वर के धर्म का प्रयोजक (कारण) है, ऐसी उद्योतकार ने यहाँ समालोचना की है। (यदि पूर्वपक्षी कहे कि)—"प्रयोजन के बिना किसी प्रेक्षावान् (बुद्धिमान्) प्राणी की किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती और ईश्वर को तो सम्पूर्ण प्राप्त होने के कारण कुछ भी प्राप्त नहीं करना है अतः ईश्वर को जगत् कार्य के करने की क्या आवश्यकता है?" (तो यह नहीं कह सकते इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह ईश्वर आप्त (हित करने वाले) के समान है, जिस प्रकार पिता अपने सन्तानों का हित करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी संसार के प्राणिमात्र का हितकारी पितारूप है। अर्थात् यद्यपि ईश्वर का कोई जगत् कार्य की रचना करने में अपना स्वार्थ नहीं है, तथापि परोपकार के लिये सृष्टि करने में प्रवृत्त ईश्वर होता है। (उपरोक्त प्रकार से ईश्वर आत्मजाति के ही हैं इस विषय को दृढ़ करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—और आत्माओं के प्रकार से भिन्न ईश्वर की सिद्धि होने में दूसरा कोई प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि इस ईश्वर की सिद्धि होने में ज्ञान को छोड़कर दूसरा कोई गुणरूप धर्म हेतु (साधक) नहीं कहा जा सकता। (यह ईश्वर सिद्धिरूप विषय केवल अनुमानप्रमाण ही से सिद्ध नहीं होता किन्तु आगम (शब्द) प्रमाण से भी सिद्ध होता है इस आशय से आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—आगम से भी ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का द्रष्टा (देखनेवाला), बोद्धा (सामान्यरूप से जानने वाला) तथा सर्वज्ञाता (विशेषरूप से जानने वाला) है यह सिद्ध होता है, क्योंकि बुद्धि

अपर इदानीमाह।

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥ २२ ॥

अनिमित्ता शरीराद्युत्पत्तिः, कस्मात् ? कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् कण्टकस्य

आदि प्रथमाध्याय में कहे हुए आत्मा के साधक लिङ्गों से निरूपाख्य (कहनेयोग्य न हो) तो ऐसे ईश्वर की प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणों से सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् पूर्वोक्त आत्मा की सिद्धि करने वाले बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न इत्यादि आठ विशेष गुणों से ईश्वर का कथन न होता हो तो ईश्वर के साधक प्रत्यक्षादि प्रमाण न होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं ही होगी। (यदि ईश्वर दया के कारण जगत् की रचना करने में प्रवृत्त होता हो तो सुखी प्राणियों को ही रचेगा, नकि दुःखी प्राणियों को) प्राणियों के धर्म तथा अधर्म की अपेक्षा करने के कारण जगत् कार्य की रचना में विचित्रता होती है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखी, दुःखी इत्यादि भेद से जगत् कार्य की विचित्रता देखने के कारण दया से प्रेरित ईश्वर जगत् को नहीं करता यह प्राप्त होता। (ऐसा आक्षेप पूर्वपक्षी यहाँ करे तो इसके उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पूर्वोक्त अपने किये कर्मों के फल की प्राप्ति के लोप (नाश) से जगत् कार्य को करने में ईश्वर की प्रवृत्ति होती है ऐसा माना जाय तो जो पूर्व में कहे हुए—शरीर की रचना में कर्म को कारण नहीं मानने में जो दोष दिये थे वे सम्पूर्ण दोष आ जायंगे। अर्थात् दयावाला भी ईश्वर अन्य आत्माओं से विशेष महिमा का आधार होने पर भी संसार के पदार्थों के स्वाभाविक धर्मों को विपरीत नहीं कर सकता, अतः प्राणियों के कर्मों का उल्लंघन (त्याग) कर ईश्वर किसी कार्य को नहीं कर सकता इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणियों के कर्मों के अनुसार ही ईश्वर जगत् कार्य को रचता है नहीं तो पूर्वोक्त शरीर की रचना में कर्म कारण नहीं होते इस विषय में तृतीयाध्याय के प्रथम आह्निक में जो दोष दिये थे वे सब यहाँ भी आ जायंगे ॥ २१ ॥

(६) आकस्मिक (अकस्मात् बिना कारण) कार्य की उत्पत्ति का प्रकरण

(पूर्वग्रन्थ में सिद्धान्तिमत से 'व्यक्त कारण से व्यक्त कार्य की उत्पत्ति होती है' इसका खण्डन करने के लिये शरीरादिकों में निमित्त कारण के निरास द्वारा चार्वाक अकस्मात् संसार के कर्मों की उत्पत्ति होती है, ऐसा परिशुद्धिकार ने इस प्रकरण का अवतरण दिया है। केवल कारण के निराकरण करने में इस प्रकरण का तात्पर्य है, ऐसी वर्धमानोपाध्याय की इस विषय में संमति है। और 'यदि संसार के कार्य अकस्मात् (बिना कारण) होते हों तो परमाणु न जगत् कार्य के समवायिकारण होंगे या ईश्वर निमित्त कारण होगा' इस कारण चार्वाक के आकस्मिकत्व का खण्डन करने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। ऐसी वृत्तिकार की यहाँ व्याख्या है। (इसलिये आकस्मिकत्व प्रकरण का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—दूसरा (चार्वाक) सांप्रत यह कहता है—

पदपदार्थ—अनिमित्ततः = बिना किसी कारण के, भावोत्पत्तिः = भावरूप कार्यों की उत्पत्ति होती है, कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् = कांटे आदिकों में बिना कारण (स्वाभाविक) तीक्ष्णता के दिखाई पड़ने से ॥ २२ ॥

भावार्थ—कांटे आदिकों में बिना कारण (स्वाभाविक) तीक्ष्णता (तीखापन) दिखाई पड़ता है, इस कारण संसार के सम्पूर्ण भावरूप कार्यों की उत्पत्ति बिना कारण (स्वाभाविक) ही होती है यह पूर्वपक्षसूत्र का आशय है ॥ २२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—शरीर, इन्द्रिय इत्यादिकों की उत्पत्ति में

तैक्ष्ण्यम्, पर्वतधातूनां चित्रता, ग्राव्णां श्लक्ष्णता, निर्निमित्तं चोपादानं दृष्टं तथा शरीरादिसर्गोऽपीति ॥ २२ ॥

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २३ ॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते यतश्चोत्पद्यते तन्निमित्तम्। अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नानिमित्ता भावोत्पत्तिरिति ॥ २३ ॥

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥ २४ ॥

कोई कारण नहीं है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—कण्टक (कांटे) आदिकों में विना कारण (स्वाभाविक) तीक्ष्णता दिखाई देती है इस कारण जिस प्रकार कांटों में तीक्ष्णता, पर्वत के गेरू आदि धातु द्रव्यों में विचित्रता, ग्रावा (पत्थरों) में श्लक्ष्णता (चिकनाहट) यह सब बिना निमित्त कारण के उपादान (समवायिकारण) वाले दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार शरीरादिकों की रचना भी बिना निमित्त कारण के ही होती है यह सिद्ध होता है। अर्थात् संस्थान (आकार) से भिन्न कांटे आदिकों के तीक्ष्णतादिकों में निमित्त कारण के न दिखाई देने के कारण निमित्तकारण रहित कांटे आदि की तीक्ष्णता होती है ऐसा दृष्टान्तों के बल से संस्थानविशेष (आकारविशेष) वाले शरीरादिकों का भी कोई निमित्तकारण नहीं है ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है ॥ २२ ॥

इस विषय में भ्रम से एकदेशमतावलम्बी जातिरूप असदुत्तर से मध्यम उपरोक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करता है—

पदपदार्थ—अनिमित्तनिमित्तत्वात् = अनिमित्त (अकारण) के ही निमित्तकारण होने से, न = नहीं, अनिमित्ततः = बिना कारण के (कार्य की उत्पत्ति नहीं होती) ॥ २३ ॥

भावार्थ—बिना कारण के भावरूप कार्य की उत्पत्ति होती है ऐसा मानने वाला पूर्वपक्षी अनिमित्त (न कारण को) ही भाव कार्य की उत्पत्ति का कारण मानता है, इस कारण बिना निमित्त के भावकार्य उत्पन्न होते हैं, यह उसका कथन व्यर्थ है। अर्थात् अनिमित्तरूप कारण से ही वह भावकार्य की उत्पत्ति मानता है, जिससे बिना कारण कार्य की उत्पत्ति होती है यह उसका कथन सर्वथा असंगत है ॥ २३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार जातिवादी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी अनिमित्त (अकारण) से भावकार्य की उत्पत्ति होती है ऐसा कहते हैं। किन्तु जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह कारण होता है। इस कारण अनिमित्त के ही भावकार्यों की उत्पत्ति होने में निमित्त (कारण) होने के कारण विना निमित्त से भावकार्यों की उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

इस जातिवादी एकदेशी के मत का पूर्वपक्षी बिना कारण कार्य की उत्पत्ति मानने वाले के मत से खण्डन करने के लिये सूत्रकार पूर्वपक्षिमत से कहते हैं—

पदपदार्थ—निमित्तानिमित्तयोः = निमित्त (कारण) तथा अनिमित्त (अकारण) इन दोनों के, अर्थान्तरभावात् = भेद होने से, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

भावार्थ—भावरूप निमित्त (कारण) तथा अभावरूप (अनिमित्त) के परस्पर निषेधरूप होने के कारण परस्पर में भेद है, अतः अनिमित्त (अकारण) ही निमित्त (कारण) नहीं हो सकता, इस कारण जातिवादी का अनिमित्त को निमित्त बताना सर्वथा असंगत है ॥ २४ ॥

अन्यद्धि निमित्तमन्यच्च निमित्तप्रत्याख्यानम्, न च प्रत्याख्यानमेव प्रत्याख्येयं यथाऽनुदकः कमण्डलुरिति नोदकप्रतिषेध उदकं भवतीति। स खल्वयं वादो ऽकर्मनिमित्तः शरीरादिसर्ग इत्येतस्मान्न भिद्यते, अभेदात्तत्प्रतिषेधेनैव प्रतिषिद्धो वेदितव्य इति॥ २४॥

इति त्रिभिः सूत्रैराकस्मिकत्वनिराकरणप्रकरणम्।

अन्ये तु मन्यन्ते—

(इसी आशय से भाष्यकार विना कारण भावकार्यों की उत्पत्ति माननेवाले के मत से जातिवादी के मत का खण्डन करते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—निमित्त (भावरूप कारण), दूसरा होता है, और उसका प्रत्याख्यान (निषेध) रूप अनिमित्त दूसरा होता है। जो निषेध है वही निषेध योग्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार कमण्डल में जल नहीं है यह कहने से जल का कमण्डल में निषेध (न होना) ही जल नहीं होता। (इस प्रकार से आकस्मिक कार्य की उत्पत्ति माननेवाले मत का स्वतन्त्ररूप से खण्डन करते हुए इस विषय में सूत्रकार ने सूत्र में क्यों नहीं कहा यह भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—यह आकस्मिक कार्यों की उत्पत्ति का वाद (मत) शरीरादिकों की रचना विना प्राणियों के कर्म के होती है इस पूर्वग्रन्थ में दिखाये हुए मत से भिन्न नहीं है। भिन्न न होने के कारण उसके सिद्धान्तिमत से पूर्वोक्त खण्डन से ही खण्डन हो जाता है यह जान लेना चाहिये। अर्थात् तृतीय अध्याय के अन्तिम प्रकरण में जो विना कर्म के शरीर की रचना होती है इस मत का खण्डन किया गया है इस आकस्मिकवाद के भी उसीके समान होने के कारण उसी खण्डन से इसका भी खण्डन हो जाता है, इसी कारण सूत्रकार ने इस आकस्मिकवाद का पृथक् खण्डन करने का प्रयास नहीं किया है यह सूचित होता है॥ २४॥

(किन्तु इन २३ तथा २४ दो सूत्रों की वृत्तिकार ने दूसरे प्रकार से व्याख्या की है कि नवीन नैयायिकों ने किया हुआ २२ वें सूत्र के आक्षेप का 'अनिमित्त' इस २३ वें सूत्र में समाधान है। अनिमित्तता का साधक, अनिमित्तता की अनुमिति का कारण होने से 'अनिमित्त से' यह सिद्ध है। अर्थात् यदि अनिमित्तता के अनुमान की कारणता न मानी जाय तो अनिमित्तता ही सिद्ध न होगी। कंटि आदि की तीक्ष्णता विना निमित्त के नहीं है क्योंकि उनकी प्राणियों के अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं से उत्पत्ति होती है यह तात्पर्य है। दूसरा 'निमित्त' इस २४ वें सूत्र में दोष देते हैं। यह इस कार्य में कारण है यह नहीं है इस प्रतीति से उन दोनों (निमित्त तथा अनिमित्त) का भेद होने के कारण निमित्त का निषेध नहीं हो सकता, न होने 'यह कारण है, यह कारण नहीं है' ऐसा लोकसिद्ध व्यवहार न बन सकेगा॥ २३-२४॥

(७) सम्पूर्ण पदार्थों के अनित्य मानने वाले मत के खण्डन का प्रकरण

(कारण की सामग्री क्या अनित्य पदार्थों के समुदाय ही को कहते हैं, अथवा नित्य पदार्थों को अथवा नित्य तथा अनित्य पदार्थों को? यह अब विचार करना है। जिनमें प्रथम तथा द्वितीय पक्ष में प्रेत्यभावरूप प्रमेय की सिद्धि न होगी। अतः उन दोनों पक्षों का खण्डन करना है। क्षणभंगवाद के खण्डन से ही यह विषय गतार्थ हो जाता है—ऐसा कहा नहीं जा सकता—क्योंकि स्थैर्यवाद को लेकर पुनः आरम्भ इस प्रकरण का है ऐसी यहां परिशुद्धिकार उदयनाचार्य की समालोचना है। यदि सभी पदार्थ अनित्य माने जांय तो आत्मा आकाश आदि पदार्थ भी नित्य न होंगे इस कारण यहाँ पर सम्पूर्ण पदार्थों के अनित्यतावाद के खण्डन का प्रकरण है, ऐसी वृत्तिकार ने इस प्रकरण

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥

किमनित्यं नाम ? यस्य कदाचिद् भावस्तदनित्यम् । उत्पत्तिधर्मकमनुत्पन्नं नास्ति विनाशधर्मकं चाविनष्टं नास्ति । किं पुनः सर्वम् ? भौतिकं च शरीरादि अभौतिकं च बुद्ध्यादि तदुभयमुत्पत्तिविनाशधर्मकं विज्ञायते तस्मात्तत्सर्वमनित्यमिति ॥ २५ ॥

नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

यदि तावत्सर्वस्यानित्यता नित्या ? तन्नित्यत्वान्न सर्वमनित्यम् । अथानित्या ? तस्यामविद्यमानायां सर्वं नित्यमिति ॥ २६ ॥

के विषय में सम्मति दी है । (ऐसे इस सम्पूर्ण पदार्थों के अनित्य मानने के पक्ष का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—दूसरे बौद्ध विद्वान् ऐसा मानते हैं—

पदपदार्थ—सर्वं = सम्पूर्ण पदार्थ, अनित्यं = अनित्य हैं, उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् = उत्पत्ति तथा नाश धर्म वाले होने से ॥ २५ ॥

भावार्थ—संसार में जानने योग्य पदार्थ नित्यता से युक्त हैं अथवा नहीं ? ऐसे संशय पर यह पूर्वपक्षसूत्र है कि संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अनित्य ही हैं ॥ २५ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सिद्धान्ती के पक्ष से प्रश्न करते हैं कि)—अनित्य किसे कहते हैं ? (उत्तर)—जिस पदार्थ की किसी ही समय में सत्ता होती है, उसे अनित्य कहते हैं । क्योंकि उत्पन्न होने वाला पदार्थ विना उत्पत्ति के नहीं रहता, तथा विनाश धर्मवाला पदार्थ नष्ट होने पर नहीं रहता । (प्रश्न)—सूत्र में सर्वशब्द से किसको कहा है ? (उत्तर)—भूतद्रव्यों (पृथिवी आदि) से उत्पन्न हुये शरीर को भौतिक पदार्थ तथा अभौतिक भूतद्रव्यों से उत्पन्न न हुए ज्ञान, सुख इत्यादि सम्पूर्ण पदार्थ सूत्र में सर्वशब्द से लिये गये हैं । ये दोनों भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ उत्पत्ति तथा नाशधर्म वाले हैं यह जाना जाता है । इस कारण वह सब ही अनित्य हैं । अर्थात् जो पदार्थ उत्पत्ति तथा नाशवाला होता है वह सब अनित्य होता है, अतः भौतिक शरीरादिक तथा अभौतिक ज्ञानादिक सभी उत्पत्ति नाशवाले होने से अनित्य हैं । भौतिक तथा अभौतिक पदार्थों को छोड़कर दूसरे कोई संसार में पदार्थ नहीं है इस कारण संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अनित्य हैं यह सिद्ध होता है । इस कारण पृथिव्यादि परमाणु अनित्य हैं, भौतिक होने से शरीर के समान तथा आत्मा भी अनित्य है, अभौतिक होने से, ज्ञानादिकों के समान इन अनुमानप्रमाणों से सम्पूर्ण ससार के पदार्थों में अनित्यता सिद्ध होती है, यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ २५ ॥

इस प्रकार के सर्वानित्यतावादी के मत का एकदेशी के मत से परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, अनित्यतानित्यत्वात् = अनित्यता के सर्वदा होने से नित्य होने के कारण ॥ २६ ॥

भावार्थ—सर्वानित्यतावादी पूर्वपक्षी ने जो कहा कि सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अनित्य हैं यह नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनित्यता ही सर्वकाल में रहने से नित्य है ॥ २६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार विकल्प द्वारा एकदेशी के मत से सर्वानित्यतावादी के मत का खण्डन करते हुए एकदेशी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यदि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों की

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥

तस्या अनित्यताया अप्यनित्यत्वम् । कथम् ? यथा अग्निर्दाह्यं विनाश्यानुविनश्यति एवं सर्वस्यानित्यता सर्वं विनाश्यानुविनश्यतीति ॥ २७ ॥

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थानात् ॥ २८ ॥

अयं खलु वादो नित्यं प्रत्याचष्टे, *नित्यस्य च प्रत्याख्यानमनुपपन्नम् । कस्मात् ? यथोपलब्धि व्यवस्थानात् ।* यस्योत्पत्तिविनाशधर्मकत्वमुपलभ्यते

अनित्यता नित्य है (सर्वदा है) तो उसीके नित्य होने के कारण सब पदार्थों में अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती । अर्थात् सब अनित्य हैं इसका यही अर्थ होता है कि सब पदार्थों को अनित्यता नित्य है । ऐसा होने से अनित्यता के नित्य होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थ अनित्य है इसका विरोध होता है, क्योंकि अनित्यता भी संसार के सम्पूर्ण पदार्थों के अन्तर्गत ही है, यह प्रथम विकल्प का आशय है । (यदि और पदार्थों के अनित्य होने पर भी अनित्यता नित्य नहीं है ऐसा कहो तो भाष्यकार कहते हैं कि)—यदि वह अनित्यता अनित्य है (सदा नहीं है) तो उसके न रहने के समय सम्पूर्ण पदार्थ नित्य है यह सिद्ध हो जायगा । अर्थात् यदि अनित्यता नित्य न हो तो सम्पूर्ण पदार्थ नित्य नहीं हैं यह प्राप्त होता है । पूर्वपक्षी का उत्पत्ति होने से विनाश होता है यह कहना अयुक्त है क्योंकि ध्वंसनामक अभाव उत्पन्न होने पर भी विनाशी न होने से नित्य होने के कारण व्यभिचार दोष आ जायगा ॥ २६ ॥

सर्वानित्यतावादी के मत से उपरोक्त एकदेशी के मत का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तदनित्यत्वे = वह अनित्य भी अनित्य है, अग्नेः = अग्नि के, दाह्यं = जलाने योग्य काष्ठ आदि को, विनाश्य = नष्टकर, अनुविनाशवत् = पश्चात् नष्ट होने के समान ॥ २७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि अपने जलाने योग्य काष्ठादिकों को जलाने के पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है, अर्थात् शान्त हो जाती है उसी प्रकार वह अनित्यता भी सम्पूर्ण अनित्य पदार्थों को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, इस कारण अनित्यता भी अनित्य है ॥ २७ ॥

(इसी आशय से सर्वानित्यतावादी के पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—वह अनित्यता भी अनित्य है । (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—जिस प्रकार अग्नि अपने जलाने योग्य काष्ठादिकों को नष्टकर (जलाकर) पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है (शान्त हो जाती है) इसी प्रकार संसार के सम्पूर्ण पदार्थों की अनित्यता भी सम्पूर्ण पदार्थों को नष्टकर पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है ॥ २७ ॥

इस प्रकार एकदेशी के मत का खण्डन कर नैयायिकों के सिद्धान्त को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नित्यस्य = नित्य पदार्थों का, अप्रत्याख्यानं = खण्डन (निषेध) नहीं हो सकता, यथोपलब्धि = उपलब्ध होने के अनुसार, व्यवस्थानात् = व्यवस्था होने के कारण ॥ २८ ॥

भावार्थ—जिन पदार्थों की उत्पत्ति और नाश देखने में आता है वह अनित्य होता है, और जिन पदार्थों की उत्पत्ति तथा नाश देखने में नहीं आता वे नित्य होते हैं, ऐसी सर्वसम्मत व्यवस्था होने के कारण नित्य पदार्थों का निषेध नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यह सर्वानित्यतावाद नित्यपदार्थों का निषेध करता है, किन्तु नित्यपदार्थों का खण्डन नहीं हो सकता । (प्रश्न)—क्यों ?

प्रमाणतस्तदनित्यं, यस्य नोपलभ्यते तद्विपरीतम्। न च परमसूक्ष्माणां भूतानामाकाशकालदिगात्मनसां तद्गुणानां च केषाञ्चित्सामान्यविशेषसमवायानां चोत्पत्तिविनाशधर्मकत्वं प्रमाणत उपलभ्यते तस्मान्नित्यान्येतानीति ॥ २८ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः सर्वानित्यतानिराकरणप्रकरणम्।

अयमन्य एकान्तः—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥

भूतमात्रमिदं सर्वं तानि च *नित्यानि* भूतोच्छेदानुपपत्तेरिति ॥ २९ ॥

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥

(उत्तर)—जैसी उपलब्धि होती है (जैसा देखने में आता है)। वैसी व्यवस्था होने के कारण जिस पदार्थों में उत्पत्ति तथा नाशरूप दोनों धर्म प्रमाण से सिद्ध होते हैं, वे अनित्य होते हैं, और जिन पदार्थों में उत्पत्ति तथा विनाशधर्म नहीं पाये जाते, वे उसके विपरीत (नित्य) होते हैं। इस कारण अत्यन्त सूक्ष्म पृथिव्यादि परमाणु, आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा और मन इन द्रव्यों, तथा उनके कुछ गुण तथा जातिविशेष एवं समवायसम्बन्धरूप पदार्थों में किसी प्रमाण से उत्पत्ति तथा विनाशरूप धर्म नहीं पाये जाते, इस कारण ये सब पदार्थ नित्य हैं। (यदि पूर्वपक्षी सम्पूर्ण पदार्थों को पक्षकर उनमें अनित्यता सिद्ध करे, तो परमाणु आदिकों में हेतु (उत्पत्ति-विनाशरूप) न होने से भाग (अंश) से हेतु असिद्ध हो जायगा, और किसी को पक्ष करे तो सिद्धसाधन दोष आ जायगा यह सिद्धान्ती का गूढ आशय है ॥ २८ ॥

(संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को नित्य ही मानने पर भी पूर्वोक्त प्रेत्यभाव सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये यह सर्वानित्यतावाद के खण्डन का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। जिसका अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यह दूसरा एकान्त (एक ही पक्ष का) वाद (मत) है, अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों का पक्ष मानकर प्रतिज्ञा वाक्य है—

पदपदार्थ—सर्वं = संसार के सम्पूर्ण पदार्थ, नित्यं = नित्य हैं, पंचभूतनित्यत्वात् = पांच पृथिवी आदि भूतपदार्थों के नित्य होने से ॥ २९ ॥

भावार्थ—पृथिव्यादि पांच भूतपदार्थों का नाश न होने के कारण, उनसे बने हुए संसार के सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं ॥ २९ ॥

(इसी आशय से सर्वनित्यतावादी के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यह संसार के सम्पूर्ण पदार्थ पांच पृथिवी आदि महाभूतरूप हैं, और वे पृथिवी आदि पांच भूतपदार्थ नित्य हैं क्योंकि उनका नाश नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

इस सर्वपदार्थों के नित्यतावाद का सिद्धान्तमत से निरास करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = सम्पूर्ण पदार्थ नित्य नहीं हैं, उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः = उत्पत्ति तथा विनाश का कारण प्राप्त होने से ॥ ३० ॥

भावार्थ—जिन संसार के घट, पट आदि पदार्थों के उत्पत्ति तथा नाश का मिलते हैं वे पदार्थ भूतपृथिव्यादिकों के लक्षण से रहित नहीं है, अतः उत्पत्ति तथा नाशवान् पदार्थों में भूतों का लक्षण होने के कारण सम्पूर्ण संसार के भूतपदार्थ नित्य हैं यह नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

उत्पत्तिकारणं चोपलभ्यते *विनाशकारणं* च, तत् सर्वनित्यत्वे व्याहन्यते इति ।। ३० ।।

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ।। ३१ ।।

यस्योत्पत्तिविनाशकारणमुपलभ्यते इति मन्यसे न तद् भूतलक्षणहीनमर्थान्तरं गृह्यते, *भूतलक्षणाविरोधाद्* भूतमात्रमिदमित्ययुक्तोऽयं *प्रतिषेध* इति ।।

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ।। ३२ ।।

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र को व्याख्या करते हैं कि)—भौतिक घट पट आदि पदार्थों के उत्पन्न होने तथा नष्ट होने का भी कारण पाया जाता है । अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को नित्य मानने से न बन सकेगा । अर्थात् पृथिवी जल आदि पांच भूतपदार्थों से बने हुए भौतिक पदार्थ उन भूतों से भिन्न हैं, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु गौ घट आदि नहीं हैं, क्योंकि परमाणुओं के समान गौ घट आदि पदार्थ भी इन्द्रिय से ग्रहण योग्य न हों तो सबका प्रत्यक्ष न होगा, ऐसा द्वितीयाध्याय में **'सर्वाग्रहण प्रसङ्गात्'** इस सूत्र में कह चुके हैं । इस कारण ग्रहण होना, न होना इन दोनों विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से भौतिक घटादि पदार्थ भूत (पृथिव्यादि परमाणु) आदि से भिन्न हैं, इस कारण घटादि भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति तथा नाश के प्राप्त होने के कारण, पृथिवी परमाणु आदि पांच भूतपदार्थों के नित्य होने पर भी भौतिक पदार्थ नित्य नहीं हैं, अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं, यह सर्वनित्यतावाद असंगत है ।। ३० ।।

भूतपदार्थों के समानरूप होने से अभेद मानकर पुनः पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तल्लक्षणावरोधात् = उन भूतपदार्थों के लक्षण से संचार होने के कारण, अप्रतिषेधः= सर्वपदार्थों के नित्य होने का निषेध नहीं हो सकता ।। ३१ ।।

भावार्थ—गौ घट इत्यादि भौतिक पदार्थों में पृथिव्यादि भूतपदार्थों का लक्षण होने के कारण पृथिव्यादि भूतपदार्थों के नित्य होने से भौतिक गौ घट आदि पदार्थ नित्य नहीं हैं ऐसा सिद्धान्ती नहीं कह सकता ।। ३१ ।।

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की पूर्वसूत्र में कहे हुए का स्मरण कराते हुए व्याख्या करते हैं कि)—जिन गौ घट आदि भौतिक पदार्थों के उत्पत्ति तथा नाश का कारण प्राप्त होता है ऐसा आप सिद्धान्ती मानते हैं—वे भौतिक पदार्थ भूतपदार्थों के लक्षण से रहित दूसरे पदार्थ गृहीत नहीं होते (नहीं जाने जाते)। इस कारण भूतपृथिव्यादि पदार्थों के लक्षणों से भौतिक गौ घटादि पदार्थों का संग्रह होने के कारण यह सब संसार के पदार्थ भूतमात्र हैं, ऐसा 'निषेध नहीं हो सकता । अर्थात् जिसकी उत्पत्ति और नाश का कारण मिलता है वह अनित्य होता है ऐसा कहा है, वे पदार्थ भूतपदार्थों के लक्षणों से युक्त ही देखने में आते हैं अतः वे भी भूतपदार्थ ही हैं, अतः भूतपदार्थों के समान भौतिक पदार्थों को भी नित्य मानना होगा, अतः उनके नित्यता का निषेध नहीं हो सकता ।। ३१ ।।

उपरोक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, उत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः = उत्पत्ति तथा नाश कारणों की प्राप्ति होने से ।। ३२ ।।

भावार्थ—जिस कारण भौतिक गौ घट आदि पदार्थों में उत्पत्ति तथा उसके कारण पाये जाते हैं, अतः भौतिक पदार्थों को अनित्य ही मानना होगा । जिससे भूतपृथिव्यादिकों का कार्य होने से

कारणसमानगुणस्योत्पत्तिः कारणं चोपलभ्यते। न चैतदुभयं नित्यविषयम्, न चोत्पत्तितत्कारणोपलब्धिः शक्या प्रत्याख्यातुम्, न चाविषया काचिदुपलब्धिः। उपलब्धिसामर्थ्यात्कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यते इत्यनुमीयते, स खलूपलब्धेर्विषय इति। एवं च *तल्लक्षणावरोधोपपत्तिरिति*। उत्पत्तिविनाशकारणप्रयुक्तस्य ज्ञातुः प्रयत्नो दृष्ट इति। *प्रसिद्धश्चावयवी तद्धर्मा*। उत्पत्तिविनाशधर्मा चावयवी सिद्ध इति। *शब्दकर्मबुद्धयादीनां चाव्याप्तिः*। पञ्चभूतनित्यत्वात् *तल्लक्षणावरोधाच्चेत्यनेन* शब्दकर्मबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च न व्याप्ताः तस्मादनेकान्तः।

भी भूतपदार्थों का सादृश्य (समानरूपता), भौतिक गौ घट आदि पदार्थों में भूतस्वरूपता अथवा भूतपदार्थों के समान उनमें नित्यता नहीं हो सकती यह सिद्धान्ती का गूढ़ आशय है ॥ ३२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—भौतिक गौ घट इत्यादि पदार्थ जिस समय उत्पन्न होते हैं, उस समय उनमें कारणों के गुणरूपादिकों के समान गुणों की उत्पत्ति होती है, और उनके कारण (अवयव) भी उपलब्ध होते हैं। अर्थात् गौ घट आदि कार्य द्रव्यों में कारण गुणपूर्वक ही गुण होते हैं। किन्तु नित्यपरमाणु आदि द्रव्यों की न उत्पत्ति होती है न उनके कारण मिलते हैं। (यदि पूर्वपक्षी कहे कि यह दोनों हम नहीं मानते, तो भाष्यकार उत्तर में कहते हैं कि)—इस प्रकार कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति तथा उनके कारणों की उपलब्धि जो प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध है उसका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि ऐसी उपलब्धि (ज्ञान) होता है तो वह विना विषय के न हो सकने के कारण उस विषय की सत्ता अवश्य माननी होगी। इस प्रकार से कार्यद्रव्यों की कारण गुणों से गुणों का होना, तथा उनके कारणों का होना इन दोनों के प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध होने के सामर्थ्य से कारण के समान गुण वाले कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं यह अनुमान से सिद्ध होता है। यही उपलब्धि (ज्ञान) का विषय है। अर्थात् उक्त उपलब्धि से ऐसा अनुमान किया जाता है कि जो कार्य जिस समय उत्पन्न होता है उस-उस समय वह अपने कारण के गुणों के समान गुणवाला ही उत्पन्न होता है, वही कार्य गौ घट इत्यादि उपरोक्त ज्ञान का विषय है। इस कारण गौ घट इत्यादिकों में जो अपने कारण गुणों के समान गुण होता है वही उनका लक्षणों मे संग्रह है, यह उनकी समानता वे पृथिव्यादि भूतरूप हैं, अथवा नित्य हैं यह सिद्ध नहीं कर सकता। यह सिद्धान्ती का आशय है। (और भी अपने पक्ष का साधक दूसरा अनुभव दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उत्पत्ति तथा नाश होने के कारण से हो प्रेरणा किये ज्ञाता (जानने वाले प्राणियों) का प्रयत्न भी देखने में आता है अर्थात् यदि भावकार्य द्रव्यों का वास्तविक उत्पत्ति तथा नाश न होता हो तो अपने इष्टवस्तु (पदार्थों) के उत्पन्न होने के लिये उनके कारणों का ग्रहण तथा अनिष्ट पदार्थों के विनाश के कारणों का भी ग्रहण करने में प्राणिमात्र की जो प्रवृत्ति होती है वह न होगी। (इसी विषय में दूसरी युक्ति देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अवयवीरूप धर्मी उक्त रूप धर्मवाला प्रसिद्ध भी है, अर्थात् उत्पत्ति तथा नाशधर्म के आधार अवयवी (गौ घट) इत्यादिक प्रसिद्ध भी हैं (जिससे सिद्ध होता है कि जो-जो अवयववाले पदार्थ हैं वे सब उत्पत्ति और नाशधर्मवाले अवश्य होते हैं, ऐसा प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध भी है) पूर्वपक्षी का पांच पृथिव्यादि द्रव्यों के नित्य होने से सम्पूर्ण संसार के पदार्थ नित्य हैं उस हेतु में अव्याप्ति दोष भी आता है, शब्द, ज्ञान, क्रिया इत्यादिकों में यह लक्षण नहीं आता। क्योंकि पांच भूतपदार्थों के नित्य होने से, तथा

स्वप्नविषयाभिमानवत् मिथ्योपलब्धिरिति चेत् ? भूतोपलब्धौ तुल्यम् । यथा स्वप्ने विषयाभिमान एवमुत्पत्तिकारणाभिमान इति। एवं चैतद् भूतोपलब्धौ तुल्यं द्युपृथिव्याद्युपलब्धिरपि स्वप्नविषयाभिमानवत् प्रसज्यते।

पृथिव्याद्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति चेत् ! तदितरत्र समानम् । उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धिविषयस्याप्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति, सोऽयं नित्यानामतीन्द्रियत्वादविषयत्वाच्चोत्पत्तिविनाशयोः *स्वप्नविषयाभिमानवदित्यहेतुरिति* ॥ ३२ ॥

उनके लक्षण से सम्पूर्ण संसार के पदार्थों का संग्रह होने से इन दोनों हेतुओं की शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा क्रिया इन पदार्थों में व्याप्ति नहीं है, अतः व्यभिचार दोष आता है अर्थात संसार के सब पदार्थ नित्य हैं पांच भूतद्रव्यों के नित्य होने से और उनका लक्षण आने से भी ऐसा कहनेवाले पूर्वपक्षी को शब्दादिकों में भी पांच भूतद्रव्यों की स्वरूपता तथा भूतलक्षण का होना अभिमत है, किन्तु वस्तुतः शब्द इत्यादि न भूतस्वरूप हैं न उनमें उनका लक्षण है, इस कारण पंचभूतरूप होना तथा उनका लक्षण होना यह दोनों शब्दादिकों में न होने के कारण अव्यापक ही है, अतः पूर्वपक्षी के हेतु में व्यभिचार दोष आता है। क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुमान में (सम्पूर्ण पदार्थ) पक्ष हैं इस पक्ष में दोनों पूर्वपक्षी हेतुओं को पृथिवी आदिकों में सत्ता भी मिलती है और शब्दादिकों में असत्ता (न रहना) भी मिलता है इस कारण यह पूर्वपक्षी का हेतु सव्यभिचार नामक दुष्ट हेतु है, यही सिद्धान्ती का गूढ अभिप्राय है। (सिद्धान्ती ने दिखाई हुई उपलब्धि (ज्ञान) स्वप्न के समान मिथ्या है इस आशय से पूर्वपक्षी का आक्षेप दिखाकर उसका खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—"स्वप्न में देखे हुए विषयों के सत्य होने के अभिमान (भ्रम) के समान यह सिद्धान्ती ने दिखाई हुई उपलब्धि (ज्ञान) मिथ्याज्ञान है" ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह भूतपदार्थों की उपलब्धि में भी समान ही है। अर्थात जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ (विषय) नहीं ही होते, उसी प्रकार भौतिक गौ घट इत्यादिकों के उत्पत्ति के कारण उपलब्ध होने पर भी असत ही हैं ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो, ऐसा होने से यह भूतों के ज्ञान में भी समान ही है—अर्थात संसार में पृथिवी आदि भूतपदार्थों की उपलब्धि (ज्ञान) को भी स्वप्न के पदार्थों के भ्रम के समान भ्रम मानना पड़ेगा। अर्थात यदि स्वप्न के दृष्टान्त से गौ, घट इत्यादिक भी यदि असत हों तो उसी दृष्टान्त से पृथिवी आदि भूतपदार्थ भी मिथ्या हैं यह मानना होगा। और मानने पर बिना बाधक के रहते मिथ्या मानने में अतिप्रसंग दोष आ जायगा। अर्थात संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं यह आपत्ति आयगी यह सिद्धान्ती का आशय है। (आगे पृथिवी आदि पदार्थों में मिथ्यात्व की दी हुई सिद्धान्ती की आपत्ति पर पूर्वपक्षी बाधक देता हुआ कहता है कि)—यदि पृथिवी, जल आदि संसार के प्रसिद्ध पदार्थों को न माना जाय तो सभी संसार के व्यवहारों का लोप (अभाव) हो जायगा तो इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह तो दूसरे पक्ष में भी समान है, क्योंकि उत्पत्ति तथा नाश के कारणों की उपलब्धि (व्याप्ति) के विषय न मानने पर भी सम्पूर्ण संसार के व्यवहारों का लोप (अभाव) हो जायगा यह समान ही दोष आता है। अर्थात यदि प्रसिद्ध पृथिवी आदि पदार्थों को न माना जाय तो संसार के सम्पूर्ण व्यवहार नष्ट हो जायँगे—यह पूर्वपक्षी का कथन सत्य है—किन्तु सिद्धान्ती के कहे हुए गौ घट इत्यादि पदार्थों की उत्पत्ति तथा नाश के कारणों को उपलब्धि को भी विषय न मानने पर सम्पूर्ण संसार के व्यवहार नष्ट हो जायँगे यह दोष दोनों पक्षों में समान ही है।

अवस्थितस्योपादानस्य धर्ममात्रं निवर्तते धर्ममात्रमुपजायते स खलूत्पत्तिविनाशयोर्विषयः। यच्चोपजायते तत्प्रागप्युपजननादस्ति, यच्च निवर्तते तन्निवृत्तमप्यस्तीति,

(इस विषय को समाप्त करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वह यह नित्यपरमाणु आदि पदार्थों के नित्य होने तथा उत्पत्ति और नाश के विषय न होने से भी—स्वप्न के विषय के भ्रम के समान—यह हेतु पूर्वपक्षी के मत का साधक नहीं हो सकता है। अर्थात् गौ घट आदि पदार्थों में भूतपदार्थ स्वरूप होने का—स्वप्न के विषयों के ज्ञान के समाम उत्पत्ति तथा नाश के कारण की उपलब्धि मिथ्या है यह साधक नहीं हो सकता, क्योंकि नित्यपरमाणु आदि पदार्थों का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता तथा वे उत्पत्ति तथा बिनाश के विषय भी नहीं होते, कारण यह कि जो पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों ने जो नित्यपदार्थ माने हैं वे सब इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते तथा उत्पत्ति और नाशवाले भी नहीं होते, अर्थात् परमाणु, आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा में नित्य हैं, जिनका इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता और न उनकी उत्पत्ति और नाश भी होता है यह सिद्धान्ती का आशय है।

(इस प्रकार सांख्यदर्शन का खण्डन कर स्वायंभुवों के मत का खण्डन करने के लिये उनके मत से सिद्धान्ती के कहे हुए उत्पत्ति तथा नाश दोनों को दूसरे से प्रकार से सिद्धि दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र के अवतरणिका पूर्वपक्षिमत से देते हैं कि)—रहने वाले उपादान (समवायिकारण) रूप धर्मी का केवल पूर्व धर्म ही निवृत्त (नष्ट) होता है और दूसरे धर्म की उत्पत्ति होती हैं। यह परिणाम ही उत्पत्ति तथा नाश का विषय है। और जो उत्पन्न होता है वह पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान (सत्) होता है, और जो निवृत्त होता है वह निवृत्त (नष्ट) होने पर भी रहता है। इस प्रकार संसार के सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं यह सिद्ध होता है। अर्थात् धर्मी (पदार्थों) का धर्म, लक्षण तथा अवस्था ऐसे तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। जैसे सुवर्णधर्मी (पदार्थ) का कड़ा, कुण्डल इत्यादि धर्म परिणाम होता है। और जब उस सुवर्ण का सोनार कड़ा या कुण्डल को लेकर यन्त्र, (जन्तर) तैयार करता है (बनाता है) तो वह कड़ा वर्तमानता को छोड़कर अतीत लक्षण को प्राप्त होता है, जन्तर और टीक ये भविष्य लक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होते हैं। वर्तमान होते हुए ही वह जन्तर या टीक नये-पुराने स्वरूपता को प्राप्त होने से अवस्था परिणाम वाले भी होते हैं। वर्तमान लक्षण के आधार से यह नया और पुराना होना रूप अवस्था लक्षण परिणाम कहाता है। इस प्रकार संसार के सम्पूर्ण पदार्थों (धर्मियों) में तीन प्रकार के उपरोक्त परिणाम होते हैं। यह तीनों धर्म, लक्षण तथा अवस्था धर्मी (पदार्थ) से भिन्न, तथा अभिन्न भी होते हैं। धर्मी से अभिन्न होने के कारण धर्म भी नित्य है, और उत्पत्ति तथा नाश वाले होने के कारण धर्मी से भिन्न अनित्य भी होते हैं। जिससे नाना प्रकार के परिणामों में एक ही धर्मी (पदार्थ) सम्बद्ध है और नित्य भी है, जिससे यह सिद्ध होता है कि गौ घट आदि पदार्थरूप धर्मी उत्पन्न तथा नष्ट नहीं होते, किन्तु उनके धर्म ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं। यह केवल पूर्वपक्षी के सिद्धान्त को मानकर कहा है, वस्तुतः धर्मी की भी उत्पत्ति और नाश नहीं होते, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात् भी धर्मी के रूप से अभिन्न होने के कारण वे वर्तमान नहीं हैं, इस प्रकार स्वायम्भुवमत से संसार के सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं यह पूर्वोक्त सर्वनित्यता मत स्थिर ही है यह पूर्वपक्षी का गूढ़ आशय है॥ ३२॥

उपरोक्त स्वयम्भुवों के मत का सूत्रकार सिद्धान्तिमत से खण्डन करते हैं—

एवं च सर्वस्य नित्यत्वमिति—

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

अयमुपजनः इयं निवृत्तिरिति व्यवस्था नोपपद्यते, उपजातनिवृत्तयोर्विद्यमानत्वात्। अयं धर्म उपजातोऽयं निवृत्त इति सद्भावाविशेषादव्यवस्था, इदानीमुपजननिवृत्ती नेदानीमिति कालव्यवस्था नोपपद्यते सर्वदा विद्यमानत्वात् अस्य धर्मस्योपजननिवृत्ती नास्येति व्यवस्थानुपपत्तिः, उभयोरविशेषात्। अनागतो ऽतीत इति च कालव्यवस्थानुपपत्तिः, वर्तमानस्य सद्भावलक्षणत्वात्। अविद्यमानस्यात्मलाभ उपजनो विद्यमानस्यात्महानं निवृत्तिरित्येतस्मिन् सति नैते दोषाः। तस्माद्यदुक्तं प्रागप्युपजनादस्ति निवृत्तं चास्ति तदयुक्तमिति ॥ ३३ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः सर्वनित्यतानिराकरणप्रकरणम्।

पदपदार्थ—न = नहीं, व्यवस्थानुपपत्तेः = व्यवस्था के न हो सकने से ॥ ३३ ॥

भावार्थ—उत्पत्ति तथा विनाश दोनों की स्वरूप, काल, विशेष, सम्बन्धी तथा भविष्यता आदिकों से व्यवस्था नहीं हो सकती। अर्थात परस्पर का त्यागकर रहने वाले भेद और अभेदरूप को धर्म एकधर्मी (पदार्थ) में नहीं रह सकते, इस कारण उत्पत्ति और नाश दोनों की व्यवस्था होने के लिये धर्मी से धर्म, लक्षण तथा अवस्थारूप तीन परिणामों का भेद मानने वाले को धर्म अनित्य होते हैं यह मानना पड़ेगा। यहां वृत्तिकार ने "उत्पत्ति तथा नाश की प्रतीति भ्रम माननी पड़ेगी ऐसी शंका पर 'न व्यवस्था' इत्यादि यह सूत्र लिया है। सर्वजनों के अनुभव से सिद्ध उत्पत्ति और नाश की प्रतीति को भ्रम माना जाय तो संसार में यह प्रथा सत्यज्ञान है, तथा यह भ्रमज्ञान है इस व्यवहार का विलोप (अभाव) हो जायगा" ऐसी व्याख्या की है ॥ ३३ ॥

(इस सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के 'व्यवस्थानुपपत्ति' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हैं कि)—यह उपजन (उत्पत्ति) है, यह निवृत्ति (नाश) है ऐसी व्यवस्था (नियम) नहीं हो सकती—क्योंकि पूर्वपक्षी के मत से उत्पन्न तथा नष्ट दोनों पदार्थ विद्यमान रहते हैं। अर्थात् यदि उत्पन्न हुआ पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व में विद्यमान हो—तथा नष्ट पदार्थ भी नाश के पश्चात् विद्यमान ही हो तो—यह सम्पूर्ण संसार के प्राणियों के अनुभव से प्रसिद्ध उत्पत्ति और नाश को विषय करने वाली व्यवस्था मिथ्या (झूठी) हो जायगी। (स्वरूप से व्यवस्था नहीं हो सकती इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह धर्म उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ धर्मी के रूप से धर्म की सत्ता समान होने के कारण यह व्यवस्था न होगी। तथा इस समय उत्पत्ति और नाश हुए, इस समय में नहीं हुए, ऐसी काल को लेकर भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि धर्मी के रूप से उत्पत्ति (स्वरूप तथा काल के समान सम्बन्धी को लेकर अव्यवस्था दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—यह पदार्थ भविष्य, तथा यह पदार्थ भूतकाल में है ऐसी काल को लेकर भी व्यवस्था न बन सकेगी, क्योंकि धर्मी को रूप से वह पदार्थ सर्वकाल में विद्यमान् है। (उक्त स्वरूप आदिकों को लेकर जो संसार में अनुभव सिद्ध व्यवस्था है वह सम्पूर्ण सिद्धान्ती के मत में हो सकती हैं, इस कारण अपने पक्ष में उनका साधक देते हैं कि)—पूर्वकाल में न रहने वाले पदार्थ की आत्मलाभ (अपनी प्राप्ति) को उपजन (उत्पत्ति) होना, और आत्महान (अपने स्वरूप की हानि) रूप निवृत्ति (नाश) होना ये दोनों होते हैं ऐसा सिद्धान्ती का मत

अयमन्य एकान्तः—

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥

सर्वं नाना न कश्चिदेको भावो विद्यते। कस्मात्? *भावलक्षणपृथक्त्वात्।* भावस्य लक्षणमभिधानं येन लक्ष्यते भावः स समाख्याशब्दः तस्य पृथग्विषयत्वात्। सर्वो भावसमाख्याशब्दः समूहवाची कुम्भ इति संज्ञाशब्दो गन्धरसरूपस्पर्शसमूहे बुध्नपार्श्वग्रीवादिसमूहे च वर्त्तते, निर्देशमात्रं चेदमिति ॥३४॥

मानने पर उपरोक्त स्वरूपादिकों की अव्यवस्थारूप दोष नहीं हो सकते। इस कारण—उत्पन्न होने के पूर्व भी पदार्थों की सत्ता होती है और नष्ट हुआ भी पदार्थ वर्तमान रहता है—ऐसा जो पूर्वपक्षी ने कहा था वह असंगत है ॥ ३३ ॥

(९) सम्पूर्ण पदार्थों के पृथक्-पृथक् होने के खण्डन का प्रकरण

इस प्रकार के पूर्वग्रंथ के प्रकरणों से यह सिद्ध होता है कि—गुण तथा गुणी, भाव तथा अभाव, चेतन तथा अचेतन, दृष्ट तथा अदृष्ट, एवं नित्य तथा अनित्य का समुच्चय सामग्रीक होती है। सांप्रत उपरोक्त समुच्चय के विरुद्ध विषय का निरास करता है। वह है आगे के (सू० ३४–३६ तक एकता का खण्डन मत, और ३७ सूत्र से ४० सूत्र तक 'शून्यतावाद' का खण्डन तथा सूत्र ४१ से ४३ तक 'संख्या के एकान्तवाद' का खण्डन ऐसे तीन वादों का खण्डन है। यदि एक न हो तो किसका क्या समुच्चय होगा। इसी प्रकार अद्वैतवाद में भी। उसमें भी यदि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव होने के कारण शून्य होने पर अप्रसिद्ध जगत में समुच्चय क्या होगा। इसलिये प्रथम संसार में एक ही पदार्थ है ऐसे एकतावाद का खण्डन करने के लिये भाष्यकार इस प्रकरण का अवतरण देते हुए कहते हैं कि—यह और एक दूसरा एकान्तवाद है—

पदपदार्थ—सर्वं = संसार के सम्पूर्ण पदार्थ, पृथक्=अपने से भी भिन्न हैं, भावलक्षणपृथक्त्वात्= गन्ध, रस इत्यादि भावस्वरूपों के पृथक् होने के कारण ॥ ३४ ॥

भावार्थ—संसार के सम्पूर्ण घट आदि पदार्थ अपने से भी पृथक् (भिन्न) हैं, क्योंकि गन्ध, रस इत्यादि भावरूपों का परस्पर भेद है, और घट आदि पदार्थ उन से भिन्न नहीं हैं। अर्थात् रूप, रस, गन्ध इत्यादिकों से भिन्न कोई संसार में घटादि द्रव्य नामक पदार्थ नहीं है। तथा अवयवों से भिन्न अवयवी भी नहीं है, रूप आदि अवयव परस्पर में भिन्न ही हैं ऐसा सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक बौद्धों का मत है। तात्पर्यटीकाकार का भी यही मत है कि यह बौद्धों का एकतावाद है ॥ ३४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अनेक हैं, कोई भी समुदायरूप एकभाव पदार्थ संसार में नहीं हैं। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—भावपदार्थों का लक्षण पृथक्-पृथक् भिन्न-भिन्न होता है इस कारण। (इसी का आगे स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—भावपदार्थ का लक्षण अर्थात् अभिधान (कथन), जिससे भावपदार्थ कहा जाता है वह समाख्या (संज्ञा) शब्द, वह पृथक् (भिन्न) को विषय करता है अर्थात् भावलक्षण इस पद का समाख्या (संज्ञा) ही अर्थ है, वह समाख्या पदार्थों के समूह को ही कहती है—क्योंकि उसका विषय भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) है। संसार के सम्पूर्ण भावपदार्थों को कहने वाले संज्ञाशब्द समुदाय को ही कहते हैं जैसे 'कुम्भ' इस संज्ञाशब्द का गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श इन गुणों का समुदाय और उसके उत्पन्न करने वाले बुध्न (पेंदा), पार्श्व (बगल), ग्रीवा (गरदन) इन अवयवों का समुदाय ही अर्थ हैं। जो यह केवल उदाहरण मात्र

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

अनेकविधलक्षणैरिति मध्यमपदलोपी समासः। गन्धादिभिश्च गुणैर्बुध्नादिभिश्चावयवैः सम्बद्ध एको भावो निष्पद्यते गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यमवयवातिरिक्तश्चावयवीति । विभक्तन्यायं चैतदुभयमिति ॥ ३५ ॥

अथापि—

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

हैं । संसार के सम्पूर्ण पदार्थ इसी प्रकार रस, रूप आदि गुणों के समुदाय तथा उनके अवयव-समुदाय को ही कहते हैं अर्थात् अनेक को कहते हैं नकि किसी एक को यह पूर्वपक्ष का तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

उपरोक्त पूर्वपक्ष का खण्डन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, अनेकलक्षणैः = अनेक भावों से, एकभावनिष्पत्तेः = एक ही भावपदार्थ की उत्पत्ति होने के कारण ॥ ३५ ॥

भावार्थ—संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अनेक रूप ही होते हैं यह पूर्वपक्षी का कथन असंगत है, क्योंकि अनेक लक्षण (भावरूप अवयवों) से एक ही अवयव समुदायरूप अवयवी पदार्थ उत्पन्न होता है। अर्थात् रूप रसादिगुणों का आधार अवयवों से उत्पन्न एक ही कुम्भ (कलश) आदि अवयवीरूप पदार्थ होते हैं ॥ ३५ ॥

(सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं कि)—भिन्न-भिन्न रूप गुण तथा अवयवों का संग्रह करने के लिये 'अनेकलक्षणैः' इस सूत्र के पद में 'अनेक प्रकार के लक्षण वाले' ऐसा मध्य के 'विध' पद का लोप मानकर मध्यमपद लोपी समास लेना चाहिये। (आगे कलश के दृष्टान्त में योजना करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—गन्ध, रूप, इत्यादि गुण तथा बुध्न (पेंदा) इत्यादि अवयवों से सम्बन्ध रखने वाला एक ही कलश इत्यादि भाव पदार्थ उत्पन्न होता है। रूपादिगुणों से कलशरूप गुणी द्रव्य तथा अवयवों से भिन्न अवयवी भी होता है। अर्थात् अनेक गुणों का आधार, तथा अनेक अवयवों से उत्पन्न हुए कलश इत्यादि संसारिक पदार्थ एक-एक ही होते हैं यह सिद्ध होता है। (द्वितीयाध्याय के द्वितीय आह्निक के ३३ वें सूत्र में गुणों से तथा अवयवों से गुणी, अवयवी पदार्थ भिन्न होता है यह पूर्वग्रन्थ में सिद्ध कर चुके हैं। इसी कारण वृत्तिकार ने भी कहा है कि)—एक कलश इत्यादि धर्मी पदार्थ के प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध होने के कारण, और उसके चाक्षुषप्रत्यक्ष होना, रसनप्रत्यक्ष होना इत्यादि विरुद्ध धर्म के विषय रूप, रस इत्यादि रूपता न हो सकने के कारण अवयवों के कारण होने से, तथा कार्य और कारण का अभेद न हो सकने से भी कारणों में गुणरूपता तथा अवयवरूपता नहीं हो सकती यह सिद्धान्ती का आशय है ॥ ३५ ॥

(उपरोक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करने वाले सिद्धान्तसूत्र के दूसरे हेतु का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—और भी—

पदपदार्थ—लक्षणव्यवस्थानात् एव = पदार्थों के लक्षणों की व्यवस्था होने से ही, अप्रतिषेधः = कोई संसार में एक पदार्थ नहीं है, ऐसा निषेध नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

भावार्थ—संसार के कुंभ इत्यादि सम्पूर्ण पदार्थों के अपने-अपने लक्षणों की व्यवस्था होने के कारण ही पूर्वपक्षी ने किया हुआ संसार में कोई एकभावरूप पदार्थ नहीं है यह निषेध नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

न कश्चिदेको भाव इत्ययुक्तः प्रतिषेधः। कस्मात्? *लक्षणव्यवस्थानादेव।* यदिह लक्षणं भावस्य संज्ञाशब्दभूतं तदेकस्मिन्व्यवस्थितं यं कुम्भमद्राक्षं तं स्पृशामि यमेवास्प्राक्षं तं पश्यामीति। नाणुसमूहो गृह्यते इति अणुसमूहे चागृह्यमाणे यद् गृह्यते तदेकमेवेति।

अथाप्येतदनूक्तं नास्त्येको भावो यस्मात्समुदायः, एकानुपपत्तेर्नास्त्येव समूहः। नास्त्येको भावो यस्मात्समूहे भावशब्दप्रयोगः, एकस्य चानुपपत्तेः समूहो नोपपद्यते एकसमुच्चयो हि समूह इति व्याहतत्वादनुपपन्नं नास्त्येको भाव इति, यस्य प्रतिषेधः प्रतिज्ञायते समूहे भावशब्दप्रयोगादिति हेतुं ब्रुवता स

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी का 'संसार में कोई भी एक भावरूप पदार्थ नहीं है' ऐसा किया हुआ निषेध असंगत है। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—पदार्थों के लक्षणों की व्यवस्था होने से ही। क्योंकि जो संसार में भावपदार्थों के संज्ञा (वाचक)—शब्दरूप लक्षण हैं, वे एक ही में व्यवस्थित (नियमित) हैं—कि मैंने जिस कलश को देखा था उसको मैं स्पर्श करता हूँ, जिसका स्पर्श किया था उसी को सांप्रत देख रहा हूँ। अर्थात् यदि यह कलश पदार्थ अनेक रूप होता तो 'जिनको मैंने देखा था' ऐसा बहुवचन का व्यवहार लोग करते अतः कलश एक ही पदार्थ है यह सिद्ध होता है। (अतः पूर्वपक्षिमत से परमाणु समूहरूप अवयवी नहीं हो सकता यह दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—परमाणुओं के समुदाय का अतीन्द्रिय होने के कारण ग्रहण नहीं हो सकता, अतः कलशादिकों के कारणरूप परमाणुओं का ग्रहण न होने के कारण जिसका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है वह परमाणुसमुदाय से भिन्न एक अवयवी कलशादिक ही है यह सिद्ध होता है। (दूसरा दोष देने के लिये पूर्वपक्षी के मत के तात्पर्य का अनुवाद करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—यह जो पूर्वपक्षी ने पीछे कहा था कि—'कोई संसार में एकभाव पदार्थ नहीं है, क्योंकि सभी अनेक गुण और अनेक अवयवों का समुदाय है' यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक के न होने से समुदाय भी नहीं हो सकता। (पूर्वपक्षी के हेतु का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—संसार में कोई एक भावपदार्थ नहीं है, क्योंकि भावशब्द का प्रयोग (व्यवहार) समुदाय में किया जाता है। अर्थात् 'घट' इत्यादि संज्ञाशब्द रूपादि गुण और उसके अवयवों को ही कहता है। अतः कोई भी संसार में एकरूप भावपदार्थ नहीं है। (इस पूर्वपक्ष का प्रथम कहा हुआ ही खण्डन पुनः भाष्यकार कहते हैं कि)—एक किसी के न होने से समुदाय भी नहीं हो सकता—क्योंकि एक के समुच्चय (इकट्ठा होने) को समूह कहते हैं इस कारण संसार में कोई एक भावपदार्थ नहीं है और उसका समुदाय है यह दोनों कहना परस्पर विरुद्ध होने कारण संसार में कोई पदार्थ नहीं है यह कहना असंगत है। क्योंकि समुदाय में भावशब्दों का प्रयोग होता है इस हेतु को कहने वाले पूर्वपक्षी ने जिस एक भावपदार्थ के निषेध की प्रतिज्ञा करता है—उसीको वह मानता है क्योंकि एक को समुच्चय (इकट्ठा होने को) समूह कहते हैं। और समुदाय में भावशब्दों का प्रयोग होता है यह भी समुदाय को लेकर ही प्रत्येक समुदाय वालों का निषेध है कि—संसार में कोई एक भावपदार्थ नहीं है, इस प्रकार दोनों प्रकार से विरोध आने के कारण कुछ ऐसा ही व्यर्थ मत है। अर्थात् समूह में भावशब्दों का प्रयोग होने के कारण इस पूर्वपक्षी के हेतु के वाक्य में समूह तो माना गया है—और 'संसार के कोई भी एक भावपदार्थ नहीं है' इस प्रतिज्ञावाक्य में समूह में रहने वाले समूह वाले का निषेध पूर्वपक्षी ने किया है—जिससे प्रत्येक सम्पूर्ण समुदाय

एवाभ्यनुज्ञायते एकसमुच्चयो हि समूह इति। समूहे भावशब्दप्रयोगादिति च समूहमाश्रित्य प्रत्येकं समूहि प्रतिषेधो नास्त्येको भाव इति। सोऽयमुभयतो व्याघाताद्यत्किञ्चन वाद इति ॥ ३६ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः सर्वनानात्वनिराकरणप्रकरणम्।

अयमपर एकान्तः—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥

यावद्भावजातं तत्सर्वमभावः। कस्मात्? *भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः।* असन् गौरश्वात्मनाऽनश्वो गौरसन्नश्वो गवात्मनाऽगौरश्व इत्यसत्प्रत्ययस्य प्रतिषेधस्य च भावशब्देन सामानाधिकरण्यात् सर्वमभाव इति ॥ ३७ ॥

वालों का निषेध समूह का भी निषेध करता है, इस प्रकार हेतु तथा प्रतिज्ञा दोनों के विरोध होने से एक भावपदार्थ का निषेध करने का यह वाद सर्वथा अनादरयोग्य (श्रद्धा से ग्रहण करने योग्य) नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

(१०) सर्वशून्यतावाद के खण्डन का प्रकरण

(सम्पूर्ण जगत को शून्य मानने पर कार्यकारणभाव ही न बन सकेगा इसलिये सर्वशून्यता का निरास करने के लिये यह प्रकरण आरम्भ करते हुए सर्वशून्यतावाद का प्रस्ताव करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—यह दूसरा एकान्त (नियमित)-वाद है—

पदपदार्थ—सर्वं = सम्पूर्ण पदार्थ, अभावः = अभावरूप हैं, भावेषु = भावरूप सम्पूर्ण पदार्थों में, इतरेतराभावसिद्धेः = परस्पर अभावरूपता सिद्ध होने के कारण ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जिस कारण संसार के घट, पट इत्यादि पदार्थ परस्पर में अभावरूप हैं, अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अभाव हैं ॥ ३७ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—जितने संसार के घट, पट आदि भावपदार्थ हैं, वे सम्पूर्ण अभावरूप हैं। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—घटादि भावपदार्थों में परस्पर का अभाव सिद्ध होने के कारण। जैसे—'गौ अश्वरूप से असत (अविद्यमान) है, गौ अश्व नहीं है, गौरूप से अश्व असत् (अविद्यमान) है, अश्व गौ नहीं है, इस प्रकार असत् (अविद्यमानता) का ज्ञान, तथा निषेध की भी गौ इत्यादि भाववाचक शब्द के साथ समान अधिकरण में रहने का ज्ञान उपरोक्त प्रतीतियों में होता है, इस कारण सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अभावरूप है'। अर्थात सम्पूर्ण भाववाचक शब्द, असत अभाव को विषय करते हैं, क्योंकि असत की प्रतीति होती है। तथा निषेध के साथ एक अधिकरण में रहते हैं न उत्पन्न हुए, तथा नष्ट हुए पर शब्द के समान इस अनुमान से सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अभावरूप हैं यह सिद्ध होता है।

(इस शून्यतावाद का यह तात्पर्य है कि प्रमाण, प्रमेय इत्यादि नैयायिकों के षोडश पदार्थ परस्पर अभावरूप होने के कारण अभाव प्रतीति तथा 'नञ्' के विषय हैं ऐसा अनुभव होता है, इस कारण उनके प्रमाणादि वाचक शब्दों में अभाव की समान अधिकरणता है। अतः प्रमाणादि पदार्थ न उत्पन्न हुए अथवा नष्ट हुए पट के समान असत हैं। और ये प्रमाणादि भावपदार्थ नित्य हैं अथवा अनित्य? नित्य हों तो सम्पूर्ण प्रकार के सामर्थ्य के न होने से ये असत हैं क्योंकि नित्य पदार्थ का किसी भावकार्य में उपयोग नहीं होता। क्योंकि कार्य का उत्पत्ति में उनमें क्रम तथा अक्रम नहीं हो सकता। अनित्य मानने के पक्ष में यदि वे भावपदार्थ विनाश स्वभाव वाले हों

प्रतिज्ञावाक्ये पदयोः प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातादयुक्तम् । अनेकस्याशेषता सर्वशब्दस्यार्थो भावप्रतिषेधश्चाभावशब्दस्यार्थः । पूर्वं सोपाख्यमुत्तरं निरुपाख्यं, तत्र समुपाख्यायमानं कथं निरुपाख्यमभावः स्यादिति, न जात्वभावो निरुपाख्योऽनेकतयाऽशेषतया शक्यः प्रतिज्ञातुमिति । *सर्वमेतदभाव इति चेत्?* यदिदं सर्वमिति मन्यसे तदभाव इति? एवं चेत् *अनिवृत्तो व्याघातः*, अनेकमशेषं चेति नाभावप्रत्ययेन शक्यं भवितुम् । अस्ति चायं प्रत्ययः सर्वमिति

तो द्वितीय तृतीयादि क्षण में समान उनकी प्रथम क्षण में भी सत्ता न होगी । और यदि सत्ता हो तो वे विनाश स्वभाव वाले न हो सकेंगे । यदि नाश स्वभाव न हो तो दूसरे क्षणों में नाश उनका न होगा । क्योंकि जो नील अपने कारण से उत्पन्न हुआ है उसे हजारों कारणों से कोई पीत (पीला) नहीं कर सकती, इस कारण अनित्यभावपदार्थों में विनाशस्वभावता माननी होगी, इस कारण भावपदार्थों की शून्यता ही वास्तविक है, केवल कल्पना की हुई अवस्तु (जो पदार्थ नहीं है) सत्ता से भावपदार्थ सत् के ऐसे प्रतीत होते हैं ।

(इस प्रकार शून्यतावाद का अनुवाद कर सूत्र के आधार के विना ही भाष्यकार स्वतन्त्ररूप से शून्यतावाद का खण्डन करते हुए आगे कहते हैं कि)—यह शून्यतावाद का मत प्रतिज्ञावाक्य में दो पद तथा प्रतिज्ञा के दो हेतुओं का व्याघात (विरोध) होने के कारण असंगत है अर्थात् पूर्वपक्ष के वाक्य में प्रतिज्ञा के दो पद तथा उसके दोनों हेतुओं का भी ऐसे दो विरोध आते हैं । (जिसमें से सम्पूर्ण 'संसार के पदार्थ अभाव हैं' इस प्रतिज्ञावाक्य में उसके दोनों पदों का व्याघात दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रतिज्ञा में अनेकों की सफलता (सम्पूर्णता) ही सर्व शब्द का अर्थ है, और भावपदार्थरूपता का निषेध ही 'अभाव' इस शब्द का अर्थ है । जिसमें से पूर्व (प्रथम) अनेकों की सफलतारूप सर्वपद 'सोपाख्य' कुछ भाव स्वभाव को कहने वाला है, और अभावरूप उत्तरपद को भावस्वरूपता का निषेध करता है वह निरूपाख्य (असिद्ध) स्वभाव से शून्य को कहता है । उसमें स्वभावरूपता को प्राप्त होने वाला और निरूपाख्य (अभाव) रूप स्वभावरहित इन दोनों का एक आधार में समावेश कैसे हो सकता है? अर्थात् स्वभाव वाला स्वभावशून्य कैसे हो सकता है? इस कारण कभी भी स्वभाव वाला स्वभावशून्य न होने के कारण यह प्रतिज्ञा ही शून्यतावादी की संगत नहीं हो सकती । (अत्यन्त असत् स्वभाव वाला पदार्थ 'सर्व' है या 'भाव' है इस ज्ञान का विषय नहीं होता, अथवा असत् या अनिर्वचनीय (जिससे सत् अथवा असत् कुछ नहीं कहा जा सकता) ये दोनों भी ज्ञान के विषय नहीं होते, किन्तु सत् पदार्थ ही दूसरे सत् रूप से ज्ञान के विषय होते हैं । अतः संसार में अत्यन्त असत् पदार्थ की कल्पना नहीं हो सकती ऐसी यहाँ वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या है । (उक्त सिद्धान्ती के दिये व्याघात दोष को हटाने के लिये पूर्वपक्षी यदि ऐसा कहे कि)—यह सम्पूर्ण अभाव है—अर्थात् जिसको सिद्धान्ती सम्पूर्ण समझता है वह अभाव है ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो इस प्रकार से भी व्याघात दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती । अनेक (नाना) हैं, अशेष (सम्पूर्ण) है ऐसा मान अभाव (असत्) में नहीं हो सकता, और यह सम्पूर्ण है ऐसा सत् रूप से ज्ञान तो होता है । इस कारण वह असत् है ऐसे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता । अर्थात् सर्व शब्द से अनेक हैं (नाना हैं) अशेष (सम्पूर्ण) है ऐसा ज्ञान तो होता ही है, अतः सम्पूर्ण संसार के पदार्थों का अभाव कहने से अनेक, और अशेष अभाव है यह अर्थ आता है जिससे व्याघात दोष पुनः आ जाता है, अतः सम्पूर्ण अभाव है,

तस्मान्नाभाव इति। प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातः। सर्वमभाव इति भावप्रतिषेधः प्रतिज्ञा, भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति हेतुः, भावेष्वितरेतराभावमनुज्ञायाश्रित्य चेतरेतराभावसिद्धया सर्वमभाव इत्युच्यते। यदि सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति नोपपद्यते। अथ भावेष्वितरेतराभावसिद्धिः? सर्वमभाव इति नोपपद्यते॥ ३७॥

सूत्रेण चाभिसम्बन्धः—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम्॥ ३८॥

न सर्वमभावः। कस्मात्? स्वेन भावेन सद्भावाद्भावानाम्, स्वेन धर्मेण

यह नहीं हो सकता। (इस प्रकार प्रतिज्ञा के 'सर्वं अभावः' इन दोनों पदों का परस्पर विरोध दिखाने के पश्चात् उक्त प्रतिज्ञा के 'भावेषु इतरेतराभावसिद्धेः' इस हेतु में भी विरोध दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उक्त प्रतिज्ञा के दोनों हेतुओं का भी परस्पर में व्याघात (विरोध) आता है। क्योंकि सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अभाव हैं—इस प्रकार भावरूपता का निषेध है पूर्वपक्षी की प्रतिज्ञा—भावपदार्थों में परस्पर अभाव सिद्ध होने के कारण यह उक्त प्रतिज्ञा का साधक हेतु है। जिससे पूर्वपक्षी भावपदार्थों में परस्पर अभावरूपता को मानकर तथा उसीको आधार मानकर भी पदार्थों के परस्पर अभावरूपता सिद्ध होने से सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अभावरूप हैं ऐसा कहता है, किन्तु यदि सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अभाव हों—तो भावपदार्थों में परस्पर अभाव सिद्ध होने के कारण यह नहीं बन सकता। और यदि भावपदार्थों में परस्पर अभावरूपता की सिद्धि हो तो सम्पूर्ण संसार के पदार्थ अभाव हैं यह नहीं बन सकता। अर्थात् सम्पूर्ण अभाव है इस प्रतिज्ञावाक्य में सब पदार्थों को अभाव कहा है—और उसके साधक 'भावेषु' इस हेतु वाक्य में भावपदार्थों में ऐसे पद का प्रयोग किया है, जिससे स्वयं पूर्वपक्षी ने भावरूप पदार्थों की सत्ता मानकर उनमें परस्पर अभावरूप होने का आरोप किया है, अतः व्याघात दोष है यह सिद्धान्तानुसार भाष्यकार का व्याघात दोष है॥ ३७॥

(इस प्रकार बिना सूत्र के किये हुए शून्यतावाद के खण्डन का सूत्र में उल्लेख करते हुए सिद्धान्तसूत्र का अवतरण भाष्यकार देते हैं कि)—सूत्र के साथ भी इस शून्यभावाद के खण्डन का सम्बन्ध इस प्रकार है—

पदपदार्थ—न = नहीं, स्वभावसिद्धेः = अपने-अपने धर्मरूप स्वभाव से सिद्ध होने के कारण, भावानाम् = भावरूप पदार्थों को॥ ३८॥

भावार्थ—द्रव्यादि पदार्थों की सत्त्व इत्यादि, अथवा भावपदार्थों के स्वरूप से (जिनसे उनका परस्पर भेद सिद्ध होता है) धर्म से सिद्धि होने के कारण, संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अभावरूप हैं यह कहना सर्वथा असंगत है॥ ३८॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—संसार के सम्पूर्ण पदार्थ भावरूप नहीं हो सकते। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—अपने-अपने भाव (धर्म) से भावपदार्थों की सत्ता होने के कारण। (इसमें उत्तररूप 'स्वभावसिद्धेर्भावानां' इस सूत्र में कहे हुए हेतु की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—भावपदार्थों की अपने भाव से (सत्ता से) सिद्धि होने के कारण। क्योंकि संसार के भावपदार्थ अपने-अपने धर्म ही से वर्तमान होते हैं यह जाना जाता है। अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अभावरूप नहीं है ऐसी इस सूत्र में सूत्रकार की

भावा भवन्तीति प्रतिज्ञायते । कश्च स्वो धर्मो भावानाम् ? द्रव्यगुणकर्मणां सदादिसामान्यम्, द्रव्याणां क्रियावदित्येवमादिर्विशेषः, *स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या* इति च प्रत्येकं चानन्तो भेदः । सामान्यविशेषसमवायानां च विशिष्टा धर्मा गृह्यन्ते । सोऽयमभावस्य निरुपाख्यत्वात् सम्प्रत्यायकोऽर्थभेदो न स्यात् ? अस्ति त्वयम्, तस्मान्न सर्वमभाव इति ।

अथ वा न स्वभावसिद्धेर्भावानामिति । स्वरूपसिद्धेरिति । गौरिति प्रयुज्यमाने शब्दे जातिविशिष्टं द्रव्यं गृह्यते नाभावमात्रम् । यदि च सर्वमभावः गौरित्यभावः प्रतीयते । गोशब्देन चाभाव उच्येत, यस्मात्तु गोशब्दप्रयोगे द्रव्यविशेषः प्रतीयते नाभावस्तस्मादयुक्तमिति ।

अथ वा न स्वभावसिद्धेरिति । असन् गौरश्वात्मनेति गवात्मना कस्मान्नो-

---

प्रतिज्ञा है । और उसका साधक 'स्वभावसिद्धेः' ऐसा जो हेतु दिया है उसमें वह स्वभाव (धर्म) क्या है । इस आशय से भाष्यकार प्रश्न दिखाकर समाधान करते हैं कि)—वह भावपदार्थों का अपना धर्म क्या है ? ऐसा प्रश्न पूर्वपक्षी करे तो द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का 'सत्त्व, प्रमेयत्व' इत्यादि साधारण धर्म ही द्रव्य आदि भावपदार्थों का अपना धर्म है । ऐसे ही पृथिव्यादि द्रव्यों का क्रियाधारता, गुणाश्रयता इत्यादि धर्म सम्पूर्ण द्रव्यों में साधारण होता हुआ भी गुण तथा कर्मों से द्रव्यों का भेद सिद्ध करने के कारण 'विशेष' भेद करने वाला कहा जाता है । इसी प्रकार रूप से स्पर्श पर्यन्त गुण पृथिवी को और द्रव्यों से भिन्न करते हैं इस कारण भावपदार्थों के धर्मों के अनन्त प्रकार हैं । (केवल द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों के ही अपने-अपने धर्म नहीं हैं किन्तु और दूसरे पदार्थों के भी हैं इस आशय से आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक पदार्थों से भी विशेष धर्मों का ग्रहण होता है । इस कारण निरूपाख्य (स्वभावरहित), अभाव के अप्रसिद्ध होने के कारण ज्ञान कराने वाला अर्थों का भेद अभाववादी के मत में न होगा । अर्थात् संसार के सम्पूर्ण पदार्थ यदि अभावरूप हों तो सकल साधारण अनुभव से सिद्ध उपरोक्त यह पदार्थों का भेद है उन पदार्थों के जो परस्पर में भेद सिद्ध करने वाले विशेष धर्म हैं वे न बन सकेंगे । जो यह अर्थों का परस्पर भेद तो होता ही है, इस कारण संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अभाव हैं यह मत सर्वथा असंगत है ।

(सूत्र के 'स्वभावसिद्धेः' इस पद की द्वितीय प्रकार से व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अथवा भावपदार्थों के स्वभाव की सिद्धि होने से, इसका अर्थ है उनके भावस्वरूप की सिद्धि होने से, क्योंकि 'यह गौ है' ऐसा शब्द का प्रयोग करने पर उस शब्द से गोत्व जाति से युक्त गोद्रव्यभाव पदार्थ का ग्रहण होता है नकि केवल अभाव का । यदि सम्पूर्ण पदार्थ अभाव हों तो 'गौ है' यह कहने से अभाव है ऐसा ज्ञान होने लगेगा, और गो शब्द से अभाव कहा जायगा । (प्रश्न)—किस कारण गो इस शब्द से अभाव नहीं कहा जाता ? (उत्तर)—जिस कारण 'गौ' इस शब्द का प्रयोग करने पर उस गौ शब्द से गोरूप भावद्रव्य का ज्ञान होता है नकि अभाव का ज्ञान होता है । इस कारण संसार के सब पदार्थ अभावरूप होते हैं यह पूर्वपक्षी का मत सर्वथा असंगत है इस कारण ।

(उक्त 'स्वभावसिद्धेः' इस पद की तृतीय व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अथवा 'न स्वभावसिद्धेः' इसका यह अर्थ है कि अभाववादी गौ अश्वरूप से असत् है ऐसा

च्यते ? अवचनाद्गवात्मना गौरस्तीति स्वभावसिद्धिः, अनश्वोऽश्व इति वा गौरगौरिति वा कस्मान्नोच्यते ? अवचनात्स्वेन रूपेण विद्यमानता द्रव्यस्येति विज्ञायते । *अव्यतिरेकप्रतिषेधे च भावानां संयोगादिसम्बन्धो व्यतिरेकोऽत्राव्यतिरेकोऽभेदाख्यसम्बन्धः तत्प्रतिषेधे सदाऽसत्प्रत्ययसामानाधिकरण्यं यथा न सन्ति कुण्डे बदराणीति ।* असत् गौरश्वात्मनाऽनश्वो गौरिति च गवाश्वयोरव्यतिरेकः प्रतिषिध्यते गवाश्वयोरेकत्वं नास्तीति । तस्मिन्प्रतिषिध्यमाने भावेन गवा सामानाधिकरण्यमसत्प्रत्ययस्यासन् गौरश्वात्मनेति यथा न सन्ति कुण्डे बदराणीति कुण्डे बदरसंयोगे प्रतिषिध्यमाने सद्भिरसत्प्रत्ययस्य सामानाधिकरण्यमिति ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार कहता है इसी प्रकार गौ गौरूप से असत् है ऐसा क्यों नहीं कहता, ऐसा न कहने से यह सिद्ध होता है कि गौ के स्वरूप से गौ पदार्थ है इस कारण स्वभावसिद्ध होता है। इसी प्रकार अश्व, अश्व नहीं है, गौ, गौ नहीं है, ऐसा अभाववादी क्यों नहीं कहता, न कहने से यह सिद्ध होता है कि अपने स्वरूप से अश्व, गौ आदि द्रव्य संसार में भावरूप विद्यमान हैं ऐसा जाना जाता है। (यदि संसार के सम्पूर्ण पदार्थ भावरूप ही हों तो गौ में अश्व न होना, अथवा अश्व में गौ न होना, यह कैसे जाना जायगा ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो इस आक्षेप का भाष्यकार आगे समाधान ऐसा करते हैं कि)—अव्यतिरेक का निषेध होने पर (यहाँ पर असंयोगादि सम्बन्ध है व्यतिरेक शब्द का अर्थ, और अभेद सम्बन्ध है 'अव्यतिरेक' शब्द का अर्थ) उस अभेद सम्बन्ध का निषेध करने पर, असत् है इस ज्ञान की एक आश्रय में सिद्धि देखने में आती है। जिस प्रकार 'कुण्डी में बदरी फल नहीं हैं' यह ज्ञान। (यहाँ पर भाष्य के वाक्य का ऐसा सम्बन्ध है कि)—अव्यतिरेक (अभेद) का निषेध करने पर भी भावपदार्थ की 'असत्' नहीं है। इस ज्ञान के साथ समानाधिकरणता देखने में आती है, जैसे कूण्डी में बेर नहीं हैं—इस वाक्य में यह संयोगादि सम्बन्ध है व्यतिरेक, और अभेद सम्बन्ध है अव्यतिरेक। अर्थात् जिस प्रकार जब किसी भावपदार्थ का अव्यतिरेक (तादात्म्य) का निषेध होता है, तब भावपदार्थ भी 'असत्' (नहीं है) इस ज्ञान का आश्रय होता ही है, जैसे उपरोक्त 'कूण्डी में बेर नहीं हैं' इस ज्ञान में भावपदार्थरूप बेरों का 'असत्' (नहीं है) इस ज्ञान के साथ सामानाधिकरण्य होता है। (आगे 'अव्यतिरेकप्रतिषेधे' इस पद में अव्यतिरेक शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए भाष्यकार भावान्तर वाक्य कहते हैं कि)—(जो 'असंयोगादिसम्बन्धः' यहाँ से लेकर 'अभेदाख्यसम्बन्धः' यहाँ तक है)—जिससे स्पष्ट होता है पृथक् न होना, अव्यतिरेक, अभेद, तादात्म्य ये सब पर्याय शब्द हैं। (उपरोक्त नियम की प्रस्तुत में योजना दिखाते हैं कि)—'गौ अश्वरूप से असत् है, गौ अश्व नहीं है' इन दोनों प्रतीतियों में गौ तथा अश्व के अभेद का निषेध किया जाता है कि—गौ तथा अश्व में एकरूपता नहीं है। उस अभेद का निषेध करने पर भावपदार्थरूप गौ के साथ 'असत्' (नहीं है) इस प्रत्यय (ज्ञान) का एक आश्रय में रहना प्रतीत होता है कि गौ अश्वरूप से असत् है। (इसी में उपरोक्त दृष्टान्त की भी योजना करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जिस प्रकार 'कूण्डी में बेर नहीं हैं'—इस वाक्य में कूण्डी में बेर फलों के संयोग का निषेध किया जाने से सत् (भाव- रूप पदार्थों की भी 'असत्' इस ज्ञान के साथ समानाश्रयता प्रतीत होती है। अर्थात् उपरोक्त असत् प्रतीति के समानाधिकरण्य होने के कारण जो पूर्वपक्ष के भाष्य में कहा था वह संगत नहीं

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥

अपेक्षाकृतमापेक्षिकम् । ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं, न स्वेनात्मनावस्थितं किञ्चित् । कस्मात् ? अपेक्षासामर्थ्यात्, तस्मान्न स्वभावसिद्धिर्भावानामिति ॥ ३९ ॥

है—क्योंकि भावरूप पदार्थों के साथ भी अनेक प्रकार से 'असत्' इस ज्ञान का सामानाधिकरण्य होता ही है यह सिद्धान्तिमत से ऊपर दिखा चुके हैं। इस कारण संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अभावरूप हैं यह सिद्ध करने के लिये जो पूर्वपक्षी ने 'असत्' इस ज्ञान के साथ समानाश्रयता होना यह हेतु दिया था वह व्यभिचारी दुष्टहेतु है, यह सिद्धान्ती का गूढ़ आशय है। (इस सम्पूर्ण विषय को वाचस्पतिमिश्र ने ऐसा स्पष्ट लिखा है कि)—यह 'असत्' अभाव शब्द भावपदार्थों में विशेषण होने से 'सत्' को ही कहता है। इसी प्रकार 'असत्' है यह ज्ञान भी भावपदार्थ में विशेषण होने के कारण 'सत्' को ही अवलम्बन करता है। जिस प्रकार शुक्ल शब्द शुक्लरूप गुण के आधार शुक्ल पट को कहता है जिससे 'सत्' है। इस ज्ञान तथा शब्द दोनों का भाववाचक शब्द के साथ सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। और वह भावपदार्थ कोई नित्य तथा कोई अनित्य होते हैं। जिसमें क्षणभंगवाद के प्रकरण में नित्य भावपदार्थ अर्थक्रिया को कर सकते हैं यह कह चुके हैं। अनित्य पदार्थ भी विनाश स्वभाव वाले नहीं होते। किन्तु दूसरे कारण से नष्ट होते हैं। जो पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि नील (काले) को पीला नहीं किया जा सकता, यह भी अयुक्त है, क्योंकि अम्म (कच्चा), श्याम (काला) घड़ा भी अग्नि के संयोग से रक्तरूप होता ही है ॥ ३८ ॥

शून्यतावादी उपरोक्त सिद्धान्ती के हेतु पर आक्षेप करता हुआ सूत्र में कहता है—

पदपदार्थ—न = नहीं, स्वभावसिद्धेः = पदार्थों के स्वभाव के सिद्धि के, आपेक्षिकत्वात् = पदार्थों का परस्पर अपेक्षा होने से ॥ ३९ ॥

भावार्थ—भावपदार्थों के स्वभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि संसार के सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर में अपेक्षा रखते हैं, अतः सिद्धान्ती का स्वभाव सिद्धिरूप हेतु ही असिद्ध है जिससे संसार में कोई पदार्थ भावरूप सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि)—सूत्र में 'आपेक्षिकत्वात्' इस पद का अर्थ है, अपेक्षा (आवश्यकता) से किया हुआ। जिस प्रकार दीर्घ (लम्बा) पदार्थ, ह्रस्व (छोटे) की अपेक्षा करता है तथा ह्रस्व पदार्थ दीर्घ की अपेक्षा रखता है। संसार में कोई भी पदार्थ निरपेक्ष अपने स्वरूप से वर्तमान नहीं होता। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—अपेक्षा के सामर्थ्य के कारण। इस कारण भाव (पदार्थों) के स्वभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् स्वभाव नामक कुछ भी संसार में नहीं है, जिसकी सिद्धि होने से पदार्थों के स्वभाव की सिद्धि हो। क्योंकि संसार के सम्पूर्ण पदार्थ भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हैं, ऐसा साधारण प्राणियों को अनुभव होता है। और सम्पूर्ण पदार्थों के भेद दूसरे की अपेक्षा से होते हैं जैसे नील (काला) पदार्थ पीत (पीला) इत्यादिकों की अपेक्षा से नील होता है, नकि अपने स्वभाव से। तथा दीर्घ होना ह्रस्व होना, ज्येष्ठ और कनिष्ठ होना, दूर और समीप होना ये सब दूसरे के ही अपेक्षा से होते हैं, जो दूसरे की अपेक्षा करता है वह वास्तविक नहीं होता, जैसे जपापुष्प की अपेक्षा करने वाली श्वेत स्फटिकमणि की रक्तता, यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ३९ ॥

उपरोक्त आक्षेप का सूत्रकार खण्डन करते हैं—

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥

यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं, किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते ? अथ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं, दीर्घमनापेक्षिकम् ? एवमितरेतराश्रययोरेकाभावेऽन्यतराभावादुभयाभाव इति दीर्घापेक्षाव्यवस्थाऽनुपपन्ना। स्वभावसिद्धावसत्यां समयोः परिमण्डलयोर्वा द्रव्ययोरापेक्षिके दीर्घत्वह्रस्वत्वे कस्मान्न भवतः ? अपेक्षायामनपेक्षायां च द्रव्ययोरभेदः। यावती द्रव्ये अपेक्ष्यमाणे तावती एवानपेक्ष्यमाणे नान्यतरत्र भेदः। आपेक्षिकत्वे तु सत्यन्यतरत्र विशेषोपजनः

पदपदार्थ—व्याहतत्वात् = व्याघात दोष आने के कारण, अयुक्तम् = पूर्वपक्षी का कथन असंगत है ॥ ४० ॥

भावार्थ—संसार में किसी धर्म में दूसरे की अपेक्षा नहीं है, इस कारण पूर्वपक्षी का हेतु असिद्ध है, क्योंकि ह्रस्वता और दीर्घता ये दोनों परस्पर की अपेक्षा रखते हों तो दोनों का अभाव (न होना) सिद्ध हो जायगा। जिससे सिद्ध होता है कि ह्रस्वता-दीर्घता इत्यादि परस्पर की अपेक्षा नहीं रखते ॥ ४० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यदि दृष्टान्त में ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ की सिद्धि होती हो तो ह्रस्व बिना किसी की अपेक्षा किये सिद्ध होता है ऐसा मानना पड़ेगा, तो पूर्वपक्षी बतावे कि किसकी अपेक्षा से यह ह्रस्व है ऐसा ग्रहण होगा। यदि दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व होता है, तो दीर्घ किसी की अपेक्षा नहीं करता ऐसा प्राप्त होगा, अर्थात् किसकी अपेक्षा से दीर्घ है यह ज्ञान होगा। इस प्रकार दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व, और ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ होता है ऐसा परस्पर में अपेक्षा रखने वाले ह्रस्व और दीर्घ इन दोनों में से एक का अभाव होने से दूसरे का भी अभाव होने के कारण दोनों का ही अभाव सिद्ध हो जायगा—इस दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व होता है यह व्यवस्था नहीं बन सकती। (इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत का खण्डन कर ह्रस्व और दीर्घ ये पदार्थ के स्वभाव हैं, ऐसी प्रतिज्ञा में दूसरा हेतु देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यदि स्वभाव की सिद्धि न हो तो समान अणुपरिमाण वाले दो परमाणु द्रव्यों में अपेक्षा से दीर्घता और ह्रस्वता क्यों न होगी ? चाहे अपेक्षा हो या न हो तो भी दो द्रव्यों का भेद नहीं है, क्योंकि जितने ही द्रव्य अपेक्षा करते हैं उतने ही अपेक्षा नहीं भी करते। दो में से किसी एक में भेद नहीं है। यदि अपेक्षा हो तो दो द्रव्यों में से एक में कोई विशेषता उत्पन्न होने लगेगी। अर्थात् स्वभाव न मानने पर अपेक्षा ही नहीं हो सकती, क्योंकि बिना स्वभावसिद्धि के ही अपेक्षा के भेद से दीर्घ-ह्रस्व इत्यादि भेद हो तो सबकी अपेक्षा से सब में दीर्घ-ह्रस्वादि ज्ञान होने लगेगा, किन्तु समानपरिमाण वाले दो परमाणुओं को जानने वाला ईश्वर तब परमाणु की अपेक्षा से दूसरे परमाणु में दीर्घ-ह्रस्व इत्यादि ज्ञानों को नहीं करता, इस कारण अपेक्षा से ज्ञान नहीं होते, क्योंकि परमाणुओं का ह्रस्व-दीर्घ परिमाण होने का कोई स्वभाव न हो तो अपेक्षा के रहते न रहते दोनों पक्षों में दो परमाणु हैं ऐसा ज्ञान समान ही होता है, इस कारण अपेक्षा के रहते जैसे दो परमाणुओं की संख्या होती है, वैसे ही अपेक्षा के न रहने पर भी समान ही संख्या होती है, इस कारण दो परमाणु हैं' इस ज्ञान के सर्वत्र रहने से उन दो परमाणुओं में परस्पर की अपेक्षा से एक परमाणु ह्रस्व है एक दीर्घ है ऐसा ज्ञान होने लगेगा। अतः स्वभावपक्ष ही युक्त है नकि परिमाणों की परस्परापेक्षसिद्धि होना, यह सिद्धान्ती का गूढ आशय है। (यदि

स्यादिति। किमपेक्षासामर्थ्यमिति चेत् ? द्वयोर्ग्रहणेऽतिशयग्रहणोपपत्तिः। द्वे द्रव्ये पश्यन्नेकत्र विद्यमानमतिशयं गृह्णाति तद्दीर्घमिति व्यवस्यति, यच्च हीनं गृह्णाति तद्ध्रस्वमिति व्यवस्यतीति। एतच्चापेक्षासामर्थ्यमिति ॥ ४० ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम्।

'क्या संसार में अपेक्षा कहीं है नहीं, यदि है तो वह क्या करती है, अर्थात् अपेक्षा का क्या सामर्थ्य है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो—इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि—दो पदार्थों के ग्रहण में अतिशय (विशेष) ज्ञान का होना ही अपेक्षा का सामर्थ्य है, क्योंकि दो द्रव्यों को देखता हुआ मनुष्य दो में से एक में वर्तमान परिमाण के अतिशय (विशेष) को ग्रहण करता है। वह द्रव्य दीर्घ है ऐसा निश्चय करता है। और जिसको उस दीर्घ द्रव्य से यह हीन (कम) परिमाण वाला है ऐसा जानता है वह द्रव्य परिमाण में ह्रस्व है ऐसा निश्चय करता है। यही अपेक्षा का सामर्थ्य है। अर्थात् दो द्रव्यों का परस्पर में भेद होना ही अपेक्षा का कार्य है, नकि पदार्थों का स्वभाव भी वैसा होता है। (तात्पर्यटीका में इसका ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है कि)—दीर्घ और ह्रस्व ये दोनों परिमाण के भेद हैं, जो पदार्थों के उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होते हैं, केवल उनमें अतिशय (अधिकता) और अनतिशय (अधिकता न होना), ये दोनों परस्पर के ग्रहण के अधीन होते हैं। क्योंकि देखने में आता है कि बांस से ऊंख 'ह्रस्व' (छोटा) है, थोड़े (कम) संख्यावाले हाथों से नापा जाता है, यह उसमें परिमाण की (अनतिशय) अधिकता नहीं है, एवं बाँस में दीर्घता उस परिमाण अधिक हाथों की संख्या से नापा जाना ही अतिशय (परिमाण की अधिकता है) यह दोनों प्रतियोगी के (द्रव्य के) निरूपण (ज्ञान) के अधीन है, नकि उस द्रव्य के अधीन उत्पन्न होता है, अतः दूसरे की अपेक्षा रखने वाला पदार्थ का धर्म नहीं है। यह कहते हैं भिन्न होने को जो विशेष पदार्थ के निरूपण करने में ही दूसरे पदार्थ की अपेक्षा करता है नकि, उसकी उत्पत्ति में। इसी प्रकार पिता में पितृत्व भी एक रहने वाली जनक शक्ति ही है—जिसका पुत्र के निरूपण के अधीन निरूपण होता है, नकि वह उस पुत्र के अधीन उत्पन्न होती है। परत्व-अपरत्वादि गुण अपेक्षाबुद्धि के कारण से होने से दूसरे (ज्येष्ठादिकों के अधीन कनिष्ठ का ज्ञान होने से) की अपेक्षा करने पर भी लोकव्यवहार को करने के कारण खण्डन नहीं किये जा सकते, जिससे यह सिद्ध होता है कि उनके आधार में बिना अपेक्षा के कोई भावपदार्थ नहीं होता ऐसा नहीं है, इस प्रकार उक्त सम्पूर्ण विषय दोषरहित सिद्ध है। (इस सूत्र में व्याघात की ऐसी समालोचना वार्तिककार ने की है कि)—संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अभावरूप हैं यह वाद सर्वथा व्याहत (विरुद्ध) है, क्योंकि (१) पूर्वपक्षी के मत में प्रमाण का होना तथा न होना दोनों प्रकार से विरोध आता है—क्योंकि वह अपने पक्ष की सिद्धि करने में यदि प्रमाण दे तो उस प्रमाण के भावरूप होने से सब अभाव है यह व्याहत हो जाता है। और यदि प्रमाण नहीं देता तो प्रमाणित न होने से ही उसका पक्ष सिद्ध नहीं होता। (२) तथा सर्वअभाव है इस अपने वाक्य का पूर्वपक्षी अर्थ मानता है, तो उसके भावरूप होने से सब अभाव हैं यह नहीं बन सकता और यदि अर्थ नहीं मानता तो उस वाक्य का उच्चारण ही व्यर्थ है। (३) यदि 'सर्वअभाव है' इस वाक्य को प्रतिपादन करने वाला, तथा जानने वाला दोनों को पूर्वपक्षी माने तो भी उपरोक्त के समान व्याघात दोष होगा। (४) सर्व अभाव है, सर्व भाव है, इन दोनों वाक्यों का यदि भेद पूर्वपक्षी माने तो व्याघात दोष होता है, यदि भेद नहीं मानता तो विशेष का ग्रहण व्यर्थ होगा।

अथेमे सङ्ख्यैकान्ताः ।

सर्वमेकं सदविशेषात् । सर्वं द्वेधा नित्यानित्यभेदात् । सव त्रेधा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति । सर्वं चतुर्द्धा प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति । एवं यथा-सम्भवमन्येऽपीति । तत्र परीक्षा—

इस प्रकार संसार के सम्पूर्ण पदार्थों के अभाव के वाद का जितना ही विचार किया जाय उपरोक्त प्रकार से उसमें युक्ति नहीं मिलती, अतः सर्वथा असंगत है ॥ ४० ॥

(११) संख्यैकान्तवाद निराकरण प्रकरण

एक ही तत्व वास्तविक पदार्थ है—दो ही तत्व हैं—तीन ही तत्व हैं, चार ही तत्व हैं—पाँच ही तत्व हैं, ऐसे ये संख्या के नियमितवाद भी हैं, जो नैयायिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं, उनका शून्यवाद के खण्डन के पश्चात् खण्डन करने के लिये यह प्रकरण किया जाता है अर्थात् संख्या के नियम मानने के वादों की परीक्षा की जाती है। यहाँ पर दो तत्व आदि संख्या के नियमवादों को कहा जाता है—क्योंकि उनमें नैयायिकों को अभिमत समुच्चय का विरोध नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दो ही तत्व हैं ऐसे नियमित वाद में दोनों के नित्य होकर कार्यों में उपयोग होने से कदाचित् सामर्थ्य नहीं बन सकेगी। ऐसा त्रित्वादि वाद में भी देख लेना चाहिये। जिसमें प्रथम एक संख्या का नियमवाद है कि—ब्रह्मा द्वैतवादी (वेदान्तियों) का। (उसीको संक्षेप से सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में भाष्यकार सूचना करते हैं कि)—सम्पूर्ण संसार में एक ही तत्व है, क्योंकि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को वास्तविक ब्रह्म का सत्तारूप से अनुगम होता है, अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता में कोई विशेषता नहीं है। सम्पूर्ण संसार के पदार्थ नित्य तथा अनित्य भेद से दो ही हैं। (यहाँ पर प्रथम एकतत्ववाद का आशय यह है कि यह दिखाई पड़ने वाला नाम रूपादि संसार प्रकाररूप का एक ब्रह्म से भिन्न होता हुआ प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ का स्वयं प्रकाश नहीं हो सकता। अतः ज्ञान से भिन्न जड़नामरूप संसार का प्रकाश न हो सकने से एक ही ज्ञान का यह सम्पूर्ण विवर्त (प्रतीत होने वाला) जगत् है यही संगत है। 'प्रकाशरूप घट पट आदि उत्पत्ति तथा नाश धर्म वाले परस्पर भिन्न हैं क्या ऐसा ही न माना जाय' ऐसी यहाँ शंका नहीं हो सकती, क्योंकि उनके भेद के ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भेद जो जिससे भिन्न होता है उन दोनों के ज्ञान से जाना जायगा। परस्पर विलक्षण अनेक ज्ञान स्वरूपमात्र से परस्पर के स्वरूप को न जानने के कारण दूसरे ज्ञानों को जानने का ही उत्साह नहीं कर सकते तो भेद को करना तो दूर रहा। क्योंकि निषेध योग्य तथा निषेध के आश्रय का ज्ञान जिसमें कारण होता है, ऐसा भेद का ज्ञान अपने कारण के समय में उत्पन्न नहीं हो सकता—क्योंकि बाएँ तथा दहिने सींग के समान उनका कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। 'एक क्षणिक विज्ञान निषेध योग्य तथा निषेध के आधार दोनों को ग्रहण करने के पश्चात् भेद को भी ग्रहण करता है' ऐसा क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध नहीं कह सकता, क्योंकि क्षणिक पदार्थ में क्रम तथा (अक्रम) एककाल में व्यापार का सम्बन्ध नहीं हो सकता। और एक विज्ञान निषेध योग्य तथा निषेध के अधिकरण को ग्रहण करता है और दूसरा ज्ञान निषेध करता है। ऐसा बौद्ध का कहना संगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से मैत्र से गृहीत निषेध और निषेधाधिकरण में भी मैत्र को निषेधज्ञान होने लगेगा। 'ज्ञान को स्वरूप का ग्रहण होना ही उसके निषेध का ग्रहण है' ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि ऐसा तब हो सकेगा यदि स्वरूप तथा उससे भिन्न से उसका भेद यह दोनों एक हों। उसमें भावपदार्थ क्या भेद स्वभाव है—अथवा भेद भावस्वरूप हैं ये दो कल्प हो

सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥

सकते हैं। जिनमें प्रथम कल्प में व्यावृत्ति के तुच्छ (असत्) होने के कारण उसके स्वभाव वाले भावपदार्थ भी तुच्छ (असत्) हो जायेंगें। जिससे दूसरे प्रकार की उक्ति से यह शून्यवाद ही होने की आपत्ति आ जायगी। और द्वितीय कल्प में विधिरूप मात्र ही व्यावृत्ति है, इस कारण विधिरूप होने से उनकी व्यावृत्ति न हो सकने से वस्तुतः वे भावपदार्थ परस्पर में भिन्न न होंगे। इसी आशय से भाष्यकार ने कहा है 'सद्विशेषात्' जिसका यह तात्पर्य है कि हम अनादि-अविद्या के सम्बन्ध से प्रतीत न होनेवाले भावपदार्थों के भेद का निषेध नहीं करते, तथा ज्ञाता का ज्ञान से भेद है इस विषय में भी कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि सत का विशेष नहीं है। अतः ज्ञेय (जानने योग्य) विषय पदार्थों का परस्पर तथा ज्ञान से भेद नहीं है और ज्ञाता का ज्ञान से एवं ज्ञानों को परस्पर में भेद नहीं है इसलिये प्रकाशस्वरूप ही **'नामरूप प्रपञ्च ब्रह्म है'** इस प्रकार अद्वैतवाद (एकतत्ववाद) की सिद्धि होती है। दूसरे 'दो तत्व हैं' इस वाद का यह आशय है कि नित्य तथा अनित्य दो प्रकार के पदार्थ को संसार के सम्पूर्ण तीसरा प्रकार नहीं है जिससे संसार के पदार्थ तीन या चार प्रकार के सिद्ध हो सकें। यही दो प्रकार हैं, (आगे तीसरे संख्या के नियमवाद को दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—ज्ञाता (जानने वाला), ज्ञान, और ज्ञेय (जानने योग्य) विषय ऐसे संसार में तीन ही प्रकार के पदार्थ हैं। (इसमें ज्ञानपद से ज्ञान का करण लिया जाता है, क्योंकि जानना भी जानने योग्य होने के कारण ज्ञेय (विषय) से भिन्न नहीं होता, ऐसी वाचस्पतिमिश्र ने यहाँ व्याख्या की है। (इसी प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमिति ऐसे चार ही प्रकार के पदार्थ संसार में हैं, ऐसा चतुर्थ (चार) संख्या के नियम का वाद है। इसमें यदि प्रमाणादिकों से भिन्न प्रमिति (ज्ञान) नामक तत्व न माना जाय तो—प्रमा (ज्ञान) नामक प्रधान क्रिया के न होने से प्रमाता आदि कैसे सिद्ध होंगे, और विना प्रधान क्रिया के एक वाक्यता या कारकों की विचित्रता कैसे होगी। फल अवस्थारूप प्रमा (ज्ञान) के पश्चात् होने वाले प्रमेय व्यवहार का हम निषेध नहीं करते, किन्तु इससे यह नहीं हो सकता कि प्रमा दूसरा तत्व नहीं है)। (इस प्रकार के ऐसे और भी एकान्त संख्या (नियम) वादों की सूचना करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसी प्रकार और भी दूसरे यथासम्भव संख्या के नियमवाद हो सकते हैं। अर्थात् प्रकृति और पुरुष (आत्मा) ये दो ही पदार्थ हैं ऐसा एक दूसरा भी द्वैतवाद है। रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना और अनुभव ऐसे पाँच क्रिया ही तत्व हैं ऐसा पंचत्व (पाँच संख्या नियम) वाद और पशु, पाश, उसका उच्छेद, और ईश्वर ऐसे चार ही तत्व हैं ऐसी एक चार तत्वों का भी वाद है, यह जान लेना चाहिये)। (इस सम्पूर्ण उपरोक्त वादों का खण्डन करते हुए भाष्यकार उन वादों की परीक्षा का प्रस्ताव करते हुए सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—उनमें परीक्षा की जाती है—

पदपदार्थ—संख्यैकानासिद्धिः = तत्वों के संख्या का नियमवाद सिद्ध नहीं हो सकता, कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् = प्रमाण के न होने तथा होने के कारण ॥ ४१ ॥

भावार्थ—उक्त तत्वों के संख्या का नियम मानने में यदि प्रमाण नहीं है तो उसमें प्रमाण न होने से एक ब्रह्म ही तत्व है इत्यादि तत्वों की संख्याओं का नियम सिद्ध न होगा। और यदि प्रमाण है तो प्रमाण के अधिक होने के कारण भी तत्वों की एक दो आदि संख्या या नियम नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

यदि साध्यसाधनयोर्नानात्वम् ? एकान्तो न सिद्धयति व्यतिरेकात्। अथ साध्यसाधनयोरभेदः ? एवमप्येकान्तो न सिध्यति साधनाभावात्, न हि हेतुमन्तरेण कस्य चित्सिद्धिरिति ॥ ४१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—यदि नियमवादी साध्य तथा साधन का परस्पर में भेद मानते हों तो—संख्या का नियम नहीं बन सकता, क्योंकि साधन (प्रमाण) साध्य (नियम) से भिन्न है। और यदि संख्याओं के नियम को मानने वाला यदि साध्य और साधन (प्रमाण) का भेद नहीं मानता तो भी तत्वों के संख्याओं का नियम साधन (प्रमाण) के न होने के कारण नहीं बन सकता, क्योंकि बिना साधन (प्रमाण)—के किसी प्रमेय (विषय) की सिद्धि नहीं होती। (यहाँ तात्पर्यटीका में विस्तार से ऐसा कहा है कि)—यदि अवयव के बिना यह सम्पूर्ण संसार के पदार्थ एक हैं, दो हैं, तीन हैं, अथवा चार हैं, ऐसा प्रतिज्ञा का अर्थ हो तो उसमें साधक हेतु प्रमाण देना होगा, क्योंकि साध्य ही साधन नहीं होता। ऐसा होने से साधन के साध्य से भिन्न होने के कारण तत्वों के संख्या का नियम नहीं बन सकता। जिनमें वेदान्तियों का एकतत्ववाद इस कारण नहीं हो सकता कि—कोई भी संसार में स्वयं जानने योग्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान, प्रदीप, इत्यादिक भी दूसरे से जाने जाते हैं। (पदार्थ जिस प्रकार ज्ञान से भिन्न होते हैं ऐसा हम क्षणिकविज्ञानवादी के मत का खण्डन करने के समय आगे कहेंगे) यह 'ज्ञान से अर्थ का भिन्न होने का ज्ञान नहीं हो सकता' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि मैं इस पदार्थ का अनुभव करता हूँ, इस प्रकार अहंविषयता को छोड़कर पीत एक आदि से भिन्नरूप नीलगुण का ग्रहण प्रत्येक आत्मा को होता है, इसी प्रकार परस्पर में भिन्न नील आदिकों का भी अनुभव प्राणिमात्र को हुआ करता है। नहीं तो 'घट को ले आओ' ऐसा कहने पर नेत्र बन्दकर सुनने वाला सो जायगा—और सो जाओ ऐसा कहने पर सुनने वाला जल को ले आएगा, क्योंकि किसी प्रकार किसी पद के अर्थ का उसे विवेक नहीं है। यह भी वेदान्ती का कथन अयुक्त है कि—'अनिर्वचनीय अविद्या के कारण यह संसार में भेद का व्यवहार होता है'—क्योंकि इस अनिर्वचनीय ख्याती (सिद्धि) का हम पूर्वग्रन्थ में ही खण्डन कर आये हैं। इस कारण प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध इस प्रत्यक्ष सांसारिक भेद व्यवहार का केवल कारण ब्रह्म का मुख देखकर खण्डन नहीं हो सकता, किन्तु स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले संसार के कार्यों के भेदों को ज्ञान से ऐसा उसका कारण मानना होगा जिस कारण से यह सम्पूर्ण संसार के अर्थ उत्पन्न हो सकें। जो प्रत्यक्षसिद्ध है। क्योंकि नील गुण को जानने वाला मनुष्य पीत, रक्त आदि गुणों में से उसके भेद को चक्षुइन्द्रिय से संयुक्त नीले पदार्थ में वह नील विशेषण है, इस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उपरोक्त भेद का उसे ज्ञान होता है। क्योंकि नील को यह नील है ऐसा अनुभव करता हुआ पुरुष, तथा पीत को यह पीत है ऐसा अनुभव करता हुआ ही पुरुष अथवा उसका स्मरण करता हुआ, केवल रूप से दोनों में परस्पर का भेदज्ञान न होने पर भी नील से पीत का निषेध होता है, और नील निषेध करता है इस प्रकार जान सकता है। यदि रूपमात्र से भेद की प्रसिद्धि नहीं होती तो उसकी भेद से प्रसिद्धि हो सकती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता जिस अभेद के कथन से जिन दोनों नील और पीत के स्वरूप का ज्ञान हुआ है, ऐसे नील और पीत दोनों का परस्पर में अवधि तथा अवधि वाला यह भाव न होगा, अतः उन दोनों को ग्रहण कर प्रत्यक्ष से उन दोनों के भेद को भी जानना शक्य है, अतः वेदान्तियों का एकतत्ववाद असंगत है, इसी से कहा है—**अन्योन्यसंश्रयात्** (परस्पर के आधार से) **भेदः** (भेद) **न**

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥

न सङ्ख्यैकान्तानामसिद्धिः, कस्मात् ? कारणस्यावयवभावात् । अवयवः कश्चित् साधनभूत इत्यव्यतिरेकः । एवं द्वैतादीनामपीति ॥ ४२ ॥

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

कारणस्यावयवभावादित्यहेतुः । कस्मात् ? सर्वमेकमित्यनपवर्गेण प्रतिज्ञाय

(नहीं होता) प्रमान्तरसाधनः (दूसरे यथार्थ ज्ञान का साधक) तस्मिन् (उसमें) इदं (यह है) न (नहीं) अयं (यह है) इति (इस प्रकार) वस्तुभेदं (पदार्थ के भेद के) विना (बिना) न (नहीं होती) धीः (बुद्धि) इति (ऐसा) । इसी कथन से प्रमाता (ज्ञाता) से प्रमा (ज्ञान का) भेद भी कहा गया । उन प्रमाता प्राणियों को नाना प्रकार के सुख तथा दुःखों के भोग की व्यवस्था के कारण बहिरा, अन्धा इत्यादि प्राणियों के भेद होते हैं, तथा मुक्त और संसारी प्राणियों का विभाग होने के कारण भी प्राणियों का भेद है यह अनुमान से सिद्ध होता है क्योंकि एक ही आत्मा में बिना क्रम के कोई विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध नहीं है । इस कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण अभेदरूप मुख्य अद्वैत अर्थ को कहने वाला एक ही तत्व है ऐसी श्रुतियाँ मुख्य अर्थ को छोड़कर 'यजमान प्रस्तर है, यूप सूर्य है' इत्यादि श्रुति के समान-लाक्षणिक वृत्ति को ही ग्रहण करती है, यह सिद्ध होता है, अतः वेदान्तियों का एक ब्रह्मरूप तत्व का वाद सर्वथा असंगत है । इसी प्रकार साध्य (दो, तीन, या चार ही तत्व हैं) इन संख्या के नियम-वादों का भी साध्य से साधन (प्रमाण) का भेद होने से खण्डन जान लेना चाहिये ॥ ४१ ॥

(पूर्वपक्षवादी के पक्ष से आक्षेप करते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—न = नहीं (संख्या का नियम असिद्ध नहीं है), कारणावयवभावात् = कारण के अवयव एकदेश होने से ॥ ४२ ॥

भावार्थ—किसी साधनरूप अवयव के इस तत्व संख्या के साथ अभेद होने के कारण एक दो आदि तत्वों के संख्यारूप साध्य का नियम असिद्ध नहीं हो सकता, अतः तत्वों के संख्याओं का नियमवाद ठीक ही है ॥ ४२ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्ष सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—एक ही तत्व है, दो ही हैं, इत्यादि तत्वों के संख्या का नियम असिद्ध नहीं है । (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—कारण के अवयव होने के कारण । क्योंकि इस तत्व का साधक कोई अवयव है, अतः एक संख्या का और उसके साधक का भेद नहीं है । इसी प्रकार दो तत्व हैं, इत्यादि संख्याओं के नियम में भी जान लेना चाहिये ॥ ४२ ॥

(इस आक्षेप का सिद्धान्तिमत से सूत्रकार खण्डन करते हैं)—

पदपदार्थ—निरवयवत्वात् = अवयव रहित होने के कारण, अहेतु = 'कारण के अवयव होने से' यह पूर्वपक्षी का हेतु दुष्ट हेतु है ॥ ४३ ॥

भावार्थ—एक ही ब्रह्म तत्व है इस प्रकार अद्वैतता को सिद्ध करने के लिये कारण के अवयव होने से यह दिया हुआ पूर्वपक्षी का हेतु दुष्ट हेतु है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् एक ब्रह्म ही है ऐसी किसी को न छोड़कर की हुई प्रतिज्ञा का उससे भिन्न हेतु ही नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वपक्षी का कारण के अवयव होने से यह तत्वसंख्या के नियम का साधक हेतु दुष्ट हेतु है । (प्रश्न)—क्यों ?

कस्य चिदेकत्वमुच्यते तत्र व्यपवृक्तोऽवयवः साधनभूतो नोपपद्यते एवं द्वैतादिष्वपीति। ते खल्विमे सङ्ख्यैकान्ता यदि विशेषकारितस्यार्थभेदविस्तारस्य प्रत्याख्यानेन वर्त्तन्ते ? प्रत्यक्षानुमानागमविरोधान्मिथ्यावादा भवन्ति। अथाभ्यनुज्ञानेन वर्त्तन्ते ? समानधर्मकारितोऽर्थसङ्ग्रहो विशेषकारितश्चार्थभेद इति एवमेकान्तत्वं जहतीति। ते खल्वेते तत्त्वज्ञानप्रविवेकार्थमेकान्ताः परीक्षिता इति ॥ ४३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः सङ्ख्यैकान्तवादनिराकरणप्रकरणम्।

प्रेत्यभावानन्तरं फलम्, तस्मिन्—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥

(उत्तर)—सम्पूर्ण संसार एक ही ब्रह्मतत्वरूप है ऐसी किसी पदार्थ को न छोड़कर प्रतिज्ञाकर एक ही तत्व पूर्वपक्षी वेदान्ती कहता है। उस प्रतिज्ञा में उससे भिन्न कोई साधक नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रतिज्ञा में उसने सर्वपद से किसी को छोड़ा ही नहीं है। इसी प्रकार द्वैत आदि तत्व संख्या नियम में भी जान लेना चाहिये। अर्थात् यदि साध्य का कोई अवयव हो तो संख्या का नियम ही नहीं हो सकेगा क्योंकि सम्पूर्ण संसार एक ही है इसी प्रतिज्ञा में संसार के किसी भी पदार्थ को छोड़ा नहीं है जिससे उसकी सिद्धि हो सकेगी। (उक्त तत्व संख्या के नियमवादों का विकल्प पूर्व में खण्डन करने के लिये आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—वे ये सम्पूर्ण तत्वों के संख्या के नियम के वाद (मत) संसार में प्रसिद्ध वृक्ष, मनुष्य आदि विशेष अर्थों से होने वाले पदार्थों के विशेष विस्तारों का खण्डन करें तो प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्दप्रमाण का विरोध आने के कारण मिथ्यावाद हैं यह सिद्ध होता है। और यदि उक्त संसार के सम्पूर्ण पदार्थ विशेषों को मानकर तत्व संख्याओं का नियम हो तो, समान धर्म को लेकर पदार्थों का संग्रह, तथा विशेष धर्मों को लेकर पदार्थों का विशेष हो सकता है, जिससे संसार के पदार्थों के तत्वसंख्याओं का नियम नहीं हो सकता। (उक्त सम्पूर्ण इस प्रकरण के अर्थ को समाप्त करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इम पूर्वोक्त तत्वसंख्याओं के नियमों के वादों की तत्वज्ञान के विवेचन के लिये यह परीक्षा सूत्रकार ने की है। अर्थात् 'अद्वैत' आदि तत्वसंख्या का नियम मानने वालों के मत में प्रेत्यभाव वास्तविक नहीं हो सकता, किन्तु कल्पनामात्र होगा, केवल प्रेत्यभाव ही नहीं किन्तु प्रमाणादि षोडश पदार्थ भी केवल कल्पनामात्र हैं ऐसा मानना पड़ेगा। इस कारण इनका जो तत्वज्ञान है, उसका विवेचन करने से ही तत्वज्ञान का निर्णय होता है इस कारण ही तत्वसंख्या नियमों की परीक्षा की गई है। अर्थात् जितना यहाँ विचार किया गया है वह अप्रस्तुत न होने पर भी प्रस्तुत प्रेत्यभाव की सिद्धि में उपकारी है। इसी प्रकार पूर्व में दिखाए हुए आठ प्रकरण प्रस्तुत न होने पर भी आगे के प्रेत्यभाव प्रकरण में उपयोग होने से संगत होते हैं, यह भी जान लेना चाहिये ॥ ४३ ॥

(१२) फलपरीक्षा-प्रकरण

उद्देशक्रम के अनुसार प्रेत्यभाव के पश्चात् फलरूप प्रमेयपदार्थ के परीक्षा का प्रस्ताव करते हुए पूर्वपक्षसूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि—प्रेत्यभाव प्रमेय के पश्चात् उक्त रूप प्रमेयपदार्थ है, उसमें—

पदपदार्थ—सद्यः = उसी काल में, कालान्तरे च = और दूसरे काल में भी, फलनिष्पत्तेः = फल की सिद्धि होने के कारण, संशयः = संदेह होता है ॥ ४४ ॥

पचति दोग्धीति सद्यः फलमोदनपयसी, कर्षति वपतीति कालान्तरे फलं सस्याधिगम इति । अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति एतस्याः फले संशयः ॥ ४४ ॥

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥

भावार्थ—पकाता है, दुहता है, इन क्रियाओं का भात, दूध, इत्यादि फल उसी समय में होता है । तथा खेत जोतता है, बीज बोता है इत्यादि जोतने बोने इत्यादि क्रियाओं का फल धान की प्राप्ति कालान्तर में भी देखी जाती है, अतः स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निहोत्र हवन करे । इन वेदोक्त हवनादि कर्मों का फल तत्काल होता है, अथवा कालान्तर में यह सन्देह होता है ॥ ४४ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'रसोई करता है, पकाता है, दूध दुहता है' इन क्रियाओं का भात तयार होना, तथा दूध प्राप्त होना, यह फल उसी समय होता है । और खेत जोतता है, बीज बोता है, इत्यादि क्रियाओं का धान्यप्राप्तिरूप फल कालान्तर में होता है। 'अग्निहोत्र हवन स्वर्ग की इच्छा से करे'—इस वाक्य में वेदों में कहा हुआ भी क्रिया ही है। अतः इस हवनक्रिया के स्वर्गप्राप्तिरूप फल में सन्देह होता है कि—हवन से स्वर्गरूप फल तत्काल होता है अथवा कालान्तर में ? (किन्तु इस भाष्यकार की उक्ति में परिशुद्धिकार उदयनाचार्य ने अपनी ऐसी अश्रद्धा प्रगट की है कि)—सामान्यरूप से फल को लेकर वह तत्काल होता है या कालान्तर में ऐसा संशय नहीं हो सकता, क्योंकि लोकव्यवहार में पाकादि क्रिया का फल तत्काल में होता है, यह उस धर्मी पाक के ग्राहक प्रमाण से ही सिद्ध है । इसी प्रकार स्वर्ग फल भी कालान्तर में होता है यह दोनों को सहमत है, अतः धर्मी का भेद होने से पाकादिकों का तत्काल फल होता है और स्वर्गादि फल कालान्तर में यह भी सन्देह नहीं हो सकता । इस कारण संशय का यहाँ यह दूसरा ही स्वरूप है कि क्रिया में ही ऐसा संशय होता है क्योंकि चेतन प्राणियों की किसी कर्म में प्रवृत्ति तत्काल फल देती है जैसे पकाता, दुहता इत्यादि, और कोई कालान्तर में फल देने वाली होती है, जैसे खेत को जोतना, बीज को बोना इत्यादि । इस कारण एक पक्ष का साधक तथा दूसरे पक्ष का बाधक प्रमाण न होने के कारण यागादि क्रिया में ही सन्देह होता है कि यह तत्काल फल देती है या कालान्तर में जिससे क्रिया होना ही संशय का विषय है नकि फल होना । (किन्तु मेरी सम्मति से यह उदयनाचार्य की समालोचना असंगत है क्योंकि यह फल की परीक्षा होने से फल में ही संशय दिखलाना उचित है और इसी कारण सूत्रकार तथा भाष्यकार ने भी फल में ही संशय दिखाया है नकि क्रिया में यह स्वयं पाठक समझ सकते हैं ॥ ४४ ॥

इस प्रकार संशय दिखाकर—'उसमें इहलोक में यश, तथा अपयश इत्यादि फल हो सकने से स्वर्गादि अदृष्टफल नहीं हो सकता'—ऐसे बिना सूत्र के पूर्वपक्ष पर सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, सद्यः = तत्काल (फल), कालान्तरोपभोग्यत्वात् = दूसरे समय में भोगयोग्य होने के कारण ॥ ४५ ॥

भावार्थ—अग्निहोत्रादि हवनकर्म का फल 'स्वर्गकामः' इस विधि से सुनाई देता है, जो हवन करने वाले शरीर के छूटने के पश्चात् दूसरे ही शरीर से मिलता है, इस कारण जिस प्रकार स्वामी की सेवा करने के पश्चात् ही कालान्तर में ग्राम आदि इष्टफल को सेवक को प्राप्ति

स्वर्गः फलं श्रूयते तच्च भिन्नेऽस्मिन्देहभेदादुत्पद्यते इति ॥ ४५ ॥

होती है उसी प्रकार यज्ञ-यागादि वेद तथा शास्त्रों में कहे हुए कर्मों का फल भी कालान्तर में ही होता है नकि तत्काल यह सिद्ध होता है ॥ ४५ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि कर्मविधि के वाक्य में स्वर्ग ही अग्निहोत्र हवन का फल है ऐसा सुनाई देता है। और वह इस हवनकर्म करने वाले शरीर के नष्ट होने के पश्चात् दूसरे शरीर में ही उत्पन्न होता है, इस कारण जिस प्रकार ग्रामादि प्राप्ति की इच्छा से स्वामी की सेवा करने वाले सेवक को कुछ काल तक सेवा करने के पश्चात् ही कालान्तर में ग्रामादि फल प्राप्त होता है नकि तत्काल उसी प्रकार अग्निहोत्र हवन के कर्म करने वाले को भी स्वर्ग आदि फल कालान्तर में दूसरे शरीर में ही प्राप्त होता है, नकि उसी काल तथा उसी शरीर में प्राप्त होता है यह सिद्ध होता है। (यह सूत्र नहीं है क्योंकि न्यायसूचीनिबन्ध में नहीं मिलता ऐसा कुछ विद्वानों का मत है और तात्पर्यटीका में इसे भाष्य माना है, किन्तु वार्तिक में तथा प्राचीन पुस्तकों में भी सूत्ररूप से गृहीत होने से यह सूत्र ही है ऐसा सिद्ध होता है। (इस अधिकरण का अर्थ तात्पर्य-टीका में इस प्रकार विस्तार से दिखाया है कि)—यज्ञ, जप, तप आदि कर्म करने के पश्चात् दुःख और इस लोक में प्रशंसारूप फल भी प्राप्त होता है, क्योंकि विहित कर्म करने वाले की लोक में 'यह धर्मात्मा, यह सज्जन है' ऐसी प्रशंसा हुआ करती है। तो क्या इतना इहलोक में होने वाला ही उपरोक्त फल है अथवा कोई परलोक में होने वाला भी इन विहित कर्मों का फल है, यह सन्देह होता है। जिसमें ऐसा पूर्वपक्ष हो सकता है कि—यज्ञ-यागादिकों का स्वरूप तो कालान्तर में होने वाले पारलौकिक स्वर्गादि फल में कारण हो नहीं सकता, और यदि बहुत पूर्वकाल में किये विहित कर्मों के नष्ट हो जाने के कारण उनसे उत्पन्न अपूर्व (अदृष्ट) नामक बीच में व्यापार माना जाय तो बहुत से प्रधान तथा अंग कर्मों के अपूर्व मानने होंगे। और वे भी उत्पन्न होते ही तो स्वर्गादि फल को दे नहीं सकते, इस कारण उसमें दूसरे सहायकों की कल्पना करनी होगी इस प्रकार अदृष्ट की कल्पना करने में गौरव तथा प्रशंसा इत्यादि प्रत्यक्ष फल का बाध न हो सकने के कारण भी इन यज्ञादिक कर्मों का पारलौकिक स्वर्गादि फल नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला उपरोक्त ऐहिक ही फल है, ऐसा मानना उचित है। उसमें दुःख फल मानने से कर्म के उपदेश में व्याघात आने के कारण लोक में प्रशंसा इत्यादिक ही फल मानना उचित है। यही सुख का कारण होने के कारण स्वर्गादि फल कहा जाता है। दुःख के कारण में भी स्वर्ग पद का प्रयोग होता है। क्योंकि व्यवहार में भी **'चन्दन स्वर्ग है'** सूक्ष्म अच्छे वाला **'स्वर्ग है'** ऐसा कहा करते हैं। इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्तिमत से ऐसा समाधान है कि—**यत्** (जो) **न** (नहीं) **दुःखेन** (दुःख से) **संभिन्नं** (मिला हो), **न च** (और न हो) **ग्रस्त** (नष्ट), **अनन्तरं** (पश्चात्)। **अभिलाषोपनीतं च** (और इच्छा से प्राप्त हो), **तत्** (वह) **सुखं** (विशेष सुख), **स्वःपदास्पदम्** (स्वर्ग इस पद में स्वपद का अर्थ है)। इस अर्थवाद से सुख-विशेष को कहता है ऐसा निश्चय किया गया है। उस सुख के वाचक होने से ही चन्दनादिकों में भी उस स्वर्गपद का प्रयोग होने से यह स्वर्गपद अनेक अर्थों का वाचक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि **'अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्'** एक शब्द के शक्ति सम्बन्ध से अनेक अर्थ मानना अनुचित है ऐसा शास्त्रकारों का मत है। इस कारण यह स्वर्गपद उपरोक्त सुखविशेष को शक्ति सम्बन्ध से कहने के कारण मुख्य अर्थ का कहना है। अतः **'स्वर्गकामः'** इस वाक्य में जब मुख्य

न सद्यः ग्रामादिकामानामारम्भफलमिति—

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥

ध्वस्तायां प्रवृत्तौ प्रवृत्तेः फलं न कारणमन्तरेणोत्पत्तुमर्हति, न खलु वै विनष्टात्कारणात्किञ्चिदुत्पद्यते इति ॥ ४६ ॥

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ हो सकता है, तो गौण (लाक्षणिक) अर्थ को लेना उचित नहीं है। अनेक अर्थों के कल्पना के भय से मुख्य अर्थ को छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण से सिद्ध विषय में नियोग (ऐसा हो यह आज्ञा) तथा पर्यनुयोग। (ऐसा क्यों) ऐसा प्रश्न भी नहीं हो सकता। इसी कारण—शास्त्रों में सुने हुए अर्थ की सिद्धि के लिये न सुने हुए अर्थ को ले आने के लिये यत्न करना चाहिये, नकि अश्रुत की कल्पना से जो श्रुत है, उसका अनादर करना चाहिये। अर्थात् प्रमाण हो तो बहुत से भी अदृष्ट (न देखे हुए फलों की कल्पना करना युक्त होता है) ऐसा भी विद्वानों का मत है। यज्ञ, याग, जप, तप आदि कर्मों का उसी समय दिखाई पड़ने वाला प्रशंसा आदि फल नहीं हो सकता, क्योंकि जो कर्म करने वाले धर्मात्मा प्राणी गुप्तरूप से उक्त कर्मों को करते हैं उनको लोक में प्रशंसारूप फल नहीं होता। अतः सूत्रकार ने सूत्र में 'न सद्यः' ऐसा नहीं कहा है यह सिद्ध होता है ॥ ४५ ॥

इस पर पूर्वपक्षवादी के मत से सूत्रकार पूर्वपक्ष दिखाते हैं—

पदपदार्थ—कालान्तरेण = दूसरे काल में, अनिष्पत्तिः = कार्य (फल) उत्पन्न नहीं हो सकता, हेतुविनाशात् = कारण के नष्ट हो जाने के कारण ॥ ४६ ॥

भावार्थ—यज्ञादि कर्म के पूर्वकाल में नष्ट हो जाने के कारण उसका कार्य स्वर्गादि फल कालान्तर में नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कारण यागादि कर्म स्वर्गफल प्राप्ति के समय में नहीं रहता ॥ ४६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—(प्रवृत्ति) कर्म के नष्ट होने पर उस प्रवृत्ति (कर्म) का फल बिना कारण के उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि नष्ट कारण से कोई भी कार्य संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥ ४६ ॥

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्राक् = पूर्वकाल में, निष्पत्तेः = कार्यसिद्धि के, वृक्षफलवत् = वृक्ष के फल के समान, स्यात् = कोई होगा ॥ ४७ ॥

भावार्थ—वृक्ष में जलसिंचनरूप क्रिया जिस समय में की जाती है उसी काल में उस वृक्ष में फल, पुष्पादि कार्य उत्पन्न नहीं होते, अतः वृक्ष के सींचने तथा फल की उत्पत्ति के मध्यकाल में न दीखने वाले जिस प्रकार वृक्ष के भीतर अनेक अदृष्ट व्यापार होते हैं, जिनसे वृक्ष सींचने से इस वृक्ष में फल पुष्प उत्पन्न हुए ऐसा व्यवहार होता है, नकि कोई भी सिंचन के नाश से वृक्ष में फल होते हैं ऐसा कोई भी प्राणी नहीं मानता। इसी प्रकार यज्ञादि कर्म होने के पश्चात् उसके और स्वर्गादिरूप फल के मध्य में भी धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट मध्य में एक व्यापार मानेंगे, जो कालान्तर में स्वर्गफल को उत्पन्न करता है, जिससे उत्पन्न होने वाले स्वर्गफल को यज्ञादि कर्म का यह फल है ऐसा मानते हैं ॥ ४७ ॥

यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते, तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरब्धातुना सङ्गृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्तयति, स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविशमानः पर्णादि फलं निर्वर्तयति, एवं परिषेकादि कर्म चार्थवत्। न च विनष्टात्फलनिष्पत्तिः। तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते, स जातो निमित्तान्तरानुगृहीतः कालान्तरे फलं निष्पादयतीति। उक्तञ्चैतत् 'पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्ति' रिति॥

तदिदं प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पद्यमानम्—

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र के दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि)—जिस प्रकार वृक्ष में फल, फूल हों, ऐसी इच्छा करने वाला प्राणी वृक्ष में जलसिंचनादि क्रिया को करते हैं। जिस जलसिंचन के निवृत्त होने पर बीजरूप पार्थिव (धातुद्रव्य) जलधातु से बढ़कर उस वृक्ष के मध्य में वर्तमान तेज से पककर उसमें रसद्रव्य को उत्पन्न करता है और वृक्ष में सम्बन्ध रखने वाला द्रव्यरूप रस पाकावस्था को प्राप्त होकर दूसरे व्यूह (अवयव संस्थान) विशेष से उस वृक्ष में प्रविष्ट होता हुआ पत्ते, फल, फूल, आदि फल (कार्य) को उत्पन्न (तैयार) करता है। इस प्रकार वह वृक्ष सिंचनादि क्रिया के नष्ट होने पर भी इन व्यापारों के कारण फलादिकों को देने से सार्थक होती है। न कि नष्ट हुए जलसिंचन से पत्ते, फूल, फल, आदि कार्य होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति (कर्म करने) से कर्म तथा फल के मध्य में धर्म तथा अधर्म नामक अदृष्ट एक संस्कार उत्पन्न होता है। और यह दूसरे चरणों की सहायता से कालान्तर में स्वर्गादि फल को देता है। यही पूर्वकृत कर्मों के सम्बन्ध से उस फल की उत्पत्ति होना है ऐसा तृतीयाध्याय के द्वितीय आह्निक के ६० वें सूत्र में कह भी चुके हैं॥ ४७॥

(आगे क्या यह फल उत्पन्न होने के पूर्व असत है, या सत है अथवा 'सत असत' दोनों रूप है यह विचार करने के लिये पूर्वपक्षिमत से उपरोक्त किसी भी पक्ष में फल हो ही नहीं सकता इस आशय के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—वह यह उपरोक्त सिद्ध होने वाला स्वर्गादि फल सिद्ध होने के पूर्वकाल में—

पदपदार्थ—(यह सिद्ध होने वाला फल उत्पन्न होने के पूर्व) न=नहीं है, असत = अविद्यमान, न = नहीं है, सत = विद्यमान, न = नहीं है, सदसत = असत तथा सत, सदसतोः = सत तथा असत दोनों का, वैधर्म्यात = विरुद्ध धर्म होने के कारण ॥ ४८ ॥

भावार्थ—यह उत्पन्न होने वाला स्वर्गादिरूप फल उत्पत्ति होने के पूर्वकाल में समवायिकारण का नियम होने से असत (नहीं था) यह नहीं हो सकता। क्योंकि विशेष कार्यों के लिये विशेष कारणों के ग्रहण का नियम है, यदि पूर्वकाल में कार्य असत हो तो सम्पूर्ण कार्यों के लिये सम्पूर्ण कारणों का ग्रहण होने लगेगा। तथा कार्य के उत्पन्न होने के पूर्वकाल में यदि कार्य विद्यमान ही हो तो उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस कारण कार्य उत्पत्ति के पूर्वकाल में सत (विद्यमान) था। यह भी नहीं हो सकता। तथा विद्यमान (सत) तथा असत (अविद्यमान) इन दोनों का परस्पर विरुद्ध धर्म होने के कारण, व्याघात दोष की आपत्ति आने के कारण कार्य उत्पत्ति के पूर्व समय में सत तथा असत दोनों रूप होता है यह भी नहीं हो सकता, अतः स्वर्गादि फलरूप कार्य किसी पक्ष में हो नहीं सकते, अतः फल नहीं है यही सिद्ध होता है॥ ४८॥

प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं *नासत् उपादाननियमात्*। कस्य चिदुत्पत्तये किञ्चिदुपादेयं न सर्वं सर्वस्येत्यसद्भावे नियमो नोपपद्यते इति। न सत्, प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्योत्पत्तिरनुपपन्नेति। *सदसत् न*, सदसतोर्वैधर्म्यात् सदित्यर्थाभ्यनुज्ञा असदिति अर्थप्रतिषेधः एतयोर्व्याघातो वैधर्म्यं व्याघातादव्यतिरेकानुपपत्तिरिति ॥ ४८ ॥

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धा। कस्मात् ?

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥

यत्पुनरुक्तं प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासदुपादाननियमादिति—

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उत्पत्ति होने के पूर्व समय में उत्पन्न होने वाला कार्य असत (अविद्यमान था) ऐसा नहीं कहा जा सकता—क्योंकि कार्यों का अपने-अपने समवायिकारण से उत्पन्न होने का नियम है। क्योंकि किसी पट आदि कार्यों को उत्पन्न होने के लिये कोई ही तन्तु आदि समवायिकारणों को ही लिया जाता है, नकि सम्पूर्ण कार्यों के उत्पन्न होने के सम्पूर्ण कारणों को लिया जाता है, यदि इस कार्य को उत्पन्न होने के पूर्व का काल असत मानें, तो कार्यों के समवायिकारणों का नियम न बन सकेगा तथा उत्पन्न होने के पूर्वकाल में कार्य की सत्ता मानने पर विद्यमान कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस कारण उत्पत्ति के पूर्वकाल में कार्य सत (विद्यमान) है, यह द्वितीय पक्ष भी असंगत है। तथा सत एवं असत् का परस्पर विरोध होने के कारण कार्य उत्पत्ति के पूर्व में सत तथा असत दोनों रूप होता है, यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि सत है ऐसा कहने से पदार्थ की सत्ता का स्वीकार होता है और असत है ऐसा कहने से पदार्थ की सत्ता का निषेध माना जाता है। इन दोनों सत् तथा असत विरुद्ध कार्य वाले होने से परस्पर में व्याघातदोष होता है। जिससे एक ही पदार्थ सत तथा असत स्वरूप नहीं हो सकता यह सिद्ध होता है, अतः फल (कार्य) संसार में है नहीं यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ४८ ॥

(सिद्धान्तसूत्र का प्रस्ताव करते हुए भाष्यकार सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—उत्पत्ति होने के पूर्वकाल में कार्य असत (अविद्यमान) होता है यही श्रद्धा (सत्य) है (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—

पदपदार्थ—उत्पादव्ययदर्शनात = उत्पत्ति तथा नाश दिखाई पड़ने से ॥ ४९ ॥

भावार्थ—उत्पन्न होने के पूर्वकाल में कार्य असत (अविद्यमान) ही होता है, क्योंकि सम्पूर्ण संसार के कार्यों की उत्पत्ति तथा नाश दिखाई देते हैं। अर्थात यदि उत्पत्ति के पूर्वकाल में घट, पटादि संसार के कार्य सत (विद्यमान ही) हों तो उनकी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली उत्पत्ति तथा नाश न होगा, और देखने में तो आता है इस कारण संसार के सम्पूर्ण कार्य उत्पत्ति के पूर्व में असत (विद्यमान नहीं) हैं यह सूत्र का आशय (अर्थ) स्पष्ट होने के कारण भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की है ॥ ४९ ॥

(असत मानने के सिद्धान्तपक्ष में जो दोष पूर्वपक्षी ने दिया था उसका सिद्धान्तसूत्र से उत्तर देने के लिये अवतरण में अनुवाद करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो समवायिकारणों के नियम से कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत नहीं है—ऐसा जो पूर्वपक्षी ने कहा था—

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥

इदमस्योत्पत्तये समर्थं न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं कार्यं बुद्ध्या सिद्धमुत्पत्तिनियमदर्शनात्। तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः सति तु कार्ये प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति ॥ ५० ॥

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥

पदपदार्थ—बुद्धिसिद्धं = ज्ञान से विषय किया जाता है, तु = किन्तु, तत् = वह कार्य, असत् = (अविद्यमान) ही ॥ ५० ॥

भावार्थ—यह तन्तुरूप कारण ही पटरूप कार्य के उत्पन्न करने में समर्थ है नकि मृत्तिकादि सम्पूर्ण कारण, इस प्रकार कार्यों के उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का नियम रखने वाले कारण वाला कार्य कर्ता के बुद्धि से सिद्ध होता है क्योंकि अपने-अपने कारणों से कार्यों के उत्पत्ति का नियम देखने में आता है। इस कारण कार्य के उत्पत्ति के पूर्व असत् मानने के सिद्धान्ती के मत के समवायिकारण का नियम हो सकता है। और यदि उत्पत्ति के पूर्वकाल में कार्य की सत्ता मानी जाय तो पुनः उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, अतः उत्पत्ति के पूर्वकाल में कार्य को अविद्यमान मानना ही युक्त है ॥ ५० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की सिद्धान्ती के मत से व्याख्या करते हैं कि)—यह कारण इस कार्य के उत्पन्न करने में समर्थ है, नकि सम्पूर्ण कारण, इस प्रकार कार्य के उत्पत्ति के पूर्व में कारण का नियम रखने वाला कार्य कर्ता के बुद्धि से सिद्ध होता है, क्योंकि अपने-अपने कारणों से ही कार्यों की उत्पत्ति का नियम देखने में आता है। इस कारण उत्पत्ति के पूर्व कार्य को अविद्यमान मानने के सिद्धान्ती के पक्ष में कार्यों का अपने-अपने समवायिकारणों के साथ नियम बन जाता है और उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता मानने के पक्ष में कार्य के विद्यमान होने से पुनः उसकी उत्पत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, अतः कार्यों का उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान न होने का असत् पक्ष ही संगत है यह सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

शरीरादिकों से भिन्न नित्य परलोक में जाने वाला कोई आत्मा नहीं है ऐसा मानने वाले किसी नास्तिक के पक्ष से परलोक में होने वाले स्वर्गादि फल में आपत्ति करने वाले पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप करते हैं—

पदपदार्थ—आश्रयव्यतिरेकात् = आधार को छोड़कर, वृक्षफलोत्पत्तिवत् = वृक्ष में फल की उत्पत्ति के समान, इति = इस कारण, अहेतुः = सिद्धान्ती का हेतु युक्त नहीं है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती ने 'वृक्षफलवत्' ऐसा जो ४७ वें सूत्र में हेतु परलोक में होने वाले स्वर्गादिरूप फल की सिद्धि के लिये दिया था, वह पारलौकिक फल का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त में वृक्ष के मूल का जल से सिंचनादि कर्म तथा फल, पुष्प आदि फल भी एक ही आधार वृक्ष में होता है ऐसा दिखाई पड़ता है, और यज्ञादि कर्म इस शरीर में किये जाते हैं और उनका फल दूसरे परलोक में लिये शरीर में होता है, अतः यज्ञादि कर्म और स्वर्गादि फल इन दोनों का एकशरीररूप आधार न होने के कारण सिद्धान्ती का मत अयुक्त है, जिससे सिद्ध होता है कि परलोकगामी शरीरादिकों से भिन्न एक नित्य आत्मा नहीं है यह पूर्वपक्षी का आशय है ॥ ५१ ॥

मूलसेकादि परिकर्म फलं चोभयं वृक्षाश्रयम्, कर्म चेह शरीरे, फलं चामुत्रेत्याश्रयव्यतिरेकादहेतुरिति ॥ ५१ ॥

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रया, तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितं, धर्मस्यात्मगुणत्वात्, तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति ॥ ५२ ॥

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥

पुत्रादि फलं निर्दिश्यते न प्रीतिः *'ग्रामकामो यजेत'* *'पुत्रकामो यजेतेति'* तत्र यदुक्तं प्रीतिः फलमित्येतदयुक्तमिति ॥ ५३ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—वृक्ष के मूल (जड़) का जल से सिंचन करना इत्यादि (कारण) कर्म और उसका पत्ते, फूल, फल इत्यादि कार्य, दोनों एक ही वृक्षरूप आधार में होते हैं, और यज्ञादि कर्मरूप कारण इहलोक के शरीर से किया जाता है, और उसका फल स्वर्गादि रूप कार्य परलोक के दूसरे शरीर में प्राप्त होता है, इस आश्रय शरीर का भेद होने के कारण 'वृक्षफल के उत्पत्ति के समान' यह सिद्धान्ती का दृष्टान्त स्वर्गफल को सिद्ध करने में साधक नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

उक्त आक्षेप का परिहार सिद्धान्ती के मत में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रीतेः = सुख के, आत्माश्रयत्वात् = आत्मारूप आश्रय में रहने के कारण, अप्रतिषेधः = स्वर्गरूप पारलौकिक सुखफल का निषेध नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

भावार्थ—परलोक में स्वर्गसुख का भोग करने में समर्थ शरीरादिकों से भिन्न ही यज्ञादि कर्मों का करने वाला भी है यह पूर्वग्रन्थ में सिद्ध कर ही चुके हैं, इस कारण प्रस्तुत में यज्ञादि कर्म तथा उनके फल स्वर्गादि कर्म दोनों लोक में वर्तमान एक ही आधार में हो सकते हैं यह सिद्धान्ती का आशय है ॥ ५२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सम्पूर्ण सुखों का आत्मा को 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि मानसप्रत्यक्ष होता है, यह पूर्व में कह चुके हैं। इस कारण आत्मा को प्रत्यक्ष होने से सुख आत्मा में ही रहता है और उसी आत्मा ने पूर्वशरीर में धर्म के उत्पादक पुण्य-यज्ञादि कर्म भी किया था, क्योंकि धर्म आत्मा का गुण है, इस कारण यज्ञादि कर्म और उनका स्वर्गादि फल एक आश्रय में नहीं रहता। ऐसा पूर्वपक्षी का कहना असंगत है, इस कारण सिद्धान्ती का वृक्ष-फल का दृष्टान्त परलोक की सिद्धि कर सकता है अतः पूर्वपक्ष संगत नहीं है ॥५२॥

स्वर्गादि फल के आत्मा में होने पर भी पुत्र, पशु (गौ आदि), स्त्री, गृहस्थी की सामग्री आदि फलों में न होने के कारण इस आशय से पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार आक्षेप करते हैं कि—

पदपदार्थ—न = नहीं, पुत्रस्त्रीपशुपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् = सुख के समान यागादि कर्मों का पुत्र, स्त्री, पशु (गौ आदि) परिच्छद (गृहस्थी की सामग्री) हिरण्य (सुवर्ण) अन्न इत्यादिक भी फल कहा है। इस कारण ॥ ५२ ॥

भावार्थ—केवल वेदवाक्यों में सुख ही यागादि कर्मों का फल नहीं कहा है किन्तु पुत्र, स्त्री, पशु (गौ आदि), परिच्छद (गृहस्थी की सामग्री) सुवर्ण, अन्न इत्यादिक भी फल कहा गया है, इस कारण सुख के आत्मा में होने से ऐसा सिद्धान्ती का हेतु व्यापक नहीं होता ॥ ५३ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—'ग्राम की इच्छा करने

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥

पुत्रादिसम्बन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यते इति पुत्रादिषु फलवदुपचारः। यथान्ने प्राणशब्दोऽन्नं वै प्राणा इति ॥ ५४ ॥

इत्येकादशभिः सूत्रैः फलपरीक्षाप्रकरणम् ।

फलानन्तरं दुःखमुद्दिष्टमुक्तं च *'बाधनालक्षणं दुःख'*मिति । तत्किमिदं प्रत्यात्मवेदनीयस्य सर्वजन्तुप्रत्यक्षस्य सुखस्य प्रत्याख्यानम् ? आहो स्विदन्यः कल्प इति ?

वाला याग करे, पुत्र की इच्छा रखने वाला याग करे' इत्यादि शास्त्रविधि में पुत्रादिक को भी यागकर्म का फल कहा है, इस कारण 'प्रीति (सुख) फल है' ऐसा सिद्धान्ती का कथन असंगत है ॥५३॥

उपरोक्त आक्षेप का सिद्धान्तिमत से सूत्रकार खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—तत्सम्बन्धात = पुत्र, स्त्री आदि के सम्बन्ध से, फलनिष्पत्तेः = सुखफल की सिद्धि होने के कारण, तेषु = उन पुत्रादिकों में, फलवत = फल के समान, उपचारः = गौण व्यवहार होता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—स्वर्ग की स्वरूप से इच्छा नहीं होती किन्तु भोगयोग्य होने से, इसी प्रकार पुत्रादिकों की भी भोगयोग्य होने के कारण प्राणियों को इच्छा होती है, जिस कारण इनका केवल स्वरूप भोगयोग्य नहीं है, किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाला सुख ही भोगयोग्य है, इस कारण पुत्रादिकों के सम्बन्ध से सुखरूप फल की सिद्धि होने के कारण पुत्रादिकों में फल के समान गौण व्यवहार होता है, जैसे प्राणों के रक्षक होने के कारण अन्न में प्राण शब्द का प्रयोग होता है—कि 'अन्न ही प्राण हैं'—ऐसा ॥ ५४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पुत्र, स्त्री आदि के सम्बन्ध से संसार में प्राणियों को सुखरूप फल हुआ करता है, इस कारण पुत्रादिकों में फलरूप सुख का गौण व्यवहार होता है, जिस प्रकार प्राणों के रक्षक होने से 'अन्न प्राण हैं' ऐसा अन्न में प्राण का गौण व्यवहार होता है, अतः वास्तविक फल पुण्य कर्मों का सुख ही है, इस कारण सिद्धान्ति का ५२ वें सूत्र में दिया हेतु युक्त ही है ॥ ५४ ॥

(१२) दुःख के परीक्षा का प्रकरण

(दुःखपरीक्षा का क्रम से सांप्रत प्राप्ति है, यह दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण प्रारम्भ करते हैं कि)—फलरूप प्रमेयपदार्थ के पश्चात् प्रमेयसूत्र में दुःखरूप प्रमेयपदार्थ का उद्देश कर उसका लक्षण भी किया है कि—**'बाधनास्वरूप दुःख होता है'**, अतः दुःख की परीक्षा के प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है किन्तु यहाँ ऐसा प्रश्न हो सकता है कि—'इस संसार में प्रसिद्ध दुःख की परीक्षा की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि कोई भी संसार का प्राणी दुःख को नहीं मानता ऐसा नहीं है तथा वह दुःख छोड़ने योग्य है या नहीं इस विषय में भी किसी को सन्देह नहीं होता । किन्तु वह दुःख नित्य है अथवा अनित्य इस विषय की परीक्षा की जाय तो उसका प्रस्तुत में उपयोग हो सकता है । क्योंकि यदि दुःख को नित्य माना जाय तो उसके निवृत्ति का उपदेश करने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे तथा मतान्तरों का विवाद होने से उक्त संशय हो भी सकता है—क्योंकि सांख्यमतावलम्बी संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को नित्य मानने के कारण दुःख को भी नित्य मानते हैं । तथापि सांख्यमत का पूर्वग्रन्थ में खण्डन तथा सत्कार्यवाद

अन्य इत्याह। कथम्? न वै सर्वलोकसाक्षिकं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। अयं तु जन्ममरणप्रबन्धानुभवनिमित्ताद् दुःखान्निर्विण्णस्य दुःखं जिहासतो दुःखसंज्ञाभावनोपदेशो दुःखहानार्थं इति। कया युक्त्या? सर्वे खलु सत्त्वनिकायाः सर्वाण्युत्पत्तिस्थानानि सर्वः पुनर्भवो बाधनानुषक्तो दुःखसाहचर्या-

का निषेध होने के कारण उक्त विवाद भी समाप्त हो जाता है। दुःख के जो संसार में प्रसिद्ध कारण सर्प, कण्टक (कांटा) आदि पदार्थ हैं उनमें भी विवाद नहीं हो सकता। अदृष्टरूप प्रवृत्ति की परीक्षा भी हो चुकी है। और उसके बीच के कार्यरूप जल आदिकों की भी परीक्षा हो चुकी है, क्योंकि प्रथमाध्याय २ सूत्र में कारण के नष्ट होने पर कार्य का नाश होता है ऐसा कह चुके हैं। तो अब अवशिष्ट (बाकी) क्या विषय है, जिसकी परीक्षा इस प्रकरण में करना है?'—इस प्रश्न का समाधान यह है कि—पूर्व में बाधना (पीड़ा) स्वरूप दुःख होता है ऐसा दुःख का लक्षण किया गया है। उसमें बाधना शब्द से बाधज्ञान कहा जाता है। यह लक्षण दुःख के स्थान (शरीरादि), तथा दुःख के साधन, और दुःख में व्याप्त है, इस कारण मुख्य बाधबुद्धि को लेकर पूर्वपक्ष हो सकता है जिसको भाष्यकार आगे दिखाते हुए कहते हैं कि—क्या जिसका प्रत्येक आत्मा को अनुभव होता है, और जिसका संसार के सम्पूर्ण प्राणियों को मानसप्रत्यक्ष भी होता है ऐसे सुखगुण का प्रत्याख्यान (अभाव) रूप दुःख पदार्थ है, अथवा दूसरा प्रकार है। दुःख भी सुख के समान दूसरा गुण है। अर्थात् पीडास्वरूप दुःख अनुभव से सिद्ध होता है यह युक्त है। किन्तु जो संसार के प्राणिमात्र को अनुकूलरूप जान पड़ता है, सुख के अनुभव का विरोध होने के कारण दुःख कैसे हो सकता है? शरीर इन्द्रिय आदि यदि दुःख के कारण होने से दुःखरूप हों तो सुख के साधन होने से सुख क्यों न माना जाय? इस कारण सम्पूर्ण लोकव्यवहार का विरोध होने के कारण दुःख से भय करना संगत नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मछली के मांस को चाहने वाला उसके कांटों को निकाल कर मांस खाते हुए कांटे के दुःख को नहीं मानता उसी प्रकार बुद्धिमान् प्राणी दुःख का तिरस्कार (न मानकर) इन्द्रियों से संसार में सुख ही का भोग करते हैं। जिस दुःखपरिहार के उपाय तथा जिसका सामर्थ्य दिखाई पड़ता है ऐसे बहुत से हैं, अतः दुःख से भय करने वाले तो (संसार के) भोजनादिजन्य सुख के लिये रसोई बनाने के दुःख के भय के कारण सम्पूर्ण व्यवहार ही नष्ट हो जायँगे, ऐसा पूर्वपक्षी के प्रश्न का आशय है। (जिसका उत्तर देते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—दुःख का दूसरा प्रकार है। (प्रश्न)—कैसे? (उत्तर)—क्योंकि 'संसार के प्राणिमात्र को प्रत्यक्ष से सिद्ध सांसारिक विषयों का सुख नहीं है' ऐसा कोई निषेध नहीं कर सकता। अर्थात् सुख के खण्डन में हमारा तात्पर्य नहीं है। (तब क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न के उत्तर में आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—यह जन्म तथा मरण के सन्तान की प्राप्ति के कारण होने वाले दुःखों से विरल हुए प्राणी को दुःखों के त्याग की इच्छा होती है इस कारण सम्पूर्ण संसार दुःख है इस प्रकार का यह शास्त्रों में दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये उपदेश किया गया है। (किस प्रकार यह उपदेश दुःख की निवृत्ति करता है? इस प्रश्न का भाष्यकार उत्तर देते हैं कि)—सम्पूर्ण जीवों के समुदाय, तथा सम्पूर्ण दुःखों के उत्पत्ति के स्थान शरीर, इन्द्रिय इत्यादि, तथा सम्पूर्ण चतुर्दश भुवन और पुनः-पुनः जन्म लेना बाधना (पीड़ा) से निरन्तर व्याप्त है इस कारण दुःख के साथ होने के कारण उपरोक्त सम्पूर्ण ही पीडादायक होने से दुःख ही है। इस प्रकार आर्षदृष्टि महर्षियों ने संसार को दुःख समझना चाहिये, ऐसा उपदेश शास्त्रों में किया है। जिसमें सिद्धान्तिमत से सूत्रकार हेतु देते हैं। अर्थात् यदि संसार में

द्भावनालक्षणं दुःखमित्युक्तमृषिभिर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते। अत्र च हेतुरुपादीयते—

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

जन्म जायते इति शरीरेन्द्रियबुद्धयः, शरीरादीनां च संस्थानविशिष्टानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः। विविधा च बाधना, हीना मध्यमा उत्कृष्टा चेति। उत्कृष्टा नारकिणाम्, तिरश्चां तु मध्यमा, मनुष्याणां तु हीना, देवानां हीनतरा वीतरागाणां च। एवं सर्वमुत्पत्तिस्थानं विविधबाधनानुषक्तं पश्यतः सुखे तत्साधनेषु च शरीरेन्द्रियबुद्धिषु दुःखसंज्ञा व्यवतिष्ठते। दुःखसंज्ञाव्यवस्थानात्सर्व-

---

दुःख को छोड़कर सुख का ग्रहण हो सके तो ऐसे सुख को कौन बुद्धिमान् छोड़ेगा, किन्तु ऐसा सुख कहीं नहीं है—दुःख की व्याप्ति रखने वाले केवल सुख का मधु (शहद) तथा विष से मिले हुए अन्न में से विष को छोड़कर जिस प्रकार केवल मधुयुक्त अन्न को ग्रहण करना या न ग्रहण करना असम्भव है, अतः यह दुःख पदार्थ सुख का अभाव नहीं है, किन्तु सुख को दुःख समझने के लिये महर्षि गौतम ने ऐसा कहा है—

पदपदार्थ—विविधबाधनायोगात् = अनेक प्रकार से पीडा का सम्बन्ध होने के कारण, दुःखं एव = दुःख ही हैं, जन्मोत्पत्तिः = जन्म का लेना ॥ ५५ ॥

भावार्थ—संसार जिनके कारण होता है ऐसे शरीर, इन्द्रियादिक ही उत्पन्न होने के कारण जन्म कहे जाते हैं। कर्मानुसार भये हुए उन जन्मों में हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट (उत्तम) ऐसी नाना प्रकार की पीड़ा हुआ करती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जन्म नाना प्रकार के पीड़ा से व्याप्त हैं ऐसा विचार करने वाले प्राणी को वैषयिक सुख तथा उसके साधक शरीर, इन्द्रियादिकों में यह सर्व संसार दुःखमय है ऐसी भावना होने के कारण सम्पूर्ण संसार से त्रस्त प्राणियों को सांसारिक विषयों में दोष के दिखाई पड़ने से संसारिक विषयों में से श्रद्धा हट जाती है जिससे सम्पूर्ण विषयों में भोग की इच्छा नष्ट होने से वह सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है, जिससे विष के सम्बन्ध से दूध को विष समझने वाला जैसे उस दूध को नहीं पीता, उसी प्रकार दुःखरूप सम्पूर्ण संसार के विषयों को भी छोड़ देनेवाला प्राणी ज्ञान तथा वैराग्य के बल से प्रारब्धभोग के पश्चात् शरीरादि सम्बन्ध न होने के कारण मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

(इसी आशय से सूत्र के **'जन्म'** पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो उत्पन्न होता है वही जन्म कहाता है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति से जन्म शब्द का अर्थ है शरीर, इन्द्रिय तथा ज्ञान। (आगे सूत्र के उत्पत्ति शब्द का अर्थ भाष्यकार ऐसा करते हैं कि)—विशेष अवयव वाले शरीरादिकों के प्रगट होने को उत्पत्ति कहते हैं। (तथा सूत्र के **'विविधबाधनायोगात्'** इस पद की व्याख्या भाष्यकार आगे करते हैं कि)—संसार में बाधना (पीड़ा) हीन (नीच), मध्यम तथा उत्कृष्ट (उत्तम) इस प्रकार तीन प्रकार की है। जिसमें पापकर्म का भोग करने वाले नरकवास करने वाले प्राणियों को सबसे उत्तम पीड़ा होती है और पशु-पक्षियों को मध्यम पीड़ा होती है तथा मनुष्यों को हीन (नीच) पीड़ा होती है और देवता एवं विरक्त प्राणियों को अत्यन्त हीन पीड़ा होती है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार चतुर्दश भुवनों में जितने प्रकार के शरीर ग्रहण के स्थान हैं वे सम्पूर्ण नाना प्रकार की पीड़ा से सम्बद्ध हैं, ऐसा देखने वाले, समझने वाले प्राणियों को सुख तथा उसके साधन शरीर इन्द्रिय इत्यादिकों में यह सब दुःख ही है

लोकेष्वनभिरतिसंज्ञा भवति। अनभिरतिसंज्ञामुपासीनस्य सर्वलोकविषया तृष्णा विच्छिद्यते, तृष्णाप्रहाणात्सर्वदुःखाद्विमुच्यते इति। यथा विषयोगात्पयो विषमिति बुध्यमानो नोपादत्ते, अनुपाददानो मरणदुःखं नाप्नोति ॥ ५५ ॥

दुःखोद्देशस्तु न सुखस्य प्रत्याख्यानम्, कस्मात्?

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

न खल्वयं दुःखोद्देशः सुखस्य प्रत्याख्यानम्। कस्मात्? *सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः*। निष्पद्यते खलु बाधनान्तरालेषु सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणां, तदशक्यं प्रत्याख्यातुमिति ॥ ५६ ॥

अथापि—

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

ऐसी बुद्धि होती है। जिससे उसकी सम्पूर्ण संसार से श्रद्धा नष्ट हो जाती है, जिससे वह सम्पूर्ण संसार के विषयों से विरक्त हो जाता है। और वैराग्य होने के कारण उसकी सम्पूर्ण सांसारिक विषयों के सुखभोग की इच्छा का नाश होने से वह सम्पूर्ण संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। अतः वह जिस प्रकार विष मिले हुए दूध को विष समझ कर कोई प्राणी उस दूध को नहीं पीता, उसी प्रकार विष के समान दुःख से भरे हुए संसार के विषयों के सुखों को त्याग करने से पुनः वह जन्ममरणादि दुःख को प्राप्त नहीं होता ॥ ५५ ॥

(सम्पूर्ण संसार दुःखरूप है इस प्रकार की भावना (चिन्तन) का शास्त्र में यही उपरोपूर्वोक्त तात्पर्य है, नकि अत्यन्त सुख का निषेध इस विषय को दृढ करने के लिये भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—प्रमेयपदार्थों में दुःखपदार्थ का उद्देश सुख का खण्डन नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ?—

पदपदार्थ—न = नहीं, सुखस्य अपि = सुख की भी, अन्तरालनिष्पत्तेः = मध्य-मध्य में सिद्धि होने के कारण ॥ ५६ ॥

भावार्थ—सांसारिक सम्पूर्ण व्यवहारों में भी पीड़ा (दुःख) के मध्य-मध्य में सुख भी होता है ऐसा प्राणिमात्र को अनुभव होने के कारण यह शास्त्रों में दुःखभावना का उपदेश संसार में सुख नहीं है ऐसा निषेध सुख का नहीं करता, किन्तु जितना सुख होता है उसे भी यह दुःख है, ऐसी भावना करने से प्राणियों को संसार-विषयों में वैराग्य होने से विषय वा सत्ता का त्याग होने के कारण पुनः उसे संसार का दुःख भोगना नहीं पड़ता यह सिद्धान्त का आशय है ॥ ५६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यह प्रथमाध्याय के प्रमेयपदार्थों के उद्देशसूत्र में दुःखरूप प्रमेयपदार्थ का उद्देश सुख का प्रत्याख्यान (सुख नहीं है, ऐसा निषेध) नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—सांसारिक सम्पूर्ण व्यवहार (भोगों) में मध्य-मध्य में सुख भी प्राणियों को प्राप्त होता है। क्योंकि सांसारिक दुःखों के मध्य-मध्य में सुख भी होता है ऐसा शरीरधारी प्राणिमात्र के प्रत्येक आत्मा को अनुभव होता है। इस कारण सुख का खण्डन नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

(इसी विषय में दूसरे हेतु को देने वाले सिद्धान्तसूत्र को भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—और भी—

पदपदार्थ—बाधनानिवृत्तेः = बाधज्ञान के, वेदयतः = सुख का अनुभव करने वाले प्राणी को, पर्येषणदोषात्=तृष्णा को अनुवृत्ति होने के कारण, अप्रतिषेधः=सुख का निषेध नहीं हो सकता ॥५७॥

सुखस्य दुःखोद्देशेनेति प्रकरणात्, पर्येषणं प्रार्थना विषयार्जनतृष्णा, पर्येषणस्य दोषो यदयं वेदयमानः प्रार्थयते, तच्चास्य प्रार्थितं न सम्पद्यते, सम्पद्य वा विपद्यते, न्यूनं वा सम्पद्यते, बहुप्रत्यनीकं वा सम्पद्यते, इत्येतस्मात्पर्येषणदोषान्नानाविधो मानसः सन्तापो भवत्येवं वेदयतः पर्येषणदोषाद्बाधनाया अनिवृत्तिः। बाधनाऽनिवृत्तेर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते अनेन कारणेन दुःखं जन्म न तु सुखस्याभावादिति।

अथाप्येतदनूक्तम्—

'कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते'॥

भावार्थ—विषय-संपादन की इच्छा में प्राणियों को अनेक इष्ट विषयों के प्राप्ति की इच्छा होती है जिससे उसकी सब कामनायें पूर्ण नहीं होती, अथवा पूर्ण होकर नष्ट हो जाती हैं, या कामना थोड़ी-सी पूर्ण होती है, अथवा उसकी पूर्णता में बहुत से विघ्न उत्पन्न होते हैं, इत्यादि कामना करने में अनेक दोष होने के कारण उसे मन में बहुत दुःख होता है, जिससे उसका किसी भी सांसारिक सुख की इच्छा के विषयों में कभी दुःख नहीं होता ऐसा नहीं है किन्तु दुःख अवश्य होता है, इसी कारण उनसे लालसा छूटकर उसे संसारदुःख पुनः न भोगना पड़े, इस आशय से शास्त्रों में सम्पूर्ण संसार दुःखरूप है ऐसा उपदेश किया है, नकि संसार में सुख है नहीं, ऐसा उनका कथन है, अतः दुःख के समान सुख भी संसार में है यह सिद्ध होता है॥ ५७॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की सूत्र के वाक्य को पूरा करते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—प्रमेयपदार्थों में दुःख के उद्देश से सुख संसार में नहीं है, ऐसा निषेध नहीं हो सकता, यह इस प्रकरण से सूत्र का अर्थ होता है। (सूत्र के **'पर्येषण'** शब्द का अर्थ भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—पर्येषण शब्द का इष्ट विषयों की प्रार्थना—अर्थात् सुख देने वाले विषयों के सम्पादन की तृष्णा (लालसा) (आगे तृष्णारूप पर्येषणदोष का वर्णन भाष्यकार करते हैं कि)—यह विषय (पदार्थ) मुझे सुख देने वाला है ऐसा जानता हुआ प्राणी सुख के साधन पदार्थों की प्राप्ति की मन में कामना (प्रार्थना) करता है, किन्तु उसके मन की कोई-कोई कामना पूर्ण नहीं होती, अथवा पूर्ण होते ही नष्ट हो जाती है, अथवा न्यून (कम) पूर्ण होती है अथवा बहुत से विघ्न उस कामना के पूर्ण होने में आकर तब वह पूर्ण होती है—यह सम्पूर्ण उपरोक्त तृष्णारूप पर्येषण के दोष कहाते हैं, अतः इस पर्येषण के दोष से प्राणी के चित्त में अनेक मानस सन्ताप (दुःख) होते हैं। ऐसा अनुभव करने वाले प्राणियों की उपरोक्त पर्येषण के दोष के विचार से सांसारिक किसी भी व्यवहार में दुःख (पीड़ा) की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार किसी भी सांसारिक व्यवहार में दुःख के निवृत्त न होने के कारण ही जन्मादिकों को दुःख समझना चाहिये ऐसा शास्त्र में कहा गया है। इसी कारण जन्म दुःख है नकि संसार में कोई सुख है नहीं, इस कारण। अर्थात् दुःख के कारण नाना प्रकार से चित्त में सन्ताप होने के कारण ही जन्म को महर्षि ने दुःख कहा है नकि सुख के अत्यन्त अभाव होने से (इस विषय में वृद्ध विद्वानों की दो सम्मति दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इसी कारण इस विषय में ऐसा कहा है—**कामं** (सुख की), **कामयमानस्य** (इच्छा करने वाले प्राणी का), **यदा** (जिस समय), **कामः** (कामना), **समृध्यते** (बढ़ती है), **अथ** (इसके पश्चात्), **एनं** (इस कामना वाले प्राणी को),

अपि चेदुदनेमिं समन्ताद् भूमिमिमां लभते सगवाश्वां न स तेन धनेन धनैषी तृप्यति किन्तु सुखं धनकाम इति ॥ ५७ ॥

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

दुःखसंज्ञाभावनोपदेशः क्रियते। अयं खलु सुखसंवेदने व्यवस्थितः सुखं परमपुरुषार्थं मन्यते न सुखादन्यन्निःश्रेयसमस्ति सुखे प्राप्ते चरितार्थः कृतकरणीयो भवति। मिथ्यासङ्कल्पात्सुखे तत्साधनेषु च विषयेषु संरज्यते, संरक्तः सुखाय घटते, घटमानस्यास्य जन्मजराव्याधिप्रायणानिष्टसंयोगेष्टवियोगप्रार्थितानुपपत्तिनिमित्तमनेकविधं यावद् दुःखमुत्पद्यते, तं दुःखविकल्पं सुखमित्यभिमन्यते। सुखाङ्गभूतं दुःखम्, न दुःखमनापाद्य शक्यं सुखमवाप्तुं तादर्थ्यात्सुखमेवेदमिति सुखसंज्ञोपहतप्रज्ञो जायस्व म्रियस्व सन्धावेति संसारं

अपरः (दूसरा), कामः (कामना), क्षिप्रं एव (शीघ्र ही), प्रबाधते (पीड़ा देती है)। और भी कहा है कि—अपि चेत् (और यदि), उदनेमिं (समुद्रपर्यन्त), समंतात् (चारो तरफ से), भूमिं (पृथ्वी को), इमां (इस), लभते (पाता है), सगवाश्वां (गौ-अश्वादि सहित), न (नहीं), सः (वह), धनैषी (धन की इच्छा करने वाला), तृप्यति (सन्तुष्ट होता है), किन्तु (तो क्या प्राप्त करता है), सुखं (सुख को), धनकामः (धन की कामना करने वाला)। ऐसा प्राचीन दार्शनिक अनुभवी विद्वानों ने कहा है ॥ ५७ ॥

'यद्यपि संसार के व्यवहारों में मध्यभाग में सुख का भी प्राणी को अनुभव होता है तथापि उसमें दुःख की व्याप्ति का अनुभव करने वाले प्राणियों को विना उपदेश के भी स्वयं संसार के व्यवहारों से निवृत्ति हो जायगी तो फिर शास्त्र में जन्मादि संसार को दुःख समझना चाहिये ऐसा उपदेश करने की क्या आवश्यकता है' ऐसे पूर्वपक्षी का समाधान सिद्धान्तिमत से सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—दुःखविकल्पे = नाना प्रकार के दुःखों में, सुखाभिमानात् च = सुख का अभिमान होने के कारण भी ॥ ५८ ॥

भावार्थ—संसार में शास्त्र से निषिद्ध हिंसा (हत्या), तथा निषिद्ध मांसादि भक्षणरूप नाना प्रकार के दुःखों में यह सुखदायक है ऐसा अज्ञानियों को अभिमान भी होता है इस कारण शास्त्र को दुःखभावना करने के उपदेश का अवसर है ॥ ५८ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की सूत्र के वाक्य को पूर्ण करते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—नाना प्रकार के दुःखों में अज्ञानी प्राणियों को सुख का अभिमान (भ्रम) होने के कारण भी शास्त्र उसे दुःख समझने को भावना का उपदेश करता है। क्योंकि संसार के सुख का अनुभव करने वाले यह अज्ञानी प्राणी सुख ही को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ समझते हैं कि—संसार में सुख को छोड़कर दूसरा कोई निश्रेयस (मोक्ष) सुख नहीं है। सुख के प्राप्त होने पर वह अपने को कृतार्थ, तथा मेरा कर्तव्य मैंने सब कर लिया ऐसा समझता है। मिथ्या विषयसुख की कामनाओं से सुख तथा सुख के साधन विषयों में वह अनुराग (आसक्ति) करता है और अनुराग के कारण ही सदा सुखप्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करता है। किन्तु सुख के लिये ही सदा प्रयास करने पर भी उस अज्ञानी प्राणी को जन्म लेना, वृद्धावस्था होना, नाना प्रकार के रोग होना, मरना, अहित विषय की प्राप्ति होना, हित विषयों से वियोग होना, तथा कामना पूर्ण न होना इत्यादि अनेक कारणों से अनेक प्रकार के दुःख होने पर भी उस अनेक प्रकार के दुःखों को थोड़े से

नातिवर्त्तते। तदस्याः सुखसंज्ञायाः प्रतिपक्षो दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते दुःखानुषङ्गाद् दुःखं जन्मेति न सुखस्याभावात्।

यद्येवं कस्माद् दुःखं जन्मेति नोच्यते सोऽयमेवं वाच्ये यदेवमाह दुःखमेव जन्मेति तेन सुखाभावं ज्ञापयतीति ? जन्मविनिग्रहार्थीयो वै खल्वयमेवशब्दः, कथम् ? न दुःखं जन्म स्वरूपतः किं तु दुःखोपचाराद् एवं सुखमपीति एतद् नेनैव निवर्त्यते न तु दुःखमेव जन्मेति ॥ ५८ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः दुःखपरीक्षाप्रकरणम्।

दुःखोपदेशानन्तरमपवर्गः, स प्रत्याख्यायते—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥ ५९ ॥

हुए सांसारिक सुख के कारण सुख के कारण सुख ही है, ऐसा उसे अभिमान (भ्रम) होता है। सांसारिक सुखों का दुःख अंग है। बिना दुःखप्राप्ति के संसार में सुख प्राप्त नहीं हो सकता (जैसे भोजन से होने वाला तृप्तिसुख बिना रसोई करने के कष्टों के बिना नहीं हो सकता)। वह दुःख सुख के लिये हो होता है अतः सुख ही है इस प्रकार दुःख को सुख समझने के कारण नष्टबुद्धि वाले संसार को अज्ञानी प्राणी बारम्बार उत्पन्न होना (जन्म लेना), मरना इत्यादि रूप से संधाव (आना-जाना) रूप संसार को छोड़ नहीं सकता। इस कारण इन अज्ञानी प्राणियों को संसार व्यवहार में होने वाले दुःख को सुख ही समझने की भावना का विरोधी संसारिक संपूर्ण सुखों को भी दुःख ही समझना चाहिये ऐसा शास्त्र में महर्षि ने उपदेश किया है कि— दुःख का सम्बन्ध सर्वत्र होने के कारण, यह मुख्य संसार का कारण दुःख ही है, नकि संसार में सुख है नहीं इस कारण। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'जिस कारण दुःख के सम्बन्ध से जन्म दुःख है ऐसा सिद्धान्ती मानता है, तो उसे जन्म दुःख है ऐसा कहना चाहिये, किन्तु वह ऐसा न कह कर ऐसा कहता है कि जन्म दुःख ही है—इस से संसार में सुख नहीं है ऐसा सिद्ध होता है' (इसका उत्तर सिद्धान्तिमत से भाष्यकार देते हैं कि)—यह एव शब्द जन्म की निवृत्ति को कहता है। (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—स्वरूप से जन्म दुःख नहीं है अर्थात् जन्म का रूप दुःख नहीं है, किन्तु दुःख को सर्वत्र सांसारिक जन्मादि सुख में सम्बन्ध होने के कारण। इसी प्रकार जन्मस्वरूप से सुख नहीं है किन्तु सुख सम्बन्ध से। यह जन्म शास्त्र की दुःखभावना से ही निवृत्त हो सकता है यह शास्त्र के उपदेश का ज्ञान व्यर्थ है नकि वस्तुतः जन्म दुःख ही है। (अर्थात् शास्त्र के उपदेश से जन्म का पुनः) ग्रहण करना ही निवृत्त होता है नकि संसार में सर्वथा सुख है नहीं यह शास्त्र सिद्ध करता है ॥ ५८ ॥

(१४) अपवर्ग के परीक्षा का प्रकरण

(प्रमेयपदार्थों में क्रमप्राप्त अपवर्ग के परीक्षा को प्रारंभ करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र का ऐसा अवतरण देते हैं कि)—प्रमेयपदार्थों में दुःखपदार्थ के उद्देश के पश्चात् अपवर्ग का उद्देश किया गया है। उसका पूर्वपक्षी खण्डन करता है—

पदपदार्थ—ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबंधात् = देवता, ऋषि तथा पितरों के तीन प्रकार के ऋणों का सम्बन्ध होने तथा क्लेशों के सम्बन्ध होने और शारीरादि तीन प्रकार की प्रवृत्ति का सम्बन्ध होने के कारण भी, अपवर्गाभावः = अपवर्ग (मोक्ष) नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

भावार्थ—संसार के प्राणियों को देव, मनुष्य तथा पितरों के तीन प्रकार के शास्त्र में कहे

ऋणानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः । 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभि (र्ऋणै) र्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य' इति ऋणानि, तेषामनुबन्धः स्वकर्मभिः सम्बन्धः कर्मसम्बन्धवचनात् 'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति जरया ह एष तस्मात्सत्राद्विमुच्यते मृत्युना ह वेति' । ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः । *क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः* । क्लेशानुबद्ध एवायं म्रियते क्लेशानुबद्धश्च जायते नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते । *प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः* । जन्मप्रभृत्ययं यावत्प्रायणं वाग्बुद्धिशरीरारम्भणाविमुक्तो गृह्यते तत्र यदुक्तं *'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग'* इति तदनुपपन्नमिति ॥ ५६ ॥

हुए ऋणों के चुकाने पर्यन्त उससे बन्धन होने के कारण, एवं जन्ममरणादिकों में सर्वत्र क्लेशों के अनिवार्य सम्बन्ध से छुटकारा होना असंभव होने के कारण तथा जन्म से लेकर मृत्युकाल तक शरीर, मन तथा वाचा से होने वाली दस प्रकार की पूर्वोक्त पुण्य और पापरूप प्रवृत्तियों से भी छुटकारा होना असंभव होने से संसारबन्धन दुःख से अत्यन्त निवृत्तिरूप अपवर्ग (मोक्ष) नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'तीन प्रकार के ऋणों का ब्राह्मणमात्र को अनुबन्ध (बन्धन) होने के कारण अपवर्ग नहीं हो सकता। जायमानः (उत्पन्न होने वाला), **ह वै** (निश्चय से ही), **ब्राह्मणः** (ब्राह्मण वर्ण), **त्रिभिः** (तीन), **ऋणैः** (ऋणों से), **ऋणवान्** (कर्जा रखने वाला), **जायते** (होता है)—**ब्रह्मचर्येण** (ब्रह्मचर्याश्रम से), **ऋषिभ्यः** (ऋषि-मुनियों का), **यज्ञेन** (यज्ञ-पूजा आदि से), **देवेभ्यः** (देवताओं का), **प्रजया** (सन्तान से), **पितृभ्यः** (पितरों का), **इति** (ऐसे), **ऋणानि** (ऋण हैं)। उनका अनुबन्ध अर्थात् अपने-अपने कर्मों से सम्बन्ध। जिस कर्मसम्बन्ध को **'जरामर्थं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति, जरया ह एष तस्मात्सत्राद्विमुच्यते मृत्युना ह वा'** इस प्रकार यावज्जीवन तक दर्शपूर्णमासादि कर्म करना चाहिये जो या तो वृद्धावस्था में सामर्थ्य तथा कामना के न रहने पर अथवा मरने पर ही छूट सकता है. इस आशय के श्रुतिवाक्य सिद्ध करते हैं। इस कारण इन तीनों प्रकार के ब्राह्मणों को कर्म से बन्धन होने के कारण उसकी संपूर्ण अवस्था उपरोक्त तीनों ऋणों के दूर करने में ही व्यतीत होने के कारण उसे मोक्ष के योगशास्त्रोक्त समाधि तथा दर्शनशास्त्रों में कहे हुए मोक्ष में ज्ञानादि रूप उपायों के करने का अवसर ही नहीं मिल सकता, अतः अपवर्ग नहीं है। (इसी कारण कहा है कि) **ऋणानि** (ऋणियों को), **त्रीणि** (तीन प्रकार के), **अपरकृत्य** (छुड़ा कर), **मनः** (मन को), **मोक्षे** (मोक्ष में), **निवेशयेत्** (लगावे)। **अनयाकृत्य** (न छुड़ा कर), **मोहेन** (अज्ञान से), **मोक्षं** (मोक्ष को), **इच्छन्** (चाहता हुआ), **व्रजति** (जाता है), **अधः** (अधोगति को)। (इस प्रकार सूत्र में कहे हुए ऋणानुबन्धकों के कारण मोक्ष नहीं हो सकता। इस प्रथम पूर्वपक्ष की व्याख्या के पश्चात् द्वितीय क्लेशानुबन्ध से मोक्ष नहीं हो सकता इस वाक्य की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नाम के योगसूत्र में कहे हुए संसार के मूल कारण क्लेशों के सम्बन्ध से भी यह प्राणी जन्म से मरणकाल तक ग्रस्त होने के कारण उसे अपवर्ग नहीं हो सकता। क्योंकि क्लेशों से युक्त ही यह जीव मरता है तथा जन्म लेता है, जिससे क्लेशों के सम्बन्ध का विच्छेद (नाश) नहीं हो सकता, इस कारण भी मोक्ष नहीं हो सकता। (आगे तृतीय

अत्राभिधीयते । यत्तावदृणानुबन्धादिति ऋणैरिव ऋणैरिति—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

ऋणैरिति नायं प्रधानशब्दः । यत्र खल्वेकः प्रत्यादेयं ददाति द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात प्रधानमृणशब्दः । न चैतदिहोपपद्यते प्रधानशब्दानुपपत्तेः गुणशब्देनायमनुवाद ऋणैरिव ऋणैरिति । प्रयुक्तोपमं चैतद् यथाऽग्निर्माणवक इति । अन्यत्र दृष्टश्चायमृणशब्द इह प्रयुज्यते यथाग्निशब्दो माणवके।

प्रवृत्ति के सम्बन्ध के कारण मोक्ष नहीं हो सकता इस पूर्वपक्षी के वाक्य का अर्थ करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—प्रथमाध्याय में कही हुई दस प्रकार की पुण्य और पापरूप शरीर, मन तथा वाणी से होने वाली प्रवृत्ति का बन्धन होने से भी अपवर्ग नहीं हो सकता। क्योंकि जन्मग्रहण के काल से ही मरणकाल तक वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं होता ऐसा देखने में आता है। इस कारण सिद्धान्ती ने जो प्रथमाध्याय प्रथमाह्निक के २ सूत्र में—'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में से उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) के मिथ्याज्ञानादिकों के निवृत्त होने पर उसके पूर्व-पूर्व के (दोषादिकों के) निवृत्त होने पर अत्यधिक दुःख निवृत्तिरूप अपवर्ग होता है ऐसा कहा था, वह नहीं हो सकाता' अतः तीनों ऋणादिकों से ग्रस्त होने के कारण प्राणियों को मोक्ष नहीं हो सकता यह सिद्ध होता है ॥ ५९ ॥

(उक्त आक्षेप का उत्तर देने वाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—यहाँ इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त कहा जाता है कि जो पूर्वपक्षी ने तीन प्रकार के ऋणों का बन्ध दिखाया था उसमें ऋण (कर्जे) के समान ऋण (कर्जे) से इस प्रकार—

पदपदार्थ—प्रधानशब्दनुपपत्तेः = मुख्य-शक्य, अर्थ को कहने वाले शब्द की संगति न होने के कारण, गुणशब्देन = लाक्षणिक गौण शब्द से, अनुवादः = अनुवाद है, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः = निन्दा और प्रशंसा हो सकने से ॥ ६० ॥

भावार्थ—'ऋण से सम्बद्ध ही ब्राह्मण उत्पन्न होता है' ऐसे पूर्वपक्षी के दिखाये हुए मंत्र में यह ऋण शब्द मुख्य ऋण को नहीं कहता, क्योंकि मुख्य ऋण शब्द का प्रयोग उसी स्थल में होता है, जिस स्थल में एक प्राणी पुनः लेने के पदार्थ को देता है, और दूसरा कालान्तर में देने के योग्य पदार्थ को लेता है, प्रस्तुत विषय में ऐसा नहीं है, अतः प्रधान (मुख्यार्थ) को कहने वाला मन्त्र में यह ऋण शब्द नहीं हो सकता। अतः यह ऋण (कर्जे के) समान तीन ऋषि आदि के ऋणों से सम्बद्ध ब्राह्मण होता है ऐसा गौण अर्थ सादृश्य से लिया गया है, जैसे अति तेजस्वी होने के कारण यह माणवक (ब्रह्मचारी) अग्नि है, ऐसा गौण व्यवहार होता है। जिससे उस बालक की प्रशंसा होती है, अतः ब्रह्मचारी अग्नि है यह कहना जैसे प्रशंसाबोधक होने से केवल अनुवाद है, उसी प्रकार प्रस्तुत में विहित कर्म करने वाले ब्राह्मण का उक्त तीनों ऋणों से छुटकारा होने से प्रशंसा होती है, और जो यथोचित कर्म नहीं करता, उसकी कर्जा न देने वाले के समान लोक में निन्दा हुआ करती है, इस सादृश्य से यह ब्राह्मण में गौण ऋण होते हैं नकि मुख्य—यह सिद्ध होता है ॥ ६० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैः' इस वेदमंत्र में 'ऋणैः' यह शब्द प्रधान (मुख्यार्थ) को कहने वाला नहीं है। क्योंकि जिसमें एक ऋण देने वाला पुनः लेने योग्य धन को देता है, और दूसरा ऋण लेने वाला पुनः देने योग्य (लौटाने योग्य) धन को लेता है, उसी अर्थ में मुख्य ऋण

कथं गुणशब्देनानुवादः ? *निन्दाप्रशंसोपपत्तेः* । कर्मलोपे ऋणीव ऋणादानान्निन्द्यते कर्मानुष्ठाने च ऋणीव ऋणदानात्प्रशस्यते स एवोपमार्थ इति । *जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्* । जायमानो ह वै ब्राह्मण इति च शब्दो गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमान इति । यदायं गृहस्थो जायते तदा कर्मभिरधिक्रियते *मातृतो जायमानस्यानधिकारात्* । यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते *अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्* । अर्थिनः कर्मभिरधिकारः कर्मविधौ कामसंयोगस्मृतेः *अग्निहोत्रं जहुयात्स्वर्गकाम'* इत्येवमादि । *शक्तस्य च प्रवृत्तिसम्भवात्* शक्तस्य कर्मभिरभिकारः प्रवृत्तिसम्भवात् । शक्तः खलु विहिते कर्मणि प्रवर्त्तते नेतर इति । *उभयाभावस्तु*

शब्द का अर्थ देखने में आता है, इस कारण वह ऋण शब्द प्राधान है । प्रस्तुत में यह ऋण शब्द यथार्थ धन नहीं हो सकता, इस कारण गुण (लाक्षणिक) शब्द से यह केवल ऋण के समान पित्रादि तीन ऋणों से मुक्त की प्रशंसा तथा न मुक्त होने वाले ब्राह्मण की निन्दा को कहने के कारण अनुवाद मात्र है । जिस प्रकार 'तेजस्वी ब्रह्मचारी अग्नि है' ऐसे व्यवहार में अग्नि और ब्रह्मचारी से उपमा (सादृश्य) का ज्ञान होता है उसी प्रकार तीनों का ऋण चुका चुका देने वाले ब्राह्मण की कर्जा दे देने वाले मनुष्य के समान प्रशंसा की गई है । क्योंकि वास्तविक ऋण में दिखलाया हुआ यह ऋण शब्द उक्त मन्त्र में ब्रह्मचारी में अग्नि शब्द के समान कहा गया है । (इस लक्षण के ऋण शब्द के प्रयोग का क्या प्रयोजन है ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि)—निन्दा तथा प्रशंसा का होना । क्योंकि विहित कर्मों के न करने पर ऋण न चुकाने वाले के समान ब्राह्मण की निन्दा तथा ऋण चुका देने से ऋण लेने वाले की प्रशंसा के समान विहित कर्म करने वाले ब्राह्मण की संसार में प्रशंसा होती है । इसी कारण लाक्षणिक ऋण शब्द का मन्त्र में कथन है । (आगे 'जायमानः' यह मन्त्र का शब्द भी गौण (लाक्षणिक) शब्द है इसमें हेतु देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—उक्त मंत्र में 'जायमानः' होने वाला यह भी लाक्षणिक शब्द है, क्योंकि इस जायमान शब्द का अर्थ है गृहस्थाश्रम में रहने वाला ब्राह्मण ही यज्ञ-यागादि कर्म करने का अधिकारी होता है नकि माता के उदर से उत्पन्न हुआ ब्राह्मण बालक । क्योंकि जब तक उस (ब्राह्मण) के उचित उपनयन आदि संस्कार नहीं होते तब तक उस ब्राह्मण बालक को यज्ञ-यागादि कर्मों के करने का अधिकार नहीं होता । क्योंकि इस ब्राह्मण बालक के उत्पन्न होते ही उसे कर्म करने को अधिकार होता है ऐसा कहना असंगत है । कारण यह कि जो कर्मफल के बाद ही की अर्थित (इच्छा-कामना) रखता है, तथा कर्म करने में समर्थ होता है, उसी को कर्मानुष्ठान में शास्त्रों ने अधिकार दिखाया है । 'स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र हवन करे' इस प्रकार हवनकर्म को विधिवाक्य से स्वर्गफल की कामना का सम्बन्ध कहा है, अतः यज्ञादि कर्म करने में फल की कामना वाले प्राणी को ही अधिकार है ऐसा कहा है । तथा कर्म करने से समर्थ पुरुष की ही प्रवृत्ति हो सकती है । क्योंकि असमर्थ प्राणी को कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं होती इससे यह सिद्ध होता है कि समर्थ पुरुष को ही कर्म करने में अधिकार है, कारण यह कि समर्थ पुरुष ही शास्त्र में विधान किये कर्मों के करने में प्रवृत्त होता है, नकि दूसरा (असमर्थ) पुरुष । यदि जायमान शब्द का उत्पन्न हुआ प्राणी ऐसा मुख्य (शब्द) अर्थ लिया जाय तो उसमें फल की कामना तथा सामर्थ्य दोनों

प्रधानशब्दार्थे। मातृतो जायमाने कुमारे उभयमर्थिता शक्तिश्च न भवतीति। न भिद्यते च लौकिकाद्वाक्याद्वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन। तत्र लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारकमेवं ब्रूयादधीष्व यजस्व ब्रह्मचर्यं चरेति। कुत एष ऋषिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति! न खलु वै नर्त्तकोऽन्धेषु प्रवर्त्तते न गायको बधिरेष्विति। *उपदिष्टार्थविज्ञानं* चोपदेशविषयः। यश्चोपदिष्टमर्थं विजानाति तं प्रत्युपदेशः क्रियते न चैतदस्ति जायमानकुमारक इति *गार्हस्थ्यलिङ्गं च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति*। यच्च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति तत्पत्नीसम्बन्धादिना गार्हस्थ्यलिङ्गेनोपपन्नं तस्माद् गृहस्थोऽयं जायमानोऽभिधीयते इति।

ही नहीं हो सकते इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जायमान शब्द का माता के उदर से उत्पन्न हुआ प्राणी ऐसा मुख्य (शक्तिसम्बन्ध से बोध्य) अर्थ लिया जाय, तो अर्थिता (कामना) एवं सामर्थ्य जो कर्म के अधिकार के कारण हैं नहीं बन सकते। क्योंकि माता के उदर से उत्पन्न हुये कुमार में फल की कामना तथा सामर्थ्य दोनों ही नहीं होते (इस कारण जायमान शब्द का मुख्य अर्थ नहीं हो सकता)। (ऐसा केवल वैदिक कर्मों के अधिकार में ही उपरोक्त नियम नहीं है किन्तु लौकिक व्यवहार में भी है इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—बुद्धिपूर्वक रचा हुआ लौकिक वाक्य भी वैदिक वाक्य से भिन्नरूप नहीं होता, क्योंकि दोनों ही प्रमाणवाक्य बुद्धिपूर्वक आप्त पुरुष से रचे रहते हैं। अतः अपरीक्षक (अज्ञानी) कोई संसार के सामान्य पुरुष भी माता के उदर से उत्पन्न हुए शिशु (बच्चे) को ऐसा नहीं कह सकता कि—'तुम अध्ययन करो, हवन करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो'–इत्यादि। तो फिर अपना प्रमाणयुक्त तथा दोषरहित उपदेश करने वाले महर्षिगण अनधिकारी माता के उदर से उत्पन्न शिशु को ऐसा उपदेश कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि नाचने वाला अन्धों को नाच दिखाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता तथा गायक (गवैया) बहिरे को गाना नहीं सुनाता।

(जायमान शब्द माता से उत्पन्न शिशु को नहीं कहता इस विषय में दूसरा हेतु देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उपदेश किये के अर्थ को जान सकने वाले ही शिष्य, पुत्र आदि उपदेश के विषय (पात्र) होते हैं। क्योंकि जो उपदेश किये वाक्य के अर्थ को जानता है उसी शिष्य-पुत्र आदिकों को उपदेश किया जाता है किन्तु यह माता से उत्पन्न बच्चे में नहीं होता। (उक्त जायमान शब्द का अर्थ माता के उदर से उत्पन्न ब्राह्मण बालक नहीं है किन्तु गृहस्थ होने वाला ब्राह्मण इस सिद्धान्त की इस विषय की उपरोक्त युक्ति से ही सिद्धि नहीं होती किन्तु इस विषय में वैदिक (ब्राह्मण) मन्त्र से भी सिद्धि होती है इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ब्राह्मणभाग के मंत्र भी गृहस्थ्य (गृहस्थ ब्राह्मण) को सूचित करते हुए ही यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान को कहते हैं। क्योंकि 'पत्न्यवेक्षितमाज्यं' पत्नी से देखा हुआ घृत तथा 'पत्न्यै उद्गायंति' पत्नी के लिये उद्गाता ब्राह्मण सामगान करते हैं। 'क्षौमे वसानावग्नी आदधीयाताम्' 'रेशमी वस्त्र पहिन कर यजमान और उसकी पत्नी, अग्नि का आधान करें', इत्यादि ब्राह्मण-मंत्रवाक्य में जो कर्म करने के कहे हैं वे संपूर्ण पत्नी के सम्बन्धरूप गार्हस्थ्य (गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण) के कर्मों में अधिकार को कहते हैं (नकि माता के उदर से उत्पन्न शिशु के)। इस कारण 'जायमान' इस शब्द से गृहस्थ होने वाला ब्राह्मण ही कहा जाता है। (इस प्रकार

अर्थित्वस्य चाविपरिणामे जरामर्यवादोपपत्तिः ।

यावच्चास्य फलेनार्थित्वं न विपरिणमते न निवर्तते तावदनेन कर्मानुष्ठेयमित्युपपद्यते जरामर्यवादस्तं प्रतीति । *जरया ह वेत्यायुषस्तुरीयस्य चतुर्थस्य प्रव्रज्यायुक्तस्य वचनं जरया ह वा एष एतस्माद्विमुच्यते'* इति । आयुषस्तुरीयं चतुर्थं प्रव्रज्यायुक्तं जरेत्युच्यते । तत्र हि प्रव्रज्या विधीयते अत्यन्तजरासंयोगे जरया ह वेत्यनर्थकम् । *'अशक्तो विमुच्यते'* इत्येतदपि नोपपद्यते स्वयमशक्तस्य बाह्यां शक्तिमाह । *'अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः, क्षीरहोता (?) वा जुहुयाद्धनेन स परिक्रीत'* इति । अथापि विहितं वानूद्येत कामाद्वार्थः परिकल्प्येत ? विहितानुवचनं न्याय्यमिति । ऋणवानिवास्वतन्त्रो गृहस्थः कर्मसु प्रवर्त्तते इत्युपपन्नं वाक्यस्य सामर्थ्यम् । फलस्य हि साधनानि प्रयत्नविषयो

गार्हस्थ्य के पूर्वसमय में पूर्वोक्त तीनों वाक्यों का बन्धन नहीं होता यह देखकर उत्तरावस्था (वृद्धावस्था) में भी ऋणों का सम्बन्ध नहीं होता इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—

अर्थिता (कामना) परिणाम न होने पर अर्थात् कामना के रहते ही जरामर्यवाद (जब तक जीता है तब तक कर्म करे) यह वाद कहना हो सकता है । अर्थात् जब तक इस पुरुष की कर्म के फल की कामना निवृत्त नहीं होती तभी तक इस गृहस्थ ब्राह्मण को विहित कर्म करना चाहिये । इस कारण उसके (कामना वाले) लिए जरामर्यवाद हो सकता है । अर्थात् **'जरया ह वा'** इत्यादि वाक्य का यही अर्थ है कि वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर यह कर्मानुष्ठान से मुक्त हो जाता है ।

(अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये दूसरा वाक्य उदाहरणार्थ भाष्यकार दिखाते हुए आगे कहते हैं कि)—**'जरया ह वा'** इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य का यह अर्थ है कि पूर्ण शत वर्ष आयु के चतुर्थ भाग जिसमें संन्यासाश्रम का पुरुष ने ग्रहण किया हो—वह जरा (वृद्धावस्था) प्राप्त होने पर यह पुरुष इस अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान से मुक्त हो जाता है । पूर्ण शत वर्ष के चतुर्थ (प्रव्रज्या) संन्यासाश्रम युक्त भाग की यह जरा अवस्था कही जाती है, उस अवस्था में प्रव्रज्या (संन्यासाश्रम) ग्रहण की शास्त्रों में विधि कही है । (यदि जरा शब्द का जीर्ण अवस्था ऐसा अर्थ किया जाय, आयु का चतुर्थ भाग न लिया जाय इसे अत्यन्त जरा (जीर्ण) अवस्था का सम्बन्ध होने पर **'जरया ह वा'** यह कहना व्यर्थ हो जायगा । क्योंकि अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण स्वयं शरीर में कर्म करने में सामर्थ्य न होने के कारण वह स्वयं अग्निहोत्रादि कर्म को छोड़ देगा तो फिर उपदेश की आवश्यकता न होने से उपदेश व्यर्थ हो जायगा । केवल उपदेश ही व्यर्थ न होगा किन्तु इस उपदेश का दूसरे उपदेश से विरोध भी आ जायगा इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि—'असमर्थ पुरुष कर्म से मुक्त हो जाता है, यह उपदेश भी न हो सकेगा, अर्थात् केवल असामर्थ्य ही कर्म के छूटने का कारण नहीं है । क्योंकि जो पुरुष स्वयं कर्म करने में समर्थ नहीं होता उसके लिये बाह्य असामर्थ्य ऐसा कहा है कि—**'अन्तेवासी** (शिष्य) **वा** (अथवा), **जुहुयात्** (हवन करे), **ब्रह्मणा** (ब्रह्मा से), **परिक्रीतः** (खरीदा हुआ), **सः** (वह), **परिक्रीतः** (खरीदा हुआ), **क्षीरहोता वा** (अथवा दुग्ध खीर का हवन करने वाला), **जुहुयात्** (हवन करे), **धनेन** (धनदान से), **सः** (वह), **परिक्रीतः** (खरीदा हुआ), **इति** (इस कारण) । अर्थात् स्वयं कर्म करने से असमर्थ गृहस्थ के कर्मानुष्ठान होने के लिये श्रुति ने ही दूसरा उपाय कहा है कि—शिष्य अथवा क्षीरहवन करने वाले ब्राह्मण की सहायता लेकर स्वयं अशक्त गृहस्थ पुरुष को हवनादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, अतः परस्पर पूर्वोक्त प्रकार

न फलं, तानि सम्पन्नानि फलाय कल्पन्ते । *विहितं च जायमानम्* । विधीयते च जायमानं तेन यः सम्बद्ध्यते सोऽयं जायमान इति ।

से उपदेशों का विरोध आने के कारण यहाँ आयुष्य का संन्यासआश्रम युक्त चतुर्थ भाग ही **'जरया ह वा'** इत्यादि वाक्यों में कहा गया है । (यद्यपि यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान की विधि गृहस्थ ही के लिये है तथापि **'जायमानो ह वै ब्राह्मण्यस्य त्रिभिर्ऋणैः'** यह वाक्य बालक के लिये भी यज्ञादि कर्म की विधि क्यों नहीं करेगा ? (इस शंका का विचारपूर्वक भाष्यकार खण्डन करते हैं कि)—क्या यह **'जायमानः'** इत्यादि वाक्य दूसरे स्थल में विधान किये यागादि कर्मों का अनुवाद करता है, अथवा अपनी इच्छामात्र से कर्म करने वाला यह स्वतन्त्र ही वाक्य बालक के लिये यज्ञादि कर्मों के करने का विधान करता है । (इस संशय का खण्डन करते हुए भाष्यकार निर्णय करते हुए आगे कहते हैं कि)—दूसरे स्थल में विधान किये कर्मों का अनुवाद **'जायमानः'** यह वाक्य करता है, यही मानना न्यायसंगत है । अर्थात् **'जायमानः'** इत्यादि वाक्य ऋण के चुकाने में असमर्थ (कर्जा देने वाले के अधीन रहने वाले) अधमर्ण (कर्जा चुकाने वाला) के समान देवता, ऋषि तथा मनुष्यों के तीन प्रकार के पूर्वोक्त ऋणों से छुटकारा न पाने वाला गृहस्थ भी यागादि कर्मों में पराधीन ही रहता है, जब तक उक्त तीनों ऋणों से छुटकारा नहीं पाता इसलिये वाक्य का सामर्थ्य बन सकता है अर्थात् **'जायमानः'** इस वाक्य में कोई विधि करने वाली विभक्ति नहीं है जिससे दूसरे स्थल में किये कर्मानुष्ठान का इस वाक्य में अनुवाद ही है ऐसा प्रतीत होता है । यदि इस वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य या प्रमाण से किसी प्रकार न माना जाय तो **'वचनानि (वाक्य होते हैं), तु (किन्तु), अपूर्वत्वात् (अदृष्ट के लिये) ।'** इस न्याय से इस **'जायमानः'** वाक्य को विधिवाक्य माना जायगा, किन्तु इस वाक्य के अर्थ को बतलाने वाले सैकड़ों वाक्य हैं, जिनमें साक्षात् विधि की बोधक विभक्तियां है—इस कारण केवल इच्छा से इस वाक्य को विधि का बोधक मानना अनुचित होने के कारण यह वाक्य अन्यत्र (दूसरे स्थल में) विहित कर्म का अनुवाद मात्र करता है ऐसा ही मानना संगत है । अतः इस वाक्य में जायमान शब्द का गौण गृहस्थ होने वाला ब्राह्मण ऐसा अर्थ लेना ही उचित प्रतीत होता है । (यदि पूर्वपक्षी कहे कि इस प्रकार जायमान शब्द के गौण मानने की अपेक्षा से मुख्य ही उत्पन्न हुए बालक के लिये ही इस वाक्य में कर्म की विधि क्यों न मानी जाय ? यद्यपि बालक में फल के साधक कर्मों को करने की सामर्थ्य नहीं है तथापि कर्म के पुत्र की उत्पत्ति करने में बालक को भी योग्यता है, क्योंकि उसका आत्मा भी उससे समवायिकारण हो सकता है, फल ही का उस बालक को प्रयोजन है नकि फलसाधक कर्मों से । तो इसके उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—फल के साधनों में पुरुष का प्रयत्न होता है ;नकि फल में । फल के साधन कर्मों के पूर्ण होने पर उनका फल होता है अर्थात् कोई भी कर्म की विधि अपने व्यापार में प्राणी को लगाती है, प्रयत्न करना ही उसका व्यापार है वह व्यापार बिना विषय के नहीं हो सकता । फल इस प्राणी के प्रत्यक्ष व्यापार का विषय होता ही नहीं, क्योंकि फल में केवल उस कर्म का उद्देशमात्र होता है, अतः फल के साधक कर्मों के जो साक्षात् पुरुष के प्रयत्न के विषय हैं उनके सिद्ध होने पर ही फल की प्राप्ति होने के कारण उत्पन्न बालक को उसके उपाय का ज्ञान न होने के कारण कर्म करने में सामर्थ्य न होने से उसे उस कर्म का फल कैसे प्राप्त हो सकता है, अतः कर्मानुष्ठान के बिना फल की प्राप्ति होना असंभव होने के कारण, माताके उदर में उत्पन्न बालक कर्मों का अधिकारी न होने के कारण **'जायमानः'** इस शब्द का

प्रत्यक्षविधानाभावादिति चेद् ? न प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षविधानाभावादिति। प्रत्यक्षतो विधीयते गार्हस्थ्यं ब्राह्मणेन, यदि चाश्रमान्तरमभविष्यत्तदपि व्यधास्यत् प्रत्यक्षतः, प्रत्यक्षविधानाभावान्नास्त्याश्रमान्तरमिति। न, *प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षतो विधानाभावात्।* न प्रतिषेधोऽपि वै ब्राह्मणेन प्रत्यक्षतो विधीयते न सन्त्याश्रमान्तराणि एक एव गृहस्थाश्रम इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतोऽश्रवणादयुक्तमेतदिति।

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत्। यथा शास्त्रान्तराणि स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकानि नार्थान्तराभावात्, एवमिदं ब्राह्मणं गृहस्थशास्त्रं स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकं नाश्रमान्तराणामभावादिति। ऋग्ब्राह्मणं

गृहस्थ होने वाला ब्राह्मण ऐसा लाक्षणिक (गौण) शब्द ही है, मानना संगत है। (इस, प्रयत्न फल के साधक कर्मों में ही होता है यह मानते हैं; और इस वाक्य में 'यही' बालक के लिये विहित है ऐसा मानेंगे। ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहें तो यह उचित नहीं है। इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यह फलसाधक योगादि कर्मों की जायमानत प्रस्तुत वाक्य से पूर्व ही दूसरे वाक्यों में विहित है और दूसरे भी वाक्यों से विधान की जाती है। (ऐसा होने के कारण उस विषय का प्रस्तुत इस वाक्य में भी बालक के लिये विधि है ऐसी कल्पना करना मिथ्या है) इस कारण जो फल के साधन कर्मों से सम्बन्ध रखता है वही इस श्रुतिवाक्य में जायमान शब्द से कहा जाता है (अर्थात् गृहस्थ ब्राह्मण को ही कर्मानुष्ठान में सामर्थ्य होने के कारण उसे ही जायमान शब्द का गौण अर्थ मानना संगत है न कि माता के उदर से उत्पन्न बालक को लेना)। (आयुष्य के चतुर्थ भाग में संन्यास की विधि है। इस विषय को न मानकर पूर्वपक्षी यदि शंका करें कि—'गृहस्थाश्रम की श्रुति में प्रत्यक्ष विधि है न कि संन्यासाश्रम की'—तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके निषेध का भी प्रत्यक्ष विधि नहीं है। अर्थात् यदि पूर्वपक्षी का ऐसा कहना हो कि—'ब्राह्मण मंत्र में गृहस्थाश्रम का प्रत्यक्ष विधान किया है, यदि उससे भिन्न संन्यासरूप चतुर्थ आश्रम होता तो उसका भी ब्राह्मण मंत्र में प्रत्यक्ष विधि होता। अतः प्रत्यक्ष विधि न होने के कारण गृहस्थाश्रम से भिन्न दूसरा संन्यासाश्रम नहीं है अर्थात् परमहितकारी परमात्मा ने दया से प्राणियों के अनुग्रह के लिये गृहस्थाश्रम ही को उपदेश किया है, न कि दूसरे संन्यासाश्रम का, अतः संन्यासरूप चतुर्थाश्रम की विधि यही है। इस कारण गौतम महर्षि के कहे हुए धर्मशास्त्र में **'ऐकाश्रम्यं'** (एक ही आश्रम है), **तु** (किन्तु), **आचार्याः** (आचार्य ने कहा है), **प्रत्यक्षविधानात्** (प्रत्यक्ष विधि होने के कारण), **गार्हस्थ्य** (गृहस्थाश्रम को), **इति** (ऐसा)। यह पूर्वपक्षी के आक्षेप का अभिप्राय है।। (तो इस पूर्वपक्षी के आशय के खण्डन का यह आशय है कि)—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि संन्यासाश्रम के खण्डन का भी ब्राह्मण मंत्र में प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है। कारण यह कि 'गृहस्थाश्रम को छोड़कर दूसरे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास 'आश्रम नहीं हैं। एक ही गृहस्थाश्रम है' ऐसा ब्राह्मण मंत्रों में प्रतिषेध भी प्रत्यक्ष से विहित सुनाई नहीं देता। अतः पूर्वपक्षी का यह कथन अयुक्त है। (यदि प्रत्यक्ष निषेध नहीं है, तो भी उसी की अनुमान से सिद्धि होगी, ऐसा पूर्वपक्षी कहें तो) भाष्यकार कहते हैं कि—और अधिकार होने से भी दूसरी विद्याओं के समान संन्यासादि आश्रमों का विधि मानना होगा। जिस प्रकार दूसरे-दूसरे शास्त्र अपने-अपने अधिकार में प्रत्यक्ष

चापवर्गाभिधाय्यभिधीयते। ऋचश्च ब्राह्मणानि चापवर्गाभिवादीनि भवन्ति। ऋचश्च तावत्—

'कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः। अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः। न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

से विधान करते हैं, न कि दूसरे अर्थ के न होने से—इसी प्रकार यह ब्राह्मण मंत्र भी गृहस्थशास्त्र का अपने अधिकार में होने के कारण प्रत्यक्ष विधान करता है, न कि दूसरे ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के न होने से इस कारण (अर्थात् गृहस्थाश्रम को छोड़कर दूसरे आश्रमों के न होने से उनका विधि नहीं है।' ऐसा हो तो न विधान करने से दूसरे आश्रमों के निषेध का अनुमान हो सकेगा। वस्तुतः तो एक केवल गृहस्थाश्रम का ही प्रत्यक्ष से श्रुति ने विधान किया है, दूसरे आश्रमों का नहीं किया है। इसका कारण दूसरे आश्रमों का न होना नहीं है किन्तु केवल गृहस्थाश्रम के उपदेश का ही उसमें अधिकार है। जिस प्रकार दूसरे व्याकरणादिशास्त्र अपने शब्दानुशासनरूप विषय को कहने पर भी दूसरे न्यायादि शास्त्र के विषय प्रमाणादि पदार्थों का निषेध नहीं करते, उसी प्रकार गार्हस्थ्य का उपदेश करने वाले वेदभाग भी अपने विषय गार्हस्थ्य की विधि करने पर भी उससे भिन्न ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमों का निषेध नहीं करते यह सिद्धान्त का गूढ़ आशय है) (कथा साधन सहित अपवर्ग (मोक्ष) और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के विधान करनेवाले ऋग्वेद की ऋचाएँ एवं ब्राह्मण-वाक्य भी उपलब्ध होते हैं, इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ऋचाएँ और ब्राह्मण मंत्र भी अपवर्ग (मोक्ष) को कहते हैं। अर्थात् ऋग्वेद के मंत्र एवं ब्राह्मण मंत्र भी अपवर्ग (मोक्ष) का विधान करते हैं। जिनमें ऋचा (ऋग्वेद के मंत्र) प्रथम हैं—'कर्मभिः (कर्मानुष्ठानों से), मृत्युं (प्रेत्यभाव को), निषेदुः (प्राप्त हुए), प्रजावन्तः (संतान वाले) द्रविणं (धन की), इच्छमानाः (इच्छा करने वाले), अथ (और) अपरे (दूसरे) ऋषयः (मुनि) मनीषिणः (बुद्धिमान्) परं (छोड़कर), कर्मभ्यः (कर्मों को), अमृतत्वं (अमरता, मोक्ष को), आनशुः (प्राप्त हुए)। न (नहीं), कर्मणा (कर्मानुष्ठान से), न (नहीं), प्रजया (संतान से), धनेन (धन से), त्यागेन (त्याग से) एके (एक) (कुछ महात्मा पुरुष) अमृतत्वं (मोक्ष को) आनशुः (प्राप्त हुए), परेण (पर है), नाकं (अविद्या से), निहितं (स्थित), गुहायां (हृदयरूप आकाश में), विभ्राजते (प्रकाशित होता है), यत् (जिसमें), यतयः (ज्ञानी संन्यासाश्रमी), विशन्ति (प्रवेश करते हैं)। वेद (जानता हूँ), अहं (मैं), एतं ((इस), पुरुषं (आत्मा को), महान्तं (व्यापक), आदित्यवर्णं (सूर्य के समान नित्य प्रकाशमान), तमसः (अविद्या रूप अन्धकार में), परस्तात् (परे रहने वाले), तम् (उस परमात्मा को), एव (ही), विदित्वा (जानकर), मृत्युं (जन्म-मरणरूप संसार को), अतिरति (पार करता है), न (नहीं), अन्यः (दूसरा), पन्थाः (मार्ग), विद्यते (है), अयनाय (मोक्ष के लिये)। (वाजसनेय संहिता ३१।१८. तैतिरीयारण्यक ३।१२।७) (इन उपरोक्त मन्त्रों में मोक्ष का वर्णन किया है), अब आगे ब्राह्मण-वाक्य ऐसे हैं—त्रयः (तीन), धर्मस्कन्धाः (धर्म के समूह हैं), यज्ञ (याग), अध्ययनं (स्वाध्याय), दानं (दान), इति (ऐसा), प्रथमः (प्रथम धर्म समूह है), तपः एव

अथ ब्राह्मणानि—

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीति तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्वे एवैते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्तीति। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तथा तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते'। इति कर्मभिः संसरणमुक्त्वा प्रकृतमन्यदुपदिशन्ति। 'इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो ~~भवति न~~ तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति'।

तत्र यदुक्तमृणानुबन्धादपवर्गाभाव इत्येतदयुक्तमिति। 'ये चत्वारः पथयो देवयाना' इति च चातुराश्रम्यश्रुतेरैकाश्रम्यानुपपत्तिः ॥ ६० ॥

(तपश्चर्या ही), द्वितीयः (द्वितीय धर्मस्कन्ध है), ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य से रहता हुआ), आचार्यकुलवासी (गुरु के आश्रम में वास करने वाला), इति (ऐसा), तृतीयः (तीसरा धर्मस्कन्ध है), अत्यन्तं (अत्यन्त), आत्मानं (अपनी आत्मा को), आचार्यकुले (गुरु के कुल (सेवा) में), अवसादयन् (कष्ट देता हुआ), सर्वे एव (संपूर्ण ही), एते (ये धर्मस्कन्ध), पुण्यलोकः (पुण्यलोक के देने वाले), भवन्ति (होते हैं), ब्रह्मस्थितः (परमात्मा में स्थित), अमृतत्वं (अमरता, मोक्ष को), एति (प्राप्त करता है)। (छान्दोग्योपनिषद् २।२३।१) एतं एव (इसी को), प्रव्राजितः (ज्ञानी संन्यासी), लोकं (पुण्य लोक को), अभीप्संतः (प्राप्त करने की इच्छा करते हुए), प्रव्रजन्ति (गमन करते हैं, संन्यास लेते हैं), इति (इस प्रकार)। (बृहदारण्यक ४।४।२२)। अथो (और), खलु (निश्चय से), आहुः (कहते हैं)—काममयः एव (कामनामय ही है), अयं (यह), पुरुषः (पुरुष), इति (इस कारण), सः (वह आत्मा), यथाकामः (जैसे कामना रखने वाला), भवति (होता है), तथाक्रतुः (वैसे संकल्प वाला), भवति (होता है)। यथाक्रतुः (जैसे संकल्प वाला), भवति (होता है), तथा (उसी प्रकार), तत् कर्म (उस कर्म को), कुरुते (करता है), यत् कर्म (जो कर्म करता है), तत् (उसी कर्म के अनुसार), अभिसम्पद्यते (आगे जन्म को प्राप्त करता है)। (बृह० ४।४।५) इस प्रकार ब्राह्मण भाग में कर्मों के अनुष्ठान से संसार की प्राप्ति को कह कर प्रस्तुत दूसरे विषय का उपदेश करते हैं कि—"इति (इस प्रकार), नु (निश्चय से), कामयमानः (कामना करने वाला), अथ (इसके पश्चात्), अकामयमानः (कामना न करने वाला हो जाता है), यः (जो), अकामः (काम रहित), निष्कामः (कामनारहित), आत्मकामः (केवल आत्मा की कामना करने वाला), आप्तकामः (प्राप्त कामना वाला), भवति (हो जाता है), न (नहीं), तस्य (उसके), प्राणः (प्राण), उत्क्रामं (बाहर निकलते हैं), इह एव (इसी आत्मा में), समवलीयन्तेन्ति (लय हो जाते हैं), ब्रह्म एव (ब्रह्मरूप ही), सन् (होता हुआ), ब्रह्म (परमात्मा को), अप्येति (प्राप्त करता है), इति (इस प्रकार)'। (प्रस्तुत विषय की समाप्ति करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस विषय में जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि—तीन प्रकार के ऋणों का बंधन होने के कारण मोक्ष नहीं हो सकता—यह कहना असंगत है। तथा ये (जो), चत्वारः (चार), पथयः (मार्ग हैं), देवयानाः (केवल कर्म ले जाने वाले'), तैत्तिरीय संहिता ५।७।२।८

फलार्थिनश्चेदं ब्राह्मणं 'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चे'ति । कथम् ?

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६१ ॥

'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजे'दिति श्रूयते, तेन विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयते इति ।

के इस वाक्य में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास ऐसे चार आश्रमों की विधि होने से भी केवल एक गृहस्थाश्रम ही है यह पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असंगत है ॥ ६० ॥

(फल की इच्छा रखने वाले गृहस्थाश्रमी के लिये ही 'जरा' अवस्थापर्यन्त, अग्निहोत्रादि अनुष्ठान कर्म की विधि है, जो 'जरामर्य' वाक्य से कही जाती है । इस प्रकार उक्त सिद्धान्त सूत्र के फलित अर्थ को दूसरे हेतु देने की इच्छा से अन्तिम सूत्र के अवतरण में भाष्यकार उक्त विषय ही को स्मरण करते हुए कहते हैं कि)—'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च' यह पूर्व सूत्र में दिखाया हुआ ब्राह्मणवाक्य फल की कामना करने वाले के लिये है । (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—समारोपणात् = लय करने से, आत्मनि = आत्मा में, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥

भावार्थ—'प्राजापत्य नामक इष्टि (याग) करने के पश्चात् उसमें सार्ववेदस नाम के हवन कर अपनी आत्मा में अग्नियों का लय कर गृहस्थ ब्राह्मण संन्यास ले' ऐसा विधिवाक्य सुनने में आता है । इससे यह सिद्ध होता है कि—सन्तान, धन तथा लोक की एषणाओं (इच्छाओं) से रहित पुरुष को फल की इच्छा न रहने पर आत्मा में अग्नि का लय (आरोप) करने की विधि है । अतः इस आत्मा में अग्नियों के समारोपण कथित होने के कारण पूर्वोक्त तीन प्रकार के ऋणों के बंधन के कारण अपवर्ग (मोक्ष) का निषेध करना असंगत है ॥ ६१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'प्रजापति देवतासम्बन्धी इष्टि (याग) को करने के पश्चात् उसी याग में सार्ववेदस नामक जिससे दक्षिणा हो हवन के पश्चात् अपनी आत्मा में अग्नियों का लयकर पश्चात् ब्राह्मण संन्यासाश्रम का ग्रहण करे' ऐसी अग्निहोत्री के लिये चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने की विधि होने के कारण हम यह जानते हैं कि संतान, धन तथा लोक की एषणाओं (कामनाओं) से निवृत्त हुए गृहस्थ ब्राह्मण प्राणी के फल की कामना से निवृत्त होने के पश्चात् उपरोक्त वाक्य में आत्मा में अग्नि के लय की भावना का विधि-विधान है, इस कारण फल की कामना रखने वाले ही प्राणी के लिये उपरोक्त 'जरामर्यं वा' इत्यादि वाक्य हैं । (अर्थात् उपरोक्त प्राजापत्य इष्टि में सर्वस्व धन का दान तभी हो सकता है जब पुरुष पुत्र, धन इत्यादिकों की इच्छा से मुक्त हो जिससे सिद्ध होता है कि फल की कामना करने वाले ही के लिये गृहस्थाश्रम तथा यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान है । जब फल की कामना निवृत्त हो जाती है तो वह गृहस्थाश्रम से छूट जाने के कारण यज्ञादि कर्मों के आचरण से छूट जाता है और उसी अवस्था में आत्मा में अग्नि का आरोप करने की विधि है, यह इस वाक्य से सिद्ध होता है ।) (इस विषय में ब्राह्मणवाक्यों की सम्मति देखते हुए भाष्यकार

एवं च ब्राह्मणानि 'सोऽन्यद् व्रतमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीमिति होवाच प्रव्रजिष्यन्वा अरे अहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्या सहान्तं करवाणीति। अथाप्युक्तानुशासनासि मैत्रेयि एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजेति' ॥ ६१ ॥

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ६२ ॥

जरामर्यं च कर्मण्यविशेषेण कल्प्यमाने सर्वस्य पात्रचयान्तानि कर्माणीति प्रसज्यते, तत्रैषणाव्युत्थानं न श्रूयेत। 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक

आगे कहते हैं कि)—इसी कारण सः (वह), अन्यत् (दूसरे), व्रतं (संन्यास व्रत का), उपाकरिष्यमाणः (आगे शीघ्र ही ग्रहण करते हुए), याज्ञवल्क्यः (याज्ञवल्क्य नामक महर्षि) मैत्रेयीं (मैत्रेयी नाम की अपनी स्त्री के), इति (ऐसा), ह (निश्चय से), उवाच (बोले), प्रव्रजिष्यन् (संन्यास लेता हुआ), वा (निश्चय से), अरे (रे), अहं (मैं), अस्मात् (इस), स्थानात् (गृहस्थी के घर से), अस्मि (हूँ), ते (तेरा), अनया (इस), कात्यायन्या (कात्यायनी स्त्री के साथ), अन्तं (अन्न-समाप्ति को), परवाणि (पाता हूँ)—इति (ऐसा)। अथ अपि (और भी), उक्तानुशासना (उपदेश की हुई), असि (तुम ही), मैत्रेयि (हे मैत्रेयी), एतावत् (इतना ही), अरे (रे मैत्रेयि), खलु (निश्चय से), अमृतत्वं (मरण रहित मोक्ष), है, इति (इस प्रकार), ह (निश्चय से), उक्त्वा (बोल कर), याज्ञवल्क्यः (याज्ञवल्क्य मुनि), प्रवव्राज (गृहस्थाश्रम का त्याग कर चले गये—इति (ऐसा)—(बृहदारण्यकोपनिषद् में) कहा है' ॥ ६१ ॥

(अपने पक्ष में दूसरा साधक सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—पात्रचयान्तानुपपत्तेः च = और अग्निहोत्र कर्म के पात्रों के अग्नि में दाह कर्म में न बन सकने से भी, फलाभावः = फल कामना नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ६२ ॥

भावार्थ—अग्निहोत्री ब्राह्मण की मृत्यु होने पर उसके अग्निहोत्र सम्बन्धी संपूर्ण यज्ञ-पात्रों को अग्निहोत्री के शरीर के साथ दाह करने की विधि है। अतः यदि 'जरामर्य अग्निहोत्र होता है' यह विधि साधारण रूप से संपूर्ण पुरुषों के लिये हो तो, न कि फल की कामना रखने वाले गृहस्थाश्रमी के लिये,—तो उपरोक्त यज्ञ-क्रियाओं की दहन-विधि संपूर्ण पुरुषों के लिये है ऐसा प्राप्त होने के कारण चतुर्थाश्रमी संन्यासी के लिये यह विधि नहीं है ऐसा मानना होगा। जिससे उसके भी मृत्यु होने पर उसके शरीर के साथ यज्ञ के पात्रों का दहन प्राप्त होने से उस संन्यासी के भी मृत्यु काल तक संपूर्ण यज्ञ-पात्रों की रक्षा करना आवश्यक होने के कारण उसके लिये जो कि संन्यास ग्रहण की पूर्व ही पुत्रादि कामनाओं से छुटकारा तथा संपूर्ण धनादि दान की विधि है' वह सब न बन सकेगा ॥ ६२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जरामर्य अग्निहोत्रादि कर्म सामान्य रूप से संपूर्ण पुरुषों के लिये है ऐसी कल्पना की जाय तो सभी पुरुषों के शरीर के साथ यज्ञ-पात्रों की दाह-क्रिया की प्राप्ति होना रूपदोष होगा। जिससे—एतत् (यह), ह स्म वै (निश्चित है) तत् (इस कारण) पूर्वे (प्राचीन), ब्राह्मणाः (ब्राह्मण), अनूचानाः (सर्वोत्तम), विद्वांसः (विद्वान् पुरुष), प्रजा (सन्तान को), न (नहीं), कामयन्ते (चाहते), किं (क्या) प्रजया (सन्तान से), करिष्यामः (करेंगे), येषां (जिन), नः (हमारी), आत्मा (आत्मा),

इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति'। एषणाभ्यश्च व्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कर्माणि नोपपद्यन्ते इति। नाविशेषेण कर्त्तुः प्रयोजकफलं भवतीति।

चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेष्वैकाश्रम्यानुपपत्तिः। तदप्रमाणमिति चेद् न प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात्। प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते 'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहास-

---

अयं (यह), लोकः (संपूर्ण संसार है), इति (ऐसा) (वृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२ में कहा हुआ पुत्र-धनादि विषय की एषणा (कामना) से व्युत्थान (छुटकारा) सुनाई न देगा।) तथा ते (वे), हस्य (निश्चय से), पुत्रैषणायाः (पुत्र की कामना से), वित्तैषणायाः च (धन की कामना से भी), लोकैषणायाः च (और स्वर्गादि लोक की कामना से भी), व्युत्थाय (छुटकारा पाकर), अथ (इसके पश्चात्), भिक्षाचर्यं (भिक्षा माँगने के लिये आचार को), चरन्ति (घूमते हैं) इति (ऐसा भी)। यह। पूर्वपक्षी नहीं कह सकता कि 'एषणाओं का त्याग होने से प्रस्तुत में क्या दोष होगा'। क्योंकि जब उसने पुत्रादि कामनाओं से छूटकर प्राजापत्य याग में संपूर्ण अपना धन दान कर दिया तो उसके पास पात्रों के न रहने के कारण ही शरीर के साथ पात्रों के दहन की विधि न होगी, यह दोष आ जायगा। (जिससे पूर्वपक्ष मत में पुत्रादि कामना से छुटकारा पाने, कहने वाली (श्रुति का विरोध आ जायगा)। (आगे उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—इस प्रकार पुत्रादि एषणाओं से छुटकारा पानेवाले के लिये शरीर के साथ पात्रों के दाहकर्म की विधि नहीं हो सकती। इसलिये सामान्य रूप से संपूर्ण शरीरधारी कर्म करनेवालों की फल—कामना प्रयोजक (कारण) नहीं हो सकती। अर्थात् जिस फल की कामना से यज्ञादि-कर्म किये जाते हैं उस फल की कामना संपूर्ण प्राणियों को कर्म करने में प्रेरणा नहीं करती—किन्तु जिस प्राणी को फलप्राप्ति की कामना होती है उसी की उस फल के कारण रूप कर्म में प्रवृत्ति होती है। इस कारण यज्ञादि कर्म संपूर्ण पुरुष साधारण नहीं हो सकते यह सिद्धान्ती का आशय है।) (श्रुतियों के समान स्मृतिवाक्यों का भी चारों आश्रमों की स्वीकृति में प्रमाण हैं यह कहते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—भारतादि इतिहास, अट्ठारह पुराण तथा धर्मशास्त्रों में भी ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों की विधि होने के कारण चारों आश्रमों की असिद्धि नहीं हो सकती। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'श्रुति को छोड़कर हम इतिहासादिकों को प्रमाण नहीं मानते' अर्थात् जगत के रचयिता तथा सर्वज्ञ एवं दयालु परमात्मा ने कहे हुए श्रुति आदिकों को उस ईश्वर के आप्त होने के कारण प्रमाण मानना यद्यपि उचित है तथापि, व्यास, मनु आदि भारतादिकों के कर्त्ता मनुष्यों में भ्रम, प्रमादादि दोष होने के कारण उनके आप्त होने का निश्चय न होने के कारण उनके बनाये हुए इतिहासादिकों को प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? (इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष दोनों ने प्रमाण माने हुए ब्राह्मण मंत्ररूप प्रमाण ने इतिहासादिकों का प्रमाण माना है। अतः पूर्वपक्षी का कथन असंगत है), सर्ववाद से प्रमाण माने हुए ब्राह्मणरूप वेद ने इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्रों को प्रमाण माना है। क्योंकि ते वा (वे ही), खलु (निश्चय से), एते (ये), अथर्वांगिरसः (अथर्वण वेद के आचार्य अंगिरा नाम के महर्षि), एतत् (इस), इतिहासपुराणं (इतिहास और पुराणों को), अभ्यवदन् (कहते भये), इतिहासपुराणं, (इतिहास और पुराण), पंचमं (पाँचवाँ), वेदानां (वेदों में), वेदः (वेद है), इति (ऐसा)। इस कारण इतिहास तथा

पुराणमभ्यवदन्नितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति'। तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति। अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाल्लोकोच्छेदप्रसङ्गः। *द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः।* य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति। *विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्।* अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयोऽन्यच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थानं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानीन्द्रियादिवदिति ॥ ६२ ॥

यत्पुनरेतत् क्लेशानुबन्धस्याविच्छेदादिति—

पुराणों को प्रमाण न मानना असंगत है। (यदि 'इतिहास पुराण' को प्रमाण मानेंगे किन्तु मनु आदिकों ने बताये हुए धर्मशास्त्रों को प्रमाण न मानेंगे' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि यदि मन्वादि रचित धर्मशास्त्रों को प्रमाण न माना जाय तो संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के संसारसम्बन्धी व्यवहारों का लोप (उच्छेद) होने के कारण संपूर्ण संसार का उच्छेद हो जायगा अर्थात् संसार के संपूर्ण आर्यजनों ने धर्मशास्त्रों को स्वीकार किया है, अतः धर्मशास्त्रों को भी इतिहास-पुराणादिकों के समान प्रमाण मानना आवश्यक है; तथा जो वेद के देखने वाले तथा उसके अनुसार आचरण करने वाले महर्षि आदि हैं वे ही स्मृति, इतिहास इत्यादिकों के भी व्याख्याता मनु, व्यास इत्यादिक हैं। इस कारण देखनेवाले और व्याख्या करनेवालों के समान होने से भी स्मृति, इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्र के निबन्ध (ग्रन्थ) के प्रमाण नहीं हो सकते। (यदि पूर्वपक्षी 'इतिहासादि निबन्धों में वर्णन किये विषयों का वेद में प्रत्यक्ष विधान क्यों नहीं है; विधान होने से प्रतीत होता है कि इतिहासादिकों के विषय में वेद की सम्मति नहीं है' ऐसी शंका करके भाष्यकार इसके लिये दूसरा हेतु इतिहासादिकों के प्रमाण मानने के लिये देते हुए आगे कहते हैं कि)—अपने-अपने विषयों की व्यवस्था होने से भी अपने-अपने स्वतंत्र विषयों में वेद (ब्राह्मण), इतिहास आदि भी प्रमाण हो सकते हैं। क्योंकि वेद के मंत्र तथा ब्राह्मण के यज्ञ आदि दूसरे ही विषय हैं और इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र तथा स्मृतिग्रन्थों का लोकव्यवहार विषय (दूसरा ही) भिन्न-भिन्न है। अतः मंत्र ब्राह्मण का यज्ञ, इतिहास एवं पुराणों का लौकिक व्यवहार तथा धर्मशास्त्र मन्वादि स्मृतिग्रन्थों का लौकिक व्यवहारों की व्यवस्था करना ऐसे भिन्न-भिन्न विषय हैं। अतः एक केवल मंत्र तथा ब्राह्मणभाग से यज्ञ से लेकर सांसारिक व्यवहारों की व्यवस्था तक संपूर्ण विषयों का वर्णन करना असंभव होने के कारण ये वेद से लेकर धर्मशास्त्र पर्यन्त सभी अपने-अपने विषयों में प्रमाण हैं ऐसा मानना उचित है। जिस प्रकार चक्षु आदि संपूर्ण इन्द्रिय अपने-अपने रूप आदि गुणों के ग्रहणरूप विषयों में प्रमाण माने जाते हैं ॥ ६२ ॥

(इस प्रकार पूर्वपक्षी के कहे हुए तीन प्रकार के ऋणों के बंधन के कारण मोक्ष नहीं हो सकता, इस आक्षेप का खण्डन कर, क्लेशों के सदा सम्बन्ध होने से मोक्ष नहीं हो सकता, इस दूसरे आक्षेप का खण्डन करनेवाले सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार पूर्वपक्ष मत का अनुवाद करते हैं कि)—क्लेशों के सदा सम्बन्ध का नाश न होने के कारण (मोक्ष नहीं हो सकता) यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था—

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥

यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानुबन्धश्च विच्छिद्यते तथापवर्गेऽपीति । एतच्च ब्रह्मविदो मुक्तस्यात्मनो रूपमुदाहरन्तीति ॥

यदपि प्रवृत्त्यनुबन्धादिति—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥

प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय । प्रतिसन्धिस्तु पूर्वजन्म-

---

पदपदार्थ—सुषुप्तस्य = निद्रावस्था के प्राणी को, स्वप्नादर्शने = स्वप्न न दिखाई पड़ने पर, क्लेशाभावात् = किसी प्रकार के क्लेशों के न होने के कारण, अपवर्गः = दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष हो सकता है ॥ ६३ ॥

भावार्थ—गाढ़ निद्रावस्था में रहनेवाले प्राणी को राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों के सम्बन्ध से दुःख देखने में नहीं आता । अतः रागादि क्लेशों का विच्छेदरूप मोक्ष नहीं हो सकता यह पूर्वपक्षी का कथन असंगत है ॥ ६३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में सोये हुए प्राणियों को स्वप्नों के न दिखाई पड़ने के कारण राग का सम्बन्ध तथा किसी प्रकार के सुख अथवा दुःख का सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार अपवर्ग (मोक्ष) में भी क्लेशों का सम्बन्ध नहीं हो सकता । इसी को ब्रह्म (परमात्मा) के जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता लोग संसार से मुक्त हुए आत्मा का स्वरूप है, ऐसा कहते हैं अर्थात् गाढ़ निद्रावस्था के समान ही मोक्ष की अवस्था होती है ऐसा अनेक स्थलों में उपनिषद् ग्रन्थों में वर्णन किया है । जिसका अपलाप (न मानना) सर्वथा अनुचित है । इस कारण क्लेश सम्बन्ध के कारण मोक्ष नहीं हो सकता ऐसा पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असंगत है । यहाँ पर लोकसिद्ध होने के कारण निद्रावस्था में क्लेशों का सम्बन्ध न होने में उदाहरण दिया है । महाप्रलय में भी जीवात्मा क्लेशरहित ही होते हैं, यह भी विद्वान् लोग जानते हैं । केवल विशेषता यही है कि मुक्तावस्था में रागादि क्लेशों की वासना भी नहीं रहती और निद्रावस्था तथा प्रलयावस्था में रागादि क्लेशों का सम्बन्ध न होने पर भी उनकी वासना रहती है ॥ ६३ ॥

(प्रवृत्ति के अनुबन्ध के कारण मोक्ष नहीं हो सकता, ऐसे पूर्वपक्षी के तृतीय हेतु का खण्डन करने के लिये सिद्धान्त-सूत्र के अवतरण में अनुवाद करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो प्रवृत्ति के अनुबन्ध के कारण (मोक्ष न हो सकेगा) ऐसा पूर्वपक्षी ने कहा था—

पदपदार्थ—न = नहीं होती, प्रवृत्तिः = पूर्वोक्त तीन प्रकार की प्रवृत्ति, प्रतिसन्धानाय = पुनः जन्म लेने के लिये, हीनक्लेशस्य = रागादि क्लेशों से रहित प्राणी की ॥ ६४ ॥

भावार्थ—राग, द्वेष तथा मोहरूप क्लेशों के नष्ट होने पर शारीरिक आदि तीन प्रकार की पूर्वोक्त प्रवृत्ति पुनः जन्म लेने के कारण नहीं हो सकती, क्योंकि पुनः संसार में जन्म तृष्णा (वासना) से होता है । इस कारण वासना का नाश होने के पश्चात् इस जन्म का नाश होने पर पुनः इस संसार में जन्म लेना रूप अप्रतिसन्धान ही अपवर्ग (मोक्ष) होने के कारण प्रवृत्ति-सम्बन्ध से मोक्ष नहीं हो सकता—यह पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असंगत है ॥ ६४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—राग, द्वेष तथा मोह-रूप क्लेशों के नष्ट होने पर पूर्वोक्त तीन प्रकार की प्रवृत्ति प्रतिसंधान के लिये नहीं हो सकती ।

निवृत्तौ पुनर्जन्म, तच्चादृष्टकारितं, तस्यां प्रहीणायां पूर्वजन्माभावे जन्मान्तराभावोऽप्रतिसन्धानमपवर्गः। वैफल्यप्रसङ्ग इति चेद् न *कर्मविपाकप्रतिसंवेदनस्याप्रत्याख्यानात्*। पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म न भवतीत्युच्यते न तु कर्मविपाकप्रतिसंवेदनं प्रत्याख्यायते सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्त इति ॥

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥

नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः, कस्मात् ? क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात्। अनादिरियं क्लेशसन्ततिः, न चानादिः शक्य उच्छेत्तुमिति ॥ ६५ ॥

अत्र कश्चित्परिहारमाह—

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥ ६६ ॥

सूत्र के 'प्रतिसन्धानाय' इस पद से प्रतिसंधी शब्द का अर्थ है पूर्वजन्म के निवृत्त होने पर पुनः जन्म लेना; और वह पुनर्जन्म होता है सांसारिक विषयों की तृष्णा (वासना) से। 'इस कारण उस वासना का नाश होने से इस जन्म का नाश होने पर पुनः दूसरा जन्म न होना रूप अप्रतिसन्धान ही अपवर्ग (मोक्ष) होता है। यदि तीन प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति निष्फल हो जाती है तो कर्म फल के कारण हैं यह कहनेवाले शास्त्र प्रमाण कैसे होंगे ?' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे, तो यह शंका असंगत है। क्योंकि पुण्य-पापात्मक कर्मों के सुख-दुःख-भोगरूप विपाक (फल) के अनुभव करने का हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु रागादि क्लेश तथा विषय-वासनाओं का नाश होने के कारण पूर्वजन्म की निवृत्ति के पश्चात् पुनः संसार में जन्म नहीं होता ऐसा हम कहते हैं, न कि किये हुए पुण्य-पापात्मक कर्मों के सुख-दुःखानुभव-भोगरूप फल का नाश हो जाता है ऐसा कहते हैं। क्योंकि ज्ञानी के पूर्वसंचित संपूर्ण कर्म अन्तिम जन्म में फल दे देते हैं, अर्थात् वर्तमान जन्म के निवृत्त होने के पश्चात् पुनः जन्म नहीं होता, इतना ही हमारा कथन है, न कि हम किये कर्मों के फल का भोग नहीं होता ऐसा कहते हैं जिससे कर्मफल के कहनेवाले शास्त्रों में अप्रमाण होने की शंका हो सकेगी ॥ ६४ ॥

(पुनः क्लेशों के अभाव को न माननेवाले पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता क्लेशों का अत्यन्त नाश, क्लेशसंततेः = रागादि क्लेशों के समूह के, स्वाभाविकत्वात् = स्वभावसिद्ध होने के कारण ॥ ६५ ॥

भावार्थ—अनादि काल से आत्मा को क्लेश होते रहे हैं, अतः वे अनादि हैं। इस कारण उन क्लेशों के स्वाभाविक होने के कारण क्लेशों के सम्बन्ध का अत्यन्त नाश नहीं हो सकता क्योंकि अनादि पदार्थ का नाश नहीं होता ॥ ६५ ॥

(उक्त आक्षेप का एकदेशी सिद्धान्ती के पक्ष से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—प्राक्=पूर्व में, उत्पत्तेः = उत्पन्न होने के, अभावानित्यत्ववत् = अभाव के अनित्यता के समान, स्वाभाविके अपि = स्वाभाविक क्लेशसंतति में भी, अनित्यत्वम् = अनित्यता हो सकती है ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार घटादि अर्थों के उत्पत्ति के पूर्वकाल में अनादि स्वाभाविक घटादिकों का प्रागभाव घटादि कार्यों के उत्पन्न होने पर नहीं रहता, उसी प्रकार स्वाभाविक अनादि भी क्लेशों के संतान का नाश हो सकने से यह अनित्य है यह मानना होगा ॥ ६६ ॥

यथाऽनादिः प्रागुत्पत्तेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते एवं स्वाभाविकी क्लेशसन्ततिरनित्येति ॥ ६६ ॥

अपर आह—

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥

यथाऽनादिरणुश्यामता अथ चाग्निसंयोगादनित्या तथा क्लेशसन्ततिरपीति । सतः खलु धर्मो नित्यत्वमनित्यत्वं च तत्त्वं भावेऽभावे भाक्तमिति । अनादिरणुश्यामतेति हेत्वभावादयुक्तम् । अनुत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति नात्र हेतुरस्तीति ॥ ६७ ॥

(इसी आशय से एकदेशी सिद्धान्ती के पक्ष के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस दधि आदिकों की उत्पत्ति के पूर्वकाल में दुग्ध का जो अनादि स्वाभाविक प्रागभाव है वह अनित्य है उसी प्रकार स्वाभाविक अनादि, रागादि क्लेशों के अनित्य होने के कारण उनको उच्छेद नाश हो सकता है ॥ ६६ ॥

(इस अभाव के दृष्टान्त से संतोष न मानने वाले भाव का ही दृष्टान्त लेकर क्लेशों को अनित्यता सिद्ध करने वाले दूसरे एकदेशी सिद्धान्ती के मत के परिहारसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—दूसरा एकदेशी सिद्धान्ती कहता है—

पदपदार्थ—अणुश्यामतानित्यत्ववत् = पार्थिव परमाणुओं के श्यामरूप गुण की अनित्यता के समान, वा = अथवा ॥ ६७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अनादि स्वाभाविक भी पार्थिव परमाणुओं का नित्य श्यामरूपगुण अग्निसंयोग से नष्ट हो जाने के कारण अनित्य होता है, उसी प्रकार रागादि क्लेशसंतान भी अनादि होने पर भी अनित्य होते हैं ॥ ६७ ॥

(इसी आशय से द्वितीय एकदेशी सिद्धान्ती के सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार पृथिवी परमाणुओं की श्यामता अनादि तथा स्वाभाविक है किन्तु अग्नि के संयोग से नष्ट होने के कारण अनित्य होती है । उसी प्रकार रागादि क्लेशों का समुदाय अनादि स्वाभाविक होने पर भी नष्ट होने के कारण अनित्य है ॥ ६७ ॥

(मुख्य सिद्धान्तो अपने मत से पूर्वपक्षी के आक्षेप का खण्डन करने के लिये उपरोक्त दोनों एकदेशी के मतों का खण्डन करते हुए पहिले एकदेशी के मत का खण्डन भाष्यकार करते हैं कि)—नित्यता तथा अनित्यता इत्यादि धर्मभावरूप पदार्थों में ही हो सकते हैं, न कि अभावरूप पदार्थ के । अतः जहाँ कहीं अभाव पदार्थों को नित्य या अनित्य कहा जाता है वह एक कारण है न कि मुख्य-मुख्य नित्यता और अनित्यता भाव पदार्थों में ही होती है और अभाव में गौण होती है । अतः अभाव के दृष्टान्त से क्लेशों को अनित्य माननेवाले प्रथम एकदेशी का मत असंगत है (आगे द्वितीय एकदेशी के मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पार्थिव परमाणुओं की श्यामता अनादि (स्वाभाविक) है यह भी कहना हेतु (साधक) न होने के कारण असंगत है क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होता वह अनित्य होता है । इस विषय में कोई साधक हेतु नहीं मिलता अर्थात् पृथिवी के रक्तादि रूप के समान पृथिवी परमाणुओं की श्यामरूपता भी कार्य है पृथिवी का रूप होने के कारण इस अनुमान से पार्थिव परमाणु श्यामरूप अनित्य होता है यही सिद्ध हो सकता है न कि उसके नित्य होने में कोई साधक हेतु मिलता

अयं तु समाधिः—

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ ६८ ॥

कर्मनिमित्तत्वादितरेतरनिमित्तत्वाच्चेति समुच्चयः। मिथ्यासङ्कल्पेभ्यो रञ्जनीयकोपनीयमोहनीयेभ्यो रागद्वेषमोहा उत्पद्यन्ते, कर्म च सत्त्वनिकायनिवर्तकं नैयमिकान् रागद्वेषमोहान्निर्वर्त्तयति। *नियमदर्शनात्।* दृश्यते हि कश्चित्सत्त्वनिकायो रागबहुलः कश्चिद्द्वेषबहुलः कश्चिन्मोहबहुल इति। *इतरेतरनिमित्ता च रागादीनामुत्पत्तिः।* मूढो रज्यति मूढः कुप्यति रक्तो मुह्यति

है। क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता वह सब नित्य ही होता है ऐसी व्याप्ति नहीं है। पार्थिव परमाणुओं की श्यामता में अनादिता का व्यवहार प्रयत्न से न होने के कारण हो सकता है न कि नित्य होने के कारण—यह मुख्य सिद्धान्त भाष्य का गूढ़ आशय है ॥ ६७ ॥

(इस प्रकार दोनों एकदेशियों के मतों का खण्डन करने के पश्चात् मुख्य समाधान करने वाले सिद्धान्ती के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—यह मुख्य समाधान है—

पदपदार्थ—न = नहीं, संकल्पनिमित्तत्वात् = इच्छा से उत्पन्न होने के कारण, रागादीनाम् = रागादि दोषरूप क्लेशों के ॥ ६८ ॥

भावार्थ—राग, द्वेष तथा मोहरूप दोषों की मिथ्या संसार के अनुराग, क्रोध तथा मोह करानेवाले विषयों के कारण उत्पत्ति हुआ करती है, जिससे प्राणियों के कर्म कारण होते हैं तथा परस्पर भी राग, द्वेष तथा मोह कारण होते हैं, इस कारण उत्पत्ति होने से ही रागादि दोष नित्य नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ६८ ॥

(सूत्र के चकार का अर्थ दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—कर्म के निमित्त होने से तथा रागादिकों के परस्पर कारण होने से भी ऐसा सूत्र के चकार से कारणों का समुच्चय (समुदाय) लेना चाहिये। (इनमें से प्रथम **'संकल्पनिमित्तत्वात्'** इस हेतु का भाष्यकार अर्थ दिखाते हैं कि)—इस सूत्र के संकल्प शब्द से मिथ्या (असत्य) ज्ञान, लेना चाहिये, जिससे रागादि दोष मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। उससे नाना प्रकार का कार्य इस प्रकार होता है कि अनुराग के उत्पन्न करनेवाले विषयों में अनुराग स्नेहरूप राग तथा अधिक उत्पन्न करनेवाले विषयों में द्वेष और मोह न करनेवाले सांसारिक विषयों में मोह उत्पन्न होता है। (द्वितीय सूत्र के चकार से लिये हुए हेतु की भाष्यकार ऐसी व्याख्या करते हैं कि)—प्राणियों की अनेक जातियों को करनेवाला प्राणियों का कर्म भी नैयमिक (व्यवस्थित), राग, द्वेष तथा मोह को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि नियम (व्यवस्था) देखने में आता है कि कोई-कोई प्राणी अधिक राग से युक्त देखने में आते हैं और कोई-कोई अधिकांश द्वेष से युक्त तथा कोई-कोई प्राणी अधिकांश मोहयुक्त भी देखने में आते हैं। अर्थात् उक्त प्रकार से प्राणियों में व्यवस्थित राग, द्वेष तथा मोह को दिखाने से यह सिद्ध होता है कि—उन प्राणियों के किये कर्मों के अनुसार ही यह व्यवस्था है। (सूत्र के चकार से लिये हुए तृतीय परस्पर निमित्ततारूप हेतु की रागादि दोषों में कारणता दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—परस्पर में कारण होकर भी राग, द्वेष तथा मोह उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मूढ़ (मोह-मिथ्याज्ञान) वाला इष्ट विषय में अनुराग करता है तथा वही अनिष्ट विषय की प्राप्ति होने पर क्रोध करता है तथा अनुराग करने-

कुपितो मुह्यति। सर्वमिथ्यासङ्कल्पानां तत्त्वज्ञानादनुत्पत्तिः कारणानुत्पत्तौ च कार्यानुत्पत्तेरिति। रागादीनामत्यन्तमनुत्पत्तिरिति। अनादिश्च क्लेशसन्ततिरित्यप्युक्तम्, सर्वे इमे खल्वाध्यात्मिका भावा अनादिना प्रबन्धेन प्रवर्त्तन्ते शरीरादयो न जात्वत्र कश्चिदनुत्पन्नपूर्वः प्रथमत उत्पद्यतेऽन्यत्र तत्त्वज्ञानात्। न चैवं सत्यनुत्पत्तिधर्मकं किञ्चिद्व्ययधर्मकं प्रतिज्ञायते इति। कर्म च सत्त्व-

---

वाला मोह में पड़ जाता है तथा अनिष्ट विषय की प्राप्ति से कोप करनेवाला भी मोह में पड़ जाता है। अतः रागादि क्लेशों के मुख्य कारण मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुए उपरोक्त संपूर्ण प्रकार के मिथ्या ज्ञानों का उसके विरोधी तत्वज्ञान से उत्पन्न होने के कारण पुनः उत्पत्ति नहीं होगी। (अतः पूर्वपक्षी, यह नहीं कह सकता कि मिथ्याज्ञान का नाश न होने से पूर्वोक्त क्लेशों का सम्बन्ध होने के कारण मोक्ष नहीं हो सकता) (पूर्वपक्षी ने जो क्लेश संतान को अनादि (स्वाभाविक) कहा था, यह भी अयुक्त है। क्योंकि ये संपूर्ण आध्यात्मिक (आत्मा के लिये प्रवृत्त हुए) शरीर, इन्द्रिय इत्यादि भावपदार्थ अनादि (आदि रहित), प्रबंध (समुदाय) रूप से प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जो तत्व ज्ञान को छोड़कर पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ था और प्रथम ही उत्पन्न होता है, (यदि 'इस प्रकार अनादि भाव भी नष्ट हो जाते हैं तो जो उत्पन्न नहीं होंगे वे भी नष्ट हो जाँय' ऐसी पूर्वपक्षी की शंका का भाष्यकार समाधान देते हुए आगे कहते हैं कि)—ऐसा होने से हम यह प्रतिज्ञा नहीं करते हैं कि उत्पन्न होनेवाले किसी भावपदार्थ का नाश होता है, क्योंकि हम उत्पन्न होनेवाले रागादि दोषों का ही नाश होता है ऐसा मानते हैं। (यदि 'मिथ्याज्ञान से उत्पन्न रागादिक तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होने के कारण उत्पन्न न हों, किन्तु प्राणियों के कर्म से उत्पन्न हुए रागादिकों का नाश क्यों होगा, क्योंकि कर्म के नष्ट होने पर रागादि दोषों की निवृत्ति नहीं होती, अर्थात् रागादि दोषवाले प्राणी के कर्मों का नाश नहीं होता। अतः मोक्ष नहीं हो सकता' ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप करे, तो इसका समाधान भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—प्राणियों के जन्म लेने के कारण पुण्य-पापरूप कर्म तत्वज्ञान से उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञानों के विनाश के कारण पुनः सांसारिक विषयों में राग, द्वेष तथा मोह को उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु केवल सुख तथा दुःख के भोगरूप फलमात्र को ही प्राणियों के कर्म देते हैं। अर्थात् प्राणियों के अन्त होने के कारणरूप उनके कर्म तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञानरूप संकल्पों का नाश हो जाने के कारण पुनः सांसारिक विषयों में रागद्वेषादि दोषों को उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि संपूर्ण रागादि दोषों का मूल कारण मिथ्याज्ञान ही है। प्राणियों का कर्म तो पूर्वोक्त व्यवस्थानुसार उनको रागादि दोषों में प्रवृत्त करता है, इस कारण रागादिकों में कर्म कारण होता है यह कहा गया है। (यह पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि जैसे कर्म के रहते मिथ्याज्ञान के नाश से रागादि दोषों की निवृत्ति होती है, वैसे कर्म के रहते मिथ्याज्ञान के नष्ट होने के कारण ज्ञानी पुरुष को कर्म का सुख दुःखरूप फल भी न होगा' क्योंकि कर्माशय समुदाय का नाश करने के लिये मोहादि रहित भी ज्ञानी मोहादि युक्त प्राणी के समान कर्म के फल का भोग किया करते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुष का कर्म राग, द्वेषादि दोषों की अपेक्षा न करता हुआ अपना फल देता है, जिस कारण ऐसा कर्मफल का भोग ज्ञानी को संसारबंधन नहीं देता। किन्तु

निकायनिर्वर्तकं तत्त्वज्ञानकृतान्मिथ्यासङ्कल्पविघातान्न रागाद्युत्पत्तिनिमित्तं भवति सुखदुःखसंवित्तिफलं तु भवतीति ॥ ६८ ॥

इति दशभिः सूत्रैरपवर्गपरीक्षाप्रकरणम्

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

मोक्षादि युक्त प्राणियों के लिये यह कर्मफल का भोग संसार के बंधन का कारण होता है, क्योंकि रागादि दोषयुक्त कर्मों से किया जाता है, न कि उनकी अपेक्षा न कर, ऐसा सिद्धान्तो का यहाँ गूढ़ आशय है ॥ ६८ ॥

इस प्रकार वात्स्यायन महर्षि रचित न्यायभाष्य में चतुर्थाध्याय का
प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्

किं नु खलु भोः यावन्तो विषयास्तावत्सु प्रत्येकं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते अथ क्वचिदुत्पद्यत इति? कश्चात्र विशेषः। न तावदेकैकत्र यावद्विषयमुत्पद्यते

---

(१) तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रकरण

इस प्रकार संशय, प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थों की परीक्षा पूर्वग्रन्थ में हो चुकी तथा **'यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसंगः'** सू० २।१।७, इस सूत्र के अतिदेश से प्रयोजनादि पदार्थों की परीक्षा हो जाने के कारण प्रमाणादि षोडश पदार्थों की परीक्षा का वर्णन हो चुका। प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के १म सूत्र में इन्हीं षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, ऐसा कह चुके हैं। उनमें से भी प्रमेयपदार्थों का तत्त्वज्ञान होने से साक्षात् निःश्रेयस की प्राप्ति होती है और अवशिष्ट पदार्थों का तत्त्वज्ञान का अंग होने के कारण उनके तत्व की परम्परा से मोक्ष होता है, ऐसा कह चुके हैं। साम्प्रत यह परीक्षा करना है कि प्रत्येक आत्मादि प्रमेयपदार्थों का तत्त्वज्ञान मोक्ष के प्राप्ति का कारण है, अथवा किसी इनमें से ऐसा एक का, ऐसी इस प्रकरण की भूमिका तात्पर्यटीका में कही है। किन्तु परिशुद्धि में उदयनाचार्य इस विषय से ऐसा कहते हैं कि पूर्वग्रन्थ के चतुर्थाध्याय के प्रथम आह्निक के चतुर्दश प्रकरणों में प्रवृत्ति से लेकर अपवर्ग पर्यन्त छः प्रमेयों की परीक्षा की गई है, अतः इस आह्निक में उसके तत्त्वज्ञानरूप धर्म की परीक्षा करना है कि उस तत्त्वज्ञान का क्या लक्षण है, उसका क्या विषय है २, तथा वह तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ३, तथा उसकी रक्षा कैसे होती है ४, और उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है ५। इस प्रकार इस द्वितीयाह्निक का तत्त्वज्ञान की परीक्षा करना ही विषय है। जिसमें जिस विषय में जिस-जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान होता है यह क्रम से कहा गया है। किन्तु इस विषय में वर्धमानोपाध्याय की ऐसी सम्मति है क्योंकि न्यायनिबन्धप्रकाश में उन्होंने कहा है कि—'बिना उद्देश तथा लक्षण के तत्त्वज्ञान की परीक्षा कैसे हो सकती है तथा चतुर्थाध्याय के दोनों आह्निकों का विषय भी समान कैसे हो सकती है जिससे ये दोनों आह्निक एक ही अध्याय के अवयव हों' ऐसी शंका कर, प्रथम सूत्र में तत्त्वज्ञान का उद्देश तथा द्वितीय सूत्र में लक्षण प्रारंभ में ही हो चुका है—दोषादि रूप प्रतिरूप प्रमेयपदार्थों की परीक्षा ही संपूर्ण चतुर्थाध्याय का विषय है, तत्त्वज्ञान भी कार्य ही है। अतः चतुर्थाध्याय के दोनों आह्निकों में समान विषयता हो सकती है। ऐसा होने से तत्त्वज्ञान के मोक्ष का कारण होने के कारण मोक्ष होने के पूर्व ही उसकी परीक्षा करना उचित है, ऐसी शंका कर तत्त्वज्ञान की परीक्षादि पूर्व जिन प्रमेयपदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक है, उन संपूर्ण प्रमेयपदार्थों की परीक्षा करना उचित है। मोक्ष की एक प्रमेयपदार्थ ही है, इस कारण संपूर्ण प्रमेयपदार्थों ने उसकी परीक्षा करना भी उचित ही है ऐसा उनका समाधान है। (उस इस तत्त्वज्ञान परीक्षा के आक्षेप द्वारा भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में अवतरण देते हुए विचार करते हैं कि)—'(पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप यहाँ कर सकता है कि)—क्या जितने प्रमेयपदार्थ संसार में हैं, उन संपूर्ण पदार्थों में प्रत्येक पदार्थ का तत्त्वज्ञान होता है—अथवा किसी इस पदार्थ का? (प्रश्न)—इस आक्षेप का क्या विशेष (आशय) है? (उत्तर)—एक-एक के जिनके विषय हैं उनका सबका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि जानने योग्य प्रत्येक विषय के भेदों की गणना नहीं हो सकती अर्थात् यदि संपूर्ण पदार्थों

ज्ञेयानामानन्त्यात् । नापि क्वचिदुत्पद्यते, यत्र नोत्पद्यते तत्रानिवृत्तो मोह इति मोहशेषप्रसङ्गः । न चान्यविषयेण तत्त्वज्ञानेनान्यविषयो मोहः शक्यः प्रतिषेद्धुमिति । मिथ्याज्ञानं वै खलु मोहो न तत्त्वज्ञानस्यानुत्पत्तिमात्रं तच्च मिथ्याज्ञानं यत्र विषये प्रवर्त्तमानं संसारबीजं भवति स विषयस्तत्त्वतो ज्ञेय इति । किं पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम् ? अनात्मन्यात्मग्रहः, अहमस्मीति मोहोऽहङ्कार इति । अनात्मानं खल्वहमस्मीति पश्यतो दृष्टिरहङ्कार इति । किं पुनस्तदर्थजातं

का तत्त्वज्ञान होना मोक्ष में अकारण कहो तो ज्ञान के विषयपदार्थों की गणना न होने के कारण, ऐसा तत्त्वज्ञान हो हां नहीं सकता, (इस प्रकार प्रथम कोटि (पक्ष) का खण्डन कर पूर्वपक्षी के मत से द्वितीय पक्ष का खण्डन भाष्यकार ऐसा दिखाते हैं कि)—यह तत्त्वज्ञान किसी एक ही विषय में नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस विषय में तत्त्वज्ञान न होगा, उस विषय में मोह (मिथ्याज्ञान) के निवृत्त न होने के कारण कुछ मिथ्याज्ञानों के अवशिष्ट रह जाने की आपत्ति आ जायगी । क्योंकि किसी दूसरे विषय के तत्त्वज्ञान से दूसरे विषय के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती' । (इस पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान भाष्यकार ऐसा करते हैं कि)—मिथ्याज्ञान को मोह कहते हैं, न कि केवल तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति न होना और वह मिथ्याज्ञान जिन विषयों में उत्पन्न होने से संसार बंधन का होता है, उन विषयों का ही वास्तविक ज्ञान आवश्यक है, न कि संपूर्ण संसार के पदार्थों के वास्तविक रूप का ज्ञान इस कारण तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर मोक्ष हो सकता है। अर्थात् मोह मिथ्याज्ञानरूप है, न कि ज्ञानाभावस्वरूप । अतः तब ज्ञान केवल अज्ञान के हटाने के कारण मोक्ष में उपयोगी नहीं होता, किन्तु संसार के कारणों के नाश के द्वारा, तत्त्वज्ञान जो संसार होने का कारण नहीं ही है, किन्तु मिथ्याज्ञान ही संसार का कारण है, अतः विरोध होने से तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को नष्ट कर मोक्ष को देता है। (इससे यह सिद्ध होता है कि संसार में संपूर्ण पदार्थों में से अपने-अपने आत्मादि प्रमेयपदार्थ विषय में हुआ मिथ्याज्ञान ही उन-उन आत्मा आदिकों में संसार का कारण होने के कारण उनके आत्मादि को मिथ्याज्ञान को ही हटाना आवश्यक है, न कि संपूर्ण संसार के अनन्त पदार्थ तथा दूसरे आत्माओं का मिथ्याज्ञान । अतः उन विषयों में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो या न हो, अपनी आत्मा के दृष्टान्त से निवृत्ति है । किन्तु उसका संसारबंधन के छुटकारा होने में कोई उपयोग नहीं है, जिसका उपयोग है उसका ज्ञान होना कठिन नहीं है यह सिद्धान्त का गूढ़ आशय है । (यहाँ पर पूर्वपक्षी इस आशय से प्रश्न करता है कि)—वह मिथ्याज्ञान क्या है ? क्योंकि इस विषय में वादियों के अनेक मत मिलते हैं, जैसे वेदान्तियों के मत से नामरूप प्रपंच (संसार) की बाधाओं से रहित शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्माद्वैत का साक्षात्कार तत्त्वज्ञान है और उसका विरोधी मिथ्याज्ञान होता है । प्रकृति तथा पुरुष का यह ज्ञान ही तत्त्वज्ञान होता है और उसके मिथ्याज्ञान होता है ऐसा सांख्यमत है तथा धर्म पुद्गल (परमाणु) नरात्म्यज्ञान ही तत्त्व ज्ञान है और उसके विरुद्ध मिथ्याज्ञान होता है ऐसा कुछ बाह्यरूप वादियों का मत है एवं शरीर इन्द्रियादिकों से भिन्न नित्य आत्मा का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान होता है और इसके विरुद्ध मिथ्याज्ञान कहाता है ऐसा नैयायिकों का मत है इस कारण इस मिथ्याज्ञान के स्वरूप में विवाद होने के कारण यह प्रश्न होता है कि मिथ्याज्ञान क्या है ? (इस प्रश्न के उत्तर में न्यायसिद्धान्त से भाष्यकार उत्तर देते हैं कि)—आत्मा से भिन्न शरीर इन्द्रियादिकों को आत्मा समझना—'मैं हूँ' इस प्रकार

यद्विषयोऽहङ्कारः ? शरीरेन्द्रियमनोवेदनाबुद्धयः। कथं तद्विषयोऽहङ्कारः संसारबीजं भवति ? अयं खलु शरीराद्यर्थजातमहमस्मीति व्यवसितः तदुच्छेदेनात्मोच्छेदं मन्यमानोऽनुच्छेदतृष्णापरिप्लुतः पुनः पुनस्तदुपादत्ते तदुपाददानो जन्ममरणाय यतते तेनावियोगान्नात्यन्तं दुःखाद्विमुच्यते इति। यस्तु दुःखं दुःखायतनं दुःखानुषक्तं सुखं च सर्वमिदं दुःखमिति पश्यति स दुःखं परिजानाति परिज्ञातं च दुःखं प्रहीणं भवत्यनुपादानात् सविषान्नवत्। एवं

के मोह अहङ्कार ही मिथ्याज्ञान है। (यह अहंकार संसार का मूल कारण है यह कहने के लिये भाष्यकार प्रश्न दिखाते हैं कि)—वे कौन से विषय हैं, जिनके विषय में का अहंकार (मिथ्याज्ञान) होता है ? (उत्तर)—शरीर, बाह्यइन्द्रिय, मन, वेदना (सुख-दुःखानुभव) तथा ज्ञान ये मिथ्याज्ञान के विषय हैं। (यह संसार का कारण क्यों होता है ? इस आशय से प्रश्न भाष्यकार दिखाते हैं कि—शरीरादि विषय में मिथ्याज्ञान संसारबंधन का कारण क्यों होता है ? (उत्तर)—जिस कारण संसार के प्राणी शरीर, इन्द्रियादि विषयों को 'मैं यह हूँ' ऐसा शरीरादि को ही आत्मा को है ऐसा निश्चय हो जानने के कारण शरीरादिकों के उच्छेद (नाश) से आत्मा नाश हो जायगा ऐसा समझने के कारण भी मेरे शरीरादिकों का नाश न हो इस प्रकार की आशा से घबड़ाने के कारण बार-बार उनका ग्रहण करता है, जिसके बार-बार यह अज्ञानी प्राणी जन्म तथा मरण के लिये ही यत्न करता है, अतः जन्म-मरण समुदाय से न छूटने के कारण दुःख से उसका अत्यन्त छुटकारा नहीं होगा। (यहाँ उपरोक्त मिथ्याज्ञानों के विवाद के विषय में विचार करने से वेदान्तियों के मत से शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्माद्वैतज्ञान सम तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि बिना बाधक के प्रत्यक्ष से दिखाई पड़नेवाले संसार भेद को कोई हटा नहीं सकता तथा सांख्यमत भी संमत नहीं है, प्रकृति तथा पुरुष का विवेकज्ञान ही तत्त्वज्ञान होता है, यह नहीं हो सकता, क्योंकि कारण यह प्रकृति जगत् कार्य का मूल कारण है, यह नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति की सिद्धि सत्कार्यवाद मानने पर निर्भर है, अतः पूर्वग्रन्थ में जो सत्कार्यवाद का खण्डन कर चुके हैं उसी से प्रकृति का खण्डन हो जाता है। पर भी पुद्गलों को लेकर जो बौद्धों का निरात्मात्रवाद है, उसका क्षणभंगवाद के खण्डन के समय नित्य आत्मा की सिद्धि कर देने के कारण खण्डन हो जाता है। अतः नैयायिक-सिद्धान्त से शरीरादिकों में आत्मा है ऐसा 'मैं हूँ' इत्याकारक मोह अहम्भाव ही मिथ्याज्ञान होता है यह भाष्यकार ने नैयायिकों के सिद्धान्त से उचित ही कहा है और इसी कारण संसार के प्राणिमात्रों को 'मैं संसार में न रहूँ ऐसा न हो ऐसी कामना सदा रहती है। इस कारण यह उपरोक्त मिथ्याज्ञान शरीर इन्द्रियादिकों को ही आत्मा मानने वाले प्राणियों को ही होता है, न कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी को। क्योंकि ज्ञानी तो सर्प जिस प्रकार अपनी केंचुली को अपने से भिन्न जानता है उसी प्रकार ज्ञानी भी शरीरादिकों के आत्मा से भिन्न जानने के कारण न उनमें अनुराग रखता है, न उनके स्नेह के त्याग से दुःखी होता है, न उनके लिये शोक करता है ऐसा तात्पर्यटीका में स्पष्ट किया है)। (इस प्रकार अहम्भाव रखने वाले ज्ञानी प्राणी को भी संसारबंधन होता है यह कहने के पश्चात् अहंभावरहित तत्त्वज्ञानी के संसारबंधन से छुटकारा मिल जाता है इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—जो अहंभावरहित ज्ञानी पुरुष सांसारिक दुःख तथा दुःख के आधार शरीर इन्द्रियादिकों को तथा सांसारिक संपूर्ण सुख में दुःख का सम्बन्ध अवश्य रहता है, इस कारण यह संपूर्ण दुःख ही है ऐसा देखते हैं, वह दुःख

दोषान् कर्म च दुःखहेतुरिति पश्यति। न चाप्रहीणेषु दोषेषु दुःखप्रबन्धोच्छेदेन शक्यं भवितुमिति दोषान् जहाति, प्रहीणेषु च दोषेषु न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानायेत्युक्तम्। प्रेत्यभावफलदुःखानि च ज्ञेयानि व्यवस्थापयति कर्म च दोषाँश्च प्रहेयान्। अपवर्गोऽधिगन्तव्यस्तस्याधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम्। एवं चतसृभिर्विधाभिः प्रमेयं विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्यतो भावयतः सम्यग्दर्शनं यथाभूतावबोधस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। एवं च—

के स्वरूप को अच्छी तरह जाना जाता है और विषयुक्त अन्न के न खाने से जिस प्रकार मरण दुःख नहीं होता, उसी प्रकार सांसारिक विषयों का मोह छूटने के कारण उसका संपूर्ण सांसारिक दुःख नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वह अहंभावरहित ज्ञानी पुरुष राग, द्वेषादि दोष तथा पुण्य-पापात्मक संपूर्ण कर्म भी दुःख ही के कारण है, ऐसा भी दिखने लगता है। विना राग-द्वेषादि दोषों का नाश हुए सांसारिक संपूर्ण दुःखों का अत्यन्त नाश नहीं हो सकता। इस कारण ज्ञानी पुरुष राग-द्वेषादि दोषों को संसार में छोड़ देता है और इन मुख्य संसारबंधन के झुण्ड रागादि दोषों का एकदम नाश होने पर पुनः प्रारब्धकर्म के अनुसार संसार में होनेवाली पुण्य-पापात्मक कर्मों की प्रवृत्ति पुनः जन्म लेने के कारण ही होगी, यह चतुर्थाध्याय के प्रथमाह्निक के ६४वें सूत्र में कह चुके हैं। (इस प्रकार द्वादश प्रकार के प्रमेयपदार्थों में से शरीरादि प्रवृत्ति पर्यन्त प्रमेय अहङ्कार के विषय हैं यह दिखाने के पश्चात् प्रेत्यभावादि दूसरे तीन प्रमेय भी अहंभाव के विषय होते हैं। यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—ज्ञानी पुरुष सूत्रोक्त जानने योग्य प्रेत्यभाव, फल तथा दुःख इनकी व्यवस्था करता है, और कर्म तथा ज्ञान करने योग्य रागादि दोषों की भी व्यवस्थापना करता है। तथा मोक्ष मुझे प्राप्त करने योग्य है और मोक्षप्राप्ति का तत्त्वज्ञान ही एक उपाय है यह भी व्यवस्था से जान लेता है अर्थात् उपरोक्त प्रकार से मिथ्याज्ञान संसारबंधन का कारण है, तथा तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। अतः मुक्ति की इच्छा करनेवाले पुरुषों को प्रेत्यभाव, फल तथा दुःख का क्या स्वरूप है यह जानना चाहिये तथा प्राणियों के शुभाशुभ कर्म, रागादि दोष तथा कभी जीव जिनका त्याग करता है, तथा मोक्ष मुझे प्राप्त करना है, जिसका केवल आत्मादि प्रमेयपदार्थों का तत्त्वज्ञान ही कारण है, यह भी अवश्य स्थापन करना (जान लेना) आवश्यक है। (आगे उपरोक्त विषय का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकार न्यायभाष्य के प्रारंभ के प्रथम सूत्र में कही हुई इन चार ही प्रकारों से विभाग किये हुए आत्मादि प्रमेयपदार्थों की सेवा से अभ्यास करने से सदा उक्त विषयों का चिन्तन करते-करते यथार्थ ज्ञान, जिस प्रकार का आत्मादिकों का वास्तविक स्वरूप है उसी प्रकार से उनको जानना रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना तथा बुद्धिरूप प्रथम प्रमेयपदार्थों में आत्मा होने का अभिमान (मिथ्याज्ञान) होता है, दूसरा प्रेत्यभाव फल तथा दुःखरूप प्रमेयसमुदाय भी जानने योग्य है, और कर्म तथा रागादि दोषरूप तीसरा प्रमेयपदार्थों का समुदाय हेय (त्याग योग्य) है—और अपवर्ग (मोक्ष) रूप प्रमेयपदार्थ प्राप्त करने योग्य है। ऐसे इन चार प्रमेयसमूहों में विभक्त प्रमेयपदार्थ समाप्त है। इस प्रकार इनकी सेवापूर्वक अभ्यास से चिन्ता (एकाग्रता से मानस ज्ञान) की धारा होते-होते जो संपूर्ण प्रमेयपदार्थों का वास्तविक ज्ञान होता है उसी को तत्त्वज्ञान कहते हैं। (आगे भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की योजना करते हुए अवतरण में कहते हैं कि)—ऐसा होने के कारण—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥

शरीरादि दुःखान्तं प्रमेयं दोषनिमित्तं तद्विषयत्वान्मिथ्याज्ञानस्य। तदिदं तत्त्वज्ञानं तद्विषयमुत्पन्नमहङ्कारं निवर्त्तयति समानविषये तयोर्विरोधात्। एवं तत्त्वज्ञानाद् *'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग'* इति। स चायं शास्त्रार्थसङ्ग्रहोऽनूद्यते नापूर्वो विधीयते इति ॥१॥

प्रसङ्ख्यानानुपूर्व्या तु खलु—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—दोषनिमित्तानां = रागादि दोषों के कारणों का, तत्त्वज्ञानात् = वास्तविक ज्ञान होने से, अहङ्कारनिवृत्तिः = उनमें अहंभाव नहीं रहता ॥ १ ॥

भावार्थ—शरीर से लेकर दुःखपर्यन्त प्रमेयपदार्थ संसारबन्धन के मूल कारण रागादि दोष के निमित्त हैं—क्योंकि उन्हीं के विषय में मिथ्याज्ञान होने से प्राणी को बार-बार जन्म लेना पड़ता है, अतः इन्हीं शरीरादि दुःखान्त प्रमेयपदार्थों का वास्तविक ज्ञान होने से अहंभाव दूर हो जाता है—क्योंकि एक ही विषय में मिथ्याज्ञान तथा तत्त्वज्ञान का परस्पर में विरोध होता हैं। अतः उक्त प्रकार से तत्त्वज्ञान होने पर 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में से उत्तरोत्तर (आगे-आगे) के नष्ट होने से उनके पूर्व-पूर्व का नाश होने से आत्यन्तिक दुःखरूप मोक्ष होता है' ऐसा प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक के एक सूत्र में सिद्धान्त कर चुके हैं। वह यह संपूर्ण न्यायशास्त्र के संग्रह का अनुवाद यहाँ किया है, न कि कोई अपूर्व विषय कहा गया है ॥ १ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—बारह प्रकार के पूर्वोक्त प्रमेयपदार्थों में से शरीर से लेकर दुःखपर्यन्त प्रमेयपदार्थ संसार के मूलकारण राग-द्वेषादि दोषों के कारण हैं, क्योंकि उन्हीं के विषय में मिथ्याज्ञान होता है (जो संसार का कारण है) इस कारण उन्हीं शरीरादिकों का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होकर उनके विषय में अहंभाव को नष्ट कर देता है—क्योंकि एक ही विषय में मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञान इन दोनों का परस्पर में विरोध होता है। अतः उक्त प्रमेय विषयों के तत्वज्ञान से प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक के द्वितीय सूत्र में कहा हुआ 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में से उत्तरोत्तर (आगे-आगे) के मिथ्याज्ञानादिकों का नाश होनेपर उनके पूर्व-पूर्व दोषादिकों का नाश होते-होते दुःख का नाश होनेपर मोक्ष हो जाता है' यह जानना चाहिये। प्रारंभ में कहे हुए इस विषय का यहाँ वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? (यदि ऐसा पूर्वपक्षी शंका करे तो भाष्यकार इसका उत्तर देते हुए आगे कहते हैं कि)—यह प्रारंभ में द्वितीय सूत्र में कहा हुआ ही संपूर्ण न्यायशास्त्र का विषय वहाँ कहे हुए विषय का इस सूत्र में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार दिखाने के लिये अनुवादमात्र है, न कि कोई इस सूत्र में अपूर्व विषय को विधान (कथन) किया गया है ॥ १ ॥

शरीर इन्द्रियादिकों में आत्मा है इस मिथ्याज्ञान को दूर करना चाहिये ऐसा कह चुके हैं—उसमें से प्रथम किस विषय में आत्मा है इस बुद्धि को दूर करना चाहिये। इस प्रश्न के उत्तर में क्रम दिखानेवाले सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुऐ भाष्यकार कहते हैं कि—प्रसंख्यान (तत्त्वज्ञान) का अनुपूर्वी (क्रम) तो निश्चय से ऐसा है—

पदपदार्थ—दोषनिमित्तं = रागद्वेषादि दोषों के मूल कारण हैं, रूपादयः = रूप-रस इत्यादि, विषयाः = विषय, संकल्पकृताः = जो मिथ्याज्ञानरूप संकल्प से किये जाते हैं ॥ २ ॥

कामविषया इन्द्रियार्था इति रूपादय उच्यन्ते, ते मिथ्यासङ्कल्प्यमाना रागद्वेषमोहान् प्रवर्त्तयन्ति तान्पूर्वं प्रसङ्ख्क्षीत। ताँश्च प्रसङ्ख्क्षाणस्य रूपादिविषयो मिथ्यासङ्कल्पो निवर्तते। तन्निवृत्तावध्यात्मं शरीरादि प्रसङ्ख्क्षीत। तत्प्रसङ्ख्यानादध्यात्मविषयोऽहङ्कारो निवर्त्तते। सोऽयमध्यात्मं बहिश्च विविक्तचित्तो विहरन्मुक्त इत्युच्यते॥ २॥

अतः परं का चित्संज्ञा हेया का चिद्भावयितव्येत्युपदिश्यते नार्थनिराकरणमर्थोपादानं वा। कथमिति ?—

भावार्थ—इष्टप्राप्ति की इच्छा के विषय चक्षुरादि इन्द्रियों से गृहीत होनेवाले रूप-रस आदि विषय में मिथ्याज्ञान होने के कारण संसार में राग, द्वेष तथा मोहरूप दोष उत्पन्न होते हैं, अतः प्रथम उनका वास्तविक रूप जानना चाहिये। क्योंकि वास्तविक रूप का ज्ञान न होने से रूपादि विषयों में मिथ्यासंकल्प (झूठी कामनाएँ) प्राणियों की छूट जाती हैं। उनके निवृत्त होने के पश्चात् शरीर, इन्द्रियादि विषयों का आत्मा समझने के रूप मिथ्याज्ञान को निवृत्त करने के लिये शरीरादिकों के वास्तविक रूप को भी जानना चाहिये। इस प्रकार उनके वास्तविक रूप का ज्ञान होने से उनमें होनेवाला शरीरादिक ही आत्मा है; यह मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार बाह्य रूपादि तथा आन्तरिक शरीरादि विषयों में मोह के छूट जाने पर यह ज्ञानी प्राणी जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ २॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—इष्टप्राप्ति के विषय तथा चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत होने का तो उनके अर्थों (विषयों) को रूप, रस, गन्ध इत्यादि कहते हैं। उनकी मिथ्याज्ञान से इच्छा होने पर राग, द्वेष तथा मोहरूप दोषों की प्रवृत्ति होती है। इस कारण उन्हीं दोषों के मूल रूपादि की व्याख्या करके प्रथम वास्तविक रूप को जानना चाहिये। क्योंकि उनके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से उन रूपादिक के विषय में मिथ्याज्ञान रूप संकल्प छूट जाता है और उन रूपादि विषय के मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर साक्षात् आत्मा के सम्बन्ध रखनेवाले शरीर, इन्द्रियादिकों के वास्तविक रूप को भी जानना चाहिये। जिससे शरीरादि विषयों में यह आत्मा है ऐसा मिथ्याज्ञानरूप अहंकार छूट जाता है। जिससे आत्मासम्बन्धी आन्तरिक शरीर इन्द्रियादि विषयों तथा बाह्य सुन्दर कामिनी आदि इष्ट विषयों की सुन्दरता आदि रूपादि विषयों से भी खिन्न विरक्त होने से यह ज्ञानी पुरुष आनंद से प्रारब्ध के फलों का अनुभव करता हुआ भी जीवन्मुक्त कहा जाता है। अर्थात् बाह्य रूपादि तथा आन्तरिक शरीर इन्द्रियादिकों के वास्तविक रूप को जान लेने के कारण उनके विषय से राग, द्वेषादि दोषों से चित्त के छूट जाने से वही जीवन्मुक्त कहाता है, ऐसा प्रमेयपदार्थों के वास्तविक ज्ञान से उसे यह तत्त्वज्ञान का अन्तिम फल प्राप्त होता है॥ २॥

(प्रस्तुत विषय में ज्ञानी के लिये अति उपयोगी दूसरे उपदेश के विषय में सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसके पश्चात् संसार में कुछ संज्ञा (पदार्थ के नाम) त्याग योग्य हैं और कुछ संज्ञा भावना करने योग्य (विचारणीय) है, ऐसा सूत्रकार उपदेश देते हैं, न किसी अर्थ विषयों का खण्डन करते हैं, न किसी विषय के ग्रहण करने को कहा जाता है अर्थात् मुझ ज्ञानी पुरुष को संसार के प्रत्येक विषयों के बहुत से अंश (भाग) ऐसे हैं जिनको एकदम छोड़ देना चाहिये और कुछ अंशों में छोड़ने की भावना (विचार) करना चाहिये। इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—किस पदार्थ को लेना चाहिये और किस

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥

तेषां दोषाणां निमित्तं त्ववयव्यभिमानः । सा च खलु स्त्रीसंज्ञा सपरिष्कारा पुरुषस्य, पुरुषसंज्ञा च स्त्रियाः, परिष्कारश्च *निमित्तसंज्ञा अनुव्यञ्जनसंज्ञा* च । निमित्तसंज्ञा रसनाश्रोत्रम्, दन्तोष्ठम्, चक्षुर्नासिकम् । अनुव्यञ्जनसंज्ञा इत्थं दन्तौ इत्थमोष्ठाविति, सेयं संज्ञा कामं वर्धयति तदनुषक्तांश्च दोषान् विवर्ज-

---

पदार्थ (विषय) को नहीं लेना चाहिये, ऐसा सूत्रकार के उपदेश का आशय है । किन्तु जैसे संसार के पदार्थ हैं उनके विषय में किसी को ग्रहण करने तथा किसी को निराश करने का ज्ञानी आत्मा को विचार सदा करना चाहिये—यही सूत्रकार के उपदेश का आशय है । (प्रश्न)—यह उपदेश किस प्रकार का है ? (उत्तर)—

पदपदार्थ—तन्निमित्तं = उन राग द्वेषादि दोषों का मूल कारण है, किन्तु, अवयव्यभिमानः = स्त्री आदिकों के सुन्दर शरीररूप अवयवी में अभिमान (मिथ्या मोह) करना ॥ ३ ॥

भावार्थ—संपूर्ण संसारबंधन के मूलकारण राग, द्वेष तथा मोहरूप दोषों का कारण है सुन्दर स्त्री आदिकों में मिथ्यामोह करना । ऐसी मोह में डालनेवाली भावना तथा उसी स्त्री के शरीरादिकों में जिसमें केवल मांस, रक्त, अस्थि (हड्डियाँ), शिरायें, कफ, पित्त, विष्ठा आदि भरे हैं, इस प्रकार विराग होने की भावना, जिससे स्त्री विषय में प्रेम नष्ट हो जाता है । अर्थात् संसार में अनुराग तथा द्वेष करानेवाले दो प्रकार के विषय होने के कारण शुभ संज्ञा (मोह में डालनेवाले नाम) की मन में भावना (विचार) करना और संसारबंधन से छुड़ानेवाली उपरोक्त घृणा (अशुभ संज्ञा) की भावना से उस मोहक पदार्थों को हटाने का विचार ज्ञानी पुरुष को करना चाहिये कि जिस प्रकार मधु (शहद) और विष से मिले हुए अन्न में अन्न यह नाम (संज्ञा) ग्रहण करने योग्य है, और विष का नाम त्याग करने योग्य है यह सूत्रकार के उपदेश का गूढ़ आशय है ॥ ३ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उन संसारबंधन के मूलकारण विषयों में राग, द्वेष तथा मोहरूप दोषों का अवयवी (स्त्री आदि शरीर) में अभिमान (मिथ्यामोह) करना ही है । (दृष्टान्त द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वह भावना निश्चय से पुरुष (मर्द) को स्त्री के सुन्दर शरीर में उसके संपूर्ण मुख आदि परिष्कार (अवयवों) के साथ 'क्या ही सुन्दर यह स्त्री है' ऐसे मोह को उत्पन्न करने वाली संज्ञा (नाम) तथा स्त्री को भी पुरुष में 'क्या ही यह सुन्दर युवा पुरुष है' इस प्रकार उसके शरीर के संपूर्ण हस्तपादादि अवयवों के साथ मोह को उत्पन्न करने वाली संज्ञा (नाम) यह भावना ही संसारबंधन को करती है यही सपरिष्कार शब्द के अर्थ हैं—निमित्त संज्ञा तथा अनुव्यंजन संज्ञा (मोह) के कारण होती है न कि क्या ही इस स्त्री की नाक है, कैसे सुन्दर कान हैं, कैसे बढ़िया दाँत और ओठ हैं, कैसी सुन्दर आँख है, इत्यादि संज्ञा निमित्त संज्ञा कहाती है । और अनुव्यंजन संज्ञा उसको कहते हैं जैसे इस स्त्री या पुरुष के ऐसे दाँत हैं, ऐसा ओठ है, इत्यादि मोह करानेवाली संज्ञा । यही दोनों प्रकार की मिथ्या शुभभावना से काम (अभिलाषा, आसक्ति) की वृद्धि होती है और उसके सम्बन्ध में प्राप्ति से प्रेम (राग), प्राप्ति होने से प्रतिबंध के कारण द्वेष तथा मोह भी (जो छोड़ने योग्य है) वृद्धि को प्राप्त होते (बढ़ जाते) हैं । अर्थात् प्रिया स्त्री के दाँत, ओठ इत्यादि शरीर के अवयवों की मोहकरूप से भावना करते-करते उनको अनार के दाने, बिम्बाफल आदि रूप से भावना करता हुआ कामी पुरुष स्त्री में आसक्त

नीयात्, वर्जनं त्वस्या भेदेनावयवसंज्ञा केशलोममांसशोणितास्थिस्नायु-शिराकफपित्तोच्चारादिसंज्ञा तामशुभसंज्ञेत्याचक्षते । तामस्य भावयतः कामरागः प्रहीयते । सत्येव च द्विविधे विषये का चित्संज्ञा भावनीया का चित्परिवर्जनीयेत्युपदिश्यते, यथा विषसम्पृक्तेऽन्नेऽन्नसंज्ञोपादानाय विषसंज्ञा प्रहाणायेति ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम् ।

होता है। यह निमित्त संज्ञा तथा अनुव्यंजन संज्ञा का फल होता है, इसका तात्पर्यटीका में ऐसा उदाहरण वाचस्पति मिश्र ने दिया है कि—**द्रवत्कनकनिर्मलद्युतिः** (पिघले हुए सोने के समान निर्मल कांतिवाली), **अनंगलीलैकभूः** (कामविलास को स्थान), **महेभकटविभ्रमस्तनभरालसाङ्गी** (बड़े हाथी के गण्डस्थल के समान स्तनों के बोझ से आलस्ययुक्त शरीर वाली), **यदि** (यदि), **प्रिया** (कामिनी), **न परिरभ्यते** (आलिंगन न किया जाय), **तुलितासह-संजीवनी** (तोले हुए सिद्ध औषधि के समान जीवन को बढ़ाने वाली है), **सहेयहि** (ग्रहण करेंगे), **कुतः** (कैसे), **अन्यथा** (दूसरे प्रकार से), **विषयबाण बाणव्यथाम्** (कामदेव के बाणों की पीड़ा करेगा इत्यादि)। (इस प्रकार संसार में बंधन करनेवाली दो संज्ञाओं को दिखाकर उसी के विपरीत कामिनी की दूसरी दो संज्ञाओं से भावना करने से उसी मोहक कामिनी में वैराग्य कैसे होता है यह और दूसरी दो संज्ञाओं को दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस स्त्री के मोह के त्याग का उपाय उसी स्त्री की अवयव संज्ञा कहाती है। जैसे, इस स्त्री के शरीर में केश, लोम (रोएँ), मांस, रक्त, हड्डी, स्नायु (शिराएँ) कफ, पित्त, विष्ठा इत्यादि घृणा को उत्पन्न करने वाली अवयव संज्ञा। इसी को विद्वानों ने अशुभ संज्ञा कहा है। इसकी भावना करनेवाले ज्ञानी की विषयवासना नष्ट हो जाती है। अर्थात् जो कामिनी में अनुराग उपरोक्त निमित्त तथा अनुव्यंजन संज्ञा से उत्पन्न हुआ था, इस अशुभ संज्ञा की भावना से उसका नाश हो जाता है। इसके विषय में भी तात्पर्यटीका में ऐसा उदाहरण दिया है—**मज्जां** (चरबी), **अस्थ्नां** (हड्डियाँ), **प्लीहां** (प्लीहा), **यकृतां** (यकृत भाग), **शकृतां अपि** (और शकृत भागों से भी), **पूर्णाः** (भरी हुई), **स्नायुशिरास्थूलः** (शिराओं से गठी हुई), **स्त्रियः** (स्त्रियाँ), **चर्मप्रसेविकाः** (चमड़े को उत्पन्न करने वाली होती हैं)। **कायं** (शरीर को), **आधेयशौचत्वात्** (उस शरीर में रहनेवाला केवल आत्मा के शुद्ध होने के कारण), **पण्डिता** (विद्वान् लोग), **हि** (निश्चय से), **अशुचिं** (शरीर तो अशुद्ध है), ऐसा **विदुः** जानते हैं, इत्यादि।

(इस प्रकार शुभ संज्ञा राग की जनक और अशुभ संज्ञा राग की नाशक होती है। ऐसा भेद दिखाकर उन्हीं दोनों संज्ञाओं का दूसरा भेद का कारण दिखाते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकार इस कामिनी आदि विषयों के दो प्रकार होते हैं यह सिद्ध होने से किसी अशुभ संज्ञा की स्त्री में भावना करनी चाहिये, तथा शुभ संज्ञा का त्याग करना चाहिये यह सूत्रकार ने उपदेश किया है। क्योंकि जिस प्रकार मधु तथा विष से मिले हुए अन्न में अन्न है, यह समझने से मनुष्य को उसके खाने में प्रवृत्ति होती है किन्तु विष है ऐसा समझने से उसके त्याग में मनुष्य प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार स्त्री को सुंदर समझ कर उससे भोग-विलास करने में प्राणी की प्रवृत्ति होती है और विष्ठा आदि से इसका शरीर भरा है यह समझ कर उससे भोगविलास करने से प्रवृत्ति हट जाती है अर्थात् मधु तथा विष से युक्त अन्न के दृष्टान्त

अथेदानीमर्थं निराकरिष्यताऽवयव्युपपाद्यते—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ ४ ॥

सदसतोरुपलम्भाद्विद्या द्विविधा, सदसतोरनुपलम्भादविद्यापि द्विविधा।

से यह सूचित होता है कि—वस्तुतः मधु तथा विष दोनों पदार्थ नहीं हैं ऐसा नहीं है, किन्तु उससे चित्त के हटने के लिये विष की भावना ही ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार स्त्री-रूप पदार्थ संसार में नहीं है ऐसा नहीं किन्तु उसमें अशुभ भावना ही करनी चाहिये। किन्तु इस विषय में परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने ऐसी समालोचना की है कि—वस्तुतः मोक्ष की इच्छा करनेवाले प्राणी के लिये यद्यपि संसार में कोई भी पदार्थ लेने योग्य नहीं है, किन्तु संपूर्ण सांसारिक पदार्थों का उसे त्याग करना चाहिये। इस प्रकार त्यागयोग्य संसार के पदार्थों को ग्रहणयोग्य समझना यह मिथ्याज्ञान होता है—तथापि इस प्रकार से वह दो ही प्रकार का है इस प्रकार भोग की इच्छा तथा मोक्ष की इच्छा करनेवाले दो प्रकार के प्राणियों के भेद के आशय से यह सूत्रकार तथा भाष्यकार ने दिखाया है ॥ ३ ॥

(२) प्रासंगिक अवयवि का प्रकरण

(इस प्रकार अपने सिद्धान्तमत से तत्त्वज्ञान के क्रम का उपदेश करने के पश्चात् पूर्वपक्षी को अभिमत तत्त्वज्ञान का खण्डन करने के लिये प्रसंगप्राप्त अवयवि के प्रकरण में पूर्वपक्षमत के सूत्र का अवतरण देने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि)—सांप्रत बाह्य पदार्थों का खण्डन करनेवाले विज्ञानवादी के मत से अवयवी का खण्डन इस प्रकार किया जाता है अर्थात् विज्ञानवादी का यह आशय है कि—सिद्धान्ती के दिखाये हुए निमित्त तथा अनुव्यंजन संज्ञाओं का अवयवी ही विषय है—उन इन दोनों संज्ञाओं में से शुभ संज्ञाओं का त्याग करने के लिये अशुभ संज्ञा की भावना करने की सिद्धान्ती ने व्यवस्था दिखाई है—किन्तु बाह्य विज्ञान से भिन्न पदार्थों के न होने के कारण उपरोक्त दोनों संज्ञा ही नहीं हो सकती—इसलिये सिद्धान्तिमत का खण्डन करने के लिये प्रथम अवयवी का ही खण्डन किया जाता है पश्चात् परमाणुओं का भी खण्डन किया जायगा जिससे बाह्य पदार्थरहित केवल विज्ञान ही संसार में है, यह सिद्ध होगा ऐसा विज्ञानवादी का आशय है। उसमें भी संशयपूर्वक विषय की स्थापना होती है, इस कारण सूत्रकार प्रथम पूर्वपक्षी का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्षी के मत से बाह्य पदार्थ विषयों में संशय दिखाते हैं—

पदपदार्थ—विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् = विद्या तथा अविद्या के दो प्रकार होने के कारण, संशयः = बाह्य अवयवीरूप पदार्थों में संशय होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्यमान तथा अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति होने की विद्या दो प्रकार की है तथा विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती, इस कारण अविद्या भी दो प्रकार की है। इस कारण मिलनेवाले अवयवी बाह्य पदार्थ में उपरोक्त दोनों प्रकार के ज्ञान के कारण बाह्य पदार्थ विद्यमान मिलते हैं, अथवा अविद्यमान ऐसा संशय होता है तथा न मिलने के कारण उपरोक्त दोनों प्रकार की अविद्या के कारण भी बाह्य पदार्थ विद्यमान होता हुआ नहीं मिलता अथवा अविद्यमान ऐसा अविद्या के द्विविध होने से भी संशय हो सकता है जिससे सिद्ध होता है कि अवयवीरूप बाह्य पदार्थों की उपलब्धि (प्राप्ति) हो, या प्राप्ति न हो दोनों प्रकार से संशयग्रस्त होने के कारण बाह्य अवयवी पदार्थों में संशय किसी प्रकार से नहीं हट सकता ॥ ४ ॥

(इसी आशय में भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सत् (विद्यमान) तथा

उपलभ्यमानेऽवयविनि विद्याद्वैविध्यात्संशयः, अनुपलभ्यमाने चाविद्याद्वैविध्यात्संशयः सोऽयमवयवी यद्युपलभ्यते अथापि नोपलभ्यते न कथं चन संशयान्मुच्यते इति ॥ ४ ॥

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

तस्मिन्ननुपपन्नः संशयः । कस्मात् ? पूर्वोक्तहेतूनामप्रतिषेधादस्ति द्रव्यान्तरारम्भ इति ॥ ५ ॥

असत् (अविद्यमान) पदार्थों की संसार में प्राप्ति होने के कारण विद्या (ज्ञान) दो प्रकार का होता है तथा विद्यमान एवं अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों के उपलब्धि न होने के कारण अविद्या (अज्ञान) भी दो प्रकार की है। इस कारण संसार में प्राप्त होनेवाले अवयवीरूप बाह्य पदार्थों के प्राप्त होने पर उपरोक्त दो प्रकार के ज्ञान से यह उपलब्ध होनेवाला पदार्थ सत् है अथवा असत् है ऐसा संशय होता है तथा बाह्य पदार्थों के न प्राप्त होने पर भी उपरोक्त दो प्रकार के ज्ञान से 'यह न मिलनेवाला बाह्य पदार्थ सत् है अथवा असत्' ऐसा भी संशय होता है। अतः इस बाह्य पदार्थरूप अवयवी की उपलब्धि हो अथवा न हो किसी प्रकार बाह्य अवयवी पदार्थ है या नहीं इस संशय से छुटकारा नहीं पा सकता अर्थात् तालाब में रहनेवाला भी जल मिलता है, तथा गर्मी की सूर्य के किरणों की लहरों मे जल न होने पर भी जल का ज्ञान होता है तथा जमीन में गाड़ा हुआ धन रहने पर भी नहीं मिलता तथा भूतल के दिखाई पड़ने पर भी उस पर न रहनेवाले घट की प्राप्ति नहीं होती। इन दृष्टान्तों के अनुसार बाह्य अवयवी पदार्थों में भी उपरोक्त दोनों प्रकार से संशय होता है कि क्या विद्यमान बाह्य पदार्थ भी क्या रहते हुए मिलते हैं, अथवा न रहते हुए तथा उपलब्ध न हों जो भी संशय होता है कि यह अविद्यमान नहीं मिलता अथवा विद्यमान नहीं मिलता ॥ ४ ॥

(इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के बाह्य पदार्थरूप अवयवी के खण्डन का आगे खण्डन करेंगे, किन्तु प्रथम प्रौढ़वाद से पूर्वपक्षी के सूत्र में दिखाये हुए संशय का ही खण्डन करते हुए सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तदसंशयः = बाह्य पदार्थरूप अवयवी में संशय नहीं हो सकता, पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् = क्योंकि पूर्व में अवयवीसिद्धि के प्रकरण में कहे हुए हेतुओं से वह प्रसिद्ध है ॥ ५ ॥

भावार्थ—पूर्वग्रन्थ में अवयवी के सिद्धि के प्रकरण में वर्णन किये हुए हेतुओं से अवयवी प्रसिद्ध है इस कारण बाह्य पदार्थरूप अवयवी में संशय नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी पूर्वोक्त अवयवी सिद्धि का खण्डन करता तो परमाणु आदि अवयवों से बने हुए दूसरे अवयवीरूप द्रव्य के उत्पत्ति की सिद्धि नहीं होती, अतः अवयविसिद्धि के साधक हेतुओं का खण्डन करने के कारण अवयविरूप दूसरा द्रव्य उत्पन्न होता है यह सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उस बाह्य पदार्थरूप अवयवी में संशय नहीं हो सकता। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—द्वितीयाध्याय के अवयविसिद्धि के प्रकरण में कहे हुए हेतुओं का पूर्वपक्षी ने निषेध नहीं किया है इस कारण परमाणु आदि अवयवों से अवयवीरूप दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

पूर्वपक्षी के अपने पक्ष को समान उत्तररूप प्रतिवन्दी से सिद्ध करनेवाले पूर्वपक्षसूत्र को सूत्रकार दिखाते हैं—

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥

संशयानुपपत्तिर्नास्त्यवयवीति ॥ ६ ॥

तद्विभजते—

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥

एकैकोऽवयवो न तावत् कृत्स्नेऽवयविनि वर्त्तते तयोः परिमाणभेदादवयवान्तरसम्बन्धाभावप्रसङ्गाच्च । नाप्यवयव्येकदेशेन, न ह्यस्यान्ये अवयवा एकदेशभूताः सन्तीति ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—वृत्यनुपपत्तेः अपि=अवयवी के अवयवों में रहने के न बन सकने से भी, न = नहीं हो सकता, संशयः = संदेह ॥ ५ ॥

भावार्थ—बाह्य पदार्थरूप अवयवी में संशय नहीं है इस विषय में हमारी भी संमति है—क्योंकि अवयवी अपने अवयवों में नहीं रह सकता, इस कारण उक्त अवयवी की सत्ता ही नहीं है, अतः उसमें अवयवी नहीं है इस विषय में सन्देह नहीं हो सकता है ॥ ६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस कारण अवयवी है नहीं यह सिद्ध है, अतः उसकी अविद्यमानता सिद्ध होने के कारण वह अवयवी है या नहीं ऐसा संशय नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

अवयवी के अभाव के साधक की पूर्वपक्षी की उक्ति का पूर्वपक्षी के सूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं—इसी का पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार विवेचन करते हैं—

पदपदार्थ—कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात् = संपूर्णरूप से या एकदेश (भाग) से न रहने के कारण, अवयवानां = अवयवों के, अवयव्यभावः = अवयवी का अभाव है ॥ ७ ॥

भावार्थ—एक-एक अवयव संपूर्ण अवयवी में नहीं रह सकता, क्योंकि उन दोनों का परिमाण भिन्न होता है, तथा यदि एक ही अवयव से संपूर्ण अवयवी व्याप्त है तो अवयवी का दूसरे अवयवों के साथ सम्बन्ध ही न होगा, ऐसा होने से 'एक अवयववाला ही अवयवी होता है' यह आपत्ति आयगी, अतः अवयवों से भिन्न दूसरा अवयवी पदार्थ नहीं ही है ॥ ७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अवयवी का हरएक अवयव संपूर्ण अवयवी में नहीं रहता, क्योंकि उन दोनों का परिमाण भिन्न है तथा एक ही अवयव में अवयवी के रहने के कारण उसे दूसरे अवयवों का सम्बन्ध नहीं है यह आपत्ति भी आ जायगी। (एक अवयव अवयवी के एकदेश में ही रहता है इस दूसरे पक्ष का भी खण्डन करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—अवयवी के एकदेश से भी अवयव रहता है यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस अवयवी के एकदेश से अवयव कोई भिन्न नहीं होता अर्थात् अवयवी के अवयवों से भिन्न एकदेश न होने के कारण अवयव भी अवयवी रहता है ऐसा सिद्ध होगा। जिससे जितने अवयव अवयवी के होते हैं उन सब में भिन्न-भिन्न अवयवी हैं यह मानना पड़ेगा, जिससे कोई भी अवयव बिना भिन्न-भिन्न अवयवी के न दिखाई देगा यह आपत्ति आ जायगी, अतः अवयवों से भिन्न अवयवीरूप बाह्य द्रव्य नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

अथावयवेष्वेवावयवी वर्त्तते—

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥

न तावत्प्रत्यवयवं वर्त्तते, तयोः परिमाणभेदाद् द्रव्यस्य चैकद्रव्यत्व-प्रसङ्गात् । नाप्येकदेशेन, सर्वेषु अन्यावयवाभावात् । तदेवं न युक्तः संशयो नास्त्यवयवीति ॥ ८ ॥

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

(इस प्रकार अवयव अवयवी में रहते हैं इस पक्ष का खण्डन करने के पश्चात् अवयवी ही अवयवों में रहता है, इस पक्ष का खण्डन करने के लिये भाष्यकार पूर्वपक्षी के द्वितीय सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—यदि सिद्धान्ती के मत से अवयवों में अवयवी रहता है—

पदपदार्थ—तेषु च=और उन अवयवों में, अवृत्तेः=न रहने के कारण, अवयव्यभावः=अवयवी का अभाव है ॥ ८ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती के मत के अनुसार उन अवयवों में अवयवी रहता है ऐसा मानें तो अवयव तथा अवयवी दोनों के परिमाण का भेद होने के कारण तथा अवयवरूप द्रव्य में एक अवयवीरूप द्रव्य रहने की आपत्ति आने के कारण भी अवयवी प्रत्येक अवयव में रहता है, यह नहीं हो सकना तथा संपूर्ण अवयवों में दूसरे और अवयव न होने के कारण अवयवी अवयवों में एकदेश से भी नहीं रह सकता अतः अवयवी नहीं है इस विषय में संदेह नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षी के द्वितीय सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वसूत्र में कहे अनुसार अवयव अणुपरिमाण तथा अवयवी महापरिमाण ऐसा दोनों का परिमाण भिन्न-भिन्न होने के कारण अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता तथा एक अवयव द्रव्य में रहने के कारण अवयवी एकद्रव्यवाला होता है यह भी मानना पड़ेगा, जिससे एकद्रव्यवाला अवयवी एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने के कारण उसकी सदा ही उत्पत्ति होने लगेगी । (अवयवी अपने एकदेश से ही प्रत्येक अवयव में रहता है, ऐसा भी सिद्धान्ती नहीं कह सकता । इस आशय से पूर्वपक्षमत को लेकर कहते हैं कि)—अवयवी अपने एकदेश में प्रत्येक अवयवों में रहता है ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि संपूर्ण अवयवी के अवयवों के सिवाय दूसरे कोई अवयव नहीं होते । अर्थात् इस पक्ष में अवयवी को उत्पन्न करनेवाले अवयवों से भिन्न दूसरे भी अवयव होते हैं ऐसा मानना पड़ेगा और प्रत्येक अवयव में रहनेवाला अवयवी इस अवयव में उसी अवयव से नहीं रह सकता, क्योंकि आप अपने में नहीं रह सकता । तथा दूसरे अवयव के दूसरे अवयव में न रह सकने से दूसरे अवयव से अवयवी अवयव में रहता है यह भी असंभव है, अतः अवयवों से भिन्न अवयवी नहीं है यही सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

अवयवी के अवयवों में रहने के निषेध में पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार दूसरा हेतु देते हैं—

पदपदार्थ—पृथक् च = और अवयवों को छोड़कर, अवयवेभ्यः = अवयवों से, अवृत्तेः = न रहने के कारण ॥ ९ ॥

भावार्थ—अवयवों को छोड़कर अवयवी कहीं नहीं रहता इस कारण भी अवयवी नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

पृथक् चावयवेभ्यो धर्मिभ्यो धर्मस्याग्रहणादिति समानम् ॥ ६ ॥

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

(इसी आशय से सूत्र में आवश्यक अंश को पूर्ण करते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षिसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अवयवी का अभाव है ऐसा इस सूत्र में है। जिस कारण अवयवों को छोड़कर नहीं रहता क्योंकि अवयवों को छोड़कर अवयवी दूसरे में रहता है ऐसा ग्रहण नहीं होता तथा यदि अवयवों को छोड़कर यदि अवयवी की सत्ता मानी जाय तो उस के आधाररहित होने के कारण अवयवी नित्य भी हो जायगा। अतः अवयविरूप बाह्य पदार्थ संसार में नहीं है यह सिद्ध होता है।

(इसी आशय से सूत्र की पूर्वपक्षिमत से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—पूर्वसूत्र से 'वर्तते' इस पद को लेकर अवयवों को छोड़कर अवयवी भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि अवयवों को छोड़कर अवयवी का ग्रहण नहीं होता तथा अवयवों को छोड़कर अवयवी है, ऐसा माना जाय तो उसके आधाररहित होने के कारण वह नित्य होता है यह भी आपत्ति आ जायगी, अतः बाह्य पदार्थरूप अवयवी पदार्थ नहीं है यही सिद्ध होता है। (यहाँ इस सूत्र का तीन प्रकार का अर्थ वृत्तिकार ने ऐसा दिखाया है कि—(१) अवयवी को आवृत्ति कहीं न रहनेवाला ही मान लेंगे ऐसा शंका के आशय से यह पूर्वपक्षी का सूत्र है कि—अवयवों से भिन्न अवयवी नहीं है। यहाँ आठवें सूत्र से अवयवी का अभाव है ऐसा लेना चाहिये। अवयवों में अवयवी के न रहने से अवयवी नित्य हो जायगा और वह नित्य तो होता नहीं, अतः अवयवी नहीं है। (२) संपूर्णरूप से या एकदेश से अवयवी नहीं रहता किन्तु केवल अपने स्वरूप से ही रहता है, इस शंका में यह पूर्वपक्षी का सूत्र है कि अवयवों से पृथक् अवयवी नहीं है, क्योंकि उसमें अवृत्तित्व (कहीं न रहने) की आपत्ति आने के कारण वह नित्य हो जायगा। (३) अवयवों से भिन्न अवयवी है। इस शंका पर यह पूर्वपक्षी का सूत्र है ऐसा किसी का मत है, अर्थात् पूर्वोक्त युक्ति से अवयवों से पृथक् भी अवयवी कहीं नहीं रहता ऐसा इस रूप का अर्थ है) ॥ ९ ॥

जिसका यह मत है कि अवयवी केवल अवयवों का धर्म है, न कि वह अवयवों से अत्यन्त भिन्न अथवा अभिन्न नहीं है उनके लिये पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न च=और नहीं है, अवयवी=अवयवीरूप द्रव्य, अवयवाः=अवयवों का धर्म ॥१०॥

भावार्थ—किसी धर्म को अपने धर्मीरूप अवयवों के साथ सम्बन्ध न हो सकने के कारण अवयवी अवयवों का धर्म नहीं हो सकता तथा धर्मीरूप अवयवों से पृथक दूसरे स्थान से अवयवी का ग्रहण न हो सकने से पूर्वोक्त अवयवी में नित्यता तथा सदा उत्पत्ति होने का भी दोष आ जायगा ॥ १० ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षी के अन्तिम सूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—बाह्य पदार्थरूप अवयवी द्रव्य अपने अवयवों का धर्म भी नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—पूर्वोक्त हेतुओं से धर्मरूप अवयवी का धर्मीरूप अवयवों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता इस कारण। तथा दूसरा यह भी हेतु है कि धर्मीरूप अवयवों से पृथक् अवयवीरूप धर्म की उपलब्धि भी नहीं होती, यदि हो तो वह नित्य हो जायगा, यह भी पूर्वरूप में कहा हुआ समान ही दोष है ॥ १० ॥

यहाँ पर पूर्वपक्ष के दो प्रकार हैं, जिसमें अवयव अवयवों में नहीं रहते, यह प्रथम पक्ष है, जिसको नैयायिक नहीं मानते, क्योंकि न्यायमत में कारणरूप अवयव का कार्यरूप अवयवी में समवाय सम्बन्ध होता है ऐसा नहीं माना है, अतः इस पक्ष का अस्वीकार होने से ही खंडन हो

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥

किं प्रत्यवयवं कृत्स्नोऽवयवी वर्त्तते अथैकदेशेनेति नोपपद्यते प्रश्नः। कस्मात्? *एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः।* कृत्स्नमित्यनेकस्याशेषाभिधानम्, एकदेश इति नानात्वे कस्य चिदभिधानम्, ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविन्युपपद्येते भेदाभावादिति ॥ १०–११ ॥

अन्यावयवाभावान्नैकदेशेन वर्त्तते इत्यहेतुः—

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

जाता है। दूसरा प्रकार है अवयवी का अवयवों में न रहना, इसी पूर्वपक्ष के दूसरे पक्ष को लेकर सूत्रकार सिद्धान्तमत से खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—एकस्मिन् = एक अखण्ड अवयवी में, भेदाभावात् = भेद न होने के कारण, भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तिः = भेदवाचक कृत्स्न, एकदेश आदि शब्दों का प्रयोग न हो सकने के कारण, अप्रश्नः = पूर्वपक्षी का अवयवों में अवयवी सम्पूर्णतया रहता है या एकदेश से यह प्रश्न नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

भावार्थ—एक अखण्ड अवयवीरूप द्रव्यपदार्थ में भेद न होने के कारण 'कृत्स्न' तथा 'एकदेश' इन भेदबोधक शब्दों का व्यवहार ही नहीं हो सकता, क्योंकि कृत्स्न उसे कहते हैं जो अनेक हों और जिसका कोई भाग न बच जाय। तथा एकदेश उसे कहते हैं जो अनेक हों, जिसमें से किसी को कहा जाय। अतः इन दोनों भेदवाचक शब्दों को लेकर पूर्वपक्षी का आक्षेप सर्वथा असंगत है कि क्या अवयवी अपने अवयवों में सम्पूर्णरूप से अथवा एकदेश से रहता है। अतः अवयवों से भिन्न बाह्य पदार्थरूप अवयवी द्रव्य भिन्न है यह सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—क्या प्रत्येक अवयव में सम्पूर्ण अवयवी रहता है, अथवा एकदेश (भाग) से—ऐसा पूर्वपक्षी का प्रश्न नहीं हो सकता, (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—एक खण्डरहित अवयवीरूप पदार्थ में भेद न होने के कारण भेदबोधक शब्दों का प्रयोग ही नहीं हो सकता। क्योंकि 'कृत्स्न' सम्पूर्ण उसे कहते हैं जो अनेक हों, और जिसके अवशिष्ट भाग नहीं रहते तथा एकदेश उसे कहते हैं जो अनेकरूप हों उसमें से किसी एक का कहना। ये दोनों 'कृत्स्न' तथा 'एकदेश' शब्द भेद को विषय करते हैं, तो एक भेदरहित भी अवयवीरूप द्रव्यपदार्थ में कैसे इन शब्दों के प्रयोग किये जा सकते हैं। अर्थात् कृत्स्न और एकदेश इन दोनों शब्दों का प्रयोग भेद की आवश्यकता रखता है, तो उनका भेदशून्य एक अवयवी में प्रयोग नहीं हो सकना, अतः पूर्वपक्षी का प्रश्न भी असंगत होने के कारण अवयवी भी अवयवों से भिन्न पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

(आठवें सूत्र के भाष्य में जो अवयवी एकदेश से भी नहीं रहता क्योंकि सब अवयवों में दूसरे कोई अवयव नहीं होते उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—दूसरे अवयवों के न होने के कारण अवयवी एकदेश से नहीं रहता यह हेतु नहीं हो सकता—

पदपदार्थ—अवयवान्तरभावे अपि = एक अवयव के दूसरे अवयव होने पर भी, अवृत्तेः = अवयवी की वर्तमानता न होने से, अहेतुः = अन्य अवयवों के न रहने से यह पूर्वपक्षी का हेतु नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

अवयवान्तराभावादिति, यद्यप्येकदेशो ऽवयवान्तरभूतः स्यात् तथाप्यवयवेऽवयवान्तरं वर्त्तेत नावयवीति। अन्योऽवयवीति अन्यावयवभावेऽप्यवृत्तेरवयविनो नैकदेशेन वृत्तिरन्यावयवाभावादित्यहेतुः। वृत्तिः कथमिति चेत्? एकस्यानेकत्राश्रयाश्रितसम्बन्धलक्षणा प्राप्तिः। आश्रयाश्रितभावः कथमिति चेत्? यस्य यतोऽन्यत्रात्मलाभानुपपत्तिः स आश्रयः। न कारणद्रव्येभ्यो ऽन्यत्र कार्यद्रव्यमात्मानं लभते विपर्ययस्तु कारणद्रव्येष्विति। नित्येषु कथमिति चेत्? अनित्येषु दर्शनात्सिद्धम्। नित्येषु द्रव्येषु कथमाश्रयाश्रयिभाव

भावार्थ—यदि एक अवयव या दूसरा एकदेश अवयव हो तो भी एक उस अवयव में दूसरा अवयव रहता है ऐसा सिद्ध होगा, न कि अवयवी रहता है ऐसा सिद्ध होगा। क्योंकि, अवयवी अवयवों से भिन्न है इस कारण एक अवयव के दूसरे अवयव मानने पर भी अवयवी में न रहने के कारण, दूसरे अवयव न होने के कारण एकदेश से अवयवी अवयवों में नहीं रहता यह कहना पूर्वपक्षी का असंगत है ॥ १२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'अन्यावयवाभावात्' इस पूर्वपक्षी के हेतु का अनुवाद करते हैं कि—'अवयवान्तर' (दूसरे अवयव के) न होने के कारण—अर्थात् यद्यपि एकदेश से अवयवी अवयव में रहता है, तथापि एक अवयव ही दूसरे अवयव में रहता है ऐसा ही मानना होगा, क्योंकि अवयवी का अवयव ही होता है—जिस अवयव से एकदेश से अवयवी रहता है, वही जिस अवयव में रहता है वह उसकी अपेक्षा से दूसरा अवयव कहा जाता है। (इस प्रकार 'अवयवान्तराभावात्' इस सूत्र के अंश की व्याख्या के पश्चात् 'आवृत्तेः' इस सूत्रांश की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—अवयवी अवयव में नहीं रहेगा अर्थात् एक अवयव दूसरे अवयव में रहता है ऐसा मानने से अवयवी के रहने या न रहने में क्या आयगा, इस कारण पूर्वपक्षी का 'अवयवान्तर के न होने से' इस हेतु से अवयवी की सत्ता (रहना) अथवा असत्ता (न रहना) के विषय में कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता, यह सिद्धान्ती का आशय है। (इस विषय में पुनः स्पष्टीकरण करते हुए आगे भाष्यकार ऐसा कहते हैं कि)—अवयवी अवयवों से अत्यन्त भिन्न भी है, इस पक्ष में अन्य अवयव के न होने पर एक अवयव के दूसरे अवयव में रहने पर भी वह अवयवी का एकदेश से रहना नहीं हो सकता। अतः पूर्वपक्षी का 'अन्य अवयवी न होने के कारण' यह हेतु नहीं हो सकता। (यदि संपूर्ण रूप तथा एकदेश से अवयवी अवयवों में नहीं रहता तो कैसे रहता है? ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो सिद्धान्ती के मत से भाष्यकार कहते हैं कि)—एक अवयवी का अनेक अवयवों के आधार तथा आधेय (आश्रित रहनेवाला) इन दोनों के परस्पर सम्बन्धरूप प्राप्ति को ही अवयवी का अवयवों में रहना कहते हैं। (प्रश्न)—यह अवयवों का आश्रय होना तथा अवयवी का आश्रित होना ही कैसे है? (उत्तर)—जिस आश्रित की जिस आश्रय को छोड़कर दूसरे में उत्पत्ति नहीं होती वह आश्रय (आधार) होता है, अवयवरूप कारण द्रव्यों को छोड़कर दूसरे में अवयवीरूप कार्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती (इस कारण अवयव या अवयवी का परस्पर में आश्रय तथा आश्रितभाव होता है)। (इस पर पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि वह कार्य द्रव्यों में ही कारण तथा आश्रित नहीं होते। क्योंकि कारण द्रव्यों में इसके विपरीत देखने में आता है, अर्थात् कार्य द्रव्य के समान कारण द्रव्य अन्यत्र (दूसरे में) नहीं होता, यह देखने में नहीं आता,

इति चेत् ? अनित्येषु द्रव्यगुणेषु दर्शनादाश्रयाश्रितभावस्य नित्येषु सिद्धिरिति। तस्मादवयव्यभिमानः प्रतिषिध्यते निःश्रेयसकामस्य, नावयवी, यथा रूपादिषु मिथ्यासङ्कल्पो न रूपादय इति ॥ १२ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति प्रत्यवस्थितो ऽप्येतदाह—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥

क्योंकि जिस प्रकार घटरूप कार्य द्रव्य मृत्तिकारूप कारण द्रव्य से भिन्न से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु मृत्तिका घट से भिन्न कुलाल के घट में भी प्राप्त होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य द्रव्य ही कारण द्रव्यों के आश्रित होते हैं न कि कारण द्रव्य कार्य द्रव्य के आश्रित होते हैं। (प्रश्न)—नित्यद्रव्यों में आश्रयाश्रितभाव कैसे होगा? (उत्तर)—अनित्यद्रव्यों में दिखाई पड़ने से नित्यद्रव्यों में भी माना जायगा। (यदि प्रश्नकर्ता का यह आशय हो कि—यदि उक्त प्रकार से कार्यकारणभाव ही को आश्रिताश्रयरूप सम्बन्ध अथवा समवाय माना जाय तो, नित्यद्रव्यों में कार्यकारणभाव न हो सकने से आश्रयाश्रितभाव कैसे होगा? (तो इसके उत्तर का आशय भाष्यकार दिखाते हैं)—अनित्य द्रव्य तथा गुणों में कार्यकारणभावरूप आश्रयाश्रित-भाव दिखाई देता है। इस कारण नित्य पदार्थों में यदि आश्रयाश्रितभाव माना जा सकता है अर्थात् जिस द्रव्य में जो गुणादि रहने वाले पाये जाते हैं, वे ही उनके आश्रय होते हैं ऐसा अनित्य कार्य द्रव्य तथा गुणों में देखकर नित्य पदार्थों में भी ऐसा ही आश्रयाश्रितभाव होता है यह सिद्ध होता है। प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि—इस कारण सिद्धान्ती के मत से मुक्ति की इच्छा करनेवाले प्राणी को सुन्दर स्त्री इत्यादि अवयवी द्रव्यों का अभिमान (मोह) नहीं करना चाहिये, यह कहा गया है, न कि बाह्य पदार्थ-रूप अवयवी द्रव्य का निषेध किया गया है। जिस प्रकार रूप, रस आदि विषयों में रागादि दोषों के उत्पन्न करनेवाले मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करने को कहा गया है, न कि रूप, रस आदि विषयों की संसार में सत्ता ही नहीं है ऐसा कहा गया है। उसी प्रकार बाह्य पदार्थरूप अवयवी द्रव्यों के मिथ्याज्ञान (मोह) को निवृत्त करने के लिये ही निषेध किया गया है, न कि उनकी सत्ता का निषेध मिथ्या माने हुए पदार्थों से ही अनर्थ (दुःख) होता है, अन्यथा नहीं। इस विषय में **इन्द्रियार्थाः** (इन्द्रियों से जानने योग्य विषय), **हि** (निश्चय से), **यदि** (यदि), **स्युः** (हों), **अविकल्पिताः** (बिना मोह के), **सर्वः** (संपूर्ण), **अनर्थः** (दुःख से), **सज्येन** (युक्त होगा), **चरन्** (संसार में फैला हुआ), **इन्द्रियगोचरः** (इन्द्रियों से विषय किया गया)। यह प्रमाण-रूप श्लोक वार्तिककार ने यहाँ उद्धृत किया है ॥ १२ ॥

(अवयवी को न मानने वाले के दूसरे हेतु का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—द्वितीय अध्याय के '**सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धे**' अर्थात् अवयवी न मानने से किसी का ग्रहण न होना इस आशय से सिद्धान्ती ने अवयवी न माननेवाले का मत पहले खण्डन किया है, तो भी इस प्रमाण में पाँचवें सूत्र के '**पूर्वहेतु**' पद से द्वितीयाध्याय के विषय का स्मरण होकर पूर्वपक्षी पुनः उसी विषय में आक्षेप करता है—

पदपदार्थ—केशसमूहे = केशों के समुदाय में, **तैमिरिकोपलब्धिवत्** = तिमिर नाम के रोग से नष्ट नेत्रवाले को केशसमूह के ज्ञान के समान, **तदुपलब्धिः**=परमाणु समुदाय का ज्ञान होता है ॥१३॥

भावार्थ—द्वितीयाध्याय में सिद्धान्ती ने अवयवी को न मानने से किसी पदार्थ का संसार में

यथैकैकः केशस्तैमिरिकेण नोपलभ्यते, केशसमूहस्तूपलभ्यते तथैकैकोऽणुर्नोपलभ्यते अणुसञ्चयस्तूपलभ्यते तदिदमणुसमूहविषयं ग्रहणमिति ॥ १३ ॥

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

यथाविषयमिन्द्रियाणां पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणानां पटुमन्दभावो भवति। चक्षुःखलु प्रकृष्यमाणं नाविषयं गन्धं गृह्णाति, निकृष्यमाणं च न स्वविषयात्

ग्रहण न होना, यह जो आपत्ति दी थी, इस आपत्ति का कारण इस सूत्र में पूर्वपक्षी ने ऐसा दिखाया है कि – जिस प्रकार तिमिर नामक नेत्रों के दोष से युक्त प्राणियों को एक केश का ग्रहण नहीं होता किन्तु केशसमूह का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय होने के कारण एक परमाणु का प्रत्यक्ष न होने पर भी परमाणु समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः परमाणु समूहरूप ही घटादि द्रव्यों को मानने से काम चल जायगा, इस कारण यदि अवयवी न मानें तो किसी का ग्रहण न होगा, यह आपत्ति नहीं आ सकती ॥ १३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार यद्यपि एक केश का तिमिर दोष युक्त नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि केश के समूह का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार एक-एक परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण नहीं दिखाई पड़ता तो भी परमाणुओं के समूह का दर्शन होता है। अतः घटादि द्रव्यों में परमाणु समूह का प्रत्यक्ष से ज्ञान हो सकता है ॥ १३ ॥

इस पुनः पूर्वपक्षी के मत का सिद्धान्तिमत से सूत्रकार खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—स्वविषयानतिक्रमेण = अपने-अपने विषयों को न छोड़कर, इन्द्रियस्य=चक्षु आदि इन्द्रिय के, पटुमन्दभावात् = पटुता (सामर्थ्य-तीक्ष्णता) तथा मन्दता होने के कारण, विषयग्रहणस्य = रूपादि विषयों के ज्ञान, तथाभावः = पटुता तथा मन्दता होती है, न = नहीं होती, अविषये = जो अपना विषय नहीं है उसमें, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति ॥ १४ ॥

भावार्थ—इन्द्रिय (चक्षु आदिकों के) पटु (तीखे) होने तथा मन्द होने से रूपादि विषयों के ज्ञान में पटुता तथा मन्दता होती है। किन्तु जिस चक्षु से रूप विषय का ज्ञान होता है केवल उस चक्षु से गृहीत होनेवाले रूप विषय ही ज्ञान होने में उसके पटुता और मंदता का नियम है क्योंकि अपने-अपने विषयों को छोड़कर दूसरे इन्द्रियों के विषयों के ग्रहण में यह पटुता और मन्दता का नियम नहीं होता, अर्थात् वह समर्थ (ग्रहण करने योग्य भी) चक्षु इन्द्रिय शब्द का या गन्धादि दूसरे इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान उत्पन्न नहीं करते, अतः बाह्य इन्द्रियों की अविषय में प्रवृत्ति न होने के कारण जबकि अतीन्द्रिय होने से परमाणु किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है, तो उसके समूह का भी चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता, यह सिद्धान्तसूत्र का आशय है ॥ १४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अपने-अपने रूप आदि विषयों के ज्ञान होने में ही पटुता (सामर्थ्य सिद्धान्त) तथा मन्दता के होने के कारण रूपादि विषयों के ज्ञान होने में पटुता (विषयता) तथा मन्दता होती है। क्योंकि बहुत अच्छे भी नेत्र अपने अविषय (विषय न होनेवाले) गन्ध को ग्रहण नहीं करता, तथा खराब होने पर भी नेत्र अपने रूप विषय को नहीं छोड़ता। अतः वह यह चक्षु में तिमिर दोष से दूषित प्राणी चक्षु

प्रच्यवते। सोऽयं तैमिरिकः कश्चिच्चक्षुर्विषयं केशं न गृह्णाति कश्चिद् गृह्णाति केशसमूहम्। उभयं ह्यतैमिरिकेण चक्षुषा गृह्यते। परमाणवस्त्वतीन्द्रिया इन्द्रियाविषयभूता न केन चिदिन्द्रियेण गृह्यन्ते समुदितास्तु गृह्यन्ते, इत्यविषये प्रवृत्तिरिन्द्रियस्य प्रसज्येत। न जात्वर्थान्तरमणुभ्यो गृह्यते इति। ते खल्विमे परमाणवः सन्निहितागृह्यमाणा अतीन्द्रियत्वं जहति वियुक्ताश्चागृह्यमाणा इन्द्रियविषयत्वं न लभन्ते इति। सोऽयं द्रव्यान्तरानुत्पत्तावतिमहान् व्याघात इत्युपपद्यते द्रव्यान्तरं यद्ग्रहणस्य विषय इति।

सञ्चयमात्रं विषय इति चेद् न सञ्चयस्य संयोगभावात्तस्य चातीन्द्रियस्या-ग्रहणादयुक्तम्। सञ्चयः खल्वनेकस्य संयोगः स च गृह्यमाणाश्रयो गृह्यते नातीन्द्रियाश्रयः, भवति हीदमनेन संयुक्तमिति तस्मादयुक्तमेतदिति। गृह्यमाणस्य चेन्द्रियेण विषयस्याऽऽवरणाद्यनुपलब्धिकारणमुपलभ्यते तस्मा-न्नेन्द्रियदौर्बल्यादनुपलब्धिरणूनाम्, यथा नेन्द्रियदौर्बल्याच्चक्षुषा ऽनुपलब्धि-र्गन्धादीनामिति ॥ १४ ॥

इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले एक केश को नहीं देख सकता, किन्तु वह प्राणी केश के समूह को चक्षुरिन्द्रिय से देखता है और तिमिर दोष से रहित चक्षु से एक केश तथा केशसमूह भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। अतः परमाणुहेतु इन्द्रियों के विषय न होने के कारण किसी इन्द्रिय से गृहीत ही नहीं हो सकते, तथापि परमाणुओं के समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है ऐसा पूर्वपक्षी के मत से न मानने पर चक्षु इन्द्रिय की अपने अविषय में प्रवृत्ति होती है यह दोष आ जायगा, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत से परमाणुओं से भिन्न अवयवी द्रव्य का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि वह अवयवों से भिन्न अवयवों को नहीं मानता। इस कारण इन समूहरूप परमाणुओं का घटादि द्रव्यों में यदि प्रत्यक्ष होने लगे तो अतिन्द्रियता (इन्द्रिय का विषय न होना) इसको छोड़ देना होगा। क्योंकि विपुल (भिन्न-भिन्न) परमाणुओं का प्रत्यक्ष न होने के कारण वे चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं होंगे। वह यह इस परमाणुरूप अवयवों से घटादि रूप दूसरे द्रव्य अवयवी की उत्पत्ति न मानने से बड़ा भारी उपरोक्त (व्याघात) विरोध आता है, इस कारण अवयवों से भिन्न दूसरा घटादि रूप अवयवी द्रव्य हो सकता है, जिसका चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। (पुनः पूर्वपक्षी यहाँ ऐसी यदि शंका करे कि—'यद्यपि एक परमाणु अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं होता तो भी उसके संचय (समुदाय) का चक्षुइन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो जायगा' तो यह नहीं हो सकता क्योंकि उन परमाणुओं के समुदाय के संयोगरूप होने के कारण उसके भी अतीन्द्रिय होने से ग्रहण न हो सकने के कारण पूर्वपक्षी की शंका अयुक्त है। क्योंकि अनेक परमाणुओं का समुदाय केवल संयोगसम्बन्ध है जिसके आधार का ग्रहण होने से ही ग्रहण हो सकता है, न कि अतिन्द्रिय परमाणुओं के संयोग का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि यह इसमें संयुक्त है ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस कारण परमाणु समुदाय का प्रत्यक्ष होगा, ऐसा पूर्वपक्षी का मत असंगत है। परमाणुओं के ग्रहण न होने में कोई प्रतिबंधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस विषय का इन्द्रिय से ग्रहण होता है, उसी विषय के उपलक्ष्य न होने में आवरण कारण कहा जाता है। इस कारण जिस प्रकार

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥

यः खल्ववयविनोऽवयवेषु वृत्तिप्रतिषेधादभावः सोऽयमवयवस्यावयवेषु प्रसज्यमानः सर्वप्रलयाय वा कल्पेत; निरवयवाद्वा परमाणुतो निवर्त्तेत, उभयथा चोपलब्धिविषयस्याभावः तदभावादुपलब्ध्यभावः। उपलब्ध्याश्रयश्चायं वृत्तिप्रतिषेधः स आश्रयं व्याघ्नन्नात्मघाताय कल्पत इति ॥ १५ ॥

चक्षु इन्द्रियों की दुर्बलता (दोष) से गन्धादिकों का ग्रहण नहीं होता, इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय की दुर्बलता से परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा मानना सर्वथा असंगत है ॥ १४ ॥

अवयवी द्रव्य को अवयवों से भिन्न न मानने के पक्ष में सूत्रकार दूसरा दोष देते हैं—

पदपदार्थ—अवयवावयविप्रसंगः च = और अवयव तथा अवयवी के विषय में पूर्वपक्षी की वृत्ति की आपत्ति, एवमाप्रलयात् = संपूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध करेगी ॥ १५ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी ने अवयवी के अवयवों में कात्स्न तथा एकदेश से न रह सकने के कारण जो अवयवी के न होने की आपत्ति दी थी, यह आपत्ति अवयवों को भी अपने अपने अवयवों में न रह सकने के कारण होने की संभावना होने के कारण अवयवों का भी अभाव सिद्ध होने से संपूर्ण पदार्थमात्र का अभाव सिद्ध हो जायगा ॥ १५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ने अवयवी के अवयवों में न रह सकने से अवयवों का निषेध (अभाव) है ऐसा कहा था, वही निषेध अवयव के अपने-अपने अवयवों में न रह सकने से आने के कारण संपूर्ण पदार्थों का संसार में अभाव सिद्ध कर देगा। अथवा वह निषेध अवयवरहित परमाणुओं से निवृत्त हो जायगा अर्थात् यदि पूर्वपक्षी के कहे हेतु से यदि अवयवी का अभाव सिद्ध हो, तो संपूर्ण अवयवों का ही अभाव सिद्ध होगा, ऐसा होने से केवल अवयवरहित परमाणु ही बिना निषेध के रह जायगा, जिससे पुनः व्याघातदोष हो जायगा इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि—दोनों प्रकार से उपलब्ध होनेवाले विषय (पदार्थों) का अभाव सिद्ध होगा और विषय के अभाव से विषय की उपलब्धि न होगी अर्थात् अवयववाले संपूर्ण पदार्थों (अवयवियों) का निषेध होने के कारण तथा परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से ग्रहण न होने के कारण भी संसार में किसी पदार्थ का ग्रहण न होने से संसार में कोई ग्रहण योग्य पदार्थ नहीं है, यह सिद्ध हो जायगा, और विषयों के न होने से उनका ज्ञान भी न होगा, जिससे संपूर्ण संसार के व्यवहार का ही उच्छेद हो जायगा (जिससे व्याघात कैसे होगा यह भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पूर्वपक्षी ने जो वृत्ति के विकल्पों से अवयवी (पदार्थों) का खण्डन किया है वह उस संपूर्ण का मूल है उपलब्धि (ज्ञान), जब उसी का खण्डन पूर्वपक्षी करता है तो बड़ा भारी व्याघात (विरोध) आता है, क्योंकि वह पूर्वपक्षी वृत्ति निषेध अपने आधारभूत उपलब्धि को नष्ट करने से अपना ही नाश करनेवाला हो जाता है अर्थात् पूर्वपक्षी का वृत्ति का विकल्प अपने आधाररूप उपलब्धि (ज्ञान) को खण्डन करता हुआ अपना ही खण्डन करता है। यह सिद्ध होता है (यहाँ पर तात्पर्यटीका में तीन प्रकार के पक्ष हो सकते हैं कि जो यह अवयवों में अवयवी के रहने के विकल्पों के न हो सकने से अवयवी के अभाव के होने की आपत्ति पूर्वपक्षी ने दिखाई है, वह या तो संसार में संपूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध करेगी, अथवा परमाणुओं से निवृत्त हो जायगी, या कहीं भी निवृत्त न होगी। उन तीनों पक्षों में से प्रथम तथा द्वितीय पक्ष के विकल्पों को लेकर

अथापि—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥

अवयवविभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निरवयवात्परमाणोर्निवर्त्तते न सर्वप्रलयाय कल्पते, निरवयवत्वं खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात् । लोष्टस्य खलु प्रविभज्यमानावय-

यह सिद्धान्तसूत्र है कि जिस प्रकार यह वृत्ति का विकल्प स्थूल घटादि अवयवियों में होता है उसी प्रकार उसके अवयव तथा अवयव के अवयवों में भी होने के कारण प्रलय (सर्वनाश) का बोधक होगा जिससे संसार में कोई दिखाई पड़ने योग्य पदार्थों के न होने के कारण निराधार वृत्ति विकल्प की उत्पत्ति ही न होगी। और इस सूत्र में 'आप्रलयात्' प्रलय तक इस पद से 'आपरमाणोः' परमाणु तक ऐसा भी लेना चाहिये। परमाणुओं के न दिखाई पड़ने के कारण अतीन्द्रिय होने से पुनः पूर्वपक्षी का वृत्तिविकल्प निराधार ही हो जायगा। यही दोष आता है। इसी की सूचना भाष्यकार ने **'निरवयवाद्वापरमाणुतो निवर्तेत'** इस भाष्य में दिखाई है। किन्तु वृत्तिकार ने इस प्रकार पूर्वपक्षी का दिखाया हुआ वृत्ति-विकल्प अवयव तथा अवयवी में भी प्राप्त होता है **'आप्रलयात्'** अर्थात् अभाव में पर्यवसित होता है, जिससे संसार में संपूर्ण पदार्थों का अभाव ही सिद्ध होने के कारण कोई संसार के पदार्थ दिखाई न पड़ेंगे इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि—**'अवयवी के न मानने पर संसार के किसी भी पदार्थ का ग्रहण न होगा'** ॥ १५ ॥

(उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करनेवाले सिद्धान्तसूत्र के दूसरे हेतु का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—और भी—

पदपदार्थ—न = नहीं हो सकता, प्रलयः=संपूर्ण पदार्थों का अभाव, अणुसद्भावात् = परमाणुओं के वर्तमान होने के कारण ॥ १६ ॥

भावार्थ—यद्यपि प्रलय को मानकर पूर्वसूत्र में सिद्धान्तिमत से सूत्रकार ने **'आप्रलयात्'** प्रलय तक ऐसा कहा है तथापि वस्तुतः प्रलय (संपूर्ण पदार्थों का अभाव) नहीं ही हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाले संसार के पदार्थों के परमाणुरूप कारण प्रलयावस्था में रहते ही हैं ॥ १६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की सिद्धान्ती के मत से व्याख्या करते हैं कि)—अवयवों के विभाग को लेकर ही यह पूर्वपक्षी ने वृत्ति के विकल्पों को दिखाया था कि जहाँ अवयव होते हैं वहीं विराम होता है, इस कारण संपूर्ण अवयवी पदार्थों के सत्ता का निषेध करता हुआ भी वह वृत्ति विकल्प परमाणुओं की सत्ता को स्पर्श नहीं करता क्योंकि परमाणु निरवयव हैं, अतः यह पूर्वपक्षी की आपत्ति परमाणुओं के सत्ता का निषेध नहीं कर सकती जिससे संसार में सब का अभाव ही सिद्ध होगा। (परमाणुओं के निरवयव होने में हेतु दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—परमाणु की निरवयवता (अवयवरहित होना) यह है कि अवयवी घटादि पदार्थों के अवयवों का विभाग होते-होते अत्यन्त अल्प (अणु) परिमाण होने के प्रसंग का, जिससे और अत्यन्त अणुपरिमाण नहीं होता, उसमें रहना अर्थात् घटादि अवयवि द्रव्य के विभाग के पश्चात् पुनः विभाग इस क्रम से छोटा, उससे भी छोटा (अणु) अवयव होता है, इसको बतलानेवाला जिसमें विभाग होता है, अर्थात् जिसके आगे अवयवों का विभाग नहीं जाता, वही अवयव विभाग के समाप्त होने से निरवयय, परमअणु ऐसा कहते हैं। जिस प्रकार मृत्तिका के ढेले के अवयवों का विभाग (अवयवों को अलग करने) से छोटा, उससे छोटा, उससे

वस्याल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति स चायमल्पतरप्रसङ्गः यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्त्तते यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे इति ॥ १६ ॥

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥

अवयवविभागस्यानवस्थानाद् द्रव्याणामसङ्ख्येयत्वात् त्रुटित्वनिवृत्तिरिति ॥ १७ ॥

इति चतुर्दशभिःसूत्रैरवयविप्रकरणम् ।

अथेदानीमानुपलम्भिकः सर्वं नास्तीति मन्यमान आह—

भी छोटे-छोटे (अणु), आगे-आगे मृत्तिका के ढेले के अवयव विभक्त होते हैं, उसी प्रकार जो अवयवी का सबसे अणु अवयव रह जाता है वही परमाणु कहाता है। इस प्रकार वह यह अत्यन्त अवयवों के छोटे होने की आपत्ति, जिससे और अत्यन्त छोटा (अणु) परिमाण नहीं होता वहाँ से हट जाती है। और जिससे और दूसरा अत्यन्त छोटा (अणु) नहीं होता उसी को हम परमाणु ऐसा कहते हैं ॥ १६ ॥

इस अवयवों के पूर्वोक्त विभाग के अन्तर्हित व्यक्त परमाणु के नहीं मान सकते, इस आशय से सूत्रकार सिद्धान्ती के भाव कहते हैं—

पदपदार्थ—परं वा = अथवा परे जाते हैं, त्रुटेः = त्र्यसरेणु के ॥ १७ ॥

भावार्थ—अथवा त्रुटि (त्र्यसरेणु) से भी जो आगे है उसे परमाणु कहते हैं ऐसा तात्पर्यटीकाकार का यहाँ मत है। कोई विद्वान् द्व्यणुक को ही त्रुटि कहते हैं। अतः यह अवयवी द्रव्यों के अवयवों का विभाग मानना नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की सिद्धान्तिमत से व्याख्या करते हैं कि)—अवयवी द्रव्यों के अवयवों की वही परस्थिति न मानने से परमाणुरूप द्रव्यों के गणना योग्य न होने के कारण अनन्त होने से त्रुटिता ही निवृत्त हो जायगी। अर्थात् झरोखों में दिखाई पड़नेवाली सूर्य के किरणों में वर्तमान सूक्ष्म रज (धूलि) को त्र्यसरेणु कहते हैं, यदि उसके पश्चात् दो-तीन स्थान पर अवयवों के विभाग की समाप्ति न मानी जाय, तो अवयवों के विभाग की वही स्थिति न होने के कारण सम्पूर्ण द्रव्यों के असंख्य अवयव होने से त्रुटि की त्रुटित्व ही न रहेगी, जिससे, सर्षप (सरसों) द्रव्य तथा सुमेरु पहाड़ के समान परिमाण वाला ही अर्थात् दोनों के अवयवों का अन्त न होना समान ही है जिससे एक सरसों तथा सुमेरु पर्वत दोनों अवयवियों का परिमाण समान होने की आपत्ति आयगी, अतः अवयवी के यह अवयवों का विभाग कहीं स्थिर होता है ऐसा मानना आवश्यक है, इससे अवयवी अवयवों से भिन्न पदार्थ ही सिद्ध होता ॥ १७ ॥

(३) प्रासंगिक-परमाणुओं के निरवयता का प्रकरण

इस प्रकार अवयवी के प्रकरण को समाप्त करने के पश्चात् उसी के विषय के विचाररूप उपोद्घात संगति से अवयवरहित पदार्थ भी संसार में है यह सिद्ध करने के लिये निरवयव के परीक्षा का प्रकरण आरम्भ करते हैं ऐसी इस प्रकरण के विषय में परिशुद्धिकार की संमति है और सम्पूर्ण संसार के शून्यरूप होने के कारण परमाणुओं की सम्भावना नहीं हो सकती इस मत का खण्डन करने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ऐसा वृत्तिकार का मत है। (जिसमें सम्पूर्ण संसार शून्यरूप है इससे पूर्वपक्ष को दिखाते हुए भाष्यकार पूर्वपक्षी के सूत्र का अवतरण

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥

तस्याणोर्निरवयवस्य नित्यस्यानुपपत्तिः। कस्मात्? आकाशव्यतिभेदात्। अन्तर्बहिश्चाणुराकाशेन समाविष्टो व्यतिभिन्नो व्यतिभेदात्सावयवः, सावयवत्वादनित्य इति ॥ १८ ॥

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥

अथैतन्नेष्यते परमाणोरन्तर्नास्त्याकाशमित्यसर्वगतत्वं प्रसज्यते इति ॥१९॥

देते हैं कि)—सांप्रत पदार्थमात्र की उपलब्धि संसार में नहीं होती, ऐसा मानने वाला पूर्वपक्षी कहता है (यद्यपि चतुर्थाध्याय में ही संसार की कारणशून्यता है इसका खण्डन हो चुका है तथापि यहाँ संसार शून्यरूप है इसका खण्डन करते हैं अतः पुनरुक्ति की शंका नहीं हो सकती')—

पदपदार्थ—आकाशव्यतिभेदात् = आकाश से परमाणु में सर्वत्र सम्बन्ध होने के कारण, तदनुपपत्तिः = निरवयव परमाणु नहीं हो सकते ॥ १८ ॥

भावार्थ—आकाश व्यापक होने के कारण परमाणुओं में बाहर-भीतर सर्वत्र आकाश का सम्बन्ध व्याप्त होने से परमाणु सावयव हैं अतः वे परमाणु नित्य नहीं हैं, किन्तु अनित्य हैं, यह सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षी के सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के 'तदनुपपत्ति' इस शब्द का अर्थ करते हैं उस अवयवरहित नित्य परमाणु की सिद्धि नहीं हो सकती। (प्रश्न)—क्यों? (उत्तर)—आकाश का सर्वत्र व्यतिभेद (सम्बन्ध) होने के कारण। क्योंकि परमाणु भीतर-बाहर सर्वत्र आकाश से व्यतिभिन्न समावेष्ट (व्याप्त) है। जिससे वह परमाणु अवयव युक्त है और अवयव का आधार होने के कारण अनित्य है। इस कथन से परमाणु अवयव युक्त है आकाश से समाविष्ट (मिला हुआ) होने से, जल से युक्त घट के समान यह अनुमान पूर्वपक्षी ने यहाँ दिखाया है, अतः परमाणु के सावयव होने के कारण, पूर्वोक्त वृत्तिविकल्प से उसका अभाव है। अतः पूर्वपक्षसूत्र के अनुसार उसका अभाव ही सिद्ध होता है इस संसार में भाव पदार्थों की सत्ता नहीं ही है, सिद्धान्ती के पूर्वोक्त कथनानुसार यद्यपि उक्त वृत्तिविकल्प अनाधार है, तथापि लोकव्यवहार के अनुसार वह केवल कल्पनामात्र है, वास्तविक संसार में भावपदार्थों की शून्यता ही है, क्योंकि मिथ्याज्ञान से भी वास्तविक ज्ञान होता है, ऐसा गवय को स्वरूप से गवय के ज्ञान के समान देखने में आता है यह पूर्वपक्षी का गूढ़ आशय है ॥ १८ ॥

(हम आकाश का सर्वत्र समावेश नहीं मानेंगे तो उससे परमाणुओं के निरवयवता का खण्डन कैसे होगा? ऐसा यदि सिद्धान्ती कहे तो पूर्वपक्षी पुनः आकाश के समावेश को ही सिद्ध करता हुआ दूसरे पूर्वपक्षसूत्र में कहता है)—

पदपदार्थ—आकाशासर्वगतत्वं वा = अथवा आकाश का सर्वव्यापकता न होगी ॥ १९ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती परमाणुओं के बाहर-भीतर आकाश समाविष्ट नहीं है, ऐसा कहे तो आकाश सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त नहीं होता यह आपत्ति आ जायगी ॥ १९ ॥

(इसी आशय से द्वितीय पूर्वपक्षिसूत्र को व्याख्या करते हैं कि)—यदि परमाणुओं के भीतर-बाहर आकाश समाविष्ट (सम्बद्ध) नहीं है ऐसा सिद्धान्ती के मत से माना जाय तो आकाश द्रव्य का सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यों के साथ संयोगरूप उसकी व्यापकता सिद्ध न होगी ॥ १९ ॥

सिद्धान्ती के मत से पूर्वपक्ष का खण्डन सूत्रकार करते हैं—

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥२०॥

अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते। बहिरिति च व्यवधायकमव्यवहितं कारणमेवोच्यते। तदेतत्कार्यद्रव्यस्य सम्भवति नाणोरकार्यत्वात्। अकार्ये हि परमाणावन्तर्बहिरित्यस्याभावः। यत्र चास्य भावोऽणुकार्यं तन्न परमाणुः, यतो हि नाल्पतरमस्ति स परमाणुरिति ॥ २० ॥

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—अन्तः = भीतर, बहिः च = और बाहर, कार्यद्रव्यस्य = अवयविरूप कार्यद्रव्य के, कारणान्तरवचनात् = अवयवी से भिन्न दूसरे कारण की उक्ति होने के कारण, अकार्ये = कार्यभिन्न परमाणुओं में, तदभावः = भीतर-बाहर यह व्यवहार नहीं हो सकता ॥ २० ॥

भावार्थ—बाहरी अवयवों से आच्छादित (न दिखाई पड़नेवाले) अवयवों के भीतर ऐसा कहा जाता है और व्यवधान करनेवाले (छिपानेवाले) तथा स्वयं व्यवधानरहित अवयवों को बाहर ऐसा कहा जाता है जो घटादि कार्य अवयवी द्रव्यों में ही हो सकता है, नकि परमाणुओं में, क्योंकि वे कार्य नहीं होते, इस कारण नित्य अवयवरहित परमाणुओं में यह बाहर का भाग है, यह भीतरी भाग है यह व्यवहार नहीं हो सकता, जिसमें यह दोनों व्यवहार होता है, वह न परमाणुओं का कार्य है, न वह परमाणु हैं, क्योंकि जिससे अणु (छोटा) नहीं होता उसे परमाणु कहते हैं, अतः पूर्वपक्षी का परमाणुओं में आकाश समावेश को लेकर अवयव होने से अनित्यता का पूर्वपक्ष असंगत है ॥ २० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में 'अन्तः' इस शब्द का अर्थ है दूसरे अवयवों से विहित (ढँपे हुए) अवयवी के अवयवरूप कारण तथा 'बहिः' इस शब्द का अर्थ है दूसरे के ढाँपने (व्यवधापक) वाले तथा स्वयं दूसरों से अव्यहित (न ढँपे हुए) अवयवरूप अवयवी के कारण। ये दोनों भीतर तथा बाहर के भागों का व्यवहार घटादि रूप कार्यद्रव्य में हो सकता है, नकि कार्य से भिन्न नित्य होने के कारण परमाणुओं में। क्योंकि जो किसी का कार्य नहीं है, ऐसे निरवयव नित्य परमाणुओं में भीतर तथा बाहर ये भाग नहीं ही हैं। जिससे बाहर-भीतर ऐसा व्यनहार होता है वह परमाणुओं का कार्य है, वह परमाणु (परमअणु) नहीं हैं, क्योंकि जिससे अत्यन्त अल्प (छोटा) नही होता उसे परमाणु कहते हैं। अतः वह अवयव वाला न होने के कारण उसमें भीतर-बाहर यह व्यवहार हो ही नहीं सकता ॥२०॥

पूर्वपक्षी ने जो आकाश में अव्यापकता होने का दोष दिया था उसका खण्डन करते हुए आकाश में सर्वगत्वतारूप व्यापकता की सिद्धि करते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—शब्दसंयोगविभावात् च = शब्द तथा संयोग गुण की विभुता (सर्वत्र होना) के कारण भी, सर्वगतम्=आकाश सर्वगत (व्यापक) होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस किसी भी स्थान में उत्पन्न हुए शब्द आकाश में ही व्याप्त होते हैं अतः उनका आकाश ही आधार भी होता है। तथा मन, पृथिव्यादि परमाणु और उनके कार्यों के संयोग भी आकाश ही में व्याप्त होते हैं जिनका आकाश ही आधार होता है, क्योंकि विना आकाश के संयोग के कोई भी पृथिव्यादि पाँच मूर्तद्रव्य उपलब्ध नहीं होते। इस कारण पूर्वपक्षी का दिया हुआ आकाश में सर्वगत न होने का दोष नहीं आ सकता ॥ २१ ॥

यत्र क्वचिदुत्पन्नाः शब्दाः विभवन्त्याकाशे तदाश्रया भवन्ति, मनोभिः परमाणुभिस्तत्कार्यैश्च संयोगा विभवन्त्याकाशे, नासंयुक्तमाकाशेन किञ्चिन्मूर्त्तद्रव्यमुपलभ्यते, तस्मान्नासर्वगतमिति ॥ २१ ॥

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥ २२ ॥

संसर्पता प्रतिघातिना द्रव्येण न व्यूह्यते यथा काष्ठेनोदकम्। कस्मात् ?

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तमत से सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस किसी स्थान में उत्पन्न हुए शब्द आकाश में व्याप्त होते हैं, अर्थात आकाश में ही रहते हैं, अतः आकाश ही शब्दों का आश्रय होता है। मन, पृथिव्यादि परमाणु तथा उनके कार्यों के भी संयोग आकाश में ही व्याप्त होने के कारण आकाश ही मूर्तद्रव्यों के संयोग का भी आधार है, क्योंकि विना आकाश के संयोग के कोई भी मूर्त पृथिव्यादि द्रव्य देखने में नहीं आता, अतः पूर्वपक्षी का 'आकाश का सर्वगत न होना' यह कथन सर्वथा असंगत है। इस सूत्र में 'सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम्' ऐसा पाठ वार्तिककार को संमत है। जिसका जिस कारण संपूर्ण मूर्तिवाले द्रव्यों के साथ संयोग आकाश में व्याप्त होकर आकाश में आश्रित होते हैं—अर्थात भेरीदण्ड संयोगादि अपने कारण से उत्पन्न हुए सभी शब्दों का आकाश ही आश्रय होता है, अतः आकाश सर्वगत है ऐसा अर्थ होता है ॥ २१ ॥

(यदि आकाश सर्वगत (व्यापक) हो, तो मूर्ति वाले द्रव्यों से उस आकाश के प्रतिबंध होने के कारण गति रुक जायगी, तथा जलादिकों से जिस प्रकार जल समुदाय का दूसरा व्यूह नहीं बनता ऐसा नहीं है, इस कारण आकाश सर्वगत नहीं हो सकता। इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अव्यूहाविष्टंभविभुत्वानि च = टक्कर लगने पर न लौटनारूप (अव्यूह), और देश में गति का न रुकनारूप (अविष्टंभ) तथा व्यापकता भी, आकाशधर्माः=आकाश के धर्म हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—जिस कारण आकाश में टक्कर लगने पर लौट आना तथा उत्तरदेश में गति रुकना ये दोनों भौतिक पदार्थों के धर्म नहीं पाये जाते इस कारण आकाश सर्वगत व्यापक है यह अवश्य मानना होगा ॥ २२ ॥

(सूत्र का अर्थ की व्याख्या करते हुए भाष्यकार 'अव्यूह' शब्द का अर्थ दिखाते हैं कि)—संसर्पण करने वाले (क्रिया वाले) तथा इसी कारण प्रतिघात करने वाले (रोकने वाले) किसी भी मूर्तिमान् द्रव्य से आकाश व्यूह को प्राप्त नहीं होता, अर्थात आकाश का रूप बिगड़ता नहीं, जिस प्रकार जब काष्ठ से स्थिर जल, टक्कर खाता है तो जल का दूसरा चंचल स्वरूप हो जाता है उसी प्रकार आकाश का स्वरूप किसी द्रव्य से टक्कर खाने पर नहीं बदलता। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—आकाश के अवयवरहित होने से। अर्थात अवयव वाले ही द्रव्य को टक्कर देने वाले द्रव्य से अवयव बदलते हैं, अतः अवयव न होने से आकाश का रूप नहीं बदलता। (आगे के सूत्र के 'अविष्टम्भ' शब्द का अर्थ भाष्यकार करते हैं कि)—आकाश के पास आने वाला और टक्कर देने वाला दूसरा द्रव्य आकाश से रुकता नहीं—अर्थात क्रिया वाले द्रव्य की क्रिया के उत्पत्ति का कारण गुण आकाश से रुकता नहीं। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—आकाश में स्पर्शरहित होने के कारण। अर्थात स्पर्श गुणाधार ही द्रव्य टक्कर देने वाले द्रव्य के क्रिया के कारण गुण को रोकता है, आकाश स्पर्श वाला न होने से रोक नहीं सकता। (यहाँ वार्तिककार ने अव्यूह और विष्टंभ दोनों में

निरवयवत्वात् । सपर्श्च प्रतिघाति न विष्टभ्नाति नास्य क्रियाहेतुं गुणं प्रतिबध्नाति, कस्मात् ? अस्पर्शत्वात् , विपर्यये हि विष्टम्भो दृष्ट इति सावयवे स्पर्शवति द्रव्ये दृष्टं धर्मं विपरीते नाशङ्कितुमर्हति । अण्ववयवस्याणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेधः ।

सावयवत्वे चाणोरण्ववयवो ऽणुतर इति प्रसज्यते । कस्मात् ? कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेददर्शनात् । तस्मादण्ववयवस्याणुतरत्वम् , यस्तु सावयवो ऽणुकार्यं तदिति । तस्मादणुकार्यमिदं प्रतिषिध्यते इति । कारणविभागाच्च कार्यस्यानित्यत्वं नाकाशव्यतिभेदात् । लोष्टस्यावयवविभागादनित्यत्वं नाकाशसमावेशादिति ॥ २२ ॥

मूर्त्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ २३ ॥

'अस्पर्श होना ही' हेतु दिया है और कहा भी है कि जो स्पर्शाश्रय होता है वही प्रतिहत होने पर लौटता है और रोकता भी है, आकाश ऐसा नहीं है, ऐसा)। (इस प्रकार स्पर्शरहित में अव्यूहन तथा अविष्टंभ दोनों दिखाकर स्पर्शाश्रय में व्यूहन और विष्टम्भ होते हैं इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इसके विपरीत में विष्टंभ देखने में आता है—इस कारण आप पूर्वपक्षी अवयव वाले तथा स्पर्श के आधार द्रव्यों में दिखाई पड़ने वाले व्यूहन तथा विष्टंभ इन दोनों धर्मों की अवयवहीनता तथा स्पर्शरहित आकाश में होने की शंका नहीं कर सकते। (आगे यदि पूर्वपक्षी परमाणु अनित्य है, कार्य होने से पाट के समान, ऐसा अनुमान परमाणुओं को अनित्य सिद्ध करने के लिये दें, तो उसका खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—परमाणुओं में कार्य होने का निषेध भी करना होगा, क्योंकि यदि परमाणु कार्य होंगे, तो, अवयव वाले होंगे, तो परमाणु से भी छोटे होंगे, इस प्रकार उनके अवयव भी मानने पड़ेंगे जिससे अत्यन्त अवयवों की कल्पना करने से अनवस्था दोष आ जायगा। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—क्योंकि कार्य और कारण द्रव्यों का भिन्न परिमाणु देखने में आता है, जिससे परिमाणु का अवयव उससे भी अधिक अणु होगा, और भी जो सावयव है वह परमाणु का ही कारण है, इसी कारण परमाणु के कार्य होने का निषेध किया जाता है। (आगे **'आकाशव्यतिभेदात्'** इस पूर्वपक्षी ने दिये हेतु का खण्डन भाष्यकार ऐसा करते हैं कि)—आकाश के सर्वत्र व्याप्त होने से कार्य घटादि अनित्य नहीं होते किन्तु अपने अवयवों के परस्पर विभाग के कारण कार्य का नाश होता है, अतः जिस प्रकार मृत्तिका के अवयवों के विभाग ही से मृत्तिका कर्म का नाश होता है, नकि उसमें आकाश का समावेश होने से, उसी प्रकार यदि परमाणुओं का नाश होगा तो उसके अवयवों के विभाग से ही होगा नकि आकाश के समावेश से।

परमाणुओं को उत्पन्न करने वाले अवयव नहीं होते यह दिखा चुके हैं, अतः परमाणुओं के अवयव नहीं उसे ही उनका विभाग होना असंभव होने के कारण परमाणुओं का नाश नहीं हो सकता इस कारण परमाणु नित्य हैं यही सिद्धान्त संगत है ॥ २२ ॥

शून्यतावादी के मत से पुनः सूत्रकार आक्षेप करते हैं—

पदपदार्थ—मूर्तिमतां च = और मूर्ति वाले उन परमाणुओं के, संस्थानोपपत्तेः = परिमाणविशेष के होने के कारण, अवयवसद्भावः = अवयवों की सत्ता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—अर्थात् परमाणुओं के भी घटादिकों के समान मूर्त होने के कारण तथा परिमाण-

परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थानं त्रिकोणं चतुरस्रं समं परिमण्डलमित्युपपद्यते, यत्तत्संस्थानं सो ऽवयवसन्निवेशः, परिमण्डलाश्चाणवस्तस्मात्सावयवा इति ॥ २३ ॥

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥

मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्याम् अणुभ्यां सयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते । व्यवधानेनानुमीयते पूर्वभागेन पूर्वेणाणुना संयुज्यते परभागेन परेणाणुना संयुज्यते, यौ तौ पूर्वापरौ भागौ तावस्यावयवौ एवं सर्वतः संयुज्यमानस्य सर्वतो भागा अवयवा इति ॥ २४ ॥

विशेष के आधार होने के कारण भी परमाणु सावयव हैं यह सिद्ध होता है। वृत्तिकार ने संस्थान-विशेष (परिमाणु) होने में 'मूर्तिमतां' इस पद के हेतु रक्खा है, जिससे मूर्ति के आधार होने के कारण ही परमाणुओं में परिमाणविशेषरूप संस्थान सिद्ध होता है—ऐसा इस सूत्र का अर्थ किया है ॥ २३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—परिमाण युक्त ही स्पर्श के आधार द्रव्यों का संस्थान त्रिकोण, चतुष्कोण, समान परिमण्डल (परिमाण) होता है ऐसा हो सकता है। जो यह संस्थान है वह है अवयवों की विशेष रचना। परमाणु भी उपरोक्त परिमाण वाले हैं, अतः वे सावयव हैं यह सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

परमाणु के सावयव होने में पूर्वपक्षिमत से सूत्रकार दूसरा हेतु दिखाते हैं—

पदपदार्थ—संयोगोपपत्तेः च = और परमाणुओं का परस्पर संयोग होने से भी ॥ २४ ॥

भावार्थ—मध्यभाग के वर्तमान परमाणु का आगे-पीछे रहने वाले परमाणुओं से संयोग होने से वह उन दोनों का व्यवधान करता है जिससे अनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि ये आगे-पीछे के दोनों परमाणु मध्य में वर्तमान परमाणु के अवयव हैं, अतः चारो तरफ से परमाणुओं का संयोग होने के कारण बीच के परमाणु के चारों तरफ के परमाणु अवयव हैं यह सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षी के द्वितीय हेतु की व्याख्या करते हैं कि)—जिस समय अधिक परिमाण वाले अवयवी द्रव्य को परमाणु उत्पन्न करते हैं उस समय मध्यभाग में वर्तमान परमाणु अपने आगे-पीछे रहने वाले दो परमाणुओं से संयुक्त होने के कारण उन दोनों का व्यवधान करता है, जिस व्यवधान से अनुमान किया जाता है कि—पूर्व भाग में पूर्व अणु तथा परभाग में पर अणु से उसका संयोग होता है, जो वे पूर्व तथा पर भाग हैं, वे दोनों उस मध्यवर्ती परमाणु के अवयव हैं। इस प्रकार चारों तरफ से संयुक्त होने वाले मध्य परमाणु के चारों तरफ रहने वाले संपूर्ण छः परमाणु उसके अवयव हैं, इस कारण भी परमाणु सावयव हैं और सावयव होने से अनित्य हैं यह सिद्ध होता है। यहाँ पर वार्तिककार कहते हैं कि—'यह सूत्र जो प्रथम 'संस्थानोपपत्तेः' इस सूत्र के हेतु से ही गतार्थ होता है, क्योंकि संयोगविशेष ही तो संस्थानवर्ती होती है' ऐसी शंका कर समाधान भी किया है कि नहीं गतार्थ नहीं है, क्योंकि अवयवों के विशेष संयोग को संस्थानवत्ता कहते हैं, और दूसरे सूत्र में सामान्यरूप से संयोगमात्र कहा गया है। इसी कारण आगे पुनरुक्ति दोष को हटाते हुए मूर्ति तथा संस्थान का भेद दिखाया है कि—'अव्यापक द्रव्य के अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ परमह्रस्व तथा परम अणु छः प्रकार परिमाण

यत्ताव 'न्मूर्तिमतां संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भाव' इति ? अत्रोक्तम् , किमुक्तम् ? विभागेऽल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्र निवृत्तेरण्ववयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति। स्पर्शवत्त्वाद्व्यवधानमाश्रयस्य चाव्याप्त्या भागभक्तिः। उक्तं चात्र स्पर्शवानणुः स्पर्शवतोरण्वोः प्रतिघाताद्व्यवधायको न सावयवत्वात्।

का नाम है मूर्ति, तथा संस्थान कहते हैं प्रथम नामक संयोग, जिसमें अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति का नाम है संयोग—ऐसा।

(इस प्रकार प्रसंग से प्राप्त सर्वशून्यतावादी के मत को दिखाकर उसका खण्डन करने के लिये पूर्वपक्षी के सूत्र ही का प्रारम्भ करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जो पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि 'मूर्ति वालों में संस्थान होने के कारण परमाणुओं के अवयव हैं' (जो २३ वें सूत्र में कहा है) इस विषय में हम कह चुके हैं। (प्रश्न)—क्या कहा है ? (उत्तर)—अवयवी के अवयवों का विभाग करते-करते जिससे अणु (छोटा) नहीं होगा, परमाणुओं से सबसे छोटे परिमाण की निवृत्ति हो जाती है तथा परमाणु का अवयव और भी उससे अधिक अणु (छोटा) हो जायगा इस आपत्ति के कारण परमाणुओं में कार्य होने का भी निषेध किया था (ऐसा हम कह चुके हैं)।

(यहाँ पर वार्तिककार ने और भी एक दोष ऐसा दिया है कि)—परमाणु, सावयव हैं, इस पूर्वपक्षी के प्रतिज्ञा के दोनों पदों में व्याघात भी आता है, क्योंकि सावयव शब्द का अर्थ है समान जाति के कारण से उत्पन्न तथ्य समान जाति के आधार में रहना। अवयव ही उसका आधार होगा। अतः परमाणु सावयव है ऐसा कहने से यह परमाणु है तथा कार्यविशेष भी है ऐसा आता है; कार्यविशेष भी हो और परमाणु भी हो यह परस्पर विरुद्ध है इत्यादि। (आगे २४ वें सूत्र में कहे हुए पूर्वपक्षी के हेतु का अनुवाद कर उसका खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—'संयोग के होने से भी' अर्थात् परमाणुओं के स्पर्शाश्रय होने से मध्य के परमाणु से आगे-पीछे के परमाणुओं का व्यवधान होगा और परमाणुओं का संयोग अपने आधार परमाणुओं से व्याप्ति न होने के कारण, संयोग के आधार होने से ही परमाणुओं के भाग अवयव (हिस्से) हैं यह सिद्ध होता है, ऐसी जो पूर्वपक्षी ने द्वितीय हेतु दिया था, उस पर भी हम सिद्धान्ती के मत से कह चुके हैं कि—परमाणु स्पर्शगुण का आश्रय है—स्पर्शाधार दो परमाणुओं का प्रतिघात (संयोगविशेष) करने से वह मध्य परमाणु आगे-पीछे के दो परमाणुओं का व्यवधान करता है नकि अवयव का आधार होने से अर्थात् जो एक परमाणु से दूसरे परमाणुओं का व्यवधान होता है, वह केवल परमाणुओं के स्पर्शाधार होने से ही होता है नकि सवयव होने से। (इस पर पुनः पूर्वपक्षी आपत्ति देता है कि)—'स्पर्श का आश्रय होने के कारण एक परमाणु से दूसरे दो परमाणुओं का व्यवधान होने पर भी वह परमाणुओं का संयोग अव्याप्यवृत्ति होने के कारण अपने आश्रय परमाणुओं का व्याप्त नहीं करता, इस कारण यह परमाणु भाग वाला है' इस प्रकार परमाणु में भाग (अवयव) की कल्पना की जाती है। अर्थात् परमाणुओं का संयोग आधार में व्याप्त न होने के कारण परमाणु के भाग हैं, अतः वह परमाणु सावयव हैं यह सिद्ध होता है। (इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसके उत्तर में भी हम कह चुके हैं कि—१६ वें तथा २२ वें सूत्र के भाष्य में अवयवी द्रव्यों के अवयवों का विभाग करते-करते अत्यन्त अल्प होने का प्रसंग जिससे और अधिक अल्प (छोटा) नहीं होता उसमें स्थिति मानने तथा यदि परमाणु को अवयव का आधार मानें तो वह और भी अत्यन्त अणु हो जायगा, इस आपत्ति से परमाणु कार्य

स्पर्शवत्त्वाच्च व्यवधाने सत्यणुसंयोगो नाश्रयं व्याप्नोतीति भागभक्तिर्भवति भागवानिवायमिति। उक्तं चात्र विभागेऽल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्राव-स्थानात् तदवयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति।

मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेः संयोगोपपत्तेश्च परमाणूनां सावयवत्व-मिति हेत्वोः—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

यावन्मूर्त्तिमद्यावच्च संयुज्यते तत्सर्वं सावयवमित्यनवस्थाकारिणाविमौ हेतू, सा चानवस्था नोपपद्यते। सत्यामनवस्थायां सत्यौ हेतू स्याताम्, तस्माद-प्रतिषेधोऽयं निरवयवत्वस्येति। विभागस्य च विभज्यमानहानिर्नोपपद्यते

नहीं होते यह भी हम कह चुके हैं, अतः पूर्वपक्षी का परमाणुओं में अवयव सिद्ध करना सर्वथा असंगत है ॥ २४ ॥

(इस प्रकार २३ वें तथा २४ वें सूत्र में कहे हुए पूर्वपक्ष का बिना सूत्र के परिहार कर सूत्र में कहे हुए परिहार का आरम्भ करते हुए, पूर्वपक्षी के पूर्वोक्त दोनों हेतुओं का अनुवाद करते हुए सिद्धान्तसूत्र के अवतरण में भाष्यकार कहते हैं कि)—'मूर्तिवालों में संस्थान होने तथा संयोग होने के कारण परमाणु सावयव हैं' इस प्रकार के दोनों हेतुओं का—

पदपदार्थ—अनवस्थाकारितत्वात = अनवस्था दोष के करने से, अनवस्थानुपपत्तेः च = और अनवस्था दोष अयुक्त होने के कारण भी, अप्रतिषेधः = परमाणुओं में निरवयव होने का निषेध नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो-जो मूर्तिमान् होता है तथा जिसका-जिसका संयोग होता है, वह सब सावयव होता है, ये दोनों पूर्वपक्षी के हेतु पूर्वोक्त प्रकार से अनवस्था दोष के करने वाले हैं और वह अनवस्था हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे अनवस्था को मानकर पूर्वपक्षी के उपरोक्त दोनों हेतु युक्त हो सकें। अतः पूर्वपक्षी का परमाणुओं में निरवयव होने का निषेध नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जो-जो संसार में मूर्ति वाले पदार्थ हैं तथा जिन-जिन पदार्थों का संयोग होता है वे सम्पूर्ण पदार्थ अवयवयुक्त होते हैं, ये दोनों पूर्वपक्षी के हेतु अनवस्था बिना अप्रमाण के अनन्त पदार्थों की कल्पना दोष को करते हैं। जो अनवस्था दोष किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। यदि अनवस्था किसी प्रमाण से संगत है, ऐसा सिद्ध हो तो उसके बल से पूर्वपक्षी के उपरोक्त हेतु प्रमाण सिद्ध होने से सत्य (यथार्थ) होंगे। इस कारण परमाणुओं में सिद्धान्ती के माने हुए निरवयव होने का निषेध नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी ऐसी शंका करे कि—'मूर्तिमत्तारूप हेतु से अनवस्था दोष न आयगा, क्योंकि मूर्तिमान् द्रव्य का भी अपने अन्ततक ही अवयवों का विभाग होगा, और अन्तिम अवयव निरवयव नहीं हो सकता, क्योंकि जो अन्त है वही विभाग है, नकि वह अवयव द्रव्य है'। (तो भाष्यकार इस शंका का आगे उत्तर देते हुए कहते हैं कि)—बिना विभाग होने वाले द्रव्यों के विभाग गुण हो नहीं सकता, इस कारण पूर्वपक्षी का कहा हुआ अन्त में नाश नहीं रह सकता। अर्थात् जो अवयवों का विभाग है वही अन्त है, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन असंगत है, क्योंकि—विभक्त होने वाले द्रव्यों के बिना विभाग गुण ही नहीं हो सकता—कारण यह कि बिना गुणाधारद्रव्य के गुण नहीं रहते,

तस्मात्प्रलयान्तता नोपपद्यते इति। अनवस्थायां च प्रत्यधिकरणं द्रव्यावयवानामानन्त्यात् परिमाणभेदानां गुरुत्वस्य चाग्रहणं समानपरिमाणत्वं चावयवावयविनोः परमाण्ववयवविभागादूर्ध्वमिति ॥ २५ ॥

इति अष्टभिः सूत्रैर्निरवयवप्रकरणम्।

यदिदं भवान्बुद्धीराश्रित्य बुद्धिविषयाः सन्तीति मन्यते मिथ्याबुद्धय एताः, यदि हि तत्त्वबुद्धयः स्युर्बुद्ध्या विवेचने क्रियमाणे याथात्म्यं बुद्धिविषयाणामुपलभ्येत—

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥ २६ ॥

अतः द्रव्य ही का अन्त में विभाग मानना होगा, अथवा विभाग के भी अनन्त होने के कारण पुनः अनवस्था दोष आ जायगा। (इस प्रकार 'अनवस्थाकारित्वात्' इस सूत्रोक्त हेतु की व्याख्या करने के पश्चात् 'अनवस्थानुपपत्तेश्च' इस हेतु की व्याख्या आगे भाष्यकार करते हैं कि)—अनवस्था दोष के मानने पर प्रत्येक आधार द्रव्य में द्रव्य के अवयवों का अन्त न होने के कारण विशेष (भिन्न-भिन्न) परिमाणों तथा गुरुत्व का भी ग्रहण न होगा, तथा परमाणुओं के अवयवों के विभाग के पश्चात् अवयव तथा अवयवी द्रव्यों का परिमाण भी समान होने की आपत्ति आयेगी। अर्थात् पूर्वपक्षी के मत के अनुसार प्रत्येक घटादि द्रव्यों में अवयवों के अनन्त होने के कारण संसार के संपूर्ण द्रव्यों के अनन्त अवयवों से उत्पन्न होना समान होने के कारण उनके परिमाणों के भेद का ग्रहण न होगा, और उसी से गुरुत्व का भी ग्रहण न होगा, ऐसा होने से एक सुमेरु पर्वतरूप द्रव्य अवयवी तथा एक सर्षप (सरसों) रूप अवयवी द्रव्य दोनों के अनन्त अवयव होने की समानता के कारण दोनों ही द्रव्य-परिमाण में समान हो जायँगे, वह बड़ी भारी आपत्ति आ जायगी जो सर्वथा असंगत है, अतः पूर्वपक्षी के उपरोक्त दोनों परमाणुओं में सावयवता सिद्ध करने वाले हेतु अनवस्था दोष के कारण सर्वथा असंगत हैं ॥ २५ ॥

(४) प्रासंगिक–बाह्यार्थ के न मानने वाले मत के निराकरण का प्रकरण

इस प्रकार दो प्रकरणों में अवयव युक्त, तथा अवयवरहित पदार्थ की सिद्धि करने के पश्चात् इसी प्रसंग से प्राप्त हुये बाह्य पदार्थों के न मानने वाले विज्ञानवादी का खण्डन करने के लिये, यह दूसरा प्रकरण प्रारंभ किया जाता है। क्योंकि यदि विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ ही नहीं तो अवयव तथा अवयवी की व्यवस्था करने का कोई अवसर ही नहीं आवेगा, इस कारण इस व्यवस्था की स्थापना करने के लिये बाह्यार्थ के न मानने के मत का खण्डन करना आवश्यक है। (यहाँ पर प्रमेयता धर्म, ज्ञानत्व का व्याप्य है अथवा नहीं ऐसे संशय पर पूर्वपक्षसूत्र के अवतरण में भाष्यकार विज्ञानवादी का पूर्वपक्ष दिखाते हैं कि)—जो यह आप सिद्धान्ती बुद्धि (ज्ञानों) को लेकर उनके विषय बाह्य पदार्थ हैं, ऐसा मानते हैं यह संपूर्ण मिथ्याज्ञान है। यदि यह वास्तविक ज्ञान नहीं तो बुद्धिसिद्धि विवेचन (विचार) करने पर ज्ञान के विषय बाह्यपदार्थों का याथात्म्य (स्वभाव) उपलब्ध (प्राप्त) होगा—

पदपदार्थ—बुद्ध्या = बुद्धि से, विवेचनात् तु = किन्तु विवेचन (विचार) करने पर, भावानां = बाह्य भावपदार्थों को, यथात्म्यानुपलब्धिः = यथार्थता की उपलब्धि (ज्ञान) नहीं होता।

यथाऽयं तन्तुरयं तन्तुरिति प्रत्येकं तन्तुषु विविच्यमानेषु नार्थान्तरं किञ्चिदुपलभ्यते यत्पटबुद्धेर्विषयः स्यात् याथात्म्यानुपलब्धेरसति विषये पटबुद्धिर्भवन्ती मिथ्याबुद्धिर्भवति एवं सर्वत्रेति ॥ २६ ॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

यदि बुद्ध्या विवेचनं भावानां न सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिः । अथ

तन्त्ववकर्षणे = तन्तुओं के खींचने पर, परसद्भावानुपलब्धिवत् = पट की सत्ता की उपलब्धि (प्राप्ति) न होने के समान, तदनुपलब्धिः = बाह्य पदार्थों की उपलब्धि नहीं होती ॥ २६ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती का अवयव तथा अवयवीरूप बाह्य भावपदार्थों की व्यवस्था असंगत है क्योंकि जिस प्रकार यह तन्तु है, यह तन्तु है ऐसा कहकर पट में से संपूर्ण तन्तुओं को खींच लेने पर कोई दूसरा पटरूप पदार्थ नहीं मिलता, जिसे पट कहा जाय, अतः बाह्य पटादि पदार्थों की वास्तविकता के उपलब्ध न होने के कारण, पटादि विषयों के न रहने पर भी होने वाली पट है, घट है इत्यादि बुद्धि (ज्ञान) मिथ्या है, यह सिद्ध होता है। अतः विज्ञानभिन्न बाह्य पदार्थ ही नहीं हैं यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षिसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार यह तन्तु है, यह तन्तु है ऐसा समझकर प्रत्येक तन्तुओं के पृथक् करने पर कोई पटरूप बाह्य पदार्थ नहीं मिलता जिसे पट इस ज्ञान का विषय माना जाय। इस कारण बाह्य पटादि पदार्थों की वास्तविकता न मिलने के कारण न रहने वाले पटादि विषय में होने वाली पटबुद्धि मिथ्या (असत्य) है यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार और भी दूसरे संपूर्ण बाह्य पदार्थों में भी मिथ्यात्व जानना। अर्थात् यदि पट तन्तुओं से भिन्न हो तो तन्तुओं को छोड़कर अश्व से भिन्न गौ के समान पट की उपलब्धि होगी, होती नहीं, इस कारण असत् (मिथ्या) पट विषय में होने वाला 'यह पट है' इत्यादि ज्ञान मिथ्या है, इसी प्रकार विषय ज्ञान तन्तु भी अपने अवयव अंशुओं से भिन्न न होने के कारण मिथ्या ही है, इसी क्रम से परमाणुओं का भी बुद्धि से विवेचन करने पर उनका यथार्थज्ञान प्राप्त होने के कारण बाह्य स्थूल अथवा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है, अतः यह संपूर्ण ज्ञान अपने आकार को जो बाह्य नहीं है बाह्यरूप से विषय करने के कारण मिथ्या है, यह सिद्ध होता है। अतएव माध्यमिक बौद्धों ने कहा है—**बुद्ध्या** = बुद्धि से, **विविच्यमानानां** = विवेचना किये बाह्य पदार्थों का, **स्वभावः** = कोई स्वभाव, **न** = नहीं, **अवधार्यते** = निश्चित किया जाता है। **अतः** = इस कारण, **निरभिलप्याः** = कहने योग्य नहीं है, **निःस्वभावः च** = और स्वभावशून्य, **देशितः** = कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

उक्त पूर्वपक्ष के हेतु का सिद्धान्तिमत से सूत्रकार खण्डन करते हैं—

पदपदार्थ—व्याहतत्वात् = व्याघातजन होने से, अहेतुः = पूर्वपक्ष का बाह्य पदार्थों के अभाव का साधक हेतु नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

भावार्थ—यदि भावपदार्थों का बुद्धि से विवेचन होता हो तो, संपूर्ण भावपदार्थों की यथार्थता की उपलब्धि नहीं होती, यह न हो सकेगा। और यदि संपूर्ण भावपदार्थों के यथार्थता की उपलब्धि न हो तो, बुद्धि से विवेचन न बनेगा। क्योंकि भावपदार्थों का बुद्धि से विवेचन तथा उनके यथार्थता की उपलब्धि न होना यह परस्पर विरुद्ध है ॥ २७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यदि बाह्य भावपदार्थों का बुद्धि से विवेचन (विचार) हो तो संपूर्ण भावपदार्थों के यथार्थता की उपलब्धि नहीं होती यह

सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिर्न बुद्ध्या विवेचनं भावानाम्, बुद्ध्या विवेचनं याथात्म्यानुपलब्धिश्चेति व्याहन्यते। तदुक्तम् '*अवयवावयविप्रसङ्गश्चैव-माप्रलयोदिति* ॥ २७ ॥

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥

कार्यद्रव्यं कारणद्रव्याश्रितं तत्कारणेभ्यः पृथङ् नोपलभ्यते, *विपर्यये पृथग्ग्रहणात्*, यत्राश्रयाश्रितभावो नास्ति तत्र पृथग्ग्रहणमिति। बुद्ध्या *विवेचनात्तु भावानां पृथग्ग्रहणम्*, अतीन्द्रियेष्वणुषु यदिन्द्रियेण गृह्यते तदेतया बुद्ध्या विविच्यमानमन्यदिति ॥ २८ ॥

नहीं हो सकता अर्थात् बिना वस्तुस्वभाव के उसका विवेचन होना असंभव है। और यदि संपूर्ण भावपदार्थों का यथार्थ रूप उपलब्ध न होता हो तो उनका बुद्धि से विवेचन नहीं हो सकता। क्योंकि भाव बाह्य पदार्थों का बुद्धि से विचार करना तथा उनका यथार्थ न होना यह दोनों पर-स्पर विरुद्ध हैं। इसी कारण प्रलय तक इस प्रकार अवयव के अवयव, उनके अवयव इत्यादि आपत्ति दिखा चुके हैं। अर्थात् पूर्वपक्षी के विवेचन किये जाने वाले जिन पदार्थों के स्वभाव की उपलब्धि न होने को कारणवश दिखाया है, उसका किसी दूसरे से ही विवेचना होगा—यदि बाह्यपदार्थरूप अवयवी न हो तो विवेचन ही नहीं हो सकेगा। उसके अवयवों की अवधि वहीं मानना होगा, यदि अनवस्था माने तो संपूर्ण द्रव्यों का समान परिमाण हो जायगा इत्यादि दोष के कारण अवधिरूप अवयव की यथार्थता माननी ही पड़ेगी। इस कारण बुद्धि से विवेचन करने पर संपूर्ण भावपदार्थों की सिद्धि न होने के कारण व्याघात दोष होता है यह सिद्ध होता है ॥ २७ ॥

'यदि पटादि द्रव्य भिन्न हों तो तन्तुओं के खींचने पर तन्तुओं से भिन्न पटादि द्रव्य उपलब्ध हों' इस पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्तमत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तदाश्रयत्वात् = तन्तुरूप अवयवों के आश्रित होने के कारण, अपृथग्ग्रहणम् = पट द्रव्य का तन्तुओं से पृथक् ग्रहण नहीं होता ॥ २८ ॥

भावार्थ—पटादिरूप अवयवी द्रव्य अपने अवयव तन्तु आदिकों को छोड़कर पृथक् उपलब्ध नहीं होते इसमें तन्तु पट आदि अवयव तथा अवयवी द्रव्यों का आश्रय (आधार), तथा आश्रित (आधेय) भाव ही कारण है, अतः पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असंगत है कि पटादि द्रव्यरूप अवयवी बाह्य पदार्थ नहीं हैं ॥ २८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की सिद्धान्तिमत से व्याख्या करते हैं कि)—पट आदि कार्य द्रव्य तन्तु आदि कारण द्रव्यों के आश्रित (सहारे) होते हैं, अतः तन्तु आदि कारणों से पृथक् (अन्यत्र) उनकी उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि इससे विपरीत होने पर (आधाराधेयभाव न होने से) पृथक् ग्रहण होता है। अर्थात् यहाँ (जिनमें) आश्रय और आश्रितभाव नहीं होता, उनमें पृथक् ग्रहण होता है और बुद्धि से विवेचन किये भावपदार्थों का पृथक् ग्रहण अतीन्द्रिय परमाणुओं में जो इन्द्रिय से गृहीत होता है वह इस बुद्धि से विवेचन किया हुआ दूसरा ही है अर्थात् जहाँ पर अवयव तथा अवयवी द्रव्य दोनों का इन्द्रिय से ग्रहण होता है, वहाँ पर विवेचन न करने वालों के लिये पृथक् ग्रहण होना अत्यन्त स्पष्ट नहीं होता—और अतीन्द्रिय परमाणुओं से जो केवल अनुमान से सिद्ध होते हैं, प्रत्यक्ष से दिखाई पड़ने वाले परमाणुओं के आश्रित त्रसरेणु

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥

बुद्ध्या विवेचनाद्भावानां याथात्म्योपलब्धिः, यदस्ति यथा च यत्रास्ति यथा च तत्सर्वं प्रमाणत उपलब्ध्या सिध्यति, या च प्रमाणत उपलब्धिस्तद्बुद्ध्या विवेचनं भावानाम् , तेन सर्वशास्त्राणि सर्वकर्माणि सर्वे च शरीरिणां व्यवहारा व्याप्ताः। परीक्षमाणो हि बुद्ध्याऽध्यवस्यति इदमस्तीदं नास्तीति तत्र न सर्वभावानुपपत्तिः ॥ २६ ॥

एवं च सति सर्वं नास्तीति नोपपद्यते, कस्मात् ?

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥

आदि अवयवियों का पृथक् ग्रहण अत्यन्त स्पष्ट होता है यह अत्यन्त स्पष्ट है यह सिद्धान्ती का आशय है ॥ २८ ॥

अतीन्द्रिय परमाणुरूप अवयवों में इन्द्रियों से गृहीत होने वाले अवयवीओं का भेद स्पष्ट गृहीत होता है यह कहकर, सांप्रत इन्द्रिय से गृहीत होने वाले भी अवयव में बुद्धि से विवेचन किये जाने वाले अवयवी द्रव्य की यथार्थता गृहीत होने से उस अवयवी का अवयवों से पृथक् ग्रहण होता है, यह दिखाते हुए सिद्धान्तिमत से सूत्रकार आगे कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रमाणतः च = और प्रमाण से, अर्थप्रतिपत्तेः = पटादि बाह्य अवयवी पदार्थों का ज्ञान भी होता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—बुद्धि से विवेचन करने से ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अधीन बाह्य पटादिरूप द्रव्यों की यथार्थता सिद्ध होती है, अतः प्रमाणसिद्ध बाह्य अवयविरूप पटादि द्रव्यों में कोई बाधक नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—बुद्धि से विवेचन करने से ही बाह्य भावपदार्थों की यथार्थता उपलब्ध होती है, क्योंकि जो पटादि द्रव्य जैसे गुणादिकों के आधाररूप तथा अपने अवयव तन्तु आदिकों में आश्रित होते हैं तथा जैसे कर्यकारणभावरूप से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उनकी उपलब्धि होने के कारण कि बाह्य पदार्थ हैं, यह सिद्ध होता है। यह जो प्रत्यक्षादि प्रमाण से पटादि बाह्य द्रव्यों की उपलब्धि (ज्ञान) होता है वही तो भावपदार्थों की बुद्धि से विवेचन है। यह प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध है, क्योंकि इस बुद्धि-विवेचन से ही सम्पूर्ण शास्त्र, सम्पूर्ण प्राणियों के कर्म तथा सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणियों के सांसारिक व्यवहार व्याप्त हैं। क्योंकि परीक्षा करता हुआ ही प्राणि बुद्धि से निश्चय करता है—कि यह ऐसा है, ऐसा नहीं है। इस कारण पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि संसार के सम्पूर्ण बाह्यभाव पदार्थों का अभाव है यह सर्वथा असंगत है ॥ २९ ॥

उक्त पूर्वपक्ष पर दूसरा दोष देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् = प्रमाण के न होने तथा प्रमाण के होने से ॥ ३० ॥

भावार्थ—बाह्य कोई भी भावपदार्थ नहीं है, इस पूर्वपक्षी की प्रतिज्ञा में यदि कोई प्रमाण है, तो उस प्रमाणरूप बाह्य भावपदार्थ के होने से बाह्य भावपदार्थों का अभाव सिद्ध न होगा और यदि उक्त प्रतिज्ञा में कोई प्रमाण नहीं है, तो प्रमाणरहित होने से पूर्वपक्षी के मत से संसार के सम्पूर्ण बाह्य भावपदार्थों के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकेगी ॥ ३० ॥

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् । यदि सर्वं नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते ? सर्वं नास्तीत्येतद्व्याहन्यते । अथ प्रमाणं नोपपद्यते ? सर्वं नास्तीत्यस्य कथं सिद्धिः । अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धिः ? सर्वमस्तीत्यस्य कथं न सिद्धिः ॥ ३० ॥

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥ ३१ ॥

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३२ ॥

यथा स्वप्ने न विषयाः सन्त्यथ चाभिमानो भवति एवं न प्रमाणानि प्रमेयानि च सन्त्यथ च प्रमाणप्रमेयाभिमानो भवति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों के दिखाने के कारण पूर्वपक्षी की सम्पूर्ण बाह्य भावपदार्थ नहीं हैं, यह प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—प्रमाण के न होने तथा होने से। क्योंकि यदि सम्पूर्ण भावपदार्थ नहीं है, इसमें प्रमाण है, तो उस प्रमाणरूप बाह्य भावपदार्थ के होने के कारण सम्पूर्ण भावपदार्थ नहीं है यह विरुद्ध हो जाता है और यदि प्रमाण नहीं है तो सम्पूर्ण भावपदार्थ नहीं हैं यह बिना प्रमाण के यह कैसे सिद्ध होगा और यदि बिना प्रमाण के सम्पूर्ण भावपदार्थ नहीं हैं यह सिद्ध हो तो सम्पूर्ण संसार के भावपदार्थ हैं यही क्यों न सिद्ध होगा ॥ ३० ॥

सिद्धान्ती ने जो 'प्रमाण की उपपत्ति तथा अनुपपत्ति से सम्पूर्ण भावपदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता' यह कहा था उस पर विज्ञानवादी के मत से सूत्रकार दो सूत्रों आदि में पुनः आपत्ति दिखाते हैं—

पदपदार्थ—स्वप्नविषयाभिमानवत् = स्वप्न में देखे हुए मिथ्या विषयों के सत्यता के अभिमान के समान, अयं = यह (संसार में प्रसिद्ध), प्रमाणप्रमेयाभिमानः = 'यह प्रमाण हैं, यह प्रमेय है' इत्यादि अभिमान (मिथ्याज्ञान) होता है ॥ ३१ ॥

पदपदार्थ—मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावत् वा = अथवा माया से गन्धर्वों के नगर के दिखाई पड़ने अथवा ग्रीष्मऋतु में सूर्य के किरणों को जल की धारा समझने के समान ॥ ३२ ॥

भावार्थ—सिद्धान्ती के दिखाया हुआ प्रमाण तथा प्रमेयपदार्थों का सद्भाव वास्तविक नहीं है, किन्तु केवल अनादि विषय-वासना के ही कारण है। जिस प्रकार स्वप्न में विषय न होने पर भी केवल कल्पनामात्र से विषय प्रतीत होते हैं, जिससे मायिक मिथ्यासत्तावाले प्रमाण प्रमेयभाव होने के कारण बाह्य विषयज्ञान ही नहीं सत्य हैं और उसके विषय बाह्य पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, यह सिद्ध होता है। मिथ्याज्ञान भी वास्तविक ज्ञान के कारण होते हैं यह प्रथमसूत्र का आशय है। 'स्वप्न के ज्ञान में ऐसा होने पर भी जागरित अवस्था के जो ज्ञान हैं—कलश, स्तम्भ इत्यादि उनमें क्या हुआ, क्योंकि वे स्वप्नज्ञान से अत्यन्त विलक्षण हैं' इस शंका को दूर करने के लिये विज्ञानवादी का द्वितीय सूत्र है कि माया से गन्धर्वों का नगर देखना तथा ग्रीष्मऋतु में सूर्य-किरणों को जलधारा समझना, इत्यादि जागरित अवस्था के भी ऐसे हजारों ज्ञान दिखाई देते हैं—अतः ये कलश, स्तम्भ इत्यादि ज्ञान भी उनसे विलक्षण नहीं हैं, अतः इसके विषय बाह्य पदार्थ मिथ्या हैं यह सिद्ध होता है ॥ ३१–३२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार दोनों पूर्वपक्षसूत्रों की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार स्वप्नावस्था में विषय नहीं रहते भी उनका अभिमान (मिथ्याज्ञान) होता है। इसी प्रकार

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥

स्वप्नान्ते विषयाभिमानवत्प्रमाणप्रमेयाभिमानो न पुनर्जागरितान्ते विषयोपलब्धिवदित्यत्र हेतुर्नास्ति। हेत्वभावादसिद्धिः। स्वप्नान्ते चासन्तो विषया उपलभ्यन्ते इत्यत्रापि हेत्वभावः। *प्रतिबोधेऽनुपलम्भादिति चेत्? प्रतिबोधविषयोपलम्भादप्रतिषेधः*। यदि प्रतिबोधे ऽनुपलम्भात्स्वप्ने विषया न सन्तीति? तर्हि ये इमे प्रतिबुद्धेन विषया उपलभ्यन्ते उपलम्भात्सन्तीति। *विपर्यये हि*

लौकिक व्यवहार से सिद्ध प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थ भी वस्तुतः नहीं हैं, किन्तु उनमें यह प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, ये आत्मादि प्रमेय पदार्थ हैं, ऐसा अभिमान (मिथ्याज्ञान) होता है ॥ ३१-३२ ॥

उपरोक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—हेत्वाभावात् = हेतु न होने से, असिद्धिः = पूर्वपक्षी का मत सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

भावार्थ—स्वप्न विषय के ज्ञान के समान न रहने वाले जागरित अवस्था के ज्ञानों में भी जागरित अवस्था के प्रतीत होने वाले विषयों में अभिमान (मिथ्याज्ञान) ही होता है ऐसे उपरोक्त पूर्वपक्षी के कथन में कोई हेतु (साधन) नहीं है, अतः पूर्वपक्षिमत सर्वथा असंगत है ॥ ३३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तिसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—स्वप्न के बीच में वास्तविक विषयों के न होने पर भी उनका जैसे अभिमान होता है उसी प्रकार संसार में होनेवाला 'यह प्रमाण है, यह प्रमेय है' इत्यादिक भी केवल अभिमान है, नकि जागरित अवस्था के मध्य में वास्तविक विषयों के ज्ञान के समान सत्य है, ऐसा कहने में कोई साधक हेतु नहीं है अतः पूर्वपक्षी का सम्पूर्ण संसार व्यवहार मिथ्या है, यह कहना असंगत है अर्थात् संसार में होनेवाला प्रमाण और प्रमेय पदार्थों का ज्ञान स्वप्नज्ञान के समान मिथ्या है जाग्रतावस्था के समान सत्य नहीं है ऐसा कहने में कोई विशेष साधक नहीं है। (यदि 'प्रमाणादिज्ञान मिथ्या है बुद्धि (ज्ञान) होने से स्वप्नज्ञान के समान इस अनुमान से संसार के सम्पूर्ण प्रमाण प्रमेय व्यवहार में मिथ्यात्व की सिद्धि हो सकती है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो इसके उत्तर में आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—स्वप्नावस्था में भी विषयों की न रहने पर ही उपलब्धि (ज्ञान) होता है, ऐसे पूर्वपक्षी के कथन में भी कोई साधक हेतु नहीं हैं। यदि 'जागरित अवस्था में स्वप्न में देखे हुए विषयों की प्राप्ति नहीं होती इसीसे सिद्ध होता है, कि स्वप्नावस्था में देखे विषय मिथ्या हैं' तो प्रतिबोध (जागरावस्था) के विषयों का निषेध न होने से, उन जागरावस्था से विषयों का निषेध नहीं हो सकता। अर्थात् यदि जागरावस्था में स्वप्न के देखे विषयों की प्राप्ति न होने के कारण स्वप्नावस्था में विषय नहीं हैं यह सिद्ध होता है, ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो, जो यह जगे हुए प्राणि को विषयों की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, उस उपलब्धि से यह सिद्ध होता है कि जागरावस्था में विषयों की सत्ता है। (तथा जागरित अवस्था में विषयों की उपलब्धि मिथ्या होती है इसमें व्याघात भी आता है, क्योंकि पूर्वपक्षी के विपरीत सिद्ध करने से हेतु का सामर्थ्य है। अर्थात् पूर्वपक्षी के विषयों को अभाव सिद्ध करने के लिये स्वप्नज्ञान का ही दृष्टान्त दिया है, जो उपरोक्त प्रकार से जागरावस्था के विषयों में सत्ता सिद्ध करता है। अतः पूर्वपक्षी के प्रतिज्ञा के विरुद्ध अर्थ का वह साधक हो रहा है)—क्योंकि स्वप्नज्ञान को अयथार्थ मानने की इच्छा करने वाले को बिना बाधक के उसके सिद्धि न होने के कारण जागरित अवस्था के ज्ञान को ही उसका बाधक मानना होगा। यह जागरतज्ञान यदि सत्य न हो तो स्वप्नज्ञान का बाधन नहीं कर सकेगा,

हेतुसामर्थ्यम् । उपलम्भाभावे सत्यनुपलम्भादभावः सिद्ध्यति, उभयथा त्वभावे नानुपलम्भस्य सामर्थ्यमस्ति, यथा प्रदीपस्याभावाद्रूपस्यादर्शनमिति, तत्र भावेनाभावः समर्थ्यते इति। *स्वप्नान्तविकल्पे च हेतुवचनम्* । स्वप्नविषयाभिमानवदिति ब्रुवता स्वप्नान्तविकल्पे हेतुर्वाच्यः । कश्चित्स्वप्नो भयोपसंहितः, कश्चित्प्रमादोपसंहितः, कश्चिदुभयविपरीतः, कदाचित्स्वप्नमेव न पश्यतीति । निमित्तवतस्तु स्वप्नविषयाभिमानस्य निमित्तविकल्पाद्विकल्पोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥

अतः जागरावस्था के ज्ञान को सत्य मानना ही पड़ेगा । ('क्या उपलब्धि न होना कभी भी विषयों के अभाव को सिद्ध ही न करता ?' इस शंका के समाधान में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)— जिस पदार्थ के उपलब्ध होने से उसकी सत्ता सिद्ध होती है, उसी की उपलब्धि न होना उसकी अविद्यमानता को सिद्ध करता है । (यदि 'जिस प्रकार उपलब्धि न होने से असत्वता सिद्ध होती है, उसी प्रकार उपलब्धि से भी असत्ता क्यों नहीं सिद्ध हो सकती ?' इस शंका के समाधान में भाष्यकार आगे कहते हैं कि)— यदि दोनों से (उपलब्धि तथा अनुपलब्धि) से पदार्थों का अभाव सिद्ध हो तो अनुपलब्धि (अभाव) को साधन सामर्थ्य ही न होगा । क्योंकि जिस स्थल में दीपक नहीं रहता वहाँ अन्धकार में रूप नहीं दिखाई पड़ता यह देखकर रूप को न दिखाई पड़ने के साधन में सामर्थ्य दीपक के अभाव में तभी सिद्ध होगा, जब कभी दीपक के रहते रूप को देखने वाले को ऐसा ज्ञान हो—कि 'यदि दीपक होता तो रूप दिखाई पड़ता' । यह बुद्धि दीपक तथा रूप की कही सत्ता मानने बिना नहीं हो सकती, इस कारण प्रदीप और रूप की सत्ता ही प्रदीप के अभाव में सामर्थ्य दिखाई पड़ती है । अतः पूर्वपक्षी का सर्वथा विषयों का अभाव सिद्ध करना असंगत है । (पूर्वपक्षमत का दूसरा खण्डन करने के लिये हेतु देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)— स्वप्नावस्था के विकल्प के विषय में हेतु भी देना होगा, अर्थात् स्वप्न के विषयों में मिथ्याज्ञान होता है ऐसा कहने वाले पूर्वपक्षी को स्वप्न के ज्ञान विचित्र-विचित्र होते हैं ऐसा कहते भी कोई हेतु देना पड़ेगा । क्योंकि किसी स्वप्न में भय होता है, किसी में आनन्द और कोई स्वप्न भय, आनन्द दोनों नहीं होते, और कभी-कभी स्वप्न ही नहीं दिखाई पड़ता । (यह पूर्वपक्षी के मत में नहीं बन सकता और सिद्धान्ती के मत में बन सकता है क्योंकि कारण वाला स्वप्नज्ञान के विषयों के अभिमान में कारणों के विचित्रता से विचित्रता बन सकता है, अर्थात् सिद्धान्ती के मत में जागरावस्था के ज्ञानों के समान स्वप्नावस्था के भी ज्ञानों में स्वरूप से विद्यमान ही कारण होते हैं, उनकी विचित्रता से ज्ञान में भी विचित्रता हो सकती है और स्वप्नज्ञान की विचित्रता कदाचित् (किसी-किसी समय) होने के कारण, निमित्त वाली होती है अतः उसमें कारण की विचित्रता अवश्य माननी होगी, जिससे विषयों की स्वप्नसिद्ध होने के कारण संसार में कोई पदार्थ नहीं है यह पूर्वपक्षी का कथन वाधित हो जाता है ॥ ३३ ॥

स्वप्नज्ञान भी सत् विषय ही में होता है इस विषय में सिद्धान्तिमत से सूत्रकार साधक दिखाते हैं—

पदपदार्थ—स्मृति संकल्पवत् च=स्मरण तथा संकल्प (इच्छा) के समान, स्वप्नविषयाभिमानः= स्वप्नज्ञान के विषयों का अभिमान होता है ॥ ३४ ॥

पूर्वोपलब्धविषयः, यथा स्मृतिश्च सङ्कल्पश्च पूर्वोपलब्धविषयौ न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पेते, तथा स्वप्ने विषयग्रहणं पूर्वोपलब्धविषयं न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पते इति। *एवं दृष्टविषयश्च स्वप्नान्तो जागरितान्तेन*। यः सुप्तः स्वप्नं पश्यति स एव जाग्रत्स्वप्नदर्शनानि प्रतिसन्धत्ते इदमद्राक्षमिति। तत्र *जाग्रद्बुद्धिवृत्तिवशात्स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति व्यवसायः*। सति च प्रतिसन्धाने या जाग्रतो बुद्धिवृत्तिस्तद्वशादयं व्यवसायः स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति। *उभयाविशेषे तु साधनानर्थक्यम्*। यस्य स्वप्नान्तजागरितान्तयोरविशेषस्तस्य स्वप्नविषयाभिमानवदिति साधनमनर्थकं तदाश्रयप्रत्याख्यानात्।

भावार्थ—जिस प्रकार स्मरण, ज्ञान, एवं संकल्प (इच्छा) पूर्वकाल में अनुभव किये विषयों में ही होती है, उसी प्रकार स्वप्न देखने के समय जो स्वप्न के विषयों का यह घोड़ा है, यह हाथी है ऐसा अभिमान होता है वह भी पूर्वकाल में जागरावस्था में अनुभव किये उक्त विषयों का ही होता है ॥ ३४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की सूत्र के अवशिष्ट अपेक्षित विषय को पूर्ण करते हुए व्याख्या करते हैं कि)—स्मरण तथा संकल्प के समान स्वप्न के विषयों का अभिमान पूर्वकाल में अनुभव किये ही विषयों में होता है। जिस प्रकार कालान्तर में होने वाला विषयों का स्मरण तथा संकल्प (इच्छा) पूर्वकाल में अनुभव किये हुए ही विषयों में होते हैं, अतः स्मरण तथा संकल्प पूर्व में जाने हुए विषयों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी विषयों का ग्रहण होना पूर्वकाल में जागृत अवस्था में अनुभव किये विषयों में होने के कारण उन पूर्वकाल में अनुभव किये हुए विषयों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। इससे यह सिद्ध होता है कि—जागरावस्था में देखे हुए विषयों का ही स्वप्नावस्था में दर्शन होता है, अतः स्वप्नावस्था भी देखे हुए विषयों में होती है। क्योंकि जो सुप्त (सोया हुआ) प्राणी स्वप्न देखता है, वही जागरावस्था तथा स्वप्नावस्था का 'यह मैंने देखा था' ऐसा अनुसंधान करता है। स्वप्न उससे जागरावस्था के विषयों के ज्ञान के कारण स्वप्नावस्था के विषयों में अभिमान होता है कि यह देखा हुआ स्वप्न मिथ्या (असत्य) था। इस प्रकार के अनुसंधान के होने के कारण जो जागनेवाले प्राणी को विषयसम्बन्धी ज्ञान के व्यापार होते हैं उनके कारण ही 'स्वप्न में देखे हुए विषयों का ज्ञान मिथ्या है' ऐसा स्वप्नज्ञान विषयों में निश्चयरूप मिथ्या अभिमान होता है अर्थात् जागरावस्था में स्वप्न में दृष्ट का उपरोक्त अनुसंधान कर जब ज्ञान होता है कि—'जो मैंने नगर, विमान आदि स्वप्न में देखा था वह सब मैं अब जागरावस्था में नहीं पाता हूँ' ऐसा ज्ञान होता है, तभी वह प्राणी स्वप्नज्ञान को मिथ्या था ऐसा निश्चय करता है। (स्वप्नज्ञान के समान जागरावस्था के ज्ञान को भी मिथ्या मानने में दोष दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—यदि दोनों (स्वप्नज्ञान तथा जागरावस्था का ज्ञान) समान हो तो स्वप्नविषयाभिमान के समान यह साधन व्यर्थ होगा। क्योंकि जिस पूर्वपक्षी के मत में स्वप्नावस्था तथा जागरावस्था में कोई विशेष नहीं है उसका 'स्वप्न के विषय के अभिमान के समान' यह सिद्ध करना व्यर्थ है, क्योंकि उसके आधार विषय ही को वह नहीं मानता अर्थात् जागरावस्था के ज्ञान के विषयों के मिथ्या होने में स्वप्नज्ञान के विषय को सदृश होना ही पूर्वपक्षी का हेतु विवक्षित है, किन्तु यदि स्वप्नज्ञान और जागरित अवस्था के ज्ञानों के मिथ्या होने में कोई विशेषता न हो तो

अतस्मिंस्तदिति च व्यवसायः प्रधानाश्रयः । अपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति व्यवसायः स प्रधानाश्रयः, न खलु पुरुषेऽनुपलब्धे पुरुष इत्यपुरुषे व्यवसायो भवति, एवं स्वप्नविषयस्य व्यवसायो हस्तिनमद्राक्षं पर्वतमद्राक्षमिति प्रधानाश्रयो भवितुमर्हति ॥ ३४ ॥

एवं च सति—

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥

स्वप्न विषय का सादृश्य साधक ही नहीं हो सकता, क्योंकि जितने मिथ्याज्ञान होते हैं उनका कोई न कोई सत्यज्ञान आश्रय होता है, जिसकी अपेक्षा से वह मिथ्या होता है, जो उसका प्रधान कहाता है—जागरावस्था के ज्ञान की अपेक्षा से ही स्वप्नज्ञान मिथ्या होते हैं, अतः यदि जगरावस्था का ज्ञान भी स्वप्नावस्था के समान मिथ्या हो तो, स्वप्नज्ञान के मिथ्या होने के आधार के न होने से उक्त साधन में सामर्थ्य न होगा । (मिथ्याज्ञान सत्यज्ञान की अपेक्षा करता है, इसी विषय को आगे भाष्यकार स्पष्ट करते हैं)—उससे भिन्न में उसका ज्ञान होना रूप निश्चय (उसमें उसका ज्ञान होना) रूप प्रधान (मुख्य) के आश्रय से होता है । जिस प्रकार पुरुष से भिन्न स्थाणु (ठूंठ) में यह पुरुष है यह जो मिथ्याज्ञान होता है वह वास्तविक पुरुष में पुरुषज्ञानरूप प्रधान को आश्रय करता है, क्योंकि जिसे पुरुष का ज्ञान नहीं है उस प्राणी को पुरुषभिन्न वृक्ष में 'यह पुरुष है' ऐसा मिथ्याज्ञानरूप व्यवसाय (निश्चय) नहीं होता । इसी प्रकार स्वप्नावस्था में देखा हुआ 'मैंने हाथी देखा, पर्वत देखा' ऐसा मिथ्याज्ञान भी बिना जागरावस्था में वास्तविक देखे हुए हाथी, पर्वत आदि (सत्य) प्रधान के आश्रय से ही हो सकता है । अर्थात् जिसने कभी भी सच्चे हाथी तथा पर्वत को न देखा हो उसे कभी मिथ्या हाथी तथा पर्वतों का स्वप्नावस्था में ज्ञान नहीं होता । इसी कारण वार्तिककार ने कहा है—सभी ज्ञान मिथ्या हैं, ऐसा कहनेवाले को उसके प्रधान का प्रश्न करना होगा—क्योंकि बिना प्रधान (सत्य) के मिथ्याज्ञान नहीं होता ॥ ३४ ॥

(यदि भासज्ञान भी सत् पदार्थ को विषय करे तो उसका प्रतिबन्ध कैसे होगा ? इस शंका के समाधान को करते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—ऐसा होने पर मिथ्याज्ञान को सत्यज्ञान की अपेक्षा न होने पर—

पदपदार्थ—मिथ्योपलब्धेः = मिथ्याज्ञान का, विनाशः=नाश होता है, तत्त्वज्ञानात् = तत्त्वज्ञान से, स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् = स्वप्नावस्था के विषयज्ञान के अभिमान के नाश के समान, प्रतिबोधे=जागरावस्था में ॥ ३५ ॥

भावार्थ—ऊँचे वृक्ष को मनुष्य समझना यह मिथ्याज्ञान है और वृक्ष को वृक्ष समझना यह सत्यज्ञान है, इस सत्यज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट होता है न कि वृक्ष और मनुष्यरूप पदार्थ । जिस प्रकार जागरावस्था के ज्ञान से स्वप्न से देखे विषयों का मिथ्याज्ञान निवृत्त होता है, न कि सामान्य विषयरूप पदार्थ निवृत्त होता है, इसी प्रकार माया से गंधर्वनगर देखना तथा ग्रीष्मऋतु में सूर्य के किरणों को जल समझनारूप मृगतृष्णा में भी जो गंधर्वनगर न रहते गन्धर्वनगर समझना, जल के न रहते जल समझनारूप मिथ्याज्ञान होते हैं, उनमें भी उपरोक्त प्रकार से

स्थाणौ पुरुषोऽयमिति व्यवसायो मिथ्योपलब्धिः अतस्मिंस्तदिति ज्ञानम्, स्थाणौ स्थाणुरिति व्यवसायस्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानेन च मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते, नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः, यथा प्रतिबोधे या ज्ञानवृत्तिस्तया स्वप्नविषयाभिमानो निवर्त्यते नार्थो विषयसामान्यलक्षणः, तथा मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकाणामपि या बुद्धयोऽतस्मिंस्तदिति व्यवसायास्तत्राप्यनेनैव कल्पेन मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानान्नार्थप्रतिषेध इति । *उपादानवच्च मायादिषु मिथ्याज्ञानम् ।* प्रज्ञापनीयसरूपं च द्रव्यमुपादाय साधनवान्परस्य मिथ्याध्यवसायं करोति सा माया, नीहारप्रभृतीनां नगरसरूपसन्निवेशे दूरान्नगरबुद्धि-

---

वास्तविक (सत्य) ज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाशमात्र होता है, नकि उससे वृक्ष पुरुषादि रूप पदार्थ का अभाव है यह सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—ऊँचे वृक्ष में यह मनुष्य है ऐसा मिथ्याज्ञान होता है—जो मनुष्यभिन्न वृक्ष में वृक्ष हैं ऐसा भ्रम कहाता है और वृक्ष को वृक्ष समझना यह तत्वज्ञान (वास्तविक) ज्ञान होता है। जिस तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है नकि वृक्ष तथा पुरुषरूप सामान्य पदार्थ। जिस प्रकार जागरित अवस्था में जो ज्ञान का व्यापार होता है, उससे स्वप्नावस्था में देखे हुए विषयों का अभिमान (भ्रम) दूर हो जाता है, नकि वास्तविक विषय (पदार्थ) रूप सामान्य पदार्थ निवृत्त होता है तथा माया से माया वाले (जादूगर) के दिखाये हुए गन्धर्वनगर एवं ग्रीष्म ऋतु के सूर्यकिरणों को जलधारा समझना, यह जो गन्धर्वनगर के न रहते गन्धर्वनगर जानना तथा सूर्यकिरण में जल न रहते जल समझना, यह भी उससे भिन्न में उसको जाननारूप मिथ्याज्ञान होते हैं, इनमें भी इसी प्रकार से तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का ही नाश होता है, नकि पदार्थों का अभाव सिद्ध होता है। अर्थात मिथ्याज्ञान को बाह्य विषयों को न लेकर हो, तत्वज्ञान (यथार्थज्ञान) में बाह्य पदार्थ विषय नहीं हैं यह पूर्वपक्षी सिद्ध करेगा। तत्त्वज्ञान में भी बाह्य पदार्थ विषय नहीं होंगे यह तो बाधक से ही सिद्ध होगा। और वह बाधक शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का भ्रम होने में, सीप में समझे हुए चाँदी के भ्रम को ही निवृत्त करता है, नकि आगे चमकने वाले सीप को। इस कारण बाधक के कारण भी मिथ्याज्ञान बाह्य विषयों को विषय आलंबन (सहारा) नहीं करता, अतः पूर्वपक्षी का स्वप्न के समान यह दृष्टान्त साध्य से विकल (रहित) होने के कारण संगत नहीं है। (इस प्रकार स्वप्नज्ञान में जागरावस्था के सत् विषय ही विषय होते हैं यह सिद्ध करने के पश्चात मायाज्ञान भी सत् पदार्थों के ही विषय करता है यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—माया से गंधर्वनगरादि देखने में भी जो मिथ्याज्ञान होता है यह भी सत् कारणवाला ही होता है। दिखाई पड़ने योग्य के समान रूप वाले द्रव्य को लेकर ही साधनवाला (मायावी पुरुष) दूसरे को मिथ्याज्ञान कराता है उसे ही माया कहते हैं। अर्थात माया करनेवाला मनुष्य जिस पदार्थ का मिथ्याज्ञान दूसरे को कराने की इच्छा करता है, उसके समान किसी न किसी पदार्थ को लेकर ही इकट्ठा की सामग्री से उस पदार्थ में दूसरे पदार्थ के ज्ञानरूप मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करता है, इस कारण यहाँ भी ज्ञान के मिथ्या होने पर भी उसका आधार पदार्थ सत् ही होता है यह भाष्यकार का आशय है। (इस प्रकार मायिकज्ञान में सत् ही पदार्थ विषय होता है यह सिद्ध करने के पश्चात गन्धर्वनगर के मार्ग में भी सत् ही पदार्थ विषय होता है यह सिद्ध करते हुए भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं कि)—आकाश में नीहार (ओस) अथवा

रुत्पद्यते, विपर्यये तदभावात् । सूर्यमरीचिषु भौमेनोष्मणा संसृष्टेषु स्पन्दमाने-षूदकबुद्धिर्भवति सामान्यग्रहणात्, अन्तिकस्थस्य विपर्यये तदभावात् । क्वचित् कदाचित् कस्यचिच्च भावान्नानिमित्तं मिथ्याज्ञानम्, दृष्टं च बुद्धिद्वैतं मायाप्रयोक्तुः परस्य च, दूरान्तिकस्थयोर्गन्धर्वनगरमृगतृष्णिकासु, सुप्तप्रतिबुद्धयोश्च स्वप्नविषये, तदेतत्सर्वस्याभावे निरुपाख्यतायां निरात्मकत्वे नोपपद्यते इति ॥ ३५ ॥

बादल के समुदाय में नगर के रूप की रचना दिखाई पड़ने से दूर से देखनेवाले को यह नगर है ऐसा ज्ञान होता है, क्योंकि आकाश में नीहार, बादल इत्यादिकों के न रहने पर नगर बुद्धि नहीं होती। अतः आकाश में रहनेवाले बादल की विशेष स्थिति के कारण होनेवाली नगरबुद्धि भी सत् ही पदार्थ को विषय करती है। (इसी प्रकार सूर्यकिरणों में जलधारा का मिथ्याज्ञान भी सत् ही पदार्थ को विषय करता है यह सिद्ध करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—पृथ्वी की प्रखर उष्णता से मिले हुए उस सूर्य की किरणें हिलती हुई दिखाई पड़ती हैं, इनमें हिलनारूप सामान्य धर्म के कारण यह जलधारा है ऐसा भ्रम होता है, क्योंकि समीप रहने पर ऐसी सूर्यकिरणों से जल का भ्रम नहीं होता। अर्थात् जैसे जल की तरंग हिलती हुई दिखाई पढ़ती हैं वैसे ही सूर्य की किरण भी इस सादृश्य के कारण सूर्यकिरणों में जल का भ्रम होता है, क्योंकि इसके विपरीत यदि देखनेवाला समीप हो तो सूर्यकिरणों में जल का भ्रम नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि मरुभूमि में सूर्यकिरणों को जल समझना इस भ्रम का भी सत्य ही पदार्थ विषय है नकि असत् पदार्थ (इसी प्रकार मिथ्याज्ञान में सत् ही पदार्थ निमित्त होता है—इस विषय में दूसरा कारण भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—किसी ही स्थान में, किसी ही समय में, किसी ही मनुष्य को मिथ्याज्ञान होता है, इस कारण भी विना निमित्त के मिथ्याज्ञान होता है यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् यदि विना निमित्त के असत् विषय में ही मिथ्याज्ञान हो, तो सर्वत्र मिथ्याज्ञान होने लगेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, इस कारण भी बिना निमित्त के मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता। (इसी विषय में दूसरा हेतु भाष्यकार देते हैं कि)—यह देखने में आता है कि माया का प्रयोग करनेवाले तथा दूसरे को जो दूर तथा समीप हों माया से गंधर्वनगर दिखाई पड़ना तथा मरुभूमि की सूर्यकिरणों में जलधारा का ज्ञान इनमें दो प्रकार से सिद्धि होती हैं तथा निद्रावस्था में रहनेवाले और जागरावस्था में रहनेवाले मनुष्यों को भी स्वप्न के विषयों में दो प्रकार की बुद्धि होती है। अतः वह यह यदि संपूर्ण संसार के पदार्थों को न माना जाय, तो अप्रसिद्ध होने तथा निरात्मक (आत्मारहित) होने पर नहीं बन सकेगा। अर्थात् यदि संसार में असत् विषयों में प्राणिमात्र को एक आकारवाला ही ज्ञान होता है, किन्तु मायादिज्ञानों में ऐसा नहीं है, क्योंकि माया से होनेवाली माया में यद्यपि देखनेवालों को यह सत्य है ऐसा ही ज्ञान होता है तथा माया करनेवाले को मैंने यह झूठा दिखाया है ऐसा ज्ञान होता है, इसी प्रकार गंधर्वनगर, मृगतृष्णिका (सूर्यकिरण में जलज्ञान) में भी यद्यपि दूर रहनेवाले को गंधर्वनगर, जलधारा आदि ज्ञान सत्य ही होता है, तथापि समीप रहनेवाले को वैसा नहीं होता, इसी प्रकार सोये हुए मनुष्य को यद्यपि स्वप्न ज्ञान सत्य प्रतीत होता है तथापि जगे हुए प्राणी को मुझे झूठा ही स्वप्नज्ञान हुआ था ऐसा ज्ञान होता है। अतः यदि संपूर्ण संसार में अपने स्वरूप से रहित संपूर्ण पदार्थ असत् ही सर्वदा हों, तो उपरोक्त दोनों प्रकार की बुद्धियाँ (ज्ञान) न होंगे। अतः संपूर्ण पदार्थ मात्र का निषेध करना पूर्वपक्षी का सर्वथा असंगत है ॥३५॥

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

मिथ्याबुद्धेश्चार्थवदप्रतिषेधः। कस्मात् ? *निमित्तोपलम्भात् सद्भावोपलम्भाच्च*। उपलभ्यते मिथ्याबुद्धिनिमित्तं मिथ्याबुद्धिश्च प्रत्यात्ममुत्पन्ना गृह्यते संवेद्यत्वात्, तस्मान्मिथ्याबुद्धिरप्यस्तीति ॥ ३६ ॥

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥

(इस प्रकार केवल बाह्य पदार्थों को न माननेवाले विज्ञानवादी के मत का खण्डन करने के पश्चात् 'संपूर्ण शून्य ही तत्त्व है' ऐसा माननेवाले माध्यमिक बौद्ध के मत का खण्डन करने के लिये प्रारंभ करते हैं, क्योंकि माध्यमिक सर्वशून्यतावादी बौद्ध मिथ्याबुद्धि के दृष्टान्त से बाह्य पदार्थों का निषेध कर उसी दृष्टान्त से विज्ञान का भी अभाव सिद्ध करता हुआ भावमात्र सर्वथा विचार योग्य नहीं हैं, यह सिद्ध करता है, उसके प्रति सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—बुद्धेः च = और ज्ञान के, एवं = ऐसा (निषेध नहीं हो सकता), निमित्तसद्भावोपलंभात् = निमित्त (कारण) तथा सत्ता की उपलब्धि होने के कारण ।। ३६ ॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी को मिथ्याज्ञान का अनुभव होता है, अतः मिथ्याज्ञान के कारण तथा उसकी सत्ता के उपलब्धि होने से भी बाह्य पदार्थ के समान मिथ्याज्ञान का निषेध नहीं हो सकता, अतः बाह्य पदार्थों के समान ज्ञान की भी सत्ता है, यह सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—मिथ्याज्ञान का भी बाह्य पदार्थ के समान निषेध नहीं हो सकता। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—मिथ्याज्ञान के निमित्त के उपलब्ध होने से, तथा इसकी सत्ता की भी उपलब्धि होने से। क्योंकि मिथ्याज्ञान का निमित्त उपलब्ध होता है। कारण यह कि प्रत्येक प्राणी के आत्मा को मिथ्याज्ञान का अनुभव हुआ करता है। इस कारण मिथ्याज्ञान भी है। अर्थात् माध्यमिक बौद्ध प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध मिथ्याज्ञान का खण्डन नहीं कर सकता—अतः मिथ्याज्ञान को मानने के कारण इसके आधाररूप बाह्य पदार्थों को भी उसे मानना ही पड़ेगा ॥ ३६ ॥

(मिथ्याज्ञान का दृष्टान्त संपूर्ण ज्ञानों में असत् ही विषय होता है, अथवा सत् विषय नहीं होगा, यह सिद्ध नहीं कर सकता। इस आशय से सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—तत्त्वप्रधानभेदात् च = तत्त्व(धर्मीस्वरूप) तथा प्रधान (आरोप योग्य) इन दोनों का भेद होने से भी, मिथ्याबुद्धेः = मिथ्याज्ञान की, द्वैविध्योपपत्तिः = यथार्थता तथा अयथार्थता दोनों प्रकार हो सकते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—वृक्षरूप तत्त्व (धर्मी का स्वरूप) तथा प्रधान (आरोप करने योग्य) पुरुष, इन दोनों का भेद होने के कारण, ऊँचाईरूप समान धर्म के ज्ञान से यह ऊँचा मनुष्य है ऐसा मिथ्याज्ञान होता है। इसी प्रकार ध्वजा को टिड्डी समझना, भट्टी के ढेले को कपोत (कबूतर) समझना, यह भी मिथ्याज्ञान हुआ करता है। अर्थात् समान धर्म के ज्ञान की व्यवस्था से समान विषयों में मिथ्याज्ञान हुआ करता है। जिस माध्यमिक बौद्ध के मत से संपूर्ण जगत् स्वभाव-रहित तथा स्वरूपरहित, अप्रसिद्ध असत् है उसके मत में किसी में किसी का सादृश्य नहीं हो सकता, न उसके ज्ञान से मिथ्याज्ञान ही हो सकता है ॥ ३७ ॥

तत्त्वं स्थाणुरिति, प्रधानं पुरुष इति तत्त्वप्रधानयोरलोपाद् भेदात् स्थाणौ पुरुष इति मिथ्याबुद्धिरुत्पद्यते सामान्यग्रहणात्। एवं पताकायां बलाकेति, लोष्टे कपोत इति, न तु समाने विषये मिथ्याबुद्धीनां समावेशः सामान्यग्रहणाव्यवस्थानात्। यस्य तु निरात्मकं निरुपाख्यं सर्वं तस्य समावेशः, प्रसज्यते। गन्धादौ च प्रमेये गन्धादिबुद्धयो मिथ्याभिमतास्तत्त्वप्रधानयोः सामान्यग्रहणस्य चाभावात्तत्त्वबुद्धय एव भवन्ति। तस्मादयुक्तमेतत् प्रमाणप्रमेयबुद्धयो मिथ्या इति ॥ ३७ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैर्बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम्

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिरित्युक्तम्। अथ कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति ?

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—धर्मी का स्वरूप ऊँचा वृक्ष यह तत्त्व कहाता है और प्रधान (आक्षेप करने योग्य) पुरुष है, इन तत्त्व तथा प्रधान दोनों का परस्पर भेद होने के कारण, ऊँचाईरूप समान धर्म के ग्रहण से वृक्ष में 'यह मनुष्य है' ऐसा मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार श्वेत (सफेद) पताका में बक (बगुलों) के पंक्ति (कतार) का ज्ञान अथवा मिट्टी के ढेले में कपोत है ऐसा मिथ्याज्ञान भी सादृश्य के कारण हुआ करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि समान धर्म के ग्रहण की उक्त प्रकार से व्यवस्था होने के कारण ही समान विषयों में मिथ्याज्ञानों का समावेश होता है, नकि भिन्न विषयों में। अर्थात् मिथ्याज्ञानों की सादृश्य ग्रहण से व्यवस्था होने के कारण जिसमें जिसका सादृश्य होता है उसी में उसका भ्रमरूप मिथ्याज्ञान होता है, इसी कारण मनुष्य के समान वृक्ष में शुक्तिका के सदृश रजत का भ्रम नहीं होता। (जो बाह्य पदार्थों को नहीं मानता उसके मत में यह नहीं हो सकता, इस आशय से भाष्यकार उपसंहार करते हैं कि)—जिसके मत में संसार के संपूर्ण पदार्थ निरात्मक स्वभावशून्य अप्रसिद्ध ही हैं, उसके मत में किसी का किसी में सादृश्य न हो सकेगा और उसका ज्ञान न होने के कारण मिथ्याज्ञान भी नहीं बन सकेगा। (इस प्रकार रूप ज्ञानों का प्रतिपादन कर गंधादि ज्ञानों का प्रतिपादन करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—गन्ध, रस आदि ज्ञान योग्य (प्रमेय) पदार्थों के ज्ञानों को पूर्वपक्षी मिथ्याज्ञान मानता है, किन्तु उसमें तत्त्व (धर्मि स्वरूप), और प्रधान (आरोप योग्य) इन दोनों के तथा उनके समान धर्मज्ञान के भी न होने के कारण गंधादि विषयों का ज्ञान तत्त्व (यथार्थ) ज्ञान ही है। अतः पूर्वपक्षी का 'संसार में संपूर्ण प्रमाण तथा प्रमेय का ज्ञान मिथ्याज्ञान है' यह कहना सर्वथा असंगत है। अर्थात् पूर्वपक्षी तो गंधादि विषयों के ज्ञानों को भी मिथ्याज्ञान ही मानता है, किन्तु गंधादि विषय ज्ञानों में उपरोक्त प्रकार से यथार्थता तथा अयथार्थता ये दोनों प्रकार नहीं हैं, तथा उनमें एक विषय का दूसरे विषय से कोई मिथ्याज्ञान का निमित्त सादृश्य भी नहीं है—इस कारण गंधादि ज्ञानों में, वृक्ष में मनुष्य ज्ञान की समानता नहीं है, इस कारण यह मिथ्याज्ञान नहीं किन्तु सत्य ही ज्ञान है यह सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

(५) तत्त्वज्ञान के विवृद्धि होने का प्रकरण

(इस प्रस्तुत तत्त्वज्ञान विवृद्धि के प्रकरण के विषय में उदयनाचार्य का ऐसा आशय है कि—इस प्रकार प्रासंगिक बाह्यार्थ प्रकरण का समर्थन किया और पूर्व आह्निक के प्रारंभ में दोष-

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्टः। सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते तदभ्यासवशात्तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते ॥ ३८ ॥

यदुक्तं 'सति हि तस्मिन् इन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते' इत्येतत्—

निमित्तता के प्रकरण में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होने में विशेष क्रम भी दिखाया गया, किन्तु इतने से ही कृतार्थता नहीं हो सकती, क्योंकि उससे साक्षात्काररूप मोह का नाश नहीं हो सकता। इस कारण ऐसे तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर्यन्त इसका अभ्यास करना चाहिये—यह दिखाने के लिये यह पंचम प्रकरण प्रारंभ किया जाता है। किन्तु वृत्तिकार का इस विषय में ऐसा मत है कि—'शास्त्र से होने वाला ज्ञान क्षणिक होने के कारण उसका नाश होने पर पुनः मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति होगी, क्योंकि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो वासना सहित मिथ्याज्ञान को समूल नष्ट कर दे' ऐसी शंका को उद्देशकर तत्त्वज्ञान के वृद्धि का प्रकरण प्रारंभ करना प्राप्त होता है। 'तत्त्वज्ञानविवृद्धि' अर्थात् तत्त्वज्ञान वासना—जिसके रहने पर मिथ्याज्ञान का अत्यन्त नाश होता ही है—ऐसा इस प्रकरण का वृत्तिकार ने अर्थ भी किया है। (आगे भाष्यकार इस प्रकरण के अर्थ का अवतरण देने के लिये पूर्वोक्त-विषय का स्मरण कराते हैं कि)—रागादि दोषों के निमित्तों का तत्त्वज्ञान न होने से अहङ्कार (मिथ्याज्ञान) निवृत्त हो जाता है—यह पूर्व ग्रंथ में कह चुके हैं। (इस पर पूर्वपक्षी इस आशय से प्रश्न करता है कि—तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है ? क्योंकि शास्त्र अथवा युक्तियों से तत्त्वज्ञान अहंकार (मिथ्याज्ञान) को निवृत्त नहीं कर सकता, कारण यह कि दोष के निमित्त शरीरादिकों के रहते जिन्हें तत्त्वज्ञान हुआ है उन्हें भी पूर्व के समान अहंकाररूप दोष हुआ करता है। प्रत्यक्षरूप तत्त्वज्ञान तो बिना उपाय के हो ही नहीं सकता। इसके प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—समाधिविशेषाभ्यासात् = योगशास्त्र में कहे हुए समाधिविशेष के अभ्यास होने से ॥ ३८ ॥

भावार्थ—योगशास्त्र के कहे हुए समाधिविशेष अभ्यास से तत्त्वज्ञान अहंकार को समूल नष्ट कर सकता है। जो समाधि संसार के विषयों से इन्द्रियों को हटानेरूप प्रत्याहार के द्वारा मन की एकाग्रतारूप धारण के प्रयत्न से तत्त्वज्ञानप्राप्ति की इच्छा से आत्मा का विशेष संयोग होता है, जिसके होने पर इन्द्रियों में सांसारिक विषयों का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, ऐसे समाधिविशेष का अभ्यास करते-करते ऐसा तत्त्वज्ञान प्रत्यक्ष रूप होता है जिससे पुनः मिथ्याज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥ ३८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हुए समाधि शब्द का अर्थ दिखाते हैं कि)—इन्द्रियों से प्रतीप (उलटे) हटाये हुए किसी हृदय कमलादि रूप प्रदेश में आत्मा के अपने स्थान में मन की धारणा करने के प्रयास से जो आत्मा और मन का संयोग होता है वही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से होनेवाला समाधि कहलाता है। जिसके होने पर समाधि में वर्तमान यदि प्राणियों की इन्द्रियों को सांसारिक विषयों में बुद्धि नहीं होती। ऐसे उपरोक्त समाधि में वारंवार अभ्यास करने से प्रत्यक्षरूप होने के कारण वासना सहित मिथ्याज्ञान को समूल नष्ट करने वाला तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ३८ ॥

न, अर्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

अनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तेर्नैतद्युक्तम् । कस्मात् ? *अर्थविशेषप्राबल्याद्* अबुभुत्समानस्यापि बुद्ध्युत्पत्तिर्दृष्टा यथा स्तनयित्नुशब्दप्रभृतिषु ॥ ३९ ॥

तत्र समाधिविशेषो नोपपद्यते—

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥

क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिश्चानिच्छतोऽपि बुद्धयः प्रवर्त्तन्ते, तस्मादैकाग्र्यानुपपत्तिरिति ॥ ४० ॥

(आगे पूर्वपक्षी के आक्षेप सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—'जो सिद्धान्ती ने कहा था कि उस समाधिविशेष के होने पर इन्द्रियों के विषयों में ज्ञान नहीं होता'—यह ऐसा—

पदपदार्थ—न = यह पूर्वोक्त सिद्धान्ती का कहना नहीं हो सकता, अर्थविशेषप्राबल्यात = सांसारिक पदार्थों के प्रबल होने के कारण ॥ ३९ ॥

भावार्थ—समाधिविशेष के अभ्यास से प्रत्यक्ष तत्त्वज्ञान होता है ऐसा सिद्धान्ती का कहना असंगत है, क्योंकि प्रबल सांसारिक विषयों में मन के आसक्त होने के कारण, उक्त धारणा ही मन की नहीं हो सकती, अतः समाधिविशेष का अभ्यास करने पर भी तत्त्वसाक्षात्कारी नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

(इसी आशय से पूर्वपक्षसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—इच्छा न करने पर भी समाधि में वर्तमान योगियों को भी प्रबल होने के कारण विषयों का इन्द्रियों से ज्ञान होता ही है, अतः सिद्धान्ती का कथन युक्त नहीं है। (प्रश्न)—क्यों ? (उत्तर)—सांसारिक पदार्थों के प्रबल होने से : क्योंकि जिज्ञासा न रहने पर भी मेघों की गर्जना आदि श्रवण करने में ज्ञान हुआ करता है। इस कारण समाधिविशेष नहीं हो सकता अर्थात् इच्छा न रहने पर भी आकाश में मेघों की गर्जना श्रवण करने का ज्ञान हुआ करता है, इस कारण इन्द्रियों से सांसारिक विषयों का ज्ञान होना अनिवार्य होने के कारण उक्त समाधिविशेष का उत्कर्ष हो ही नहीं सकता ॥ ३९ ॥

इसी विषय में दूसरा दृष्टान्त देते हुए पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—क्षुदादिभिः=क्षुधात्यादिकों से, प्रवर्तनात् च=संसार विषयों में प्रवृत्ति होने के कारण भी ॥ ४० ॥

भावार्थ—तथा समाधि लगानेवाले प्राणियों को भी इच्छा न करने पर भी दुःख देनेवाली क्षुधा, पिपासा (प्यास), शीत, उष्ण तथा अनेक प्रकार की व्याधियों से सांसारिक विषयों का ज्ञान होता है, इस कारण चित्त की एकाग्रता न हो सकने से समाधि का उत्कर्ष असंभव है, अतः तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार दूसरे पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—क्षुधा, पिपासा (प्यास), शीत, उष्ण एवं अनेक प्रकार की व्याधियों के कारण इच्छा न रखनेवाले भी योगियों को सांसारिक विषयों का ज्ञान उत्पन्न हुआ ही करता है, अतः चित्त की एकाग्रता नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

अस्त्वेतत्समाधिं विहाय व्युत्थानं व्युत्थाननिमित्तं समाधिप्रत्यनीकं च, सति त्वेतस्मिन्—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुर्धर्मप्रविवेकः फलानुबन्धो योगाभ्याससामर्थ्यम्, निष्फले ह्यभ्यासे नाभ्यासमाद्रियेरन्। दृष्टं हि लौकिकेषु कर्मस्वभ्याससामर्थ्यम् ॥ ४१ ॥

प्रत्यनीकपरिहार्थं च—

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

(आगे समाधानसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—समाधि को छोड़कर योगी को व्युत्थान (समाधि त्याग) हो, तथा व्युत्थान का कारण विक्षेपरूप निमित्त भी हो एवं समाधि में विघ्न भी हों, इन संपूर्णों के रहते—

पदपदार्थ—पूर्वकृतफलानुबंधात् = पूर्वजन्म में किये हुए समाधि के फल के सम्बन्ध से, तदुत्पत्तिः = तत्त्वसाक्षात्कार की उत्पत्ति हो सकती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—पूर्वजन्म में किये हुए योगाभ्यास के सामर्थ्य से तत्त्वसाक्षात्कार योगी को हो सकता है ॥ ४१ ॥

(सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के **'पूर्वकृत'** इस शब्द का अर्थ करते हैं कि)—पूर्वकृत, अर्थात् पूर्वजन्म में संग्रह किया हुआ, तत्त्वज्ञान पुष्ट होने के कारण धर्म का उत्कृष्ट संस्कार उत्पन्न होता है और सूत्र के **फलानुबन्ध** शब्द का अर्थ है, पूर्वजन्म में किये योगाभ्यास का सामर्थ्य। (यदि कहो कि यह न दिखाई पड़ने वाला संस्कार क्यों मानें तो भाष्यकार कहते हैं कि)—यदि अभ्यास करना निष्फल हो तो कोई भी प्राणी अभ्यास करने में प्रवृत्त न होगा। क्योंकि लोकव्यवहार के कर्मों में भी अभ्यास का सामर्थ्य देखने में आता है अर्थात् बारंबार अभ्यास करने से कर्म का फल होता है यह लौकिक व्यवहारों में देखने में आता है, जिससे अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि अलौकिक समाधि आदि कर्मों में भी अभ्यास करने से अवश्य फल प्राप्त होता है, इससे यह सिद्ध हो जाता है, अतः समाधि का अभ्यास व्यर्थ नहीं है ॥ ४१ ॥

(यदि 'समाधि का उत्कर्ष योगी को नहीं हो सकता, क्योंकि राग, द्वेषादि दोष उसको पुनः रोक सकते हैं' इस शंका के समाधानार्थ सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—समाधि के उत्कर्ष में प्रत्यनीक (प्रतिबंधक) दोषों का परिहार (निवृत्ति) करने के लिये ही—

पदपदार्थ—अरण्यगुहापुलिनादिषु = अरण्य, पर्वतगुहा तथा एकान्त बालुमय नदी का तीर इत्यादिकों में, योगाभ्यासोपदेशः = योग (समाधि) के अभ्यास करने का योगशास्त्र में उपदेश किया गया है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—समाधि का उत्कर्ष प्राप्त होने में जो रागादि दोषों से विघ्न होते हैं उन्हीं के दूर करने के लिये ही अरण्य, पर्वतगुहा तथा एकान्त (निर्जन) बालुकामय नदीतीर आदि देशों में योगाभ्यास करने का योगशास्त्र में उपदेश किया गया है ॥ ४२ ॥

योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनुवर्तते। प्रचयकाष्ठागते तत्त्वज्ञानहेतौ धर्मे प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते इति। दृष्टश्च समाधिनाऽर्थविशेषप्राबल्याभिभवः नाहमेतदश्रौषं 'नाहमेतदज्ञासिषमन्यत्र मे मनोऽभूदि'त्याह लौकिक इति ॥ ४२ ॥

यद्यर्थविशेषप्राबल्यादनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तिरनुज्ञायते—

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

मुक्तस्यापि बाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय उत्पद्येरन्निति ॥ ४३ ॥

(इसी आशय से सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उपदेश के दो प्रकार से योगाभ्यास करने से क्या फल प्राप्त होता है यह दिखाते हैं कि)—पूर्वजन्म में किये हुए योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म दूसरे जन्म में भी प्राप्त होता है। उस तत्त्वसाक्षात्कार के कारण योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म प्रचय (समुदाय) जब अन्तिम सीमा में पहुँच जाता है, तो समाधि की भावना (एकाग्रता) का अत्यन्त उत्कर्ष होने के कारण वास्तविक तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि लौकिक व्यवहारों में भी किसी एक विषय की एकाग्रता से विशेष सांसारिक विषयरूप अर्थ की प्रबलता का अभिभव (तिरस्कार) देखने में आता है कि—मैंने यह नहीं सुना, मैंने यह नहीं जाना, क्योंकि मेरा चित्त दूसरे विषय में संलग्न था—ऐसा लौकिक पुरुष भी कहा करते हैं। अर्थात् लौकिक अनुभव में भी जब मन एक विषय में एकाग्र रहता है, तब प्रबल भी दूसरे विषयों का इन्द्रियों से संयोग होने पर भी ज्ञान नहीं होता, जैसे किसी विद्वान् का दार्शनिक ग्रन्थ की कठिन पंक्तियों के अर्थ का विचार करने में चित्त संलग्न हो और उसे कोई दूसरा पुरुष, कुछ प्रश्न करे और वह विद्वान् उसका उत्तर न देने पर दूसरे वक्ता से तिरस्कार करने पर कि मेरे वचन का तुम उत्तर क्यों नहीं देते हो? बड़े खेद से वह विद्वान् उसे कहता है कि क्या करूँ मैंने तुम्हारा कहना नहीं सुना, मैंने जाना ही नहीं कि तुमने मुझे क्या कहा—क्योंकि मेरा चित्त ग्रन्थ के विचार में संलग्न था। अतः इसी लौकिक व्यवहार के समान समाधि के उत्कर्ष से भी चित्त की एकाग्रता होने के लिये ही शास्त्र में योगाभ्यास के स्थान दिखाये हैं ॥ ४२ ॥

(सिद्धान्ती के मत से इच्छा न करने पर भी ज्ञान हुआ करता हैं, केवल प्रबल समाधि स ही उनका तिरस्कार होता है। उसके चित्त का विक्षेप नहीं होता, ऐसा मानने से सिद्धान्ती भी बिना इच्छा के ज्ञान की उत्पत्ति होना मानता ही है, ऐसा होने से अपवर्ग (मोक्ष) की अवस्था में भी सांसारिक पदार्थों की प्रबलता के कारण विषयों का ज्ञान अवश्य होगा जिससे मोक्ष हो ही नहीं सकेगा, इस आशय से पूर्वपक्षसूत्र का भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत से अवतरण देते हैं कि)—यदि सांसारिक पदार्थों की विशेषता की प्रबलता के कारण इच्छा न करनेवाले को भी ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा सिद्धान्ती मानता है—

पदपदार्थ—अपवर्गे अपि = मोक्षावस्था में भी, एवं=ऐसा मानने पर, प्रसंगः=बाह्य पदार्थ विषयों में ज्ञान उत्पन्न होने की आपत्ति होगी ॥ ४३ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती भी इच्छा न रहने पर भी बाह्य विषयों में ज्ञान की उत्पत्ति मानता है, तो मुक्तिप्राप्त पुरुष (आत्मा) को बाह्य विषयों की प्रबलता के कारण उनका ज्ञान होने लगेगा ॥ ४३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार पूर्वपक्षसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—मुक्त आत्मा को भी

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

कर्मवशान्निष्पन्ने शरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तभावादवश्यम्भावी बुद्धीनामुत्पादः, न च प्रबलोऽपि सन् बाह्योऽर्थ आत्मनो बुद्ध्युत्पादे समर्थो भवति, तस्येन्द्रियेण संयोगाद् बुद्ध्युत्पादे सामर्थ्यं दृष्टमिति ॥ ४४ ॥

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥

तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावादभावोऽपवर्गे। तत्र यदुक्तमपवर्गोऽप्येवं प्रसङ्ग इति तदयुक्तम्। *तस्मात्सर्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गः।*

बाह्य सांसारिक पदार्थों के सामर्थ्य (प्रबलता) के कारण उनका ज्ञान उत्पन्न होने लगेगा। अर्थात् तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त को भी बाह्य सांसारिक पदार्थ प्राप्त होते ही हैं, अतः उनका ज्ञान उत्पन्न होने लगेगा, क्योंकि बाह्य सांसारिक पदार्थों की ऐसी महिमा है कि इन्द्रियादिकों का संयोग पा कर ही आत्मा को बाह्य पदार्थों का ज्ञान होने लगेगा ॥ ४३ ॥

उपरोक्त पूर्वपक्षी के उत्तर में सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् = पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न हुए शरीर ही में ज्ञान की उत्पत्ति होने के कारण ॥ ४४ ॥

भावार्थ—पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न हुए चेष्टादिकों के आधार शरीर के ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने के कारण आत्मा का शरीर रहते ही इन्द्रियों के विषय संयोग से ज्ञान होता है, नकि प्रबल बाह्य पदार्थों की केवल सत्ता से, अतः मुक्तावस्था में शरीर तथा इन्द्रिय संयोगादि न रहने से विषय ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—नित्य आत्मा के पूर्वकर्म के अनुसार उत्पन्न हुए, तथा चेष्टारहित तथा अहित के प्राप्ति और त्यागरूप व्यापार, एवं इन्द्रिय तथा अर्थ के आधार शरीर में ही उसके निमित्त होने के कारण ही विषयों का ज्ञान अवश्य होता है। नकि प्रबल होने पर भी बाह्य पदार्थ विना शरीरादिकों के आत्मा को विषय ज्ञान कराने में समर्थ हो सकते हैं। क्योंकि आत्मा को विषयों के साथ इन्द्रियों के संयोग से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, यह देखने में आता है। (अर्थ के विना इन्द्रियों का संयोग हुए बाह्य पदार्थ प्रबल होने पर भी आत्मा को ज्ञान नहीं करा सकते) ॥ ४४ ॥

(यदि पदार्थों का ऐसा सामर्थ्य होने पर भी मुक्ति अवस्था में ज्ञानोत्पत्ति क्यों नहीं होती ? ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो सिद्धान्तीमत से सूत्रकार उत्तर करते हैं)—

पदपदार्थ—तदभावः च = और ज्ञान का कारण शरीर का अभाव है, अपवर्गे = मोक्षावस्था में ॥ ४५ ॥

भावार्थ—ज्ञानों के उत्पत्ति के कारण शरीर तथा इन्द्रियों का उनके उत्पत्ति के कारण धर्म तथा अधर्मरूपदृष्टि के न होने से, कारण न होने से कार्य न होने के कारण मुक्तावस्था में अभाव है, अतः मुक्तावस्था में विषय ज्ञान हो नहीं सकता, अतः पूर्वपक्षी का आक्षेप असंगत है ॥ ४५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उस ज्ञानों के उत्पन्न होने के निमित्त के आधाररूप शरीर तथा इन्द्रियों को उसके कारण धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट के न रहने के कारण अपवर्ग (मोक्षावस्था) में अभाव होता है। इस कारण पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि मोक्षावस्था में भी पदार्थविषयकज्ञान उत्पन्न होने की आपत्ति आवेगी, वह असंगत

यस्मात्सर्वदुःखबीजं सर्वदुःखायतनं चापवर्गे विच्छिद्यते तस्मात्सर्वेण दुःखेन विमुक्तिरपवर्गो न निर्बीजं निरायतनं च दुःखमुत्पद्यत इति ॥ ४५॥

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥

तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः। यमः समानमाश्रमिणां धर्मसाधनम्, *नियमस्तु* विशिष्टम्। *आत्मसंस्कारः* पुनरधर्महानं धर्मोपचयश्च, योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। स पुनस्तपः प्राणायामः

है। अर्थात् धर्माधर्मरूप आत्मा का अदृष्ट ही शरीर तथा इन्द्रियों को उत्पन्न करता है, मोक्षावस्था में वह अदृष्ट क्षीण हो जाने के कारण उसका कार्य शरीरादिक नहीं होता, जो ज्ञानों को उत्पन्न करता है, अतः मोक्षावस्था में शरीरादि निमित्त के न होने से ज्ञानों की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। (मुक्त पुरुष को शरीरादि नहीं होते—इसमें दूसरा प्रमाण दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इसी कारण संपूर्ण दुःखों से छूटने को अपवर्ग कहते हैं, जिस कारण संपूर्ण प्रकार के सांसारिक दुःखों का बीज (मूल कारण) तथा संपूर्ण दुःखों के उत्पन्न होने का आधार शरीरादिक मोक्षावस्था में समूल नष्ट हो जाता है, इसी कारण संपूर्ण दुःखों से विमुक्ति (छुटकारे) को अपवर्ग (मोक्ष) कहते हैं, क्योंकि विना बीज तथा आधार के दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः मोक्षावस्था में संपूर्ण प्रकार के दुःखों का अत्यन्त अभाव रहता है, यह प्रसिद्ध शरीर तथा इन्द्रियों के न रहने के कारण ही है यह सिद्ध होता है ॥ ४५ ॥

समाधिविशेष के समान तत्वज्ञान तथा अपवर्ग के दूसरे भी साधनों को दिखाते हुए सूत्रकार सिद्धान्तमत से कहते हैं—

पदपदार्थ—तदर्थं = अपवर्ग के लिये, यमनियमाभ्यां = योगशास्त्र में कहे हुए यम, तथा नियमों से, आत्मसंस्कारः = आत्मा का अधर्म नाश, तथा धर्मवृद्धिरूप संस्कार, (करना चाहिये), योगात् च = और योगशास्त्र में कहे हुए, अध्यात्मविध्युपायैः = तपश्चर्या प्राणायाम इत्यादि आत्म विषय के उपायों को अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४६ ॥

भावार्थ—उस अपवर्ग के प्राप्ति के लिये योगशास्त्र में कहे हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम, एवं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान नामक नियमों से आत्मा का संस्कार करना चाहिये, अर्थात् आत्मा के संपूर्ण अधर्म नष्ट होकर धर्म की वृद्धि हो ऐसी आत्मा को मुक्ति प्राप्ति की योग्यता प्राप्त होने का उपाय करना चाहिए। तथा योगशास्त्र में कहे हुए तपश्चर्या, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणारूप अध्यात्म विधि भी अपवर्ग की प्राप्ति के लिये करना चाहिये ॥ ४६ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—उस अपवर्ग की प्राप्ति होने के लिये योगशास्त्र में कहे हुए अहिंसा आदि यम तथा शौचादि नियमों से आत्मा का संस्कार (अपवर्ग प्राप्ति की योग्यता) करनी चाहिये। अर्थात् यम तथा नियमों से किया हुआ आत्मा का संस्कार अपवर्ग का साधक होता है—यह प्रथम वाक्य का अर्थ है। जिनमें अहिंसा आदि यम, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों में धर्म के समान साधन होते हैं। और शौच आदि नियम भिन्न-भिन्न आश्रमों के भिन्न-भिन्न साधन होते हैं, जैसे ब्रह्मचारी को स्वाध्याय, तथा वानप्रस्थी को तपश्चर्या इत्यादि। सूत्र में आत्मसंस्कार शब्द का अर्थ है अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि। (सूत्र के 'योगात्' यहाँ से द्वितीय वाक्य का अर्थ भाष्यकार दिखाते हुए कहते हैं कि)—योगशास्त्र में प्रतिपादन किये हुए उपायों से भी आत्मा को मुक्ति प्राप्ति के योग्य करना रूप

प्रत्याहारो ध्यानं धारणेति। इन्द्रियविषयेषु प्रसंख्यानाभ्यासो रागद्वेषप्रहाणार्थः, उपायस्तु योगाचारविधानमिति ॥ ४६ ॥

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

तदर्थमिति प्रकृतम्। ज्ञायतेऽनेनेति *ज्ञान*मात्मविद्याशास्त्रं तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे, *अभ्यासः* सततक्रियाध्ययनश्रवणचिन्तनानि, *तद्विद्यैश्च सह*

अध्यात्म विधि करना चाहिये। तपश्चर्या, प्राणायाम, प्रत्याहार (विषयों से इन्द्रियों को हटाना), ध्यान तथा धारणा यह संपूर्ण सूत्र के अध्यात्मविधि शब्द का अर्थ है (यह अध्यात्मविधि किसलिये आत्मा का संस्कार करता है। इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि)—इन्द्रियों के विषयों में प्रसंख्यान (त्याग) का अभ्यास करने से राग, द्वेष तथा मोहरूप दोषों की हानि होती है। तथा सूत्र के उपाय शब्द का अर्थ है एकान्तवास, परिमित भोजन तथा एक स्थान में सदा न रहना इत्यादि। इन सब उपायों से तत्त्वज्ञान क्रम से दृढ़ होता हुआ आत्मा को अपवर्ग प्राप्ति की योग्यतारूप आत्मसंस्कार कर योगी प्राणी अपवर्ग को सिद्ध कर लेता है ॥ ४६ ॥

(यदि यह योगशास्त्र में कहा हुआ ही तत्त्वज्ञान के उत्पत्ति के क्रम से मोक्ष का उपाय है तो इस न्यायशास्त्र की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के समाधान में सिद्धान्तमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—ज्ञानग्रहणाभ्यासः = आत्मविद्याशास्त्र के अध्ययन, तथा धारण का अभ्यास, तद्विद्यैः च = और उस आत्मविद्या के जाननेवालों के भी, सह = साथ, संवादः = अच्छी तरह वाद (विचार) मोक्ष के लिये (करना चाहिये) ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मोक्ष प्राप्त होने के लिये वास्तविक आत्मज्ञान के वर्णन करनेवाले अध्यात्मविद्यारूप न्यायशास्त्र का अध्ययन तथा उसके अर्थ का मन में धारण करनारूप ग्रहण का निरन्तर करना तथा निरन्तर अध्ययन और गुरुमुख से उसके अर्थ का श्रवण कर उसका निरन्तर विचार करना इत्यादि रूप अभ्यास करना चाहिये। तथा अपनी बुद्धि की उक्त विषय में दृढता होने के लिये, उक्त अध्यात्मविद्यारूप न्यायशास्त्र के ज्ञाताओं के साथ वाद-विवाद भी करना चाहिये, जिससे संदेहों की निवृत्ति, तथा न ज्ञात हुए विषयों का ज्ञान तथा सामान्यरूप से जाने हुए विषयों का तर्क द्वारा विचार से परीक्षा कर विषयों का स्वीकार करना इत्यादि फल प्राप्त होता है। अतः योगशास्त्रोक्त विधि से समाधि द्वारा मोक्ष प्राप्त होने पर भी अध्यात्मविद्यारूप न्यायशास्त्र की भी वास्तविक आत्मा के तत्त्वज्ञान के लिये आवश्यकता है यह सिद्ध होता है ॥४७॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में **'तदर्थं'** मोक्ष के लिये यह प्रकृत (प्रस्तुत) है। आगे सूत्र के **'ज्ञानग्रहण'** इस पद का यह अर्थ है कि 'जिससे ज्ञान होता है' इस ज्ञान पद की व्युत्पत्ति से ज्ञान शब्द का अर्थ है 'आत्मा के विषय के ज्ञान का शास्त्र' (न्यायशास्त्र)। उसका अध्ययन (पढ़ना) और उसके अर्थ का मन में धारण और उनका सदा विचार करना अर्थात् न्यायशास्त्र का पढ़ना गुरुमुख से सुनना एवं उसके अर्थ का सदा विचार करना—यह अभ्यास शब्द का अर्थ है। मोक्ष प्राप्ति के लिये आन्वीक्षिकी (न्याय) शास्त्र का अध्ययन, श्रवण तथा चिन्तन (विचार) करना आवश्यक है जिससे मोक्षप्राप्ति होती है। और न्यायशास्त्र के ज्ञाता विद्वानों के साथ शास्त्र का विचार करना भी मोक्षप्राप्ति का साधन है, अतः न्यायविद्यावेत्ताओं के साथ अपनी बुद्धि के पुष्ट होने के लिये विचार भी करना चाहिये, जिससे शरीरादि भिन्न आत्मा है या नहीं यह संशय दूर हो जाता है, तथा विशेषरूप से न जाने हुए विषयों का ज्ञान, एवं प्रमाण से सामान्यरूप से जाने हुए विषयों का तर्क द्वारा

संवाद इति प्रज्ञापरिपाकार्थम्, परिपाकस्तु संशयच्छेदनमविज्ञातार्थबोधोऽध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति । समाय वादः संवादः ॥ ४७ ॥

तद्विद्यैश्च सह संवाद इत्यविभक्तार्थं वचनं विभज्यते—

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥४८॥

एतन्निगदेनैव नीतार्थमिति ॥ ४८ ॥

यदिदं मन्येत पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्येति—

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥

विचार से परीक्षा करना; उसका स्वीकार करना—ये तीनों प्रज्ञा का परिपाक कहे जाते हैं। यह नैयायिकों के साथ शास्त्र विचार करने का फल है। सूत्र के 'संवाद' शब्द का अर्थ है, 'समाय' समता के लिये अर्थात् अनुमति के लिये 'वाद' तत्त्वज्ञान की इच्छा से उस कथा की प्रवृत्ति होना। यह उपरोक्त विना न्यायशास्त्र के अध्ययन के नहीं हो सकता, अतः इसके अध्ययन की आवश्यकता है॥

(४७ वें सूत्र में कहे हुए संवाद पद के अर्थ का निरूपण करनेवाले सिद्धान्तिमत के सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—न्यायशास्त्ररूप अध्यात्मविद्या के ज्ञाताओं के साथ संवाद (वाद-विवाद) करना चाहिये ऐसे कहे हुए अविभक्त (अस्पष्ट) अर्थ वाले वाक्य का विशेषरूप से वर्णन किया जाता है—

पदपदार्थ—तं=उस संवाद को, शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिः=शिष्य, गुरु, सहाध्यायी, विशिष्ट (इनसे भिन्न शास्त्र से कहा हुआ), श्रेय (कल्याण) की इच्छा रखनेवाले संवाद करने में उत्कण्ठा रखनेवाले, उनके साथ, अनसूयुभिः = जो ये सब ईर्षा न रखते हों, अभ्युपेयात् = करे ॥४८॥

भावार्थ—आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करनेवाले प्राणी के मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयास करने में जो ईर्षा (डाह) न रखते हों ऐसे, शिष्य, गुरु, सब्रह्मचारी (साथ पढ़नेवाला)। तथा विशेष विद्वान् तथा कल्याण की या मोक्ष की प्राप्ति में श्रद्धा रखनेवालों के साथ संवाद (शास्त्रविचार) करना चाहिये, अर्थात् शिष्यादिकों के साथ वाद-कथा द्वारा तत्त्व निश्चय करना चाहिये यह ४७ वें सूत्र का आशय है ॥ ४८ ॥

(भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में यह सूत्र निगद होने (स्पष्ट होने से) नीतार्थ (गतार्थ) है इतनी व्याख्या की है। किन्तु वृत्तिकार ने 'तं' इस पद की 'सद्विद्य' (अच्छी विद्यावाले) को ऐसी व्याख्या कर शिष्यादिकों की सहायता से, 'तद्विद्य' उस विद्यावाले को जाने—ऐसा अर्थ किया है। और तात्पर्यटीकाकार ने 'अभ्युपेयात्' इस पद का सन्मुख जाकर जाने ऐसा अर्थ कहकर आगे गुरु आदिकों के साथ वाद (कथा) करे, ऐसा कहा है ॥ ४८ ॥

(अन्तिम सिद्धान्तसूत्र का पूर्वपक्षी के मत से आक्षेप दिखाते हुए भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—जो ऐसा पूर्वपक्षी माने कि—पक्ष तथा प्रतिपक्ष का परिग्रह (स्वीकार करना) तो पर (दूसरे) शिष्यादिकों का प्रतिकूल (विरुद्ध) है—अर्थात् संवादशब्द का अर्थ हैं—अपने पक्ष का स्वीकार, तथा दूसरे के पक्ष का खण्डन, वह तो दूसरे गुरु शिष्य आदिकों के प्रतिकूल (खेदजनक) ही होगा, ऐसा पूर्वपक्षी का आशय हो तो, इसके उत्तर में सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—प्रतिपक्षहीनं अपि = विरुद्ध पक्ष से रहित भी, वा = अथवा, प्रयोजनार्थं = तत्त्वनिर्णयरूप प्रयोजन के लिये, अर्थित्वे = तत्त्वज्ञान की इच्छा रहते ॥ ४९ ॥

भावार्थ—दूसरे शिष्य-गुरु आदिकों से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला मुमुक्षु प्राणि

तमभ्युपेयादिति वर्तते । परतः प्रज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति ॥ ४९ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम् ।

अन्योन्यप्रत्यनीकानि च प्रावादुकानां दर्शनानि स्वपक्षरागेण चैके न्यायमतिवर्तन्ते, तत्र—

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥

तत्त्वज्ञान होने की जिज्ञासा को प्रकट करता हुआ अपने पक्ष की स्थापना न करता हुआ ही गुरु आदिकों के दिये विचार से पूर्वपक्ष का खण्डन तथा सिद्धान्तपक्ष की स्थापना द्वारा परस्पर विरुद्ध वादियों के मतों का असंगत भाग छोड़कर युक्त भाग को लेते हुए परिशोधन करे। उक्त प्रकार से विचार द्वारा स्थिर करे ॥ ४९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र में आवश्यक पद की पूर्ति करते हुए सिद्धान्ती के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—पद इस सूत्र में 'तं अभ्युपेयात्' ऐसा पूर्व से आता है, जिससे तत्त्वज्ञानरूप प्रयोजन के लिये विना विरुद्ध पक्ष के भी तत्त्वज्ञान की इच्छा रहते हुए संवाद को कहे, ऐसा पूरे सूत्र का अर्थ होता है। गुरु-शिष्य आदिकों से ज्ञानप्राप्ति की इच्छा करने वाला मुमुक्षु 'इन्द्रियादिकों से भेद जानना चाहता हूँ' इस प्रकार अपनी तत्त्वज्ञान प्राप्ति की इच्छा को प्रकट करता हुआ, आग्रहपूर्वक अपने पक्ष के साधनार्थ कोई हेतु न देखकर ही अपने मत को गुरु आदि के साथ विचारकर पूर्वपक्षों के खण्डन तथा सिद्धान्तपक्षों के स्थापन से सिद्ध करे (निश्चित करे), क्योंकि प्रावादुक (वादियों के) मतों में (परस्पर) विरुद्ध भाग का त्याग कर, संगत भाग का ग्रहण करना होता है जिनमें वास्तविक विषय का ज्ञान प्राप्त करना ही मुख्य प्रयोजन है, जिसमें विरुद्धपक्ष की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं होती ॥ ४९ ॥

(६) तत्त्वज्ञान के परिपालन का प्रकरण

(यदि तत्त्वनिर्णय के लिये वादकथा ही आवश्यक हो तो जल्प तथा वितण्डाकथा का कोई प्रयोजन न होने से वे दोनों कथा व्यर्थ हो जायँगी इस शंका के समाधानार्थ जल्प तथा वितण्डा दोनों कथाओं के प्रयोजन को कहनेवाले तत्त्वज्ञान के परिपालन (रक्षा) प्रकरण को आरंभ करते हुए उन दोनों के प्रयोजन को कहनेवाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार ऐसा अवतरण देते हैं कि)—कुछ गुरु आदि से भिन्न विद्वान् केवल तत्त्वज्ञान की इच्छा से कथा में प्रवृत्त न होते हुए प्रतिवादी को शास्त्रार्थ में पराजय करने की इच्छा से ही अपने सिद्ध करने के पक्ष के ही केवल अनुराग से न्याय (उत्तर विचार के नियमों) की रक्षा न करते हैं ऐसे स्थान में—

पदपदार्थ—तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं = तत्त्वज्ञान के निश्चय की रक्षा करने के लिये, जल्पवितण्डे = जल्प तथा वितण्डा कथा होती हैं, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं = बीज के अंकुरों की रक्षा करने के लिये, कण्टकशाखावरणवत् = काँटेवाले वृक्ष की शाखाओं के आवरण (घेरे) के समान ॥५०॥

भावार्थ—जिस प्रकार दूसरे स्थान में उपयोग न होने पर भी खेत में उगे हुए धान के बीज के अंकुरों को कुत्ते आदि घातुक जीवों से बचाने के लिये काँटेवाले वृक्षों की शाखा से घेरकर बीज के धान्यों की रक्षा की जाती है इसी प्रकार अनुचित होने पर भी जल्प तथा वितण्डा इन दोनों कथा की भी तत्त्वज्ञान की रक्षा करने के लिये आवश्यकता होती है, अतः जल्प और वितण्डा इन दोनों कथाओं का भी प्रयोजन है यह सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति । विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणावज्ञायमानस्य ॥ ५० ॥

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥ ५१ ॥

विगृह्येति विजिगीषया न तत्त्वबुभुत्सयेति । तदेतद्विद्यापालनार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति ॥ ५१ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम् ।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र का अर्थ सरल होने के कारण उसमें कुछ विशेष दिखाते हुए सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिनको तत्वज्ञान नहीं हुआ, तथा जिनके राग-द्वेषादि दोष नष्ट नहीं हुए और जो तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के लिये अभी तक प्रयास ही करते हैं उन्हीं के लिये अपने पक्ष की रक्षा के लिये जल्प तथा वितण्डा इन दोनों कथाओं का विधान है। अर्थात् आज तक तत्वज्ञान नहीं हुआ है, अतः अभी तक जो उसके लिये प्रयत्न ही कर रहे हैं उन्हीं को अपनी पक्ष की रक्षा के लिये जल्प तथा वितण्डा कथा करनी चाहिये, नकि जिन्हें सत्यज्ञान हो गया है उन्हें जल्प तथा वितण्डा कथा की आवश्यकता है–यह सूत्रकार का आशय है॥

(केवल तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करनेवालों को ही जल्प और वितण्डा कथा की अपेक्षा है, ऐसा नहीं किन्तु दूसरों को भी—इस आशय से सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—अपनी विद्या के अहंकार, अथवा निर्वेद (उत्तम विद्या के वैराग्य) आदि दूसरे कारणों से प्रतिवादी से अपमान प्राप्त होने पर—

पदपदार्थ—ताभ्यां=उन जल्प तथा वितण्डा दोनों कथाओं से, विगृह्य=प्रतिवादी के पराजय करने की इच्छा से झगड़कर, कथनम्=तत्त्व वस्तु का कथन करे ॥ ५१ ॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिये प्रतिवादी के पराजित करने की इच्छा से विग्रह (विवाद कर) तत्त्ववस्तु को कहे। अर्थात् जो अपने विद्या के अहंकार से, अथवा वास्तविक विद्या के वैराग्यादि दूसरे कारणों से, धनप्राप्ति, सत्कार तथा लोक में प्रसिद्धि होने की आशा से अच्छे लोगों के आगे वेद ब्राह्मणादिकों की निन्दा करने में प्रवृत्त हुआ हो—ऐसे प्रतिवादी का अप्रतिभा के कारण सत्य उत्तर न दे सकने के कारण, उस प्रतिवादी से उसे पराजित करने की इच्छा से वादी विवाद (झगड़ों) को प्रकट करता हुआ जल्प तथा वितण्डा कथा से वस्तुवृत्त का कथन करे ॥ ५१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की सिद्धान्तमत से व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के **'विगृह्य'** (झगड़कर) प्रतिवादी के पराजित करने की इच्छा से, नकि तत्त्वज्ञान के जानने की इच्छा से। यह केवल तत्वज्ञान विद्या की रक्षा के लिये किया जाता है, नकि धनप्राप्ति, सत्कार तथा संसार में प्रसिद्धि होने के लिये। अर्थात् बड़े लोग तथा उनके मतानुसार चलनेवाले साधारण जनता का धर्म नष्ट न हो—यही जल्प तथा वितण्डा कथा का अदृष्ट प्रयोजन है, नकि संसार में धनप्राप्ति, सत्कार इत्यादि यह सूत्रकार का आशय है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्री वात्स्यायन महर्षि प्रणीत न्यायसूत्र भाष्य में चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चमाध्यायस्याऽऽद्यमाह्निकम् ।

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमिति सङ्क्षेपेणोक्तं तद्विस्तरेण विभज्यते । ताः खल्विमा जातयः, स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतवः—

---

(१) सत्प्रतिपक्ष देशनाभास प्रकरण

इस पंचमाध्याय के विषय की संगति से कुछ विद्वानों ने आक्षेप ऐसा किया है कि प्रथमाध्याय के प्रथम सूत्र में शास्त्र के पदार्थों का उद्देश किया है—बाकी के उस प्रथमाध्याय में उन पदार्थों का लक्षण किया गया है—और आगे द्वितीयाध्याय से लेकर चतुर्थाध्याय में षोडश पदार्थों की परीक्षा की गई है, इस कारण पुनः लक्षण करने का अवसर ही नहीं है—और इस पंचमाध्याय में लक्षण ही किया जाता है इस कारण पंचमाध्याय असंगत है, ऐसी बोधसिद्धि में उदयनाचार्य ने समालोचना की है। इस कारण पंचमाध्याय में जो वर्णन किया गया है उसका प्रथमाध्याय में अवसर था। इस आक्षेप का तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने ऐसा समाधान किया है कि—यद्यपि जाति तथा निग्रहस्थानों के भेदों का लक्षण करना उनके सामान्य लक्षण के पश्चात ही प्रथमाध्याय में उचित था, तथापि उनके बहुत होने के कारण प्रमेय आत्मादि पदार्थों की परीक्षा करने में विलम्ब न हो इस कारण तथा शिष्य (श्रोताओं) को अपेक्षित भी है। संशयादि पदार्थों की परीक्षा के विना प्रमेय, आत्मादि पदार्थों की परीक्षा हो नहीं सकती। इसी कारण महर्षि गौतम ने इन्द्रियों की आकांक्षा के अनुसार द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक परीक्षा ही की है। इसके पश्चात् अवशिष्ट जाति तथा निग्रहस्थानों का विशेष लक्षण सम्प्रति इस पंचमाध्याय में करते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त आक्षेप का दूसरा समाधान भी तात्पर्यटीका में ऐसा किया है कि—चतुर्थ अध्याय के समाप्ति में जल्प तथा वितण्डा कारण की परीक्षा की गई है—इसके पश्चात् उसके अंगभूत जाति तथा निग्रहस्थानों का लक्षण करना उचित ही है। इससे अवान्तर (बीच) की संगति भी प्राप्त होती है, अतः कोई दोष नहीं है। प्राचीन नैयायिकों ने चौबीस प्रकार की जातियों का षोडश (सोलह) वर्गों में विभाग किया है। इस सोलह प्रकार के विभाग के अनुसार ही प्रथम षोडश प्रकरण हैं, यह जानना चाहिये। आगे प्रथम सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार—जब प्रमाणादि षोडश पदार्थों का उद्देश लक्षण तथा परीक्षा हो चुकी तो अब क्या अवशिष्ट है जिसके लिये इस पंचमाध्याय का प्रारंभ करते हैं ? इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं कि—केवल साधर्म्य तथा वैधर्म्य से प्रत्येक स्थान (आक्षेप) के विकल्प से अनेक प्रकार की जातियाँ होती हैं यह संक्षेप में कहा गया है, उसी का विस्तार से चिन्तन किया जाता है। वह यह चौबीस प्रकार की जातियाँ किसी पक्ष के वादी द्वारा स्थापना के लिये प्रयोग करने पर जिनका वस्तुतः निषेध नहीं हो सकता। प्रतिषेध के कारण होते हैं अर्थात प्रतिवादी वादी के हेतु का खण्डन करने के लिये निषेध बुद्धि से जिनका प्रयोग करता है वही प्रस्तुत जाति पदार्थ है। इसके प्रयोग करने का वार्तिककार ने इस प्रकार समर्थन किया है—कि यदि प्रतिवादी वादी के प्रयोग किये स्थापना हेतु को ठीक है ऐसा समझता है, तो धनलाभ, सत्कार आदि प्राप्त करने की इच्छा से, इसलिये जाति (असत उत्तर) का प्रयोग करता है कि—कदाचित जाति उत्तर से घबड़ाकर उत्तर न दे सके तो

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्यु-पलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥

निगृहीत हो जायगा (पराजित हो जायगा) जिससे मेरा विजय ही होगा, और यदि मैं जाति का प्रयोग न करूँगा तो मेरा ही पराजय होगा, पराजय होने की अपेक्षा से मैं पराजित हुआ या नहीं कि संदेह में रहना ही अच्छा है, इस कारण जाति (असत् उत्तर का प्रयोग जल्प तथा वितण्डा कथा में करना आवश्यक है) सूत्र में प्रथम चौबीस प्रकार की जातियों की गणना दिखलाने वाला यह प्रथम सूत्र है—

पदपदार्थ—साधर्म्यसमा १, वैधर्म्यसमा २, उत्कर्षसमा ३, अपकर्षसमा ४, वर्ण्यसमा ५, अवर्ण्यसमा ६, विकल्पसमा ७, साध्यसमा ८, प्राप्तिसमा ९, अप्राप्तिसमा १०, प्रसंगसमा ११, प्रतिदृष्टान्तसमा १२, अनुत्पत्तिसमा १३, संशयसमा १४, प्रकरणसमा, १५, अहेतुसमा १६, अर्थापत्तिसमा १७, अविशेषसमा, १८, उपपत्तिसमा १९, उपलब्धिसमा २०, अनुपलब्धिसमा २१, नित्यसमा २२, अनित्यसमा २३, कार्यसमा २४, ऐसी जातियाँ चौबीस प्रकार की हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—वादादि कथाओं में वादी ने अपने पक्ष की स्थापना के लिए दिये हुए हेतु का जिससे वास्तविक न होने पर भी निषेध किया जाता है उसे जाति कहते हैं, जो उपर्युक्त प्रकार से चौबीस विभागों में विभक्त हैं जिनका इसी सूत्र से भाष्यकार ने लक्षण किया है ॥ १ ॥

इस प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि केवल समान धर्म को लेकर विना किसी विशेष के स्थापना के हेतु से निषेध करने को साधर्म्यसमा-नामक जाति कहते हैं। अर्थात् जो प्रतिषेध का हेतु स्थापना हेतु से समानधर्म को लेकर—विशेष सहित होता है, उस साधर्म्य हेतु से समान होता हुआ साधर्म्य समनामक जाति से कहा जाता है। यहाँ दोनों हेतुओं में समानता क्या है सो भाष्यकार कहते हैं कि—हम दोनों हेतुओं के अविशेष को प्रत्येक जाति के उदाहरण में दिखावेंगे कि स्थापना तथा निषेध इन दोनों हेतुओं में समानता क्या है। तथा यह विषय संपूर्ण आगे आने वाले जातियों के भेदों में भी जानना चाहिये। यहाँ पर सम शब्द की अनेक प्रकार की व्याख्या करते हैं—कि (१) यद्यपि मेरा उत्तर हेतु से अधिक उत्तम नहीं है, तथापि उससे मैं सम्मान करूँगा इस प्रयोग को उस सम्मान हेतु के लिये होने के कारण अथवा उसके अभिप्राय से होने के कारण 'सम' ऐसा कहते हैं—ऐसा उदयनाचार्य का मत है। और वार्तिककार ऐसा कहते हैं कि—जो सम होने के लिये प्रयोग होता है—ऐसा जो कहा है—इससे समता की प्राप्ति के लिये बुद्धिपूर्वक जाति का प्रयोग समता प्राप्तकाल है—यह सूचित होता है। क्योंकि यदि यह वादी जाति उत्तर से घबड़ाकर उत्तर दे न सके अथवा, असत् (असंगत) कहे तो मेरे निरनुयोज्यानुयोग के समान दूसरे वादी को भी पर्यनुयोगो पेक्षण अथवा निरनुयोज्या-नुयोग होने से हम दोनों समान हो जायँगे। नहीं तो मैं ही निकृष्ट हो जाऊंगा। इस बुद्धि से जात्युत्तर करने में प्रवृत्ति होती है। (२) और भाष्यकार ने प्रयोग में होने वाले विशेष हेतु के अभाव को 'साम्य' कहा है। क्योंकि उन्होंने विना विशेष के होने वाले साधर्म्य से निषेध कहा है। जिस प्रकार तुमसे दिया हुआ साधर्म्य उसी प्रकार मेरा कहा हुआ भी—जिस प्रकार यह वैधर्म्य है उसी प्रकार यह भी—जिस प्रकार यह उसके उपलब्ध होता है उसी प्रकार यह भी—इस प्रकार जातिवादी के निषेध होने से यह प्रत्यवस्थान (निषेध का स्वरूप) संपूर्ण जातियों में साधारण

साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः। अविशेषं तत्र तत्रोदाहरिष्यामः। एवं वैधर्म्यसमप्रभृतयोऽपि निर्वक्तव्याः ॥ १ ॥

लक्षणं तु—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥

है यह सूचित होता है, जो उन उन जातियों में दिखाया जायगा (३) और कुछ विद्वान् तो वक्ता के धर्म का वचन में लाक्षणिक प्रयोग करते हैं। अर्थात् जातिवादी **'सम'** साधारण है, न कि उत्कृष्ट है न निकृष्ट। जिसका साधर्म्यादि उत्तर से ही जाना जाता है, इस कारण उत्तर ही **'सम'** अर्थात् अपकृष्ट (खराब) होता है। ये अपकृष्ट आठ दूषण करने में समर्थ होने पर भी असिद्ध तथा सिद्ध होने पर भी दूषण करने में असमर्थ ऐसा दो प्रकार का होता है। जिसमें प्रथम भी दूषण करने योग्य की कल्पना की जाती है, वह छल, और ऐसा न हो तो निरनुयोज्यानुयोग कहाता है ऐसा आगे कहेंगे। इससे अवशिष्ट जाति कहाती है, जिससे सामान्य लक्षण सूचित होता है। (४) किन्तु आचार्य उदयन का ऐसा कहना है कि—जो जाति उत्तर दूसरे के साधन के समान अपना भी विरोध करता है, इस कारण अपने तथा दूसरे की समानता होने के कारण **'सम'** कहा जाता है। जिससे अपनी आत्मा का व्याघात करना, यह सर्व साधारण दुष्टता का मूल कारण है यह सूचित होता है। यह विषय प्रत्युत्तर सूत्र में कहा जायगा। यही सर्व साधारण सामर्थ्य है, जिसके साधर्म्य आदि विशेष उपाधि हैं। ऐसा होने से यद्यपि इनका विशेष लक्षण नामों के निर्वचन ही है यह सिद्ध होता है, तथापि उनके कारणादिकों के प्रतिसंधान (ज्ञान) के लिये भिन्न भिन्न लक्षणों का आरंभ किया गया है। क्योंकि उनका ज्ञान होने से प्रति दूषण उलटे (खण्डन) के लिये समर्थ हो सकते हैं, तथा ठीक ठीक उत्तर के न सूझने पर जातियों का प्रयोग करने में भी उपयोग होगा ॥ १ ॥

जाति लक्षण सूत्रों का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं—कि उन चौबीस प्रकार की जातियों का क्रम से ऐसा लक्षण है—

पदपदार्थ—साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां = केवल समान धर्म तथा विरुद्ध धर्म से, उपसंहार = साध्य का वादी के द्वारा उपसंहार करने पर, तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः = साध्यधर्म के विरुद्ध धर्म के केवल साधर्म्य तथा वैधर्म्य से जो प्रतिवादी दोष का उपपादन करता है उसका साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम कहते हैं।

भावार्थ—अर्थात् वादी के अन्वय अथवा व्यतिरेक व्याप्ति को लेकर हेतु से साध्य की सिद्धि करने पर व्याप्ति की अपेक्षा न करने वाले केवल साधर्म्य से साध्य के अभाव की आपत्ति देने को साधर्म्यसम तथा केवल वैधर्म्य को लेकर साध्य के अभाव की आपत्ति देने को वैधर्म्यसम जाति उत्तर (कहते हैं) ॥ २ ॥

इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हुए साधर्म्य सम का लक्षण कहते हैं—कि व्याप्तिसहित समानधर्म को लेकर जब वादी साध्य की सिद्धि दिखाता है, तो उस पर साधर्म्य के विपर्यय (अभाव) की सिद्धि करने के लिये प्रतिवादी व्याप्ति की अपेक्षा न करने वाले केवल समान धर्म से जो विना किसी विशेष कारण के खण्डन करता है, वह स्थापना के हेतु से साधर्म्य सम नामक जाति उत्तर रूप निषेध कहाता है। इस भाष्य में **'प्रतिषेधः'** यह पुंलिङ्ग पद **'समः'** इसका विशेषण है यह सूचित करता है। किन्तु बहुत से पुस्तकों में **'साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा'** ऐसा भी पाठ मिलता है, जिसमें **'जातिः'**

साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः। निदर्शनं क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात्। द्रव्यं लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान्, तथा चात्मा, तस्मात्क्रियावानिति। एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते, निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वाद्, विभु चाकाशन्निष्क्रियं च तथा चात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति। न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनरक्रियसाधर्म्याद् निष्क्रियेणेति। विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति।

यह पद लक्ष्य है ऐसा प्रतीत होता है। यहां इस सूत्र में (१) साधर्म्य से उपसंहार करने पर साधर्म्य से खण्डन, (२) साधर्म्य से उपसंहार करने पर वैधर्म्य से खण्डन, (३) वैधर्म्य से उपसंहार करने पर वैधर्म्य से खण्डन, (४) तथा वैधर्म्य से उपसंहार करने पर साधर्म्य से खण्डन—ऐसी चार प्रकार की जाति होती है, यह भी जान लेना चाहिये। आगे साधर्म्यसम नामक उपर्युक्त प्रथम जाति का उदाहरण भाष्यकार देते हैं कि—निदर्शन (उदाहरण) यह है, कि जब वादी आत्मा, क्रियाधार हैं, द्रव्य में क्रिया के कारण गुण का सम्बन्ध होने के कारण, जैसे मट्टी का ढेला रूप द्रव्य क्रिया के कारण गुण (स्पर्शाश्रय द्रव्य) के 'संयोग' से सम्बद्ध होने के कारण क्रिया का आधार है, आत्मा भी वैसा क्रिया कारण प्रयत्न अथवा अदृष्ट वाला ही है, अतः क्रिया का आश्रय है। इस प्रकार वादी के आत्मा में क्रियाधार होने का उपसंहार (कथन) करने पर, दूसरा (प्रतिवादी) केवल साधर्म्य को लेकर ही वादी का खण्डन करता है कि—आत्मा, क्रिया रहित है, क्योंकि व्यापक द्रव्य क्रिया रहित होते हैं, जैसे आकाश व्यापक और क्रिया से रहित है, आत्मा भी वैसा (व्यापक) है, इस कारण क्रिया का आधार नहीं है। उपर्युक्त वादी की स्थापना तथा निषेध दोनों में कोई व्याप्ति के अनुगम आदि कोई विशेषता नहीं है—यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि—इसमें कोई विशेष कारण नहीं है, कि क्रिया के आधार मट्टी के ढेले के उपर्युक्त साधर्म्य से आत्मा क्रियाधार ही होगा, न कि क्रियारहित व्यापक आकाश के साधर्म्य से क्रियारहित होगा। जिससे एक ही पक्ष प्रमाण माना जाय। अतः किसी विशेष हेतु के न होने के कारण यह साधर्म्यसम नामक निषेध (जाति) कहाती है। अर्थात् एक पक्ष के दूसरे पक्ष की अपेक्षा से संगत अथवा असंगत होने में कोई विशेषता न होना ही साधर्म्य सम जाति कहाती है। (किन्तु वार्तिककार इसमें स्थापना पक्ष ही असत् है उत्तर तो सत् ही है ऐसा कहते हैं। तथापि उक्ति के दोष से यह जाति ही कहाती है ऐसी आचार्य उदयन की समालोचना है।) आगे वैधर्म्यसम का उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—अब वैधर्म्य सम उदाहरण द्वारा कहा जाता है जिसमें वादी की स्थापना प्रथम के समान ही है, केवल खण्डन में भेद है उसी को दिखाते हैं कि—क्रिया के कारण गुणों से युक्त लोष्ट परिमित देखने में आता है, आत्मा ऐसा परिमित नहीं है, इस कारण लोष्ट के समान क्रियाधार नहीं हो सकता अर्थात् पूर्व के खण्डन में आकाश के साथ निष्क्रियता रूप समान धर्म को लेकर आत्मा में निष्क्रियता सिद्ध की थी, और इस खण्डन में परिमित लोष्ट के साथ अपरिमितता रूप वैधर्म्य को लेकर ही निष्क्रियता को सिद्ध किया है, इस कारण यह वैधर्म्यसमा जाति होती है। (इसमें भी विशेष नहीं है यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—क्रियाश्रय लोष्ट के समान क्रिया हेतु

अथ वैधर्म्यसमः। क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टो न च तथाऽऽत्मा, तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावानिति। न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनः क्रियावद्वैधर्म्यादक्रियेणेति, विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः।

वैधर्म्येण चोपसंहारे निष्क्रिय आत्मा विभुत्वात् क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टं यथा लोष्टो न च तथाऽऽत्मा तस्मान्निष्क्रिय इति। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्, निष्क्रियं द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टम्, न तथाऽऽत्मा, तस्मान्न निष्क्रिय इति। न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियेण भवितव्यं न पुनरक्रियवैधर्म्यात् क्रियावतेति विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः। अथ साधर्म्यसमः, क्रियावान् लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तो दृष्टः, तथा चाऽऽत्मा तस्मात् क्रियावानिति।

गुण का सम्बन्ध होने के कारण आत्मा क्रियाश्रय ही होगा, न कि क्रियाश्रय लोष्ट के अपरिमितता रूप वैधर्म्य को लेकर आत्मा क्रियाधार नहीं है, यह नहीं हो सकेगा, अतः विशेष कारण न होने से यह वैधर्म्यसमा जाति कही जाती है (इसमें साधर्म्य से स्थापना करने पर वैधर्म्य से खण्डन किया गया है) (आगे वैधर्म्य से वादी की स्थापना पर वैधर्म्य से ही खण्डन रूप द्वितीय वैधर्म्य सम का उदाहरण भाष्यकार देते हैं कि)—वैधर्म्य को लेकर आत्मा क्रियाधार नहीं है, विभु होने से, क्रियाधार लोष्ट द्रव्य व्यापक नहीं दिखाता, जैसे लोष्ट और आत्मा वैसा अव्यापक नहीं है, इस कारण वह निष्क्रिय है, यह द्वितीय वैधर्म्यसम का उदाहरण है। इसका वैधर्म्य को लेकर ही ऐसा खण्डन होता है कि—क्रिया रहित आकाश द्रव्य क्रिया के कारण गुण से रहित देखने में आता है—आत्मा ऐसा नहीं है—इस कारण निष्क्रिय नहीं हो सकता, इसमें कोई विशेष कारण नहीं है कि क्रियाधार के विरुद्ध धर्म के होने से आत्मा निष्क्रिय ही होगा, नकि निष्क्रिय के विरुद्ध धर्म होने से क्रियाधार न होगा, अतः विशेष कारण न होने से यह द्वितीय वैधर्म्य सम का उदाहरण है। (आगे वैधर्म्य से वादी के स्थापना करने पर समान धर्म से खण्डन रूप तृतीय साधर्म्य सम जाति का उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—अब साधर्म्य सम कहा जाता है—कि क्रिया का आधार लोष्ट क्रिया के कारण गुणों से युक्त देखने में आता है—आत्मा भी वैसा (क्रिया कारण गुण से युक्त), है अतः क्रिया का आधार है, ऐसा साधर्म्य सम का उदाहरण है। (यह साधर्म्य को लेकर खण्डन है। इसमें भी पूर्व के समान वैधर्म्य से—आत्मा व्यापक है लोष्ट व्यापक नहीं है इस कारण लोष्ट के समान आत्मा क्रिया का आधार नहीं है—ऐसा उपसंहार होता है। इस उदाहरण से भी कोई विशेष नहीं है यह दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—क्रियावान् लोष्ट के व्यापकता रूप वैधर्म्य से आत्मा क्रियारहित है, न कि क्रियाधार के समान क्रिया कारणगुण से युक्तता रूप समान धर्म से क्रियाधार है—ऐसा मानने में कोई विशेष कारण है। अतः विशेष कारण न होने से यह तृतीय साधर्म्यसम जाति का उदाहरण है। उन साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमा दोनों के प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं—कोई सत् पदार्थ विषय १, तथा कोई असत् विषय में होती है२, तथा कोई असत् वचन विषय में होती है३। जिनमें से शब्द अनित्य है, उत्पत्ति वाला होने से, क्योंकि कलश आदि अनित्य देखने में आते हैं—ऐसा वादी के उपसंहार करने पर यदि अनित्य कलश के समान धर्म होने के कारण शब्द अनित्य हो, तो नित्य आकाश के साथ अमूर्तता रूप समान धर्म शब्द में होने से वह नित्य है, यह भी

न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियो न पुनः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावानिति विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमः ॥ २ ॥

अनयोरुत्तरम्—

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्यमात्रेण च साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था, सा तु धर्मविशेषे नोपपद्यते, गोसाधर्म्याद् गोत्वाज्जातिविशेषाद्गौः

प्राप्त होता है—यह प्रथम सत् विषय का उदाहरण है। दूसरा असत् विषय का उदाहरण यह है कि—शब्द नित्य है, स्पर्श रहित होने से, आकाश के समान, ऐसा वादी के उपसंहार करने पर ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अनित्य घटादि पदार्थों का भी प्रमेयता रूप साधर्म्य शब्द में होने से वह घटादिकों के समान अनित्य क्यों न कहा जायगा। तीसरे असत् उक्ति का उदाहरण 'क्रियावान् आत्मा है' इत्यादि भाष्य में दिया गया है। (जिसमें जो खण्डन है वह सत् ही उत्तर है, किन्तु उक्ति के दोष से वह जाति होती है—ऐसा उदयनाचार्य का यहाँ आशय है) ॥ २ ॥

(प्रकरण सम नामक हेत्वाभास के उद्भावन के समान उपर्युक्त दोनों साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमा नामक जाति सत् उत्तर ही क्यों न माने जांय—इस शंका के समाधानार्थ इसके असत् होने का कारण दिखाते हुए भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—इन दोनों साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमा जातियों का यह उत्तर है—

पदपदार्थ—गोत्वात्=व्याप्तिविशिष्ट गोत्वहेतुसे, गोसिद्धिवत्=गौ की सिद्धि के समान, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि होती है ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि केवल समानधर्म अथवा विरुद्धधर्म को लेकर हेतु से साध्य की सिद्धि मानी जाय तो यह साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमानामक जाति हो सकेगी, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि व्याप्ति विशिष्टसाधर्म्य तथा वैधर्म्य को लेकर ही हेतु से साध्य सिद्धि होती है, जैसे गौ के व्याप्ति विशिष्ट साधर्म्य को लेकर ही, गोत्वधर्म से यह गौ है ऐसा सिद्ध होता है, न कि केवल सास्नादिकों के सम्बन्ध से, तथा अश्वादिकों का शृङ्ग इत्यादि विरुद्ध धर्म होने से ही गोत्व से गौ व्यक्ति की सिद्धि होती है, गौ तथा अश्व के गुण भिन्न होने से, अतः उपर्युक्त साधर्म्यसमा एवं वैधर्म्यसमा जाति असंगत है ॥ ३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्त सूत्र की व्याख्या के कहते हैं कि)—यदि वादी केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य को लेकर हेतु से साध्य की सिद्धि होती है ऐसी प्रतिज्ञा करता हो, तो जातिवादी उपर्युक्त साधर्म्य द्वारा तथा वैधर्म्यसमा जाति से अव्यवस्था देखा सकता है, किन्तु वह स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति के रहने पर साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमा को लेकर अव्यवस्था नहीं हो सकती। (इसी स्वाभाविक सम्बन्ध को लेकर हेतु से साध्य सिद्धि का भाष्यकार आगे उदाहरण देते हैं कि)—गौ के व्याप्ति विशिष्ट साधर्म्य को लेकर ही गोत्वरूप जातिविशेष से गौव्यक्ति की सिद्धि होती है। यदि स्वाभाविक सम्बन्ध का हो। नहीं तो केवल सास्नादि सम्बन्ध से गोव्यक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। (गोत्व जाति के साथ सास्नादिमत्ता की व्याप्ति है ही, अतः यह भाष्यकार का कथन असङ्गत प्रतीत होता है, इसी कारण तात्पर्यटीकाकार ने सास्नादि इस पद का अतद्गुणसंविज्ञान नामक बहुव्रीहि समास दिखाया है, जिससे सास्ना है आदि

सिद्ध्यति न तु सास्नादिसम्बन्धात्। अश्वादिवैधर्म्याद्गोत्वादेव गौः सिद्ध्यति न गुणादिभेदात्। तच्चैतत् कृतव्याख्यानमवयवप्रकरणे, प्रमाणानामभिसम्बन्धाच्चैकार्थकारित्वं समानं वाक्ये इति। हेत्वाभासाश्रया खल्वियमव्यवस्थेति ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम्।

में जिसके ऐसे सास्ना से भिन्न गोत्व के व्यभिचारी शृङ्ग आदि लिये जाते हैं, ऐसा होने से शृङ्गादिओं की सत्ता से गोत्व की सिद्धि नहीं हो सकती—ऐसा अर्थ निकलता है—ऐसी तात्पर्य टीका में समालोचना की है। (इस प्रकार समान धर्म से व्याप्ति लेकर साध्य सिद्धि का उदाहरण देकर विरुद्ध धर्म को लेकर व्याप्ति द्वारा साध्य सिद्धि का उदाहरण भाष्यकार देते हैं कि)—अश्वादिकों के विरुद्ध धर्म वाले गोत्वजाति विशेष से ही गौव्यक्ति की सिद्धि होती है न कि गुणों के भिन्न होने से (अर्थात् अश्वादिकों के विरुद्ध धर्म गोत्व ही से गौ व्यक्ति सिद्ध होती है—इसमें भी अनेक अश्वादिकों के विरुद्ध धर्मों के होने पर भी गोत्व ही से गोव्यक्ति से व्याप्तिरूप सम्बन्ध रखता है, न कि गौ तथा अश्व के गुण आदिकों के भेद रूप विरुद्ध धर्म से गौव्यक्ति की सिद्धि होती है। इसी कारण वार्तिककार ने कहा है—कि जो अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति वाला समान धर्म होता है उसी से धर्म की व्यवस्था होती है, गोत्व ही गौ में ऐसा है, अतः उसी से गौव्यक्ति की सिद्धि होती है। अतः जातिवादी ने जो कोई **'विशेष नहीं है'**, ऐसा कहा था, वह असंगत है, क्योंकि अन्वय तथा व्यतिरेक रूप विशेष सम्पूर्ण सत् अनुमान प्रयोगों में रहता ही है। अतः जहाँ पर वादी अपनी साध्यकी स्थापना करने में ऐसा उपर्युक्त विशेष देखा सकता है वहाँ पर जाति असत् उत्तर होता है—यह सिद्ध होता है, ऐसा न हो तो जाति भी सत ही उत्तर माना जायगा (इसी विषय में पूर्व ग्रन्थ में कहे हुए विषय को भाष्यकार स्मरण कराते हैं कि)—वह यह हमने 'अवयव समूह रूप वाक्य में मिलकर परस्पर सम्बन्ध रखते हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण साध्य की सिद्धि करते हैं'—ऐसा प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक उन चालिस (के ३९) के सूत्र में अनुमान के अवयवों के निरूपण प्रकरण में भी कहा है। (इस कारण सत् अनुमान से साध्य की सिद्धि हो ही सकती है—अतः सत् एवं असत् साधनों (हेतुओं) में कोई विशेषता नहीं है—ऐसा पूर्वपक्षी जातिवादी का कथन सर्वथा असंगत है। इसी आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—प्रत्यक्षादि प्रमाणों का परार्थानुमान के पंचावयव वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध होने के कारण, एक ही साध्य रूप अर्थ को सिद्धि होना वाक्य में समान है तो जाति का प्रयोग कैसे सफल होगा' इस शङ्का के समाधानार्थ भाष्यकार आगे कहते हैं कि—यह जातिवादी की अव्यवस्था हेत्वाभास (हेतु दोषों को लेकर) होता है (अर्थात् जातिवादी जो असत् उत्तरों को प्रगट कर हेतु में सन्देह को उत्पन्न करना चाहता है, उसका असत् (दुष्ट) हेतुओं में ही होना असम्भव है, न कि सत् हेतुओं में) अतः जातियों का प्रयोग दुष्ट हेतुओं में हो सकता है ॥ ३ ॥

(२) साध्यदृष्टान्तधर्मविकल्पसे उत्पन्न उत्कर्षसमा आदि छः जातियों के वर्णन का प्रकरण।

अर्थात् उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा तथा साध्यसमा ऐसी जातियों का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्ष-वर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासजन् उत्कर्षसमः। यदि क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् क्रियावानात्मा लोष्टवदेव स्पर्शवानपि प्राप्नोति। अथ न स्पर्शवान् लोष्टवत् क्रियावानपि न प्राप्नोति, विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। साध्ये

पदपदार्थ—साध्यदृष्टान्तयोः = पक्ष और दृष्टान्त दोनों के, धर्मविकल्पात् = धर्मों के विकल्प वैचित्र्य से, उभयसाध्यत्वात् = दोनों के सिद्धि करने योग्य होने से, च = भी, उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः = उत्कर्षसमा १, अपकर्षसमा २, वर्ण्यसमा ३, अवर्ण्यसमा ४, विकल्पसमा ५, तथा साध्यसमा ६, नामक छः जातियाँ होती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—न रहने वाले धर्म के आरोप रूप उत्कर्ष, विद्यमान रहने वाले धर्म का अपचय (न रहना) रूप अपकर्ष, साध्य-वर्णन करने योग्य, असाध्य–वर्णन करने योग्य न हो, तथा विशेष-विकल्प इन धर्मों के उद्भावन (आपत्ति देने योग्य) प्रयोगों को क्रम से उत्कर्षसमा (१) अपकर्षसमा (२) वर्ण्यसमा (३) अवर्ण्यसमा (४) विकल्पसमा (५) और साध्यसमा (६) नामक जाति कहते हैं। जिससे पक्ष में न रहने वाले दृष्टान्त में रहने वाले धर्म का पक्ष में आपत्ति देना (१), उत्कर्षसमा नामक, दृष्टान्त में रहने वाले धर्म का पक्ष में न रहने की आपत्ति देना अपकर्षसमा (२), केवल दृष्टान्त के सादृश्य से दृष्टान्त में साध्य धर्म के अभाव की आपत्ति देना अवर्ण्यसमा (३), एवं साध्य धर्म की आपत्ति देना वर्ण्यसमा (४), पक्ष एवं दृष्टान्त दोनों की दूसरे के सधर्मता के साथ विसदृशता होने से साध्य या असाध्य के साधन को विकल्पसमा (५) तथा दृष्टान्त में देखे हुए भी धर्म में साध्य (सिद्ध करने के योग्य) होने की आपत्ति देने को साध्यसमा (६) जाति कहते हैं—इस प्रकार छः जातियाँ हैं ॥ ४ ॥

इसी आशय से सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रत्येक जाति का लक्षण कहने वाले ये प्रथम क्रम प्राप्त उत्कर्षसमा जाति का लक्षण करते हैं कि—जिस जाति में पक्ष तथा दृष्टान्त दोनों के धर्मों में विचित्र होने के कारण पक्ष में न रहने वाले दृष्टान्त के धर्म का आरोप किया जाता है, जैसे यदि क्रिया में कारण गुण का सम्बन्ध होने से लोष्ट के समान आत्मा भी क्रिया का आधार हो, तो उस लोष्ट के समान स्पर्श गुण का आश्रय भी होगा ऐसा प्राप्त होता है, और यदि आत्मा लोष्ट के समान स्पर्श गुणवाला न हो तो क्रिया का आधार भी न होता। अर्थात् उत्कर्षसमा में दृष्टान्त लोष्ट का धर्म स्पर्श गुण का आश्रय होना आत्मा रूप पक्ष में न रहने पर भी आरोप से सिद्ध किया जाता है। ऐसा न होने में कोई विशेष कहना होगा (यह प्रथम उत्कर्ष समा जाति है) ॥ (अपकर्षसमा का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—जिस जाति में दृष्टान्त के बल से पक्ष में वर्तमान धर्म का भी अपकर्ष किया जाता (हटाया जाता है) उसे अपकर्षसमा नामक दूसरी जाति कहते हैं, जैसे लोष्ट निश्चय से क्रियाधार होता हुआ भी अव्यापक देखने में आता है, तो आत्मा भी क्रिया का आधार होता हुआ अव्यापक हो जाय (अर्थात् इस दृष्टान्त लोष्ट में व्यापकता का अभाव है इस कारण आत्मा में विद्यमान भी व्यापकता धर्म का उससे अपकर्ष किया जाता है) अतः यह अपकर्षसमानामक दूसरी जाति है। (वर्ण्य तथा अवर्ण्य समानामक दो जातियों का लक्षण भाष्यकार दिखाते हैं कि)—ख्यापनीय (प्रसिद्धि करने योग्य) सन्दिग्ध, तथा अवर्ण्य उसके विपरीत निश्चित, जिन दो जातियों में उपर्युक्त धर्मों के विपरीत किया जाता

धर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसजतोऽपकर्षसमः, लोष्टः खलु क्रियावानविभुर्दृष्टः काममात्माऽपि क्रियावानविभुरस्तु, विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। ख्यापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्यः। तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवतः। साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात्साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः। क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चिद् गुरु यथा लोष्टः किंचिल्लघु यथा वायुरेवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चित्क्रियावत्स्यात् यथा लोष्टः, किञ्चि-

---

है, अर्थात् पक्ष के धर्म का दृष्टान्त में और दृष्टान्त के धर्म का पक्ष में आरोप किया जाता है, वह दोनों जाति क्रम से वर्ण्यसमा तथा अवर्ण्यसमा कही जाती हैं। (अर्थात् संदिग्धसाध्यधर्मवत्ता रूप धर्म के पक्ष में रहने से उसका जब निश्चित साध्य धर्म वाले दृष्टान्त में आरोप हो, तो वह वर्ण्यसमा एवं दृष्टान्त के निश्चितसाध्यधर्मवत्तारूप धर्म का जब सन्दिग्धसाध्य वाले पक्ष में आरोप किया जाय तो उसे अवर्ण्यसमा जाति कहते हैं) जैसे वादी के किसी अनुमान का प्रयोग करने पर यदि प्रतिवादी कहे कि जो दृष्टान्त तुम देते हो उसे पक्ष के समान संदिग्धसाध्य धर्म वाला होना चाहिये, यह अवर्ण्यसमा जाति, तथा दृष्टान्त के समान पक्ष को भी निश्चित साध्यवान् होना चाहिये यह वर्ण्यसमा जाति होती है। साध्य तथा दृष्टान्त के धर्मों की विचित्रता के कारण स्वरूप से साध्यसाधनता की आपत्ति से वर्ण्य तथा अवर्ण्य सम जाती होती हैं ऐसा यहाँ वाचस्पतिमिश्र का मत है। और विरुद्ध हेत्वाभास के समान, अथवा असाधारण दुष्ट हेतु के समान वर्ण्यसमा जाति, और असिद्ध दुष्ट हेतु के समान अवर्ण्यसमा जाति होती है ऐसा उदयनाचार्य का मत है।

(आगे विकल्पसमा जाति का लक्षण देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—पक्ष में वर्तमान जो धर्म दृष्टान्त में भी हो उसे साधन धर्म कहते हैं, उससे युक्त दृष्टान्त में वर्तमान किसी दूसरे धर्म के विकल्प से साध्य के साथ व्यभिचार देखाने के कारण यदि उस दृष्टान्त के सादृश्य से साध्य का विकल्प (प्रस्तुत साध्य में व्यभिचार) की आपत्ति दी जाय तो उसे विकल्पसमा जाति कहते हैं। (यहाँ विकल्पशब्द का अर्थ है व्यभिचार, वह हेतु का दूसरे धर्म में अथवा दूसरे धर्म का साध्य में, या दूसरे धर्म का उससे दूसरे धर्म में हो सकता है)।

(आगे विकल्पसमा जाति का उदाहरण भाष्यकार देते हैं कि)—क्रिया के कारण गुणों से युक्त कोई पदार्थ गुरु होता है जैसे लोष्ट, तथा लघु होता है जैसे वायु। इसी प्रकार क्रिया में कारण गुणों से युक्त कोई पदार्थ क्रिया का आधार होगा, जैसे लोष्ट, और कोई क्रियारहित होगा जैसे आत्मा अथवा एक पक्ष का साधक कोई विशेष कहना पड़ेगा। अर्थात् वादी के क्रिया के कारण गुणों के होने से आत्मा क्रिया वाला है, जैसे लोष्ट, ऐसा अनुमान करने पर प्रतिवादी कहता है कि लोष्ट रूप दृष्टान्त में गुरुत्व रूप दूसरा धर्म है, किन्तु इस गुरुत्व का क्रिया कारण गुण युक्तता रूप हेतु के क्रियाश्रयता रूप साध्य के साथ वायु में व्यभिचार देखने में आता है, क्योंकि वायु लघु है, इसी प्रकार आत्मा में भी लोष्ट के क्रिया हेतु गुणयुक्त धर्म का व्यभिचार हो जायगा, यही विकल्पसमा जाति कहाती है। इसमें उदयनाचार्य ने व्यभिचार दुष्ट हेतु की समानता मानी है।

(आगे साध्यसमा का लक्षण देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—हेतु आदि अवयवों के सामर्थ्य को रखने वाले धर्म को साध्य कहते हैं, दृष्टान्त में उसकी आपत्ति देने से साध्यसमा जाति कहते हैं। जैसे यदि लोष्ट के सादृश्य से आत्मा में क्रियाधारता सिद्ध की जाय तो, जैसे

दक्रियं यथाऽऽत्मा, विशेषो वा वाच्य इति। हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्यः तं दृष्टान्ते प्रसजतः साध्यसमः। यदि यथा लोष्टस्तथाऽऽत्मा प्राप्तस्तर्हि यथाऽऽत्मा तथा लोष्ट इति। साध्यश्चायमात्मा क्रियावानिति कामं लोष्टोऽपि साध्यः। अथ नैवम्, न तर्हि यथा लोष्टः तथाऽऽत्मा ॥ ४ ॥

एतेषामुत्तरम्—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

अलभ्यः सिद्धस्य निह्नवः, सिद्धं च किञ्चित्साधर्म्यादुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति, तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुम्। एवं साधके धर्मे

आत्मा में क्रियाधारता संदिग्ध है और साध्य है, इसी प्रकार लोष्ट में भी क्रियाश्रयत्व साध्य और संदिग्ध ही है, नहीं तो लोष्ट और आत्मा का सादृश्य ही न होगा। इसी को साध्यसमा जाति कहते हैं, (वार्तिककार ने साध्य तथा साधन दोनों के धर्मों की समानता की आपत्ति देने को साध्यसमा जाति माना है। और वृत्तिकार ने पक्ष दृष्टान्त इत्यादिकों के प्रस्तुत साध्य की समानता की आपत्ति देने को साध्यसमा कहा है। अर्थात् पक्ष हेतु तथा दृष्टान्त दूसरे प्रमाण से सिद्ध ही अनुमान के अङ्ग होते हैं, न कि असिद्ध, किन्तु वे उसी अनुमान से सिद्ध नहीं होने, और सिद्ध करने की इच्छा का विषय हो वह पक्ष में असिद्ध उसी अनुमान से सिद्ध होता है—उसमें सिद्धि के इच्छा के विषय के समान सिद्ध भी अनुमान योग्य होता है, इसी से अनुमान प्रयोग की आपत्ति को साध्यसमा कहते हैं यह यहाँ भाष्यकार का गूढ आशय है) ॥ ४ ॥

(उपर्युक्त छः जातियों का उत्तर देने वाले सिद्धान्त सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इनका उत्तर यह है—

पदपदार्थ—किञ्चित्साधर्म्यात् = व्याप्तियुक्त विशेष समान धर्म से ही, उपसंहारसिद्धेः = सिद्धि होने के कारण, वैधर्म्यात् = इसके विरुद्ध व्याप्ति रहित केवल साधर्म्य से, अप्रतिषेधः = वादी का किया हुआ निषेध नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

भावार्थ—अनुमान में व्याप्ति रूप स्वाभाविक सम्बन्ध को लेकर ही सद्धेतु से पक्ष में साध्य की सिद्धि होती है, उसके विपरीत व्याप्ति रहित केवल समान धर्म को लेकर जो जाति वादी ने खण्डन किया, वह सर्वथा असंगत है ॥ ५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि)—सिद्ध पदार्थ का निह्नव (अपलाप-छिपाना) प्राप्त नहीं हो सकता। अतः प्रसिद्ध का अपलाप न हो सकने के कारण जो संसार में किसी समान धर्म को लेकर उपमा देना प्रसिद्ध है—जैसे जिस प्रकार गौ होती है, उसी प्रकार नील गौ होती है। ऐसी उपमा देना अर्थात् जब दृष्टान्त दिया जाता है तो कुछ प्रसिद्ध समान धर्म को लेकर ही उपमा दी जाती है, न कि अत्यन्त सादृश्य को लेकर, क्योंकि जैसी गौ होती है वैसी नील गाय इस उपमा में अत्यन्त सादृश्य कहने की इच्छा, कहने वाले अरण्यवासी पुरुष की नहीं होगी। इसी कारण वार्तिककार ने कहा है कि—'जैसी गौ होती है वैसी नील गाय' ऐसा कहने पर गौ के संपूर्ण धर्म गवय में, अथवा गवय के संपूर्ण धर्म ही गौ में होते हैं यह नहीं प्राप्त होता, अतः यहाँ यह आपत्ति नहीं हो सकती कि—यदि गवय गौ के समान हो, तो सास्ना आदि गौ के धर्म गवय में क्यों नहीं। (इसी आशय से भाष्यकार ने कहा है कि)—इस कारण गौ तथा गवय

दृष्टान्तादिसामर्थ्ययुक्ते न लभ्यः साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पाद्वैधर्म्यात्प्रतिषेधो वक्तुमिति ॥ ५ ॥

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं तेनाविपरीतोऽर्थोऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थम् । एवं साध्यातिदेशाद् दृष्टान्ते उपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमिति ॥ ६ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्जातिषट्कप्रकरणम् ।

इन दोनों के धर्मों में उपर्युक्त विकल्प की शंका नहीं हो सकती। (उक्त दृष्टान्त को प्रस्तुत में लगाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकार दृष्टान्त आदिकों के सामर्थ्य से युक्त साधक हेतु रूप धर्म में साध्य (पक्ष) और दृष्टान्त इन दोनों के उपर्युक्त प्रकार से धर्मों की विचित्रता को लेकर वैधर्म्य से निषेध नहीं कहा जा सकता। अर्थात् जब हम लोष्ठ को आत्मा में क्रियाधारता सिद्ध करने में दृष्टान्त देते हैं तब हम यह नहीं कहते कि—जितने लोष्ट के धर्म हैं, उतने संपूर्ण आत्मा में हो सकते हैं, किन्तु जो जिस धर्मी में साध्य के साथ व्याप्ति रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध साधक हेतु हो सकता है वही उस साध्य का साधक होता है, जिसका उपनय वाक्य से उपसंहार (सिद्धि) किया जाता है, ऐसा होने से उसके विपरीत व्याप्ति सम्बन्ध रहित दृष्टान्त धर्म उस धर्मी में नहीं हो सकता, अतः पूर्वपक्षी जातिवादी का प्रश्न तथा उसके कारण निषेध भी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

(इस प्रकार उपर्युक्त ६ जातियों या सिद्धान्त मत से खण्डन कर, वर्ण्य, अवर्ण्य, तथा साध्यसमा इन तीन जातियों का दूसरा भी खण्डन दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—साध्यातिदेशात् च = साधन योग्य के स्वीकार करने से भी, दृष्टान्तोपपत्तेः = दृष्टान्त हो सकने से ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस लौकिक मनुष्य, तथा शास्त्र के ज्ञात दोनों प्रकार के मनुष्य मानते हैं—ऐसे दृष्टान्त के विपरीत न रहने वाले ही विषय को प्रज्ञापन (सिद्धि) के लिये कथन किया जाता है। इस प्रकार के साधनीय विषय के कथन से दृष्टान्त के होने से वह विषय साध्य नहीं हो सकता किन्तु सिद्ध ही होता है, अतः वर्ण्य आदि तीन जातियाँ नहीं हो सकतीं ॥ ६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि—जिस विषय के मानने में लोक व्यवहार तथा शास्त्र के जानने वाले दोनों प्रकार के लोगों की बुद्धि समान होती है, उस दृष्टान्त के जो विषय विरुद्ध न हो, वही दृष्टान्त ज्ञान के लिये जाता है। इस प्रकार से साध्य का कथन होने के कारण दृष्टान्त के हो सकने पर वह साधन योग्य विषय साध्य (सिद्ध करने योग्य) नहीं हो सकता। अर्थात् जिस धर्मी में साध्य धर्म का निश्चय हो जिसे सभी प्राणी मानते भी हों, वही पदार्थ दृष्टान्त माना जाता है, साध्यधर्म तो निश्चित नहीं ही होता। इस कारण कोई ही साध्यधर्म दृष्टान्त में दिखाया जाता है, न कि संपूर्ण साध्य (पक्ष) के धर्म दृष्टान्त में दिखाये जाते हैं अर्थात् दृष्टान्त निश्चित धर्म वाला और पक्ष संदिग्ध धर्मवाला होता है। इस कारण दृष्टान्त का पक्ष तुल्य बनाना जातिवादी का सर्वथा असंगत है। इसी से पक्ष आदिकों में साध्यसमता की आपत्ति देना भी जातिवादी का खण्डन हो जाता है यह भी जान लेना चाहिये ॥ ६ ॥

(२) प्राप्ति, अप्राप्ति इन दोनों में होनेवाली विकल्प को लेकर दो जाति का प्रकरण

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वाद-प्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥

हेतुः प्राप्य वा साध्यं साधयेदप्राप्य वा ? न तावत्प्राप्य, प्राप्त्यामविशिष्टत्वादसाधकः। द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा ? अप्राप्य साधकं न भवति, नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति। प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः, अप्राप्त्या प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमः ॥ ७ ॥

अनयोरुत्तरम्—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

प्राप्ति तथा अप्राप्ति समा नामक दो जातियों का सूत्रकार लक्षण दिखाते हैं—

पदपदार्थ—प्राप्य = प्राप्त कर, साध्यं = साधन योग्य को, अप्राप्य वा = अथवा न प्राप्त कर, हेतोः = हेतु के, प्राप्त्या = प्राप्ति से, अविशिष्टत्वात् = विशेष न होने के कारण, अप्राप्त्या = न प्राप्त होने से, असाधकत्वात् च = साधक न होने से भी, प्राप्त्यप्राप्तिसमा क्रम से प्राप्तिसमा तथा अप्राप्तिसमा नामक दो जाति होती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—साध्य की सिद्धि करने के लिये दिया हुआ हेतु यदि साध्य को प्राप्त हो कर साध्य की सिद्धि करे, तो साध्य तथा हेतु दोनों की प्राप्ति में कोई विशेष न होने के कारण साध्य साधन को सिद्ध करेगा, या साधन साध्य को सिद्ध करेगा इस नियम में कोई कारण न होने की आपत्ति को प्राप्तिसमा जाति कहते हैं। तथा हेतु विना साध्य को प्राप्त कर सिद्ध करता है, ऐसा माने तो विना प्रदीप के प्राप्त भये अन्धकार में जिस प्रकार पदार्थ प्रकाशित नहीं होता उसी प्रकार साध्य की सिद्धि न कर सकेगा, इस आपत्ति को **अप्राप्तिसमा** जाति कहते हैं ॥ ७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार प्रश्नपूर्वक दोनों जातियों की व्याख्या करते हैं कि)—हेतु साध्य को प्राप्त कर उसे सिद्ध करेगा अथवा न प्राप्त कर ! जिसमें हेतु साध्य को प्राप्त कर साध्य का साधक नहीं हो सकता—क्योंकि प्राप्ति में कोई विशेष न होने के कारण वह हेतु साध्य का साधक न हो सकेगा, क्योंकि विद्यमान हेतु तथा साध्य इनकी परस्पर समान प्राप्ति होने के कारण लोक किसको सिद्ध करेगा और कौन किसका साध्य होगा—यह प्राप्तिसमानामकी जाति कहाती है।

तथा हेतु विना साध्य को प्राप्त किये भी सिद्ध नहीं कर सकता—क्योंकि विना प्राप्त भये अन्धकार में प्रदीप पदार्थों को नहीं दिखाता। अतः उपर्युक्त प्रकार से प्राप्ति को लेकर आपत्ति देने को प्राप्तिसमा तथा अप्राप्ति को लेकर आपत्ति देने को अप्राप्तिसमा नामक जाति कहते हैं। विशेषणासिद्धिरूप हेत्वाभास की उद्भावना यह दोनों जातियाँ हैं—ऐसा यहाँ समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

(उपर्युक्त दोनों जातियों का सिद्धान्ति मत से उत्तर देने वाले समाधान सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—इन दोनों जातियों का ऐसा उत्तर है—

पदपदार्थ—घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् = कुलालादिकों के प्राप्त होने पर घटादि कार्य की सिद्धि दिखाने से, पीडने = शत्रु को पीडा देने में, अभिचारात् च = और अभिचार (श्येननामक याग करने) से भी, अप्रतिषेधः = क्रम से प्राप्ति तथा अप्राप्ति को लेकर दी हुई आपत्तियाँ नहीं हो सकतीं ॥ ८ ॥

उभयथा खल्वयुक्तः प्रतिषेधः कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य मृदं घटादिकार्यं निष्पादयन्ति, अभिचाराच्च पीडने सति दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति ॥ ८ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्राप्त्यप्राप्तिसमजातिद्वयप्रकरणम् ।

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥

साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः, क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते, न च हेतुमन्तरेण

भावार्थ—प्राप्ति तथा अप्राप्ति दोनों को लेकर जातिवादी का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ता (कुलाल) मृत्तिका, आधार इनके प्राप्त होने पर ही घटादि रूप कार्य बनते हैं। तथा शत्रु को पीडा देने के उद्देश्य से श्येननामक यज्ञ करने से जो शत्रु को पीडा होती है, उसमें अभिचार कर्म शत्रु को न प्राप्त कर पीडा देता है, यह भी देखने में आता है, अतः प्राप्त होकर तथा न प्राप्त होकर दोनों पक्ष से साधक हेतु साध्य की सिद्धि कर सकता है, अतः जातिवादी का निषेध नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्त सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्राप्ति तथा अप्राप्ति दोनों को लेकर जातिवादी का निषेध असंगत है, क्योंकि कुलालादिकर्ता, मृत्तिकादि कारण, तथा अधिकरण मृत्तिका को प्राप्त कर घटादि कार्य को बनाते हैं। तथा श्येननामक याग रूप अभिचार कर्म से शत्रु को पीडा होने में वह कर्म शत्रु को न प्राप्त कर शत्रु को पीडा देता है। इस प्रकार विना प्राप्ति के भी साध्य को साधक हेतु सिद्ध करता है, यह देखने में आता है, अतः दोनों प्राप्ति सम तथा अप्राप्ति सम जाति उत्तर असंगत हैं ॥ ८ ॥

(४) साथ में रहने वाली प्रसङ्ग तथा प्रतिदृष्टान्त समा दो जातियों का प्रकरण

प्रसङ्गसमा तथा प्रतिदृष्टान्तसमा नामक दो जातियों का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टान्तस्य = दृष्टान्त के कारणानपदेशात् = प्रमाण के न कहने से, प्रत्यवस्थानात् च = और खंडन करने से भी, प्रतिदृष्टान्तेन = विरुद्ध दृष्टान्त से, प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ = क्रम से प्रसङ्गसम, तथा प्रतिदृष्टान्तसम नामक दो जाति होती हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—यदि वादी दृष्टान्त में वर्तमान धर्म को दूसरे में इस धर्मादि सत्ता के साधन रूप से कथन करे तो उसमें भी प्रमाण देना चाहिये, जैसे क्रियाकारणगुण वाला लोष्ट क्रिया वाला है इसका भी प्रमाण दो ऐसी आपत्ति देने को प्रसंगसमा जाति कहते हैं। विरुद्ध दृष्टान्त से आपत्ति देने को प्रतिदृष्टान्तसमा जाति कहते हैं, जैसे आत्मा क्रियाधार है क्रिया के कारण गुण का सम्बन्ध होने से, लोष्ट के समान—ऐसा कहने पर इसके विरुद्ध क्रियाकारणगुणयुक्त आकाश निष्क्रिय (क्रियारहित) देखने में आता है, अतः आत्मा क्रियारहित क्यों न माना जाय? इस आपत्ति को प्रतिदृष्टान्तसमा जाति कहते हैं। (यहाँ पर यद्यपि इस प्रकार की आपत्ति कहीं कहीं सत् (ठीक) ही उत्तर होता है तथापि 'दृष्टान्त में प्रमाण कहना चाहिये' उसमें भी दूसरा प्रमाण इस प्रकार की अनवस्था से जो आपत्ति दी जाती है वही असत् उत्तर रूप जाति होती है। यह आशय है, इसी कारण उदयनाचार्य ने इसे अनवस्था के आभास रूप आपत्ति को ही प्रसंगसमा जाति का लक्षण कहा है। और कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि—अनिश्चित का निश्चायक रूप

सिद्धिरस्तीति। प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः। क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाद् लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते, क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुगुणः? वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः, वायुवनस्पतिसंयोगवदिति ॥ ९ ॥

अनयोरुत्तरम्—

प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

इदं तावदयं पृष्टो वक्तुमर्हति, अथ के प्रदीपमुपाददते? किमर्थं वेति?

से आरोप करना ही इस प्रतिदृष्टान्तसमा जाति का बीज है, अतः यह 'स्वरूपासिद्धि नामक हेत्वाभास के समान यह जाति है। और तात्पर्य टीकाकार ने इस प्रसंगसमा जाति का साध्य समा जाति से ऐसा भेद दिखाया है कि)—साध्यसमा जाति में दृष्टान्त में पक्ष के समान हेतु आदि अवयवों की आपत्ति दी जाती है—अर्थात् पंचावयवरूप साध्य न तो दृष्टान्तगत धर्म में आपत्ति देता है और प्रसंगसम जाति दृष्टान्त के धर्म में केवल प्रमाणसाध्यता को दिखाता है ॥ ९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार प्रसंगसमं जाति का लक्षण कहते हैं कि)—साधन का भी प्रमाण कहना चाहिये—इस आपत्ति से खण्डन करने को प्रसंगसम निषेध जाति कहते हैं, जैसे क्रिया के कारणगुणवाला लोष्ट है, इस में कोई कारण नहीं कहा है। विना हेतु (प्रमाण) के उपर्युक्त सिद्ध नहीं हो सकता। और विरुद्ध दृष्टान्त से आपत्ति देने को प्रतिदृष्टान्तसमा जाति कहते हैं, जैसे आत्मा, क्रिया का आधार है, क्रिया के कारण गुण का सम्बन्ध होने से, लोष्ट के समान। ऐसा कहने पर इसमें विरुद्ध दृष्टान्त दिया जाता है कि—क्रियाकारण गुण से युक्त आकाश क्रियारहित होता है (वैसे आत्मा निष्क्रिय क्यों न हो) (प्रश्न)—आकाश में क्रिया का कारण कौन से गुण हैं! (उत्तर)—संस्कार की अपेक्षा करने वाला वायु से संयोग, जैसे वायु तथा वृक्ष का संयोग। अर्थात जैसे वायु और वृक्ष का संयोग चलनक्रिया का कारण होता है, यह देखने में आता है, वैसे ही आकाश और वायु का संयोग आकाश से भी क्रिया को उत्पन्न करेगा, ऐसा अनुमान कर सकते हैं। यदि आकाश में वायु के संयोग से कोई क्रिया नहीं होती ऐसा कहो तो वह प्रतिबन्धक होने के कारण नहीं होती, अतः आकाश-वायु संयोग में क्रिया कारण की हानि नहीं हो सकेगी ॥ ९ ॥

(सिद्धान्ती के मत से उपर्युक्त दोनों जातियों को समाधान करने वाले सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इन दोनों जातियों का ऐसा उत्तर है—

पदपदार्थ—प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् = एक प्रदीपसे अर्थप्रकाश होने पर, जिस प्रकार दूसरा प्रदीप लाने की आपत्ति नहीं होती, तद्विनिवृत्तिः—एक हेतु (प्रमाण) में दूसरे प्रमाण देने की आपत्ति नहीं हो सकती ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अन्धकार में पदार्थ को देखने के लिए एक दीपक लाने पर उस प्रदीप को देखने के लिए दूसरा दीपक नहीं लाया जाता, उसी प्रकार किसी एक साध्य को सिद्ध करने के लिये दिये हुए प्रमाण रूप दृष्टान्त में भी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, अतः उपर्युक्त प्रसंगसमा तथा प्रतिदृष्टान्तसमा नामक दोनों जातियाँ असंगत हैं ॥ १० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जातिवादी के यह प्रश्न करने पर कहे कि—दीपक को कौन पुरुष किस कार्य के लिये अन्धकार में ले आते हैं। यदि

दिदृक्षमाणा दृश्यदर्शनार्थमिति। अथ प्रदीपं दिदृक्षमाणाः प्रदीपान्तरं कस्मान्नोपाददते? अन्तरेणापि प्रदीपान्तरं दृश्यते प्रदीपः तत्र प्रदीपदर्शनार्थं प्रदीपोपादानं निरर्थकम्। अथ दृष्टान्तः किमर्थमुच्यत इति? अप्रज्ञातस्य ज्ञापनार्थमिति। अथ दृष्टान्ते कारणापदेशः किमर्थं दृश्यते? यदि प्रज्ञापनार्थं? प्रज्ञातो दृष्टान्तः। स खलु *लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इति।* तत्प्रज्ञापनार्थः कारणापदेशो निरर्थक इति प्रसङ्गसमस्योत्तरम्॥ १०॥

अथ प्रतिदृष्टान्तसमस्योत्तरम्—

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः॥ ११॥

प्रतिदृष्टान्तं ब्रुवतो न विशेषहेतुरपदिश्यते अनेन प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः

ऐसा जातिवादी कहे कि—अन्धकार में देखने योग्य पदार्थ को देखने की इच्छा करने वाले (दीपक को लाते हैं) तो हम जातिवादी को प्रश्न करते हैं कि—तो दीपक को देखने की इच्छा करने वाले प्राणी दूसरे दीपक को क्यों नहीं ले आते! तो इस पर यही कहना होगा कि)—दूसरे दीपक के विना भी प्रथम दीपक दिखाता है। वहाँ पर प्रथम दीपक के देखने के लिये दूसरे दीपक को ले आना व्यर्थ है। (और जातिवादी यह भी बतावे कि)—साध्य सिद्धि के लिये यह दृष्टान्त किस लिये कहा जाता है। तो यही कहना पड़ेगा कि—अप्रज्ञात (असिद्ध) की ज्ञापना (सिद्ध) करने के लिये। (और जातिवादी यह भी कहे कि) दृष्टान्त में प्रमाण देने को आप क्यों कहते हैं, क्योंकि दृष्टान्त तो जाना ही गया है, क्योंकि—जिस विषय पर लोक व्यवहार तथा शास्त्र दोनों के जानकार लोगों की बुद्धि समान होती है, उसे दृष्टान्त कहते हैं—ऐसा दृष्टान्त का लक्षण प्रथमाध्याय में कर आये हैं। अतः उस दृष्टान्त को जानने के लिये कारण (प्रमाण) का कहना (मांगना) व्यर्थ है। यह प्रसंगसम जाति का उत्तर है। अर्थात् दृष्टान्त को संपूर्ण प्राणी जब मानते हैं तो उसके जानने के लिये प्रमाण मांगना व्यर्थ ही है। इस कारण दृष्टान्त के प्रमाण न देने के कारण जो जातिवादी की आपत्ति है, वह सर्वथा असंगत है, यह प्रसंगसमा जाति का समाधान है॥ १०॥

(आगे प्रतिदृष्टान्तसमजाति का उत्तर देने वाले सिद्धान्त सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—अब प्रतिदृष्टान्तसमा जाति का यह उत्तर है—

पदपदार्थ—प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च = और विरुद्ध दृष्टान्त के प्रमाण होने पर, न = नहीं, अहेतुः = अप्रमाण, दृष्टान्तः = दृष्टान्त॥ ११॥

भावार्थ—जातिवादी विरुद्ध दृष्टान्त में कोई विशेष कारण तो नहीं दिखाता कि इस प्रकार प्रतिदृष्टान्त साधक होता है, न कि दृष्टान्त, ऐसा होने से प्रतिदृष्टान्त यदि साधक होता है तो दृष्टान्त भी अवश्य ही साधक होगा, अतः वह दृष्टान्त साधक क्यों न होगा यदि विना निषेध के साधक हो॥ ११॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जातिवादी प्रतिदृष्टान्त (विरुद्ध दृष्टान्त) दिखाता हुआ कोई विशेष कारण तो दिखाता नहीं कि इस प्रकार प्रतिदृष्टान्त साधक होता है, दृष्टान्त नहीं होता। इस प्रकार प्रतिदृष्टान्त के साधक होने पर दृष्टान्त साधक न होगा यह नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी 'किस कारण आपका (सिद्धान्ति) का दृष्टान्त हेतु

साधकः न दृष्टान्त इति। एवं प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे नाहेतुर्दृष्टान्त इत्युपपद्यते। स च कथं हेतुर्न स्याद् यद्यप्रतिषिद्धः साधकः स्यादिति ॥ ११ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमप्रकरणम्।

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते अपर आह—प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणं नास्ति, तदभावाद् नित्यत्वं प्राप्तं, नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति, अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

(साधक) होगा' ऐसा प्रश्न करे तो—इसका उत्तर यह है कि जब तक हमारा दिया हुआ दृष्टान्त किसी बलवान् प्रमाण से बाधित न हो तो प्रतिदृष्टान्त के रहने पर भी उसे साधक मानना ही होगा (यहाँ पर विरुद्ध उत्तर का यह क्रम है कि क्या प्रतिदृष्टान्त को अधिक बलवान् समझकर सिद्धान्ती के दृष्टान्त का बाध जातिवादी दिखाता है कि अथवा विना ऐसा समझे। जिसमें साधन के कारण साध्य धर्म को न मानकर केवल वादी और प्रतिवादी को विवक्षित धर्म होने के कारण दृष्टान्त तथा प्रतिदृष्टान्त में कोई विशेष न होने के कारण प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। तथा द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि दो समान काल वालों की बाध्य तथा बाधकता परस्पर में नहीं हो सकती। यदि ऐसा माना जाय तो दृष्टान्त ही से प्रतिदृष्टान्त का बाध होता है, ऐसा क्यों न माना जाय—इत्यादि 'बोधसिद्धि' में उदयनाचार्य ने कहा है ॥ ११ ॥

(५) अनुत्पत्ति समा जाति का प्रकरण

अनुत्पत्तिसमा नामक जाति का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—प्राक् = पूर्व में, उत्पत्तेः = कार्य की उत्पत्ति के, कारणाभावात् = हेतु के अभाव से, अनुत्पत्तिसमः = आपत्ति देने को अनुत्पत्तिसमा जाति कहते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण, घट के समान, ऐसा वादी के कहने पर उत्पत्ति के पूर्वकाल में न उत्पन्न हुए शब्द में अनित्यता का कारण प्रयत्न से उत्पन्न होता नहीं है, अतः अनित्यता का कारण न होने से शब्द नित्य हो जायगा, नित्य पदार्थ की तो उत्पत्ति ही नहीं होती, इस प्रकार अनुत्पत्ति को लेकर खण्डन को अनुत्पत्तिसमा जाति कहते हैं ॥ १२ ॥

(इसी आशय से उदाहरण दिखाते हुए भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शब्द, प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण, अनित्य है, घट के समान—ऐसी वादी के स्थापना करने पर जातिवादी ऐसा कह सकता है कि—उत्पन्न होने के पूर्वकाल में न उत्पन्न हुए शब्द में अनित्यता का कारण प्रयत्न से उत्पन्न होता नहीं है, उसके (प्रयत्न से उत्पन्न होने में) न होने से शब्द नित्य है यह प्राप्त होता है, क्योंकि नित्य पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार अनुत्पत्ति (उत्पन्न न होना) इसको लेकर आपत्ति देने को अनुत्पत्तिसमा जाति कहते हैं। (इस अन्तिम पंक्ति में) भाष्यकार ने 'अनुत्पत्तिसमा' इस जाति नाम को दिखलाया है, क्योंकि साधन के अंग का 'अनुत्पत्ति' को लेकर ही इसमें जातिवादी खण्डन करता है ॥ १२ ॥

अस्योत्तरम्—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

तथाभावादुत्पन्नस्येति, उत्पन्नः खल्वयं शब्द इति भवति । प्रागुत्पत्तेः शब्द एव नास्ति उत्पन्नस्य शब्दभावाच्छब्दस्य सतः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणमुपपद्यते, कारणोपपत्तेरयुक्तोऽयं दोषः प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादिति ।।१३।।

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामनुत्पत्तिसमप्रकरणम् ।

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः ॥ १४ ॥

(इस जाति को सिद्धान्तिमत से असद् उत्तरता को दिखाने वाले सिद्धान्त सूत्र का भाष्यकार ऐसा अवतरण देते हैं कि)—इस (अनुत्पत्ति सम) जाति का यह उत्तर है—

पदपदार्थ—तथा भावात् = वैसा शब्दरूपता होने से, उत्पन्नस्य = उत्पन्न हुये शब्द के, कारणोपपत्तेः = उसका प्रयत्न से उत्पन्न होना रूप कारण होने के कारण, न = नहीं हो सकता, कारणप्रतिषेधः = प्रयत्न से उत्पन्न होने रूप कारण का निषेध ॥ १३ ॥

भावार्थ—उत्पन्न होने पर ही शब्द कहा जाता है, नकि उत्पन्न होने के पूर्वकाल में, क्योंकि उत्पन्न होने के पूर्वकाल में शब्द नहीं रहता, अतः उत्पन्न हुये शब्द की ही सत्ता होने के कारण, उसके उत्पत्ति का कारण प्रयत्न से व्याप्ति रखना यह उस शब्द में अनित्यता का कारण हो ही सकता है, अतः उत्पत्ति के पूर्वकाल में कारण के न होने से जातिवादी की आपत्तिरूप अनुत्पत्ति समा नाम की जाति नहीं हो सकती ॥ १३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्रकार ने, जो उत्पन्न शब्द को ही शब्द कहते हैं यह कहा है—उसका यह अर्थ है कि उत्पन्न हुआ ही यह निश्चय से शब्द होता है ऐसा हो सकता है, क्योंकि उत्पन्न होने के पूर्वकाल में शब्द है ही नहीं, अतः उत्पन्न होने के पश्चात् ही विद्यमान शब्द में अनित्यता का कारण प्रयत्न से उत्पन्न होने की व्याप्ति होने से उसमें अनित्यता का कारण हो सकता है । इस प्रकार उत्पन्न विद्यमान शब्द में अनित्यता का कारण होने से उत्पत्ति के पूर्व में कारण न होने से अनुत्पत्तिसमा नामक जाति जो जातिवादी ने दिखायी थी वह असंगत है (यहाँ पर जो जातिवादी ने अनित्यता का कारण प्रयत्नव्याप्तिरूप हेतु दिया है वह केवल ज्ञापक (जनाने वाला) है नकि कारक (करने वाला) । अतः यदि कारक हेतु न रहे तो वह अपने कार्य को भी नहीं रहने देता नकि ज्ञापक हेतु, क्योंकि उसके न रहने पर भी बहुत दिनों से भूमि में गाड़ा हुआ भी धन निवृत्त नहीं होता—यह ध्यान रखने योग्य विषय है ॥ १३ ॥

(६) संशयसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त संशयसमा जाति का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यदृष्टान्तयोः, गोत्वादि जाति तथा दृष्टान्त घटादिकों में, ऐन्द्रियकत्वे = इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होना, समाने = समान होने से, नित्यानित्यसाधर्म्यात् = नित्य जाति तथा अनित्य घटादिकों के साथ (इन्द्रियग्राह्यता) रूप समान धर्म होने के कारण, संशयसमः = शब्द अनित्य है या नित्य इस आपत्ति देने को संशयसमा जाति कहते हैं ॥ १४ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते। सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वम्, अस्ति च घटेनानित्येनातो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशय इति ॥ १४ ॥

अस्योत्तरम्—

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥

भावार्थ—शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होने की व्याप्ति होने के कारण, ऐसी वादी के स्थापना करने पर प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप हेतु में संशय द्वारा आपत्ति देने को संशयसमा कहते हैं कि—शब्द में प्रयत्नानन्तरीयकता होने पर इस शब्द की गोत्वादि जातिरूप नित्य पदार्थों का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होना यह समान धर्म है, तथा अनित्य घट के साथ भी, इस कारण नित्य जाति तथा अनित्य घटादिकों के इन्द्रियग्राह्यतारूप समान धर्म शब्द में होने के कारण शब्द नित्य है या अनित्य यह संदेह निवृत्त नहीं होता, अतः यह संशयसमा नामक जाति कहाती है ॥ १४ ॥

(इसी आशय से उदाहरणपूर्वक जाति का ठीक सूत्रार्थ भाष्यकार करते हैं कि)—वादी के शब्द अनित्य हैं, प्रयत्न से उत्पत्ति की व्याप्ति होने से, घट के समान ऐसी स्थापना करने पर, प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु में जातिवादी संशय द्वारा आपत्ति देता है कि—शब्द के प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु के होने से इस शब्द में नित्य गोत्वादि जातियों का इन्द्रिय से गृहीत होना यह समान धर्म है ही। तथा यही अनित्य घट के साथ भी है। अतः नित्य जाति, तथा अनित्य घटादिकों के इन्द्रिय से गृहीत होना रूप समान धर्म शब्द में होने के कारण शब्द नित्य है अथवा अनित्य यह संशय निवृत्त नहीं होता, इस प्रकार संशयसमा जाति का यह उदाहरण सहित लक्षण है ॥ १४ ॥

इस जाति का यह आशय है कि जिस प्रकार निश्चय का कारण रहने से विषय का निश्चय होता है उसी प्रकार संदेह का कारण रहने से संशय भी होता है, प्रस्तुत में उपरोक्त प्रकार से शब्द में नित्यता तथा अनित्यता के संशय का कारण है। (समान धर्मज्ञान), अतः संशय नहीं, हटाया जा सकता। इस जाति को उदयनाचार्य ने विशेषणासिद्धिरूप हेत्वाभास की आपत्ति माना है ॥ १४ ॥

(उपरोक्त जाति का समाधान करने वाले सिद्धान्ती के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि—इस (संशयसमा) जाति का यह उत्तर है)—

पदपदार्थ—साधर्म्यात् = समानधर्म के देखने से, संशये = संशय की आपत्ति होने पर भी, न = नहीं हो सकता, संशयः = सन्देह, वैधर्म्यात् = विशेष विरुद्ध धर्म का दर्शन होने से, उभयथा = समान तथा विरुद्ध दोनों धर्मों के दर्शन से, संशये = संशय माना जाय तो, अत्यन्तसंशयप्रसङ्गः = संशय की निवृत्ति न होगी, नित्यत्वानभ्युपगमात् च = नित्य न मानने के कारण भी, सामान्यस्य = समानधर्म के, अप्रतिषेधः = निषेध नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

भावार्थ—केवल ऊंचाई रूप समानधर्म से आगे खडे ऊँचे पदार्थ में यह वृक्ष है अथवा पुरुष

विशेषाद्वैधर्म्यादवधार्यमाणेऽर्थे पुरुष इति न स्थाणुपुरुषसाधर्म्यात्संशयोऽवकाशं लभते। एवं वैधर्म्याद्विशेषात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादवधार्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयोऽवकाशं न लभते। यदि वै लभेत ततः स्थाणुपुरुषसाधर्म्यानुच्छेदादत्यन्तं संशयः स्यात्। गृह्यमाणे च विशेषे नित्यं साधर्म्यं संशयहेतुरिति नाभ्युपगम्यते, न हि गृह्यमाणे पुरुषस्य विशेषे स्थाणुपुरुषसाधर्म्यं संशयहेतुर्भवति ॥ १५ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां संशयसमप्रकरणम्।

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥

ऐसा संशय होने पर भी यह 'हस्तादि युक्त है अथवा खोखले शाखादि युक्त है ?' इन दोनों में से एक विशेष धर्म के देखने से संशय नहीं रह जाता, इसी प्रकार शब्द में प्रयत्नानन्तरीयकतारूप विशेष धर्म का ज्ञान होने पर इन्द्रियग्राह्यतारूप समानधर्म को लेकर जाति के समान शब्द नित्य है या घटादिकों के समान अनित्य है यह संशय नहीं रह सकता। यदि रहे तो पुरुष और वृक्ष के ऊंचाईरूप समानधर्म का नाश न होने से 'यहां यह पुरुष है कि वृक्ष' ऐसा संशय बना ही रहेगा। इस प्रकार विशेष धर्म के संशय के निवृत्ति करने के कारण सदा ही समानधर्म संशय को उत्पन्न नहीं कर सकना, क्योंकि मनुष्य के हाथ-पैर आदि विशेष धर्मों का ज्ञान होने पर ऊंचाईरूप समानधर्म 'यह मनुष्य है या वृक्ष' इस संदेह को नहीं रहने देता ॥ १५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—हस्तपादादि विशेष धर्मरूप विरुद्ध धर्म के जानने पर यह मनुष्य है ऐसा निश्चय होने पर, ऊंचाईरूप वृक्ष तथा मनुष्य के समानधर्म से उपरोक्त संशय होने को अवसर नहीं मिलता। इसी प्रकार प्रयत्न से उत्पत्ति होने रूप विशेष विरुद्धधर्म से शब्द में अनित्यता का निश्चय होने पर नित्य जाति तथा अनित्य घटादि पदार्थों के इन्द्रिय से गृहीत होने रूप समानधर्म को लेकर उपरोक्त संशय शब्द में अवसर ही नहीं पा सकता। यदि विरुद्ध धर्म का ज्ञान होने पर भी संशय को अवसर मिले तो वृक्ष तथा मनुष्य के ऊंचाईरूप समानधर्म का नाश न होने के कारण संशय की निवृत्ति ही न होगी। जिससे यह सिद्ध होता है कि विशेष धर्म का ज्ञान होने पर संशय के निवृत्त होने के कारण नित्य (सदा ही) समानधर्म संशय का कारण होता है ऐसा यह नहीं माना जा सकता है क्योंकि हस्त-पाद आदि विशेष धर्मों का ज्ञान होने पर वृक्ष तथा मनुष्य की ऊंचाईरूप समानधर्म यह मनुष्य है कि वृक्ष संशय को नहीं रहने देता ॥ १५ ॥

(७) प्रकरणसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त प्रकरणसमा नामक जाति का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—उभयसाधर्म्यात = दोनों नित्य तथा अनित्य के समान धर्म से, प्रक्रियासिद्धेः = पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों की प्रवृत्ति होने से, प्रकरणसमः=प्रकरणसमा नाम की जाति कहाती है ॥१६॥

भावार्थ—जिस समय एक वादी शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होने की व्याप्ति रखने से घट के ऐसा समान एक पक्ष की स्थापना करता है और दूसरा प्रतिवादी स्पर्शरहित होने से आकाश के समान शब्द नित्य है, ऐसा दूसरा पक्ष दिखाता है, ऐसा होने से प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप हेतु अनित्य के साधर्म्य से कहा जाने के कारण प्रकरण को नहीं छोडता (संदिग्ध ही रहता है)

उभयेन नित्येन चानित्येन च साधर्म्यात्पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येकः पक्षं प्रवर्त्तयति, द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्। एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानो न प्रकरणमतिवर्त्तते, प्रकरणानतिवृत्तेर्निर्णयानतिवर्तनम्। समानं चैतन्नित्यसाधर्म्येणोच्यमाने हेतौ, तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः। समानं चैतद्वैधर्म्येऽपि, उभयवैधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसम इति॥ १६॥

अस्योत्तरम्—

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥१७॥

जिससे इस प्रकार के प्रकरण की निवृत्ति न होने के कारण आपत्ति देने को प्रकरणसम जाति कहते हैं॥ १६॥

(इसी आशय से जातिवादी के सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सूत्र के उभयसाधर्म्यात इस पद की व्याख्या करते हैं कि)—नित्य तथा अनित्य दोनों के पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों के साधक समान धर्मों को लेकर पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों की प्रवृत्ति होने को प्रक्रिया कहते हैं। जिसमें शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण, घट के समान, ऐसा एक वादी अपने अनित्य पक्ष को प्रवृत्त करता हैं (दिखाता है) और दूसरा प्रतिवादी अस्पर्शवत्तारूप समानधर्म को लेकर आकाश के दृष्टान्त से दूसरा पक्ष दिखाता है। ऐसा होने से प्रयत्न से उत्पन्न होना रूप हेतु जो अनित्य घट के समान धर्म को लेकर दिखाया है प्रकरण (संशय) को नहीं छोड़ता। अतः प्रकरण न हटने से शब्द नित्य है या अनित्य यह निश्चय नहीं हो सकता अर्थात नित्यपक्ष का साधक हेतु रहते अनित्य घट के साधर्म्य को लेकर कहा हुआ अप्रयत्नानन्तरीयकतारूप हेतु संदिग्ध ही रह जाता है, अतः एक पक्ष का निर्णय नहीं हो सकता। (इस प्रकार अनित्य साधक (हेतु) को कहने वाले वादी के लिये जातिरूप उत्तर दिखाने के पश्चात् निम्य साधन वादी के लिये जात्युत्तर भाष्यकार दिखाते हैं कि)—नित्य आकाश के साधर्म्य से कहे जाने वाले हेतु से भी पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों की प्रवृत्ति होने के कारण संशय होने से एक पक्ष का निश्चय नहीं हो सकता। वह यह प्रकरण के न हटने के कारण आपत्ति देना प्रकरणसम नामक जाति कहती है। इसी प्रकार दोनों पक्ष के विरुद्ध धर्म से भी प्रक्रिया सिद्ध होने से भी प्रकरणसमा जाति होती है अर्थात नित्य आकाश के विरुद्ध कार्यत्व हेतु से, तथा अनित्य घट के अस्पर्श होना रूप विरुद्ध धर्म से भी प्रकरणसमा जाति होती है, अतः तात्पर्यटीका में—'उभय साधर्म्यात्' यह पद सूत्र में 'उभयवैधर्म्यात्' इसकी भी सूचना करता है—ऐसा कहा है॥ १६॥

(इस प्रकरणसमा जाति के समाधानसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस प्रकरणसमाजाति का उत्तर ऐसा है—

पदपदार्थ—प्रतिपक्षात = जातिवादी के विरुद्ध स्थापना वाले में प्रतिपक्ष से, प्रकरणसिद्धेः = संशय की सिद्धि होने से, प्रतिषेधानुपपत्तिः = वादी के पक्ष का निषेध नहीं हो सकना, प्रतिपक्षोपपत्तेः = प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्ध पक्ष के हो सकने से॥ १७॥

भावार्थ—यदि बिना किसी विशेष ज्ञान के परस्पर विरुद्ध दो साधनों के संशय के कारण होने से जिनको प्रतिवादी समानबल मानता है, तो उसे यह क्या अहंकार है कि मैं अपने पक्ष के

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात्प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति, यद्युभयसाधर्म्यं तत्र एकतरः प्रतिपक्ष इत्येवं सत्युपपन्नः प्रतिपक्षो भवति, प्रतिपक्षोपपत्तेरनुपपन्नः प्रतिषेधः, यतः प्रतिपक्षोपपत्तिः प्रतिषेधोपपत्तिश्चेति विप्रतिषिद्धमिति । तत्त्वानवधारणाच्च प्रक्रियासिद्धिर्विपर्यये प्रकरणावसानात्, तत्त्वावधारणे ह्यवसितं प्रकरणं भवतीति ॥ १७ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्रकरणसमप्रकरणम् ।

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

सिद्ध करने से ही वादी के साधन का खण्डन करूँगा यदि जातिवादी समानबल दोनों में भी अपने ही साधन से अपने पक्ष में सिद्धि करना चाहता है तो उसे इच्छा न होने पर भी यदि साधन से वादिपक्ष की सिद्धि होना मानना पड़ेगा, नहीं तो माने हुए समान बलता की हानि हो जायगी, तथा एक पक्ष की सिद्धि के कारण संशय भी न होगा जिससे प्रकरणसमा जाति का समूल उच्छेद हो जायगा ॥ १७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सिद्धान्ती के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—दोनों के साधर्म्य से (वादी तथा प्रतिवादी दोनों से अभिमत पक्षों के समान साधनरूप साधर्म्य से) प्रक्रिया (संशय) को कहने वाले को प्रतिपक्ष को लेकर प्रक्रिया (संशय) सिद्ध होता है ऐसा मानना होगा । अतः यदि दोनों पक्षों का समान साधनरूप साधर्म्य है, तो उन दोनों में से कोई एक पक्ष विरुद्धपक्ष है, ऐसा होने के कारण प्रतिपक्ष सिद्ध होता है, अतः प्रतिपक्ष में वर्तमान होने के कारण उसका निषेध नहीं हो सकता । क्योंकि यदि विरुद्धपक्ष सिद्ध हुआ, तो फिर उसका निषेध नहीं बनेगा । और यदि उसका प्रतिषेध बनता है, तो वह प्रतिपक्ष नहीं हो सकता । क्योंकि प्रतिपक्ष का होना और उसका निषेध (न होना) यह दोनों परस्पर में विरुद्ध हैं । (यदि वादकथा में संशय का प्रदर्शन न हो, तो प्रकरणसम नामक हेत्वाभास कैसे हो सकेगा ? ऐसा प्रश्न यहाँ हो तो इसका उत्तर भाष्यकार ऐसा देते हैं कि)—यथार्थ पक्ष का निश्चय न होने से प्रक्रिया (संशय) की सिद्धि होती है और यथार्थ पक्ष का निश्चय हो जाय तो प्रकरणसमा हो जाता है, क्योंकि विषय का वास्तविक ज्ञान होने पर प्रकरण (संशय) नहीं रहता । अतः संशयसमा जातिरूप असत् उत्तर तब होता है जब पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों की सिद्धि मानकर संशय को दिखाया जाता है—और जब कि दो पक्षों में से कौन-सा पक्ष ठीक है, ऐसा निश्चय न होने पर केवल सत्प्रतिपक्ष (विरुद्ध पक्षवाला) होने के कारण मैं वादी के दिये साधन से निश्चय न होने दूँगा, इस बुद्धि से प्रतिवादी अपने पक्ष में साधक हेतु का प्रयोग करता है तो वह जातिरूप असत् उत्तर नहीं होता, किन्तु सत्प्रतिपक्षरूप हेत्वाभास नामक ठीक ही उत्तर होता है—यह गूढ भाष्यकार का आशय है ॥ १७ ॥

(८) अहेतुसमा जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त अहेतुसमा जाति का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—त्रैकाल्यासिद्धेः = त्रिकाल में सिद्धि न होने के कारण, हेतोः=हेतु के, अहेतुसमः = अहेतुसमा नामक जाति होती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—किसी साध्य की सिद्धि के लिये दिया हुआ हेतु यदि प्रथम (पूर्वकाल में) हो तो साध्य के न होने से वह किसकी सिद्धि करेगा । यदि पश्चात् साधन हो तो उसके पूर्व में न रहने से

हेतुः साधनम्, तत्साध्यात् पूर्वं पश्चात्सह वा भवेत्? यदि पूर्वं साधनमसति साध्ये कस्य साधनम्? अथ पश्चाद्, असति साधने कस्येदं साध्यम्? अथ युगपत्साध्यसाधने, द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति हेतुरहेतुना न विशिष्यते। अहेतुना साधर्म्यात् प्रत्यवस्थानमहेतुसमः ॥ १८ ॥

अस्योत्तरम्—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

यह किसका साध्य होगा। और साध्य तथा साधन एक काल में हों, तो दोनों में कौन किसका साध्य तथा कौन किसका साधन यहाँ होगा, अतः ऐसा हेतु के जो हेतु नहीं है उससे कोई विशेष न होने के कारण अहेतु से ही समानधर्मता को लेकर आपत्ति देने को अहेतुसमा जाति कहते हैं ॥ १८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में हेतु शब्द का अर्थ है साधन। वह साधन साध्य के पूर्वकाल में, उत्तरकाल में अथवा साथ रहेगा? यदि पूर्वकाल में साधन हो तो साध्य के उस समय में न होने से वह किसकी सिद्धि करेगा? और यदि साध्य के उत्तरकाल में साधन हो तो साध्य के समय साधन के न रहने से किसकी यह सिद्धि करेगा? और यदि साध्य तथा साधन एक काल में हों, तो विद्यमान साधन तथा साध्य दोनों में से कौन किसका साधन तथा कौन किसका साध्य माना जायगा? इस प्रकार से तो हेतु तथा जो हेतु नहीं है इन दोनों में कोई विशेषता (भेद) नहीं होता। अतः जो हेतु नहीं है उसकी हेतु के साथ साध्य का साधक न होना इस समान धर्म को लेकर आपत्ति देने को अहेतुसमा जाति कहते हैं। अर्थात् साध्य तथा साधन के साथ रहने पर कोई विशेषता न होने के कारण हेतु नहीं बन सकता, तथा पूर्व पश्चात् काल में मानने से दो में से एक किसी सम्बन्धी के न वर्तमान होने से ही—साध्य तथा साधन में साध्यसाधनरूप उपाधि आती है यह गूढ भाष्यकार का आशय है। (उदयनाचार्य ने इस जाति को कृति तथा ज्ञप्ति दोनों में साधारण माना है। और प्राप्तिसमा एवं अप्राप्तिसमा जातियों से इस जाति का ऐसा भेद दिखाया है कि—उन दोनों में स्वरूप से सन्निकर्ष एवं असन्निकर्ष का विचार है और अहेतुसमा में कारण से विचार है। और वह दोनों अर्थ द्वारा होती हैं और यह शब्द द्वारा। और वह दोनों विकल्प से आरम्भ होती हैं, और यह तीन विकल्प से और उन दोनों में सहायकशक्ति देखने में आती है, और इसमें स्वरूपशक्ति। और वह दोनों विशेषणासिद्धि हेत्वाभास रूप हैं, और यह प्रतिकूलतर्क के उद्भावन के समान है यह परिशुद्धि में स्पष्ट किया है ॥ १८ ॥

(अहेतु समजाति के खण्डन सूत्र का भाष्यकार ऐसा अवतरण देते हैं कि)—इस अहेतुसमा जाति का यह उत्तर है—

पदपदार्थ—न = नहीं, हेतुतः = साधक से, साध्यसिद्धेः = साध्य की सिद्धि होने के कारण, त्रैकाल्यासिद्धिः = त्रिकाल में असिद्धि (हो सकती है) ॥ १९ ॥

भावार्थ—कार्य को करना, और ज्ञाप्य (जनाने योग्य) का ज्ञापन (जनाना) जिस समय होता है उस समय वह अपने कारण से ही होता है, यह अनुभवसिद्ध है, अतः कारण का दोनों पक्ष में साध्य के पूर्वकाल ही में रहना सिद्ध होता है, अतः पूर्वकाल में ही हेतु (साधक) रहता है

न त्रैकाल्यासिद्धिः। कस्मात्? हेतुतः साध्यसिद्धेः। निर्वर्तनीयस्य निर्वृत्तिर्विज्ञेयस्य विज्ञानमुभयं कारणतो दृश्यते, सोऽयं महान्प्रत्यक्षविषय उदाहरणमिति। यत्तु खल्वुक्तमसति साध्ये कस्य साधनमिति? यत्तु निर्वर्त्यते यच्च विज्ञाप्यते तस्येति ॥ १६ ॥

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥

पूर्वं पश्चाद्युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते, प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ॥ २० ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरहेतुसमप्रकरणम्।

और साध्य उत्तरकाल ही में रहता है, यह सिद्ध होता है, अतः अहेतुसमारूप आपत्ति देना जातिवादी का असंगत है ॥ १९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जातिवादी की कही हुई हेतु की त्रैकाल्यासिद्धि नहीं हो सकती। (प्रश्न)—किस कारण? (उत्तर)—हेतु से साध्य की सिद्धि होने से। क्योंकि निर्वर्तनीय (बनने योग्य) की निर्वृत्ति (बनना), तथा विज्ञेय (जानने योग्य) का विज्ञान (जानना) यह दोनों कारण से होता है ऐसा देखने में आता है। वह यह महान् (बड़ा भारी) प्रत्यक्ष का विषय उदाहरण है (इस कारण) जातिवादी की आपत्ति नहीं हो सकती। (आगे सूत्र तथा भाष्य में कहे हुए 'यदि पूर्वकाल में साधन हो तो साध्य के न रहने से वह किसकी सिद्धि करेगा' इस आपत्ति का उत्तर देने के लिये उसका भाष्यकार अनुवाद करते हैं कि)—यह जो जातिवादी ने कहा था कि—(साध्य के न रहते हेतु किसकी सिद्धि करेगा)—उसका यह समाधान है कि—जो बनाया जाता है और जो जनाया जाता है उसका अर्थात् जो किया जाता है उसी का कारण साधन होता है, और जो जनाया जाता है उसी का ज्ञापक होता है। इस कारण कृति एवं ज्ञप्ति दोनों पक्ष में सम्पूर्ण स्थल में जो सिद्ध किया जाता है उसी का साधन होता है। 'न रहने वाला साध्य साधन की उपाधि कैसे होगा?' ऐसे प्रश्न का यह उत्तर है कि व्यवहारबुद्धि से सिद्ध होता है, और व्यापार में उपाधि (सम्बन्ध) का कोई उपयोग नहीं होता, क्योंकि स्वभाव स्वयं ही नियत होती है। यदि 'भिन्न कालपनाओं का सम्बन्ध कैसे होगा' ऐसी आपत्ति हो तो—इसका पूर्वपर काल में होने का नियम ही तो कार्यकारणभाव होता है—ऐसा उत्तर हो सकता है—ऐसा बोधसिद्धि में आचार्य उदयन ने स्पष्ट कहा है ॥ १९ ॥

प्रतिपदोरूप अहेतुसमा जाति का दूसरा समाधान सिद्धान्तिमत से सूत्रकार ऐसा देते हैं—

पदपदार्थ—प्रतिषेधानुपपत्तेः च = और निषेध के न हो सकने से, प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः = निषेधयोग का निषेध नहीं हो सकता ॥ २० ॥

भावार्थ—हेतु के समान आप (जातिवादी) का प्रतिषेध भी निषेधयोग्य के पूर्व तथा उत्तरकाल में एवं साथ में न हो सकने के कारण, निषेध योग्य का निषेध नहीं करता, अतः अहेतुसमा जाति असंगत है ॥ २० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार दूसरे सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—निषेध निषेधयोग्य के पूर्वकाल में रहता है, उत्तरकाल में रहता है, तथा साथ में रहता है यह भी नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रतिषेध के न बन सकने से स्थापनावादी का हेतु सिद्ध होजाता है, इस कारण अहेतुसमता जाति सर्वथा असंगत है ॥ २० ॥

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतोऽर्थापत्तिसमः । यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यसाधर्म्यादनित्यः शब्द इत्यर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति, अस्ति चास्य नित्येन साधर्म्यमस्पर्शत्वमिति ॥ २१ ॥

अस्योत्तरम्—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥

(९) अर्थापत्तिसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त अर्थापत्तिसमा जाति का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—अर्थापत्तितः = अर्थात् प्राप्त होता है इससे, प्रतिपक्षसिद्धेः = विरुद्धपक्ष की सिद्धि से आपत्ति देने को, अर्थापत्तिसमः = अर्थापत्तिसमा नामक जाति कहते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—स्थापनावादी ने शब्द अनित्य है, प्रयत्नानन्तर होने से, घट के समान ऐसी स्थापना करने पर—अर्थापत्ति द्वारा विरुद्धपक्ष को सिद्ध करने की आपत्ति को अर्थापत्तिसमा जाति कहते हैं। यदि अनित्य घट के प्रयत्न के अनन्तर होने रूप समानधर्म से शब्द अनित्य है, ऐसा माना जाय तो अर्थात् प्राप्त होता है कि—नित्य आकाश के स्पर्शरहित होनारूप समानधर्म को लेकर शब्द अनित्य होगा, क्योंकि नित्य आकाश को शब्द में स्पर्शरहित होना समानधर्म है, इस प्रकार की आपत्ति को अर्थापत्तिसमा जाति कहते हैं ॥ २१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर होने से, घट के समान, ऐसे स्थापना किये पक्ष पर अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) का सिद्धि करने वाले जातिवादी के असत् उत्तर को अर्थापत्तिसमा नामक जाति कहते हैं। क्योंकि यदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने रूप अनित्य घट के समानधर्म से शब्द अनित्य हो, तो अर्थात् प्राप्त होता है कि—नित्य आकाश के समानधर्म को लेकर शब्द नित्य है—ऐसा। क्योंकि इस शब्द में नित्य आकाश के साथ स्पर्शरहित होना रूप समानधर्म है। अर्थात् अनित्य घट के प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप समानधर्म से शब्द को अनित्य कहने वाले आपका बिना कहे ही यह आशय सिद्ध होता है कि नित्य आकाश के समान अस्पर्शतारूप समानधर्म से शब्द नित्य है, यह अर्थापत्तिसमा जाति उत्तर कहने का प्रकार है। साधर्म्यसमा आदि जातियों में तो वादी के आशय का वर्णन नहीं होता यह उनसे इस अर्थापत्तिसमा जाति का भेद है ॥ २१ ॥

अर्थापत्तिसमा जाति की सिद्धान्तिमत से समाधान सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि—इस अर्थापत्तिसमा जाति का यह उत्तर है—

पदपदार्थ—अनुक्तस्य = न कहे हुए सम्पूर्ण को, अर्थापत्तेः = यदि आप अर्थापत्ति मानते हैं, पक्षहानेः = आपके पक्ष की हानि की, उपपत्तिः = हानि होती है, आपके पक्ष की हानि भी, अनुक्तत्वात् = न कही होने के कारण, अनैकान्तिकत्वात् च = व्यभिचारदोष युक्त होने से भी, अर्थापत्तिः = अर्थापत्ति के ॥ २२ ॥

भावार्थ—किसी विशेष सामर्थ्य को न दिखाकर 'कहा हुआ अर्थात् प्राप्त होता है' ऐसा कहने से जातिवादी पक्ष की भी हानि हो जाती है, क्योंकि वह भी नहीं कही गई है। जिससे अनित्यपक्ष के सिद्ध होने से नित्यपक्ष की हानि हो जाती है यह भी अर्थात् प्राप्त होता है।

अनुपपाद्य सामर्थ्यमनुक्तमर्थादापद्यते इति पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वात्, अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नं नित्यपक्षस्य हानिरिति। अनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः। उभयपक्षसमा चेयमर्थापत्तिर्यदि नित्यसाधर्म्यादस्पर्शत्वादाकाशवच्च नित्यः शब्दोऽर्थादापन्नमनित्यसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्य इति। न चेयं विपर्ययमात्रादेकान्तेनार्थापत्तिः, न खलु वै घनस्य ग्राव्णः पतनमिति अर्थादापद्यते द्रवाणामपां पतनाभाव इति ॥ २२ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामर्थापत्तिसमप्रकरणम्।

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥२३॥

तथा अर्थापत्ति से व्यभिचारदोष भी प्राप्त होता है। और यह अर्थापत्ति जैसे आपके पक्ष को सिद्ध करता है वैसे स्थापनावादी के पक्ष को भी, अतः यह दोनों पक्षों में समान भी है, क्योंकि यदि नित्य आकाश के स्पर्शरहित होना रूप समानधर्म से शब्द में नित्यता सिद्ध करे तो अर्थात् प्राप्त होता है कि अनित्य घट के प्रयत्न के पश्चात् होनारूप समानधर्म से शब्द अनित्य है—ऐसा तथा यह अर्थापत्ति केवल निषेध से सर्वत्र होती है। क्योंकि कड़े (घन) पत्थर का पतन होता है इससे यह अर्थात् नहीं प्राप्त होता कि—पतले जल का पतन नहीं होता ॥ २२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र के व्याख्या करते हैं कि)—किसी विशेष सामर्थ्य को न दिखाकर न कहा हुआ अर्थात् प्राप्त होता है—ऐसा कहने वाले जातिवादी के पक्ष की हानि भी नहीं कही गई है, अतः वह भी हो सकेगी। क्योंकि अनित्यपक्ष की सिद्धि होने से नित्यपक्ष की हानि भी अर्थात् प्राप्त होती है। तथा यह अर्थापत्ति व्यभिचारदोषग्रस्त भी है। क्योंकि जो अर्थापत्ति जातिवादी ने दी है वह जैसे उसके पक्ष का साधक है, वैसे स्थापनावादी के पक्ष को भी सिद्ध करती है, अतः दोनों पक्ष में अर्थापत्ति समान ही है, क्योंकि यदि नित्य आकाश के स्पर्शरहितत्व समान अर्थ से शब्द नित्य हो तो—अनित्य घट के प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप समानधर्म से शब्द घट के समान अनित्य हो जायगा—ऐसा अर्थात् प्राप्त होता है। (व्यभिचार होने से अर्थापत्ति अनैकान्तिक (एक पक्ष में न होनेवाली) होती है यह भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—केवल निषेध करने से यह अर्थापत्ति सर्वत्र नहीं हो सकती—जैसे (भोजन के निषेध से 'न भोजन करना' सर्वत्र माना जाता है), तथा घन (कड़े) पत्थर के गिरने के कारण यह नहीं अर्थात् सिद्ध होता कि—पतला पानी नहीं गिरता। अर्थात् यह जाति इस प्रकार विपरीतरूप है कि कड़े पत्थर के न गिरने से संपूर्ण ही कड़े पत्थर नहीं गिरते, अतः संपूर्ण न कड़े पदार्थों का पतन नहीं होता ऐसा अर्थात् मानना युक्त नहीं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो पतला पानी भी न गिरेगा। इसी कारण ऊपर दिये भाष्यकार के द्वितीय उदाहरणों से संतोष न होने के कारण तात्पर्यटीकाकार ने ऊपर दिखाया हुआ प्रथम उदाहरण दिया है ॥ २२ ॥

(१०) अविशेषसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त अविशेषसमा नामक जाति का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—एकधर्मोपपत्तेः = एक धर्म के रहने से, अविशेषे = किसी विशेषता के न होने पर, सर्वाविशेषप्रसङ्गात् = संपूर्ण की समानता आने की आपत्ति आने के कारण, सद्भावोपपत्तेः = सत्तारूप धर्म के संपूर्ण द्रव्यों में वर्तमान होने के कारण, विशेषसमः = अविशेषसमा नामक जाति होती है ॥ २१ ॥

एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते। कथम् ? सद्भावोपपत्तेः एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते, सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः॥

अस्योत्तरम्—

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः॥ २४॥

भावार्थ—शब्द तथा घट दोनों का प्रयत्न के अनन्तर होनारूप एकधर्म हो सकता है, इस कारण शब्द तथा घट दोनों में अनित्यता के समान होने पर संपूर्ण संसार के पदार्थों में अविशेषता (समानता) आ जायगी, क्योंकि संसार के संपूर्ण पदार्थों में एक सद्भावरूप धर्म होता है, इस कारण सत्तारूप धर्म संपूर्ण पदार्थों में होने के कारण सब पदार्थ समान हो जायंगे इस प्रकार की आपत्ति देने को अविशेषसमा जाति कहते हैं॥ २३॥

(इसी आशय से भाष्यकार अविशेषसमा जाति के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—शब्द तथा घट दोनों में प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनारूप रूप धर्म रहता है अतः शब्द तथा घट में कोई विशेषता नहीं है, इस कारण दोनों की अनित्यता में कोई विशेष नहीं है ऐसा माना जाय तो संसार के संपूर्ण पदार्थों में विशेषता न होने की आपत्ति आती है (प्रश्न)—कैसे ? (उत्तर)—सत्तारूप धर्म के होने से। क्योंकि सद्भावरूप धर्म संपूर्ण पदार्थों में हो सकता है। इस कारण संसार के संपूर्ण पदार्थों में सत्तारूप धर्म के वर्तमान होने के कारण संपूर्ण पदार्थों में विशेषता न होने की आपत्ति देने से खण्डन को अविशेषसमा जाति कहते हैं। अर्थात् संसार के संपूर्ण पदार्थों में समानता नहीं हो सकती, वैसे प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनेरूप समानधर्म से भी जैसे शब्द तथा घट दोनों में समानता नहीं हो सकती, यह जातिवादी का आशय है। यह असाधकता के उद्भावन के समान जाति है। एक धर्म से खण्डन को 'साधर्म्यसमा' तथा संपूर्ण द्रव्यों के साधारण धर्म के होने से 'अविशेषसमा' जाति होती है यह दोनों का परस्पर भेद है, यह भी यहाँ जान लेना चाहिये। कुछ विद्वानों ने इस सूत्र की दूसरे प्रकार से व्याख्या की है कि—एकधर्म के होने के कारण साधनधर्म के प्रयोजक होने से समानधर्माधिकरणतारूप लक्षण में पक्ष तथा दृष्टान्त दोनों में संपूर्ण प्रकार से समानता होने की आपत्ति आ जायगी। अतः 'सद्भावोपपत्तेः' इसका संपूर्ण प्रकार से समानता आना अर्थ है। यह संपूर्ण प्रकार से समानता व्यक्ति (१) जाति (२) तथा साध्य (३) तीनों के धर्म से होती है ऐसा बोधसिद्धि में स्पष्ट कहा है॥ २३॥

(इस अविशेषसमा जाति के समाधानसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस शेषसमा जाति का ऐसा उत्तर हैं—

पदपदार्थ—क्वचित् = किसी साधर्म्य में, धर्मानुपपत्तेः = अनित्यता आदि धर्म के न होने से, क्वचित् च = और किसी साधर्म्य में, उपपत्तेः = धर्म के होने के कारण, प्रतिषेधाभावः = निषेध नहीं हो सकता॥ २४॥

भावार्थ—जिस प्रकार शब्द तथा घट में प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप धर्म के होने के कारण दोनों में अनित्यतारूप धर्म में कोई विशेषता नहीं है (समानता है) इसी प्रकार संसार के संपूर्ण पदार्थों में सद्भाव के होने का निमित्त कोई दूसरा धर्म नहीं है, जिससे संसार के संपूर्ण पदार्थों में समानता मानी जाय। यदि 'संपूर्ण संसार के पदार्थों में सर्वत्र सद्भाव की सिद्धि का कारण

यथा साध्यदृष्टान्तयोरेकधर्मस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्योपपत्तेरनित्यत्वं धर्मान्तरमविशेषेण, नैवं सर्वभावानां सद्भावोपपत्तिनिमित्तं धर्मान्तरमस्ति येनाविशेषः स्यात्। अथ मतमनित्यत्वमेव धर्मान्तरं सद्भावोपपत्तिनिमित्तं भावानां सर्वत्र स्यादित्येवं खलु वै कल्प्यमाने अनित्याः सर्वे भावाः सद्भावोपपत्तिरिति पक्षः प्राप्नोति, तत्र प्रतिज्ञार्थव्यतिरिक्तमन्यदुदाहरणं नास्ति, अनुदाहरणश्च हेतुर्नास्तीति। प्रतिज्ञैकदेशस्य चोदाहरणत्वमनुपपन्नम्, न हि साध्यमुदाहरणं भवति। सतश्च नित्यानित्यभावादनित्यत्वानुपपत्तिः। तस्मात्सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्ग इति निरभिधेयमेतद्वाक्यमिति। सर्वभावानां सद्भावोपपत्तेरनित्यत्वमिति ब्रुवताऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वं तत्रानुपपन्नः प्रतिषेध इति ॥२४॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामविशेषसमप्रकरणम्।

अनित्यता ही दूसरा धर्म है ऐसा कहो तो संसार में संपूर्णभाव पदार्थ हैं' ऐसा मानना होगा, तो कोई उदाहरण न मिलेगा, क्योंकि यह संपूर्ण ही संसार के पदार्थों में अनित्यता की प्रतिज्ञा है, जिससे उदाहरण नहीं मिलेगा। विना उदाहरण के प्रतिज्ञा सिद्ध न होगी, क्योंकि प्रतिज्ञा का एकदेश साध्य उदाहरण नहीं होता, सत्पदार्थों के नित्य तथा अनित्य होने के संसार के संपूर्ण पदार्थ अनित्य नहीं हो सकते, इस कारण 'सद्भाव के होने से संसार के संपूर्ण पदार्थ समान हैं' यह जातिवादी का कहना सर्वथा असंगत है। और संपूर्ण पदार्थ सत होने से अनित्य हैं यह कहने मे शब्द में अनित्यता भी मानी गई, अतः उसका निषेध भी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रकार पक्ष (शब्द) तथा दृष्टान्त (घट) दोनों में प्रयत्न के पश्चात उत्पन्न होना इस धर्म के होने से अनित्यतारूप इस दूसरे धर्म की समानता है, उसी प्रकार संसार के संपूर्ण पदार्थों में सद्भाव के होने का कारण दूसरा धर्म नहीं है जिससे संसार के संपूर्ण पदार्थ समान हो जाँय। 'यदि पूर्वपक्षी जातिवादी का ऐसा मत हो कि 'संसार के संपूर्ण पदार्थों में सर्वत्र अनित्यता ही दूसरा धर्म सद्भाव के होने का कारण है'—तो ऐसी कल्पना करने से 'संपूर्ण पदार्थ अनित्य हैं, सद्भाव होने से'—ऐसा पक्ष (मत) प्राप्त होता है। जिसमें प्रतिज्ञा के अर्थ से भिन्न दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। और विना उदाहरण के हेतु साध्यसिद्धि नहीं कर सकता। सब अनित्य है इस प्रतिज्ञा का एकदेश उदाहरण नहीं हो सकता—क्योंकि सिद्धि करने योग्य उदाहरण (दृष्टान्त) नहीं होता। और इस प्रकार 'संपूर्ण पदार्थ अनित्य हैं' इस वैनाशिक (बौद्ध) के अनुमान में उदाहरण न होने के कारण अनुमान में अंग की न्यूनता दिखाकर उसके 'सद्भावोपपत्तेः' इस हेतु में व्यभिचारदोष आने से यह साधक नहीं हो सकता—यह भाष्यकार आगे कहते हैं कि—क्योंकि संसार में कुछ पदार्थों में नित्यतारूप निश्चय है जैसे आकाश में, और कुछ पदार्थों में अनित्यता का निश्चय है जैसे घटादिकों में इस कारण यह सत्तारूप हेतु व्यभिचारी होने के कारण नित्यता या अनित्यता का साधक नहीं हो सकता, इस कारण 'सत्ता होने के कारण संपूर्ण संसार के पदार्थों में समानता की आपत्ति आती है' इस बौद्ध के वचन का कोई अर्थ नहीं है। तथा संपूर्ण पदार्थों में सत्ता होने से अनित्यता है ऐसा कहने वाले जातिवादी ने शब्द को भी अनित्य मान ही लिया है, तो उसका निषेध भी नहीं हो सकता। अर्थात् जातिवादी निषेध करने योग्य शब्द की अनित्यता

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येत्यनित्यः शब्दो नित्यत्वकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते, उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

अस्योत्तरम्—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

उभयकारणोपपत्तेरिति ब्रुवता नानित्यत्वकारणोपपत्तेरनित्यत्वं प्रतिषिध्यते, यदि प्रतिषिध्यते नोभयकारणोपपत्तिः स्यात्। उभयकारणोपपत्तिवचनादनित्य-

---

को सिद्ध करता है नकि निषेध यह अर्थात् आता है, अतः अविशेषसमा नामक जाति सर्वथा असंगत है ॥ २४ ॥

(११) उपपत्तिसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त उपपत्तिसमा नामक जाति का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—उभयकारणोपपत्तेः = दोनों नित्य तथा अनित्य का कारण होने से, उपपत्तिसमः = उपपत्तिसमा नामक जाति होती है ॥ २५ ॥

भावार्थ—यदि शब्द में प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप अनित्यता का कारण होने के कारण शब्द अनित्य है। ऐसा हो तो आकाश के साथ अस्पर्शतारूप कारण होने के कारण शब्द नित्य है यह भी हो सकता है। इस अनित्यता तथा नित्यता दोनों के कारण हो सकने से निषेध को उपपत्तिसमा जाति कहते हैं ॥ २५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यदि शब्द में प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप अनित्यता का कारण हो सकने से शब्द अनित्य हो तो स्पर्शरहित होनारूप नित्यता का कारण होने से शब्द नित्य भी हो सकेगा। इस प्रकार अनित्यता तथा नित्यता दोनों का कारण होने से आपत्ति देने को उपपत्तिसमा जाति कहते हैं। यहां प्रकरणसमा जाति में पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों के साधनों में समान बल होने पर भी प्रतिपक्षी हेतु से अपने पक्ष की सिद्धि करता हुआ वादी के साधन का खंडन करता है–और उपपत्तिसमा जाति में केवल अपने साधन से ही यह दोनों का भेद है। और यह बाध हेत्वाभास कथन के समान जाति है यह जान लेना चाहिये ॥२५॥

(इस जाति का समाधान करने वाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि इस जाति का यह उत्तर है)—

पदपदार्थ—उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानात् = स्थापनावादी के साधन न हो सकने के कारण के स्वीकार करने से, अप्रतिषेधः = जातिवादी का निषेध नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

भावार्थ—दोनों नित्य तथा अनित्य का कारण हो सकता है ऐसा कहने वाले जातिवादी से अनित्यपक्ष का कारण हो सकने से अनित्यता का निषेध नहीं किया जाता है। यदि उसका निषेध किया जाता हो तो दोनों पक्ष के कारण की उपपत्ति (होना) न हो सकेगा। अर्थात् दोनों पक्ष के कारण की उपपत्ति के कहने से अनित्यपक्ष के कारण का होना जातिवादी मानता है, तो उसका निषेध कैसे हो सकता है ॥ २६ ॥

(इसी आशय से सिद्धान्तसूत्र को भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—दोनों नित्य तथा अनित्य का कारण हो सकता है ऐसा कहने वाले जातिवादी के कथन से अनित्यता का कारण भी

त्वकारणोपपत्तिरभ्यनुज्ञायते, अभ्यनुज्ञानादनुपपन्नः प्रतिषेधः । व्याघातात्प्रतिषेध इति चेत् ? *समानो व्याघातः ।* एकस्य नित्यत्वानित्यत्वप्रसङ्गं व्याहतं ब्रुवतोक्तः प्रतिषेध इति चेत् ? स्वपक्षपरपक्षयोः समानो व्याघातः स च नैकतरस्य साधक इति ॥ २६ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामुपपत्तिसमप्रकरणम् ।

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

निर्दिष्टस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद्वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते, निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

मानने से शब्द अनित्य है इसका खण्डन नहीं होगा। यदि दोनों पक्ष के कारणों की उपपत्ति सिद्धि कैसी होगी। अतः दोनों नित्य तथा अनित्यपक्षों के कारण के हो सकने से इस जातिवादी के ही वाक्य से ही अनित्यता के कारण को हो सकता स्वीकृत होता है, जिससे उनका निषेध नहीं हो सकता। एक शब्द में नित्यता तथा अनित्यता का परस्पर विरोध होने के कारण यह सिद्धान्ती की आपत्ति नहीं आ सकती' ऐसा पूर्वपक्षी जातिवादी नहीं कह सकता, क्योंकि यह विरोध तो दोनों में समान ही है। अर्थात् एक ही शब्द में नित्य तथा अनित्य होने की आपत्तिरूप व्याघात दोष यदि जातिवादी है तो अपने जातिवादी तथा दूसरे (स्थापना) वादी दोनों के पक्ष में यह व्याघात दोष समा नहीं है, जो दो में से एक पक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता। अर्थात् जातिवादी ने दिया हुआ व्याघात जैसे अनित्यता को अयुक्त सिद्ध करता है वैसे ही नित्यता को भी, अतः व्याघात के बल से एक नित्यता को ही सिद्ध करना असंगत है, अतः यह जातिवादी का उत्तर अपना ही व्याघात करने के कारण अयुक्त है यह यहां पर भाष्यकार का आशय है। प्रकरणसमा जाति के समान इस जाति का भी खण्डन जान लेना चाहिये ऐसा यहां तात्पर्यटीकाकार का मत है ॥ २६ ॥

(१२) उपलब्धिसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त उपलब्धिसमा जाति का सूत्रकार का लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—निर्दिष्टकारणाभावे अपि = वादी के कहे हुए कारण के न रहने पर भी, उपलंभात् = साध्य के उपलब्ध (प्राप्त) होने से, उपलब्धिसमः = उपलब्धिसमा नामक जाति होती है ॥ २७ ॥

भावार्थ—वादी के कहे हुए अनित्यता के कारण प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप कारण के न रहने पर भी वायु के संयोग से वृक्ष की शाखा के भंग से उत्पन्न शब्द में अनित्यता प्राप्त होती है। अतः वादी के दिये प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप कारण के न होने पर भी अनित्यतारूप साध्यधर्म की उपलब्धि होने के कारण आपत्ति देने को उपलब्धिसमा जाति कहते हैं ॥ २७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—स्थापनावादी के कहे हुए प्रयत्न से उत्पन्न होनारूप अनित्यता के कारण के न रहने पर भी वायु के भेदन नामक संयोग से वृक्ष की शाखा के भंग से उत्पन्न शब्द में अनित्यता देखी जाती है। अतः कहे हुए कारण के न रहने पर भी साध्यधर्म की प्राप्ति को लेकर प्रत्यवस्थान (निषेध) को उपलब्धिसमा नामक जाति कहते हैं। (इस जाति से (१) साध्य के न रहने पर भी धर्म के प्राप्ति से बाध

अस्योत्तरम्—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति ब्रुवता कारणत उत्पत्तिरभिधीयते न कार्यस्य कारणनियमः। यदि च कारणान्तरादप्युपपद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्वमुपपद्यते किमत्र प्रतिषिध्यत इति ॥ २८ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामुपलब्धिसमप्रकरणम्।

न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः, कस्मात्? आवरणाद्यनुपलब्धेः, यथा विद्यमानस्योदकादेरर्थस्याऽऽवरणादेरनुपलब्धिः, नैवं शब्दस्या-

---

होना। (२) साधन के न होने पर भी धर्मी की उपलब्धि होना इससे असिद्धि। (३) दोनों के (साध्य तथा साधन के) न रहने पर भी धर्म की उपलब्धि होने से बाध तथा असिद्धि दोनों दोषों का होना। (४) साधन के न होने पर भी साध्यधर्म की उपलब्धि होने से बाधा हो। (५) तथा साध्यधर्म के न रहने पर भी साधनधर्म की प्राप्ति होने से अतिव्याप्ति दोष मानना—ऐसे पांच भेद हैं ऐसा बोधसिद्धि में आचार्य उदयन ने कहा है ॥ २७ ॥"

(इस जाति के उत्तर में सिद्धान्ती के सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इसका उत्तर यह है—

पदपदार्थ—कारणान्तरात् अपि = दूसरे कारण से भी, तद्धर्मोपपत्तेः = साध्यधर्म के सिद्धि होने के कारण, अप्रतिषेधः = जातिवादी का निषेध नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

भावार्थ—प्रयत्न के पश्चात् शब्द उत्पन्न होता है ऐसा कहने वाले जातिवादी को कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है यह अभिमत है, नकि कार्य में कारण का नियम। अतः यदि दूसरे कारण से भी उत्पन्न होने वाले शब्द में अनित्यता सिद्ध हो सकती है तो जातिवादी किस विषय का निषेध करता है, अतः उपलब्धिसमा जाति सर्वथा अयुक्त है ॥ २८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जातिवादी के प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होता है ऐसा कहने से, कार्य की कारण से उत्पत्ति होती है—ऐसा उसका आशय सिद्ध होता है नकि कार्य में कारण का नियम। अतः यदि दूसरे कारण से भी उत्पन्न होने से शब्द में अनित्यता हो सकती है, तो जातिवादी किसका निषेध उपलब्धिसमा नामक जाति से करता है। अर्थात् स्थापनावादी के दिये कारण से भिन्न दूसरे कारणों से भी शब्द की उत्पत्ति होने से शब्द में यदि अनित्यता सिद्ध होती है—तो कहे हुए कारण से भी उपलब्धि होती है—इस विषय में हमारा कोई विरोध नहीं है, क्योंकि शब्द की अनित्यता का साधन के बल उसके उत्पन्न होने से ही सिद्ध होता है इसी में हमारा तात्पर्य है, अतः निषेधयोग्य के न होने से जातिवादी किस का निषेध करेगा ॥ २८ ॥

(१३) अनुपलब्धिसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त अनुपब्धिसमा जाति के लक्षणसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि—उच्चारण करने के पूर्व काल में वर्तमान शब्द की उपलब्धि नहीं होती। (प्रश्न)—किस कारण? (उत्तर)—शब्द के उपलब्धि में अवतरण आदिकों की उपलब्धि न होने से। जिस प्रकार विद्यमान जल आदि पदार्थ के आवरणादिक उपलब्ध नहीं होते, इस प्रकार शब्द के ग्रहण न होने के कारण आवरणादिक से उस शब्द की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) नहीं होती। जलादिक के समान इस शब्द के ग्रहण न

ग्रहणकारणेनाऽऽवरणादिनाऽनुपलब्धिः, गृह्येत चैतदस्याग्रहणकारणमुदकादिवत्, न गृह्यते, तस्मादुदकादिविपरीतः शब्दोऽनुपलभ्यमान इति—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥

तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिद्ध्यति, अभावसिद्धौ हेत्वभावात्तद्विपरीतमस्तित्वमावरणादीनामवधार्यते, तद्विपरीतोपपत्तेर्यत्प्रतिज्ञातं न *प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन्न* सिद्ध्यति। सोऽयं हेतुरावरणाद्यनुपलब्धेरित्यावरणादिषु चाऽऽवरणाद्यनुपलब्धौ च समयाऽनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलब्धिसमो भवति ॥ २९ ॥

होने का कारण गृहीत न होगा, किन्तु गृहीत नहीं होता। इस कारण जलादिकों से विपरीत (उलटा) न गृहीत न होने वाला शब्द है यह सिद्ध होता है—(इसी आशय से जातिवादी के मत से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—तदनुपलब्धेः = आवरण की उपलब्धि न होने से, अनुपलंभाव = गृहीत न होने के कारण, अभावसिद्धौ = अनुपलब्धि नहीं है यह सिद्ध होने पर तद्विपरीतोपपत्तेः = उसके विपरीत (उलटे) आवरण के उपलब्धि के सिद्धि होने के कारण, अनुपलब्धिसमः = अनुपलब्धिसमा नामक जाति होती है ॥ २९ ॥

भावार्थ—यदि आवरण के न मिलने से आवरण का अभाव सिद्ध होता हो तो आवरणों के न मिलने के भी उपलब्धि प्राप्ति न होने के कारण आवरणों के अनुपलब्धि न मिलने का भी अभाव सिद्ध होता है। ऐसा होने के कारण आवरण के अनुपलब्धि के प्रमाण से आवरणों का अभाव भी सिद्ध न होगा किन्तु आवरण का होना ही सिद्ध होगा—ऐसी जातिवादी के अनुपलब्धिसमा जाति का स्वरूप है ॥ २९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार अनुपलब्धिसमा नामक जाति के लक्षणसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उन आवरणादिकों के न मिलने की भी उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं होती। उपलब्ध न होने से नहीं है, इस कारण उस अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध होता है। अतः अनुपलब्धि के अभाव की सिद्धि होने से अनुपलब्धिरूप हेतु के न होने के कारण उसके विपरीत **आवरणों** की सत्ता है यह निश्चय होता है। और उस अनुपलब्धि के विपरीत (उलटा) आवरणों की सिद्धि ही होने के कारण स्थापनावादी ने जो उच्चारण के पूर्वकाल में विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं है—ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतः 'आवरणों के उपलब्ध न होने के कारण' यह जो हेतु स्थापनावादी ने दिया था, वह जिस प्रकार आवरणादिकों के अभाव को सिद्ध करता है, उसी प्रकार आवरणादिकों के अनुपलब्धि के अभाव को भी सिद्ध करता है। अतः आवरणों के अभाव सिद्ध करने में, तथा आवरणों के अनुपलब्धि के अभाव के सिद्ध करने में 'अनुपलब्धि' समा नहीं है—ऐसे जातिरूप असत् उत्तर का नाम है **'अनुपलब्धि' समा** नामक जाति। (यहाँ अनुपलब्धि यह धर्मरूप विषयी का सूचक है, जिससे अनुपलब्धि तथा उपलब्धि, इच्छा तथा अनिच्छा, द्वेष तथा अद्वेष, कृति और अकृति का अभाव, शक्ति तथा अशक्ति, उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति, इत्यादि व्यवहार तथा उनका अभाव, इत्यादिकों का संग्रह होता है ऐसा बोधसिद्धि में वर्णन किया है) ॥ २९ ॥

अस्योत्तरम्—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥

आवरणाद्यनुपलब्धिर्नास्ति अनुपलम्भादित्यहेतुः। कस्मात्? अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः। उपलम्भाभावमात्रत्वादनुपलब्धेः। यदस्ति तदुपलब्धेर्विषयः, उपलब्ध्या तदस्तीति प्रतिज्ञायते। यन्नास्ति तदनुपलब्धेर्विषयः, अनुपलभ्यमानं नास्तीति प्रतिज्ञायते। सोऽयमावरणाद्यनुपलब्धेरनुपलम्भोऽनुपलब्धौ स्वविषये प्रवर्त्तमानो न स्वविषये प्रतिषेधति। अप्रतिषिद्धा चाऽऽवरणाद्यनुपलब्धिर्हेतुत्वाय कल्पते। आवरणादीनि तु विद्यमानत्वादुपलब्धेर्विषयाः, तेषामुपलब्ध्या भवितव्यम्। यत्तानि नोपलभ्यन्ते नोपलब्धेः स्वविषयप्रतिपा-

---

इस अनुपलब्धिसमा नाम की जाति का खण्डन करने वाले सिद्धान्ती ने सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि—इसका उत्तर यह है—

पदपदार्थ—अनुपलंभात्मकत्वात्=न उपलब्ध होने के स्वभाववाली होने के कारण, अनुपलब्धेः= अप्राप्ति के, अहेतुः=उपलब्ध न होने से आवरणादिकों की अनुपलब्धि नहीं है यह हेतु अयुक्त है ॥

भावार्थ—न उपलब्ध होने के अप्राप्तिस्वरूप होने के कारण 'आवरणादिकों की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) नहीं है' यह जातिवादी का हेतु असंगत है। क्योंकि न उपलब्ध होना केवल उपलब्धि का अभाव ही है। क्योंकि जो वर्तमान होता है वह प्राप्ति का विषय होता है जिससे वह है ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है। और जो विद्यमान नहीं होता वह अप्राप्ति का विषय होता है। जिससे वह 'नहीं है' ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है। इस कारण वह यह आवरणादिकों के अप्राप्ति (उपलब्ध न होना) अप्राप्तिरूप अनुपलब्धिस्वरूप अपने विषय में प्रवृत्त होता हुआ अपने ही विषयरूप (उपलब्धि) का निषेध नहीं कर सकता है। अतः निषेध न होने के कारण आवरणादिकों की अनुपलब्धि का कारण हो सकती है। किन्तु आवरणादिक तो विद्यमान न होने से उपलब्धि के विषय हैं, अतः हों तो उनके प्राप्ति होनी चाहिये। अतः वे उपलब्ध नहीं होते इस कारण अपने विषय आवरणादिकों को कहने वाली आवरणादिकों की उपलब्धि न होने से अप्राप्ति का विषय बाधित होता है—कि शब्द के ग्रहण न होने के कारण आवरणादिक नहीं हैं—इससे आवरणों की अप्राप्ति उसकी उपलब्धि नहीं है वह सिद्ध होता है। क्योंकि उपलब्धि के निषेध करने वाले प्रमाण का अप्राप्ति होना विषय है जिससे आवरणों का अभाव सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अप्राप्त होने के कारण आवरणादिकों की अनुपलब्धि नहीं है, यह जातिवादी का हेतु अयुक्त है। (प्रश्न)—किस कारण? (उत्तर)—अनुपलब्धि के प्राप्ति के अभावरूप होने से। न प्राप्त होने के केवल प्राप्ति का अभाव होने के कारण। क्योंकि जो विद्यमान होता है वह उपलब्धि (प्राप्ति) का विषय होता है। प्राप्त होने के कारण वह है ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है। और जो विद्यमान नहीं होता वह अप्राप्ति का विषय होता है, अप्राप्त होने वाले पदार्थ तो नहीं हैं ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है। अतः वह यह आवरणादिकों के अनुपलब्धि का प्राप्त न होना, उपलब्धि के अभावस्वरूप अप्राप्तिरूप अपने विषय में प्रवृत्त होता हुआ अपने ही विषय का निषेध नहीं करता। निषेध न होने के कारण आवरणादिकों की अप्राप्ति हेतु होती है। और आवरणादिक तो विद्यमान होने के कारण प्राप्ति के विषय हैं, तो उनकी प्राप्ति होनी चाहिये किन्तु जिस कारण आवरणादिक

दिकाया अभावादनुपलम्भादनुपलब्धेर्विषयो गम्यते, न सन्त्यावरणादीनि शब्दस्याग्रहणकारणानीति। अनुपलम्भादनुपलब्धिः सिद्ध्यति विषयः स तस्येति ॥ ३० ॥

ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥ ३१ ॥

अहेतुरिति वर्त्तते। शरीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ संवेदनीयौ—अस्ति मे संशयज्ञानं नास्ति मे संशयज्ञानमिति, एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृतिज्ञानेषु। सेयमावरणाद्यनुपलब्धिरुपलब्ध्यभावः स्वसंवेद्यो नास्ति मे शब्दस्यावरणाद्युपलब्धिरिति, नोपलभ्यन्ते शब्दस्याग्रहणकारणान्यावरणादीनीति। तत्र यदुक्तं *तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धिरिति* एतन्नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरनुपलब्धिसमप्रकरणम्।

प्राप्त नहीं होते इस कारण अपने आवरणादि रूप विषयों को कहने वाली आवरणों के उपलब्धि के न होने के कारण उनके अप्राप्ति का विषय बोधित होता है—कि उच्चारण के पूर्व शब्द के ग्रहण न होने के कारण आवरणादिक हैं। आवरणों के उपलब्ध न होने से उनकी अप्राप्ति सिद्ध होती है। क्योंकि प्राप्ति के निषेध करने वाले प्रमाण का न प्राप्त होना ही विषय है, जिससे आवरणों का अभाव है यह सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

केवल युक्ति से अनुपलब्धि में निषेधविषयक प्रमाण ही से नहीं जानी जाती, किन्तु प्राणिमात्र के अनुभव से भी वह सिद्ध होती है इस आशय से सिद्धान्तिमत से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—ज्ञानविकल्पानां च=और ज्ञान के उपलब्धि तथा अनुपलब्धिरूप प्रकारों के, भावाभावसंवेदनात् = सत्ता तथा अभाव का अनुभव होने के कारण, अध्यात्मम्—मन से आत्मा में ॥

भावार्थ—शरीर में अनुपलब्धि तथा उपलब्धिरूप ज्ञान के अनेक प्रकारों की सत्ता तथा अभाव का प्राणिमात्र को हृदय में अनुभव भी होता है कि 'मुझे संशयज्ञान है, मुझे संदेह नहीं है' इत्यादि। इसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञान, अनुमानज्ञान, शब्दज्ञान, स्मरण ज्ञानों तथा उनके अभाव का भी प्राणिमात्र को हृदय में अनुभव होता है। अतः यह आवरणादिकों की उपलब्धि न होनारूप प्राप्ति के अभाव का भी प्राणिमात्र के हृदय में अनुभव होता है कि—मुझे शब्द के उच्चारण के प्रथम उसके उपलब्ध न होने का कोई आवरणादिक प्राप्त नहीं होता—इस कारण शब्द के ग्रहण न होने के कारण आवरणादिकों की उपलब्धि नहीं होती। अतः जातिवादी ने जो कहा था कि—आवरणादिकों के अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने के कारण, उन आवरणादिकों का अभाव सिद्ध होता है—यह नहीं हो सकता! इस कारण अनुभवविरुद्ध होने से भी अनुपलब्धिसमा जाति असंगत है ॥ ३१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में अपेक्षित 'अहेतुः' यह पद लेना चाहिये। शरीर में शरीरधारी प्राणियों को ज्ञानादि के प्रकारों के सत्ता रहने तथा अभाव दोनों का अनुभव होता है कि—मुझे संशयज्ञान है तथा संदेह नहीं है—इसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञान अनुमान-शब्दज्ञान तथा स्मरणज्ञान में भी जानना चाहिये। वह यह आवरणादिकों की अप्राप्ति, न प्राप्त होना भी अपने अनुभव से ही जानने योग्य है—कि मुझे शब्द के आवरणादिकों की उपलब्धि नहीं है—इस प्रकार शब्द के उच्चारण के पूर्वकाल में मुझे शब्द के ग्रहण न करने के कारण आवरणादिक नहीं है ऐसा। इस कारण पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि शब्द के उपलब्ध न

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ॥ ३२ ॥

अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं सम्पद्यते, सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति ॥ ३२ ॥

अस्योत्तरम्—

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥३३॥

होने की उपलब्धि के न होने के कारण आवरणों का अभाव सिद्ध होता है—यह नहीं हो सकता, अनुपलब्धिसमा जाति सर्वथा संगत नहीं है। अतः उच्चारण करने के पूर्व शब्द की सत्ता नहीं है यह सिद्ध होता है यह सूत्र तथा भाष्यकार का गूढ आशय है ॥ ३१ ॥

(१४) अनित्यसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त अनित्यसमा जाति का लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—साधर्म्यात् = समान धर्म से, तुल्यधर्मोपपत्तेः = समानधर्म की उपपत्ति होने के कारण, सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात्=संसार के संपूर्ण पदार्थों में अनित्यता होने की आपत्ति से, अनित्यसमः= अनित्यसमा नाम के जाति होती है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—यदि केवल समानधर्म से भावपदार्थों में समानधर्मता हो—अर्थात् यदि अनित्य घट के केवल साधर्म्य से ही शब्द की अनित्यता हो तो संपूर्ण भावपदार्थों के अनित्य घट के साथ सत्तारूप साधर्म्य के होने के कारण संपूर्ण संसार के पदार्थों में भी अनित्यता हो सकेगी—इस आशय के असत् उत्तर को अनित्यसमा जाति कहते हैं ॥ ३२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार जातिवादी के सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—अनित्य घट के साथ प्रयत्नानन्तरीयकतारूप साधर्म्य होने के कारण शब्द अनित्य है ऐसा कहने वाले स्थापनावादी के हो मत से यह सिद्ध होगा कि अनित्य घट के साथ संसार के संपूर्ण पदार्थों में सद्भावरूप साधर्म्य होने के कारण संपूर्ण संसार के पदार्थों में जो मानना अनुचित है अनित्यता प्राप्त होगी। वह यह अनित्यता को लेकर प्रत्यवस्थान (निषेध करने) से आपत्ति अनित्यसमा जाति कहाती है। (इस प्रकार भाष्यकार ने अंत में अनित्यसमा जाति का सार बतलाया है। अनित्य घट के साथ संपूर्ण संसार के पदार्थों में सत्तारूप समानधर्म है—ऐसा तात्पर्यटीका में कहा है। इससे भी साधर्म्य के समान वैधर्म्य से निषेध हो सकता है, ऐसा उदयनाचार्य का यहाँ कहना है) ॥ ३२ ॥

(इस अनित्यसमा जाति का सिद्धान्तिमत से खण्डन सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि)—इस अनित्यसमा जाति का ऐसा उत्तर है—

पदपदार्थ—साधर्म्यात् = समानधर्म से, असिद्धेः = शब्द की अनित्यता की सिद्धि न होने के कारण, प्रतिषेधासिद्धिः = जातिवादी के किये स्थापना वाक्य का निषेध नहीं हो सकता, प्रतिषेध्य-साधर्म्यात् = निषेधयोग्य स्थापनावादीपक्ष का साधर्म्य होने के कारण ॥ ३३ ॥

भावार्थ—समान उत्तररूप प्रतिबंदी से सिद्धान्तिमत को लेकर अनित्यसमा जाति के उत्तर का आशय ऐसा है कि—यदि अनित्य के समानधर्म से शब्द की अनित्यता की सिद्धि न हो तो, निषेधयोग्य स्थापनावादी के पक्ष के साथ प्रतिज्ञादि रूप अवयवों का सम्बन्धरूप समान-धर्म होने के कारण जातिवादी के किये स्थापना वाक्य का निषेध नहीं हो सकता, अतः अनित्यसमा जाति अयुक्त है ॥ ३३ ॥

प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिर्वर्त्तकम्, प्रतिपक्षलक्षणं प्रतिषेधस्तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्यं प्रतिज्ञादियोगः, तद्यद्यनित्यसाधर्म्यादनित्यत्वस्यासिद्धिः ? साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः प्रातिषेध्येन साधर्म्यादिति ॥३३॥

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्ते यः खलु धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते स हेतुत्वेनाभिधीयते । स चोभयथा भवति केनचित्समानः कुतश्चिद्विशिष्टः, सामान्यात्साधर्म्यं विशेषाच्च

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रतिज्ञादि अवयवों से युक्त वाक्य ही स्थापनावादी के पक्ष को हटाने वाला प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) स्वरूप जातिवादी का निषेध है। उसका निषेध करने योग्य स्थापनावादी के पक्ष के साथ प्रतिज्ञादि अवयवों का सम्बन्ध समानधर्म है। इस कारण अनित्य घट के साथ प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप समानधर्म से शब्द में अनित्यता की सिद्धि न हो तो, समानधर्म को लेकर सिद्धि न होने के कारण जातिवादी का निषेध भी सिद्ध न होगा—क्योंकि स्थापनावादी के निषेधयोग्य पक्ष के साथ प्रतिज्ञादि अवयवों का दोनों में सम्बन्धरूप समानधर्म है। अर्थात् अनित्य घट के साथ समानधर्म होने से शब्द अनित्य है यह सिद्ध नहीं होता, ऐसा जो जातिवादी ने कहा है, उसका यही अर्थ है कि अनित्य घट के समानधर्म से शब्द में अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती—यदि ऐसा है तो जातिवादी का निषेध वाक्य भी स्थापनावादी के वाक्य के साथ प्रतिज्ञादि अवयवयोगरूप समानधर्म वाला होने के कारण सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

(इस प्रकार जातिवादी के स्थापनावादी के साथ समानता की आपत्ति देकर वास्तविक उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—दृष्टान्ते च = और दृष्टान्त में, साध्यसाधनभावे च = व्याप्य व्यापक (रूप) से, प्रज्ञातस्य = जाने हुए, धर्मस्य = धर्म के, हेतुत्वात् = कारण होने से, तस्य च = और उस हेतु के, उभयथा = अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार से, भावात् = होने के कारण, न = नहीं हो सकती, अविशेषः = समानता ॥ ३४ ॥

भावार्थ—दृष्टान्त में जो धर्म साध्यसाधनरूप से जाना जाता है वह हेतु कहा जाता है, जो किसी के समानधर्म वाला और किसी से विरुद्धधर्म वाला होता है, समानता से साधर्म्य होता है, और विशेषता से वैधर्म्य होता है, जिससे सिद्ध होता है कि विशेषरूप से (व्याप्ति आदि से) समानधर्म वाला ही हेतु साध्य का साधक होता है, नकि किसी विशेषता के केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य। इस कारण जो जातिवादी ने केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य को लेकर कहा था कि—साधर्म्य से समानधर्म के हो सकने के कारण, संसार के संपूर्ण पदार्थों में अनित्य होने की आपत्ति के कारण अनित्यसमा जाति होती है—यह कहना असंगत है ॥ ३४ ॥

(इसी आशय से सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि)—जो धर्म दृष्टान्त में व्याप्य तथा व्यापकरूप से जाना जाता है वही हेतु कहाता है। और वह किसी के समान तथा किसी के असमान होता है। जिसमें समानधर्म होता है वह साधर्म्य हेतु और जिसमें विरुद्धधर्म होता है उसे वैधर्म्य हेतु कहते हैं। ऐसा होने के कारण समानधर्म वालों में तथा विशेष विरुद्धधर्म वालों के साधक होने के कारण जातिवादी ने जो यह कहा था कि—समानधर्म के कारण समानता

वैधर्म्यम् । एवं साधर्म्यविशेषो हेतुर्नाविशेषेण साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं वा, साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं चाऽऽश्रित्य भवानाह *साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसम* इति एतदयुक्तमिति । अविशेषसमप्रतिषेधे च यदुक्तं तदपि वेदितव्यम् ॥ ३४ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरनित्यसमप्रकरणम् ।

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ॥ ३५ ॥

अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायते, तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथानित्यम् ? यदि तावत्सर्वदा भवति ? धर्मस्य सदा भावाद्धर्मिणोऽपि सदा भाव इति नित्यः शब्द इति । अथ न सर्वदा भवति ? अनित्यत्वस्याभावान्नित्यः शब्दः । एवं नित्यत्वेन प्रत्यवस्थानान्नित्यसमः ॥ ३५ ॥

के होने से संसार के संपूर्ण पदार्थों में सत्ताधर्म से अनित्यता की आपत्ति देने से अनित्यसमा जाति होती है—यह असंगत है । अर्थात् साध्य के साथ व्याप्ति रखने वाले ही साधर्म्य से सद्धेतु होता है, जातिवादी की आपत्ति इस नियम के विरुद्ध है, क्योंकि उसने सत्ताधर्म को लेकर ही साधर्म्य को संसार के संपूर्ण पदार्थों में अनित्यता का साधन माना है, किन्तु सत्तारूप साधक धर्म अनित्यतारूप साध्य की व्याप्ति नहीं दिखाता, क्योंकि बहुत से कालादि पदार्थों में सत्ता तथा अनित्यता का व्यभिचार देखने में आता है । और अविशेषसमा नाम की जाति के खण्डन में जो २४ वें सूत्र में कहा था वह भी यहां जान लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

(१५) नित्यसमा नामक जाति का प्रकरण

क्रमप्राप्त नित्यसमा जाति का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—नित्यं = सदा, अनित्यभावात् = अनित्य होने से, अनित्ये = अनित्य पदार्थ में नित्यत्वोपपत्तेः = नित्यता हो सकने से, नित्यसमः=नित्यसमा नामक जाति होती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जिस अनित्यता की घट के दृष्टान्त से शब्द में स्थापनावादी स्थापना करता है वह अनित्यता शब्द में यदि सदा है सो धर्म के सदा होने के कारण धर्मी शब्द भी सदा होगा, जिससे शब्द में नित्यता आ जायगी । और यदि अनित्यता सदा नहीं है तो अनित्यता के न होने के कारण शब्द नित्य ही ऐसा मानना होगा, इस प्रकार नित्यता को लेकर निषेध रूप आपत्ति को नित्यसमा जाति कहते हैं ॥ ३५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—स्थापनावादी शब्द अनित्य है ऐसी प्रतिज्ञा करता है । वह अनित्यता क्या शब्द में सदा (नित्य) है या अनित्य (सदा नहीं है)। यदि शब्द में अनित्यता सदा हो तो अनित्यता धर्म के सदा होने से शब्द रूप धर्मी भी सदा (नित्य) होगा, जिससे शब्द नित्य है ऐसा प्राप्त होता है । और यदि वह अनित्यता शब्द में सदा नहीं है, तो अनित्यता धर्म के सदा न होने के कारण शब्द नित्य हो जायगा, इस प्रकार नित्यता को लेकर आपत्ति देने से नित्यसमा नामक जाति कहाती है, अर्थात् शब्द में सदा अनित्यता होने, तथा सदा न होने दोनों पक्ष से शब्द में नित्यता की प्राप्ति होना नित्यसमा जाति कहाती है ॥ ३५ ॥

(इस जाति के उत्तर सूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं कि इसका उत्तर है)—

अस्योत्तरम्—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥

प्रतिषेध्ये शब्दे नित्यमनित्यत्वस्य भावादित्युच्यमानेऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम् । अनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते । अथ नाभ्युपगम्यते नित्यमनित्यत्वस्य भावादिति हेतुर्न भवतीति हेत्वभावात्प्रतिषेधानुपपत्तिरिति ।

उत्पन्नस्य निरोधादभावः शब्दस्यानित्यत्वं तत्र परिप्रश्नानुपपत्तिः । सोऽयं प्रश्नः तदनित्यत्वं किं शब्दे सर्वदा भवति अथ नेत्यनुपपन्नः । कस्मात् ?

पदपदार्थ—प्रतिषेध्ये = निषेध योग्य में, नित्यं = सर्वदा, अनित्यभावात् = अनित्यता के होने के कारण, अनित्ये = अनित्य शब्द में अनित्यत्वस्य = अनित्यता धर्म के, उपपत्तेः = होने के कारण, प्रतिषेधाभावः = अनित्यता का निषेध नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

भावार्थ—अनित्यता का निषेध करने योग्य शब्द में सर्वदा अनित्यता के होने से–ऐसा कहने से ही शब्द में अनित्यता मानी ही गई । इस कारण अनित्य होने से शब्द अनित्य नहीं है यह निषेध नहीं हो सकता । यदि नहीं माने तो 'सदा अनित्यता के होने से' यह हेतु नहीं बनता— अतः विना हेतु के निषेध नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सिद्धान्त सूत्र की व्याख्या करते हैं कि—'नित्य अनित्यता के होने' इस जातिवादी के हेतु के स्वीकार करने तथा न करने दोनों पक्ष में दोष होता है)—क्योंकि निषेध करने योग्य शब्द में सदा अनित्यता के रहने से ऐसा कहने पर शब्द में अनित्यता का स्वीकार हो जाता है, जिस अनित्यता के हो सकने से भी शब्द अनित्य नहीं है यह जातिवादी का निषेध नहीं हो सकता । यदि सदा शब्द में अनित्यता न मानी जाय, तो 'सदा शब्द में अनित्यता के होने से' यह जातिवादी का हेतु नहीं बनता, इस कारण हेतु के रहने से निषेध नहीं बन पाता । (अर्थात् जातिवादी अपने दिये उपरोक्त हेतु को नहीं मानता तो उसका हेतु उसकी प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं कर सकता । इस कारण उस हेतु को देना व्यर्थ है, इससे भी शब्द में अनित्यता का निषेध असंगत ही है) । (इस प्रकार जातिवादी के कहे हेतु का खण्डन करने के पश्चात् उसके प्रश्न का भी असंभव दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—उत्पन्न भये शब्द का नाश होने से अभाव शब्द की अनित्यता होती है । उसके विषय में जातिवादी का प्रश्न ही नहीं बन सकता । क्योंकि वह शब्द की अनित्यता क्या शब्द में सदा होती है कि नहीं—ऐसा कह यह जातिवादी का प्रश्न ही नहीं हो सकता । (प्रश्न)—क्यों ! (उत्तर)—क्योंकि उत्पन्न होने के पश्चात् जो शब्द का निरोध (उसका नाश) होने से अभाव होता है, वही शब्द की अनित्यता होती है । ऐसा होने से शब्द रूप आश्रय में जो अनित्यता-धर्म का रहना रूप आधेयता है यह विभाग विरोध के कारण नहीं हो सकता (अर्थात् शब्द अनित्यता पर आश्रय, अथवा अनित्यता शब्द की आधेय (रहने वाली) है । क्योंकि अनित्यता शब्द से अवच्छिन्न (युक्त) है न कि शब्द रूप अधिकरण में रहती है, जैसे घर का अभाव घर में नहीं रहता—भाव स्वभाव ही धर्म धर्मी में रहते हैं न कि अभाव । अभाव में आश्रित होने पर भी अपने प्रतियोगी में रहता है, (विभु

उत्पन्नस्य यो निरोधादभावः शब्दस्य तदनित्यत्वम् , एवं च सत्यधिकरणाधेयविभागो व्याघातान्नास्तीति । *नित्यानित्यत्वविरोधाच्च* । नित्यत्वमनित्यत्वं च एकस्य धर्मिणो धर्माविति विरुध्येते न सम्भवतः । तत्र यदुक्तं *नित्यमनित्यत्वस्य भावाद् नित्य* एव, तदवर्तमानार्थमुक्तमिति ॥ ३६ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां नित्यसमप्रकरणम् ।

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥ ३७ ॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति, यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत्खल्वभूत्वा भवति, यथा घटादिकार्यम् , अनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद्विज्ञायते । एवमवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते । प्रयत्ना-

---

प्रदेश में घटाभाव के समान दूसरे में ही रहता है) यह भाष्यकार का आशय है (इसी कारण वाचस्पति मिश्र ने कहा है—शब्द में एक पूर्व भाग में सत्ता का समवाय सम्बन्ध ही अनित्यता होती है, न कि वह शब्द में रहती है क्योंकि वह स्वतंत्र है) (आगे शब्द में नित्यता है या अनित्यता यह विकल्प विरोध के कारण नहीं हो सकता इस आशय से भाष्यकार कहते हैं कि)—नित्य और अनित्यता का विरोध (व्याघात) होने से भी । क्योंकि एक धर्मी में नित्यता तथा अनित्यता दोनों विरोध से हो नहीं सकते । अतः जो जातिवादी ने कहा था कि—सदा अनित्यता के होने के कारण शब्द नित्य हीं है—वह अवर्तमान अर्थ वाला (अर्थरहित) जातिवादी का कथन है । (अर्थात् अनित्य शब्द में नित्यता है यह शंका ही नहीं हो सकती) ॥ ३६ ॥

(१६) कार्यसमा नामक जाति का प्रकरण

(क्रमप्राप्त कार्यसम जाति का लक्षण सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—प्रयत्नकार्यानेकत्वात् = प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले तथा प्रगट होने वाले ऐसे दो प्रकार के प्रयत्न के कार्यों के होने के कारण, कार्यसमः = कार्यसमा नामक जाति होती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—प्रयत्न से होने वाले कार्यों के दो प्रकार की उपलब्धि होती है—जिसमें घटादि कार्य जो पूर्व में नहीं थे, कुलाल के प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं । तथा कुछ वर्तमान होने पर भी आवरणादिकों से जो नहीं दिखाते थे, आवरणादिकों के हटाने रूप प्रयत्न से प्रगट होते हैं, जैसे मृत्तिका से व्यवहित जलादिका । अतः उक्त दो प्रकार के प्रयत्न के कार्यों के होने के कारण प्रयत्न के पश्चात् होने से शब्द अनित्य है, ऐसा स्थापनावादी का पक्ष असंगत है, इस प्रकार की आपत्ति देने को कार्यसमा जाति कहते हैं ॥ ३७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य होता है । ऐसा स्थापनावादी का पक्ष है । अर्थात् जिसके प्रयत्न करने से आत्मलाभ (अपनी उत्पत्ति) होती है, वह पूर्वकाल में न रहकर उत्तरकाल में होता है । जिस प्रकार घटादि कार्य कुलालादिकों के प्रयत्न से उत्पन्न होता है । अनित्य भी वही कहा जाता है जो उत्पन्न होकर नष्ट होता है । अर्थात् प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने वाला कार्य अनित्य होता है (इस प्रकार स्थापनावादी का पक्ष दिखाकर जातिवादी का असत् उत्तर भाष्यकार आगे दिखाते हैं)—ऐसा स्थापनावादी का पक्ष होने पर जातिवादी के पक्ष से उसका 'प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होने से' इस हेतु से उपरोक्त स्थापना पक्ष का निषेध कहा जाता है कि—प्रयत्न करने के पश्चात् उत्पत्ति के पूर्वकाल में न रहने वाले घटादि कार्य की उत्पत्ति (स्वरूप प्राप्ति) देखने में आती है । तथा

नन्तरमात्मलाभश्च दृष्टो घटादीनाम्, व्यवधानापोहाच्चाभिव्यक्तिर्व्यवहितानाम्, तत्किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्याहो अभिव्यक्तिरिति ? विशेषो नास्ति, कार्याविशेषेण प्रत्यवस्थानं कार्यसमः ॥ ३७ ॥

अस्योत्तरम्—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥ ३८ ॥

सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्त्यै, यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धिकारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविनोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाऽभिव्यक्तिर्भवतीति।

व्यवधान (आवरणादिकों) के हटाने से आवरण से छिपे पदार्थों की अभिव्यक्ति केवल प्रगट होना भी देखने में आता है। तो क्या शब्द का प्रयत्न करने के पश्चात् घट के समान आत्मलाभ (इस शब्द के स्वरूप) की प्राप्ति होती है, अथवा प्रयत्न करने से वर्तमान ही शब्द की अभिव्यक्ति (केवल प्रगट होना) होता है इन दोनों पक्षों में से एक पक्ष का कोई साधक विशेष हेतु नहीं है। अतः कार्य की समानता को लेकर खण्डन करने को कार्यसमा नामक जाति कहते हैं। अर्थात् उपरोक्त प्रयत्न के दो प्रकार के कार्यों के दिखाई पड़ने से शब्द में कौन सी कार्यता है, इसका विशेष साधक होने की आपत्ति इसको कार्यसमा जाति कहते हैं। दोनों के समानधर्म होने से संशयसमा जाति होती है—और यह कार्यसमा जाति विशेष के उपलब्धि की विवक्षा न कर होती है यह संशयसमा से कार्यसमा जाति का भेद है। तथा **'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्'** इस हेतु का प्रयत्न के पश्चात् प्राप्ति होने के कारण ऐसा आरोप से अर्थ कर प्रयत्नसमा जाति में निषेध किया जाता है, और साधर्म्य समा जाति में आरोप नहीं होता, यह कार्य समा जाति का साधर्म्य समा जाति से भेद है यह भी जान लेना चाहिये ॥ ३७ ॥

(इस कार्यसमा नामक जाति के खण्डन करने वाले सिद्धान्तसूत्र का भाष्यकार अवतरण देते हैं—कि इसका ऐसा उत्तर है)—

पदपदार्थ—कार्यान्यत्वे = कार्य के दो प्रकार के भेद होने में, प्रयत्नाहेतुत्वं = प्रयत्न कारण नहीं है, अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः = अप्राप्ति का कारण हो सकने से ॥ ३८ ॥

भावार्थ—प्रयत्न के दो प्रकार के भेद होने पर भी शब्द की अभिव्यक्ति में प्रयत्न कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ आवरणादिक अप्राप्ति का कारण प्राप्त होता है वहीं पर अभिव्यक्ति का कारण होता है—प्रस्तुत शब्द की अभिव्यक्ति मानने से कोई अप्राप्ति का कारण नहीं प्राप्त होता, अतः शब्द की अभिव्यक्ति मानना अयुक्त है, अतः शब्द उत्पन्न होता है यही भावना संगत है। इसी कारण तात्पर्यटीकाकार ने कहा है कि—शब्द के उच्चारण के पूर्वकाल में अनुपलब्धि का कारण आवरणादि के सिद्धि होने पर ही शब्द अभिव्यक्त होता है यह हो सकेगा—ऐसा नहीं है, इस प्रकार व्यतिरेक द्वारा शब्द में उत्पत्ति मानना उचित है (न्यायमंजरी कार ने यहां 'अनुपलब्धिकारणानुपपत्तेः' ऐसा पाठ सूत्र में लिया है, जिससे 'जिस कारण शब्द में आवरणादि रूप शब्द के अप्राप्त होने का कारण नहीं हो सकता, इस कारण प्रयत्न शब्द की अभिव्यक्ति का कारण नहीं हो सकता ऐसा सरल अर्थ माना है) ॥ ३८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उपरोक्त कार्यों के भेद होने पर भी शब्द की अभिव्यक्ति मानने में उसके अनुपलब्धि का कारण हो सकने के प्रयत्न कारण

न तु शब्दस्यानुपलब्धिकारणं किञ्चिदुपपद्यते यस्य प्रयत्नानन्तरमपोहाच्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाऽभिव्यक्तिर्भवतीति, तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यते इति ॥ ३८ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां कार्यसमप्रकरणम् ।

हेतोश्चेदनैकान्तिकत्वमुपपाद्यते अनैकान्तिकत्वादसाधकः स्याद् इति । यदि चानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम्—

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

नहीं है, क्योंकि जहाँ प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति होती है वहाँ व्यवधान (आवरण) रूप अप्राप्ति का कारण होता है। और उस व्यवधान के हटाने पर प्रयत्न के पश्चात् होने वाले अर्थ की उपलब्धि (प्राप्ति) स्वरूप अभिव्यक्ति होती है, किन्तु प्रकृत में शब्द के अप्राप्ति का कोई कारण नहीं हो सकता। जिस शब्द के आवरण का प्रयत्न के पश्चात् निवृत्ति होने से उपलब्धि स्वरूप अभिव्यक्ति होती है ऐसा माना जाय। इस कारण शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता यह सिद्ध होता है। अर्थात् पृथ्वी के गर्भ में रहने वाले जलादिकों में उसके प्राप्त न होने का कारण पृथ्वी होती है, इस कारण वहाँ मृत्तिकादि आवरण के हटाने पर जल मिलता है, यह दिखाने से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान ही जल की प्राप्ति प्रयत्न से होती है, किन्तु शब्द के उच्चारण के पूर्वकाल में किसी उसके अप्राप्ति का कारण आवरणादिक जब उपलब्ध नहीं होता, तो किसके हटाने से वर्तमान ही शब्द की अभिव्यक्ति मानी जायगी, अतः शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती किन्तु उत्पत्ति प्रयत्न से ही होती है यह सिद्ध होता है। (इस प्रकार इन चौबीस उपरोक्त उदाहरणों के सिद्धान्त मत से समाधान के मार्ग के अनुसार शब्द की अनित्यता सिद्ध करने में जातिवादियों के निषेध समुदायों का भी इसी प्रकार सिद्धान्त मत से खण्डन हो सकता है यह जान लेना चाहिये) ॥ ३८ ॥

(१७) षट्पक्षी प्रतिरूप कथा के आभास का प्रकरण

क्योंकि जातिवादी को स्थापनावादी के संपूर्ण स्थलों में ठीक ठीक साधन अवश्य करना पड़ेगा, ऐसा होने से ही निर्णय होने के कारण कथा की समाप्ति होगी और यदि स्थापनावादी भी जातिवादी को हेतु के आभास (दुष्ट हेतु) से ही उत्तर दे तो षट् (छ) पक्ष होने के कारण कथा में तत्व निर्णय नहीं हो सकता। इस कारण शिष्यों के हित करने की बुद्धि से शास्त्रकार दुष्ट हेतुओं को कहने वाले वादी की निष्फलता दिखाने के लिये षट्पक्षी का भाष्यकार अवतरण देते हैं। (जिसके लिये यह प्रकरण प्रारंभ किया जाता है) कि—यदि हेतु में अनैकान्तिकता (व्यभिचार) का उपपादन (कथन) किया जाता है तो वह हेतु व्यभिचारी होने के कारण साध्य की सिद्धि न कर सकेगा। यदि इस प्रकार व्यभिचार दोष होने से हेतु साधक न होता हो तो—

पदपदार्थ—प्रतिषेधे अपि = निषेध पक्ष में भी, समानः = समान है, दोषः = दोष ॥ ३९ ॥

भावार्थ—किसी का निषेध करने तथा किसी का निषेध न करने के कारण प्रतिषेध भी व्यभिचारी है, अतः वह भी निषेध का साधक नहीं हो सकेगा (यहाँ शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से, घट के समान, ऐसी स्थापनावादी की प्रतिज्ञा प्रथम पक्ष है (१) उसके विरुद्ध प्रतिवादी ने कहा। द्वितीय पक्ष भाष्यकार ने इस सूत्र के अवतरण में 'हेतु यदि व्यभिचारी हो' इस पंक्ति में दिखाया है। वादी के 'प्रयत्न के पश्चात् होने रूप' हेतु में प्रतिवादी ने प्रयत्नों के

प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः, किञ्चित्प्रतिषेधति किंचिन्नेति अनैकान्तिकत्वाद-साधक इति। अथ वा शब्दस्यानित्यत्वपक्षे प्रयत्नानन्तरमुत्पादो नाभिव्यक्तिरिति विशेषहेत्वभावः। नित्यत्वपक्षेऽपि प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिर्नोत्पाद इति विशेषहेत्वभावः। सोऽयमुभयपक्षसमो विशेषहेत्वभाव इत्युभयमप्यनैकान्तिकमिति ॥ ३६ ॥

कार्य में नाना प्रकार होने से प्रयत्नानन्तरीयकत्व से व्यभिचार दोष दिखाया है। हेतु के द्वारा-व्यभिचार दोष ग्रस्त होने के कारण यह हेतु शब्द में अनित्यता को सिद्ध नहीं कर सकता—इस प्रकार यह द्वितीय पक्ष है (२)। इसके पश्चात् वादी के विरुद्ध वचन रूप तृतीय पक्ष के **'यदि'** इत्यादि अवतरण में भाष्यकार ने **'समानो दोषः'** इस सूत्र तक उठाया है ॥ ३९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रतिवादी का निषेध भी व्यभिचार दोष से ग्रस्त है। अर्थात् 'प्रयत्न के पश्चात् होने वाले' ऐसा कहने वाले वादी का हेतु यदि व्यभिचारी है, तो प्रतिवादी का 'प्रयत्न के कार्य से अनेक प्रकार के होने से', यह ३७ वें सूत्र में कहा हुआ हेतु भी व्यभिचारी है। (आगे प्रतिवादी के हेतु में व्यभिचार दोष दिखाते हैं कि)—निषेध भी किसी का निषेध करता है, किसी का नहीं, इस कारण व्यभिचार दोष ग्रस्त होने से निषेध की सिद्धि नहीं कर सकता। (अर्थात् प्रयत्न के कार्य के अनेक प्रकार होने से—ऐसा कहने वाले प्रतिवादी का यह आशय है कि—वह प्रतिवादी किसी असत् (न रहने वाले) पदार्थ जो प्रयत्न के पश्चात् होते हैं उत्पत्ति मानता है जैसे घट की, और किसी की उत्पत्ति नहीं मानता, जैसे शब्द की। इस कारण जिस प्रकार वादी का हेतु व्यभिचारी होने से साधक नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रतिवादी का हेतु भी) (इस प्रतिवादी के वचन को भी उत्तराभास (उत्तर के समान) होने से कार्यसमा जाति कह सकते हैं) (आगे दूसरे प्रकार से द्वितीय, तथा तृतीय दोनों पक्षों को भाष्यकार दिखाते हैं कि)—अथवा शब्द के अनित्य मानने के पक्ष में प्रयत्न के पश्चात् शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं होती, ऐसा कहने में कोई विशेष साधक नहीं है। तथा शब्द को नित्य मानने के पक्ष में भी प्रयत्न के पश्चात् शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा मानने में भी कोई विशेष हेतु नहीं है। वह यह दोनों पक्षों में विशेष हेतु का न होना दोष समान ही है, अतः दोनों पक्ष व्यभिचार दोष से ग्रस्त हैं। अर्थात् प्रतिवादी का यह कहना है कि—शब्द के अनित्य मानने के पक्ष में भी न रहने वाले ही शब्द की प्रयत्न के पश्चात् उत्पत्ति ही होती है नकि वर्तमान शब्द की अभिव्यक्ति ही, इस प्रकार दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष में विशेष हेतु नहीं है। ऐसे ही शब्द के नित्य मानने के पक्ष में भी वर्तमान शब्द की अभिव्यक्ति ही होती है न कि अविद्यमान शब्द की उत्पत्ति होती है। ऐसे दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष का साधक कोई विशेष हेतु नहीं है, इस प्रकार यह व्यभिचार दोष वादी तथा प्रतिवादी दोनों के पक्ष में समान है, अतः दोनों हेतु व्यभिचारी हैं—ऐसा तृतीय पक्ष है (३) ॥ ३९ ॥

(ऊपर कही हुई प्रतिवादी की दिखाई हुई जाति में ही समाधान दुष्ट नहीं होता किन्तु संपूर्ण ही पूर्वोक्त असदुत्तर रूप जातियों में दुष्ट समाधान होता है। इस आशय से सूत्रकार शिष्यों को उपदेश देते हुए कहते हैं)—

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

सर्वेषु साधर्म्यप्रभृतिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्र यत्राविशेषो दृश्यते तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसज्यत इति ॥ ४० ॥

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥

पदपदार्थ—सर्वत्र = पूर्वोक्त २४ संपूर्ण जातियों में, एवम् = ऐसा समानतादोष होता है ॥४०॥

भावार्थ—साधर्म्यसमा इत्यादि पूर्वोक्त २४ संपूर्ण जातियों में जहाँ-जहाँ हेतु में एक पक्ष में विशेष हेतु नहीं होता एवं = ऐसा—दोनों पक्षों में दोष की समानता की आपत्ति होती है ॥ ४० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—संपूर्ण पूर्वोक्त साधर्म्यसमा आदि चौबीसे निषेध के कारण असदुत्तर रूप जातियों में से जिस जिस में दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष की सिद्धि होने में कोई विशेष हेतु नहीं है ऐसा देखने में आता है उस उस जाति रूप असदुत्तरों में दोनों पक्षों में समान दोष की आपत्ति हो सकती है अर्थात् (१) शब्द, अनित्य है, कार्य होने के कारण, अथवा इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण—इस प्रकार सत् तथा असत् के प्रयोग में (२) उसी प्रकार स्पर्शरहितता रूप आकाश साधर्म्य से शब्द नित्य ही क्यों नहीं होगा ? इस प्रकार **'साधर्म्यसमा'** नामक जाति होती है। (३) तथा स्पर्श रहित नित्य आकाश का परम महत् परिमाण (व्यापकता) होता है—अतः शब्द भी नित्य हो तो **'व्यापक'** हो जायगा—ऐसी **उत्कर्षसमा नामक** जाति होती है। (४) तथा जैसे आकाश के दृष्टान्त से शब्द में 'व्यापकता' कही जाती है उसी प्रकार रूप के दृष्टान्त से व्यापकता से शून्यता क्यों न कही जाय—ऐसी **प्रतिदृष्टान्तसमा** नामक जाति होती है। (५) तथा जैसे स्पर्श रहित पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। किसी का श्रोत्रेन्द्रिय से ज्ञान नहीं होता जैसे रूप रस इत्यादियों का तथा किसी का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है जैसे शब्द का, वैसे कोई आकाशादिक नित्य होगा, और कोई नित्य शब्दादिक-ऐसी **विकल्पसमा नामक** जाति होती है। (६) तथापि कार्यता अथवा इन्द्रिय से ग्रहण होना रूप हेतु अपने अपने साध्य को न प्राप्त कर अतिप्रसंग दोष के कारण कैसे उसकी सिद्धि करेगा, इस कारण साध्य को प्राप्त कर सिद्धि कर सकेगा ऐसा कहना पड़ेगा, जिससे कोई विशेष न होने के कारण कौन किसका साध्य है और कौन किसका साधन है—इस प्रकार **'प्राप्तिसमा'** नामक जाति होती है। ऐसे षट् (छ) पक्ष होते हैं (यद्यपि यह सूत्र षट्पक्षी सूत्र के पश्चात् रखना ही उचित था, तथापि त्रिपक्षी (तीन पक्ष) में भी दुष्ट कथा होती है—यह दिखाने के लिये यहीं पर सूत्रकार ने कहा है) ॥ ४० ॥

(वादी के ऐसे दुष्ट समाधान कहने पर पुनः प्रतिवादी चतुर्थ पक्ष से आपत्ति देता है कि)—

पदपदार्थ—प्रतिषेधविप्रतिषेधे-जातिवादी के द्वितीय पक्ष रूप प्रतिषेध का विप्रतिषेध वादी के दिये तृतीय पक्ष रूप प्रतिषेध में भी, प्रतिषेधदोषवत् = प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में जो जातिवादी ने तृतीय पक्ष में देखाया था उसके समान ही, दोषः = दोष आता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो यह प्रतिषेध में भी व्यभिचार रूप समान दोष दिया जाता है, वह यह निषेध के निषेध में भी समान ही है। जिसमें प्रयत्न के पश्चात् होने के कारण शब्द अनित्य है, ऐसा स्थापनावादी का प्रथम पक्ष है। जिसका खण्डन करने वाले का प्रयत्न के अनेक प्रकार के होने से कार्यसमा जाति होती है यह निषेध हेतु से द्वितीय पक्ष है। वह सूत्र में प्रतिषेध ऐसा कहा गया है। उस इस प्रतिषेध का निषेध करने में भी समान होना दोष होता है ऐसा तृतीय पक्ष सूत्र में

योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापद्यते सोऽयं प्रतिषेधस्य प्रतिषेधेऽपि समानः। तत्रानित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति साधनवादिनः स्थापना प्रथमः पक्षः। '*प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः*' इति दूषणवादिनः प्रतिषेधहेतुना द्वितीयः पक्षः, स च प्रतिषेध इत्युच्यते। तस्यास्य *समानो* दोष इति तृतीयः पक्षो विप्रतिषेध उच्यते। तस्मिन् विप्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वं चतुर्थः पक्षः॥ ४१॥

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा॥ ४२॥

प्रतिषेधं द्वितीयं पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तदुद्धारमनुक्त्वाऽनुज्ञाय प्रतिषेधविप्रतिषेधे तृतीयपक्षे समानमनैकान्तिकत्वमिति समानं दूषणं प्रसजतो दूषणवादिनो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति पञ्चमः पक्षः॥ ४२॥

'विप्रतिषेध' कहा है। उस प्रतिषेध के विप्रतिषेध में भी समान व्यभिचार रूप दोष होता है—यह चतुर्थ पक्ष है॥ ४१॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जो यह प्रतिषेध में भी समान व्यभिचार दोष दिया जाता है, वह यह प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध में भी समान ही है। जिस प्रकार शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात होने से ऐसा स्थापनावादी का प्रथम पक्ष होता है। जिस पर 'प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होने से **कार्यसमा**' जाति होती है—ऐसा दोष देने वाले प्रतिवादी का निषेध के हेतु से द्वितीय पक्ष होता है। जिसको सूत्र में प्रतिषेध कहा गया है। उस इस प्रतिषेध का निषेध करने से भी समान दोष है—ऐसा तृतीय पक्ष 'सूत्र के' विप्रतिषेध शब्द से कहा गया है। इस प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध में भी व्यभिचार रूप समान दोष चतुर्थ पक्ष है। इस प्रकार भाष्यकार ने इस सूत्र में षट् (छ) पक्षों में से चार पक्ष कहे हैं॥ ४१॥

(प्रतिवादी के चतुर्थ पक्ष पर वादी का पंचम (पाँचवा) पक्ष सूत्रकार दिखाते हैं कि)—

पदपदार्थ—प्रतिषेध = द्वितीय पक्ष रूप प्रतिषेध को, सदोषं = दोष युक्त, अभ्युपेत्य = स्वीकार कर, प्रतिषेधविप्रतिषेधे = प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध में, समानः = समान, दोषप्रसङ्गः, = दोष की आपत्ति देना, मतानुज्ञा = मत को मान लेना रूप दोष की आपत्ति आती है॥ ॥ ४२॥

भावार्थ—'अपने पक्ष में दोष को मानकर दूसरे के पक्ष में दोष की आपत्ति देना रूप मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान (पराजय का स्थान) होता है ऐसा आगे कहेंगे, इस कारण प्रतिवादी प्रतिषेध रूप अपने पक्ष में दोष मानकर, उसी दोष को वादी के तीसरे पक्ष में भी आपत्ति देता हुआ अपने चतुर्थ पक्ष को कहता है—इस कारण उसे **'मतानुज्ञा'** नामक निग्रह स्थान होता है। यह छ पक्षों में से पांचवा पक्ष है॥ ४२॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—द्वितीय पक्ष रूप निषेध के व्यभिचार दोष युक्त मानकर, उसका उद्धार (खंडन) न कर, उसे मानकर प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध रूप तृतीय पक्ष में व्यभिचार दोष समान है इस प्रकार समान दोष की आपत्ति देने वाले दोषवादी चतुर्थ पक्षी को मतानुज्ञा (मत को मान लेना) यह दोष आता है—ऐसा षट्पक्षी में यह पंचम पक्ष है॥ ४२॥

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ॥ ४३ ॥

स्थापनापक्षे प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति दोषः स्थापनाहेतुवादिनः स्वपक्षलक्षणो भवति। कस्मात्? स्वपक्षसमुत्थत्वात्, सोऽयं स्वपक्षलक्षणं दोषमपेक्षमाणोऽनुद्धृत्यानुज्ञाय प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्युपपद्यमानं दोषं परपक्षे उपसंहरति। इत्थं चानैकान्तिकः प्रतिषेध इति हेतुं निर्दिशति, तत्र स्वपक्ष-

---

(यह मतानुज्ञा पंचम पक्षवादी को भी तीसरे पक्ष में होती ही है इस कारण) प्रतिवादी के मत से छंठवां पक्ष सूत्रकार उठाते हैं)—

पदपदार्थ—स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे = अपने स्थापनावादी के पक्ष में शब्द अनित्य है प्रयत्न से होने के कारण-स्वरूप पक्ष लक्षण में दोष की अपेक्षा से होने वाले प्रतिषेध में भी समान दोष होता है ऐसी सिद्धि का उपसंहार करने में हेतुनिर्देश = अनैकान्तिकता रूप हेतु दोष कहने पर, परपक्षदोषाभ्युपगमात् = प्रतिवादी के पक्ष में वादी के दिये दोष को मानने से, समानः = समान ही, दोषः = मतानुज्ञा निग्रहस्थान दोष होता है ॥ ४३ ॥

भावार्थ—अपने पक्ष से उठने के कारण स्थापनावादी के पक्ष में 'प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं'—यह दोष सूत्र में स्थापना हेतु को कहने वाले का 'स्वपक्षलक्षण' होता है। वह यह स्वपक्षलक्षण दोष को मानकर उसका खंडन न कर, उसे मानकर 'प्रतिषेध में भी समान दोष है' इस प्रकार सिद्ध किये दोष को दूसरे के पक्ष में उपसंहार करता है (देखाता है), जिससे निषेध व्यभिचारी है ऐसे हेतु को दिखाता है। जिसमें स्वपक्षलक्षणापेक्षा से दिये हुए, उपसंहार तथा हेतु का कथन होने के कारण यह इसके परपक्षदोष अपने पक्ष में मान लिया है यह सिद्ध होता है, क्योंकि प्रतिवादी ने स्थापनावादी के पक्षपर प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं—ऐसा व्यभिचार दोष दिया है, उसका खंडन न कर स्थापनावादी ने केवल 'तुम्हारे निषेध में भी समान दोष है' ऐसा कहा है। इस प्रकार शब्द की अनित्यता स्थापना के पक्ष में व्यभिचार दोष मानकर, विरुद्ध प्रतिषेध में भी समान दोष की आपत्ति देने वाले को प्रतिवादी का पक्ष मान लेने के कारण समान दोष आता है। जिस प्रकार निषेध के दोष युक्त मानकर प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध में भी समान दोष को आपत्ति देनारूप मतानुज्ञा नामक निग्रह स्थान होता है उसी प्रकार इस पंचम पक्षवादी को भी स्थापना में व्यभिचार दोष को मानकर प्रतिषेध में भी समान दोष की आपत्ति देने के कारण मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान दोष होता है ॥ ४३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—स्थापनावादी के शब्दानित्यत्व रूप पक्ष पर 'प्रयत्न के कार्यों के अनेक प्रकार होने से' यह प्रतिवादी का दिया दोष स्थापक साधनावादी का 'स्वपक्षलक्षण' पद से सूत्र में विवक्षित है (प्रश्न)—क्यों! (उत्तर)—अपने पक्ष से उठने के कारण। (इस प्रकार 'स्वपक्षलक्षण' पद का अर्थ दिखाकर 'अपेक्षोपपत्त्युपसंहारे' इस शब्द का अर्थ भाष्यकार आगे दिखाते हैं कि)—वह यह स्थापनावादी स्वपक्षलक्षण रूप दोष की अपेक्षा करता हुआ प्रतिवादी के दिये दोष का खण्डन कर, और मानकर 'प्रतिषेध में भी समान दोष है' इस होने वाले दोष का दूसरे के पक्ष में उपसंहार करता है (कहता है)। (आगे सूत्र के 'हेतुनिर्देशे' इस शब्द का अर्थ भाष्यकार करते हैं कि)—ऐसा होने के कारण प्रतिषेध व्यभिचारी है यह हेतु देखाता है। (संपूर्ण सूत्र के अर्थ का उपसंहार करते हुए भाष्यकार

लक्षणापेक्षयोपपद्यमानदोषोपसंहारे हेतुनिर्देशे च सत्यनेन परपक्षोऽभ्युपगतो भवति। कथं कृत्वा ? यः परेण प्रयत्नकार्यानेकत्वादित्यादिनाऽनैकान्तिकदोष उक्तः, तमनुद्धृत्य प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्याह। एवं स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि समानं दोषं प्रसजतः परपक्षाभ्युपगमात् समानो दोषो भवति, यथा परस्य प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति। तथाऽस्यापि स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि समानं दोषं प्रसजतो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति। स खल्वयं षष्ठः पक्षः, तत्र खलु स्थापनाहेतुवादिनः प्रथमतृतीयपञ्चमपक्षाः, प्रतिषेधहेतुवादिनः द्वितीयचतुर्थषष्ठपक्षाः। तेषां साध्वसाधुतायां मीमांस्यमानायां चतुर्थषष्ठयोरविशेषात् पुनरुक्तदोषप्रसङ्गः, चतुर्थपक्षे समानदोषत्वं परस्योच्यते *प्रतिषेधवि-*

आगे कहते हैं कि—उपरोक्त स्वपक्षलक्षण की अपेक्षा से होने वाले दोष का उपसंहार, तथा उपरोक्त हेतु का निर्देश होने पर उस वादी ने परपक्ष (प्रतिवादी पक्ष) का दिया दोष स्वीकार किया यह सिद्ध होता है। (वादी को समान दोष कैसे होता है इस आशय से भाष्यकार प्रश्न दिखाकर उत्तर देते हैं कि)—(प्रश्न) ! कैसा कर ! (उत्तर)—क्योंकि प्रतिवादी ने 'प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं' इत्यादि वाक्य से व्यभिचार दोष कहा था, उस दोष का खण्डन न कर केवल प्रतिवादी के पक्ष में भी समान दोष है ऐसा कहा है। (ऐसा होने पर भी उपरोक्त वादी को दिया हुआ मतानुज्ञा नामक निग्रह स्थान क्यों होता है—ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—इस प्रकार शब्द की अनित्यता के स्थापना में व्यभिचार दोष मानकर, प्रतिषेधपक्ष में भी समान दोष की आपत्ति देने वाले को पर (दूसरे) के पक्ष को मान लेने के कारण मतानुज्ञा रूप समान दोष होता है। अर्थात् अपने पक्ष में दोष मानकर, दूसरे के पक्ष में उसी दोष की आपत्ति देने वाले को मतानुज्ञा नामक निग्रह स्थान की आपत्ति हो ही जाती है) (आगे प्रतिवादी की समानता देखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि) जिस प्रकार प्रतिवादी को वादी के दिये निषेध को दोष युक्त मानकर प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध में भी समान दोष की (आपत्ति रूप मतानुज्ञा दोष की) आपत्ति आती है, उसी प्रकार वादी को भी अपनी शब्दानित्यत्वस्थापना से व्यभिचार दोष मानकर प्रतिवादी को समान दोष की आपत्ति देने के कारण मतानुज्ञा निग्रहस्थान की आपत्ति होती है। अर्थात् पंचम पक्ष में जिस प्रकार प्रतिवादी को वादी ने मतानुज्ञा दोष दिया है, उसी प्रकार वादी को प्रतिवादी के दिया हुआ मतानुज्ञा दोष अवश्य हो सकता है। (इस प्रकार के विस्तार के पश्चात् संग्रह रूप से आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—वह यह षष्ठ पक्ष है। जिनमें से शब्दानित्यत्व-स्थापना के हेतु के वादी का प्रथम-तृतीय तथा पंचम पक्ष है। प्रतिषेध करने वाले प्रतिवादी के द्वितीय-चतुर्थ तथा अन्तिम षष्ठ ऐसे तीन पक्ष हैं। (इस प्रकार के षट् पक्षों में युक्त तथा अयुक्त का विचार आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इन छ पक्षों में कौन पक्ष साधु (युक्त) और कौन असाधु (असंगत) है इसका विचार करने से चतुर्थ तथा षष्ठ में अर्थ के समान होने के कारण पुनरुक्ति दोष की आपत्ति होती है, क्योंकि चतुर्थ पक्ष में प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध करने में प्रतिषेध के दोष के

प्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोष इति। षष्ठेऽपि परपक्षाभ्युपगमात् समानो दोष इति समानदोषत्वमेवोच्यते नार्थविशेषः कश्चिदस्ति। समानस्तृतीयपञ्चमयोः पुनरुक्तदोषप्रसङ्गः, तृतीयपक्षेऽपि प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इति समानत्वमभ्युपगम्यते। पञ्चमपक्षेऽपि प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गोऽभ्युपगम्यते नार्थविशेषः कश्चिदुच्यत इति। तत्र पञ्चमषष्ठपक्षयोः अर्थाविशेषात् पुनरुक्तदोषः। तृतीयचतुर्थयोर्मतानुज्ञा। प्रथमद्वितीययोर्विशेषहेत्वभाव इति। षट्पक्ष्यामुभयोरसिद्धिः। कदा षट्पक्षी? यदा प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्येवं प्रवर्त्तते तदोभयोः पक्षयोरसिद्धिः। यदा तु कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेरित्यनेन तृतीयपक्षो युज्यते तदा विशेषहेतुवचनात् प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः

समान दोष होता है—इस प्रकार तृतीय पक्षवादी को कहा जाता है तथा षष्ठ पक्ष में भी परपक्ष का स्वीकार करने से समान दोष है, इस प्रकार समान दोष ही कहा जाता है—इस कारण चतुर्थ और षष्ठ पक्ष के अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं है। तथा तृतीय एवं पंचम इन दोनों पक्षों में भी पुनरुक्ति दोष की आपत्ति आती है, क्योंकि तृतीय पक्ष में भी प्रतिषेध में समान दोष है ऐसी समानता मानी गयी है, और पंचम पक्ष में भी प्रतिषेध के विरुद्ध निषेध में समान दोष की आपत्ति मानी जाती है न कि दोनों में कोई विशेष अर्थ कहा जाता है। इस कारण पंचम और षष्ठ दोनों पक्षों में कोई विशेष अर्थ न होने के कारण पुनरुक्त दोष, तथा तृतीय और चतुर्थ इन दोनों पक्षों में मतानुज्ञा दोष होता है। और प्रथम तथा द्वितीय पक्षों में कोई विशेष साधक हेतु नहीं है। इस कारण षट् पक्षी में दोनों पक्ष सिद्ध नहीं होते। अर्थात् यह षट् पक्ष तक चलने वाली कथा में समान दोष के देने के कारण निर्णय न होने, तथा वास्तविक अर्थ सिद्ध न होने से भी तत्व का निश्चय नहीं होता, इस कारण दुष्ट समाधान से जातिवादी का खण्डन नहीं करना चाहिये, किन्तु सत्य समाधान से। तब षट्पक्षी कथा का घात न होने के कारण वह नहीं होती और न उस कथा में तत्व का निर्णय भी होता है। यदि इसे किसी समय सत्य साधन करने पर भी बुद्धि के नाश से सत्य समाधान का स्फुरण (ज्ञान) न हो तो 'अत्यन्त पराजय (हारना) की अपेक्षा से संदेह होना ही अच्छा है' इस न्याय से दुष्ट समाधान से भी खण्डन करना चाहिये—यह सूत्र तथा भाष्यकार का गूढ आशय है ॥ ४३ ॥

(उक्त षट्पक्षी कथा के भेद दिखाने के लिये आगे भाष्यकार प्रश्न करते हैं कि);—(प्रश्न)—षट् पक्षी कथा किस समय होती है? (उत्तर)—जिस समय तुम्हारे पक्ष के निषेध में भी समान दोष है ऐसा ही वादी का उत्तर होता है, उस समय उपरोक्त छ पक्ष चलते हैं जिससे दोनों में से किसी भी एक पक्ष सिद्ध नहीं होता। (षट्पक्षी कथा कब नहीं होती? इस प्रश्न के उत्तर में आगे भाष्यकार कहते हैं कि—जब कार्य के भेद में प्रयत्न हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि अनुपलब्धि का कारण हो सकता है—वादी के इस कथन से तृतीय पक्ष हो सकता है, तो विशेष हेतु के कथन के कारण प्रयत्न के पश्चात् शब्द का स्वरूप सिद्ध होता है, अतः शब्द की उत्पत्ति ही सिद्ध होती है, न कि अभिव्यक्ति। इस कारण (स्थापनावादी का) प्रथम पक्ष सिद्ध होने के कारण षट्पक्ष तक कथा नहीं चलती अर्थात् स्थापनावादी का तृतीय पक्ष ठीक ठीक उत्तर होने के कारण

शब्दस्य नाभिव्यक्तिरिति सिद्धः प्रथमपक्षो न षट्पक्षी प्रवर्तत इति ॥ ४३ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः षट्पक्षीप्रकरणम् ।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥

उस स्थापनावादी का पक्ष सिद्ध होने के कारण कथा समाप्त होने से दूसरे किसी पक्ष के दिखाने का अवसर न होने के कारण षट्पक्षी कथा नहीं होती) ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वात्स्यायन मुनि-विरचित न्यायभाष्य में पांचवे अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वमिति सङ्क्षेपेणोक्तं तदिदानीं विभजनीयम्। निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाद्यवयवाश्रयाणि तत्त्ववादिनमतत्त्ववादिनं चाभिसंप्लवन्ते। तेषां विभागः—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्न्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥

---

(१) प्रतिज्ञाहेत्वन्यतराश्रित निग्रहस्थानपंचक विशेष लक्षण प्रकरण

(निग्रह स्थानों के विशेष लक्षण रूप पंचमाध्याय का द्वितीय आह्निक के विषय को जो पूर्व में कहा गया है, भाष्यकार उसे स्मरण कराते हुए अवतरण देते हैं कि)—'विरुद्ध ज्ञान तथा अज्ञान रूप दोनों निग्रहस्थानों के विकल्प से बहुत निग्रहस्थान होते हैं ऐसा संक्षेप से प्रथमाध्याय में कह आये हैं, उसी का अब विभाग देखाना है। पराजय के कारण पराजित होने वाले अपराध के कारण निग्रहस्थान प्रायशः प्रतिज्ञादि पांच अवयवों में होते हैं, अतः यथार्थ अथवा अयथार्थ विषय को कहने वाले पर वे हैं उनका विभाग (भेद) ऐसा है—

पदपदार्थ—प्रतिज्ञाहानिः = प्रतिज्ञा की हानि (१), प्रतिज्ञान्तर = दूसरी प्रतिज्ञा करना, (२), प्रतिज्ञाविरोध प्रतिज्ञा का विरोध (३), प्रतिज्ञासंन्यासः = प्रतिज्ञा का त्याग करना (४), हेत्वन्तरं = दूसरा हेतु करना (५), अर्थान्तरं = दूसरा अर्थ (६), निरर्थक = व्यर्थ होना (केवल वर्ण कहना) (७), अविज्ञातार्थं = अर्थ का ज्ञान न होना (८), अपार्थकं = असम्बद्ध अर्थ वाला होना (९), अप्राप्तकालं = जिसका समय प्राप्त न हो (१०), न्यूनं = अवयवों की न्यूनता (११), अधिकं = अवयवों के अधिक होना (१२), पुनरुक्तं = पुनः कथन (१३), अननुभाषणं = उत्तर न देना (१४), अज्ञानं = न जानना (१५), अप्रतिभा = उत्तर की स्फूर्ति न होना (१६), विक्षेपः = कथा में बाधा करना (१७), मतानुज्ञा = मत को मान लेना (१८), पर्यनुयोज्योपेक्षणं = प्रश्न करने योग्य की उपेक्षा करना (१९), निरनुयोज्यानुयोगः = प्रश्न करने के अयोग्य को प्रश्न करना (२०), अपसिद्धान्तः = सिद्धान्त के विरुद्ध कहना (२१), हेत्वाभासाः, च = हेत्वभास (हेतुओं के दोष) (२२), ऐसे बाईस निग्रहस्थानानि = पराजित होने के कारण होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—उपरोक्त २२ (बाईस) प्रकार के कथा में एक पक्ष के पराजित होने के कारण इसे निग्रहस्थान कहते हैं। (कुछ विद्वानों का इनके विषय में ऐसा कहना है कि—यह संपूर्ण साधन के खण्डन का प्रचार केवल बुद्धि ही में रहता है, वास्तविक नहीं हैं—किन्तु उपरोक्त निग्रहस्थानों को केवल कल्पनामात्र मानने से कल्पना के सर्वत्र सुलभ होने से साधन, तथा दूषण की व्यवस्था न होगी। क्योंकि कथा में बलवान् अहंकार से प्रतिपक्षी के अहंकार को

तानीमानि द्वाविंशतिधा विभज्य लक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥

साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । निदर्शनम् , ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृते अपर आह, दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये, कस्मान्न तथा

तोड़ने को पराजय (निग्रह) ऐसा कहते हैं, वह उपरोक्त बाईस प्रकार के 'प्रतिज्ञाहानि' आदिकों में ही रहता है, अतः इन्हें केवल कल्पना कहना असंगत है। ये निग्रहस्थान प्रायः प्रतिज्ञा हेतु आदि पांच अवयवों में ही रहते हैं, क्योंकि वादादि कथा में हेतुओं के वचन का ही साध्यसिद्धि का मुख्य कारण होने से प्रयोग किया जाता है, जो अनुमानप्रमाण के आकार होते हैं तो उन हेतुओं में होनेवाले निग्रहस्थान जब आते हैं तब वे अनुमानवाक्य के प्रतिज्ञादिकों में ही होते हैं और ये निग्रहस्थान यथार्थवादी और अयथार्थवादी दोनों को प्राप्त होते हैं, क्योंकि—यः च = (और जो), मूढतमः = (अति मूर्ख), लोके (संसार में होता है), यः च = (और जो), पारंगतः अपि = (विद्या के पारंगत भी होता है), सः = (वह)। द्वौ = (दोनों), इमौ (ये), सुखं = (सुख से) एधेते = (बढ़ाते हैं), सीदति = (दुःख भोगता है), अन्तरितः = (बीच का), जनः = (लोक) ॥ इस उक्ति के अनुसार अत्यन्त मूर्ख तथा अतिविद्वान् वे दोनों पराजययोग्य नहीं होते, किन्तु मध्य स्थिति के लोक ही पराजय योग्य होते हैं। (इस सूत्र में इन निग्रहस्थानों का पराजय करना रूप (एक ही प्रयोजन) होने पर भी शिष्यों के हित के लिये व्यवहार में उपयोगी पृथक् विरुद्ध धर्मों की सूचना ज्ञान के लिये अपने-अपने कार्यों के करने में परस्पर किसी की अपेक्षा नहीं होती यह दिखाने के लिये समान नहीं किया है) ॥ १ ॥

भाष्यकार प्रत्येक बाईस प्रकार के सभी निग्रहस्थानों का आगे के सूत्रों में विभाग के पश्चात् लक्षण करते हैं ॥ १ ॥

जिनमें से प्रथम प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा = विरुद्ध दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार कर लेना, स्वदृष्टान्ते = अपने दृष्टान्त में, प्रतिज्ञाहानिः = प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस समय वादादि कथा में वादी स्थापना का प्रयोग करता है, और प्रतिवादी वादी के साध्यधर्म के विरुद्ध दृष्टान्त से उसका खण्डन करता है—इसके पश्चात् तृतीय कक्षा में स्थापनावादी प्रतिवादी के कहे विरुद्ध दृष्टान्त के धर्म को यदि अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर लेता है तो वादी को प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान होता है ॥ २ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—वादी के साध्यधर्म के विरुद्ध धर्म से प्रतिवादी के खण्डन करने पर विरुद्ध दृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर लेनेवाला वादी अपनी प्रतिज्ञा को यदि छोड़ देता है, तो वादी को प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान (पराजय) प्राप्त होता है। जिसका निदर्शन (उदाहरण) यह है कि—वादी के शब्द अनित्य है, इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण, घट के समान, ऐसी स्थापना करने पर, दूसरा (प्रतिवादी) ऐसा कहता है—कि इन्द्रिय से ग्रहण होना नित्य जाति पदार्थ में देखा जाता है, वैसा शब्द इन्द्रियग्राह्य होने से नित्य ही क्यों न माना जाय ?—ऐसा प्रतिवादी के विरोध देने पर,

शब्द इति प्रत्यवस्थिते इदमाह यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्त्विति। स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जयन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति ॥ २ ॥

वादी यह कहता है कि—यदि इन्द्रिय से गृहीत होनेवाली जातियाँ नित्य हैं तो ठीक है शब्द भी नित्य ही है ऐसा मानेंगे। अतः यह स्थापनावादी साधक दृष्टान्त से नित्यता की आपत्ति देता हुआ प्रतिज्ञा से लेकर निगमन पर्यन्त संपूर्ण पंचावयव वाक्यरूप परार्थानुमान को ही छोड़ देता है, पक्ष को छोड़ने से प्रतिज्ञा ही छोड़ता है, ऐसा कहा जाता है, क्योंकि प्रतिज्ञा का पक्ष ही आधार होता है। अर्थात् अपने पक्ष के साधक अपने कहे दृष्टान्त घट में स्थापना वादी प्रतिवादी के कहे हुए जातिरूप विरुद्ध दृष्टान्त के नित्यतारूप धर्म को स्वीकार कर लेता है। इस कारण सूत्र में कहे हुए प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान का उसमें समावेश होता है। यह भाष्यकार का आशय है। किन्तु यह व्याख्या वार्तिककार को अभिमत नहीं है, क्योंकि उनका कहना ऐसा है कि—इस स्थल में प्रतिज्ञा की हानि कैसे होती है? कारण यह कि प्रतिवादी जाति के दृष्टान्त से हेतु में व्यभिचार दोष दिखाता है, उस दोष का अपने पक्ष से खंडन कर वादी अपने दृष्टान्त से भी विरुद्ध दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार करता है, जिससे दृष्टान्त में साध्य का न रहनारूप असिद्धता दोष होता है। अतः इस दृष्टान्त के दोष से अथवा हेतु के दोष से विरुद्ध होने से घटादिकों में भी नित्यता के मानने से इन्द्रियग्राह्यतारूप हेतु में साधक अनित्यता के विरुद्ध नित्यता से व्याप्त होने के कारण वादी को निग्रहस्थान होता है, न कि प्रतिज्ञा की हानि से। यदि वादी 'शब्द नित्य है' ऐसा कहता तो इसकी प्रतिज्ञा 'शब्द अनित्य है' इसकी हानि होती। यदि 'दृष्टान्त के छोड़ने के कारण पक्ष के त्याग से प्रतिज्ञा की हानि होती है' ऐसा कहो (जैसी कि भाष्यकार ने व्याख्या की है)—तो सभी दोष प्रतिज्ञा को दूषित करने के कारण प्रतिज्ञाहानि में अन्तर्भूत हो जायंगे। यद्यपि किसी तरह दृष्टान्त को छोड़कर प्रतिज्ञाहानि का उपचार (गौण व्यवहार) हो सकता है, क्योंकि बोधसिद्धि में कहा है कि—दृष्टान्त शब्द यहाँ पर उक्त ज्ञान को सूचित करता है, अतः उसके विपरीत मानना प्रतिज्ञाहानि ही होती है, तथापि दूसरे प्रकार के हो सकते उपचार (गौण व्यवहार) मानना उचित है—इत्यादि। यहाँ पर सूत्र में कहे लक्षण के व्याख्या का दूसरा प्रकार हो सकता है—जैसे 'देखा हुआ अन्त एक पक्ष में रहनेवाला' दृष्टान्त, स्व (अपना) दृष्टान्त ऐसी व्याख्या से स्वदृष्टान्त शब्द का अर्थ होता है स्वपक्ष (अपना पक्ष), और प्रतिदृष्टान्त शब्द का 'प्रतिपक्ष' विरुद्ध पक्ष ऐसा अर्थ होता है जिससे 'प्रतिवादी के पक्ष के धर्म को अपने पक्ष में मान लेता है' ऐसा अर्थ आता है। जैसे शब्द अनित्य है इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण—ऐसी वादी की स्थापना होने पर, प्रतिवादी के जाति पदार्थ की नित्यता से इसका खण्डन करने पर यदि नित्य जातिपदार्थ इन्द्रिय से गृहीत होता है तो शब्द भी नित्य मान लेंगे, ऐसी 'शब्द की अनित्यता' की प्रतिज्ञा की हानि होती ही है। ऐसा वादी उत्तर कैसे दे सकता है? ऐसी यहाँ पर शंका नहीं हो सकती, क्योंकि मध्यम बुद्धि वाले ही प्रायः निग्रह (पराजय) योग्य होते हैं, इस कारण ऐसा प्रमाद उनसे हो सकता है। (बोधसिद्धि में यहाँ पर उदयनाचार्य ने तो ऐसा कहा है कि)—सूत्र का अर्थ है प्रतिज्ञा की हानि। इस 'प्रतिज्ञाहानि' शब्द की व्याख्या से ही उसका लक्षण सिद्ध होने पर दूसरे प्रकार के सिद्धि के लिये लक्षण का प्रारंभ किया गया है? अतः इनके मत से दो प्रकार की प्रतिज्ञाहानि इस सूत्र में कही है—जिसमें वार्तिककार की दिखाई हुई प्रतिज्ञा का त्यागरूप प्रतिज्ञाहानि एक है,

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥३॥

प्रतिज्ञातार्थोऽनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात् घटवदित्युक्ते योऽस्य प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः सामान्यमैन्द्रियकं नित्यमिति, तस्मिंश्च प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोः साधर्म्ययोगे धर्मभेदात्सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतमैन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्मविकल्पात्तदर्थ-

---

दूसरी भाष्यकार की दिखाई हुई—दृष्टान्त का त्याग करना। इस प्रकार से भाष्य तथा वार्तिक दोनों व्याख्याओं में एकवाक्यता हो सकती है ऐसी खद्योतकार ने यहाँ समालोचना की है ॥ २ ॥

प्रतिज्ञान्तर नामक द्वितीय निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे = वादी के प्रतिज्ञा किये अर्थ का प्रतिवादी के निषेध करने पर, धर्मविकल्पात्=धर्म के विकल्प से, तदर्थनिर्देशः = उस प्रतिज्ञा के अर्थ को कहना, प्रतिज्ञान्तरम् = प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इन्द्रियग्राह्य होने के कारण घट के समान शब्द अनित्य है, ऐसा वादी के प्रतिज्ञा करने पर जो इसके विरुद्ध दृष्टान्त से हेतु में व्यभिचार दोष दिया है कि जाति पदार्थ का इन्द्रियों से ग्रहण होने पर भी वह नित्य है, इस प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का इस प्रकार निषेध करने पर, दृष्टान्त तथा विरुद्ध दृष्टान्त में समानधर्म का सम्बन्ध होने पर धर्म के भेद से जाति इन्द्रिय से गृहीत होती हुई संपूर्ण आधार व्यक्तियों में से व्यापक ही रहती है, और इन्द्रिय से गृहीत होनेवाला घट सर्वत्र व्यापक नहीं होता—इस प्रकार के धर्म के विकल्प से प्रतिज्ञा किये हुए शब्द के अनित्यता की सिद्धि के लिये अर्थात् शब्द की अव्यापकता को मीमांसकों ने कहा है कि—जिस प्रकार घट सर्वत्र व्याप्त नहीं होता उसी प्रकार शब्द भी सर्वत्र व्याप्त न होने के कारण घट के समान अनित्य है। जिसमें शब्द अनित्य है यह प्रथम प्रतिज्ञा है। अव्यापक है यह दूसरी प्रतिज्ञा है—अतः वह प्रतिज्ञान्तर (दूसरी प्रतिज्ञा) है। अतः प्रतिज्ञा का साधक दूसरी प्रतिज्ञा न होनें से वह निग्रहस्थान (वादी के पराजय का कारण) है, क्योंकि हेतु तथा दृष्टान्त ही प्रतिज्ञा के साधक होते हैं, अतः इस दूसरी प्रतिज्ञा को करना यह शब्द की अनित्यता को सिद्ध नहीं कर सकती इसलिये उसका ग्रहण करना वृथा है, अतः वह वादी के पराजय का कारण है ॥ ३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले घट के समान शब्द अनित्य है' ऐसी वादी की स्थापना करने पर जो इस प्रतिज्ञा का प्रतिवादी—जातिपदार्थ का भी इन्द्रिय से ग्रहण होता है किन्तु वह नित्य होती है—इस प्रकार के विरुद्ध दृष्टान्त से स्थापनावादी के पक्ष का निषेध करता है, ऐसे शब्दनित्यता की प्रतिज्ञा का निषेध प्रतिवादी के करने पर, दृष्टान्त घट तथा विरुद्ध दृष्टान्त जाति में इन्द्रियग्राह्यतारूप समानधर्म का सम्बन्ध रहते इन्द्रिय से ग्रहण होनेवाली घटत्वादि जाति संपूर्ण अपने आधार घटव्यक्तियों में सर्वत्र रहती है, और इन्द्रिय से गृहीत होनेवाला घट तो सर्वत्र नहीं रहता, इस प्रकार के धर्म के विकल्प (भेद) के कारण वादी के प्रतिज्ञा किये शब्द की अनित्यता की सिद्धि के शब्द की अव्यपाकता मीमांसक को दिखाने के लिये उसके अर्थ को कहा जाता है। (प्रश्न) किस प्रकार ? (उत्तर)—जिस प्रकार घट सर्वत्र नहीं रहता शब्द भी घट के समान सर्वत्र नहीं रहता इस कारण घट के समान शब्द भी अनित्य है। इसमें शब्द अनित्य है यह वादी की प्रथम प्रतिज्ञा है और शब्द घट के समान सर्वत्र व्याप्त नहीं है—यह दूसरी प्रतिज्ञा (प्रतिज्ञान्तर) है

निर्देश इति साध्यसिद्ध्यर्थम्, कथम्? यथा घटोऽसर्वगत एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति तत्रानित्यः शब्द इति पूर्वा प्रतिज्ञा, असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरम्। तत्कथं निग्रहस्थानमिति? न प्रतिज्ञायाः साधनं प्रतिज्ञान्तरम्, किं तु हेतुदृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञायाः, तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति। आनर्थक्यान्निग्रहस्थानमिति ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा, रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः। कथम्? यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं? रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते। अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः? गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति नोपपद्यते, गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यं, रूपादिभ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न सम्भवतीति ॥ ४ ॥

(प्रश्न)—यह (दूसरी) प्रतिज्ञा वादी के निग्रह (पराजय) का स्थान क्यों है? (उत्तर)—दूसरी प्रतिज्ञा प्रथम प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं करती, किन्तु हेतु तथा दृष्टान्त ये दोनों ही प्रतिज्ञा को सिद्ध करते हैं। इस कारण दूसरी प्रतिज्ञारूप असाधक (सिद्धि न करनेवाले का) वादी का कहना व्यर्थ है, अतः व्यर्थ होने से प्रतिज्ञान्तर वादी को पराजित कर देता है। अर्थात् यद्यपि वादी के मन में यह है कि—शब्द में सर्वत्र न रहना सिद्ध कर मैं इन्द्रियग्राह्यतारूप हेतु में सर्वत्र न रहना—विशेषण दूंगा, जिससे अपने हेतु में आये प्रतिवादी के दिये व्यभिचार दोष का उद्धार हो जायगा—किन्तु वादी नें यह तो नहीं किया। किन्तु घट के समान शब्द सर्वत्र नहीं रहता—इतना कहकर वह वादी चुप हो गया, इस कारण हेतु तथा हेतु दृष्टान्तादि न देने से अपनी प्रथम प्रतिज्ञा की सिद्धि करने में असमर्थ दूसरी प्रतिज्ञा ही केवल की जो प्रयोजनरहित होने से व्यर्थ है, अतः वृथा वचन कहने के कारण वादी का पराजय अवश्य होता है ॥ ४ ॥

क्रमप्राप्त प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—प्रतिज्ञाहेत्वोः = प्रतिज्ञा और हेतु का, विरोधः = परस्पर विरोध होना, प्रतिज्ञाविरोधः = प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—'रूपादि गुणों से भिन्न गुणाश्रय की उपलब्धि न होने के कारण द्रव्य गुणों से भिन्न है' इस प्रतिज्ञा में प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनों का परस्पर में विरोध आता है, क्योंकि गुणों से द्रव्य भिन्न हो तो रूपादिकों से भिन्न दूसरे गुणाधार पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती, यह हेतु नहीं बन सकता और यदि रूपादिकों से भिन्न द्रव्य की उपलब्धि न हो तो, गुणों से भिन्न द्रव्य होता है-यह नहीं बनता। क्योंकि गुणों से भिन्न द्रव्य होता है, और रूपादि गुणों से भिन्न द्रव्यरूप दूसरे अर्थ की उपलब्धि नहीं होती इनका परस्पर में विरोध है। अतः यह प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान है ॥ ४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—गुणों से भिन्न द्रव्य होता है ऐसी वादी की प्रतिज्ञा है, रूपादि गुणों से भिन्न द्रव्यरूप दूसरे अर्थ की उपलब्धि नहीं होती यह इस प्रतिज्ञा में हेतु है। यह प्रतिज्ञा तथा हेतु में परस्पर विरोध है। (प्रश्न)—कैसे विरोध है? (उत्तर)—यदि गुणों से भिन्न उनका आश्रय द्रव्य प्रमाणसिद्ध है तो रूपादि गुणों से भिन्न

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥ ५ ॥

अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति, एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात् कः पुनराह अनित्यः शब्द इति । सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिह्नवः प्रतिज्ञासंन्यास इति ॥

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो सकती—यह हेतु नहीं हो सकता और यदि रूपादि गुणों से भिन्न द्रव्य अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, तो गुणों से भिन्न द्रव्य होता है यह प्रतिज्ञा नहीं बनती। गुणों से भिन्न द्रव्य का होना, तथा रूपादि गुणों से भिन्न अर्थ की उपलब्धि न होना इन दोनों में परस्पर विरोध (व्याघात) है, अर्थात् यह नहीं हो सकता। अर्थात् इस उदाहरण में रूपादिकों से भिन्न दूसरे अर्थ की उपलब्धि नहीं होती इसका हेतु में अनुपलब्धि के ग्रहण से प्राप्त होने योग्य का अभाव है यह सूचित होता है, जिससे ऐसा हेतु का अर्थ होता है कि—'द्रव्य गुणों से भिन्न है, अभेद होने के कारण'। यह व्याप्ति के स्मरण की अपेक्षा न कर परस्पर में 'है' और 'नहीं है', इन दोनों पदों का विरोध है यह आशय भाष्य तथा सूत्रकार का जानना चाहिये ॥ ४ ॥

क्रमप्राप्त प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—पक्षप्रतिषेधे = अपने पक्ष का व्यभिचारादि दोष से निषेध करने पर, प्रतिज्ञातार्थापनयनं = प्रतिज्ञा किये अर्थ को छिपाये (छोड़े) तो, प्रतिज्ञासंन्यासः = प्रतिज्ञासंन्यास नाम का निग्रहस्थान होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—वादी ने शब्द, इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण घट के समान अनित्य है ऐसी प्रतिज्ञा करने पर यदि प्रतिवादी जातिपदार्थ भी इन्द्रियों से गृहीत होते हैं किन्तु वह अनित्य नहीं है, इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय से गृहीत होने पर भी अनित्य न होगा—इस प्रकार प्रतिवादी वादी का निषेध करता है और इस निषेध के करने पर पुनः वादी कहे कि शब्द अनित्य है ऐसा कौन कहता है। वह इस प्रकार से पराजय के डर से, प्रतिज्ञा किये शब्द की अनित्यता की प्रतिज्ञा को छोड़ दे तो यह प्रतिज्ञासन्यास नामक वादी ही को निग्रहस्थान होता है ॥ ५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—वादी के इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण शब्द अनित्य है, ऐसा कहने पर दूसरा प्रतिवादी कहे कि—घटत्वादि जाति भी इन्द्रिय से जानी जाती है किन्तु वह अनित्य नहीं होती। शब्द भी इन्द्रिय (श्रोत्र) से गृहीत होता है, और अनित्य नहीं है ऐसा निषेध करे। इस प्रकार वादी अपने पक्ष का प्रतिवादी के निषेध करने पर पुनः वादी कहे, (उत्तर दे) कि—शब्द अनित्य है ऐसा कौन कहता है, तो वह यह शब्द की अनित्यतारूप प्रतिज्ञा किये विषय का छोड़ना—प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान होता है। अर्थात् वादी शब्द की अनित्यतारूप प्रतिज्ञा किये विषय को हम छोड़ देंगे तो प्रतिवादी के दिये दोष का उद्धार हो जायगा ऐसा समझकर वादी अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देता है ॥५॥

क्रमप्राप्त हेत्वन्तर नाम के निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—अविशेषोक्ते = विशेष (सामान्यरूप) से, हेतौ—वादी के कहे हेतु का, प्रतिषिद्धे = प्रतिवादी के खण्डन न करने पर, विशेषं = हेतु में विशेषण देने की, इच्छतः = इच्छा करनेवाले वादी को, हेत्वन्तरं = हेत्वन्तर, (दूसरा हेतु) नामक निग्रहस्थान होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अनुमान वाक्यों में साध्य के साधक हेतु को पहिले सामान्यरूप से कहने के

निदर्शनम् , एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा, कस्माद्धेतोः ? एकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् , मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान्प्रकृतेर्व्यूहो भवति तावान्विकार इति, दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम् । अस्ति चेदं परिमाणं प्रतिव्यक्तं तदेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् पश्यामो व्यक्तमिदमेकप्रकृतीति । अस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम् , नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनां च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति । एवं प्रत्यवस्थिते आह एकप्रकृतिसमन्वये सति शरावादिविकाराणां परिमाणदर्शनात् । सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं व्यक्तं

पश्चात् प्रतिवादी ने वादी के हेतु का निषेध (खण्डन) करने पर यदि वादी उस निषेध के परिहार के लिये विशेषण सहित उसी हेतु को बदल दे तो हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान होता है ॥ ६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी दृष्टान्त देते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यदि सांख्यमत से स्थापनावादी ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि—यह संपूर्ण व्यक्त (जगत् रूप कार्य) एक प्रकृति कारणवाला है । (प्रश्न)—किस हेतु से ? (उत्तर)—एक कारणवाले विकार (कार्यों) का विशेष परिमाण होता है, जैसे मृत्तिका से बननेवाले कसोरे, घट इत्यादि कार्यों का परिमाण देखने में आता है, कि जितने परिमाण की मृत्तिका होती है, उतने ही परिमाणवाले कसोरे, घट आदि उत्पन्न होते हैं और प्रत्येक विकार (कार्यों) में परिमाण अवश्य होता है, ऐसा देखने में आता है, और यह परिमाण प्रत्येक व्यक्त (कार्य) में है । इस कारण हम सिद्ध कर सकते हैं कि—एक प्रकृति (कारण) वाले विकार (कार्यों) का परिमाण होने के कारण यह संपूर्ण जगत् रूप कार्य एक कारणवाला है । इसका नैयायिक प्रतिवादी खंडन करता है कि अनेक कारणवाले समान तथा अनेक कारणवाले घट, रुचक (सोने का यंत्र) इन कार्यों का भी विशेष परिमाण दिखाई पड़ता है, इस कारण परिमाणवाला होना और एक कारणवाला होना इन दोनों में परस्पर व्यभिचार दोष आता है । इस प्रकार प्रतिवादी नैयायिक के सांख्यमत पर व्यभिचार दोष देने के पश्चात् यदि सांख्यस्थापनावादी अपने हेतु का निषेध देखकर उक्त नैयायिक के दिये व्यभिचार दोष को हटाने की इच्छा से 'परिमित होना' इस अपने हेतु में ऐसा विशेषण देता है इस आशय से भाष्यकार आगे कहते हैं कि—एक कारण में सम्बन्ध के रहते परिमाणवाला होना—ऐसा हम हेतु में विशेषण देंगे अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्त (जगत् रूप कार्य एक कारण में सम्बन्ध रहते हुए एक स्वभाव सम्बन्ध रहते हुए) परिमाणवाला है, इस कारण एक कारणवाला है, ऐसा हेतु में विशेषण देने से नैयायिक का दिया व्यभिचार दोष न होगा, क्योंकि एक मृत्तिका स्वभाववाले घड़ा, कसोरा आदिकों में एक मृत्तिका ही कारण होती है, किन्तु मृत्तिका का घड़ा तथा सोने के यन्त्र (जन्तर) आदि कार्य एक स्वभाववाले नहीं हैं, क्योंकि उनमें मृत्तिका, सोना आदि भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं—इस प्रकार नैयायिकों में व्यभिचार दोष नहीं आवेगा । (इसी आशय से भाष्यकार सांख्यमत से संपूर्ण व्यक्त (कार्य) में एक स्वभाव के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं कि)—सुख, दुःख तथा मोह से सम्बन्ध यह संपूर्ण व्यक्त (कार्य) परिमाण युक्त गृहीत होता है, उसमें दूसरे कारण का सम्बन्ध न रहते एक कारणवाला होता है अर्थात् सुख, दुःख, मोहरूपता संपूर्ण कार्यमात्र का एक स्वभाव है । क्योंकि, परिमाण युक्त संपूर्ण कार्य सत्त्व, रज तथा तमगुण के विकार हैं, यह सांख्य का गूढ़ आशय है । (इसी प्रकार हेत्वन्तर निग्रहस्थान का उदाहरण देकर उसमें सूत्रोक्त लक्षण की योजना करते हुए आगे भाष्यकार कहते हैं

परिमितं गृह्यते, तत्र प्रकृत्यन्तररूपसमन्वयाभावे सत्येकप्रकृतित्वमिति। तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति। सति च हेत्वन्तरभावे पूर्वस्य हेतोरसाधकत्वान्निग्रहस्थानम्, हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थनिदर्शनो दृष्टान्त उपादीयते नेदं व्यक्तमेकप्रकृति भवति प्रकृत्यन्तरोपादानात्। अथ नोपादीयते दृष्टान्ते हेत्वर्थस्यानिदर्शितस्य साधकाभावानुपपत्तेरानर्थक्याद्धेतोरनिवृत्तं निग्रहस्थानमिति ॥ ६ ॥

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

कि)—प्रथम सांख्यवादी ने जगत् कार्य का एक प्रकृति कारण है ऐसा सिद्ध करने के लिये केवल 'परिमाण होना' ऐसा हेतु दिया था, जिसका नैयायिक प्रतिवादी के उपरोक्त व्यभिचार दोष दिखाकर निषेध करने पर 'एक कारण में सम्बन्ध रहते' ऐसा विशेषण उक्त दोष को हटाने के लिये सांख्यवादी ने दिया, अतः 'हेत्वन्तर' दूसरा हेतु होता है। जब कि दूसरा हेतु हुआ तो प्रथम केवल 'परिमाण होना' रूप हेतु से जगत् के संपूर्ण कार्यों में एक प्रधान ही कारण है यह सिद्ध न हो सका, इस कारण दूसरा हेतु करना सांख्यवादी को पराजित करता है। अर्थात् निग्रहस्थान है। (और यदि इस प्रकार दूसरा हेतु करने से सांख्य की प्रतिज्ञा का कुछ फल हो तो, किन्तु यह नहीं होता, इस आशय से आगे भाष्यकार कहते हैं कि)—इस प्रकार दूसरा हेतु को साध्य-सिद्धिरूप अर्थ को दिखानेवाला कोई दृष्टान्त सांख्यवादी दे तो उसके भिन्न प्रकृतिवाले होने के कारण संपूर्ण कार्यों में एक कारणता सिद्ध न हो सकेगी। और यदि अपने पक्ष की सिद्धि के लिये दृष्टान्त का ग्रहण न करेतो दृष्टान्त में साध्य के सिद्ध करनेवाले हेतु की दृष्टान्त मेंन होने से सिद्धि नहीं हो सकेगी, अतः सांख्यवादी का विशेषण युक्त दूसरे हेतु व्यर्थ होने के कारण सांख्य के हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान हो ही जायगा ॥ ६ ॥

(२) प्रस्तुत में उपयोगी वाक्य में अर्थ के ज्ञान से रहित चार निग्रहस्थानों का प्रकरण।

आगे क्रमप्राप्त 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—प्रकृतात् = प्रस्तुत, अर्थात् = अर्थ से, अप्रतिसम्बद्धार्थ = सम्बन्ध न रखनेवाला अर्थ-अर्थान्तरम् = अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—वाद, जल्प अथवा वितण्डाकथा में जहाँ पक्षी तथा प्रतिपक्षी अपने पक्ष को सिद्ध करते हों यदि वादी शब्द को नित्य है यह सिद्ध करने के लिये 'स्पर्शरहित होने के कारण' ऐसा हेतु दे, और प्रतिवादी इस हेतु का सुखादिकों में व्यभिचार दोष देने में असमर्थ होने से अपने असामर्थ्य को छिपाता हुआ, केवल ऐसा वादी असम्बद्ध उक्ति से निषेध करे कि—'हेतु' इस 'हिनोति' इस धातु से तुन् प्रत्यय कर बना हुआ यह 'हेतु' ऐसा कृदन्त पद है। नाम (संज्ञा) सुबन्त पद, आख्यात (तिङन्त पद), उपसर्ग तथा 'च' आदि निपात—ये सब पद कहे जाते हैं। (यह हेतु पद ऐसा कृदन्त पद कहाता है इस प्रकार पद शब्द के प्रसंग से पद के विभाग कर सुबन्तादि उपरोक्त पदों में से 'नाम' सुबन्त पद का लक्षण भाष्यकार आगे कहते हैं कि—जिस पद के अर्थ में दूसरे क्रिया, काल, समुदाय तथा विशेष क्रिया के सम्बन्ध से विशेष्य होनेवाले शब्द का 'नाम' सुबन्त पद होता है तथा कारक की संख्या से युक्त क्रिया के काल के सम्बन्ध को कहनेवाले क्रिया तथा कारकों के समूह को आख्यात 'तिङन्त' पद कहते हैं अर्थात् 'पचति, पच्यते' इत्यादि शब्द क्रिया, तथा कर्ता और कर्मरूप कारक को भी कहते हैं, अतः वे आख्यात पद

यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयान्नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः। हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदम्, पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपाताः, अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम, क्रियाकारकसमुदायः, कारकसङ्ख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातम्, धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टम्, प्रयोगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियावद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि, तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति ॥ ७ ॥

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

कहे जाते हैं)। (इस लक्षण में असिद्धि तथा अतिव्याप्ति दोष होता है, क्योंकि कर्ता या कर्म, तिङन्त पद से नहीं कहे जाते, कारण यह कि क्रिया के आक्षेप से ही उन दोनों की प्राप्ति हो जाती है, अतः असिद्धि दोष होता है। एवं 'पाचकः, पाक्यः' इत्यादि सुवन्त शब्द के भी क्रिया तथा कारक समुदायरूप होने से अतिव्याप्ति दोष होने के कारण, आगे दो लक्षण दिखाये हैं जिनमें 'कारक संख्या युक्त क्रिया के काल को कहनेवाला' यह प्रथम लक्षण है, जिसका यह आशय है कि पचति, पच्यते, इत्यादिकों में कर्ता या कर्म को वर्तमानादि रूप काल सम्बन्ध से पचनरूप प्रतीत होती है। किन्तु इस लक्षण से भी स्थीयते, सुप्यते इत्यादिकों का संग्रह नहीं होता, क्योंकि इन उदाहरणों में कारक तथा उसकी संख्या की प्रतीति नहीं होती, इस कारण इनका संग्रह करने के लिये भाष्यकार तीसरा लक्षण दिखाते हैं कि)—काल के कथन के साथ केवल धातु के अर्थ को आख्यात (तिङन्त पद) कहते हैं, जैसे 'सुप्यते, स्थीयते' इन आख्यात पदों में वर्तमान काल से सम्बद्ध निद्रा लेना, बैठना आदि का ज्ञान होने से इनका संग्रह हो जाता है, अतः यह तीसरा आख्यात का लक्षण निर्दुष्ट है ॥ ७ ॥

(क्रमप्राप्त वि-आङादि उपसर्गों के प्रसिद्ध होने के कारण अन्त में उनका लक्षण करेंगे अतः प्रथम चतुर्थ 'निपात' पद का लक्षण भाष्यकार आगे करते हैं कि)—प्रयोग करने में जिनके स्वरूप का भेद नहीं होता, उनको निपात कहते हैं जैसे 'च' इत्यादि। (अर्थात् सुवन्त अथवा तिङन्त शब्दों के साथ आने वाले 'च' आदि निपात अपने अर्थ से सुवन्त अथवा तिङन्त शब्दों के अर्थ से किसी भिन्न को कहते हैं तथा तीसरे प्रकार का उपसर्ग पद वह कहाता है जिसका समीप में प्रयोग करने पर वे क्रिया के, तथा अधिक अर्थ के एवं विपरीत अर्थ को भी कहते हैं। जैसे 'आगच्छति,—प्रतिष्ठते' इत्यादि तिङन्त पदों से गमन के तथा खड़े रहने के विपरीत आना तथा चलनेरूप अर्थ का बोध होता है) 'इस प्रकार के मनमाने पराजय के डर से करनेवाले अर्थ को अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान कहते हैं' ऐसा भाष्यकार ने अन्त में 'अर्थान्तर' शब्द का उपरोक्त उदाहरण में अर्थ दिखाया है। (यह निग्रहस्थान जिस प्रकार स्थापनावादी को होता है, उसी प्रकार दोष देनेवाले को भी होता है) ॥ ७ ॥

क्रमप्राप्त निरर्थक नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—वर्णक्रमनिर्देशवत् = केवल व्यर्थ वर्णों के क्रम को कहनेवाला, निरर्थकं = निरर्थक नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—यदि क च ट त प ये शब्द नित्य हैं, ज ब ग ड द श होने से, झ भ ञ घ ढ ध ष के समान, ऐसा अनुमान प्रयोगवादी करे तो निरर्थक (अर्थरहित) नाम का निग्रहस्थान कहाता है। अर्थात्

यथा नित्यः शब्दः, कचटतपाः जबगडदशत्वात् झभञ्घढधषवदिति एवम्प्रकारं निरर्थकम्। अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद् वर्णा एव क्रमेण निर्दिश्यन्त इति ॥ ८ ॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चरितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थम्, असामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति ॥ ९ ॥

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥ १० ॥

उपरोक्त अनुमानप्रमाण का प्रयोग करने में कहे हुए वर्णों का कोई अर्थ न होने से केवल क्रम से वर्णमात्र कहे हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं है। अतः यह निरर्थक नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥८॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—क च ट त प यह शब्द नित्य हैं, ज ब ग ड द श होने से, झ भ ञ् घ ढ ध ष के समान इत्यादि रूप शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये ऐसा दिखाया हुआ अनुमान निरर्थक है, क्योंकि संज्ञा (शब्द) तथा उसके अर्थ के न होने के कारण अर्थ का ज्ञान न होने से केवल वर्णों का ही इसमें क्रम से कथन है अतः ऐसा अनुमान में कहनेवाले को निरर्थक कहना रूप निग्रहस्थान होता है ॥ ८ ॥

क्रमप्राप्त अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—परिषत्प्रतिवादिभ्यां = सभा के लोग तथा प्रतिवादी दोनों से, त्रिः=तीन वार, अभिहितं अपि = कहा हुआ भी, अविज्ञातं = न जाना हुआ, अविज्ञातार्थं = अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस वाक्य का सभा के लोगों और प्रतिपक्षी के तीन वार कहने पर भी (उसे अर्थ का ज्ञान न होने के कारण) ज्ञान नहीं होता, श्लेष (दो अर्थ के कहनेवाले) अर्थ के होने से, तथा जिसको प्रयोग करना प्रसिद्ध न हो, एवं अत्यन्त शीघ्र उच्चारण करने इत्यादि कारणों से जिसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता वह अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जो वाक्य परिषद (सभा के लोगों ने) और प्रतिपक्षी ने भी तीन बार कहा हुआ नहीं जाना जाता—यदि उसमें श्लिष्ट (दो अर्थों के कहनेवाले) शब्द हैं और जिसका प्रयोग (व्यवहार) लोक व्यवहार में प्रसिद्ध न हो तथा जिस वाक्य का अत्यन्त शीघ्र उच्चारण किया जाय—इत्यादि कारणों से जिस वाक्य के अर्थ का ज्ञान न होता हो उसे 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान कहते हैं, क्योंकि अपने असामर्थ्य के छिपाने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है, इस कारण यह वादी के निग्रह (पराजय) का स्थान होता है ॥ ९ ॥

क्रमप्राप्त अपार्थक नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—पौर्वापर्यायोगात् = पूर्व में या पश्चात् सम्बन्ध न होने के कारण, अप्रतिसम्बद्धार्थं = सम्बन्ध न रखनेवाले अर्थ से युक्त, अपार्थकम्—व्यर्थ अर्थवाला 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जिसमें श्लेष नहीं होता, यथाशीघ्र उच्चारण भी जिसका नहीं होता और जिसका प्रयोग भी प्रसिद्ध होता है ऐसे अनेक पद अथवा वाक्य का पूर्व तथा अपर (पश्चात्) का सम्बन्ध

यत्रनेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्ति इत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते तत्समुदायार्थस्यापायादपार्थकम्। यथा दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अथ रौरुकमेतत्, कुमार्य्याः पाय्यं तस्याः पिता अप्रतिशीन इति ॥ १० ॥

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालमसम्बद्धार्थं निग्रहस्थानमिति ॥ ११ ॥

होने की योग्यता नहीं होती है। इस कारण इसमें परस्पर सम्बन्ध नहीं है ऐसा ज्ञान होता है उस पद का वाक्य के समूह के न हो सकने से वह पदसमुदायरूप वाक्य व्यर्थ अर्थवाला होता है, जैसे—दस अनार हैं, छ मालपूए हैं, यह कुण्ड है, यह बकरी का चमड़ा है, इत्यादि वाक्य तथा पद में पूर्वापर सम्बन्ध न होने के कारण व्यर्थ अर्थ होने से इनमें पढ़े हुए का समुदायार्थ न होने से अपार्थक नामक निग्रहस्थान होता है ॥ १० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी व्याख्या करते हैं कि)—जिस प्रयोग में अनेक पद अथवा वाक्य का पूर्व तथा पर में अन्वय (सम्बन्ध होने का) योग नहीं रहता, इस कारण यह पद या वाक्य सम्बन्ध से रहित अर्थवाला है ऐसा ज्ञान होता है, उस पदसमुदाय तथा वाक्यसमुदाय के अर्थ के न हो सकने के कारण व्यर्थ अर्थवाला उस पदसमुदाय से प्रयोग करनेवाले को अपार्थक नामक निग्रहस्थान होता है। जैसे—'दस अनार हैं, षट् (छ) अपूप (पूए) हैं, इन वाक्यों तथा कुण्ड है, बकरी का चमड़ा है, मांस का पिण्ड (गोला) है, यह रुरु नामक मृग का चमड़ा है, इन पदों तथा यह लड़की को पिलाने योग्य हैं, उसका पिता (अप्रतिशीन) वृद्ध है' इन वाक्यों में भी परस्पर सम्बन्ध की योग्यता न होने के कारण अर्थ के राहित्य से इनके प्रयोगकर्ता को अपार्थक नामक निग्रहस्थान होता है। वाक्य अर्थ से रहित को 'निरर्थक' और समुदाय के अर्थ से शून्य को अपार्थक कहते हैं, ऐसा दोनों का परस्पर भेद है यह यहां जान लेना चाहिये ॥ १० ॥

(३) अपने सिद्धान्त के अनुसार प्रयोग में न होने से होनेवाले निग्रहस्थानों का प्रकरण

क्रमप्राप्त अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—अवयवविपर्यासवचनं = प्रतिज्ञा आदि अवयवों का विपरीत कहना, अप्राप्तकालं = अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परार्थानुमान में प्रतिज्ञादि अवयवों का अर्थ के अनुसार क्रम अवश्य होता है, किन्तु उनके विपरीत कहने से उनका ज्ञान प्राप्त न होने के कारण अर्थ से सम्बन्ध न बन सकने से 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ११ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रतिज्ञा आदि अवयवों का लक्षण के अनुसार प्रयोजन होने के कारण उनका क्रम अवश्य है। उसमें प्रतिज्ञादि अवयवों के विपर्यास (उलट-पुलट, आगे-पीछे) कहना यह उनका काल न प्राप्त होने से सम्बन्धरहित होने के कारण 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान होता है। अर्थात् प्रतिज्ञादि अवयवों के आगे-पीछे कहने में आकांक्षा न हो सकने से, और उनके प्रथम (जहाँ जो आवश्यक हो) उन्हीं अवयवों से ही पदार्थों का सम्बन्ध बनने के कारण विपरीत अवयवों के प्रयोग करने से सम्बन्ध नहीं

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥

प्रतिज्ञादीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानम्, साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति ॥ १२ ॥

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

एकेन कृतत्वाद् अन्यतरस्यानर्थक्यमिति, तदेतन्नियमाभ्युपगमे वेदितव्यमिति ॥ १३ ॥

बनता। अतः यह 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान कहाता है। उदयनाचार्य ने इस सूत्र में अवयव शब्द से संपूर्ण कथा के भाग का संग्रह माना है, अतएव बोधसिद्धि में—वादी को प्रथम अपने पक्ष की स्थापना का प्रयोग करना चाहिये। इसके पश्चात् संक्षेप अथवा विस्तार से अपने हेतु में हेत्वाभास (दोषों का) निषेध दिखाना चाहिये, और प्रतिवादी को भी जल्पकथा में वादी के दिये हेतु का खण्डन कर अपने पक्ष में साधक हेतु देकर उसमें हेत्वाभास दोषों का उद्धार करना चाहिये। ऐसे क्रम से यदि वह प्रतिवादी प्रथम ही दोषों का निषेध करे पश्चात् अपने पक्ष का साधक हेतु दे, तो क्रम विपरीत (उलटा) हो जाता है—इत्यादि कहा है ॥ ११ ॥

क्रमप्राप्त न्यून नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—हीनं = न्यून (कम) हो, अन्यतमेन अपि = प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों में से किसी भी एक, अवयवेन = अवयव से, न्यूनं = न्यून नामक निग्रहस्थान होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से मिलकर ही साध्य की सिद्धि होती है, यदि किसी भी अंश में न्यूनता हो, (कोई भी एक अवयव) न हो, तो साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कारणसमूहरूप सामग्री से होनेवाला कार्य सामग्री के एक भाग से नहीं होता, अतः प्रतिज्ञादि अवयवों में किसी एक का न होना यह न्यून' नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ १२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों में से किसी एक भी अवयव से परार्थानुमान प्रयोग में ही नाम हो तो उसे 'न्यून' नामक निग्रहस्थान कम अवयव का प्रयोग करनेवाले वादी या प्रतिवादी को प्राप्त होता है, क्योंकि साधन के न होने से साध्य की सिद्धि नहीं होती ॥ १२ ॥

क्रमप्राप्त अधिक नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—हेतुदाहरणाधिकं = हेतु या उदाहरण (दृष्टान्त) अधिक हो तो, अधिकं = अधिक नामक निग्रहस्थान होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—एक ही हेतु अथवा दृष्टान्त के कथन से ही साध्य की सिद्धि होने के कारण उनका अधिक दो या तीन कहना 'अधिक' नामक निग्रहस्थान अधिक कहनेवाले वादी या प्रतिवादी को होता है ॥ १३ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि)—एक ही हेतु तथा दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि हो सकने के कारण दूसरे हेतु अथवा दृष्टान्त का कहना व्यर्थ है। किन्तु ऐसा प्रथम नियम कथा में हो जाना आवश्यक है कि एक ही हेतु या दृष्टान्त से साध्य सिद्ध किया जायगा, यदि नियम न माना गया हो, तो दूसरे हेतु या दृष्टान्त के कहने पर भी दोष 'अधिक' नामक निग्रहस्थान नहीं होता ॥ १३ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥

अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा, नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम्। अर्थपुनरुक्तमनित्यः शब्दो निरोधधर्मको ध्वनिरिति अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः। यथा हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति ॥ १४ ॥

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥

क्रमप्राप्त पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान का लक्षण करते हुए सूत्रकार प्रथम दो प्रकार के पुनरुक्त का एक ही सूत्र में लक्षण दिखाते हैं—

पदपदार्थ—शब्दार्थयोः = शब्द तथा अर्थ दोनों का, पुनर्वचनं = दूसरे बार कहना, पुनरुक्तं = पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान कहाता है, अन्यत्र = छोड़कर, अनुवादात् = अनुवाद (प्रयोजन सहित पुनरुक्ति) से ॥ १४ ॥

भावार्थ—प्रयोजन सहित पुनरुक्ति रूप अनुवाद को छोड़कर 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है' ऐसा दो बार कहना शब्द पुनरुक्त कहाता है। तथा 'शब्द अनित्य है, ध्वनिरूप शब्द नाश धर्मवाला है' ऐसा पुनः कहना केवल अर्थ के पुनः कहने के कारण अर्थपुनरुक्त निग्रहस्थान कहाता है ॥ १४ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रयोजन सहित पुनः कहना रूप अनुवाद को छोड़कर शब्द पुनरुक्त अथवा अर्थ पुनरुक्त दोष होता है। जैसे 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है' ऐसा शब्द को पुनः पुनः कहना शब्दपुनरुक्त कहाता है। तथा शब्द अनित्य है, ध्वनि (शब्द आवाज) विनाश धर्मवाला ऐसा कहने में केवल शब्द के पर्याय ध्वनि तथा अनित्य पर्याय 'विनाश धर्मवाला' इनका केवल अर्थ से पुनः कथन होने के कारण यह अर्थ पुनरुक्त नामक द्वितीय निग्रहस्थान कहाता है। (अनुवाद में दोष क्यों नहीं होता? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं)—अनुवाद में प्रयोजन के कारण शब्द का आभ्यास (पुनः कथन) से विशेष अर्थ का ज्ञान होता है, इस कारण अनुवाद से वादी या प्रतिवादी को निग्रहस्थान नहीं होता। इसका उदाहरण यह है, जैसे बाधादि दोषरहित यह साध्य का साधक हेतु है यह दिखाने के लिये व्याप्त्यादि विशिष्ट हेतु के पुनः कथन से प्रतिज्ञा का पुनः कथन निगमन कहाता है। ऐसे निगमन के लक्षण में प्रतिज्ञा के पुनः कथन में प्रयोजन दिखाया है कि—अनुमान के प्रयोग में प्रतिज्ञा के कहने पर भी निगमनरूप से वही प्रतिज्ञा कही जाती है जिससे उपरोक्त प्रयोजन सिद्ध हो जाता है—ऐसा प्रथमाध्याय में निगमन सूत्र में दिखा चुके हैं ॥ १४ ॥

तीसरे प्रकार के पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—अर्थात् = अर्थ से, आपन्नस्य = प्राप्त हुए का, स्वशब्देन = अपने शब्द से, पुनः = फिर, वचनं = कहना (पुनरुक्त) निग्रहस्थान कहाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—उत्पत्ति धर्मवाला होने के कारण शब्द अनित्य है ऐसा कहकर अर्थात् प्राप्त हुए उत्पत्तिरहित पदार्थ की अपने शब्द से उत्पत्तिरहित नित्य होता है यह कहना पुनरुक्त नामक तीसरा निग्रहस्थान कहाता है ॥ १५ ॥

पुनरुक्तमिति प्रकृतम् । निदर्शनम् उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यमित्युक्त्वा अर्थादापन्नस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयादनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति तच्च पुनरुक्तं वेदितव्यम् । अर्थसम्प्रत्ययार्थे शब्दप्रयोगे प्रतीतः सोऽर्थोऽर्थापत्त्येति ॥ १५ ॥

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥१६॥

विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा, प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात् ॥ १६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—इस सूत्र में **'पुनरुक्तं'** ऐसा पद प्रस्तुत पूर्वसूत्र के **'पुनरुक्त'** दोष की उपस्थिति करने के लिये देना चाहिये । इसका निदर्शन उदाहरण यह है कि—उत्पत्ति धर्मवाला होने के कारण यह पदार्थ अनित्य है ऐसा कहकर अर्थात् (विना कहे) प्राप्त अनित्य धर्मवाले नित्यता को कहनेवाले अपने शब्द से कहना कि—उत्पत्तिरहित धर्मवाला नित्य होता है, यह तीसरा पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान जानना चाहिये । क्योंकि अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द प्रयोग की आवश्यकता होती है, उसके होने से अर्थात् (विना कहे ज्ञान के योग्य होने से उक्त भी) अर्थ की अर्थापत्ति से ही ज्ञान होने के कारण उसको स्वशब्द से कहना यह तीसरा **पुनरुक्त** नामक निग्रहस्थान होता है । इन दोनों सूत्रों में कहा हुआ एक ही पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान—कहीं शब्द के अभ्यास से, कहीं दूसरे पर्यायवाचक शब्द से तथा कहीं अर्थात् प्राप्त होने से, इस प्रकार के विशेष से तीन प्रकार का दिखाया गया है ॥ १५ ॥

(५) उत्तर के विरोधी चार निग्रहस्थानों का प्रकरण

क्रमप्राप्त अननुभाषण नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—विज्ञातस्य = प्रतिवादी के कहे हुए, जाने हुए, परिषदा = सभा से, त्रिः = तीन वार, अभिहितस्य अपि = प्रतिवादी या सभा के अनुवाद कर कहे हुए का भी, अप्रत्युच्चारणं = उच्चारण न करना, अननुभाषणं = अननुभाषण (न कहना) रूप निग्रहस्थान वादी को होता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—प्रतिवादी के कहे हुए सभा के जाने हुए प्रतिवादी या सभा के अनुवाद कर तीन वार कहे हुए भी विषय का उच्चारण न करना अनुवाद न करना **'अननुभाषण'** नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ १६ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सभा के लोगों ने जिस वाक्य के अर्थ को जाना हो, तथा प्रतिवादी ने तीन बार कहा भी हो उसका जो उच्चारण न करना उसे **'अननुभाषण'** नामक निग्रहस्थान कहते हैं, क्योंकि विना उच्चारण किये किस के आश्रय से दूसरे (प्रतिवादी) के पक्ष का वादी खण्डन करेगा । यह अप्रत्युच्चारण (उच्चारण न करना) योग्य तथा स्वस्थ अपने अज्ञान को प्रगट न करनेवाले कथा का बीच में विच्छेद (भंग) न करनेवाले वादी का है यह ध्यान में रखने की बात है । इसमें पहले के **'विज्ञातस्य परिषदा, त्रिरभिहितस्यापि** ये दोनों विशेषण अज्ञान नामक पूर्वोक्त निग्रहस्थान से अननुभाषण निग्रहस्थान को पृथक् सिद्ध करने के लिये, तथा अन्तिम **'अप्रत्युच्चारण'** यह विशेषण **'विक्षेप'** निग्रहस्थान को सांकर्य दोष हटाने के लिये हैं—यह भेद जान लेना चाहिये ॥ १६ ॥

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ १७ ॥

विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति ॥ १७ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १८ ॥

परपक्षप्रतिषेध उत्तरम्, तद्यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति ॥१८॥

क्रमप्राप्त अज्ञात नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अविज्ञातं = न जाना हुआ, च = और, अज्ञानं = अज्ञान नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—प्रतिवादी के कहे हुए तथा सभा के लोगों ने जिसके अर्थ को जान लिये हो, तथा पुनः प्रतिवादी ने तीन बार कहे हुए को भी जो वादी ने नहीं जाना उसे 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान कहते हैं ॥ १७ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र के 'च' शब्द से सूचित किये अपेक्षित भाग को पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति कर सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सभा के लोगों ने जिसके अर्थ को जान लिया हो, तथा प्रतिवादी ने तीन बार कहा हो, ऐसे विषय को जो न जानता वह 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान वादी को प्राप्त होता है, क्योंकि यह वादी बिना जाने किसका निषेध करेगा ॥ १७ ॥

क्रमप्राप्त अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उत्तरस्य = उत्तर देने का, अप्रतिपत्तिः = ज्ञान न होना, अप्रतिभा = अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान कहा जाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतिवादी पक्ष के निषेध का उत्तर कहते हैं, वह जिस समय समझ में नहीं आता, उस समय उत्तर न दे सकने से 'अप्रतिभा' (उत्तर का न सूझना) नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ १८ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—प्रतिवादी के पक्ष का निषेध करना उत्तर कहाता है वह जब वादी के समझ में नहीं आता, तो वह उत्तर को न समझनेवाला पराजित हो जाता (हार जाता) है। यह अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान उस समय होता है जिस समय प्रतिवादी से सत्य (ठीक) साधन कहा हो, और प्रतिवादो के दुष्ट साधन का उत्तर समझ में न आने से आगे कहे जानेवाला 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक दूसरा ही निग्रहस्थान होता है यह दोनों में भेद है। वादी के किये प्रतिवादो के पक्ष के अनुवाद करने के पश्चात ही इस अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान का अवसर आता है, वह इस प्रकार के अज्ञान को स्वयं प्रगट करने योग्य न होने तथा संदिग्ध होने के कारण प्रगट करना अयोग्य है। तथा अनुवाद करने से निषिद्ध होने के कारण अननुभाषण भी प्रगट नहीं किया जा सकता। कथा के भंग के बहाने की उक्ति न होने के कारण विक्षेप भी प्रगट करने योग्य नहीं है। प्रसंगानुप्रसक्ति के न होने से अर्थान्तर भी प्रगट करने योग्य नहीं है। क्रम से असंबंध का ग्रहण न होने के कारण अपार्थक निग्रहस्थान भी ऐसे स्थल में नहीं हो सकता। ऐसे समय सभी के सुनने के लिये सावधान रहते तथा वादी के उत्कण्ठा रहते यदि प्रतिवादो व्यर्थ श्लोकों के पाठ आदि करने से उत्तर का अपमान दिखाये तो प्रतिवादो अवश्य पराजित हो जायगा, इस कारण वादी के किये विरुद्ध पक्ष या

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ १९ ॥

यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति इदं मे करणीयं विद्यते तस्मिन्नवसिते पश्चात्कथयामीति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम्। एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथान्तरं प्रतिपद्यत इति ॥ १९ ॥

स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ २० ॥

अनुवाद करने के पश्चात् ही इस 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान का अवसर मिलता है अन्यथा नहीं ॥ १८ ॥

क्रमप्राप्त विक्षेप नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—कार्यव्यासङ्गात् = किसी कार्य के करने के बहाने से, कथाविच्छेदः = कथा का भंग करना, विक्षेपः = विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस समय वादी अथवा प्रतिवादी उत्तर न सूझने पर मुझे यह काम करना है उसके करने के पश्चात् मैं इस प्रश्न का उत्तर दूँगा ऐसा बहाना करता है, तो उसे विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहते हैं ॥ १९ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जिस समय किसी करने योग्य कार्य की आसक्ति दिखाकर वादी या प्रतिवादी कथा को भंग कर देता है कि—मुझे यह कार्य करना है, उसके समाप्त होने के पश्चात् करूंगा (इस प्रश्न का मैं उत्तर दूँगा)। इस प्रकार के उत्तर को विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहते हैं, क्योंकि एक के पराजय से, एक कथा के समाप्त होने पर स्वयं ही दूसरी कथा होती है। यहाँ पर किसी काम का बहाना करना यह संपूर्ण कथा के भंगों का सूचक है ऐसा तात्पर्यटीकाकार का कहना है। यद्यपि दूसरे समय में उत्तर दूँगा, ऐसा कहने से वादी सर्वथा अनभिज्ञ (अनजान) है यह नहीं आता, क्योंकि दूसरे समय दिया हुआ सत्य या मिथ्या उत्तर कहने पर भी वह दूसरी ही कथा होगी, प्रथम कथा तो कार्य न होने से उत्तर न देने से ही भंग हो गई—कथा का भंग दोनों से एक के पराजित न होने से होती है। इस विक्षेप को अर्थान्तर निग्रहस्थान नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें प्रस्तुत को ही मैं सिद्ध करता हूँ ऐसा बहाने से प्रसक्तानुप्रसंग से कथा का भंग नहीं होता तथा विक्षेप किसी पक्ष के साध्यसाधक हेतु के धर्म का अनुसरण नहीं करता, एवं प्रस्तुत साध्य की सिद्धि के लिये इसका प्रयोग होता है, जिससे यह हेत्वाभास हो सके। न यह अनर्थक निग्रहस्थान भी है, क्योंकि इसमें असमान संकेत का कथन नहीं होता। और इसमें पूर्वापर में सम्बन्ध न रखनेवाले पद या वाक्यों का असंबंध है, जिससे इसे 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान कह सकें। न इसमें अज्ञान है जिससे इसे 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान कहा जाय। अतः यह विक्षेप भी भिन्न निग्रहस्थान है ॥ १९ ॥

(६) दोष से कहने योग्य मतानुज्ञा आदि तीन निग्रहस्थानों का प्रकरण

क्रमप्राप्त मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—स्वपक्षे = अपने पक्ष में, दोषाभ्युपगमात् = दोष को मानकर, परपक्षे = दूसरे विरोधी पक्ष में, दोषप्रसंगः = दोष की आपत्ति देना, मतानुज्ञा (मत को मान लेना) नामक निग्रहस्थान होता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जो प्रतिपक्षी के दिये दोष को अपने पक्ष में मानकर उसका उद्घाटन कर, तुम्हारे पक्ष में भी यह दोष समान ही है ऐसा कहता है—वह अपने पक्ष में दोष मानकर विरोधी के

यः परेण चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्यानुद्धृत्य वदति भवत्पक्षेऽपि समानो दोष इति, स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषं प्रसञ्जयन्परमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यत इति ॥ २० ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २१ ॥

पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः, तस्योपेक्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तोऽसीत्यननुयोगः। एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्, न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति ॥ २१ ॥

पक्ष में दोष देता हुआ दूसरे के मत को मान लेता है, इस कारण उसे मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान प्राप्त होता है ॥ २० ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—जो वादी या प्रतिवादी दूसरे के दिये व्यभिचारादि दोष को अपने पक्ष में मानकर उसका खण्डन न कर कहता है कि—तुम्हारे पक्ष में भी यह दोष समान ही है—वह ऐसा कहनेवाला अपने पक्ष में उस दोष को मानकर दूसरे के पक्ष में दोष को (आपत्ति में) देता हुआ दूसरे के मत को मान लेता है, इस कारण उसे मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान प्राप्त होता है ॥ २० ॥

क्रमप्राप्त पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—निग्रहस्थानप्राप्तस्य = निग्रहस्थान (पराजय) को प्राप्त हुए का, अनिग्रहः = पराजित न करना, पर्यनुयोज्योपेक्षणम् = पर्यनुयोज्योपेक्षण (पराजित की उपेक्षा) नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—तुझे निग्रहस्थान प्राप्त है ऐसी आपत्ति देने योग्य को **'पर्यनुयोज्य'** (प्रश्न करने योग्य) कहते हैं, उसकी उपेक्षा करना कि तुम निग्रहस्थान को प्राप्त हो ऐसा न कहना। यह किसका पराजय है इस प्रकार प्रश्न किये हुए सभा के लोगों को कहना चाहिये क्योंकि स्वयं पराजित वादी या प्रतिवादी अपने दोष को प्रगट नहीं करता ॥ २१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र के **'पर्यनुयोज्य'** शब्द का अर्थ है—निग्रह (पराजय) के हो सकने से आपत्ति देने योग्य वादी या प्रतिवादी, उसकी उपेक्षा करना कि 'तुम पराजित हो' ऐसा प्रश्न न करना। यह तो वादी या प्रतिवादी के 'हम दोनों में से कौन पराजित है' ऐसा प्रश्न करने पर तुमने पराजित को तुम्हारा पराजय हुआ है ऐसा न कहना रूप **'पर्यनुयोज्योपेक्षण'** नामक निग्रहस्थान कहना चाहिये। क्योंकि पराजित वादी या प्रतिवादी अपने **'कौपीन'**[२] (अपना पराजित होना) स्वयं प्रगट नहीं करता। अर्थात् तत्त्वनिर्णय फलवाली वादकथा में जिस समय **'पर्यनुयोज्योपेक्षण'** नामक यह निग्रहस्थान प्रगट किया जाता है, उस समय वादी तथा प्रतिवादी दोनों के पराजित होने के कारण (एक के निग्रहस्थान में प्राप्त होने से और दूसरे के **'पर्यनुयोज्योपेक्षण'** के कारण ही पराजित होने से) सभा के लोगों का ही विजय होता है और जल्प तथा वितण्डाकथा में तत्त्वज्ञान की अपेक्षा न कर पुरुष के सामर्थ्य की परीक्षा करने में प्रवृत्त हुए वादी तथा प्रतिवादी इन दोनों में से प्रतिवादी का ही पराजय होता है, क्योंकि उसी ने **'पर्यनुयोज्य'** की उपेक्षा की है, वादी के पराजय को भी प्रतिवादी ने प्रगट नहीं किया है यह पक्ष यहाँ विशेष जान लेना चाहिये तथा वादी ने प्रतिवादी के ठीक-ठीक साधक का खण्डन करने तथा उत्तर का न सूचनारूप अप्रतिभा—

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २२ ॥

निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याऽध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसीति परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निगृहीतो वेदितव्य इति ॥ २२ ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ २३ ॥

साधन के आभास को कहने पर भी उत्तर का ज्ञान न होना। 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रह-स्थान होता है यह भी यहाँ पर विशेष जान लेना चाहिये ॥ २१ ॥

क्रमप्राप्त निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—अनिग्रहस्थाने = पराजित न होनेवाले वादी या प्रतिवादीरूप स्थान में, निग्रह-स्थानाभियोगः = तुम पराजित हो ऐसी आपत्ति, निरनुयोज्यानुयोगः = पराजित न हुए को देना 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—यह पराजित हुआ ऐसा अपराजित को मिथ्या समझकर, निग्रह (पराजय) के स्थान में 'तुम पराजित हो' ऐसा कहनेवाला वादी या प्रतिवादी अपराजित को तुम पराजित हो, ऐसी आपत्ति देने के कारण पराजित हो जाता है ॥ २२ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार भी सूत्र की व्याख्या करते हुए इस मिथ्या आपत्ति का मूल दिखाते हैं कि)—निग्रहस्थान लक्षण में मिथ्या निश्चय से पराजय को प्राप्त न होनेवाले को भी तुम पराजित हो ऐसा कहनेवाला पराजय आपत्ति देने के अयोग्य को 'तुम पराजित हो' ऐसी आपत्ति देने के कारण पराजित जानना चाहिये। अर्थात् निग्रहस्थान के लक्षण को न जाननेवाला ही उपरोक्त मिथ्या आपत्ति देता है। (इसको अप्रतिभा निग्रहस्थान नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें उत्तर का ज्ञान नहीं होता और इसमें जो उत्तर नहीं है, उसके विपरीत उत्तर समझना विरुद्ध ज्ञान होता है, यह दोनों में विशेषता है और यह हेत्वाभास भी नहीं हो सकता, क्योंकि वादी को ही हेत्वाभास पराजित करते हैं, और यह प्रतिवादी को हेत्वाभास से निरनुयोज्या-नुयोग का भेद है। (इसी निग्रहस्थान से संपूर्ण प्रथमाह्निक में कही हुई चौबीस प्रकार की जातियों का संग्रह होता है यह भी यहाँ जान लेना चाहिये ॥ २२ ॥

(७) कथा करनेवाले की भिन्न उक्ति से निरूपणयोग्य निग्रहस्थान का प्रकरण

क्रमप्राप्त अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—सिद्धान्तं = एक किसी सिद्धान्त को, अभ्युपेत्य = स्वीकार कर, अनियमात् = नियम को छोड़ने से, कथाप्रसङ्गः = साधन तथा दोष दोनों के कथन को अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—किसी विषय को प्रतिपादन करने के लिये एक सिद्धान्त का नियम मानकर उसके विपरीत नियम छोड़कर कथा करनेवाले साधन तथा दूषण को देनेवाले वादी या प्रतिवादी को अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान होता है, जिसका उदाहरण यह है कि जैसे सांख्यमत से किसी सत्पदार्थ का नाश नहीं होता, तथा किसी असत् (अविद्यमान पदार्थ) की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा सिद्धान्त मानकर, यह संपूर्ण व्यक्त (जगत् कार्य) उसके कार्यों का कारण में सम्बन्ध होने के कारण एक (प्रकृति) कारणवाला है, क्योंकि मृत्तिका घटादि कार्यों का मृत्तिका में सम्बन्ध होने से घटादि कार्यों में एक मृत्तिका ही कारण है यह देखने में आता है। (ऐसा सांख्यमत से मानने वाले से जब प्रश्न किया जाता है कि)—उपरोक्त में कौन प्रकृति (कारण) है, कौन

कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययाद् *अनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः।* यथा न सदात्मानं जहाति, न सतो विनाशो, नासदात्मानं लभते, नासदुत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति। एकप्रकृतिदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनात्। मृदन्वितानां शरावादीनां दृष्टमेकप्रकृतित्वम्, तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते तस्मात्समन्वयदर्शनात्सुखादिभिरेकप्रकृतीदं शरीरमिति। एवमुक्तवाननुयुज्यते अथ प्रकृतिर्विकार इति कथं लक्षितव्यमिति। यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्तते सा प्रकृतिः, यच्च धर्मान्तरं प्रवर्तते स विकार इति, सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासादनियमात् कथां प्रसञ्जयति, प्रतिज्ञातं खल्वनेन

कार्य है यह कैसे जाना जाय ?—'ऐसे प्रश्न का जिसके सदा वर्तमान रहते एक धर्म के निवृत्त होने पर दूसरा धर्म उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते हैं, और जो धर्म उत्पन्न और नष्ट होता है वह विकार (कार्य) कहाता है। ऐसा सांख्यमत से उत्तर देनेवाला अपनी प्रतिज्ञा को ही छोड़ देता है, क्योंकि इसने असत् का आविर्भाव नहीं होता और वर्तमान का तिरोभाव नहीं होता—ऐसी प्रथम प्रतिज्ञा की है, सत् तथा असत् इन दोनों पदार्थों के आविर्भाव तथा तिरोभाव के विना किसी पदार्थ की प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति का उपरम (नाश) नहीं होता। जैसे मृत्तिका के रहते घट आदि दूसरे धर्मरूप कार्य उससे प्रवृत्त होते हैं, वह दूसरा धर्म हुआ था इस प्रकार प्रवृत्ति का नाश भी होता है, वह यह मृत्तिका के धर्मों में न होगा—ऐसी आपत्ति सांख्यवादी को देने पर यदि वह सत् का नाश, तथा असत् की उत्पत्ति यह मान ले तो उसने अपने सिद्धान्त को छोड़ दिया, इस कारण उसे 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान होता है ॥ २१ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—सूत्र में 'अभ्युपेत' इस पद का किसी अर्थ संपूर्ण व्यक्त जगत् कार्य में तथा भाव (एक कारणवाला हो तो) सांख्यमत के नियम से प्रतिज्ञा कर, उसके विपरीत अतिशय (श्लाघ्य सिद्धान्त को छोड़कर) कथा करनेवाले सांख्यवादी को 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान होता है। क्योंकि सांख्यमत के अनुसार सत् पदार्थ अपने को नहीं छोड़ता, अर्थात् सत् पदार्थ का नाश नहीं होता, तथा असत् पदार्थ अपने को नहीं छोड़ता, अर्थात् असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होता ऐसा सांख्यसिद्धान्त मानकर, अपने पक्ष की सांख्यवादी स्थापना करता है कि—यह संपूर्ण 'व्यक्त' जगत् रूप कार्य, विकार (कार्यों) का कारण में सम्बन्ध दिखाई पड़ता है इस कारण एक प्रकृति नामक कारणवाला है, क्योंकि मृत्तिकारूप कारणवाले घट किसोरा आदि कार्यों में एक मृत्तिकारूप कारण है यह देखने में आता है। इसी प्रकार इस जगत् रूप: व्यक्त कार्यों में भेद भी, सुख, दुःख तथा मोह से सम्बद्ध दिखाई पड़ता है, इस कारण सम्बन्ध दिखाई पड़ने से सुख-दुःखादि गुणवाले प्रकृतिरूप कारणवाला यह संपूर्ण जगत् कार्य है यह सिद्ध होता है। ऐसा कहनेवाले सांख्यवादी को आपकी कही हुई प्रकृति तथा विकार किस प्रकार का है ? ऐसा नैयायिक प्रश्न कर सकता है। जिसका सांख्यवादी सदा वर्तमान रहनेवाले मृत्तिकादि धर्मों के जिस एक धर्म के घट आदि के निवृत्त होने पर दूसरा धर्म किसी किसोरा आदि में उत्पन्न होता है, उस मृत्तिका को प्रकृति (कारण) कहते हैं और जो दूसरा धर्म उत्पन्न होता है और निवृत्त होता है उसे विकार (कार्य) कहते हैं—ऐसा उत्तर देता है। (इस प्रकार की सांख्य की उक्ति में अपसिद्धान्त की योजना करते हुए भाष्यकार आगे कहते

नासदाविर्भवति न सत्तिरोभवतीति। सदसतोश्च तिरोभावाविर्भावमन्तरेण न कस्य चित्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति। मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरावादिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति, अभूदिति च प्रवृत्त्युपरमः सदेत-न्मृद्धर्माणामपि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चात्महानमसतश्चात्म-लाभमभ्युपैति तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति, अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिध्यति॥ २३॥

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः॥ २४॥

हैं कि)—वह यह सांख्यवादी–प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का सांख्यसिद्धान्त का नियम छोड़कर कथा करता है, क्योंकि इस सांख्यमतावलम्बी ने पहिले प्रतिज्ञा की है कि—असत् पदार्थ का आविर्भाव तथा सत् पदार्थ का तिरोभाव नहीं होता, किन्तु सत् तथा असत् दोनों पदार्थों के विना तिरोभाव तथा आविर्भाव के किसी की प्रवृत्ति, और उसका नाश नहीं हो सकता। अर्थात् सत् की 'निवृत्ति' तिरोभाव, नाश ही है—और असत् की 'प्रवृत्ति' आविर्भाव, उत्पत्ति ही होती है, अतः असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं और सत् पदार्थ का नाश नहीं, इस पूर्व सिद्धान्त का सांख्यवादी के उक्ति से बाध हो जाता है। (इसी का उदाहरण भाष्यकार आगे देते हैं कि)—मृत्तिकारूप कारण के रहते ही घट, किसोरा आदि रूप दूसरा धर्म जो होता है वह उसकी प्रवृत्ति होती है, और हुआ था, यह प्रवृत्ति का (उपरम) नाश होता है। अर्थात् मृत्तिकारूप कारण में अवर्तमान ही घड़ा आदि कार्यों की जब प्रवृत्ति होती है तब 'भवति' होता है ऐसा कहा जाता है, जिसका उत्पन्न होता है ऐसा और उत्पन्न हुए घड़े आदि कार्यों का जब उपरम (नाश) हो जाता है तब 'अभूत् था' ऐसा कहा जाता है जिसका 'नष्ट हुआ' ऐसा अर्थ होता है (इस लोक-प्रसिद्ध उक्ति का सांख्यमत से विरोध दिखाते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि)—वह यह मृत्तिका के धर्मों में भी न होगा अर्थात् यदि असत् की उत्पत्ति तथा सत् का नाश न होगा, तो मृत्तिका के दिखाई पड़नेवाले प्रवृत्ति (उत्पत्ति) तथा उपरम (नाश) दोनों के होने से यह महान् (बड़ा भारी विरोध होगा) इससे सांख्यवादी को कैसे अपसिद्धान्त होता है ? (यह आगे दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—ऐसा नैयायिक के दोष देने पर यदि सांख्यवादी सत् पदार्थ का नाश तथा असत् पदार्थ की उत्पत्ति मान ले तो उसे 'अपसिद्धान्त' (सिद्धान्त के विरुद्ध मानना) नामक निग्रहस्थान होता है, और यदि नहीं मानता तो उसका पक्ष सिद्ध नहीं होता। अर्थात् एक कारणवाले विकार को इसने पक्ष किया था, उस में विकार का लक्षण न होने के कारण उनका निरूपण न होने से उनके अभाव के कारण न प्रतिज्ञा का अर्थ बनेगा, न हेतु का अर्थ, क्योंकि आश्रय ही असिद्ध है, अतः आत्महानि (नाश) आत्मलाभ (उत्पत्ति) हम नहीं मानेंगे ऐसा सांख्य का न मानना भी नहीं हो सकता)॥ २३॥

क्रमप्राप्त हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—हेत्वाभासाः च = और हेत्वाभास दुष्ट हेतु भी, यथोक्ताः = जिस प्रकार कहे गये हैं॥ २४॥

भावार्थ—पूर्व में कहे गये हेत्वाभास (दुष्ट हेतु) भी निग्रहस्थान (पराजय) के कारण होते हैं॥ २४॥

हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि । किं पुनर्लक्षणान्तरयोगाद् हेत्वाभासा निग्रहस्थानत्वमापन्नाः यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वमित्यत आह । यथोक्ता इति । हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रहस्थानभाव इति । त इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताः परीक्षिताश्चेति ॥ २४ ॥

यो ऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद्वदतां वरम् ।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत् ॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(इसी आशय से भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—और दुष्ट हेतु (हेत्वाभास) भी निग्रहस्थान होते हैं । (हेत्वाभासों के निग्रहस्थान होने में संदेह से प्रश्न कर उत्तर दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि)—क्या जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण ज्ञान के साधन होने के कारण प्रमाण तथा ज्ञान के योग्य होने से प्रमेय भी होते हैं उसी प्रकार हेत्वाभास भी दूसरे लक्षण के सम्बन्ध से निग्रहस्थान होते हैं, अथवा उनके पूर्वोक्त लक्षण से ही ? (इसी आक्षेप के समाधान के लिये सूत्र में कहा है कि)—'यथोक्ताः' पूर्वग्रंथ में जो हेत्वाभासों का लक्षण किया है उसी से वे निग्रह (पराजय) के स्थान होते हैं, जिससे हेत्वाभास नामक निग्रहस्थानों का पृथक् लक्षण नहीं करने से सूत्रकार का लक्षणरूप कोई दोष नहीं आता । अर्थात् पूर्वोक्त हेत्वाभासों के लक्षण से ही यह निग्रहस्थान भी होते हैं । (संपूर्ण इस न्यायशास्त्र के विषय की समाप्ति करते हुए अन्त में भाष्यकार कहते हैं कि)—उन इन प्रमाण, प्रमेय इत्यादि शोषक पदार्थों का प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक में उद्देश तथा लक्षण कर आगे के द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक परीक्षा भी की गई, इस प्रकार शास्त्र समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

(इस शास्त्र के विषय को दिखाते हुए भाष्यकार, सूत्रकार तथा अपना भी नाम अन्त में दिखाते हैं कि)—**यः** = जो, **अक्षपादं** = गौतम नामक, **ऋषिं** = महर्षि को, **न्यायः** = न्यायशास्त्र, **प्रत्यभात्** = ज्ञात हुआ, **वदतां वरं** = कहनेवालों में श्रेष्ठ (महर्षि के), **तस्य** = उस न्यायशास्त्र का, **वात्स्यायनः** = वात्स्यायन नामक मुनि की, **इदं** = इस कहे हुए, **भाष्यजातं** = भाष्यसमूह, **अवर्तयत्** = रचना की ।

इति = इस प्रकार, **श्रीवात्स्यायनीये** = वात्स्यायन मुनि देवता के, **न्यायभाष्ये** = न्यायशास्त्र के भाष्य में, **पंचमः** = पाँचवाँ, **अध्यायः** = अध्याय, **समाप्तः** = समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

समाप्तं च = और समाप्त हुआ, **इदं** = यह, **न्यायदर्शनं** = न्यायदर्शन ।

इस प्रकार गौतम मुनिकृत भाष्य सहित न्यायदर्शन की हिन्दी भाषा में व्याख्या समाप्त हुई ।

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीवाचस्पतिमिश्र-विरचितः

न्यायसूचीनिबन्धः

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

नमामि धर्मविज्ञानवैराग्यैश्वर्यशालिने ।
निधये वागूविशुद्धीनामक्षपादाय तापिने ॥ १ ॥
अक्षपादप्रणीतानां सूत्राणां सारबोधिका ।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण मया सूची विधास्यते ॥ २ ॥

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामभिधेयप्रयोजनसम्बन्धप्रकरणम् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ १ ॥ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च ॥ ३ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ४ ॥ आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ५ ॥ स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ६ ॥

इति षड्भिः सूत्रैः प्रमाणलक्षणप्रकरणम् ॥ २ ॥

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ १ ॥ इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ २ ॥ चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ३ ॥ घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ ४ ॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ ५ ॥ गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ ६ ॥ बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ ७ ॥ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ ८ ॥ प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥ ९ ॥ प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥ १० ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ११ ॥ प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ १२ ॥ बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ १३ ॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ १४ ॥

इति चतुर्दशभिः सूत्रैः प्रमेयलक्षणप्रकरणम् ॥ ३ ॥

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥ १ ॥ यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ॥ २ ॥ लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्न्यायपूर्वाङ्गलक्षणप्रकरणम् ॥ ४ ॥

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ १ ॥ स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रा-

धिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २ ॥ सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥३॥ समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥४॥ यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥५॥ अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ ६ ॥

इति षड्भिः सूत्रैर्न्यायाश्रयसिद्धान्तलक्षणप्रकरणम् ॥ ५ ॥

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ १ ॥ साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ २ ॥ उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३ ॥ तथा वैधर्म्यात् ॥ ४ ॥ साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ५ ॥ तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ६ ॥ उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥ ७ ॥ हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ८ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैर्न्यायप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ १ ॥ विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां न्यायोत्तराङ्गलक्षणप्रकरणम् ॥ ७ ॥

इत्येकचत्वारिंशता सूत्रैः सप्तभिः प्रकरणैः प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम् ।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥ यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ २ ॥ स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः कथालक्षणप्रकरणम् ॥ १ ॥

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ॥ १ ॥ अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ २ ॥ सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ३ ॥ यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ४ ॥ साध्याविशिष्टश्च साध्यत्वात् साध्यसमः ॥५॥ कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ६ ॥

इति षड्भिः सूत्रैः हेत्वाभासलक्षणप्रकरणम् ॥ २ ॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥ १ ॥ तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च ॥ २ ॥ अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥३॥ सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥ ४ ॥ धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेधे उपचारच्छलम् ॥ ५ ॥ वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ ६ ॥ न, तदर्थान्तरभावात् ॥ ७ ॥ अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥ ८ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैश्छललक्षणप्रकरणम् ॥ ३ ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १ ॥ विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ २ ॥ तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः पुरुषाशक्तिलिङ्गदोषसामान्यलक्षणप्रकरणम् ॥ ४ ॥

इति विंशत्या सूत्रैश्चतुर्भिः प्रकरणैः प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकं समाप्तम् ।

समाप्तश्च प्रथमोऽध्यायः ।

अत्र प्रकरणानि ११ सूत्राणि ६१

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥ विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥ विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥ अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥ तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥ यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥ यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

इति सप्तभिः सूत्रैः संशयपरीक्षाप्रकरणम् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ १ ॥ पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २ ॥ पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ ३ ॥ युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥ ४ ॥ त्रैकाल्यासिद्धेःप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५ ॥ सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ६ ॥ तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ ७ ॥ त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥ ८ ॥ प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ ९ ॥ प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥ १० ॥ तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥ ११ ॥ न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥ १२ ॥ क्वचित्तु निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनैकान्तः ॥ १३ ॥

इति त्रयोदशभिः सूत्रैः प्रमाणसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ १ ॥ नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २ ॥ दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ ३ ॥ ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ ४ ॥ तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ ५ ॥ प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ ६ ॥ सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥ ७ ॥ तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ ८ ॥ व्याहतत्वादहेतुः ॥ ९ ॥ नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ १० ॥ प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ ११ ॥ न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः प्रत्यक्षपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ३ ॥

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ १ ॥ सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ २ ॥ धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३ ॥ सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः प्रासङ्गिकमवयविपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ४ ॥

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥ १ ॥ नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामनुमानपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ५ ॥

वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ॥ १ ॥ तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥ २ ॥ नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ३ ॥ वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४ ॥ कृततांकर्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥५॥

इति पञ्चभिः सूत्रैरौपोद्घातिकं वर्तमानपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥ १ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ २ ॥ प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ३ ॥ नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४ ॥ तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ५ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैरुपमानपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ७ ॥

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ १ ॥ उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ २ ॥ सम्बन्धाच्च ॥ ३ ॥ आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥ ४ ॥ पूरणप्रदाहपाटनानुपपत्तेश्च सम्बन्धाभावः ॥ ५ ॥ शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ७ ॥ जातिविशेषे चानियमात् ॥ ८ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैः शब्दसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ८ ॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ १ ॥ न कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात् ॥ २ ॥ अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ३ ॥ अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ४ ॥ वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ५ ॥ विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६ ॥ विधिर्विधायकः ॥ ७ ॥ स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ८ ॥ विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ९ ॥ नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ १० ॥ शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ११ ॥ मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ९ ॥

इति अष्टोत्तरपष्ट्या सूत्रैर्नवभिः प्रकरणैर्द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

अथ द्वितीयाध्ययस्य द्वितीयमाह्निकम्

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥ अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥ अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥ प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥ तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥ नाभावप्रामाण्यं

प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥ लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः ॥ ८ ॥ असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ९ ॥ तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥ न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥ ११ ॥ प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैश्चतुष्ट्वपरीक्षाप्रकरणम् ॥ १ ॥

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥ १ ॥ न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥ २ ॥ तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वस्य विभागादव्यभिचारः ॥३॥ सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ ४ ॥ कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानात् ॥ ५ ॥ प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ ६ ॥ तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ ७ ॥ अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ ८ ॥ अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ९ ॥ अस्पर्शत्वात् ॥ १० ॥ न कर्मानित्यत्वात् ॥११॥ नाणुनित्यत्वात् ॥ १२ ॥ सम्प्रदानात् ॥ १३ ॥ तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ १४ ॥ अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ १५ ॥ उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥ १६ ॥ अभ्यासात् ॥ १७ ॥ नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ १८ ॥ अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥१९॥ तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥२०॥ विनाशकारणानुपलब्धेश्च ॥ २१ ॥ अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ २२ ॥ उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ २२ ॥ पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ २४ ॥ विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ २५ ॥ अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥ विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ २७ ॥

इति सप्तविंशत्या सूत्रैः शब्दानित्यत्वप्रकरणम् ॥ २ ॥

विकारादेशोपदेशात् संशयः ॥ १ ॥ प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ २ ॥ न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ३ ॥ द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः ॥४॥ नातुल्यप्रकृतानां विकारविकल्पात् ॥ ५ ॥ द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥ ६ ॥ न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ७ ॥ विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ८ ॥ सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ९ ॥ न तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ॥ १० ॥ नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ११ ॥ नित्यानामतीन्द्रियत्वात् तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ १२ ॥ अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारोपपत्तिः ॥ १३ ॥ विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ प्रकृत्यनियमात् ॥ १५ ॥ अनियमे नियमान्नानियमः ॥ १६ ॥ नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥ १७ ॥ गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ १८ ॥

इति अष्टादशभिः सूत्रैः शब्दपरिणामप्रकरणम् ॥ ३ ॥

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ १ ॥ व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशयः ॥ २ ॥ याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसङ्ख्यावृद्ध्युपचयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥ ३ ॥ न तदनवस्थानात् ॥ ४ ॥ सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोग-

साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ५ ॥ आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६ ॥ व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ७ ॥ न; आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ८ ॥ व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ९ ॥ व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥ १० ॥ आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ११ ॥ समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः शब्दशक्तिपरीक्षा [पदार्थनिरूपण] प्रकरणम् ॥ ४ ॥

इति नवोत्तरषष्टया सूत्रैश्चतुर्भिः प्रकरणैर्द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः

अत्र प्रकरणानि १३ सूत्राणि १३७

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥ तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरिन्द्रियव्यतिरिक्तात्मप्रकरणम् ॥ १ ॥

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ १ ॥ तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ २ ॥ न कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः शरीरव्यतिरिक्तात्मप्रकरणम् ॥ २ ॥

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ १ ॥ नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ २ ॥ एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ३ ॥ अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ ४ ॥ दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥ इन्द्रियान्तरविकारात् ॥६॥ न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात् ॥ ७ ॥ तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैः प्रासङ्गिकं चक्षुरद्वैतप्रकरणम् ॥ ३ ॥

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १ ॥ ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः सञ्ज्ञाभेदमात्रम् ॥ २ ॥ नियमश्च निरनुमानः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्मनोव्यतिरेकप्रकरणम् ॥ ४ ॥

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १ ॥ पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत् तद्विकारः ॥ २ ॥ नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ ३ ॥ प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ ४ ॥ अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत् तदुपसर्पणम् ॥ ५ ॥ नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ ६ ॥ वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ ७ ॥ सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः ॥ ८ ॥ न सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ ९ ॥

इति नवभिः सूत्रैर्नित्यताप्रकरणम् ॥ ५ ॥

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ १ ॥ पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥ २ ॥ निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥ ३ ॥ गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ॥ ४ ॥ श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ ५ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः शरीरपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ६ ॥

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ १ ॥ महदणुग्रहणात् ॥ २ ॥ रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३ ॥ तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ४ ॥ नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ५ ॥ द्रव्यगुणधर्मभेदाच्च रूपोपलब्धिनियमः ॥ ६ ॥ अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ७ ॥ कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ८ ॥ मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ ९ ॥ न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ १० ॥ बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ११ ॥ अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ १२ ॥ नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ १३ ॥ अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ १४ ॥ कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ १५ ॥ अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ १६ ॥ आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ १७ ॥ नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ १८ ॥ आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ॥ १९ ॥ दृष्टानुमितानां हि नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ २० ॥

इति विंशत्या सूत्रैरिन्द्रिय [भौतिकत्व] परीक्षाप्रकरणम् ॥ ७ ॥

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥ १ ॥ त्वगव्यतिरकात् ॥ २ ॥ न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ३ ॥ विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ४ ॥ इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५ ॥ न तदर्थबहुत्वात् ॥ ६ ॥ गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ७ ॥ विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ८ ॥ न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥ ९ ॥ भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ १० ॥

इति दशभिः सूत्रैरिन्द्रियनानात्वप्रकरणम् ॥ ८ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥ १ ॥ अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ २ ॥ न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ३ ॥ एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ४ ॥ विष्टं ह्यपरम्परेण ॥ ५ ॥ न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६ ॥ पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् ॥ ७ ॥ तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ८ ॥ सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ९ ॥ तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ १० ॥ न शब्दगुणवैधर्म्यात् ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैरर्थपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ९ ॥

इति त्रिसप्तत्या सूत्रैर्नवभिः प्रकरणैस्तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम्

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥ विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥ साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥ न युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥ अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ ६ ॥ अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥ न गत्यभावात् ॥ ८ ॥ स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

इति नवभिः सूत्रैर्बुद्ध्यनित्यताप्रकरणम् ॥ १ ॥

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ॥ १ ॥ नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ २ ॥ नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३ ॥ क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ॥ ४ ॥ लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ ५ ॥ न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ ६ ॥ व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ ७ ॥ क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ ८ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैरौपोद्घातिकं क्षणभङ्गप्रकरणम् ॥ २ ॥

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेर्न मनसः ॥२॥ तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ ३ ॥ इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः ॥ ४ ॥ नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ ५ ॥ विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ ६ ॥ अनित्यत्वग्रहणाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ ७ ॥ ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ ८ ॥ नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ ९ ॥ साध्यत्वादहेतुः ॥ १० ॥ स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ ११ ॥ न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ १२ ॥ न स्मरणकालानियमात् ॥ १३ ॥ आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥ १४ ॥ व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥ १५ ॥ प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ॥ १६ ॥ ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ १७ ॥ तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ १८ ॥ परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ १९ ॥ नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ २० ॥ यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ २१ ॥ परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ २२ ॥ स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ २३ ॥ प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ २४ ॥

इति चतुर्विंशत्या सूत्रैर्बुद्धेरात्मगुणत्वप्रकरणम् ॥ ३ ॥

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ १ ॥ अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ २ ॥ हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥ ३ ॥ न प्रदीपार्चिषः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम् ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैर्बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वप्रकरणम् ॥ ४ ॥

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ १ ॥ यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ २ ॥ न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ३ ॥ प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ४ ॥ शरीरव्यापित्वात् ॥ ५ ॥ न केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ६ ॥ त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ७ ॥ शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ८ ॥ न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ९ ॥ ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ १० ॥

इति दशभिः सूत्रैर्बुद्धेः शरीरगुणव्यतिरेकप्रकरणम् ॥ ५ ॥

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ १ ॥ न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ २ ॥ अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ३ ॥ यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैर्मनःपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ६ ॥

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ १ ॥ भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम् ॥ २ ॥ न साध्यसमत्वात् ॥ ३ ॥ नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ४ ॥ तथाहारस्य ॥ ५ ॥ प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६ ॥ शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ७ ॥ एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥ ८ ॥ तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ९ ॥ मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगाद्यनुच्छेदः ॥ १० ॥ नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ११ ॥ अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥ १२ ॥ नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ १३ ॥

इति त्रयोदशभिः सूत्रैः प्रासङ्गिकमदृष्टनिष्पाद्यत्वप्रकरणम् ॥ ७ ॥

इति द्विसप्तत्या सूत्रैः सप्तभिः प्रकरणैस्तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ॥

अत्र प्रकरणानि १६ सूत्राणि १४५

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ तथा दोषाः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्रवृत्तिदोषसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् ॥ १ ॥

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहान्तरभावात् ॥ १ ॥ नैकप्रत्यनीकत्वात् ॥ २ ॥ व्यभिचारादहेतुः ॥ ३ ॥ तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ४ ॥ निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥ ५ ॥ न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ६ ॥ निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ७ ॥

इति सप्तभिः सूत्रैर्दोषत्रैराश्यप्रकरणम् ॥ २ ॥

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १ ॥ व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ २ ॥ न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ ३ ॥ व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम् ॥ ३ ॥

अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १ ॥ व्याघातादप्रयोगः ॥ २ ॥ नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ ३ ॥ विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ ४ ॥ क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः शून्यतोपादानप्रकरणम् ॥ ४ ॥

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १ ॥ न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २ ॥ तत्कारितत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरीश्वरोपादानताप्रकरणम् ॥ ५ ॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥ १ ॥ अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २ ॥ निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैराकस्मिकत्वप्रकरणम् ॥ ६ ॥

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ १ ॥ नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २ ॥ तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ ३ ॥ नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः सर्वानित्यत्वनिराकरणम् ॥ ७ ॥

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ १ ॥ नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ २ ॥ तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥ नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ४ ॥ न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ५ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः सर्वनित्यत्वनिराकरणप्रकरणम् ॥ ८ ॥

सर्वं पृथग् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ १ ॥ नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ २ ॥ लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः सर्वपृथक्त्वनिराकरणम् ॥ ९ ॥

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ १ ॥ न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ २ ॥ न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३ ॥ व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम् ॥ १० ॥

सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ १ ॥ न कारणावयवभावात् ॥ २ ॥ निरवयवत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः संख्यैकान्तवादप्रकरणम् ॥ ११ ॥

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ १ ॥ कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ २ ॥ प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत् स्यात् ॥ ३ ॥ नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४ ॥ उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ५ ॥ बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ६ ॥ आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ७ ॥ प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥ न पुत्रस्त्रीपशुपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥ ९ ॥ तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ १० ॥

इति दशभिः फलपरीक्षाप्रकरणम् ॥ १२ ॥

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ १ ॥ न सुखस्याप्यन्तरालनिष्पत्तेः ॥ २ ॥ बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥ दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैर्दुःखपरीक्षाप्रकरणम् ॥ १३ ॥

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥ १ ॥ प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ २ ॥ समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ३ ॥ पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ४ ॥ सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाववदपवर्गः ॥ ५ ॥ न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६ ॥ न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ७ ॥ प्रागुत्पत्तेरभावानित्य-

त्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥ ८ ॥ अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥ ९ ॥ न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ १० ॥

इति दशभिः सूत्रैरपवर्गपरीक्षाप्रकरणम् ॥ १४ ॥

इति सप्तषष्ट्या सूत्रैः चतुर्दशभिः प्रकरणैश्चतुर्थाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥ दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः ॥ २ ॥ तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम् ॥ १ ॥

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ १ ॥ तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ २ ॥ वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ३ ॥ कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ४ ॥ तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ५ ॥ पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ६ ॥ न चावयव्यवयवाः ॥ ७ ॥ एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ८ ॥ अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ ९ ॥ केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ॥ १० ॥ स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥ अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १२ ॥ न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १३ ॥ परं वा त्रुटेः ॥ १४ ॥

इति चतुर्दशभिः सूत्रैः प्रासङ्गिकमवयवावयविप्रकरणम् ॥ २ ॥

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १ ॥ आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १ ॥ अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ ३ ॥ शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ ४ ॥ अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥ ५ ॥ मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ ६ ॥ संयोगोपपत्तेश्च ॥ ७ ॥ अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

इत्यष्टभिः सूत्रैरौपोद्घातिकं निरवयवप्रकरणम् ॥ ३ ॥

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥ १ ॥ व्याहतत्वादहेतुः ॥ २ ॥ तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥३॥ प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥ ४ ॥ प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ५ ॥ स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥ ६ ॥ मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ७ ॥ हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ८ ॥ स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ९ ॥ मिथ्योपलब्धेर्विनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे ॥ १० ॥ बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ११ ॥ तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैः प्रासङ्गिकं बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् ॥ ४ ॥

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ १ ॥ नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २ ॥ क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च ॥ ३ ॥ पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ४ ॥ अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोप-

देशः ॥ ५ ॥ अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ६ ॥ न; निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ७ ॥ तदभावश्चापवर्गे ॥ ८ ॥ तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ ९ ॥ ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ १० ॥ तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥ ११ ॥ प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ १२ ॥

इति द्वादशभिः सूत्रैस्तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम् ॥ ५ ॥

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥१॥ ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम् ॥ ६ ॥

इति एकपञ्चाशता सूत्रैः षड्भिः प्रकरणैश्चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चायं चतुर्थोऽध्यायः

अत्र प्रकरणानि २० सूत्राणि ११८

अथ पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥ गोत्वादेर्गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम् ॥ १ ॥

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ १ ॥ किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ २ ॥ साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः साध्यदृष्टान्तधर्मविकल्पप्रभवोत्कर्षसमादिजातिषट्कप्रकरणम् ॥ २ ॥

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ १ ॥ घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्राप्त्यप्राप्तियुगनद्धवाहिविकल्पोपक्रमजातिद्वयप्रकरणम् ॥ ३ ॥

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ १ ॥ प्रदीपोपादानप्रसङ्गविनिवृत्तिवत् तद्विनिवृत्तिः ॥ २ ॥ प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्युगनद्धवाहिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमजातिद्वयप्रकरणम् ॥ ४ ॥

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १ ॥ तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामनुत्पत्तिसमप्रकरणम् ॥ ५ ॥

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥ १ ॥ साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां संशयसमप्रकरणम् ॥ ६ ॥

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १ ॥ प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्रकरणसमप्रकरणम् ॥ ७ ॥

त्रैकाल्यानुपपत्तेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १ ॥ न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ २ ॥ प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्हेतुसमप्रकरणम् ॥ ८ ॥

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ १ ॥ अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामर्थापत्तिसमप्रकरणम् ॥ ९ ॥

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ १ ॥ क्वचित् तद्धर्मोपपत्तेः क्वचिच्चानुपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामविशेषसमप्रकरणम् ॥ १० ॥

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ १ ॥ उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामुपपत्तिसमप्रकरणम् ॥ ११ ॥

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ १ ॥ कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामुपलब्धिसमप्रकरणम् ॥ १२ ॥

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥ १ ॥ अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ २ ॥ ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरनुपलब्धिसमप्रकरणम् ॥ १३ ॥

साधर्म्यात् तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ॥ १ ॥ साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥ २ ॥ दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैरनित्यसमप्रकरणम् ॥ १४ ॥

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ॥ १ ॥ प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां नित्यसमप्रकरणम् ॥ १५ ॥

प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः ॥ १ ॥ कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां कार्यसमप्रकरणम् ॥ १६ ॥

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ १ ॥ सर्वत्रैवम् ॥ २ ॥ प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ३ ॥ प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ ४ ॥ स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोषः ॥ ५ ॥

इति पञ्चभिः सूत्रैः षट्पक्षीरूपकथाभासप्रकरणम् ॥ १७ ॥

इति त्रिचत्वारिंशता सूत्रैः सप्तदशभिः प्रकरणैः पञ्चमस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम् ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्न्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥ प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥ प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥ प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥ पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्न्यासः ॥ ५ ॥ अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

इति षड्भिः सूत्रैः प्रतिज्ञाहेत्वन्यतराश्रितनिग्रहस्थानपञ्चकविशेषलक्षणप्रकरणम् ॥ १ ॥

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ १ ॥ वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ २ ॥ परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ३ ॥ पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैः प्रकृतोपयोगिवाक्यार्थप्रतिपत्तिफलशून्यनिग्रहस्थानचतुष्कप्रकरणम् ॥ २ ॥

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ १ ॥ हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥२॥ हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैः स्वसिद्धान्तानुरूपप्रयोगाभासनिग्रहस्थानत्रिकप्रकरणम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १ ॥ अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम् ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां पुनरुक्तनिग्रहस्थानप्रकरणम् ॥ ४ ॥

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥ १ ॥ अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ २ ॥ उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ ३ ॥ कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ ४ ॥

इति चतुर्भिः सूत्रैरुत्तरविरोधिनिग्रहस्थानचतुष्कप्रकरणम् ॥ ५ ॥

स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ १ ॥ निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २ ॥ अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः सूत्रैर्दोषनिरूप्यमतानुज्ञादिनिग्रहस्थानत्रिकप्रकरणम् ॥ ६ ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ १ ॥ हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २ ॥

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां कथकान्योक्तिनिरूप्यनिग्रहस्थानद्वयप्रकरणम् ॥ ७ ॥

इति चतुर्विंशत्या सूत्रैः सप्तभिः प्रकरणैः पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः

अत्र प्रकरणानि २४ सूत्राणि ॥ ६७ ॥ अस्मिन् न्यायशास्त्रेऽध्यायाः ५ आह्निकानि १० प्रकरणानि ८४ सूत्राणि ५२८ पदानि १९६६ अक्षराणि ८३८५ ॥

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम् ।
श्रीगौतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥ १ ॥
संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ ।
एतस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः ॥ २ ॥
न्यायसूचीनिबन्धोसावकारि सुधियां मुदे ।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसु (८९८) वत्सरे ॥ ३ ॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीवाचस्पतिमिश्र-विरचितो
न्यायसूचीनिबन्धः समाप्तः ।

न्यायसूत्राणामक्षरानुसारिणी सूची

१. 'अनेकद्रव्येण समवायात्' इति पाठो न्यायवार्त्तिककाराभिमतः प्रतीयते।

१. इतः परम् 'प्रमाणतोऽनुपलब्धेः' इति भाष्यवाक्यम् (पृ० २०६) क्वचित् मूलसूत्रत्वेन उल्लिखितम्। निबन्धादावनुपलम्भादस्माभिः भाष्य एव सन्निवेशितम्।

२. इदं भाष्यवाक्यम् इति केचित्, तत्सम्प्रदायविरुद्धम्।

३. अतः परम् "अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः" इति सूत्रम् क्वचिदुपलभ्यते। परन्तु न्यायसूचीनिबन्धादावदृष्टम् इति स्थूलाक्षरमुद्रितमपि प्रकृतसंस्करणे न सूत्रत्वेन संख्यातम्।

४. अत्र प्रकृतसंस्करणे "न कुड्यान्तरितेत्यादि" सूत्रं मुद्रितम्। तत्र 'न' इति मुद्रणं प्रामादिकम् इति तदपसार्य सूत्रात्।

५. क्वचिदिदं भाष्यवाक्यत्वेनोपन्यस्तम्। एतत्सूत्रादनन्तरं च "विशेषहेतुपरिग्रहे सति उपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः" इति भाष्यम् (पृ० १५९) भाष्यचन्द्रव्याख्यायाम् सूत्रतया स्वीकृतम्। निबन्धादौ तु नास्य सूत्रतयोपन्यासः।

१. अत्र 'नानवरोधः' इत्यस्य स्थाने 'वाऽनवरोधः' इति न्यायसूचीनिबन्धे पाठ इति म०म० गङ्गानाथ झा महाशयाः प्राहुः। प्रकाशिते तु निबन्धे 'नानवरोधः' इत्येवोपलभ्यते । विवरणानुसारी पाठस्तु 'नानवबोधः' इति।

२. अत्र—'मिथ्याबुद्धिद्वैविध्योपपत्तिः' इत्यपि पाठान्तरम् ।

३. 'तददृष्टकारितमिति चेत् ?' इत्यंशः क्वचिद्भाष्ये समाविष्टः, स चायुक्तः प्रतिभाति। एतत्सूत्रभाष्यस्थम् (पृ० ४५५) "न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्" इति वाक्यम् सूत्रमेवेति केचित्। परन्तु निबन्धादावदृष्टचरम् ।

४. अत्र 'तदर्थे' इति सूत्राङ्गमिति भाष्यचन्द्रव्याख्यायाम् । हिन्दीटीकाकृताऽपि तदेव रूपमनुसृतम्। परन्तु निबन्धादौ सर्वत्र 'व्यक्त्याकृतिजाति०' इत्याद्येव सूत्रस्वरूपमुपलभ्यते।

५. एतत्सूत्रभाष्यस्थम् (पृ० ३१०) "अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य" इति भाष्यं सूत्रमेवेति केचित्।

१. अत्र प्रकृतसंस्करणे सूत्रमिदं सूत्राक्षरैर्न मुद्रितम्, नाऽपि सूत्रसंख्या प्रदत्ता इति एतत्सूत्रादारभ्य द्वितीयाध्यायस्य सूत्रसंख्यासंशोधनं पाठकैर्विधेयम् अस्य सर्वसम्मतसूत्रत्वात् ।

२. इतः परम् प्रकृतसंस्करणभाष्यस्थम् (पृ० २७३) "वर्णत्वाव्यतिरेकात् वर्णविकाराणामप्रतिषेधः", "सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य" इति वाक्यद्वयम् न्यायवार्त्तिकानुसारेण मूलसूत्रद्वयम् । न्यायसूचीनिबन्धे तु नोपलभ्यते । प्रकृतसंस्करणेऽपि व्याख्याकृता भाष्ये एव निक्षिप्तम् ।

३. वार्त्तिके दृष्टमपि न्यायसूचीनिबन्धे सूत्रमेतन्न दृश्यते ।

१. वार्तिके दृष्टमपि न्यायसूचीनिबन्धे सूत्रमेतन्न दृश्यते ।

१. इतः परम् "कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः" इति वाक्यं (पृ० ४१४) सूत्रत्वेन क्वचिद्गृहीतम्। निबन्धादौ तु न दृश्यते इति प्रकृतसंस्करणे स्थूलाक्षरमुद्रितमपि न सूत्रत्वेन संख्यातम्।

२. अत्र परस्तात् "वर्णविकाराणाम्" इत्यधिकोंऽश उपलभ्यते क्वचित्।

३. एतत्सूत्रभाष्यवाक्यम् "प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः" (पृ० ४०८) सूत्रमेवेति केचित्।

४. अत्र 'प्रमेयता' इति पाठान्तरम्।

१. 'स्वकृताभ्यागमाच्च' इति वार्त्तिकसम्मतः पाठः।

२. एतत्सूत्रभाष्यस्थम् (पृ० १४३) "समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात्तथाभूता समाख्या" इति वाक्यं क्वचित्सूत्रत्वेन उपन्यस्तं दृश्यते।

३. एतत्सूत्रं वृत्तौ न दृश्यते।

१. प्राचीनपुस्तकेषु "जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः" इत्येवमेव पाठ उपलभ्यते।

२. अतः परम् "अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः" इति सूत्रं वार्त्तिकानुसारेणाधिकम्। निबन्धे तु न दृश्यते। प्रकृतसंस्करणेऽपि भाष्ये (पृ० ६५२) एव पठितम्।

स्वरूपे न्यायसूत्राणां विमतिर्विदुषां चिरात् ।
तस्माद्भाषाभाष्यकृतामिष्टं ग्रन्थे निवेशितम् ॥ १ ॥
वार्त्तिके वा निबन्धे वा वृत्तौ वा नैकतानता ।
युक्तं किमत्रायुक्तं वा तद्विद्वद्भिर्विविच्यताम् ॥ २ ॥

(सम्पादकः)

प्रस्तावनागत-सङ्केत-विचरण

अ० पु०	:	अग्निपुराण (मोर प्रकाशन, कलकत्ता)
अ० शा०	:	अभिज्ञानशाकुन्तल (चौखम्बा प्रकाशन)
क० उ०	:	कठोपनिषत् ।
किरात०	:	किरातार्जुनीय (चौखम्बा प्रकाशन)
कु० प्र०	.	न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश (चौखम्बा प्रकाशन)
के० उ०	:	केनोपनिषत् ।
कै० उ०	:	कैवल्योपनिषत् ।
ख० ख० खा०	:	खण्डनखण्डखाद्य (चौखम्बा प्रकाशन)
छा० उ०	:	छान्दोग्योपनिषत् ।
त० चि०	:	तत्त्वचिन्तामणि (दरभङ्गा)
त० चि० आ०	:	तत्त्वचिन्तामण्यालोक (दरभङ्गा)
त० वा०	:	तन्त्रवार्त्तिक (चौखम्बा प्रकाशन)
नृ० पू० उ०	:	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् ।
नै० च०	:	नैषधीयचरित (चौखम्बा प्रकाशन)
न्या० कु०	:	न्यायकुसुमाञ्जलि ।
न्या० भा०	:	न्यायभाष्य ।
न्या० भू०	:	न्यायभूषण ।
न्या० म०	:	न्यायमञ्जरी (चौखम्बा प्रकाशन)
प० द०	:	पञ्चदशी ।
प० ध० सं०	:	पदार्थधर्मसंग्रह (वा० सं० वि० विद्यालय)
परि०	:	परिशिष्ट ।
पा० सू०	:	पाणिनिसूत्र ।
प्र० प०	:	प्रसन्नपदा-मध्यमककारिकाटीका (दरभङ्गा)
वा० रा०	:	वाल्मीकि रामायण (चौखम्बा प्रकाशन)
बृ० आ० उ०	:	बृहदारण्यकोपनिषत् ।
ब्र० सू०	:	ब्रह्मसूत्र
म० ना० उ०	:	महानारायणोपनिषत् ।
म० स्तो०	:	महिम्नस्तोत्र ।
म० स्मृ०	:	मनुस्मृति
मु० उ०	:	मुण्डकोपनिषत् ।
या० स्मृ०	:	याज्ञवल्क्यस्मृति ।
वै० द०	:	वैशेषिकदर्शन
शि० व०	:	शिशुपालवध ।

शु० नी०	:	शुक्रनीतिसार।
शां० भा०	:	शाङ्करभाष्य।
श्लो० वा०	:	श्लोकवार्त्तिक (चौखम्बा प्रकाशन)
श्वे० उ०	:	श्वेताश्वतरोपनिषद्।
ष० द० स०	:	षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरि)
ष० द० समु०	:	षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखर)
स० द० कौ०	:	सर्वदर्शनकौमुदी (माधव सरस्वती)
स० द० सं०	:	सर्वदर्शनसंग्रह।
सि० बि०	:	सिद्धान्तबिन्दु (चौखम्बा प्रकाशन)

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २२४

काव्यमाला (पुनर्मुद्रित) २४

काव्यप्रदीपः

महामहोपाध्याय श्रीगोविन्द प्रणीत

श्रीवैद्यनाथ तत्सत् विरचित टीका सहित

सम्पादकः पण्डित दुर्गाप्रसाद एवं वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर

डिमाई ८ पेजी, ४६३ + १२ पृष्ठ, १९८२, मूल्य रु० ५०–००

मम्मटाचार्य कृत अलंकार ग्रन्थ काव्य प्रकाश का विस्तृत परिचय प्रस्तुत करना पिष्ट पेषण मात्र होगा। काश्मीर के आनन्द वर्धन अभिनव गुप्त आदि स्वनाम ख्यात आलंकारिकों की परम्परा में मम्मटाचार्य अन्तिम कड़ी हैं। उनका काव्य प्रकाश ध्वनिसम्प्रदाय का एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की सारवत्ता एवं उपादेयता के प्रसंग में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उस पर, भारत के विभिन्न प्रान्त के विद्वानों द्वारा सैकड़ों टीकायें लिखी गयी हैं। काव्य-प्रकाश पर लिखी गयी ये टीकायें स्वयं में ही एक विशाल साहित्य बन गयी हैं एवं भारतीय काव्यशास्त्र के गवेषकों के लिए पर्याप्त महत्त्व रखती हैं। इन टीकाओं में एक है मैथिल विद्वान् गोविन्द ठक्कुर (१६ वीं शताब्दी) द्वारा विरचित काव्यप्रदीप—काव्यप्रकाश कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण—इन तीन विभागों में विभक्त है। काव्यप्रदीपकार ने केवल कारिकाओं एवं यत्र-तत्र उदाहरण श्लोकों पर ही टीका लिखी है। एक टीका होने पर भी काव्यप्रदीप काव्यप्रकाश के शोधात्मक अध्ययन में पर्याप्त महत्त्व रखता है। इस टीकाका एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें काव्यप्रकाश पर विश्वनाथ कविराज आदि परवर्ती ग्रन्थकारों के द्वारा किए गए आक्षेपों का युक्तिपूर्ण खण्डन किया गया है। काव्य-प्रकाश के पाठनिर्णय में भी यह टीका महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। काव्यप्रदीप पर प्रसिद्ध विद्वान् वैद्यनाथ पायगुण्डे कृत प्रभा टीका इस संस्करण में सम्मिलित है। यह टीका भी काव्यप्रकाश के कारिकांश के परिशीलन में सहायक सिद्ध होगी।

निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई से सन् १९१२ में प्रकाशित सटीक काव्य-प्रदीप का एकमात्र संस्करण वर्षों से अप्राप्य रहा है। विद्वानों, विशेषतया शोधछात्रों के आग्रह से पुनर्मुद्रित कराकर इसे प्रस्तुत किया गया।

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २२३

काव्यमाला (पुनर्मुद्रित) २२

हरविजयम्

राजानक रत्नाकर विरचित

राजानक अलक कृत टीका सहित

सम्पादक : पण्डित दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब

डिमाई ८ पेजी, २ + ७०८ + ४ पृष्ठ, कपड़े की जिल्द, १९८२, मूल्य रु. १००-००

काश्मीर के महाकवि राजानक रत्नाकर (९ वीं शताब्दी) कृत हरविजय एक विशालकाय संस्कृत महाकाव्य है। कवि काश्मीरराज चिप्पट जयापीड एवं अवन्ती वर्मन् के सभा कवि थे, ऐसा ऐतिहासिकों का अनुमान है। अन्धकासुर के साथ शिव का युद्ध एवं अन्त में असुर का वध इस ५० सर्गात्मक महाकाव्य के मुख्य उपजीव्य विषय हैं। महाकाव्य रचना के अलंकारशास्त्रीय नियमों के अनुसार इस काव्य में प्रकृति वर्णन, ऋतुवर्णन, सेना तथा युद्ध यात्रा वर्णन आदि आए हैं एवं उन वर्णनों में कवि ने विलक्षण अलंकार नैपुण्य प्रदर्शित किया। शिवताण्डव वर्णन भी मनोज्ञ है। १६ वें सर्ग में एक विचारसभा का वर्णन आया है जहाँ महाकवि ने तत्कालीन राजनीतिशास्त्र के ज्ञान का परिचय दिया है। कवि का वसन्ततिलक छन्द में पर्याप्त नैपुण्य है जिसकी प्रशंसा काश्मीरक महाकवि क्षेमेन्द्र भी करते हैं। काश्मीर के इतिहास की दृष्टि से भी इस काव्य का कुछ महत्त्व है। सब मिलाकर हरविजय एक उपादेय प्राचीन महाकाव्य है। प्रस्तुत संस्करण में राजानक अलक कृत टीका सम्मिलित है जिससे इस प्राचीन काव्य का अध्ययन बहुत ही सुगम हो गया है।

निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई से सन् १८९० में प्रकाशित संस्करण वर्षों से अप्राप्य रहा है। संस्कृत काव्यानुरागियों के आग्रह से यह काव्य पुनर्मुद्रित कराकर प्रकाशित किया गया।

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २२१

वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः

स्वामिहरिप्रसादवैदिकमुनि विरचित

डिमाई ८ पेजी, २७ + ८६२ + ३ पृष्ठ, कपड़े की जिल्द, १९८२, मूल्य रु. १५०-००

भारतीय आस्तिक दर्शनों में मूर्धन्यभूत वेदान्त-दर्शन श्रुति, स्मृति तथा न्याय-इन तीन प्रस्थानों में विभक्त है। उपनिषद् श्रुतिप्रस्थान, श्रीमद्भगवद्गीता स्मृतिप्रस्थान एवं महर्षि बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र न्यायप्रस्थान कहलाते हैं। तीन प्रस्थानों में न्यायप्रस्थान (ब्रह्मसूत्र) का सबसे अधिक महत्त्व इसलिए माना गया है कि महर्षि बादरायण ने स्वकृत ब्रह्मसूत्र में उपनिषद् वाक्यों के सामञ्जस्य से श्रुतिप्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप एवं तत्साधनीभूत ब्रह्मज्ञान का सोपपत्तिक प्रतिपादन किया है। बहुधाविस्तीर्ण एवं आपातविरोधी श्रुतिवाक्यों में जो संशय उत्पन्न होते हैं श्रीमन्महर्षि ने न्यायसम्मत शैली से उनका निराकरण एवं प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म के परस्पर सम्बन्धों का प्रतिपादन किया है। इस सर्वातिशायी महत्त्व के कारण परवर्ती समय में ब्रह्मसूत्र ही वेदान्तदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

ब्रह्मसूत्र के अतिसंक्षिप्त एवं दुरूह दार्शनिक विषयों से पूर्ण होने के कारण भिन्न-भिन्न संप्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की स्थापना के लिए इस ग्रन्थ पर सैकड़ों टीकायें लिखी हैं जिनमें भगवान् शंकराचार्यकृत अद्वैतपरक शारीरकमीमांसाभाष्य सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने एक मात्र सत्य के रूप में निर्विशेष ब्रह्म एवं मोक्ष के साधन के रूप में कर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञान का ही प्रतिपादन किया है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के लिए यह गौरव का विषय है कि ब्रह्मसूत्र पर व्याख्या लिखने की रीति अभी तक प्रचलित है। प्रस्तुत व्याख्या के लेखक अनेक शास्त्र पारंगत एवं प्रतिभासम्पन्न स्वामिहरिप्रसादवैदिकमुनि शंकराचार्य के अद्वैतपरक भाष्य तथा तदुत्तरवर्ती अन्य व्याख्याओं को अवैदिक मानते हैं। उनके मतानुसार शांकरभाष्य में श्रुतिस्मृति वाक्यों की सहायता से विज्ञानवादी बौद्ध सिद्धान्तो का ही प्रतिपादन है। वैदिकमुनि जी के अपने सिद्धान्त ये हैं— ब्रह्म जगत का निमित्त कारण (उपादान कारण नहीं) एवं प्रकृति उपादान कारण हैं। जगत् अस्थायी होते हुए भी सत्य है एवं जीव ब्रह्म के अनुस्वरूप हैं। उन्हें विश्वास है कि ये ही सिद्धान्त वेदसम्मत हैं। विद्वान् लेखक ने समग्र वैदिक साहित्य का मन्थन कर तथा बड़े अध्यवसाय से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं परसिद्धान्तों का निरसन किया। उनकी शैली प्रौढ़ एवं भाषा हृदयग्राहिणी है। उनके सिद्धान्तों से मतभेद अवश्य हो सकता है किन्तु भारतीय दर्शन के कोई भी जिज्ञासु उनके तर्कों पर ध्यान दिए बिना रह नहीं सकते।

निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई से सन् १९१४ में मुद्रित यह ग्रन्थ बहुत वर्षों से अप्राप्य रहा है। दर्शनशास्त्र के विद्वान् एवं जिज्ञासुओं के साग्रह अनुरोध से यह पुनर्मुद्रित कराकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २२२

चम्पूरामायणम्

श्री भोजराज सार्वभौम विरचितम्

लक्ष्मणसूरि विरचितं युद्धकाण्ड सहितम्

रामचन्द्र बुधेन्द्र विरचितया व्याख्यया समेतम्।

पणशीकरोपाह्वविद्वद्वरलक्ष्मणशर्मतनुजनुषा वासुदेवशर्मणो संस्कृतम्।

डिमाई ८ पेजी, ४ + ३९४ पृष्ठ, १९८२, मूल्य रु. ४०—००.

गद्य पद्य मिश्रित काव्य का नाम चम्पू है। रामायण के आधार पर अनेक चम्पुओं की रचनाएँ मिलती हैं। प्रस्तुत चम्पू धाराधिपति भोजराज की प्रतिभा की उपज है। रामायण चम्पू का आधार भी महर्षि वाल्मीकि का रामायण है। इसमें बाल काण्ड से लेकर सुन्दर काण्ड तक भोज की रचना है और युद्ध काण्ड की पूर्ति लक्ष्मण सूरि के द्वारा हुई है। इस महनीय चम्पू पर रामचन्द्राचार्य की साहित्यमञ्जूषा नाम की विद्वद्जन वदान्या व्याख्या विभूषित है। इस काव्य की उपयोगिता के विषय में स्वयं राजाभोज इस प्रकार अपना उद्गार व्यक्त करते हैं—महर्षि वाल्मीकि के रामायण से यद्यपि सभी लोगों की संतृप्ति हो जा रही है फिर भी तो भगीरथ प्रयत्न से लब्ध गङ्गाजल के पावन जल से क्या सर्व साधारण जन अपने पितरों को तृप्त नहीं करता? ठीक वैसे ही मेरा यह चम्पू रामायण विद्वानों की तृप्ति में सहायक ही है। यह सन् १९१७ में निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। आज पुनः साहित्य प्रेमियों की उत्सुकता की शान्ति के लिए प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है, संस्कृत के उपासक विद्वान् गण एवं विद्यार्थी समाज इसका हृदय से स्वागत करेगा तथा हमें संस्कृत की सेवा के लिए उत्साहित करेगा।

योगसूत्रम् (छः टीका)

पतञ्जलिकृत

सुविस्तृत हिन्दी भूमिका

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड', भावागणेश कृत 'प्रदीपिका', नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति', रामानन्द यति कृत 'मणिप्रभा', अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योग सुधाकर', आदि छः टीकाओं तथा सुविस्तृत हिन्दी भूमिका में ग्रन्थ के दुरूह स्थलों का सुव्यवस्थित हिन्दी भाषा में विश्लेषण-विवेचन कर ग्रन्थ को सरल बना दिया गया है जिसके कारण ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ गयी है। ग्रन्थ विद्वज्जनों द्वारा संग्रहणीय है। (का. ८३) ३५-००